जायसी ग्रन्थावली

(सटीक)

जायसी ग्रन्थावली

पदमावत, अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाईसी

(सटीक)

[redacted]

सम्पादक और टीकाकार

डॉ० मनमोहन गौतम एम० ए०, पी-एच डी०

दिल्ली कालेज, दिल्ली

प्रकाशक

रीगल बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
श्री रामचन्द्र गुप्त
अध्यक्ष, रीगल बुक डिपो
नई सड़क, दिल्ली

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण
सं० २०१६ वि०
मूल्य : बारह रुपये

मुद्रक
सम्राट् प्रेस
पहाड़ी धीरज, दिल्ली

समर्पण

जिन गुरु के अवलम्ब से
टिकी शिष्य की टेक,
उन 'नगेन्द्र' करुणेन्द्र को
भेंट अकिञ्चन एक।

वक्तव्य
(प्रथम संस्करण)

जायसी का पदमावत एक लोकप्रिय ग्रन्थ बन चुका है, हिन्दी की उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सर्वत्र चलता आ रहा है। पदमावत के शुद्ध पाठ की भी एक समस्या थी, क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकों में शुद्ध पाठ का ही बहुत बड़ा महत्व होता है। नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थावली आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित है, फिर भी उसके पाठ से विद्वानों को तृप्ति न थी। डा० माताप्रसाद गुप्त के अध्यवसाय से ग्रन्थावली का प्रामाणिक संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से प्रकाशित हुआ, पर उसके सम्बन्ध में भी आलोचकों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रकाशित हुए। प्रस्तुत संस्करण में निम्नलिखित दृष्टिकोण रखे गये हैं :

(१) पाठ-क्रम डा० गुप्त सम्पादित ग्रन्थावली का ही रखा गया है, साथ ही शब्दार्थ की टिप्पणी में पाठान्तरों का भी उल्लेख कर दिया गया है। टीका करते हुए प्रसंग, अर्थ और अवधी शैली की प्रकृति के अनुकूल जितने डा० गुप्त के पाठ टीकाकार को उपयुक्त लगे हैं उतने पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली के नहीं, इसीलिए पाठ में प्रधानता डा० गुप्त वाली ग्रन्थावली को दी गयी है।

डा० गुप्त ने ग्रन्थावली के अनेक पदों को प्रक्षिप्त माना है और इन पदों को ग्रन्थ के अन्त में संगृहीत किया है। भूमिका में कतिपय पदों की अप्रामाणिकता का कारण भी बताया है। उनके कुछ प्रमाण तो बड़े ही उचित प्रतीत होते हैं, फिर भी प्रक्षिप्त पदों की शैली जायसी के सर्वथा अनुकूल है। पुनरुक्ति ही डा० गुप्त द्वारा प्रस्तुत किये हुए प्रामाणों में मुख्य है और यह जायसी जैसे लोककथाकार की प्रकृति है, अतः प्रक्षिप्त मानते हुए भी ये पद यथास्थान रख दिये गये हैं, इन पदों पर पद-संख्या नहीं लगी है। ऐसा करने से प्रस्तुत ग्रन्थावली को डा० माताप्रसाद संपादित ग्रन्थावली तथा पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली दोनों के साथ पढ़ा जा सकता है।

(२) डा० गुप्त ने अपनी ग्रन्थावली को खंडों में नहीं विभक्त किया है। पं० शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली के स्तुति-खण्ड, सिंहलद्वीप वर्णन-खण्ड, सुआ-खण्ड आदि शीर्षक डा० गुप्त की ग्रन्थावली में नहीं मिलते। इसमें तो छन्दों की संख्या मात्र है। सात अर्धालियाँ और अन्त में एक दोहा मिलकर एक छन्द बनता है और इसी प्रकार (१) से आरम्भ होकर (६५३) छन्द पदमावत में मिलते हैं। इसका कारण हस्तलिखित प्रतियों का ज्यों का त्यों अनुकरण है। बात यह है कि जायसी ने फारसी-मसनवी-शैली में पदमावत की रचना की थी फारसी की मसनवी में कथा में किसी प्रकार विभाजन नहीं होता। कवि एक सिलसिलेवार कहानी आरम्भ से अन्त तक कहता जाता है, किसी प्रकार के खंड, सर्ग आदि

उसमें नहीं आते । मसनवी का मूल लेखक उसमें बीच-बीच में शीर्षक नहीं डालता था पर बाद में जब सम्पादकों ने पुस्तकों का सम्पादन किया तो पाठकों की सुविधा के लिए बीच-बीच में शीर्षक लिख दिये । जलालुद्दीन रूमी, निजामी और जामी जैसे फारसी के प्रसिद्ध लेखकों की जो मसनवियाँ आज प्रकाशित हैं उनमें ये शीर्षक मिलते हैं । विशेषज्ञों का कथन है कि ये सारे शीर्षक सम्पादकों के दिये हुए हैं मूल लेखक के नहीं । प्रतीत होता है जायसी ने भी फारसी के मसनवीकारों के अनुसरण में कोई शीर्षक या खंड नहीं दिया था और इसी लिए अनेक प्रामाणिक प्रतियों में शीर्षक नहीं मिलते । इसी लिए डा० माताप्रसाद गुप्त ने खंडों के रूप में शीर्षक नहीं दिये हैं । फिर भी फारसी की प्रायः सभी मसनवियों जैसे यूसुफजुलेखा, लैला-मजनू, खुसरो-शीरीं, मगजने-असरार आदि के बीच-बीच में शीर्षक उपलब्ध होते हैं । उर्दू की मसनवियों में तो इनका प्रचलन काफी है । शीर्षक से पाठकों के लिए बड़ी सुविधा हो जाती है, अतः सम्पादक के नाते भी पं० रामचन्द्र शुक्ल का खंड-विभाजन मान्य है । प्रस्तुत संस्करण में डा० माताप्रसाद गुप्त के पदों की संख्या दी गयी है और खण्डों के नाम शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली से लेकर रखे गये हैं । ऐसा करने से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का निर्वाह हो जाता है ।

(२) पदमावत की टीका प्रस्तुत करना इस प्रकाशन का उद्देश्य रहा है । पदमावत की टीका बहुत दिनों से विद्यार्थियों की माँग रही है । इसके दो मुख्य कारण हैं एक तो जायसी की भाषा ग्रामीण अवधी रही है जो सरल होते हुए भी इतर भाषा-भाषियों के लिए दुर्बोध है । अवधी-भाषा-भाषी ही पदमावत का ठीक अर्थ लिख सकता है । श्री मुंशीराम शर्मा लिखित 'पदमावत भाष्य' ही एकमात्र टीका अब तक हिन्दी में उपलब्ध रही है । इसमें पदों का भावार्थ तो है पर शब्दार्थ और भाषा-विषयक टिप्पणियों का अभाव है, अतः उससे टीका का भी पूरा काम नहीं चलता । 'भाष्य' में प्रायः ऐसे भी स्थल मिलेंगे जहाँ पूर्ण अर्थ स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है ।

दूसरी बात यह है कि पदमावत फारसी शैली का मसनवी-काव्य है । फारसी मसनवियों की भाँति कवि का उद्देश्य लौकिक कहानी के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्य का निरूपण मात्र करना है । स्थल-स्थल पर कवि चतुराई से कथा से तनिक हट कर अपने रहस्य का गूढ़ संकेत करता है । यदि टीका में इस प्रकार के स्थलों, गूढ़ार्थों और समासोक्तियों का स्पष्टीकरण न हुआ तो टीका किस काम की ? पद्य का गद्य रूप देना ही जायसी के पद्मावत की टीका नहीं हो सकती । प्रस्तुत टीका में इस प्रकार के सभी स्थलों की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है । ऐसा करने से जायसी के आध्यात्मिक सिद्धान्तों की भी क्रम-क्रम से विवेचना अर्थों के साथ होती गयी है ।

दिल्ली कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
८ मार्च, १९५४

मनमोहन गौतम

वक्तव्य

(द्वितीय संस्करण)

जायसी ग्रन्थावली के प्रथम संस्करण में केवल पद्मावत की टीका की गयी थी। अन्य ग्रन्थों की टीका इसलिए नहीं दी गई थी कि उनकी माँग कम है। इस अभाव की ओर पाठकों के संकेत भी नहीं प्राप्त हुए, इसलिए लेखक ने चाहते हुए भी उनकी टीका प्रस्तुत न की। हाँ, भूमिका में ग्रंथों के विषय का संक्षेप दे दिया है कि जिज्ञासु को उसकी सहायता से मूल को समझने में सुविधा हो सके।

प्रथम संस्करण में ग्रंथावली में पदों का क्रम डा० माताप्रसाद जी गुप्त वाला रखा गया था। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रंथावली के अतिरिक्त पदों को भी यथा-स्थान रख दिया गया था और उन पाठों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अपने विचार भी प्रस्तुत कर दिये गये थे। इन अतिरिक्त पदों की टीका नहीं दी गई थी। कुछ व्यक्तियों ने इनकी टीका की भी आवश्यकता बतलाई, अतः इस संस्करण में उन अतिरिक्त पदों का भी अर्थ दे दिया गया है।

द्वितीय संस्करण में पाठ तथा अर्थ दोनों में बहुत से संशोधन हुए हैं। इन संशोधनों के लिए लेखक सम्मान्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का परम आभारी है। डा० अग्रवाल ने बड़े मनोयोग से टीका लिखी थी। अत: अमूल्य रत्नों का आकलन अनिवार्य था। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ लेखक को अग्रवाल जी की व्याख्याओं से सहमति नहीं है। ऐसे स्थलों पर स्वमत का कथन कर दिया गया है। डा० अग्रवाल ने अपनी संजीवनी व्याख्या में सुन्दरतम अनुवाद दिया है। लेखक का मत, जैसा कि पहले था, अब भी है कि शब्द के स्थान पर शब्द का अनुवाद चाहे जितना निर्दोष हो सुस्पष्ट नहीं होता, व्याख्या की अपेक्षा रखता है। उससे विद्यार्थी तथा साधारण पाठक का समाधान नहीं होता। लेखक, इसलिए, विशेष टिप्पणियाँ देता गया है।

गत संस्करण को विद्यार्थियों ने अधिक अपनाया था। उनके अनुरोध पर भूमिका उनके अधिक उपयोग की बना दी गयी है। अपेक्षित शीर्षकों से आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर दी गयी है। ऐसा करने में जिन प्रमुख ग्रंथों से विचार ग्रहण किये गये हैं वे इस प्रकार हैं—

आचार्य शुक्ल कृत जायसी ग्रंथावली की भूमिका, डा० सरला शुक्ला कृत जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, श्री राम पूजन तिवारी कृत सूफीमत-साधना और साहित्य, डा० कमलकुल श्रेष्ठ कृत मलिक मुहम्मद जायसी और हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, डा० हरिकान्त श्रीवास्तव कृत भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य तथा श्री शिवसहाय पाठक कृत पद्मावत का काव्य सौंदर्य। लेखक इन विद्वानों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करता है और अन्त में अपने एम० ए० फाइनल के परमप्रिय छात्र चरनजीतसिंह जासन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता जिसके सहयोग के बिना यह श्रमसाध्य कार्य पूरा नहीं हो सकता था।

२५ अप्रैल १९५९,

मनमोहन गौतम

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध काव्य पद्मावत के प्रणेता मलिक मुहम्मद जायसी १६ वीं शताब्दी के उन सूफी साधकों तथा कवियों में प्रमुख हैं जो अपने अन्तर की 'प्रेम की पीर' को जन-बोली में संजोकर जनता तक पहुँचाने में सफल हुए। जायसी से पहले भी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने ही प्रेमाख्यान लिखे थे जिनमें कुतुबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, उस्मान की चित्रावली और नूरमुहम्मद की इन्द्रावती के नाम साहित्य के इतिहास में पाये जाते हैं किन्तु किसी अन्य के काव्य में हम आत्मानुभूति की वह तल्लीनता और साधना की गरिमा नहीं देखते जो हमें जायसी के पद्मावत में उपलब्ध होती है। तत्कालीन प्रेम-मार्गी सूफी कवियों ने धार्मिक एवं सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न करने के लिए साहित्य को अपना माध्यम बनाया, यह हिन्दी का सौभाग्य कहा जा सकता है। इन कवियों और साधकों में मलिक मुहम्मद जायसी अपनी काव्य प्रतिभा, प्रेम-साधना, सहृदयता और आध्यात्मिकता की उच्चता के कारण मूर्धन्य पर आसीन दीख पड़ते हैं।

जायसी का व्यक्तित्व, शारीरिक गठन की दृष्टि से प्रभावशाली नहीं था। उनके कुरूप होने के साथ ही काने और बहरे होने की बात अनेक किंवदन्तियों में प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वयं भी अपने एक नयन और एक श्रवण होने की बात लिखी है, 'एक नयन कवि मुहम्मद गुनी, सोई विमोहा जेहि कवि सुनी—' जग सूझा एकै नयनाहाँ, उआ सूक जस नखतन्ह माँहा, 'मुहम्मद बाईं दिसि तजा इक सरवन इक आँखि'। कहते हैं कि इनके कुरूप चेहरे को देखकर एक बार बादशाह शेरशाह हँस पड़ा। जायसी ने उसे देख कर बड़े शान्त भाव से पूछा—'मोहि का हँसेसि कि कोहरहि—' अर्थात् मुझ पर हँस रहे हो या उस कुम्हार—बनाने वाले ईश्वर पर? इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध घटना उर्दू शायर मीरहसन ने भी जायसी और अकबर के बीच होनी लिखी है, मीर साहब लिखते हैं—

> थे मलिक नाम मुहम्मद जायसी, वह कि पदमावत जिन्होंने है लिखी,
> थे बहुत बदशक्ल और बदकली, देखते ही आकर अकबर हँस पड़ा,
> यों कहा अकबर से होकर चश्मेतर,
> हँस पड़े माटी पर ऐ तुम शहरयार या कि मेरे पर हँसे बे अख्तियार॥

इस तरह की किंवदन्तियों की प्रामाणिकता में पूरा सन्देह होने पर भी इनसे जायसी का कुरूप होना तो सिद्ध होता ही है।

जायसी का पद्मावत एक प्रेमगाथा काव्य है जो फारसी भाषा की मसनवी शैली में लिखा गया है। सात अर्धालियों के बाद दोहे का क्रम है। यह

तत्कालीन काव्य-रचना की प्रचलित शैली थी। बाद में इसी पद्धति को गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरित मानस में स्वीकार किया। पद्मावत की कथा वस्तु के लिए जायसी ने पूर्ववर्ती प्रेममार्गी सूफी कवियों की तरह कोरी कल्पना से काम नहीं लिया वरन् उन्होने सुप्रसिद्ध लोक गाथा को कल्पना के कमनीय आवरण में लपेट कर इस प्रकार प्रस्तुत किया जो राजा-रंक, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, वैरागी और गृहस्थ सभी को समान रूप से रुचिकर और उपादेय प्रतीत हुई। जायसी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों क भाँति किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों और मन्तव्यों के प्रचार के लिये पद्मावत की रचना नहीं की। उन्होंने तो प्रचलित जन-गाथा की ऐतिहासिक श्रृंखला सजाकर उसे बड़े ही मनमोहक रूप में उपस्थित किया, जिसकी सजीवता और सार्थकता में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता।

पद्मावत की सम्पूर्ण कथा को हम दो भागों में विभक्त करके उसका विश्लेषण कर सकते हैं। कथा का पूर्वार्द्ध एक दम कल्पित है। जिसमें कवि ने अपनी रहस्य प्रियता को चरितार्थ करने के लिये अनेक प्रसंगों की उद्भावना करके अपने ईश्वरोन्मुख तथा पारमात्मिक अनुभूति के चित्रण में कौशल दिखाने का अवसर ढूंढ़ निकाला है। कथा का उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक एवं लोक गाथा के आधार पर गठित एक सुप्रसिद्ध प्रेम कहानी है। समस्त काव्य संस्कृत की महाकाव्य शैली के अनुसार सर्गों में विभक्त न होकर मसनवी की शैली से स्थान तथा व्यक्तियों के नाम के साथ खण्डों में बँटा हुआ है। सम्पूर्ण काव्य में ५७ खण्ड हैं जिनमें से कुछ खण्ड स्वतन्त्र विषय के समान कथा से अलग कर देने पर भी अपना अस्तित्व रखते हैं। आध्यात्मिक तत्वों के सम्मिश्रण की बलवती प्रेरणा ने जायसी को अपनी गाथा के गोरखपन्थी साधुओं की कल्पना के अनुसार ही सिंघल द्वीप में पद्मावती के उत्पन्न होने की कल्पना करने के लिए बाध्य किया। उसके साथ ही हठ योगी तथा तांत्रिक साधुओं की क्रियाओं का वर्णन करने के लिए कवि ने तदनुरूप अनेक प्रसङ्गों की अवतारणा की। सिंघल द्वीप की पद्मिनी का नाम चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के कान में आते ही उसकी साधना का एकमात्र ध्येय बन गया। अनेकानेक विषम एवं दुर्द्धर्ष बाधाओं को पार कर रतनसेन पद्मिनी को प्राप्त करने में सफल हुआ और सिंघल से लौट कर चितौड़ में सुख से निवास करने लगा। पूर्वार्द्ध की इस कथा को इतिहास प्रसिद्ध ख्यातवत्त से संयुक्त करने के लिए कवि ने कोई सूत्र नहीं जोड़ा है। किन्तु कथा के अन्य सभी प्रसङ्गों में पारस्परिक सम्बन्ध की योजना कवि ने बड़ी कुशलता के साथ की है जो सर्वथा महाकाव्य के अनुरूप है।

जायसी रहस्यवादी कवि थे। प्रेममार्ग की साधना उनका ध्येय था। पद्मावत जैसे प्रेमाख्यान को लिखते समय भी वे अपनी इस प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं कर सके। अन्य कवियों की भाँति पद्मावत की रचना उन्होंने केवल रचना कुतूहल से नहीं की। डाक्टर बड़थ्वाल के शब्दों में 'जायसी जिस गहन पारमात्मिक अनुभूति को अपने अन्तस्तल की

गहराई में निर्धन की निधि की तरह छिपाये हुए थे उसी के बेरोक वितरण के लिए इस रोचक कहानी के द्वारा उन्होंने अवसर ढूंढ़ निकाला। अपने प्रेमाख्यान का आध्यात्मिक रूप देने का जायसी ने अपने अन्दर की इसी प्रवृत्ति से पूरा प्रयत्न भी किया।' पद्मावत को रूपक के आवरण में ग्रथित अन्योक्ति बनाने की उनकी चेष्टा स्थान-स्थान पर स्पष्ट परिलक्षित होती है। किन्तु कहानी में लौकिक पक्ष की प्रबलता होने के कारण कवि के सतत प्रयत्न से भी कहानी का पारलौकिक पक्ष सर्वांश में पुष्ट और व्यापक नहीं बन पड़ा। जायसी के अनुसार पद्मावत एक सांसारिक प्रेमकथा मात्र ही नहीं वरन् एक अन्योक्ति काव्य है जिसमें आत्मा की परमात्मा तक पहुँचने की यात्रा का वर्णन है। पद्मावत में जायसी ने स्वयं अपने इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण को बोध गम्य करने के लिये एक सांकेतिक कोष प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पन्थ दिखावा। बिना गुरू को निरगुन पावा॥
नागमती एहि दुनियाँ धन्धा। बाँचा सोइ न एहिचित बांधा॥
राघव दूत सोई संतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

अर्थात् यह शरीर चित्तौड़ है, राजा रतनसेन मन है, सिंघलगढ़ हृदय है, पद्मावती बुद्धि है, तोता हीरामन गुरु है, रानी नागमती दुनियाँ का प्रपंच है, राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन माया है। रहस्योद्घाटन के लिए आवश्यक संकेत देने पर भी जायसी की इस कुन्जी से अध्यात्मकी मंजूषा खुलती नहीं है। इसमें दिये हुए मन, बुद्धि, प्रपंच, माया तथा शैतान की पूरी-पूरी संगति नहीं बैठती। साथ ही अन्योक्तिपरक अर्थ करने के लिए समस्त वाक्यों के दोहरे अर्थ भी नहीं बैठते। बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है। व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत रूप में हमारे सामने आता है। अतः काव्य को अन्योक्ति न कहकर एक प्रकार से समासोक्ति कहा जा सकता है। अन्योक्ति को स्पष्ट करने वाली उपर्युक्त चौपाइयों के विषय में विद्वानों में मत-भेत उत्पन्न हो गया है। आधुनिक शोध के आधार पर इन पंक्तियों को मूल प्रति का अंश स्वीकार नहीं किया जाता। फलतः असंगति आदि का प्रश्न भी नहीं ठहरता। आचार्य शुक्ल ने इन पंक्तियों को अपनी प्रति में समाविष्ट किया है।

पद्मावत के रहस्यमूलक आध्यात्मिक पक्ष पर दृष्टि-निक्षेप करने के पश्चात् हम उसके साहित्यिक पहलू पर विचार प्रस्तुत करेंगे। पद्मावत ठेठ अवधी भाषा में लिखा हुआ एक महाकाव्य है। उसमें तत्कालीन जन बोली का सुन्दरतम रूप हमें उपलब्ध होता है। प्रचलित लोक भाषा को अपना कर जायसी ने अपने हृदय की सरलता और लोक संग्रह की भावना का प्रमाण दिया। पद्मावत को परिमार्जित साहित्यिक भाषा में न लिखने का कारण उनकी भाषा विषयक अल्पज्ञता नहीं वरन् हृदय की उदार भावना और विशालता ही है।

मलिक मुहम्मद जायसी अपने धार्मिक विश्वास में कट्टर मुसलमान थे। अपनी धार्मिक भावना का उल्लेख उन्होंने अपनी 'आखिरी कलाम' नामक पुस्तक में किया है, किन्तु पद्मावत की रचना करते समय किसी संकीर्ण धार्मिक रूढ़ि की स्थापना न करते हुए वे एक उदात्त-आदर्श, पाठक के सामने रखते हैं। वे भारत वर्ष के कवि हैं अतः भारत की प्रकृति और भारतीय संस्कृति का ही चित्र खींचने में अपनी कला की सार्थकता समझते हैं। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य उनकी रचना की पृष्ठभूमि बना हुआ हमें दीख पड़ता है। यही कारण है कि बिना किसी भेद-भाव के हिन्दू-मुसलमान सबके लिए उनकी वाणी प्रेम और आदर का पात्र बन सकी।

जायसी का पद्मावत हिन्दी-सहित्य में अपने वियोग वर्णन के लिये अद्वितीय है। जायसी बड़े भावुक थे। भावुकता के कारण वे रानी नागमती की विरहानुभूति को इतना मार्मिक और व्यापक बनाने में सफल हुए। रानी नागमती का पति राजा रत्नसेन पद्मावती की प्राप्ति के लिए योगी बनकर सिंघलद्वीप चला गया। नागमती एकाकी है। पति का उपेक्षाभाव उसके मानस को कचोटता है। वह एक सामान्य प्रोषित-पतिका नायिका के समान अपने विरह-भाव को व्यक्त न करके विरह-व्यथा की विपुलता में जैसे लीन होजाना चाहती है। वियोग की यह दारुण पृष्ठभूमि जायसी के विरह-वर्णन को जहाँ मार्मिक और संवेदनशील बनातीहै वहाँ पतिप्राणा हिन्दू-नारी की सतीत्व-भावना को अपने उत्सर्ग एवं समर्पण से अधिकाधिक उद्दीप्त भी करती है।

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में जायसी का विरह-वर्णन गाम्भीर्य से परिपूर्ण, अत्युक्तिहीन एक यथार्थ चित्रण है। विरह के वेदनात्मक अंश पर जायसी की जितनी दृष्टि है उतनी उसकी बाहरी नाप-जोख और मात्रा पर नहीं जो प्रायः ऊहात्मक होती है। विरहाग्नि में जलती हुई नागमती यही कहती है—

जानहुँ अगनि के उठहु पहारा। औ सब लागहिं अंग अंगारा॥
लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू॥

अपने अन्तर की विरहाग्नि उसे ज्वालामुखी पर्वत की अग्नि के समान प्रतीत होती है। लेकिन वह इस प्रेम दशा से मुक्ति नहीं चाहती। भाड़ की बालू में पड़े दाने की तरह जलने पर भी बार-बार उसी में रहना नागमती को प्रिय है। विरह-वर्णन के लिए परिपाटी के अनुसार बारहमासा लिखने में तो जायसी ने बडा .कौशल दिखाया है। प्रकृति के अनेकानेक परिवर्तनों के साथ सादृश्य स्थापन करने में कवि ने जिस सूझ से काम लिया है। 'वह केवल चमत्कार विधायक ही नहीं अपितु अभिव्यंजना की हृदयग्राही पद्धति है "बैशाख में एक ओ विरहिनी सूखते तालों की दरारों को देखती है दूसरी ओर विदर्ण होते हुए हृदय को; बरसात में वह एक ओर टपकती हुई ओलती देखती है दूसरी ओ बहती हुई अपने आँसुओं की अजस्र धारा। शिशिर में एक ओर सूखकर झड़े हुए पीले पत्तों को देखती है दूसरी ओर पीली पड़ी अपनी देह को—तन बस पियर पात भो मोरा,

तेहि पर विरह देहि झकझोरा ।। सावन के बरसते बादलों को देखकर नागमती विह्वल हो उठती है उसे भूमि पर रेंगती हुई वीर बहूटी अपने रक्त के आँसू प्रतीत होते हैं—

"रकत के आँसु चर्वाहि भुंइ टूटी, रेंगि चली जस वीर बहूटी।"

विरह-वर्णन में जायसी ने दुख के नाना कारणों और रूपों की बड़ी सुन्दर उद्भावना की है। जो विपुल वेदना, जो कमनीय कोमलता, जो स्वाभाविक सरलता और जो अथाह गंभीरता इनके वचनों में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। पशु-पक्षियों से विरह दशा में आश्वासन पाने का प्रयत्न साहित्य-प्रसिद्ध है किन्तु नागमती उनसे जो सहानुभूति और समवेदना पाती है वह सर्वथा नूतन है।

"पिउ सों कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग।

सो धनि विरहे जरि मुई, तेहिक धुंवा हम लाग ।।" में कवि ने विरहाग्नि के धूम से काले होने की ऊहा बड़ी अभिव्यंजक शैली से की है। नागमती का विरह इतना दाहक हो जाता है कि—

'जेहि पंछी के नियर होइ, कहै विरह की बात।

सोई पंछी जाइ जरि, तरिवरि होइ निपात ।।'

नागमती व्यंग्य द्वारा अपनी व्यथा की ओर संकेत करती हुई एक सखी से कहती है कि मानसरोवर में जो कमल का फूल फूला था वह जल के अभाव में सूख गया लेकिन यदि प्रिय आकर उसे सींचे तो वह पुनः हरा हो सकता है।

कँवल जो विगसा मानसर, बिन जल गया सुखाइ।

अबहुँ बेलि फिर पहुलै, जो पिउ सींचै आइ ।।

प्रिय के अभाव में उसे अपना जीवन शून्य एवं अर्थहीन मालूम देता है। जिनके पति घर में हैं उन्हें देखकर अपने भाग्य को कोसकर कहती है—

जिन्ह घर कन्ता ते सुखी, तिन्ह [गारो [औ गवं।

कन्त पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व ।।

अपने इस विरह वर्णन में जायसी ने विप्रलम्भ शृंगारका सर्वाङ्गीण चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनके पद्मावत में संयोग शृंगार का हम हृदयग्राही वर्णन पाते हैं। रत्नसेन और पद्मावती के आलम्बन के सहारे जो चित्र जायसी ने खींचे हैं वे बड़े स्वाभाविक बन पड़े हैं। संयोग शृंगार में एक त्रुटि जो अत्यधिक खलती है वह यह है कि पद्मावती की उक्तियों के पीछे अहंकार की भावना रहती है जो नारीत्व के माधुर्य को क्षीण करती है। शृंगार के अतिरिक्त करुण, वीर, बीभत्स और वात्सल्य रस के भी चित्र देखने को मिलते हैं। नखशिख वर्णन में जायसी ने यद्यपि किसी नूतनता की स्थापना नहीं की किन्तु उपमानों के प्रयोग में प्रतिभा का प्रशंसनीय प्रमाण दिया है। खुले केशों की उपमा प्रायः नाग या नागिन से दी है। 'बेनी नाग मलयगिरि बैठी—' सकपकाहि विष भरे पसारे, लहरि भरे लहकेहि अति कारे। सिन्दूर की माँग

को कवि ने 'जमुना मांझ सरसुती माँगा—' कहकर सुन्दर चित्र खींचा है। 'कंचन रेख कसौटी कसी' भी माँग के लिए स्वाभाविक है। आँख, नाक, कान और ललाट के भी बड़े सुन्दर उपमान कवि ने सँजोये हैं।

संक्षेप में, पद्मावत में जायसी ने कल्पना और व्यक्तित्व का अच्छा समन्वय किया है। गूढ़ अध्यात्मके सम्मिश्रण होने पर भी प्रेमगाथा सामाजिक जीवन से विच्छिन्न नहीं हो पाई है। भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों के मेल पर भी पद्मावत प्रेमगाथा ही है पूर्ण जीवन गाथा नहीं। जायसी स्वयं एक जिज्ञासु, साधक और सन्त कवि थे। वे सारग्राहिणी प्रवृति लेकर साहित्य में आये सौन्दर्य को ग्रहण करके सच्चे पैगम्बर की तरह संसार से विदा हुए। पद्मावत के सिवा अखरावट और आखिरी कलाम इन की दो और प्राप्त रचनाएँ हैं। प्रस्तुत ग्रंथावली में उक्त दोनों ग्रंथ भी सम्पादक महोदय ने समाविष्ट कर दिये हैं।

डा० मनमोहन गौतम ने जायसी के विख्यात महाकाव्य पद्मावत की टीका छात्रों की कठिनाई को दृष्टि में रखकर लिखी है। टीका की सफलता इसी में है कि आवश्यकता से अधिक वाग्जाल का विस्तार न हो और उपादेय का तिरस्कार भी न किया जाय। संस्कृत महाकाव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ अपनी इस विशेषता के लिए विख्यात हैं। प्रस्तुत टीका में अपेक्षित व्याख्या का अर्जन करते हुए डा० गौतम ने अनपेक्षित को बड़ी सावधानी से बचाया है। गतवर्षों में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पद्मावत का एक विशाल भाष्य प्रस्तुत किया है। उस भाष्य की उपयोगिता के विषय में दो मत नहीं हो सकते किन्तु भाष्य और टीका में बड़ा अन्तर है। डा० गौतम ने टीका लिखने का उपक्रम किया है, टीका की सीमाओं में रहकर ही विषयवस्तु पर प्रकाश डाला है। टीका के उपयुक्त ही शब्दार्थ, व्याख्या, टिप्पणी आदि का प्रयोग इस टीका शैली की विशेषता है। यथास्थान पाठ शोध पर भी टीकाकार ने ध्यान दिया है और अर्थबोध को सुलभ बना दिया है। इस टीका के माध्यम से अध्यापक की सहायता के बिना भी छात्र पद्मावत का अर्थ समझ सकेंगे, इसमें किसी सन्देह का अवकाश नहीं है। मैं इस टीका का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

४२-ई कमला नगर

दिल्ली

१५-३-५६

विजयेन्द्र स्नातक

रीडर, हिन्दी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

विषय-सूची

भूमिका

भारतीय उपासना पद्धति के ज्ञान-मार्ग पर भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा १६ वीं सदी की एक विशेषता है। तुलसी और सूर जैसे मनीषियों ने ज्ञान और भक्ति का जो विवाद प्रस्तुत किया है वह इसी तथ्य की ओर निर्देश करता है; किन्तु इनसे भी पूर्व भक्ति-मार्ग के प्रेम-स्वरूप का प्रतिष्ठापन और उसका अपने ढंग का निरूपण सूफी कवियों ने किया था। उनका अलौकिक और दिव्य प्रेम शैवों की त्रिपुर सुन्दरी की भांति प्रेमिका का आधार लिये हुआ था। सूफियों ने भारतीय जन-जीवन से निकट सम्पर्क प्राप्त किया और यहाँ के जन-जीवन की भावना से अपने पारमार्थिक तत्व का ऐसा तादात्म्य स्थापित किया कि भारतीय कथा के माध्यम से अपने गूढ़ पारमार्थिक तत्वों की व्यंजना करना उनके लिये एक साधारण सी बात हो गयी। समन्वय की नींव पर रखी हुई यह पद्धति इतनी लोकप्रिय हुई कि समस्त भारतीय जन-जीवन में ये कहानियाँ व्याप्त हो गईं और इसकी एक लम्बी काव्य-परम्परा चल निकली जो आधुनिक युग तक किसी न किसी रूप में चलती रही। इस परम्परा के स्वरूप निर्माण, साज-सज्जा और प्रचार में मलिक मुहम्मद जायसी ही सर्व प्रमुख है। सच तो यह है कि यद्यपि उनसे पहले से ही परम्परा का आरम्भ हो गया था तथापि उसकी वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठा इनके द्वारा ही सम्पन्न होने के कारण उसके प्रवर्तन का श्रेय इन्हीं को प्राप्त होता है।

मलिक मुहम्मद जायसी ने न केवल एक नवीन विचार धारा के रूप में भारतीय भक्ति-मार्ग को एक नयी प्रपुष्ट और सार गर्भित उपासना पद्धति दी वरन् हिन्दी में एक सरस, भावात्मक एवं अलंकृत काव्य-रीति का भी प्रचलन किया। भारतीय काव्य-रीतियों में फारसी-काव्य-पद्धतियों का ऐसी खूबी से समावेश किया कि एक दूसरे के योग से उनकी आभा द्वि-गुणित हो गयी। अवधी जैसी लोक भाषा सर्व प्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। पद्मावत में लोक-जीवन का जीता जागता चित्रण है, तथा लोक रुचियों, एवं लोक रीतियों का सर्व प्रथम आकलन अत्यन्त विशदता से हुआ है। जन-जीवन का यह अक्षय कोष अनुसन्धान की प्रभूत सामग्री से परिपूर्ण है। धन्यवाद है आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की सार ग्राहिणी दिव्य दृष्टि को जिसने इस ओर साहित्य जिज्ञासुओं का ध्यान आकृष्ट किया और पं० चन्द्रबली पांडेय, डा० कमलकुल श्रेष्ठ, डा० विमलकुमार जैन, डा० सरला शुक्ला, डा० कामताप्रसाद गुप्त तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे मनीषी इस प्रभूत रस राशि के संचयन में प्रवृत हुए। फिर भी अभी शोध का अपार क्षेत्र शेष ही है।

जीवन-वृत्त

मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन-वृत उतना अन्धकार में नहीं है जितना उनके समकालीन अन्य कवियों का। कारण यह है कि जायसी ने अपने ग्रन्थों में फारसी की मसनवी पद्धति का अनुसरण किया है जिसके अनुसार कवि आरम्भ में ही अल्लाह, मुहम्मद, तत्कालीन बादशाह और अपना तथा अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करता है। उनके पद्मावत और आखिरी कलाम ग्रन्थों में पर्याप्त अन्तःसाक्ष्य प्राप्त होते हैं। फिर भी ये उल्लेख बहुत स्पष्ट नहीं हैं अतः विद्वानों में कुछ मतभेद हो गये हैं।

जन्म-तिथि—अन्तःसाक्ष्य से जायसी के जन्म-तिथि की निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

भा औतार गोर नव सदी। तीस बरिस कवि ऊपर बदी।

\+ \+ \+

नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे।

(आखिरी कलाम)

इन पंक्तियों में कवि कहता है मैं नव सदी हिजरी में उत्पन्न हुआ और तीस वर्ष की अवस्था में आखिरी कलाम की रचना की। साथ ही यह भी कहता है कि जब ९३६ हिजरी हुआ तब मैंने आखिरी कलाम की कथा कही। इस प्रकार तीस वर्ष की अवस्था और ९३६ हिजरी में यदि कवि ने आखिरी कलाम की रचना की तो उसकी जन्म तिथि ९०६ हिजरी अर्थात् १५०० ई० के आस पास ठहरता है। नव सदी का अर्थ ९०० हिजरी मान कर अनेक विद्वानों ने यही उनकी जन्म-तिथि मानी है। प्रतीत होता है कि जायसी ने ९०६ को ही ९ सदी लिखा है जो कि ९ सदी के आस पास ही होता है। जायसी ने आखिरी कलाम में अपने जन्म-काल में एक बड़े भूकम्प का उल्लेख इस प्रकार किया है।

आवत उधत चार बड़ ठाना। भा भूकम्प जगत अकुलाना।

\+ \+ \+

धरती छात फाटि भहरानी। पुनि भइ मया जो सिष्टि हठानी।

यह भूकम्प ९११ हिजरी में हुआ था। इस प्रकार यदि ९०० हिजरी में जन्म हुआ होता तो ११ वर्ष की अवस्था में भूकम्प पड़ता। ११ वर्ष की अवस्था जन्म-काल नहीं कही जा सकती। ९०६ में कवि का ५ वर्ष का होगा, उसे जन्म-काल माना जा सकता है। अतः ९०६ हिजरी ही जायसी का जन्म-काल मानना अधिक समीचीन है।

जन्म-स्थान--जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी मतभेद है। जायसी के दो कथन प्राप्त होते हैं—

१. **जायस नगर धरम अस्थानू। तहँवा यह कवि कीन्ह बखानू।**

(पद्मावत - डा० माताप्रसाद)

इसका दूसरा पाठ इस प्रकार है—

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

(पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित जायसी ग्रंथावली)

२. **जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाव आदि उदयानू॥**
तहाँ दिवस दस पहुने आएउं। भा वराग बहुत सुख पाएउं॥

(आखिरी कलाम)

इन पंक्तियों के दो आशय लगाये जाते हैं। एक तो यह कि जायस ही मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म-स्थान था और दूसरा यह कि वे अन्यत्र के रहने वाले थे और उन्होंने जायस में आकर पद्मावती की रचना की। डा० ग्रियर्सन इसी मत के मानने वाले थे किन्तु श्री शिरेफ जी ने जिन्होंने ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित 'पद्मावती' का अनुवाद किया, जायस को ही जन्म-स्थान कहा है। उनका मत है कि 'तहां आइ कवि कीन्ह बखानू' या 'तहाँ दिवस दस पहुने आएउं' का अभिधामूलक अर्थ लेना समीचीन नहीं, उसका अन्योक्तिमूलक अर्थ लेना चाहिये। अर्थात् यह संसार तो पहुनाई ही है अतः इसका तात्पर्य जन्म-स्थान ही है। स्वर्गीय पं० चन्द्रबली पांडेय जी ने जायस का कंचाना मुहल्ला इनका जन्म-स्थान स्वीकार किया था।

कुरूपता—मलिक मुहम्मद जायसी की कुरूपता सिद्ध है। उन्होंने कहा है :—

एक नैन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी॥
जग सूझा एकै नैनाहाँ। उआ सूक जस नखतन्ह माहाँ॥
मुहमद बाईं दिसि तजा, एक सरवन एक आँखि।

(पद्मावत)

है नरकी और पापी, टेढ़ बदन औ आँखि।
चीन्हत उहै मुहम्मद, झूठि भरी सब साखि॥

(आखिरी कलाम)

इससे स्पष्ट है कि इनकी बांईं आंख नहीं थी, बांयां कान बहरा था और शरीर टेढ़ा था। सैयद आले मेहर साहब ने लिखा है कि जब ये सात बरस के थे तभी इनके चेचक निकली। जिससे इनकी बांईं आंख जाती रही थी। किन्तु इनके सारे बांएँ अंग के क्षीण होने से अनुमान लगता है कि इन्हें बांए अंग का अर्धांग हो इसी से ये कुबड़े और एक तरफ से

विकार थे। किन्तु अपनी कुरूपता के कारण व अपने को हीन नहीं मानते थे। यही कारण है कि इतना निरभिमान व्यक्ति भी गर्वोक्ति से बोलता है।

नाम—इनका नाम 'मुहम्मद' था। क्योंकि इनके सभी ग्रंथों में यही नाम दोहा के चरणों में मिलता है। 'मलिक' इनकी पैतृक उपाधि थी। खिलजी वंश के समय में यह उपाधि नवाबों को दी जाती थी।

परिवार—सैयद कल्वे मुस्तफा के मतानुसार इनके पिता का नाम मलिक शेख ममरेज या मलिक राजे अशरफ था। माता का क्या नाम था, कहीं भी उल्लिखित नहीं है। सैयद आले मेहर साहब का मत है जायसी के माता-पिता बचपन में ही मर चुके थे। इनका पालन पोषण इनके ननिहाल मानिकपुर जिला प्रतापगढ़ में हुआ। बड़े होने पर जायसी फिर अपनी मातृभूमि जायस लौटे और वहीं पद्मावत की रचना की। जायसी तीन भाई थे—१. मलिक शेख मुंसफी (मलिक मुहम्मद जायसी), २. मलिक शेख मुज़फ्फर, ३. मलिक शेख हाफिज़। मलिक शेख हाफिज के वंशधर अब तक जायस में मिलते हैं।

विवाह—इस सम्बन्ध में दो जनश्रुतियाँ हैं। एक के अनुसार इनका विवाह ही नहीं हुआ, ये तो आरम्भ से ही फकीर हो गये थे। दूसरी जनश्रुति के अनुसार इन्होंने विवाह तो किया था, इनके एक पुत्र भी हुआ था पर मकान में दब जाने से उसकी मृत्यु हो गयी थी। इसके उपरान्त ये विरक्त हो गये थे। दूसरी जनश्रुति अधिक समीचीन प्रतीत होती है। जायसी ने स्त्रियों और उनकी मनोवृत्तियों का जो वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि वे आदि से ही विरक्त या फकीर न हुए थे।

मित्र—जायसी ने अपने चार मित्रों का उल्लेख * किया है। मलिक यूसुफ, सालार कादिम, सलोने मियां और बड़े शेख। मलिक यूसुफ पट्टी मुहल्ला कंचाना के जमीदार थे, अब इनका कोई वंशज विद्यमान नहीं है। सालार कादिम सालार पट्टी के निवासी थे। ये भी साधारण जमीदार थे, बुद्धिमान और वीर थे। सलोने मियां नाम के तीन व्यक्ति जायस में रहते थे। इन्हीं में से एक इनके मित्र थे। जनश्रुति के अनुसार तीनों ही से इनका प्रिय सम्बन्ध था। बड़े शेख नाम के पांच व्यक्ति ज़ायस में थे, इन्हीं में से एक इनके मित्र थे।

इसके अतिरिक्त अमेठी के राजा जायसी को मित्रवत् मानते थे और इनका बड़ा आदर करते थे। किम्वदन्ती है कि जायसी की दुआ से ही अमेठी के राजा के पुत्र हुआ

---

१. चारि मीन कवि मुहमद पाये। जोरि मिताई सरि पहुँचाये।।
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी। पहिले भेद बात उन जानी।।
पुनि सालार कांदन मति माहाँ। खांडे दान उभय निति बाहाँ।।
मियाँ सलोने सिंह अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू।।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कह अदेस सिद्धन्ह बड़ माने।।
पद्मावत (२२)

था, इसलिये वे इनका विशेष आदर करते थे। एक दूसरी किम्वदन्ती के अनुसार अमेठी में एक फकीर निम्नलिखित बारहमासा गा रहा था—

"कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सखाइ।
सूखि बेलि पुनि पलुहै, जो पिउ सींचँ आइ।।"

राजा ने जब यह बारहमासा सुना तो बड़ा प्रभावित हुआ। उसने इसके लिखने वाले को पूछा। फकीर ने जायसी का नाम लिया। इस पर राजा ने जायसी को बुलाया और विशेष सम्मानित किया।

गुरु—सूफी परम्परा के अनुसार जायसी गुरु-परम्परा में विश्वास रखते थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम में किया है। पद्मावत में एक स्थल पर सैयद अशरफ जहांगीर की परम्परा का नाम लिया है और दूसरी जगह शेख मोहदी (मुहीउद्दीन) को अपना गुरु कहा है—

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन उजियारा।।

तथा—

गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा। चले उताउल जेहि कर खेवा।।

अखरावट में भी इन दोनों को ही गुरु माना है—

कही तरीकत चिश्ती पीरू। उधरित असरफ और जहाँगीरू।।
पा पाएउँ गुरु मोहिदी मीठा। मिल पंथ सो दरसन दीठा।।

इस प्रकार पद्मावत और अखरावट दोनों में ये अशरफ जहांगीर और शेख मुहीउद्दीन को अपना गुरु स्वीकार करते हैं परन्तु आखिरी कलाम में उन्होंने सैयद अशरफ जहांगीर को ही अपना गुरु और अपने को शिष्य माना है।

मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा।।
जहाँगीर चिश्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक विधि धरा।।

+ + +

तिन्ह घर हों मुरीद सो पीरू। सँवरत विनु गुरु लावैं तीरू।।

जायसी ने इन दोनों पीरों की वंशावली भी दी है। पद्मावत के स्तुति खंड में ये लिखते हैं—

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा।।

+ + +

ओहि घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सुभागइँ भरा।।
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे। पंथ देइ कहं दइअ सँवारे।।
सेख मुबारक पून्यो-करा। सेख कमाल जगत निरमरा।।

+ + +

गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा । चले उताउल जिन्ह कर खेवा ॥
अगुवा भयउ सेख बुरहानू । पंथ लाइ जेहि दीन्ह गिआनू ॥
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरु । दीन दुनी रोसन सुरखुरु ॥
सैयद मुहमद के ओइ चेला । सिद्ध पुरुष-संगम जेहि खेला ॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए । हजरत ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए ॥
भए परसन ओहि हजरत ख्वाजे । लए मेरए जहँ सैयद राजे ॥

इस गुरु-परम्परा की तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है—

सैयद असरफ जहांगीर
|
शेख हाजी
|
शेख मुहम्मद — शेख कमाल

सैयद राजे हामिदशाह
|
शेख दानियाल
|
सैयद मुहम्मद
|
शेख अलहदाद
|
शेख बुरहान
|
शेख महोदी (मुहीउद्दीन)

इस विवरण से प्रतीत होता है कि इन्होंने सैयद अशरफ जहांगीर की शिष्य-परम्परा और शेख मोहिदी की गुरु-परम्परा ही लिखी है । सैयद अशरफ एवं सैयद राजे हामिदशाह से पूर्व गुरु-परम्परा नहीं लिखी । परन्तु यह निश्चित है कि ये दोनों ही शाखाएँ निजामुद्दीन औलिया से सम्बन्ध रखती हैं । अतः यह निर्विवाद है कि जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे ।

मृत्यु—मलिक मुहम्मद जायसी की मृत्यु के सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं । ये सभी मत जनश्रुतियों पर ही आधारित हैं । सैयद काज़ी नासिरुद्दीन जायसी की मृत्यु ९४९ हिजरी १५४२ ई० में मानते हैं । सैयद आले मेहर साहब ९४९ हिजरी को कलम की गलती मानते हैं । उनके अनुसार उनका मृत्यु-संवत् ९९९ हिजरी है । मुंशी गुलाम शरूर लाहौरी के मत से १६३९ ई० तथा एक और मत के अनुसार १६५९ ई० इनका मृत्यु संवत् ठहरता है । इस संबन्ध में बिलकुल निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । एक किम्वदन्ती के अनुसार जायसी सिद्धि बल से वन्य पशुओं का रूप धारण करके अमेठी के जंगल में रहते थे । उन्होंने राजा से कहा था कि उनकी मृत्यु किसी शिकारी की गोली से होगी । राजा ने उस वन में शिकार करना निषिद्ध कर दिया था । किन्तु संयोग की बात है कि एक शिकारी उधर जा निकला । उसने एक बाघ की गर्जना सुनी । उसने गोली

चलाई। पर बाद में जब वह वहां गया तो वहां बाघ के स्थान पर मलिक मुहम्मद जायसी की लाश पड़ी थी। अमेठी के राजा ने उसी स्थान पर जायसी की कब्र बनवा दी। यह स्थान रियासत अमेठी (जिला सुलतानपुर) में मँगरा के बन में है। उसकी पक्की चाहरदीवारी अभी तक है। इस कब्र पर चिराग जलाने वाला और कुरान पढ़ने वाला एक व्यक्ति १९१५ ई० तक नियुक्त था।

रचनाएँ—नागरी प्रचारिणी सभा, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, सैयद कल्वे मुस्तफा और पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं जनश्रुति के आधार पर इनकी कृतियों की जो सूची मिली है, उससे ज्ञात होता है कि वे संख्या में लगभग २० हैं। सूची इस प्रकार है—

१—पद्मावत	११—मोराईनामा
२—अखरावट	१२—मुकहरानामा
३—आखिरी कलाम	१३—मुहरानामा
४—सखरावत	१४—नैनावत
५—चम्पावत	१५—कहारनामा
६—इतरावत	१६—मेखरावटनामा
७—महरी बाइसी	१७—धनावत
८—पोस्तीनामा	१८—स्फुट छन्द
९—मटकावत	१९—सोरठ
१०—खुर्बानामा	२०—परमार्थ जपजी

इनमें से पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाइसी ही प्रकाशित हैं।

पद्मावत—यह काव्य ही वास्तव में जायसी को अमर बनाने वाली रचना है। यह बड़ी प्रौढ़ कृति है और हिन्दी-साहित्य का एक अमूल्य रत्न है।

नाम—इसके कई नाम मिलते हैं—पद्मावती, पद्मावति, और पद्मावत। सूफी काव्य-परम्परा की दृष्टि से पद्मावती या पद्मावति नाम ठीक प्रतीत होते हैं किन्तु प्रामाणिक प्रतियों में 'पदमावत' नाम ही मिलता है।

रचना काल—

सन् नवसै सैंतालिस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥

इसके अनुसार रचना काल ९४७ हिजरी या १५४० ई० है। किन्तु कुछ प्राचीन प्रतियों में पाठ 'नव सै सत्ताइस' मिलता है, जिसके अनुसार सन् ९२७ हिजरी सन् १५२० के लगभग पड़ता है, जो कि लोधी वंश का शासन काल है। परन्तु जायसी ने पद्मावत के स्तुति खंड में ईश्वर, मुहम्मद साहब एवं खलीफाओं की स्तुति करने के पश्चात् दिल्ली के सुलतान शेरशाह की प्रशंसा की है। मसनवियों की शैली के अनुसार शाहे-वक्त की प्रशंसा होती है। शेरशाह का समय इतिहास के अनुसार सन् १५४० ई० है। इससे प्रतीत होता कि जायसी का

रचना काल ६४७ हिजरी १५४० ई० है। श्री शिरेफ, डा० माताप्रसाद और डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल जी ने भी यही सम्वत् प्रामाणिक माना है।

इस काव्य की रचना मसनबियों की पद्धति पर हुई है। मसनबियों में प्रथम अल्लाह, तदनन्तर क्रमशः मुहम्मद साहब, खलीफाओं, शाहेवक्त (तत्कालीन राजा) और गुरु की स्तुति होती है तथा ग्रन्थ का विभाजन घटना-शीर्षकों के अनुसार होता है। पद्मावत में भी ऐसा ही है।

ऐसा होते हुए भी इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण मिलते हैं। राजा रत्नसेन क्षत्रिय-कुलोत्पन्न धीरोदात्त नायक है और पद्मावती तदनुकूल नायिका है। इसमें ५८ खण्ड हैं जिनमें सात-सात अर्धालियों के पश्चात् एक-एक दोहे के क्रम से कथा का वर्णन है। इसमें प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, युद्ध-वर्णन, विवाह-वर्णन तथा और भी अनेक प्रकार के वर्णनों का योग है। कथानक भी रत्नसेन के दीर्घकालीन जीवन से सम्बन्ध रखता है और उद्देश्य भी महान् है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

इसकी कथा हिन्दू परिवार से सम्बन्ध रखती है और ऐतिहासिकता लिये हुए है। इसकी कथा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पहला पद्मावती के विवाहोपरान्त चित्तौड़ लाये जाने तक और दूसरा अल्लाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण से अन्त तक। प्रथम भाग का आधार लोक-कथा है। द्वितीय भाग का आधार इतिहास है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया गया है। कथा के अधिकांश को हम कल्पित ही कहेंगे क्योंकि नामों के अतिरिक्त कथा मनगढ़न्त है, जिसमें रत्नसेन हीरामन तोता से पद्मावती के रूप सौंदर्य की प्रशंसा सुन कर सोलह सहस्त्र राजकुमारों के साथ उसके वियोग में योगी हो जाता है और अपनी परिणीता स्त्री नागमती का परित्याग कर उसकी प्राप्ति के लिये अनेक कष्ट सहता हुआ सिंहल द्वीप जाता है, जहाँ हिन्दू देवताओं की सहायता से वह गन्धर्वसेन को परास्त कर पद्मावती का पाणिग्रहण करता है और पुनः पक्षी से नागमती के विषम वियोग का समाचार पाकर पद्मावती के साथ चित्तौड़ आता है। राघव चेतन का रूप दर्शन पाना और कड़े की कथा भी कल्पित ही है। कथा के उत्तरांश में ऐतिहासिकता का पुट है। पद्मावती (पद्मिनी) की प्रशंसा सुन कर दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। पुनः बादशाह दर्पण के षड़यन्त्र से राजा को वन्दी बना कर दिल्ली ले जाता है, तदनन्तर रानी गोरा-बादल की सहायता से उसे छुड़ा लाती है। इसके पश्चात् देवपाल की कथा कल्पित है, जिसमें देवपाल राजा की अनुपस्थिति में पद्मावती के पास एक दूती भेजता है और जब राजा लौटने पर इस दुष्ट प्रस्ताव के विषय में सुनता है तो देवपाल से युद्ध करता है जिसमें दोनों ही मारे जाते हैं।

प्रत्येक खण्ड की संक्षिप्त कथा

१—**स्तुति खण्ड**—इस खण्ड में मसनवी-परम्परा के अनुसार कवि ने संसार को बनाने वाले, पैगम्बर, पैगम्बर के चारों दोस्त, शाहे-वक्त और अपनी गुरु-परम्परा की चर्चा एवं स्तुति की है। साथ ही साथ कवि अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए अपने चार मित्रों की प्रशंसा करता है और अपने ग्रन्थ का रचना-काल देता है। इसके पश्चात् सम्पूर्ण ग्रन्थ की अति संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है।

२—**सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड**—इस खण्ड में कवि ने सिंहल द्वीप का वर्णन किया है। पहले तो वह सात द्वीपों में उस द्वीप की उच्चता बतलाता है। फिर सिंहल नरेश गन्धर्वसेन का परिचय देता हुआ सिंहल द्वीप की प्रकृति का वर्णन करता है। प्रकृति में पेड़ों, फलों और पक्षियों का वर्णन है। इसके पश्चात् कुआँ, बावली, मानसरोदक, पनिहारियाँ, ताल-तालाब, उपवन का वर्णन है। फिर कवि सिंहल नगर का वर्णन करता है। सिंहल नगर में ऊँचे-ऊँचे मकान, बाजार, वेश्याएँ, मालिन, पंडित, नट, चिड़ियों का खेल दिखाने वाले, नाटक करने वाले, ठग तथा चोर हैं। उसके पश्चात् सिंहल गढ़ का विवरण है। गढ़ में ऊंचाई, कोतवाल, पहरेदार, घड़ियाल, नदियाँ, पनिहारिनें, कुण्ड, कंचन-वृक्ष, गढ़पति, राज्यद्वार, हाथी-घोड़े, राज-समाज तथा राजमहल आदि के वर्णन हैं। उसी वर्णन में उसने चम्पावती का परिचय भी दिया है कि वह गन्धर्वसेन की पटरानी थी।

३—**जन्म खण्ड**—इस खण्ड में पद्मावती के जन्म, शैशव और युवावस्था का वर्णन है। गन्धर्वसेन और चम्पावती के एक सन्तान हुई। उसका नाम पद्मावती रखा गया। पद्मावती अत्यन्त सुन्दरी थी। पांच वर्ष की आयु प्राप्त करने पर उसने पढ़ना प्रारम्भ किया। पढ़ने में वह बहुत दक्ष थी। जब वह बारह वर्ष की हो गई तो सात खण्ड वाले महल में उसे अलग निवास दिया गया। उसकी अगणित सखियां थीं और उसके पास एक तोता था। तोते का नाम हीरामन था। वह महा पंडित था और वेद-शास्त्र पढ़ा था। गन्धर्वसेन को अपने वैभव का बड़ा गर्व था। इस कारण वह पद्मावती का विवाह किसी से नहीं करता था। एक दिन मदन-संतप्त होकर पद्मावती ने हीरामन से कहा—'हीरामन सुनो, दिन-दिन मुझको मदन अधिक सताता है। पिता मेरा विवाह नहीं करवाते और मैं डर के मारे कुछ नहीं कह सकती। देश-देश के वर मेरे लिये आते हैं, परन्तु पिता उनकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते।' हीरामन ने कहा—'यदि तुम्हारी आज्ञा है तो देश-देशान्तर घूम कर मैं तुम्हारे योग्य वर खोजूँगा। जब तक मैं लौट कर नहीं आता, तब तक धैर्य धारण करो।' कोई दुर्जन इस बात को सुन रहा था। उसने राजा से सारी बात कह दी। राजा ने सुए को मार डालने की आज्ञा दी। परन्तु जब तक मारने वाले वहां तक आ सकें, रानी ने उसे छिपा दिया और कह दिया कि 'तोता तो एक पंछी है जो खाना भर जानता—

है। उसमें बुद्धि ही कहां होती है ?' नौकर कह-सुन कर लौट गए, परन्तु हीरामन ने कहा—'रानी, यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो अब वन जाऊँ। जब राजा नाराज हो गए हैं तो यहाँ रहने में कुशल नहीं।' रानी ने कहा—'यदि जीव चला जाएगा तो काया किस प्रकार रह सकती है। तू पक्षी है, फिर भी मुझे अत्यन्त प्यारा है। प्रेम का तोड़ना अत्यन्त कष्टदायक होता है।'

४—**मानसरोदक खण्ड**—इस खण्ड में पद्मावती के सरोवर जल-विहार का वर्णन है। एक समय पूर्णमासी के दिन पद्मावती सखियों के साथ मानसरोवर स्नान करने के लिए गई। वहाँ पर पद्मावती की एक सखी ने कहा—'रानी मन में विचार कर तो देखो, इस नैहर में हमें दो चार दिन ही रहना है। जब तक पिता का राज्य है, तभी तक हम यहाँ खेल सकती हैं। फिर हम ससुराल चली जाएंगी, फिर कहाँ यह सरोवर मिलेगा और कहाँ हम सहेलियाँ ? ससुराल में सास और ननदें बोलने तक नहीं देंगी। ऊपर से प्रिय का प्यार होगा। पता नहीं वहाँ कैसे जीवन बीतेगा।' यह कह कर सब सखियाँ झूला झूलने लगीं।

फिर रानी पद्मावती ने स्नान करने के लिए अपने बाल खोले और तीर पर कंचुकी एवं साड़ी उतार कर रख दी और पानी में जल-क्रीड़ाएं करने लगी। जल-क्रीड़ा में एक सखी जो खेलना नहीं जानती थी, अपना हार खो बैठी और रोने लगी। फिर जब उसे खोजने के लिए पद्मावती तालाब में घुसी तो अपने आप ही वह हार पानी पर उतराने लगा। उसे पाने ही सब सखियाँ प्रसन्न हो कर हँसने लगीं। पद्मावती भी हँसी और उसकी मुसुकान से सर्वत्र प्रकाश फैल गया।

५—**सुआ खण्ड**—जब पद्मावती वहाँ खेल रही थी, हीरामन उड़ गया। वह जंगल में गया। वहाँ पर उसे बहुत से पक्षी मिले। उन्होंने उसका बड़ा आदर किया। वह वहाँ बड़े सुख से रहने लगा। एक दिन वहाँ एक व्याध आया। हीरामन उसके जाल में फँस गया। बहेलिये ने उसे अपने झाबे में रख लिया और ले गया।

६—**रत्नसेन जन्म खण्ड**—चित्तौड़ में चित्रसेन नामक राजा राज्य करता था। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रत्नसेन रखा गया। ज्योतिषियों ने उसके जन्म लेते ही बतलाया कि यह बड़ा सौभाग्यशाली है। यह पद्मावती से विवाह करेगा और सिंहल द्वीप में जा कर सिद्ध बनेगा।

७—**बनिजारा खण्ड**—चित्तौड़ का एक व्यापारी सिंहल द्वीप व्यापार करने के लिए गया। एक गरीब ब्राह्मण भी किसी से ऋण लेकर उस बनिए के साथ गया। सिंहल द्वीप में जा कर उस ब्राह्मण ने देखा कि वहाँ बहुत बड़ा बाजार लगा हुआ है और सभी चीजें ऊँचे दामों की हैं। इस कारण वह बड़ा निराश हो उठा। इतने में वह व्याध हीरामन को ले आया। ब्राह्मण उसके सोने जैसे रंग को देख कर विमोहित हो उठा। उसने तोते से

पूछा—'तुममें कुछ गुन भी है या तू निरगुन ही है।' हीरामन ने उत्तर दिया—'मैं ब्राह्मण और पंडित दोनों हूँ। जब इस पिंजड़े के बाहर था तो मेरे पास सभी गुन थे, परन्तु जब वन्दी बना हुआ हूँ, तब तो कोई भी गुन नहीं है।' ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया और चित्तौड़ ले आया।

चित्तौड़ के राजा चित्रसेन की मृत्यु हो चुकी थी और रत्नसेन गद्दी पर बैठा था। उसके दरबार में एक दिन यह बात चली कि सिंहल से कुछ बनिये आये हैं, वे विचित्र विचित्र वस्तुएँ लाए हैं, जिनमें एक ब्राह्मण एक अत्यन्त सुन्दर तोता लाया है। राजा ने अपने नौकरों को भेज कर पंडित को बुलवाया और तोते के विषय में पूछा। हीरामन ने कहा—'मेरा नाम हीरामन है, मैं तुम्हारी भेंट पद्मावती से करवा दूंगा और वहीं पर तुम्हारी सेवा करूंगा।' रत्नसेन ने यह सुनकर उसे मोल ले लिया।

८—**नागमती-सुआ संवाद खण्ड**—थोड़े दिन बीतने पर एक दिन राजा शिकार खेलने गया हुआ था, नागमती, जो कि रत्नसेन की पटरानी थी, ने हीरामन से पूछा—'मेरे स्वामी के प्रिय, यह बतलाओ कि क्या मुझसे भी अधिक सुन्दर कोई स्त्री तुमने इस संसार में देखी है ? क्या तुम्हारे सिंहल द्वीप की पद्मिनी स्त्रियाँ मुझसे अधिक सुन्दर हैं ?' पद्मावती के रूप का स्मरण कर हीरामन हँसा और बोला—'वास्तव में सुन्दर वह है जिसे उसका प्रिय प्यार करे। और यदि वैसे पूछती हो तो सिंहल की पद्मिनी और तुम में कोई भी तुलना नहीं है। तुममें और उसमें दिन और रात का अन्तर है। वह सोने की बनी है और सुगन्ध से भरी हुई है।' नागमती ने जब यह उत्तर सुना तो उसे बड़ी चिन्ता हुई रत्नसेन से अगर यह तोता अगर यह बात कह देगा तो वह उसे छोड़ कर सिंहल की ओर उन्हें प्राप्त करने के लिए चल देगा। इस कारण उसने अपनी धाय को वह तोता मार डालने के लिए दे दिया। धाय उसे ले गयी और यह सोच कर कि यह तोता राजा का प्यारा है, जिसे स्वामी चाहता हो उसे मारना नहीं चाहिये, उसने उसे न मारा और छिपा लिया। जब रत्नसेन शिकार खेल कर लौटा तो उसने हीरामन की खोज की। नागमती ने सभी बात सच-सच बतला दी। राजा को इस पर बड़ा क्रोध आया। नागमती धाय के पास दौड़ी हुई गई। धाय ने तोता दे दिया। रानी ने वह तोता राजा को ला कर दे दिया।

९—**राजा-सुआ संवाद खण्ड**—राजा ने तोते से सत्य बात पूछी। तोते ने सिंहल की बड़ी प्रशंसा करते हुए गन्धर्वसेन का परिचय दिया और कहा कि उसकी कन्या पद्मावती अत्यन्त सुन्दरी है। राजा ने ज्यों ही यह सुना, उसके मन में प्रेम जाग गया। उसने उसका नख शिख पूछा।

१०—**नख-शिख खण्ड**—हीरामन ने कहा—'राजा, उसके शृङ्गार का क्या वर्णन करूँ ? वह उसी पर शोभा देता है। उसके बाल कस्तूरी रंग के घुंघराले हैं। मांग लाल रङ्ग की है और ललाट द्वितीया के चांद की तरह है।' इसी प्रकार हीरामन ने उसका सारा **नख-शिख** बताया।

११—**प्रेम खण्ड**—राजा इस नख-शिख को सुनते ही मुरझा गया। वह बेहोश हो गया और उसके मुख से 'त्राहि-त्राहि' का शब्द भर निकलता था। राजा के कुटुम्बी परिजन सभी आ गए। परन्तु किसी की समझ में कुछ नहीं आता था। जब राजा को होश आया तो वह रोने लगा और बोला—'मैं तो अमरपुर में था यहाँ पर मरनपुर में कहाँ आ गया?' सबने उसे समझाया। परन्तु उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया। हीरामन ने भी समझाया—'राजा, मन में धैर्य धरो और विचार करो। प्रीति करना अत्यन्त कठिन है। वह सिंहल का पथ अगम है। वहाँ जाना बड़ा कठिन है। वहाँ जोगी संन्यासी ही जा पाते हैं। तुम भोगी व्यक्ति हो, तुम्हारा वहाँ जाना अत्यन्त कठिन है।' राजा ने ज्यों ही यह बात सुनी, वह जाग सा पड़ा। उसने शीघ्र ही सिंहल-यात्रा का निश्चय कर लिया।

१२—**जोगी खण्ड**—राजा ने राज्य छोड़ दिया और वह जोगी हो गया। उसने राजसी वस्त्र एवं चिन्ह उतार कर भस्म मली और मेखला, सिंघी, चक्र, धंधारी आदि धारण कर लिए। ज्योतिषी ने कहा कि आज यात्रा के योग्य दिन नहीं है। राजा ने कहा कि प्रेम पंथ का पथिक दिन नहीं देखता।

माँ ने रोते हुए विनती की—'राज्य छोड़ कर भिखारी मत बनो। नौ लाख स्त्रियों के साथ यहीं पर विलास करो। तुम सदा विलास में पले हो, योगी कैसे बनोगे? सारा घर तुम्हीं से आलोकित है, तुम इसे अंधेरा करके मत चले जाओ।' रत्नसेन ने उत्तर दिया—'माँ, संसार में कौन किसका है? जहाँ पर अपने शरीर का रोंआ ही अपना शत्रु है वहां पर चन्दन का क्या लगाना? गुरु ने आदेश दिया है, मैं सिंहल जाऊँगा, आशीष दो।'

नागमती और सारा रनिवास रो रहा था। नागमती ने कहा—'या तो यहाँ रह कर हमें भोगिनी बनाओ या हमें भी अपने साथ योगिनी बना कर ले चलो। पद्मिनी भले ही अत्यन्त सुन्दर हो परन्तु मुझसे अधिक सुन्दर कोई भी नहीं हो सकता।' रत्नसेन ने उत्तर दिया—'तुम स्त्री हो, इस कारण मतिहीन हो। संसार तो सपने के समान है। इसमें बिछुड़ जाने पर ऐसा हो जाता है जैसे कभी एक-दूसरे को देखा भी न हो।' इस प्रकार सब से बिदा हो कर राजा सोलह सौ कुंवरों के साथ सिंहल द्वीप की ओर चल पड़ा। उसके आगे-आगे हीरामन पथ दिखलाता हुआ चल रहा था।

१३—**राजा-गजपति संवाद खण्ड**—लगभग एक माह चलने के पश्चात् ये व्यक्ति समुद्र के घाट पर पहुँचे। वहाँ पर राजा गजपति मिला। उसने जब यह सुना था कि राजा रत्नसेन योगी हो कर इस ओर जा रहा है तो वह उससे मिलने वहाँ पर आ गया था। उसने कहा—'आपने दर्शन दे कर बड़ी कृपा की। अब आज्ञा दीजिये।' राजा ने कहा—'तुम्हारी बड़ी कृपा होगी यदि तुम मुझे जहाजों का इन्तजाम कर दो।' गजपति ने कहा—

'आपकी आज्ञा सिर माथे पर। जहाजों का इन्तजाम तो कर दूँगा परन्तु प्रार्थना यह है कि पंथ बड़ा ही भंयकर है, आप वहाँ कैसे जाएँगे ?' राजा ने उत्तर दिया—'गजपति, जहाँ प्रेम होता है वहाँ प्राणों की परवाह नहीं रहती। इस कारण मैं चला ही जाऊँगा।'

१४—**बोहित खण्ड**—राजा वहाँ से चल पड़ा। जब वे जहाज चले तो सारा समुद्र उनसे पट गया। वे एक पल में सहस्र कोस की रफ्तार से जा रहे थे।

१५—**सात समुद्र खण्ड**—पहले वे खार समुद्र में आये। उसमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही थीं। फिर खीर समुद्र में पहुंचे। वहाँ पर समुद्र में हीरा-मोती भरे हुए थे। उसके पश्चात् दधि समुद्र में आए जो कि दही की भाँति जमा हुआ था। दधि समुद्र पार कर लेने पर उदधि समुद्र मिला। इसमें आग जल रही थी। फिर सुरा समुद्र में आए। जो कोई उसका जल पी लेता वह बेहोश हो जाता। सुरा समुद्र के पश्चात् किलकिला समुद्र मिला। इसकी ऊँची-ऊँची लहरें देख कर ही साहस छूट जाता था। हीरामन ने राजा से कहा—'यही वह समुद्र है जो कि सिंहल द्वीप जाते समय पार करना कठिन है। इसे पार करना तलवार की धार पर चलना है।' राजा ने दृढ़ता से उत्तर दिया—'मैंने तो प्रेम समुद्र में अपना जहाज डाल दिया है। यह समुद्र तो उसकी एक बूंद के समान ही है।' फिर मानसर समुद्र में आए। यह अत्यन्त शान्त था।

१६—**सिंहल द्वीप खण्ड**—सिंहल द्वीप पहुँचने पर तोते ने राजा को सिंहल गढ़ दिखलाते हुए बतलाया—'यह जो ऊँचा गढ़ है, यहीं पर पद्मावती रहती है। उसके पास न तो भौंरा ही जा सकता है और न कोई पक्षी। अब मैं पहले तो तुम्हें उसके दर्शन करवाऊँगा और फिर प्राप्ति।' यह कह कर उसने उसे कंचन का सुमेरु पर्वत दिखलाते हुए कहा—'यह जो पर्वत है वहाँ पर महादेव जी का मंडप है। माघ मास की श्री पंचमी को वहाँ पर महादेव की पूजा करने के लिए सब लोग आते हैं। पद्मावती भी पूजा करने के लिए आवेगी। इसी मिस तुम वहाँ पर उसके दर्शन पा सकोगे।' राजा ने वहाँ रहना स्वीकार किया और हीरामन रानी पद्मावती के पास चला गया।

१७—**मंडप गमन खण्ड**—वियोग में पागल राजा तीस हजार चेलों के साथ महादेव के मडप में रहने लगा और पद्मावती की प्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना करने लगा।

१८—**पद्मावती वियोग खण्ड**—राजा के योग के अलक्षित प्रभाव से पद्मावती में विरह उत्पन्न हुआ। उससे रात काटे नहीं कटती थी। पद्मावती ने धाय से कहा—'अब तो यौवन असह हो रहा है। यदि सिंह मुझे मार कर खा जाता तो भी भला रहता। मैंने तो सुना था कि यौवन बसन्त के समान सुखदायी होता है परन्तु अब पता चला कि यह बड़ी दुखदायी वस्तु है।' धाय ने धीरज बंधाते हुए उत्तर दिया—'तुम सयानी हो। तुम्हें धैर्य धारण करना चाहिये। यौवन रूपी घोड़े को हाथ में रखना चाहिये। इसे यहां वहां नहीं जाने देना चाहिये। तुम अभी प्रेम नहीं जानती। जब तक प्रिय नहीं मिलता, तब तक प्रेम

की पीड़ा बड़ी अच्छी होती है ।' पद्मावती ने उत्तर दिया—'धाय, मेरा जी तो जल सा रहा है । यौवन के चांद के उदित होते ही उसे राहु रूपी विरह ने ग्रस लिया है ।'

१६—**पद्मावती-सुआ भेंट खण्ड**—इस वियोग व्यथा के बीच हीरामन पहुँच गया । पद्मावती को ऐसा लगा मानों उसमें प्राण आ गये हों। रानी उसे गले से लगा कर रोई और उससे कुशल पूछी । हीरामन बोला—'रानी, तुम युग-युगों तक जीती रहो । मैं यहां से बन में उड़ कर गया । वहाँ पर एक व्याध ने मुझे पकड़ लिया और एक ब्राह्मण के हाथों में बेच दिया । ब्राह्मण मुझे जम्बूद्वीप ले गया । वहां चित्रसेन का पुत्र रत्नसेन चित्तौड़ में राज्य कर रहा था । वह देश बड़ा ही वैभववान एवं सुन्दर है । रत्नसेन में बत्तीसों शुभ लक्षण हैं । उसने मुझे ले लिया । उसे देख कर मेरी इच्छा हुई कि वह तुम्हारे योग्य है, इस कारण तुम्हारा वर्णन मैंने उससे किया । तुम्हारा वर्णन सुनते ही उसके अन्दर प्रेम की चिनगी पड़ गई । वह तुम्हारे लिए राज्य छोड़ कर भिखारी हो गया । वह सोलह हजार चेलों के साथ योगी बन कर यहाँ आया है । वह महादेव की मढ़ी में है ।' यह सुन कर पद्मावती के मन में अभिमान हुआ । जोगी से प्रेम करने को वह अपमान समझती थी । हीरामन फिर बोला— रानी तुम्हारे विरह में उसने अपनी कंचन जैसी काया जला कर भस्म कर दी है ।' यह सुन कर रानी के मन में दया उत्पन्न हुई और काम भी जागा। वह बोली—'यदि वह योगी अब मर जाएगा तो यह हत्या अब मुझे ही लगेगी । अब मैं बसन्त पूजा के बहाने वहाँ जा कर उससे मिलूंगी ।' यह सुन कर हीरामन प्रसन्नवदन वहाँ से उड़ कर रत्नसेन के पास गया और पद्मावती का सन्देश उसने उसे सुना दिया ।

२०—**बसन्त खण्ड**—बसन्त की श्री पंचमी को पद्मावती महादेव की पूजा के लिए सखियों के साथ वहाँ गई । पद्मावती ने महादेव की पूजा करते हुए कहा—'देवता, मेरी सारी सखियों का विवाह हो गया है, परन्तु अभी तक मेरे लिए वर ही नहीं मिलता । मेरी इच्छा पूरी करो और मेरे लिए एक वर मिला दो ।' इसी समय एक सखी हंस कर बोली—'रानी यह तमाशा तो देखो । पूर्व द्वार पर बहुत से योगी आए हुए हैं । उनमें एक गुरु कहलाता है वह बत्तीस लक्षण युक्त राजकुमार प्रतीत होता है ।' यह सुन कर पद्मावती वहां गई । उसको देखते ही राजा बेहोश हो गया । पद्मावती ने उसके शरीर पर चन्दन लगाया । एक क्षण के लिए तो राजा जागा अवश्य परन्तु शीघ्र ही ठंडक पाकर और गहरी नींद में सो गया । तब रानी पद्मावती ने उसके हृदय पर चंदन से यह लिखा कि जोगी, तू भीख लेना नहीं सीखा है । जब घड़ी आई तब तू सो गया । यह लिख कर पद्मावती लौट गई । रात में उसने स्वप्न में देखा कि चन्द्रमा का उदय पूर्व से हुआ है और सूर्य का पश्चिम से । फिर सूर्य चांद के पास चला आया और चांद और सूर्य दोनों का मिलन हो गया है । और हनुमान ने लंका लूट ली । सखियों से जागने पर उसने सपने का अर्थ पूछा । सखियों ने कहा कि तुम्हें वर प्राप्त होने वाला है ।

२१—राजा रत्नसेन सती खण्ड—पद्मावती के चले जाने पर रत्नसेन जागा। वह पद्मावती को गया हुआ देख कर रोने लगा और जल मरने का निश्चय करने लगा।

२२—पार्वती महेश खण्ड—उसी समय वहां पर महादेव एवं पार्वती पहुँच गए। उन्होंने चिता देख कर रत्नसेन से आत्महत्या और योग नष्ट करने का कारण पूछा। राजा ने संक्षेप में अपनी कथा बतलाई। पार्वती के हृदय में उसे सुन कर दया आ गयी। वह अप्सरा के समान सुन्दर रूप धारण कर बोली—'राजकुमार मेरी बात सुनो। मुझ जैसी सुन्दरी और कोई नहीं है। इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेज दिया है। यदि पद्मावती गई तो जाने दो। तुम्हें अप्सरा मिल गई।' रत्नसेन ने इन्कार करते हुए कहा—'मेरा प्रेम तो एक से है, दूसरे से मुझे कुछ भी मतलब नहीं है।' तब गौरी ने महेश से कहा—'इसका प्रेम बड़ा गहरा है। तुम इसकी रक्षा करो।' इतने में रत्नसेन को महादेव का वास्तविक रूप ज्ञात हो गया। वह रोने लगा। उसको ढाढ़स बंधाते हुए महादेव ने कहा—'रोओ मत। जैसा तुम्हारा शरीर नौ पौरी का है उसी प्रकार यह गढ़ भी है। दसवें द्वार तक इसमें भी चढ़ना पड़ेगा। जो दृष्टि को उलट कर लगाता है, वही उसे देख पाता है और वहां वही जा भी सकता है।'

२३—राजा गढ़ छेंका खण्ड—इस सिद्धि गुटका को पा कर राजा एकाएक महल में घुस पड़ा। गन्धर्वसेन को खबर मिली। उसने अपने नौकर भेजे। नौकरों से रत्नसेन ने कहा कि राजा की कन्या पद्मावती का भिखारी मैं हूं। यदि वह मुझे दे दी जाए तो मैं लौट जाऊँगा। नौकरों ने यह बात राजा गन्धर्वसेन से कही। गन्धर्वसेन को यह सुन कर बड़ा क्रोध हुआ।

रत्नसेन उत्तर की प्रतीक्षा में दिन बिताने लगा। उसने एक पत्र हीरामन के हाथ पद्मावती के पास भेजा। पद्मावती ने उत्तर के रूप में अपने प्रेम की दृढ़ता का सन्देश भेजा। पद्मावती का सन्देश सुन कर रत्नसेन प्रसन्न सा हो उठा।

२४—गन्धर्वसेन मंत्री खण्ड—गन्धर्वसेन ने अपने मंत्रियों की सलाह ली। सबने रत्नसेन को बन्दी बनाने की सलाह दी। वह बन्दी बना लिया गया। इधर पद्मावती बड़ी दुखी थी। वह एक बार बेहोश हो गई। हीरामन सुआ वहां पर लाया गया। उसकी आवाज सुन कर उसे होश आया। और पद्मावती ने एक सन्देश रत्नसेन के लिए भेजा।

२५—रत्नसेन सूली खण्ड—रत्नसेन बन्दी बना कर गन्धर्वसेन के पास लाया गया। वहां पर गन्धर्वसेन के पूछने पर उसने अपनी व्यथा सच-सच बतला दी। इसे सुन कर महादेव का आसन भी डोल उठा। महादेव और पार्वती भाट-भाटिन का रूप धर कर वहां आए। रत्नसेन आसन जमाए 'पद्मावती-पद्मावती' जप रहा था। इतने में सुए ने आ कर पद्मावती का सन्देश सुनाया। महादेव भी आगे बढ़े। उन्होंने राजा को समझाया और रत्नसेन का सच्चा परिचय दिया। हीरामन ने भी साक्षी दी। तब विवाह का निश्चय कर रत्नसेन का तिलक किया गया।

२६—**रत्नसेन विवाह खण्ड**—लग्न रखी गई और विवाह की तैयारी हुई। रत्नसेन के लिए सुन्दर वस्त्र लाए गए और बरात सज कर चली। पद्मावती महल के ऊपर से खड़ी होकर बरात देख रही थी। एकाएक प्रसन्नता की ऐसी लहर उस के शरीर में आई कि वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। सखियों ने उसे संभाला और होश में लाईं। बारातियों दावत दी गई और फिर विवाह हुआ। महल में सात खण्डों के ऊपर रत्नसेन को सुहागरात के लिए ले जाया गया।

२७—**पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड**—वहां पर सखियां पद्मावती की गाँठ खोल कर रत्नसेन से उसे अलग ले गईं। सन्ध्या को सखी रत्नसेन के पास आई और उसके योग का मजाक उड़ाने लगी। राजा ने परिहास का उत्तर पारिहास में न देकर अत्यन्त गम्भीरता-पूर्वक दिया। इस गम्भीर वातावरण के बीच पद्मावती लाई गई। पद्मावती आने में तो बड़ा संकोच कर रही थी। परन्तु आते ही उसका सारा संकोच दूर हो गया। उसने पहले तो राजा की उपेक्षा-सी की, परन्तु बाद में दोनों ने सुख मे केलि-क्रीड़ा करते हुए रात बिताई।

२८—**रत्नसेन साथी खण्ड**—सबेरे रत्नसेन अपने साथियों के पास गया। उन्हें उसने सोलह हजार पद्मिनी स्त्रियाँ दिलाईं। वे भी सुख से वहाँ रहने लगे।

२९—**षट ऋतु वर्णन खण्ड**—पद्मावती ने छहों ऋतुएं बड़े सुख से रत्नसेन के साथ बिताईं।

३०—**नागमती वियोग खण्ड**—नागमती के दिन रत्नसेन के विरह में बड़े दुख से बीत रहे थे। वह निरन्तर चित्तौड़ का पथ निहार रही थी, परन्तु रत्नसेन न लौटा। वह एक सामान्य स्त्री की भांति रहती थी। उसके गले में हार तक नहीं था। वह निरन्तर रोती रहती थी। रोते-रोते उसने बारह महीने बिता दिए। वह जिस पंछी के निकट जिस वृक्ष के नीचे जा कर अपने विरह की कथा कहती थी, वह पंछी जल जाता था और वह वृक्ष बिना पत्तों का हो जाता था।

३१—**नागमती संदेश खण्ड**—नागमती रोती फिर रही थी। एक दिन आधी रात के समय एक पंछी को उस पर दया आ गई। उसने उसकी कथा पूछी। नागमती ने अपने विरह की कहानी उसे सुनाते हुए उस से रत्नसेन के पास तक उसका सन्देश ले जाने की प्रार्थना की। पंछी ने उसे स्वीकार कर लिया। नागमती ने कहा—'पद्मावती से कहना कि मैं भी उसी पुरुष के साथ ब्याही हूं और मेरा जी भी अपने जी के समान हो वह समझे। मुझे भोग से कोई काम नहीं, परन्तु मैं उसकी स्नेह दृष्टि मात्र चाहती हूँ सपत्नी जिस के हाथ में मेरा प्रियतम है, मेरी बैरिन नहीं हो सकती। यदि तुम मुझे एक बार मेरे प्रिय से मिला दो तो मैं अपना सिर तुम्हारे पैरों पर रख दूंगी। रत्नसेन से कहना कि मां बड़ी दुखी थी। तुम ही उनके लिए एक मात्र श्रवणकुमार थे। वह निरन्तर तुम्हारी रट लगाए-लगाए मर गईं।'

पंछी इस सन्देश को लेकर चला। सिंहल में बड़ी आग उठी। सब जगह आग लगी हुई देख कर सारे पंछी तीर के वृक्ष पर आकर बैठ गए। उसी पेड़ के नीचे रत्नसेन जो कि वहां पर शिकार खेलने आया था, बैठ गया। यह पंछी भी उसी पेड़ पर जा कर बैठा। उन पक्षियों में आपस में बातें होने लगीं। इस पंछी ने अपना परिचय दिया और नागमती की कथा पंछियों को सुनाई। राजा नीचे बैठा हुआ सब कुछ सुन रहा था। उसने पंछी से फिर सारी बात पूछी। और कहा—'पंछी, मेरी आंख सदा नागमती की राह पर ही लगी रहती हैं, परन्तु कोई भी आ कर उसका संदेश नहीं सुनाता।' पंछी ने नागमती की विरह कथा फिर कह सुनाई और वह उड़ कर चला गया। रत्नसेन उसे पुकारता रह गया, परन्तु वह न लौटा। रत्नसेन को अब चित्तौड़ की याद आई। वह एक बरस तक चित्तौड़ को भूला हुआ था। वह उदास रहने लगा। गन्धर्वसेन उसे उदास देख कर उसके पास आया और बोला—'तुम मेरे प्राणों के समान हो, तुम्हें मैंने अपनी आंखों में रहने को जगह दी। यदि तुम्हीं उदास हो जाओगे तो यह महल किसका हो कर रहेगा?'

३२—**रत्नसेन बिदाई खण्ड**—रत्नसेन ने हाथ जोड़ कर स्तुति करते हुए कहा—'मैं कांच था, आपने ही मुझे कंचन बना दिया है। परन्तु आज मेरा परेवा पत्र ले कर आया है। मेरा राज्य मेरा भाई लिए ले रहा है। उधर दिल्ली सुल्तान भी हमला करने वाला है। इस कारण मुझे विदा दी जाए।' गन्धर्वसेन ने रत्नसेन की बात मान ली। सुमुहूर्त में वहां से अगणित द्रव्य लेकर रत्नसेन पद्मावती के साथ चला।

३३—**देश यात्रा खण्ड**—समुद्र में जब कि आधा रास्ता भी तय नहीं हो पाया था, एक बड़े जोर की आंधी उठी। इसमें राजा के जहाज अपना रास्ता भूल गए। विभीषण का एक केवट राक्षस मछलियों का शिकार करते-करते वहां आ गया था। राजा ने आफत में पड़ कर उस से अपना जहाज़ ठीक रास्ते पर लगा देने की प्रार्थना की। राक्षस ने कपट रूप से उसे विनयपूर्वक स्वीकार किया और उसे एक अत्यन्त गहरे और भंवरों से भरे सागर में ले गया। वहां राजा का जहाज डूब गया।

३४—**लक्ष्मी समुद्र खण्ड**—बहते-बहते पद्मावती समुद्र तट पर लगी। वहां पर समुद्र की बेटी जिसका नाम लक्ष्मी था, खेल रही थी। उसने पद्मावती को देखा। और उसे होश में लाई। होश आने पर पद्मावती ने पूछा कि वह कहां है और रत्नसेन कहां है? लक्ष्मी ने कहा—'मैं तुम्हारे प्रिय को नहीं जानती। मैंने तुम्हें तो किनारे पर ही पाया है।' पद्मावती यह सुन कर सती होने के प्रयत्न करने लगी। लक्ष्मी ने उसे समझाया और रत्नसेन के ढूंढने का आश्वासन दिया। उसने अपने पिता से सब बात कही। पिता ने पुत्री को आश्वासन दिया। आश्वासन पा कर लक्ष्मी समुद्र तट पर जा कर बैठ गई। वहां पर रत्नसेन आया। उसने अपने को पद्मावती बतलाया। परन्तु रत्नसेन ने उसे पहिचान लिया, वह पद्मावती न थी। तब लक्ष्मी उसे पद्मावती के पास ले गई। बिछुड़े हुए प्रेमी मिल गए। वहां से वे जगन्नाथ होते हुए अपने देश की ओर बढ़े।

३५—**चित्तौड़ आगमन खण्ड**—जब राजा चित्तौड़ के निकट पहुँच गया तो नागमती को बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु पद्मावती को देख कर उसमें सपत्नी की ईर्ष्या जाग उठी। उसने उसे दूसरे महल में उतारा। दिन-भर राजा दान-पुण्य करता रहा। रात में वह नागमती से मिला। नागमती का जीवन फिर हरा-भरा हो उठा।

३६—**नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड**—नागमती को प्रसन्न देख कर पद्मावती के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वह एक दिन नागमती से लड़ गई। दोनों में हाथापाई होने लगी। जब रत्नसेन ने यह बात सुनी तो वह वहाँ पहुँचा। उसने समझाया—'तुम दोनों का प्रिय मैं हूँ। जिस प्रकार रात दिन दोनों आवश्यक हैं उसी प्रकार तुम मेरे लिए हो।' दोनों रानियाँ यह सुन कर संतुष्ट हो गईं।

३७—**रत्नसेन संतति खण्ड**—नागमती के नागसेन और पद्मावती को पद्मसेन नाम के पुत्र हुए। ज्योतिषियों ने बतलाया कि दोनों बड़े भाग्यवान हैं।

३८—**राघव चेतन देश निकाला खण्ड**—रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नाम का एक बड़ा पंडित था। उसे यक्षिणी इष्ट थी। एक दिन अमावस थी। राजा ने पूछा—'दूज कब है?' राघव के मुँह से निकला—आज।' पंडितों ने कहा—'महाराज! कल है।' इस पर विवाद उठा। शाम को राघव ने यक्षिणी के बल से चाँद दिखला दिया। उस समय तो राजा ने बात मान ली। दूसरे दिन फिर द्वितीया का चाँद दिखलायी पड़ा। राजा को राघव चेतन पर बड़ा कोध आया। उसने राघव चेतन को अपने राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा दी।

जब पद्मावती ने यह सुना तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। ऐसा गुनी आदमी निकाला जा रहा था, यह उसे अच्छा नहीं लग रहा था। वह झरोखे पर आई। उसी के नीचे से राघव चेतन जा रहा था। उसने पद्मावती की ओर देखा: पद्मावती ने अपना एक कंगन उतार कर उसकी ओर फेंका और मुस्कुरा दिया। राघव चेतन उसे देख कर बेहोश हो गया। सखियाँ उसे होश में लाईं। वह उस कंगन को ले कर चला गया।

३९—**राघव चेतन दिल्ली गमन खण्ड**—वह दिल्ली गया। दुनिया रूपी दूध में दिल्ली मलाई की तरह थी। वहाँ वह अलाउद्दीन से मिला और उसने पद्मिनी के सौंदर्य की चर्चा की। अलाउद्दीन ने कहा—'ऐसी पद्मिनी स्त्रियाँ कहाँ मिलती हैं?' उसने कहाँ—'ये जम्बू द्वीप में नहीं मिलतीं। ये सिंहल द्वीप में मिलती हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं स्त्रियों के सभी भेद वर्णित कर पद्मिनी को और स्पष्ट कर दूँ जिससे कोई धोखा न रहे।'

४०—**स्त्री-भेद वर्णन खण्ड**—राघव चेतन ने काम शास्त्र के अनुसार हस्तिनी, शंखिनी, चित्रणी और पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन किया।

४१—**पद्मावती रूप चर्चा खण्ड**—फिर उसने रत्नसेन की पद्मावती का नख-शिख वर्णन किया। उसे सुन कर शाह चेतना खो उठा। जब उसे होश हुआ तो फिर उसने पद्मावती को शीघ्र भेज देने के लिए रत्नसेन के पास एक पत्र अपने दूत द्वारा भेजा और राघव चेतन को धन एवं सम्मान दिया।

४२—**बादशाह चढ़ाई खण्ड**—जब रत्नसेन ने वह पत्र पढ़ा तो वह अति क्रोधित हुआ। उसने दूत को यों ही लौटा दिया। दूत लौट कर अलाउद्दीन के पास गया। दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ पूरी तरह से होने लगीं। अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर बढ़ा।

४३—**राजा-बादशाह युद्ध खण्ड**—अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। सौ-सौ मन के गोले रत्नसेन के गढ़ पर गिरते थे, पर वह डटा हुआ था। उसने अपने भोग विलास को भी नहीं छोड़ा। एक दिन एक वेश्या को अलाउद्दीन के पक्ष के एक व्यक्ति ने तीर मार दिया, वह मर गई। इससे राजपूतों को बड़ा क्रोध आया। वे जी-जान से लड़ने लगे। कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा। अलाउद्दीन को खबर मिली कि दिल्ली पर लोग हमला करने वाले हैं। उसने यह भी सोचा कि अगर वह इस समय चित्तौड़ जीतेगा तो पद्मावती जल कर सती हो जायेगी। इस बार सन्धि करना उसे उचित दिखाई पड़ा।

४४—**राजा-बादशाह मेल खण्ड**—अलाउद्दीन ने अपना दूत रत्नसेन के पास भेजा। शर्त यह रक्खी थी कि रत्नसेन पद्मावती न दे और साथ ही साथ चंदेरी भी ले ले, परन्तु समुद्र ने उसे जो पाँच रत्न दिये थे उन्हें दे दे। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन अलाउद्दीन रत्नसेन के यहाँ प्रीतिभोज के लिए गया।

४५—**बादशाह भोज खण्ड**—राजा ने बड़े अच्छे व्यंजन बनवाये थे।

४६—**चित्तौड़ गढ़ वर्णन खण्ड**—बादशाह ने भोजन किया और वह चित्तौड़ गढ़ देखने लगा। देखते-देखते वह रनिवास में पहुँचा। वहाँ पर रत्नसेन की दासियाँ थीं। अलाउद्दीन ने उनको स्वरूपवान देखकर समझा कि उन्हीं में कोई पद्मावती है। उसने राघव चेतन से पूछा। राघव ने उसे बतलाया कि वे तो दासियाँ हैं, पद्मावती नहीं।

भोज के पश्चात् गोरा बादल ने रत्नसेन को समझाया कि अलाउद्दीन का विश्वास करना उचित नहीं है। परन्तु रत्नसेन ने बात न मानी। एक जगह बैठ कर वह अलाउद्दीन के साथ शतरंज खेलने लगा। वहाँ पर एक बड़ा दर्पण रखा था। दर्पण में एकाएक पद्मावती का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ा। अलाउद्दीन उसे देखते ही बेहोश हो गया।

४७—**रत्नसेन बन्धन खण्ड**—जब अलाउद्दीन होश में आया तो राजा उसे अपने गढ़ के दरवाजे तक पहुँचाने आया। दरवाजे पर आते ही अलाउद्दीन ने उसे बाँध लिया और दिल्ली ले गया।

४८—**पद्मावती-नागमती विलाप खण्ड**—रत्नसेन के बन्दी हो जाने पर नागमती और पद्मावती ने विलाप किया।

४९—**देवपाल दूती खण्ड**—कुँभलनेर का राजा देवपाल रत्नसेन का शत्रु था। जब उसने यह सुना तो अपनी दूती पद्मावती को फुसलाने के लिए भेजी। परन्तु पद्मावती को रत्नसेन से इतना दृढ़ प्रेम था कि उसने दूती को अपमानित कर निकाल दिया।

५०—**बादशाह दूती खण्ड**—बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक वेश्या को दूती बनाकर भेजा। परन्तु वह भी पद्मावती को फुसलाने में असफल रहा।

५१—**पद्मावती-गोरा बादल सम्वाद खण्ड**—पद्मावती अपने चारों ओर यह जाल बिछा हुआ देखकर गोरा बादल नामक अपने दो सरदारों के पास गई और उनसे अपनी व्यथा सुनाई। गोरा और बादल दोनों को दया आ गई। उन्होंने रत्नसेन को छुड़ा लाने का वचन दिया।

५२—**गोरा बादल युद्ध यात्रा खण्ड**—बादल का उसी दिन गौना आया था। माँ ने उसे जाने से रोका परन्तु वह न माना। पत्नी ने भी रोका परन्तु उसने न सुनी, वह चला गया।

५३—**गोरा बादल युद्ध खण्ड**—सोलह सौ पालकियाँ संवारी गईं। उनमें हथियारों से तैयार राजपूत सरदार बैठाए गए। उनमें एक पालकी पद्मावती की भी बनी। उसमें एक लोहार बैठाया गया। इन पालकियों के साथ गोरा बादल यह कहते हुए चले कि पद्मावती अलाउद्दीन के पास जा रही है।

वे दिल्ली पहुँचे और अलाउद्दीन से प्रार्थना के स्वर में बोले कि पद्मावती कह रही है—मैं तो दिल्ली आ गई हूँ, पर मेरे पास चित्तौड़ की कुँजियाँ हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो उन्हें रत्नसेन को सौंप दूँ। अलाउद्दीन ने इसे स्वीकार कर लिया। वह लोहार वाला विमान रत्नसेन के पास गया। उस लोहार ने रत्नसेन के बन्धन काट दिये और बादल उसे लेकर चित्तौड़ की ओर भागा। गोरा और अलाउद्दीन की सेना में वहीं पर युद्ध होने लगा। इस युद्ध में गोरा की मृत्यु हो गई।

५४—**पद्मावती मिलन खण्ड**—रत्नसेन चित्तौड़ आ कर पद्मावती से मिला। पद्मावती ने बादल की भुजाओं की पूजा की। पद्मावती ने देवपाल की बात रत्नसेन से कही।

५५—रत्नसेन-देवपाल युद्ध खण्ड—देवपाल की चाल सुनकर रत्नसेन को बड़ा क्रोध हुआ। वह उससे लड़ने चल पड़ा। युद्ध में रत्नसेन को देवपाल ने मार डाला।

५६—राज्य रत्नसेन बैकुण्ठ वास खण्ड—रत्नसेन की मृत्यु पर गढ़ बादल को सौंप दिया गया।

५७—पद्मावती-नागमती सती खण्ड—पद्मावती एवं नागमती भी राजा के साथ सती हो गईं। उनके सती होने के बाद अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर हमला किया। बादल लड़ा परन्तु हार गया। सारी स्त्रियाँ जौहर में जल गईं और पुरुष संग्राम में खेत रहे। चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और अलाउद्दीन पद्मावती को न पा सका।

५८—उपसंहार खण्ड—ग्रंथ की समाप्ति पर जायसी कथा की रहस्यात्मकता का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि चौदह भुवन मनुष्य के भीतर ही हैं। चित्तौड़ तन है, राजा मन है, सिंहल हृदय और बुद्धि पद्मिनी है। सुआ गुरु है। नागमती दुनिया धन्धा है। राघव चेतन शैतान और अलाउद्दीन माया है। मैंने यह प्रेम कथा कही, जो समझ सके समझे। जो इसे समझता है, साधु हो जाता है। मेरी यह कहानी शायद मेरे मरने के बाद भी रह जाय। रत्नसेन, पद्मावती आदि कहाँ हैं, पर उनकी कीर्ति है। जो इस कहानी को पढ़ेगा, मुझे भी याद करेगा। अब तो मैं वृद्ध हो चला, जीते ही मृत सदृश हूँ।

———

अखरावट

'अखरावट' में सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। वर्णमाला के अक्षरों को लेकर एक-एक वर्ण पर क्रम से वर्णन हुआ है। पहले भूमिका है जिसमें सृष्टि रचना का वर्णन है। जायसी कहते हैं कि आरम्भ में मही, आकाश आदि कुछ न थे। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था। आदि में केवल ईश्वर था। चौहद भुवनों का विस्तार उसी का खेल है और इसमें वही व्याप्त है। इन भुवनों में अठारह सहस्त्र योनियों के सभी जीव उसी से उत्पन्न हुए हैं। यह दृश्य जगत् उसी का प्रपंच है। वास्तव में वही एक है, दूसरा कोई नहीं। सर्वप्रथम शून्य ही था, जिसमें वही ईश्वर व्याप्त था। तदनन्तर उसने मुहम्मद नाम की ज्योति का निर्माण किया और पुनः उसी के निमित्त सृष्टि की रचना की। सृष्टि में अष्टादश सहस्त्र योनियों का सृजन हुआ और उसमें पुण्य-पाप एवं तत्परिणाम-स्वरूप सुख और दुख का विधान हुआ। ये अठारह हजार योनियां कोई भिन्न पदार्थ नहीं थीं। वही एक जल-संघात अठारह हजार विन्दुओं और उप-विन्दुओं में बरस पड़ा था, तदनन्तर प्रकृति के नाना रूप-सागर पर्वत, सूर्य, चाँद, तारे, वनस्पति, अन्न, फल-फूल, आदि सत्ता में आये।

इस भूमिका के पश्चात् अखरावट का अक्षर क्रम शुरू होता है—अखरावट का अक्षर-क्रम पद-संख्या ७ से आरम्भ होकर ४४ तक चलता है। पदों की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

का—करतार चाहिय अस कीन्हा । आपन दोख आन सिर दीन्हा ॥
खा—खेलार जस है दुइ करा । उहै रूप आदम अवतरा ॥
गा—गौरहु अब सुनहु गियानी । कहौ ग्यांन संसार बखानी ॥
घा—घट जगत बराबर जाना । जेहि महं धरती सरग समाना ॥
ना—नारद तस पाहरू काया । चारा मेलि फाँद जग माया ॥
चा—चरित्र जौ चाहहु देखा । बूझहु बिधिना केर अलेखा ॥
छा—छाया जस बुंद अलोपू । ओठईं सौं आनि रहा करि गोपू ॥
जा—जानहु अस तन महँ भेदू । जैसे रहै अंड महँ मेदू ॥
झा—झाँखर तन महँ मन भूलै । कांटन्ह माँझ फूल जनु फूलै ॥
ना—नगरी काया विधि कीन्हा । जेइ खोजा पावा तेइ चीन्हा ॥
टा—टुक झाँकहु सातौ खंडा । खंडै खंड लखहु बरम्हंडा ॥
ठा—ठाकुर बड़ आप गुसाईं । जेइ सिरजा जग अपनिहि नाईं ॥
डा—डरपहु मन सरगहि खोई । जेहि पाछे पछिताव न होई ॥
ढा—ढारे जो रकत पसेऊ । सो जानै एहि बात क भेऊ ॥
ना—निपता जो आपु न भएऊ । सोएहि रसहि मारि बिख किएऊ ॥
ता—तप करन्ह एक पथ लागे । करहु सेव दिन रात सभागे ॥
था—थापहु बहु ग्यांन विचारू । जेहि महँ सब समाइ संसारू ॥
दा—दाया जाकहँ गुरु करई । सो सिख पंथ समुझि पग धरई ॥
धा—धावहु तेहि मारग लागे । जेहि निस्तार चलै सब आगे ॥
ना—नमाज है दीन क थूनी । पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी ॥
पा—पाएउ गुरु मोहदी मीठा । मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥
फा—फल मीठ जो गुरु हुंत पावै । सो बीरौ मन लाइ जमावै ॥
बा—बिनु जिउ तन अस अंधियारा । जो नहिं होत नयन उजियारा ॥
भा—भल सोइ जो सुन्नहि जानै । सुन्नहि ते सब जग पहिचानै ॥
मा—मन मथन करै तन खीरू । दुहै सोइ जो आपु अहीरू ॥
जा—जानहु जिउ बसै सो तँहवाँ । रहै कंवल हिय संपुट जहंवां ॥
रा—रातहु अब तेहि के रंगा । बेगि लागु प्रीतम के संगा ॥
ला—लखई सोई लखि आवा । जो एहि मारग आपु गँवावा ॥
वा—वह रूप न जाइ बखानी । अगम अगोचर अकथ कहानी ॥
सा—सांसा जौ लहि दिन चारी । ठाकुर से करि लेहु चिन्हारी ॥
खा—खेलहु खेलहु ओहि भेंटा । पुनि का खेलहु खेल समेटा ॥
सा—साहस जाकर जग पूरी । सो पावा वह अमृत मूरी ॥

हा—हिय ऐसन बरजे रहई। बूड़ि न जाइ बूड़ अति अहई ।।
खा—खेलन और खेल पसारा। कठिन खेल और खेलन हारा ।।
छा—छांड़हु कलंक जेहि नाहीं। केहुन बराबरि तेहि परछाहीं ।।
ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहैं सौं मैं हारा ।।

प्रत्येक अक्षर वाले पद में सात पंक्तियाँ चौपाई और एक दोहा तथा एक सोरठा है एक पद का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक पद स्वतन्त्र है फिर भी पदों में विचार-शृङ्खला जुड़ती जाती है। इनमें पहले सृष्टि रचना है फिर मनुष्य शरीर का विवेचन है तत्पश्चात् संसार की नश्वरता का उल्लेख है। यह जीवन मिथ्या है, अतः माया छोड़कर तप साधना चाहिये। तप साधना सूफीयत से जुड़ जाती है और सूफीयत की प्रेम साधना का सांकेतिक वर्णन होता है। अपने को खोना और पी का प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य है। पी की खोज कठिन है, वही पाता है जो मरजीवा होता है। इस प्रेम-पन्थ में गुरु का महत्व महान् है। इस पंथ में सात खण्ड और चार स्थान है। उसकी चढ़ाई अगम है। उस पर वही चढ़ पाता है जिसे गुरु चढ़ाता है और गुरु वही हो सकता है जो पहले उस मार्ग पर गया हो। यह बड़ा पंथ मुहम्मद का पंथ है। उसके लिए ईश्वर ने पुरान (कुरान) लिखकर भेजा है। जिसे वह मार्ग मिलता है वही भवसागर के पार जाता है। इस पंथ का आधार स्वयं नमाज है। इसके उपरान्त जायसी आत्म-कथन करने लगते हैं। इसी क्रम में जायसी ने अपनी गुरु-परम्परा का भी उल्लेख कर दिया है। अशरफ जहांगीर तथा गुरु मोहदी दोनों की परम्परा का पूरा वर्णन है। गुरु के प्रसाद से प्राप्त ज्ञान का भी कथन है। इसी सिलसिले में सूफी साधना और उसके आत्मानन्द का विवेचन है कि किस प्रकार मन मथ करके निर्मल हो जाता है। उसमें रमन की ज्योति जलती है और अनहद नाद की झनकार होती है। प्रिय और प्रियतम की भेंट होती है। यहाँ प्रेम तत्व का ही विशद निरूपण होता है। जो इस मार्ग में आता है वह अपने को ही खो देता है। उसे बाहर-भीतर एक समान दिखाई पड़ता है। उसी प्रियतम में पला हुआ वह आत्मानन्द का खेल खेलता है और जब तक मृत्यु नहीं आती प्रेम की पीर में मारा हुआ जीता रहता है। उस समय उसके रूप का वर्णन नहीं हो सकता। उसकी कहानी अगम, अगोचर और अकथ है। उसे प्रतीत होता है कि यह संसार तो प्रभु का ही है। संसार तो पानी का बुलबुला है, यहाँ एक आता है एक जाता है। यह जीवन तो चार दिन का है। अतः सोच-समझकर चलना चाहिये। जिसने संसार की रचना की उसे पहचानना चाहिये। घी, मछली और मांस छोड़ो, सूखी रोटी और फलाहार करो। इस प्रकार सादे भोजन और तपस्या से काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया को मारो। फिर आसनादि के द्वारा सुषुम्ना और पिंगला को साधो। इसके उपरान्त ही उस प्रियतम से भेंट होगी। काया दर्पण की भाँति निर्मल होगी और चञ्चल मन स्थिर होगा। तीन ही अक्षर महान् है—

अलिफ से अल्ला, दाल से दीन और मीम से मुहम्मद। इन्हीं तीन का अर्थ समझना चाहिये। प्रभु ने दो मार्ग पाप और पुण्य के बनाये हैं। समस्त संसार इन्हीं में व्याप्त है। संसार में सर्वत्र कलंक है। संसार में कोई मुहम्मद के समान नहीं हो सकता। संसार की सभी वस्तुओं में उसी का प्रकाश है। सूर्य, चाँद, अग्नि आदि में उसी की चमक है। अन्त में कहते हैं कि नारद ने रो कर कहा कि हम एक जुलाहे (जायसी) से हार गये। उसने प्रेम तन्तु से कपड़ा बुना है। उसी से मंजिले मकसूद पर पहुँचना सुलभ है। अन्त में गुरु-चेला सम्वाद है। गुरु-चेला सम्वाद में भी प्रायः पूर्ववर्ती विचार ही पाये जाते हैं। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः यह गुरु-चेला सम्वाद उनकी कोई स्फुट रचना हो, किन्तु अखरावट की भाँति ही चौपाई और दोहे के क्रम में होने के कारण इसी के साथ मिला दी गई। वैसे गुरु-चेला सम्वाद बड़ा ही दिलचस्प है।

सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से अखरावट सर्वश्रेष्ठ है। इसमें जायसी के सूफीमत का सार है। सूफी मुसलमान थे, वे कुरान को धर्म ग्रन्थ और मुहम्मद साहब को पैगम्बर मानते थे, किन्तु उनके विश्वास इस्लाम से कुछ भिन्न थे। उन पर अद्वैत प्रभाव था। सूफियों के मत का सार अखरावट में जायसी ने देने का प्रयास किया है, पर यह विशेष विवेचन की अपेक्षा रखता है, क्योंकि कथनों में सांकेतिकता है।

———

आखिरी कलाम

जायसी ने पहले तो ईश्वर की स्तुति की है। उसके पश्चात् आत्म-परिचय देते हुए कहा है कि उसके जन्म के समय एक बहुत बड़ा भूकम्प आया था और एक बहुत बड़ा सूर्य-ग्रहण पड़ा था। फिर पैगम्बर मुहम्मद की स्तुति की है और शाहे-वक्त के रूप में बाबर की प्रशंसा की है। गुरु के रूप में सैयद अशरफ जहांगीर की वन्दना की है और जायस नगर का परिचय दिया है। काव्य का रचना-काल सन् ९३६ हिजरी दिया गया है। आखिरी कलाम में क़यामत का वर्णन है।

सबसे पहले मैकाइल को आज्ञा मिली। उसने पहले अंगार बरसाये और सारा संसार उनसे जल गया, फिर पत्थर बरसे। इससे सारे वृक्ष आदि टूट गये। यह क्रम चालीस दिनों तक चलता रहा। संसार के सारे जीव-जन्तु इसमें मर गये।

फिर जिबरइल को आज्ञा दी गई। उन्होंने सारे जीवों को झकझोर कर और कुचल कर मार डाला। मृतकों के सड़ने से संसार में बड़ी दुर्गन्ध आने लगी। उन्होंने जाकर खुदा से विनती की कि देव ! चल कर देख लीजिये, संसार में कोई भी जीता नहीं बचा है। मुर्दों के बिछ जाने के कारण जमीन की मिट्टी तक नहीं दिखाई पड़ती।

फिर मैंकाइल नामक फरिश्ते को आज्ञा दी गई कि वह पानी बरसावे। उसने चालीस दिन तक लगातार झड़ी लगा दी। सारी दुनिया उसमें डूब गई।

इसके पश्चात् इसराफील को आज्ञा दी गई। उन्होंने बाजे की आवाज से सारे संसार को उड़ा दिया। उनकी तुरही की आवाज सुनकर सारी पृथ्वी एवं आकाश काँप उठा। चौदह भुवन इस प्रकार हिलने लगे मानो झूले में झुलाये जा रहे हों। उनकी पहली फूँक से नदी-नाले समतल हो गये। दूसरी से पहाड़ उड़ कर समुद्र में गिर पड़े और चाँद, तारे, सूरज सभी टूट कर गिर पड़े। तीसरी में सारी धरती समतल हो गई।

फिर अजराइल को आज्ञा मिली कि वे सारे जीवों को ले आवें। मारने वाले फरिश्ते ने पहले तो जिबरइल को मारा, फिर मेकाइल को और फिर इसराफिल को। इस समय अन्य सारे जीव सो रहे थे। तब खुदा ने उससे पूछा—'अब तो कोई नहीं बचा।' उसने उत्तर दिया कि अब मेरे और आपके सिवाय कोई भी नहीं बचा है। इस पर खुदा ने अजराइल के भी प्राण ले लिये।

चालीस वर्षों के पश्चात् खुदा ने सोचा—मैंने तो सारा संसार बनाया है, परन्तु मेरा नाम कोई नहीं लेता है। जितने पड़े हुये हैं उन सबको मैं उठाऊंगा और सरात के पुल पर से चलाऊँगा। फिर सबके कर्मों का फल दूँगा।

पहले चार फरिश्ते—जिबरइल, मैंकाइल, इसराफील और अजराइल जीवित किए गये। जिबरइल पृथ्वी पर आवे। उन्होंने पहले मुहम्मद को पुकारा, लाखों स्वरों ने उनका उत्तर दिया। वे बहुत घबड़ाए और खुदा के पास जाकर बोले—'हे गुसाईं! मैं उन्हें कहाँ पाऊं? मैं पृथ्वी पर जहाँ भी उनका नाम लेकर बुलाता हूँ लाखों आवाजें जवाब में सुनाई पड़ती हैं। मैं किसे ले आऊँ?'

जिबरइल सूंघ कर चीजों को पहचान लेते थे। उन्हें भेजा गया। उन्होंने मुहम्मद को ढूंढ लिया और रसूल अपने अनुयायियों के समेत उठ खड़े हुये। सब नंगे थे और तालू में सबकी आंखें थीं। कोई किसी की तरफ नहीं देखता था। सबकी दृष्टि स्वर्ग की तरफ थी। सब सरात के तीस हजार कोस लम्बे, लेकिन संकरे पुल पर चले। उनके एक ओर तो मुहम्मद थे और दूसरी ओर जिबरइल। जो धर्मी थे वे तो विद्युत् गति से चले और दूसरे अपने कर्मों के अनुसार तेज-धीमे। इनमें बहुत पापी तो पीव के समुद्र में जो कि पुल के नीचे एक ओर है, गिर पड़े।

फिर सूर्य को चमकने की आज्ञा दी गई और सबका लेखा-जोखा होने लगा। खुदा ने जिसको जितना दुनियाबी जिन्दगी में दिया था, वह उसी हिसाब से उसे ले लेना चाहता था। सूर्य बराबर छः महीनों तक चमकता रहा और बराबर दिन रहा। कुछ तो उसके ताप से जल रहे थे और कुछ प्यास से व्याकुल हो रहे थे। परन्तु जो धर्मी थे उनके सिर पर छांह थी।

सवा लाख पैगम्बर भी वहीं पर थे। किन्तु एक रसूल ही ऐसे थे जो कि छाँह में नहीं बैठे थे। भला जिसके अनुयायी दुख एवं कष्ट में हों वह सुख से कैसे बैठ सकता था। मुहम्मद साहब को आज्ञा दी गई कि वे अपने अनुयायियों को ले आवें। उन्होंने कहा—'यदि आज्ञा हो तो धर्मी जनों को पहले ले आऊं।' खुदा ने कहा—'नहीं, उन्हें मैं नहीं चाहता। मैं तो पापियों को सजा देना चाहता हूँ।' तब रसूल आदम के पास गये और बोले—'पिता मुझे तुम्हारी बड़ी आशा है। मेरे अनुयायी कष्ट में हैं। तुम सबसे बड़े हो, तुम खुदा से इन्हें क्षमा कर देने के लिए कहो।' आदम ने कहा—'मैं तो स्वयं दुख में हूँ। मैं गेहूँ खाकर आफत में पड़ गया।' तब रसूल मूसा के पास गये और बोले—'हे भाई, तुम खुदा के अधिक निकट हो। मेरे अनुयायी आफत में पड़ गये हैं, उन्हें बचाओ।' मूसा ने उत्तर दिया—'रसूल सुनो, मैं तो फरऊं बादशाह से झगड़ा कर आफत में फंस गया हूँ।' इसके पश्चात् रसूल दौड़-दौड़ कर बहुत-से लोगों के पास गये, परन्तु किसी ने उनकी बात न सुनी। ईसा, इब्राहीम, नूह सभी ने जवाब दे दिया।

तब रसूल ने खुदा से ही विनती की। खुदा ने गुस्से में भर कर कहा—'बीबी फातिमा को ढूंढो। उन्होंने मुझ से क्या झगड़ा किया था, और हसन-हुसैन को किसने मारा था?' तब बीबी फातिमा ढूंढ़ी गईं। पर कहीं पर भी वे न मिलीं। लौट कर खुदा को यह सूचना दी गई। खुदा ने अपनी आज्ञा से उनको बुलाते हुए कहा—'जो कोई इनकी ओर आंख खोल कर देखेगा मैं उसे छार कर दूंगा।'

सब हाथों से आँखें ढक कर बैठ गए। बीबी फातिमा उठीं और हसन-हुसैन को लेकर खुदा के पास गईं। उन्होंने कहा—'तुम सही गलत सब जानते हो। इनको यजीद ने क्यों मारा था? पहले मेरा न्याय किया जाए फिर संसार का न्याय होता रहेगा। नहीं तो मैं शाप दूंगी और सारा आसमान जल जाएगा।' खुदा ने रसूल को आज्ञा दी कि वे फातिमा को समझाएं नहीं तो उनके सारे अनुयायियों पर आफत आ जायेगी।

रसूल ने बीबी को समझाया। बीबी ने कहा—'सारे पैगम्बर तो छाया में बैठे हुए हैं, तुम्हीं एक ऐसे क्यों धूप में घूम रहे हो।' रसूल ने उत्तर दिया—'मेरे अनुयायी तो संकट में पड़े हैं, तब मैं क्यों छांह में बैठूं?' बीबी फातिमा को अपने पिता पर दया आ गई। तब रसूल खुदा के पास गए। खुदा ने फातमा बीबी का इन्साफ किया और यजीद को नरक में डाल दिया।

तब रसूल के अनुयायी बुलाए गए। रसूल ने सबको क्षमा करवा दिया। सबको खुदा ने दावत दी। उस दावत में कोई भी अपने हाथ से नहीं खाता था परन्तु जो कुछ भी उसकी इच्छा होती थी वह स्वयं ही उसके मुंह में चली जाती थी। खाने में दांत, जीभ, मुंह कुछ भी नहीं चलाना पड़ता था। खाने के पश्चात् सबको स्वर्ग की शराब पिलाई गई। फिर पान खिलाए गए।

मुहम्मद ने खुदा से प्रार्थना की कि आपके दर्शन किए बिना मैं स्वर्ग न जाऊंगा। तब खुदा ने मुहम्मद तथा उसके अनुयायियों को एक प्रकाश के रूप में दर्शन दिए। उसे देख कर दो दिन तक सब लोग बेसुध रहे। तीसरे दिन जबरइल ने उन सबको जगाया और उन सब को सुवस्त्र पहिना कर बहिश्त ले गए। वहां उनको बहुत सी हूरें और परियाँ मिलीं। वहाँ पर न मृत्यु थी, न नींद, न दुख था और न शरीर की कोई व्याधि। सब लोग वहां पर भोग-विलास में रत हो गए।

महरी बाइसो

जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है इसमें कुल बाइस पद हैं। प्रत्येक पद अन्योक्तिमूलक है। महरा (कहार) की वृत्ति, उसका विवाह तथा महरा और महरी के मिलन की कहानी केवल उपादान है। उसके द्वारा कवि ने जीवन के प्रति अपने सूफीमत सम्बन्धी दृष्टिकोण का उद्‌घाटन किया है। बाइस पदों का सारांश इस प्रकार है—

१—महरा केवट की नाव चलाने गया और गहराई में पड़ गया। कोई नाव की डोर (गुन) पकड़ कर किनारे-किनारे जल में चलता है पर पांचफल तो गहराई में ही मिलेंगे। कोई सो कर भाव मग्न है, कोई तृष्णा के फन्दे में उलझा है, कोई समुद्र में डुबकियां लगाता है, चारों ओर खोज कर खाली हाथ आता है और हाथ में केवल मिट्टी पाने से पछताता है। कोई बुरे घाट पड़ता है और हार कर बीच में ही रह जाता है। कोई अथाह गहरे जल में पड़ता है। कोई पानी में थाह लगा कर किनारे-किनारे वह चलता है। कोई मन छोड़ कर गहराई में जाता और चारों ओर दौड़ता है। अतः पानी में पैर डाले रहो और जमीन का सहारा देख-देख कर पाँव उठाओ नहीं तो गहरे पानी में पड़ जाओगे।

भावार्थ यह कि यह संसार-सागर है। इसमें पड़ कर कोई विरला ही पार उतरता है। जीवन नाव गुरु-मन्त्र के डोर के सहारे ही जा सकती है। इसमें तृष्णा लोभ आदि के अनेक फन्दे हैं। मनुष्य इसमें पड़ कर अगाध सागर में पड़ कर बह जाता है। जो बहुत संभल कर चले वही किसी प्रकार आगे बढ़ सकता है।

२—जो पार जाना चाहता है वह यदि नाव पर चढ़ता है तब तो उतर जाता है नहीं तो उसे पछताना ही पड़ता है। हाथ उठा करके केवट को बुलाते हैं और कहते हैं कि बताओ कहां चढ़ें। केवट जो चैतन्य हो कर चलाता है, जिसे मार्ग का पूर्ण ज्ञान है, गर्व से नहीं बोलता। वह दान मांगता है। जो देता है उसे तो चढ़ा लेता है। पर जो दान नहीं देता वह चाहे जितनी विनती करे, नहीं चढ़ाता। किसी प्रकार के परिचय के अभाव में अब वह कैसे पहिचान करे। भाई, बन्धु, मित्र, साथी कोई नहीं मिलता। इस पंथ को न भूलो इसी से आगे पार उतरोगे। या तो पंथ ग्रहण करो और पार उतरो नहीं तो बीच धारा में डूब मरो।

भावार्थ यह कि इ। भवसागर पार जाने के लिए एक पंथ का सहारा लेना

आवश्यक है। इस पंथ का मुख्य आधार गुरु है। गुरु ही जब सहारा देगा तभी आध्यात्मिक पंथ प्राप्त होगा। गुरु ही सन्मार्ग का ज्ञाता है। वह सभी लोगों को अपने पंथ में नहीं लेता। पात्र अपात्र को देखता है। जो संसार को छोड़ कर अपने को सद्गुरु के चरणों में समर्पण करता है उसे ही वह अपनी शरण में लेता है अन्यथा संसार के अन्य सभी सम्बन्ध निरर्थक सिद्ध होते हैं।

३—नाव पर चढ़ जाने पर भी जिसके मन में भ्रम है वह मछली मारने लगता है और मझधार के झोंके में नष्ट हो जाता है। भादों की नदी का पाट बहुत बढ़ जाता है, उसे देख कर गुरु से यह मत पूछो कि फैल कर हम कहां-कहां लगेंगे। आंधी उठेगी, ऊँची लहरें उठेंगी हृदय कांप उठेगा। कछुआ, सूस, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि भयंकर जल जन्तु दिखाई पड़ेंगे, कैसे पार उतरेंगे। उस समय नाव चलाने वाला भरपूर शक्ति से डांड चलाएगा और केवट गुन के सहारे नाव को तीर लगाएगा। फिर ऊँचा कगार चढ़ना पड़ेगा। वह ऐसा लगता है मानों खा डालेगा। अतः जब तीर पर पहुँच जायें तभी जान में जान आयेगी। इसलिए सब प्रकार का अज्ञान छोड़ कर मन को स्थिर करो तभी पार जा सकते हो।

भावार्थ यह कि गुरु के पंथ में दीक्षित हो जाने से ही कोई पार नहीं पहुँच जाता। मार्ग में अनेक विघ्न बाधाएँ आती हैं। साधक का मन घबडा उठता है, उसका धीरज छूटने लगता है। किन्तु जो धैर्य धारण करता है, गुरु का भरोसा रख कर अपनी साधना में स्थिर चित्त लगा रहता है वही पार उतरता है।

४—धैर्य धारण करके धीरे-धीरे चलने, अपने पथ पर दृढ रहने और कष्टों के सहने ही से कार्य होता है। रात्रि में नींद पर विजय पाना चाहिये और दिन में साधना में निरत रहना चाहिये। इस प्रकार चित्त को साधना के चारों स्वरूपों (शरीयत, तरीकत, हकीकत और मरिफत) में बाँध रखना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य साधना के कष्ट सहता है तभी उसे प्रियतम से मिलने का सुख प्राप्त होता है। हृदय से क्रोधाग्नि के पावों को छोड कर जब डोर को ढीली करके खींचेगा तभी मछली प्राप्त होगी, अर्थात् जब प्रेम मार्ग में बडे धैर्य से मनुष्य आसक्त होता है तभी उसे सफलता मिलती है। यदि वह इस प्रकार साधना नहीं करता तो नदी की धारा में बह जाता है। यह मार्ग सरल नहीं है। पहले तू इस बात को अच्छी प्रकार से समझ ले कि जब तक प्रियतम के पास आदमी नहीं पहुँचता, उसे चैन नहीं मिलता। पर तू अभी से आराम करने लगा, तू भला कैसे उस मार्ग में सफल होगा ?

५—जिसको इस प्रकार की उत्कट इच्छा हो और जो अपनी इच्छा को निरन्तर रख सके वही मतवाला हो कर घोड़े पर सवार हो और आगे बढ़े। कौड़िया पक्षी मछली के लालच में पड़ कर जाल में पड़ जाता है। जाल का फैलाव बहुत बड़ा होता है। उसमें पड़

कर जीव के लाले पड़ते हैं। महरे को मछली मारने का खेल रुचा और वह मछली फँसाने के लिए जाल डाल कर उसका खेल खेलने लगा। उसने लौका लेकर जाल फैला दिया। जाल खंड-खंड रूप में लौके के सहारे लगा रहा। उसमें पढ़िना नामक बड़ी मछली फंस गई। उसने चारे के लिए जो मुँह किया कि जाल में फँस गई। भाव यह है कि काल एक शिकारी है, उससे कोई बच नहीं सकता। कोई स्थिर नहीं हैं, स्थिर है तो केवल वह, इसलिए सत् पथ पर ही रहना चाहिये।

६—जिसने मछली का अनुमान लगाया वह तो किनारे की ओर आने लगा और किनारे लग कर घुस कर उसमें मछली ढूंढने लगा। पहले उसे देख कर फिर सारा जाल समेटने लगता है। किनारे निकाल कर उसमें जो मछलिया पाता है उन्हें छिपा देता है और उन्हें लेकर लौट पड़ता है। पर जिसके हाथ कुछ नहीं लगता है वह छोटी मछलियों को ही उसमें से इकट्ठा कर लेता है। जहाँ डूबने भर की लहरें न हों वहाँ जाने से लाभ नहीं। जहाँ अपना मान न देखो वहाँ लाखों को भी छोड़ दो। भाव यह कि साधक को सांसारिक वस्तुओं के लोभ में नहीं पड़ना चाहिये, उसे तो अपने लक्ष्य का ध्यान रखना चाहिय, जहां उसकी प्राप्ति न हो उधर उसे लगाना ही नहीं चाहिये।

७—तू किस जाल में उलझा है, यदि कर सको तो इस सांसारिक माया जाल को छोड़ चलो। गुरु के बताये हुए मार्ग का अवलम्बन करो और इन्द्रियों पर अधिकार करो। पहले मन को बस में करो, किसी पर क्रोध न करो, काम को दबाओ, भोगों में आसक्त न हो जाओ। योग युक्ति को साधो। जब इस प्रकार प्रियतम के प्रेम में मतवाले होंगे तभी मन को बाध सकते हो। अन्यथा प्रभु बड़ा कठोर है, तुम कुछ भी करो वह बंधा कर तुम्हें दंडित करेगा। जब वह दण्डधारी आयेगा तब सारी शान्ति भंग हो जायेगी। भाई बन्धु सन खड़े-खड़े देखते रह जायेंगे किसी के कहने पर तू छूट नहीं पायेगा। वह तुझे घसीट कर ले चलेगा, यदि तू कुछ कहेगा तो वह मुँह पर मारेगा। सम्बन्धी लोग कुछ नहीं कर सकेंगे। मुहम्मद कहता है कि जो प्रियतम के प्रेम में मदमत्त है, उसी का प्रिय मुझे अच्छा लगता है, नहीं तो और सब नाते तो झूठे हैं। भाव यह कि इस संसार में जो अलक्ष्य प्रियतम के प्रेम में मस्त है वही सफल है।

८—सूफी साधक के प्रेम की मद मत्तता का संकेत करने के उपरान्त इस पद में जायसी प्रियतम और प्रिय के मिलन के हेतु व्याह का उपक्रम वर्णन करते हैं—

महरा व्याह करने के लिए बारात लाता है, हुड़ुक और ओध के बाजे बजते हैं और घेरे के बीच में कोई नाचता चलता है। महरियां प्रेम और हास्य के गीत गाती हैं। महरी कहती है अब मैं पीहर छोड़ कर पति के घर जा रही हूँ, मुझे कुछ भी नहीं सूझता। मेरी सखी सहेलियो सुनो, मैं तुम्हारे आगे अपने सत को तोल रही हूँ। प्रियतम की सेज का

स्मरण करके मेरा हृदय डरता है, चित्त में चिन्ता उत्पन्न होती है। मुझे गीत और वाद्य अच्छे नहीं लगते। मैं सोचती हूँ कि जब मेरा प्रियतम मेरी बाँह पकड़ कर कुछ पूछेगा तो मैं क्या कहूंगी? यहाँ पीहर में चाहे जो खेल लो वहाँ कैसा खेल? सास और ननद उलाहना देंगी, मुँह छिपा कर रहना होगा। देवर और जेठ की आहट पाते ही निकल कर खड़ी हो जाऊँगी। गुणी ससुर को देख कर भला कैसे बोलूँगी, सदा घूँघट ही निकाल रखना होगा। जायसी कहते हैं कि सुहागिन तो वही है जिसे ऐसा प्रियतम मिले। जो पीहर को गुणवन्ती नारी है उसे ही श्वसुराल में सुख होता है।

९—ऐ सखी सहेलियो सुनो सभी सोहागिनी इसी प्रकार व्याही जाती हैं। पिता के घर तो थोड़े ही दिन रहना होता है निर्वाह तो ससुराल में ही होता है। विधि का ऐसा विधान है कि जन्म लेने पर दो भाग रहते हैं और उन दो को एक में जोड़ा जाता है। उदाहरण के लिए स्वर्ग और धरती जुड़ते हैं, चाँद और सूर्य जुड़ते हैं, दिन और रात, प्रातः और सायं, सफेद और काला, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष दो हैं, पर वे एक होते हैं जैसे—गौरी और शंकर। जब दो मस्तक एक साथ बजते हैं तो एक ही शब्द दो कानों में सुनाई पड़ता है। सभी दो में बंटे हैं और दुःख ही सुख बनता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों में एक ही भाव है, दोनों में जितने अविवाहित हैं सभी व्याहे जाते हैं। समझ-बूझ कर देखो कि जन्म लेने का लाभ ही यही है कि आदमी प्रेम-बन्धन में पड़े। प्रियतम का व्रत लेने से दोनों जग तर जाते हैं। जिस-जिस मार्ग पर प्रियतम चलावे उसी पर हठपूर्वक जाना चाहिए। भाव यह कि मनुष्य जन्म का लाभ प्रेम पन्थ का अनुसरण मात्र है, अन्यथा जीवन व्यर्थ है।

१०—ऐ अज्ञानी होशियार हो कर गुरु के ज्ञान की मति लो। पनिहारिन जब पानी भरने जाती है तो संभाल-संभाल कर चलती है। उसके साथ सखी सहेलियाँ होती हैं, वह रास्ते में बाँह डोलाती चलती हैं किन्तु उसका चित्त अपने सिर पर की गागर पर होता है। वह बात तो सखियों से करती है पर उसका मन गागर में ही रहता है। जब उसका मन गागर से हट जाता है तो गागर सिर से गिर कर फूट जाती है। इसी प्रकार प्रेमी संसार के कर्म करता हुआ भी चित्त प्रियतम में ही लगाए रहता है। प्रेमी का प्रेम गुप्त रहता है उसे कोई देख नहीं पाता। उसके प्रकट करने से कोई लाभ नहीं होता। मन में ही उस भाव को रखना चाहिये। मन में रखने से स्मरण करने वाला प्रियतम मन ही मन समझ लेता है। इस प्रकार जब मन का भाव मन में रखोगी तभी सोहागिन नारी होकर प्रेमानन्द पावोगी।

११—जिसके पास केवट है उसको कठिनाइयों की कोई चिन्ता नहीं, अर्थात् जिसके पास सद्गुरु है वह प्रेम मार्ग को निष्कंटक पार कर लेता है। किन्तु जिसको ऐसा गुरु नहीं मिलता वह अगाध संसार सागर में डूब ही जाता है। जिसको प्रियतम मिलता है उसे ही सब

प्रकार का श्रृङ्गार शोभा देता है, उसे फिर किसी प्रकार का दख नहीं होता। अब तेरा प्रियतम तो तेरे पास आ रहा है, अब तू श्रृङ्गार कर।

१२—अपने बालों को झार कर मांग संवारो, सुन्दर चीर पहनो। वेणी गूँथो, रच-रच करके सिंदूर भरो, खंजन के समान नेत्रों में अंजन लगाओ, सिंह की कमर के समान पतली कमर में करधनी पहनो, धनुष के समान दोनो भौंहों को संवारो, दोनों कानों में विजली के समान चमकने वाले कुण्डल धारण करो। नाक में गजमुक्ता जो सोहिल तारा के समान है, कोकिल के समान कंठ विशाल हृदय पर हार, दोनों कुचों के नीचे चम्पा कुसुम की माला की भांति रोमावली, दोनों पैरों में पायल और चूड़ा सब शोभायमान हैं। इस शरीर को सजा कर इस स्वच्छ दर्पण में सभी सितारों को देख। इस संसार में दायाँ और बायाँ दोनों को ठीक समझ कर अपने स्वरूप को पहिचानो।

१३—तैयारियां करो, बारात निकट आ गयी। प्रियतम के गहगहे बाजे को सुनकर जी चुराना धिक्कार है। अब प्रियतम अपने घर ले चल, आंखों से आंसू गिर रहे हैं क्योंकि प्रिया के मां बाप सभी बिछुड़ रहे हैं। वह अपनी सहेलियों को मिल रही है। सभी बराती भीतर बैठे हैं, अकेली स्त्री बेचारी जाय भी तो कहाँ? बेचारी की बड़ी बुरी दशा है। जब उसका प्रियतम हँस-हँस कर बातें करेगा तो बेचारी रो-रो कर उत्तर देगी। प्रियतम का तो मनोरंजन होगा पर प्रिया का कष्ट होगा। जहां तेरा असली स्थान है वहां तू जा, मन तो वहीं लगा है और वह मारे नहीं मर सकता।

१४—प्रिया सोचती है कि अब तक मैं निश्चिन्त थी, मुझे क्या मालूम कि मुझे लेने के लिए पालकी वाले आ जायेंगे। अब तो प्रिय के कहार आ गये, यहां के भाई बन्धु, सखी सहेली आदि निकट न आयेंगे, अब तो पिता का घर छोड़ कर मैं पराई हो गयी। यहाँ तो हम दस दिन ही रहे, अब तो सदा प्रियतम के पास ही रहना होगा। पालकी पर चढ़ा कर प्रियतम अपने देश को ले चला। प्रियतम के यहाँ बड़ी विषम स्थिति है, इससे अच्छा तो काशी करवट करके मर जाना है। प्रियतम के पास बोला नहीं जाता, घूँघट खोला नहीं जाता। अब तो सुन्दर दिन आया है. इस घड़ी को मत भूलो, ऐसा करो जिससे पार उतरो नहीं तो पछताते ही रह जाओगे। इस पद में कवि ने प्रियतम और प्रिया का मिलन प्रस्तुत किया है, यही मिलन की वह दशा है जिसमें सबसे अधिक घबराहट और सबसे अधिक आनन्द है।

१५-१६-१७—तीन पदों में जायसी ने प्रिया और प्रियतम के आध्यात्मिक मिलन में प्रिया की कठिनाइयों का रहस्यात्मक निरूपण किया है। यह मिलन केवल आनन्दात्मक नहीं है। आरम्भ में बड़ा कड़आ लगता है। एक युद्धस्थल-सा प्रतीत होता है। वह स्थल बड़ा ही विषम और भयंकर है, उस मार्ग में चलना अत्यन्त कठिन है। पहले हम पिता के घर में थे

वहां सुख था, अब तो पति के पराधीन हैं। पिछले दिनों को सोचकर पछताने से क्या? इस समय अन्य लोग तो शादी समझ कर बाजे बजा रहे हैं पर प्रियतमा तो काँप रही है, उसे कुछ सूझता नहीं। हाँ यदि प्रियतम प्रसन्नता से मिले तो मेरे दुख दूर हो जांय। वह सोचती है अब यदि प्रियतम निर्वाह करे तो सहेलियों से अलग अकेली रहकर प्रियतम के साथ अपनी मनोकामना पूर्ण करूं। अब तो वज्र किवाड़ों से घिरे मण्डप में रहकर शाश्वत् आनन्द का उपभोग प्राप्त करता है।

१८-१९—इन दो पदों में प्रश्नोत्तर है। पहले प्रश्न है फिर दूसरे पद में उत्तर है। ये प्रश्न और उत्तर भी रहस्यात्मक हैं। प्रिया के द्वार पर दो व्यक्ति आते हैं और पूछते हैं कि तेरा कंत कौन है? तुझमें कौन से गुण हैं? जिनके कारण तू पीहर में सखियों के साथ खेलती रही? तेरा अगुआ कौन है? तू किस प्रेम में आसक्त है? उत्तर इस प्रकार है– मेरा प्रिय महरा है, मेरा गुण गम्भीर है, मुझे प्रभु ने दिया है, उसके द्वारा मैं सदा अपने प्रियतम को चिन्ता में ही रहती थी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती। मेरा अगुआ मेरे प्रिय का सेवक खेवक है जो मुझे सीधे रास्ते ले जाता है। इस गुरु ने जो मन्त्र दिया और जिस प्रणय की नौका पर चढ़ाया उसी में मग्न चली जा रही हूँ। उसके प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानती। मैंने अपने प्रियतम की आराधना इस प्रकार की है और हम दोनों के बीच में और कोई नहीं आ सकता।

२०—इस पद में प्रिया की विदाई का कथन है, सवेरा होते ही विदाई है, बाजे बजने लगे, गान होने लगे, दुलहिन और दूल्हे के पूजन आदि हुये और सुन्दरी अपने सुहाग के साथ विदा हुई।

२१-२२—अन्तिम पदों में प्रिया का प्रियतम के देश में आना और उसके शाश्वत् मिलन का संकेत है। साथ ही सूफी मत की प्रेम की पीर का भी उद्घाटन है। योग के उपरान्त ज्योति जगती है और प्रिया प्रियतम का आध्यात्मिक मिलन होता है। माया के सभी बन्धन टूट ही जाते हैं और इसका आविर्भाव हो जाता है। गोकुल (संसार) छोड़ कर मधुवन आते हैं और कुब्जा (प्रियतमा) से मिलते हैं। इस प्रकार प्रिया और प्रियतम की एक दृष्टि होती है। भौंरा कमल के रस में भूल जाता है अर्थात् प्रियतम प्रिया के साथ एकीकरण प्राप्त करता है फिर भी चारों ओर कंटक (प्रेम की पीड़ा) ही है। विधि के विधान में ऐसा ही है। बेर का सा वृक्ष काँटों से भरा है। जो आगे चलकर परमपद पाता है, भीख माँगता फिरता है। विद्वान् पण्डित दुखी होता है और मूर्ख राजा होता है। चंदन में नाग होते हैं, फूल में काँटा है, मधु में डंक मारने वाली मक्खी और गुड़ के साथ चींटी है। धन की राशि वाले कुबेर के पास त्रिशूल है और समुद्र खारा है। इस प्रकार संसार में सभी सदोष हैं। निष्कलंक बारह वानी सोना के समान केवल प्रभु हैं।

—०—

प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा

हिन्दी के प्रेमाख्यानक साहित्य की परम्परा पर विचार कर लेने से पूर्व 'प्रेमाख्यान' शब्द का स्पष्टीकरण कर लेना उचित होगा। प्रेमाख्यान शब्द के क्षेत्रविस्तार के विषय में साधारणतया दो मत प्रचलित हैं:—

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से विदित होता है कि प्रेमाख्यान शब्द से उनका अभिप्राय उन प्रेमकथाओं से है जिन्हें सूफी कवियों ने मध्यकाल में लिखना आरम्भ किया और जिनकी एक क्रमिक परम्परा साहित्य के इतिहास में उपलब्ध होती है।

२—कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि प्रेमाख्यान शब्द बड़ा व्यापक है। मध्यकालीन सूफियों द्वारा विरचित साहित्य का बोधक बनाकर हम उसका क्षेत्र सीमित कर देते हैं। वस्तुतः वेदों से लेकर आज तक जितनी भी प्रेमकथाएं नाटक इत्यादि के रूप में लिखी गईं, उन सबका वाचक 'प्रेमाख्यान' शब्द है। श्री परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने प्रेमाख्यान को इसी अर्थ में ग्रहण किया है। इन दोनों विद्वानों ने प्रेमाख्यान काव्य की परंपरा का आरम्भ ऋग्वेद के यम-यमी संवाद से आरम्भ करके लौकिक संस्कृत में कालिदास के नाटकों, अपभ्रंश के चरित काव्यों और रासो ग्रन्थों में तथा कुछ लौकिक कथाओं में उसका विकास दर्शाया है।[1] डा० श्रीवास्तव का तो इस संबंध में कथन है—"वास्तव में इस धारा को ही शुद्ध भारतीय प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा कहना समीचीन है।" डा० श्रीवास्तव।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि इन विद्वानों की प्रेमाख्यानविषयक धारणा 'प्रेम' और 'आख्यान' इन दो शब्दों के कारण ही स्थिर हुई है। आख्यान का साधारण अर्थ कथा या कहानी है। साहित्य मानव के भावों का शब्दमय रूप है, और प्रेम (Love) मनुष्य के भावों में प्रबलतम है। अतः साहित्य में अधिकांशतः मानव की प्रेम भावना का ही चित्रण मिलता है। इस प्रकार साहित्य के एक बड़े भाग को, जिसमें नर की नारी के प्रति लौकिक संबंध की ललक किसी कथा के माध्यम से वर्णित है, प्रेमाख्यान की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु वैज्ञानिक समीक्षा तर्कसंगत वर्गीकरण की अपेक्षा रखती है और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि साहित्य के युग-परिवर्तन में देर नहीं लगती तथा एक युग अपने पूर्ववर्ती युग का ऋणी होते हुए भी सदैव नवीन का सन्देशवाहक होता है, साहित्य के सभी कालों में प्राप्त प्रेम-चित्रण को प्रेमाख्यान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। जिस प्रकार लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों और अपभ्रंश के चरित काव्यों को विषय और वस्तु की दृष्टि से एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता, वैसे ही जायसी, कुतुबन, मंझन के प्रेमाख्यानों और उनसे पूर्ववर्ती कवियों के प्रेम वर्णनों की समीक्षा का एक ही मानदण्ड नहीं हो सकता। प्रेम के जिस साधन और साध्य रूप का चित्रण सूफी कवियों ने अपने काव्यों में किया है, विषय, वस्तु और काल की दृष्टि

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—"भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा"।

२. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव—"भारतीय प्रेमाख्यान काव्य"।

से उसकी पार्थक्य रेखा पूर्ववर्ती प्रेम-चित्रण से स्पष्ट ही दीख पड़ती है। अतः प्रेमाख्यान के सामान्यतया प्रचलित अर्थ को ग्रहण करते हुए हमारा अभिप्राय केवल उन रचनाओं से होना चाहिये जो कि मध्यकाल में सूफी सन्तों और विचारकों के द्वारा रची गई और जिनके प्रभाव से बाद को कुछ हिन्दुओं ने भी प्रेमाख्यानों की रचना की।

हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना का श्रीगणेश मुसलमानों द्वारा हुआ था। मुसलमानों को इन आख्यानों की रचना की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई, इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। श्री परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० हरिकान्त श्रीवास्तव का, जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया, मत है कि संस्कृत की प्रेमाख्यान परम्परा मध्यकालीन अपभ्रंश चरित काव्यों के माध्यम से सूफियों के हाथ लगी तथा किंचित् शैलीगत परिवर्तनों से सूफियों ने उस परंपरा को अपने धर्म प्रचार का साधन बनाया। किन्तु सूफियों द्वारा प्रतिपादित प्रेमाख्यान काव्य की परंपरा तथा उनके पूर्ववर्ती आख्यानों में एक मौलिक अन्तर है, जो कि शैलीगत ही नहीं, वस्तुगत अन्तर भी है। वह है कथा में दोहरे अर्थ का समावेश, स्थूल जगत् के माध्यम से सूक्ष्म ब्रह्म की अनुभूति का उपक्रम, जिसके हेतु सूफी कवियों ने बड़ी उपयुक्त वस्तु का चयन किया है। वस्तु के इस द्विविधा व्यक्तित्व के मूल में प्रेम व्याप्त है और यही वह तत्त्व है जो सूफी प्रेमाख्यानों को अपने पूर्ववर्ती आख्यानों से पृथक् करता है। इस प्रकार के वस्तु-संयोजन की परंपरा भी सूफी साहित्य में बहुत पहले से चली आ रही है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों की इस विशेषता के बीज फारसी और अरबी के प्रेमाख्यानों में देखे जा सकते हैं।

प्रारम्भ के अरबी काव्य में प्रेम काव्य और वीर काव्य, ये दो प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु इस्लाम के आगमन पर स्वच्छन्द प्रेम की उच्छृंखलता का साहित्य में प्रभुत्व नहीं रह गया। अब प्रेम की सहज लौकिकता का स्थान ईश्वरीय प्रेम ने लेना आरम्भ किया, "इश्के-मिजाज़ी" के स्थान पर "इश्के-हक़ीक़ी" का प्रतिपादन होने लगा। अरब के कवि गज़लों इत्यादि के माध्यम से सूक्ष्म एवं अलौकिक प्रेम भाव की अभिव्यंजना किया करते थे, वहाँ सूफियों ने एक नई शैली—मसनवी—के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम अथवा "इश्के-हक़ीक़ी" का गान गाना आरम्भ किया।

मसनवी का शाब्दिक अर्थ "(Parallel)" अथवा "समानान्तर" है। मसनवी ग्रन्थों में एक पंक्ति के समानान्तर (एक पंक्ति के वज़न पर) दूसरी पंक्ति के होने के कारण ही सम्भवतः इस रचना शैली को यह नाम दिया गया, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। सूफियों द्वारा रचित मसनवियों का प्रमुख उद्देश्य साधारण जनप्रचलित आख्यानों के माध्यम से अलौकिक प्रेम भावना को हृदयंगम कराना था। दूसरे शब्दों में इनका उद्देश्य "कान्ता-सम्मत" उपदेश के माध्यम से आध्यात्मिक तत्त्वों को ग्राह्य बनाना था। फारसी में रूमी, सनाई, अत्तार और जामी इत्यादि बड़े उच्च कोटि के मसनवीकार हुए हैं। रूमी के काव्य की विशेषता

है कि उसने अनेक छोटे-छोटे आख्यानों के माध्यम से अति गम्भीर, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्वों को सर्वजन-ग्राह्य बना दिया है। ऐसे दार्शनिक और गूढ़ तत्वों को भी, जिनकी व्याख्या तर्क-शैली से सम्भव नहीं, रूमी ने बड़ी ही सरस काव्य शैली में वर्णित किया है। सम्भवतः इसी कारण विनफील्ड का मत है कि रहस्यवाद में रूमी की समानता कोई नहीं कर सकता। इन मसनवीकारों की रचनाओं के अतिरिक्त स्फुट पदों अथवा गज़लों में भी उच्च कोटि का साहित्य रचा गया। हाफिज़ और सादी का स्थान ऐसे रचनाकारों में प्रमुख है। अतः फारसी की एक सुन्दर प्रतिष्ठा-प्राप्त प्रेमाख्यान परम्परा है, हिन्दी की प्रेमाख्यान परम्परा का मूल स्रोत यही परम्परा है।

मुसलमानों के आक्रमण सिन्ध और पंजाब पर ही सर्वप्रथम हुए, इसलिये सूफी सन्तों ने भी सिन्ध और पंजाब को ही सर्वप्रथम अपने प्रचार का क्षेत्र बनाया। फलतः सूफी साहित्य की रचना भी इन्हीं प्रान्तों में प्रारंभ हुई। सिन्ध के सूफी कवियों में शाह लतीफ कुरेशी, सचल, रोहिल, सामी, बेवस, बेदिल आदि प्रसिद्ध कवियों में से हैं। इन कवियों ने प्रेमाख्यानों की रचना नहीं की, वरन् काफी इत्यादि रागों एवं पदों के माध्यम से ही अपने धार्मिक उद्‌गारों की अभिव्यक्ति की है।

सिन्धी के अतिरिक्त दक्खिनी हिन्दी और पंजाबी में भी सूफी कवियों ने साहित्य रचना की। दक्खिनी हिन्दी में कुछ मसनवियाँ भी लिखी गईं, किन्तु पंजाबी में स्फुट साहित्य ही मिलता है।

यद्यपि इन प्रादेशिक भाषाओं में सूफी साहित्य की रचना हिन्दी के सूफी साहित्य की रचना से पूर्व ही हो रही थी, तो भी ऐसे संकेत नहीं मिलते कि हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियों ने इन कवियों की रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण की हो। अतः हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियों के सम्मुख प्रमुखतया दो ही आदर्श थे—

१—फारसी का मसनवी साहित्य।

२—पुरानी हिन्दी अथवा अपभ्रंश के चरित काव्य।

ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियों ने रचना की मूल प्रेरणा फारसी की मसनवियों से ली तथा रचना शैली, भाषा इत्यादि के क्षेत्र में चरित काव्यों का अनुसरण किया।

हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य का आरम्भ मुल्ला दाऊद के "नूरक चन्दा" अथवा "चन्दायन" नामक ग्रन्थ से माना जाता है। चन्दायन के रचना काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है—

१—मिश्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में 'चन्दायन' का रचना काल स० १३८५ वि० माना है।

२—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इसका रचना काल सं० १४१७ वि० स्वीकार किया है।[1]

१. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—"दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री"—पृ० १०

३—डा० रामकुमार वर्मा ने चौदहवीं शती के मध्य में (सं० १३५३-१३७३ के बीच में) इसकी रचना का अनुमान किया है।[१]

४—डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने जहांगीर के दरबारी इतिहासकार अलबदायूनी के आधार पर चंदायन की रचना सं० १४२७ में स्वीकार की है।[२]

५—नवीन खोजों के आधार पर प्रो० एच० एस० अस्करी ने चंदायन को १३७४ ई० के आसपास रचा गया सिद्ध किया है।[३]

डा० शम्भुनाथसिंह और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रो० अस्करी के मत को स्वीकार किया है। डा० अग्रवाल का मत है कि चंदायन का रचनाकाल १३७० ई० के आसपास है।[४]

अतः १३७० ई०-१३७४ई० ही 'चंदायन' का रचनाकाल प्रतीत होता है।

'चंदायन' और जायसी के 'पद्मावत' के बीच पहले कुतुबन की 'मृगावती' के अतिरिक्त कोई प्रेमाख्यानक काव्य नहीं मिलता था, किन्तु नवीन शोध के अनुसार कतिपय अन्य प्रेमाख्यानों का भी पता चला है। वे इस प्रकार हैं:—

१—साधन का मैनासत—डा० माताप्रसाद गुप्त ने जुलाई १९४५ की "अवन्तिका" में इसका परिचय दिया है। श्री उदयशंकर तिवारी शास्त्री ने भी "भारतीय साहित्य" अंक २–हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय" में इसका परिचय दिया है।[५] मैनासत का रचनाकाल अज्ञात है, किन्तु सामान्यतया इसे जायसी से पूर्व ही विरचित माना जाता है।

२—"दामो-कृत लक्ष्मण सेन पद्मावती" (रचनाकालसन् १४५९)। श्री उदयशंकर तिवारी ने जुलाई १९५६ की "त्रिपथगा" में इसका उल्लेख किया है।

३—ईश्वरदास की "सत्यवती कथा" १५०१ ई०।

४—कुतुबन की 'मृगावती' १५०३ ई०।

इनके अतिरिक्त जायसी से पूर्व विरचित काव्यों में डा० शम्भुनाथसिंह[६] ने तीन अन्य काव्यों की गणना की है—(१) चतुर्भुजदास की मधुमालती, (२) मंझन की मधुमालती, (३) नारायणदास या रतनरंग की "छिताई वार्ता"।

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० १५४।

२. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—डा० कमल कुलश्रेष्ठ—पृ० ११।

३. Prof H. S. Askari, Rare Fragments of Chandain and Mrigawati.

४. "पद्मावत"—प्राक्कथन—डा० वा० श० अग्रवाल—पृ०—२९।

५. डा० शम्भुनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० ४०७।

६. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० ४०७।

किन्तु इन काव्यों के रचनाकाल के विषय में यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण उन्हें जायसी से पूर्व विरचित मानना उचित नहीं।

जायसी ने स्वयं भी "पदमावत" में कुछ प्रेम कहानियों का उल्लेख किया है:—

"विक्रम धंसा प्रेम के बारां। सपनावति कहँ गयउ पतारां।।
सुदैवच्छ मुगुधावती लागी। करन पूरि होइगा बैरागी।।
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावती कहं जोगी भयऊ।।
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालती कहँ कीन्ह वियोगू।।
प्रेमावती कहँ सुर तरु साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा।।"

यदि इन प्रेमाख्यानों को जायसा से पूर्व लिखित माना जाये, तो निम्नलिखित काव्य उपलब्ध होने चाहिएं—

१. स्वप्नावती—विक्रम और स्वप्नावती की प्रेमकथा।
२. मुग्धावती—सदयवत्स और मुग्धावती की प्रेमकथा।
३. मृगावती—राजकुंवर और मृगावती की प्रेमकथा।
४. मधुमालती—राज मनोहर और मधुमालती की प्रेमकथा।
५. प्रेमावती—सुरतरु और प्रेमावती की प्रेमकथा।
६. उषा-अनिरुद्ध की प्रेमकथा।

मृगावती को छोड़कर जायसी से पूर्व रचा गया कोई काव्य उपलब्ध नहीं होता। मंझन अथवा चतुर्भुजदास की मधुमालती के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे जायसी से पूर्व लिखी गई होंगी। अतः अधिकांश विद्वानों का अनुमान है कि जिन प्रेम कथाओं की ओर जायसी ने संकेत किया है, वे लोक-कथाओं के रूप में जन-जीवन में प्रचलित थीं। डा० शंभुनाथ सिंह का कथन है—"इन कथाओं की ओर जायसी ने जो संकेत किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा उल्लिखित अन्य नाम भी लोक-प्रचलित कथाओं के ही हैं, लिखित प्रेमाख्यानक काव्यों के नहीं।"[1]

यह भी सम्भव है कि स्वप्नावती, प्रेमावती इत्यादि लिखित प्रेमाख्यानक काव्य ही हों किन्तु अनुपलब्ध हों।

जायसी से पूर्व लिखे गये प्रेमाख्यानों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'चन्दायन' अथवा 'नूरक चन्दा' और जायसी के पदमावत के बीच में यथेष्ट संख्या में प्रेमाख्यान लिखे गये। 'पदमावत' के प्रौढ़ और काव्य-गुणसम्पन्न होने का यह भी एक कारण है।

जायसी की रचनाओं के समकालीन और उसके परवर्ती अनेक सूफी कवियों

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास।

की रचनाएं उपलब्ध होती हैं। संक्षेप में जायसी के पश्चात् के निम्नलिखित प्रेमकाव्य मिलते हैं :—

	रचना	कवि	समय रचना काल
१	पदमावत	जायसी	१५२७-१५४५ ई०
२	मधुमालती	मंझन	१५४५ ई०
३	मधुमालती	चतुर्भुजदास	१५४५ ई०
४	चित्रावली	उसमान	१६१३ ई०
५	ज्ञानदीप	शेख नबी	१६१४ ई०

६ जान कवि कृत २१ प्रेमाख्यानक काव्य :—

१- रतनावती, २- लैलामजनू, ३- रतन मंजरी, ४- नलदमयंती, ५-पुहुपवरिषा, ६- कंवलावती, ७- छवि सागर, ८- कामलता, ९- कलावती, १०- छीता, ११- रूप मंजरी, १२- कथामोहिनी, १३- चन्द्रसेन सील निधान, १४- कामरानी, १५- पीतम दास, १६- कथा कलन्दर की, १७- देवलदेवी अथवा खिजरखां की चौपाई, १८- कनकावती, १९- कौतूहली, २०- सुभर राई, २१- बुद्धि सागर।

७	हंसजवाहिर	कासिमशाह	१७३६ ई०
८	इन्द्रावती	नूर मुहम्मद	१७४३ ई०
९	अनुराग बांसुरी	नूर मुहम्मद	अज्ञात
१०	यूसुफ जुलेखाँ	निसार कवि	१७९० ई०
११	माया प्रेमरस	शेख रहीम	अज्ञात
१२	प्रेम चिनगारी	शाह लतीफ अली	१८०९ ई०
१३	पुहुपावती	हुसेन अली	११३८ हिज्री
१४	कुंवरावत	अली मुराद	अज्ञात
१५	कथा कामरानी	अज्ञात	अज्ञात
१६	नूर जहाँ	ख्वाजा अहमद	१९०५ ई०
१७	प्रेम दर्पण	कवि नसीर	१९१७ ई०

इस सूची का मुख्य आधार डा० सरला शुक्ला की पुस्तक "जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य" है। इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने "पदमावत" के प्राक्कथन में कुछ अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों का भी उल्लेख किया है :—

१. शेख रिज़कुल्ला कृत "जोत निरंजन" और 'प्रेमायन" (रचना काल १६ वीं शती का मध्य भाग)।

२. जटमल नाहर कृत "प्रेम विलास—प्रेमलता कथा"—१५५६ ई० ।
३. पोहकर कृत "रस रतन" १६१८ ई० ।
४. दुखहरनदास कृत "पुहुपावती" १६६८ ई० ।
५. रतनरंग कृत "छिताई वार्ता" १७ वीं शताब्दी ।
६. जनकुंज कृत "उषा चरित" १७७४ ई० ।
७. सेवाराम कृत "नल दमयन्ती चरित्र" १७९६ ई० ।
८. भूप नारायण कृत "कथा चार दरवेश" १७९७ ई० ।
९. सईद पहार कृत "रस रत्नागर" रचना काल अज्ञात ।
१०. मुरलीदास कृत "उषा चरित" १८१६ ई० ।
११. फाज़िलशाह कृत "प्रेम रतन" १८४२ ई० ।

प्रेमाख्यानक काव्यों की इस सूची को देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि सूफी साहित्य की धारा हिन्दी साहित्य के इतिहास के तीन कालों में अबाध गति से बहती रही है। सम्भव है सन् १९१७ के पश्चात् भी कुछ प्रेमाख्यानकों की रचना हुई हो किन्तु वे उपलब्ध न हों।

सूफी कवियों की रचनाओं से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनके पास लिखने के लिए विस्तृत भावभूमि एवं विशाल कथा-भंडार था। भाव-भूमि लोक-कथाओं और लोक-गीतों का अथाह आगार है। सूफियों ने उस भंडार में से कुछ भासमान रत्नों को चुन कर काव्य के नगीने में जड़ दिया है।

सूफियों की प्रेरणा से तथा उनके अनुकरण पर बाद को बहुत से हिन्दुओं ने भी रचनाएँ कीं।

सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानकों के अतिरिक्त हिन्दी में कुछ सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थों और स्फुट साहित्य की भी रचना की है। यारी साहब, नज़ीर अकबराबादी इत्यादि ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने उच्चकोटि के मुक्तक साहित्य, कविताओं, गज़लों, गीतों और बारह मासों इत्यादि की रचना की है। विवेच्य विषय से अधिक संबद्ध न होने के कारण उनकी रचनाओं का परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की सामान्य विशेषताएँ

विशेषताओं का सामान्यीकरण कठिन प्रतीत होता है। साहित्य में जहाँ कि बहुध एक-एक शब्द में कवि का व्यक्तित्व शब्दित हो उठता है, सामान्य स्तरों का निर्धारण क्लि कार्य है। किन्तु शब्दों की बाह्य ध्वनि में जितना ही वैशिष्ट्य एवं व्यक्तित्व झलकता है, शब्दों की आत्मा में उतनी ही समानता ध्वनित होती है। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल अथवा विशेष से सामान्य और सामान्य से विशेष की ओर बढ़ने मानव दृष्टि की प्रवृत्ति

है। साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों का सीमा-निर्धारण इसी प्रवृत्ति का परिणाम है तथा एक ही वर्ग के विभिन्न कवियों की वर्ग गत विशेषताओं का अन्वेषण भी इसी अंतरवर्तिनी दृष्टि द्वारा होता है। अतः जब हम हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक कवियों की सामान्य अथवा वर्गगत विशेषताओं की बात करते है तो उससे अभिप्राय (अर्थ सापेक्ष्य के अनुसार) केवल इतना ही है कि अधिकांश कवियों में एक ही प्रकार की भाव-व्यंजना और रचना-शैली के दर्शन होते हैं। तथापि नियमतः ऐसा नहीं होता। साहित्य में जितने उदाहरण दिये जा सकते हैं उनके उतने ही अपवाद भी हो सकते हैं।

सूफी प्रेमाख्यानक कवियों की सामान्य विशेषताओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(क) भावगत अथवा वस्तुगत सामान्य विशेषताएं,

(ख) शैली अथवा रचनागत सामान्य विशेषताएं,

(क) भवगत सामान्य विशेषताएं

१—लोक प्रचलित कथाओं का ग्रहण—अधिकांश सूफी कवियों ने जिन प्रेमाख्यानों की रचना की है, उनका आधार प्रायः कोई न कोई जनकथा ही है। फारसी साहित्य की मसनवियाँ बहुधा काल्पनिक आधार पर रची गई हैं किन्तु हिन्दी के प्रेमाख्यानों के विषय में ऐसी बात नहीं। यहाँ के सूफियों ने धार्मिक विषयों के प्रतिपादन के लिये लोक-कथाओं को ग्रहण किया। सूफी कवियों के आख्यान-चयन के विषय में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—

"हमारा अनुमान है कि सूफी कवियों नेजो कहानियाँ ली हैं, वे सब हिन्दुओं के घरों में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर-फेर कर लिया है।"[१]

अनेक प्रेमाख्यानों के स्रोत का संधान करने से यह बात निर्विवाद रूप से पुष्ट होती है। हिन्दी के प्रथम सूफी प्रेमाख्यान मुल्ला दाऊद के "नूरक चंदा" अथवा "चन्दायन" के विषय में डा० शम्भुनाथसिंह का कथन है कि भोजपुरी प्रदेशों में 'लोरिकायन' नाम की जो बृहत् प्रेम कथा प्रचलित है, सम्भवतः उसी का एक रूपान्तर "नूरक चन्दा" है। लोरिकायन अथवा चानैनी की लोक कथा के विषय में श्री रामाज्ञा द्विवेदी ने हिन्दी रिव्यू (Hindi Review) अगस्त' ५८ में विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने इस कथा के तीन विभिन्न रूपान्तरों का उल्लेख किया है जो अवध, भोजपुर और बिहार में प्रचलित हैं। इसी प्रकार 'मृगावती' के विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

"कुतुबन ने अपनी 'मृगावती' में लिखा है कि यह कथा पहले से ही चली आ रही थी। इसमें योगश्रृंगार और विरह रस वर्तमान था। मैंने दोबारा फिर इसी कथा को लिपिबद्ध किया है"[२]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (आठवां संस्करण)—पृ० ७२।

२. हिन्दी साहित्य—पृष्ठ २६२

पद्मावत भी अवध प्रान्त में प्रचलित "पद्मिनी और हीरामन सुग्गे की कथा" का रूपान्तर है। वैसे भी पद्मावती की कथा अनेक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में बिखरी मिलती है। दामोकृत "लक्ष्मणसेन पद्मावती" भी इसी कथा पर आधृत प्रेमाख्यान है। उसी कथा को जायसी ने अलाउद्दीन के समय में जौहर करके मर जाने वाली चित्तौड़ की प्रसिद्ध रानी पद्मिनी के जीवन से संबद्ध करके "पदमावत" की रचना की है।

मधुमालती की कथा पर मंझन एवं चतुर्भुजदास दोनों ने रचना की है। इसी से ज्ञात होता है कि यह कथा जनसाधारण में प्रचलित थी। अन्तिम सूफी प्रेमाख्यान "प्रेमरस" (कवि निसार कृत) की कथा के विषय में डा० सरला शुक्ला का कहना है कि "प्रेमरस' में जिस दैत्य कथा की संयोजना है उसकी प्रत्येक घटना अब तक कही जाने वाली लोक-कथाओं से मिलती है।"[१]

लिखित प्रेमाख्यानों के बीच-बीच में कवियों ने कई कथाओं—जैसे सदयवत्स सावलिंगा, गोपीचन्द, भरथरी पिंगला इत्यादि—का उल्लेख किया है। इससे यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि सूफी कवियों की दृष्टि सजग थी, अपने विषय के अनुकूल उन्हें जहाँ कहीं भी कोई कथा मिलती वे उसे ग्रहण कर लेते थे। साधारण हिन्दू जनता की सहृदयता प्राप्त करने के लिए भी सूफी कवियों ने हिन्दुओं के घरों की कहानियों को ग्रहण किया होगा, कारण कि, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में निर्देश किया है, किसी जाति की लोक-कथाओं को बार-बार सामने लाना उस जाति के प्रति प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि फारसी के मसनवी प्रेमाख्यानों के कथानक नितान्त काल्पनिक हैं, सूफी प्रेमाख्यानों की भाँति लोक-कथात्मक नहीं। अतः फारसी की मसनवी परम्परा इस अर्थ में हमारे यहाँ नहीं चली। यह भी स्मरण रहे कि सबकी सब लोक-कथाएँ भारतीय जीवन से, हिन्दू राजन्य वर्ग के जीवन से ली गई हैं। अपवाद केवल एकाध ही है, जैसे जान कवि के "लैला मजनू" अथवा निसार के "यूसुफ़ जुलेखाँ" में अभारतीय कथाएँ हैं। किन्तु जिस समय इन कथाओं पर आधृत प्रेमाख्यान रचे गये, उस समय तक हिन्दू समाज में ये कथाएँ लोक-कथाओं की भाँति ही चल पड़ी थीं।

२—**गूढ़ार्थ व्यंजना**—सूफी प्रेमाख्यान प्रेम के माध्यम से दृश्यमान जगत् से अदृश्य परमशक्ति अथवा स्थूल त्रिगुणसम्पन्न जगत् से गुणातीत सूक्ष्म ब्रह्म की साधना के आलेख हैं। इन प्रेमाख्यानों का वस्तु-फलक दो रंगों से चित्रित है—इनकी तंत्री द्वयस्वरी है। दूसरे शब्दों में इन प्रेमाख्यानों के शब्द, घटनाएँ और पात्र द्विविधा-व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। वे स्थूल

---

१. जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य : "सूफी कवियों की लोक-दृष्टि" —पृ० १९३।

का अंकन तो करते हैं किन्तु सूक्ष्म की व्यंजना करते हुए। प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ प्रायः ब्रह्म की प्रतीक हैं। प्रेम-मार्ग की अनेक कठिनाइयों का सूफी कवियों ने वर्णन किया है— वे कठिनाइयाँ ही साधारणतः नायक के लौकिक बन्धन हैं। उनसे मुक्ति पाने पर ही नायक रूपी जीव और नायिका रूपी ब्रह्म का एकीकरण संभव है। सांकेतिक शैली द्वारा सूफी कवियों ने अपने इष्ट की सिद्धि की है। उदाहरणार्थ नायिका के चरित्र में अपार्थिव गुणों का समावेश करने के लिये वाक्-चातुर्य से सृष्टि में व्याप्त गुणों का उसके व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य कर दिया गया है—

"जा दिन दसन ज्योति निरमई,
बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।" —पद्मावत

अथवा पद्मावत के मान सरोदक खंड में पद्मावती के व्यक्तित्व में विराट तत्त्व का आरोप करने वाली ये पंक्तियाँ—

"नैन जो देखे कंवल भये, निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भे, दसन जोति नग हीर॥" —पद्मावत

अथवा इन्द्रावती के लिये नूर मुहम्मद का यह कथन—

"जो बहिमुख को परगट देखा,
गूंग भयउ भा बाउर लेखा।" —इन्द्रावती

सांकेतिक अर्थ की यह व्यंजना बहुधा सांकेतिक ही है किन्तु कहीं-कहीं कवि स्वयं भी अपनी कथा के व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर देता है, जैसे पद्मावत के अन्त में जायसी कहते हैं—

"कहां सो रतनसेनि अस राजा
कहां सुवा अस बुधि उपराजा
कहां अलाउद्दीन सुल्तानू
कहां राघौ जेहि कीन्ह बखानू
कहां सरूप पदमावती रानी
कोइ न रहा जग रही कहानी
धनि सो पुरस जस कीरति जासू
फूल मरै पै मरै न बासू।" —पद्मावत

इसी प्रकार कासिमशाह ने 'हंस जवाहिर' में तथा कवि नसीर ने 'प्रेम दर्पण' में संकेतों का स्पष्टीकरण कर दिया है। किन्तु जहाँ पर कवियों ने स्पष्टीकरण नहीं किया है, वहाँ भी निर्विवाद रूप से उनका उद्देश्य गूढ़ार्थ की व्यंजना करना है। रीतिकाल तक आते-आते प्रेमाख्यानों में इस व्यंजना का सचेष्ट और साभिप्राय मोह परिलक्षित नहीं होता।

जान कवि के ग्रन्थों में ग्राध्यात्मिक तत्त्व के समावेश के प्रति सहज उदासीनता की भावना मिलती है। इसे हम युग की प्रवृत्ति का प्रभाव हो कह सकते हैं।

३—**समाज का यथार्थ चित्रण ग्रौर लोकदृष्टि**—सूफी प्रेमाख्यानों में इनके रचयिताओं की सजग लोकदृष्टि का परिचय मिलता है। हमारी लोक-कथाओं को आधार रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त सूफी कवियों ने हमारे तात्कालिक बहुपक्षीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को भी वाणी प्रदान की है।

सर्वप्रथम गृहस्थ चित्रों की समीक्षा की जाये। सद्गृहस्थ हिन्दू नारी के शील और लज्जा का वर्णन अनेक सूफी प्रेमाख्यानों में बड़ा सुन्दर मिलता है। 'इन्द्रावती' की कुछ पंक्तियां हैं—

"लाज नहिं जेहि आँखन माँहि,
है वह पशु, है मानुष नाहीं,
घूंघट पहिरि लाज यह आही
पगु कहं धीरैं राखल चाही।
औ घन ऊँची सबद न बोलै
सुनत बिराने को मन डोलै।
औंधे नयन लाज सौं कीजै,
औ मुख ऊपर घूंघट दीजै।"

—इन्द्रावती

इसी प्रकार पातिव्रत्य धर्म का एक उदाहरण उसमान की 'चित्रावली' से देखिये—

"औ चित लाइ करब पिय सेवा,
एक पीउ दोउ जग सुख देवा।
|.......................................|
जो बस होइ तो गरब न करिए,
आपु अधीन होइ मन हरिए।
सौतिन वर इरषा नहिं करना,
साईं संग सदा जिय डरना।"

—चित्रावली

इन कवियों ने नारी को प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुकूल पति-परायण चित्रित किया है। जायसी की ये पंक्तियाँ—

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव,
मकु तेहि मारग उड़ि परैं कंत धरैं जहं पांव।"

नागमती की पति-भक्ति का उत्कृष्ट स्वरूप प्रकट करती है ... धर्म से
'अनुराग बाँसुरी' में ऐसे ही भावों को व्यक्त किया ... शासकों की शासन-व्यवस्था
चाहते थे। सुल्तान अथवा शाहे-वक्त को

"माटी होऊ, छार होय, कबहुँ लेइ कोहार,
गढ़ै पियाला, लै अधर, लावै कंत हमार।"—अनुराग बांसुरी

नव-विवाहिता का ससुराल के प्रति भय कवि उसमान के इन शब्दों में कितना प्रभावोत्पादक है—

"दुहिता सोक अगिनि ससुरारा,
सासु सुंदासी, कंत सोनारा।
ननद नाल फूंकत नित रहई,
सुलग हिया कोइला जिमि दहई।"

—चित्रावली

मध्यकाल के सूफी प्रेमाख्यानों में स्वच्छन्द प्रेम की प्रधानता नहीं है। फलतः नारी को गृहस्थ जीवन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम रीतिकाल की ओर बढ़ते हैं, स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त प्रेम की भावना जोर पकड़ती दिखाई पड़ती है—नारी विलास का साधनमात्र रह जाती है तथा उसका आदर-सम्मान भी घटता जाता है। जान कवि के ग्रन्थों में नारी के प्रति इस हेय दृष्टिकोण का पूर्ण परिचय मिलता है। "**भली नहीं मिहरी की जाती**" में जान कवि का युग बोलता है।

सूफी कवियों ने हिन्दू जीवन की सभी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, संस्कारों इत्यादि का सांगोपांग एवं सजीव वर्णन किया है। जन्म से लेकर मरण तक के सभी संस्कारों का अत्यन्त उदार एवं स्वाभाविक चित्रण सूफी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होता है। विशेष रूप से विवाह के हर्ष-विषादमय दोरंगे चित्र एक से एक सुन्दर हैं। जायसी एवं उसमान इसमें विशेष रूप से सफल हैं। दीवाली, होली, शिवरात्रि इत्यादि प्रमुख त्यौहारों का वर्णन भी कहीं-कहीं सुन्दर है। नूर मुहम्मद का होली का वर्णन द्रष्टव्य है—

"एक दिस पुरुस एक दिस गोरी,
हिल मिल गावहिं चांचर जोरी।
डंफ बजावहिं औ मिरदंगू,
पिचकारिन मौ भरइ सुरंगू।
धन के ऊपर डारहिं नाहां,
धन डारहि पुरुस उपराहां।
रंग अबीर भरौ सब कोई,
जो जहं रहा, भरा तहं सोई।"

—इन्द्रावती

सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं—शकुन, अन्ध-विश्वास, मनोरञ्जन के साधन, ... इत्यादि पर भी इन काव्यों के माध्यम से यथेष्ट एवं प्रामाणिक ... में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण मिलता

है। यथार्थ दर्शन की यह परम्परा सूफी कवियों ने अपभ्रंश के चरित-काव्यों से बहुत कुछ ग्रहण की, किन्तु सूफी कवि इस क्षेत्र में अपभ्रंश कवियों से कई पग आगे हैं। सूफी कवि जनता के कवि थे। उन्होंने सामान्य जनता की भावनाओं को मुखर किया है। राजन्य वर्ग का गौरव इन कवियों की दृष्टि में जन-जीवन से तुच्छ था। रत्नसेन परदेस में है—वर्षा ऋतु आ गई है। नागमती—रानी नागमती को चिन्ता होती है कि मैं अकेली हूँ, मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं, मेरा छप्पर कौन छायेगा—

> "पुख नछत्र सिर ऊपर आवा।
> हौं बिनु नाँह मंदिर को छावा।" —पद्मावत।

सहृदय के मन में यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि इस स्थल पर जायसी नागमती का राजन्य-वर्गोचित वर्णन करने में अशक्त हैं अथवा नागमती ही महल या अटारी से छप्पर तक झांकने में सशक्त है। हमारा विचार है नागमती की करुणा ने ही महल और छप्पर में अन्तर नहीं रहने दिया। तुलसी के परम परब्रह्म राम भी तो ऐसी स्थिति में कातर हो उठे हैं—

> "घन घमंड नभ गरजत घोरा
> प्रियाहीन डरपत मन मोरा।"

अतः राज-परिवारों के मध्य साधारण जीवन की झाँकी देखना इन कवियों की निजी विशेषता है। सूफी कवि जागरूक-लोक-दृष्टि-सम्पन्न कवि थे, इस सम्बन्ध में शंका को कोई स्थान नहीं।

सूफी कवियों की सामाजिक दृष्टि पर एक आपत्ति उठाई जाती है। मध्यकालीन युग मुसलमान शासकों के अत्याचार और अनाचार का युग था। राजन्य वर्ग की ओर से जनता को अनेक कष्ट सहने पड़ते थे शेरशाह, अकबर और जहाँगीर ही इने-गिने सम्राट् थे जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में सफल हो सके—अन्यथा मुगल-शासन भारत के लिए विशेषतः हिन्दू जनता के लिए कष्ट, अन्याय और पीड़ा का युग था। दैवी प्रकोपों से भी जनता को नित्य नई विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। तुलसी ने कलियुग वर्णन में अपने समय का भीषण चित्र खींचा है—

> "कलि बारहिं बार अकाल परैं,
> बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं।" इत्यादि।

क्या कारण है कि सूफी कवियों ने कहीं भी अपने काव्य में प्रशासनिक व्यवस्था के अन्याय अथवा जनता की दैन्य स्थिति का उल्लेख तक नहीं किया, चित्रण तो दूर रहा। इसका उत्तर यही हो सकता है कि भारत में आने से पूर्व सूफी धर्म का इस्लाम धर्म से विरोध मिट चुका था। तथा सम्भवतः सूफी लोग मुसलमान शासकों की शासन-व्यवस्था की निन्दा करके पुनः उनसे सङ्घर्ष नहीं करना चाहते थे। सुल्तान अथवा शाहे-वक्त को

इन कवियों ने 'दीन क थूनी' कह कर विभूषित किया है। इन कवियों का मुख्य प्रयोजन धर्म प्रचार था और धर्म प्रचार का अनवरुद्ध वातावरण इन्हें उपलब्ध था ही, इसलिए भी शायद सूफी कवियों ने तात्कालिक शासकों का वास्तविक वर्णन करने में संकोच किया है।

४—धार्मिक औदार्य की भावना—अधिकांश सूफी प्रेमाख्यान धर्म की उदार भाव-भूमि पर स्थित हैं। कई कथाओं में हिन्दू देवी-देवताओं का वर्णन मिलता है। ऐसा करने में सूफी कवियों ने लेशमात्र भी हिचकिचाहट नहीं प्रकट की। जायसी ने कैलाश पर्वत, महादेव, हनुमान्, पार्वती तथा रामायण और महाभारत के अनेक प्रतिष्ठित पात्रों का उल्लेख किया है। 'पदमावत' के मण्डप गमन खंड में पद्मावती की महादेव के मन्दिर में पूजा का भी उल्लेख है। निर्गुण सन्तों का अत्यधिक प्रभाव सूफी कवियों की विचार-शैली पर दिखाई देता है। सूफी कवियों की प्रेममार्गी भक्ति वस्तुतः निर्गुण सन्तों की ज्ञानमार्गी धारा को आत्मसात् करके चली है। कबीर, दादू इत्यादि सन्तों एवं नाथपंथियों की साधना-पद्धति का प्रचुर वर्णन मिलता है। जिस वेशभूषा में प्रेमाख्यानों के नायक घर से प्रस्थान करते हैं वह नाथपंथियों की वेशभूषा है। सिंहल गढ़ का रूढ़िगत वर्णन नाथ सम्प्रदाय से ही ग्रहण किया गया है। हठयोग अथवा साधनात्मक रहस्यवाद सबका सब नाथपंथियों की शब्दावली में वर्णित है। जिस प्रकार सन्तों ने बाह्य कर्मकांड का विरोध करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि एवं आन्तरिक योग-साधना की स्थापना की है, उसी प्रकार सूफी कवियों ने हृदय की शुद्धि को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देते हुए हठयौगिक प्रक्रियाओं का प्रेम-मार्ग के साधना-पक्ष के रूप में उल्लेख किया है। दोनों में अन्तर केवल ब्रह्मानु-भूति के प्रकार का है। नाथपंथियों की अनुभूति ज्ञानमयी है, आन्तरिक और नितान्त व्यक्तिपरक है। सूफी कवियों ने ब्रह्म का साक्षात्कार प्रेम के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक लौकिक भावभूमि पर किया है।

अपभ्रंश के चरित काव्य भी धार्मिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। किन्तु सूफी प्रेमाख्यानों तथा अपभ्रंश के चरित काव्यों में तात्त्विक अन्तर है। चरित काव्यों के रचयिताओं ने धार्मिक आग्रह से प्राचीन पौराणिक कथाओं का रूप ही विकृत कर दिया है—कहीं राम जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण करते हैं तो कहीं हनुमान्। सूफी कवियों में धर्म का मोह इस सीमा तक प्रबल नहीं है।

जायसी, मंझन, कुतुबन इत्यादि प्रारम्भिक कवियों की कृतियों में जो धार्मिक औदार्य उपलब्ध होता है उसका परवर्ती सूफियों की कृतियों में अभाव है। नूर मुहम्मद की विचार-धारा कट्टर इस्लामी विचारधारा है। जिन कवियों ने 'लैला मजनू' और 'यूसुफ जुलेखा' इत्यादि अभारतीय कथाओं को अपनी काव्य रचना के लिये चुना, उनकी धार्मिक औदार्य सम्बन्धी मान्यता पर भी प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है।

५—**'प्रेम की पीर' का वर्णन**—प्रेम के लौकिक और अलौकिक दोनों स्वरूपों का स्पष्टीकरण प्रेमाख्यानों में मिलता है—इनकी नायक-नायिकायें प्रेम के उभय पक्ष के प्रतीक हैं। जायसी इस संसार को 'प्रेम की बाजी, कहते हैं—

"मुहम्मद बाजी प्रेम की, ज्यों भावै त्यों खेल।
तेलहि फूलहि संग ज्यों, होइ फुलाएल तेल॥"

प्रेम का मर्म समझने पर ही मनुष्य परम तत्त्व को प्राप्त करता है, अन्यथा उसका अस्तित्व एक मुट्ठी धूल के समान ही है—

"मानुष पेम भयउ बैकुण्ठी।
नहि त काह छार इक मुंठी।" —**पद्मावत**

प्रेम के साधना-पथ की कठिनाइयों का वर्णन भी इन कवियों ने विस्तार से किया है। 'हिज्र' अथवा विरह ही प्रेम का मेरुदण्ड है—

"नूर मुहम्मद जगत मैं जो नहिं होत वियोग।
तो पहिचान न जात यह सिंगार संयोग॥"

सामान्यतः सूफियों का प्रेम ऐकान्तिक नहीं है। उसकी छटा लौकिक जीवन के मध्य ही निखरती है। अतः सूफियों के प्रेम को लोकनिष्ठ प्रेम ही कहा जायेगा। किन्तु पूर्व राग के चित्रण में सूफी कवि कहीं-कहीं अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो गये हैं। स्वप्न-दर्शन अथवा चित्र-दर्शन से ही नायक-नायिका यदि इतने आतुर और बिरह-दग्ध हो जायें कि विरह की दसों दशाओं का वर्णन कवि कर चले तो इसे शुक्ल जी के शब्दों में, "बैठे ठाले का वियोग" ही कहा जायेगा। संयोग की पूर्वपीठिका के बिना ऐसा वियोग प्रभावहीन होगा।

आरम्भ के सूफी कवियों ने प्रेम का सन्तुलित चित्रण किया है किन्तु बाद के सूफी कवियों—जान आदि—की कविता में विलास का अत्यधिक प्राधान्य हो गया है। प्रेम ऐकान्तिक स्वरूप धारण कर गया है। प्रेम के अवैध स्वरूप का वर्णन किसी काव्य में नहीं मिलता। जान कवि के 'रूप मंजरी' में अवश्य नायिका रूप मंजरी नायक ज्ञानसिंह के साथ विवाह से पूर्व ही भाग जाती है। अन्यथा सभी कवियों को आदर्श मर्यादित प्रेम-सम्बन्ध ही मान्य है।

(ख) शैलीगत विशेषताएं

१—**प्रबन्ध सौष्ठव**—समस्त प्रेमाख्यानक काव्य प्रबन्ध काव्य हैं, इनमें कुछ महा-काव्य कहे जा सकते हैं। फिर भी इनकी प्रबन्ध रचना भारतीय प्रबन्ध काव्यों से भिन्न है। प्रेमाख्यानक काव्य फारसी की मसनवी रचना के आधार पर रचे गये हैं। मसनवी काव्य की विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(क) भारतीय महाकाव्य की भाँति मसनवी भी सर्गबद्ध होता है किन्तु दोनों में तात्त्विक अन्तर है। महाकाव्य के सर्ग कथा-वर्णन की सुगमता के लिए बाँटे हुए खण्ड हैं। किन्तु मसनवी में सर्ग विभाजन न होकर चलती हुई कथा में बीच-बीच में प्रसङ्गों के अनुसार शीर्षकों का बन्धान होता है। इस प्रकार मसनवी में शीर्षकों के आधार पर सर्गों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। इन शीर्षक-सर्गों का भी एक निश्चित क्रम होता है। पहले में ईश्वर का गुणानुवाद, पैगम्बर की स्तुति, पैगम्बर के मित्रों की चर्चा, शाहे-वक्त की प्रशंसा, कवि का सूक्ष्म परिचय तथा ग्रन्थ रचना का उद्देश्य होता है। इसके उपरान्त ग्रन्थ के विभाग या खण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड के ऊपर उसका शीर्षक होता है। अन्त में कवि उपसंहार के द्वारा ग्रन्थ को समाप्त करता है।

(ख) मसनवी में एक ही छन्द होता है। छन्द का तुकान्त होना आवश्यक है। मसनवी एक छन्द भी है जिसके प्रत्येक पद स्वतन्त्र होते हैं। उनमें तुकान्तता अनिवार्य है। फारसी में मसनवी काव्य मसनवी, रुबाई और गजल में लिखे जाते थे। हिन्दी में मसनवी और रुबाई का स्थान चौपाई ने लिया और प्रायः प्रत्येक प्रेमाख्यान काव्य में चौपाई और दोहे का प्रयोग हुआ।

(ग) मसनवी ग्रन्थ का नाम नायिका या नायक के नाम पर रखा जाता है जैसे पद्मावत, मधुमालती, मृगावती, चित्रावली (नायिका), कथा कामरूप, कथा ज्ञानदीप (नायक) तथा हंस जवाहिर (नायक-नायिका) कभी-कभी वर्णित विषय को भी आधार मानकर नाम दिया जाता था, जैसे 'साकीनामा'।

(घ) मसनवी काव्यों का कथानक अधिकांश काल्पनिक होता है, ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त केवल रोचकता को बढ़ाने मात्र के लिए सहायक रूप में लिया जा सकता है। कथानक के सदा ही दो पक्ष होते हैं—लौकिक तथा आध्यात्मिक।

हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में मसनवी के उपर्युक्त गुण अनिवार्य रूप में पाये जाते हैं। इस प्रकार प्रेमाख्यानक काव्यों की प्रबन्धात्मकता एक विशिष्ट प्रकार की है, फिर भी प्रबन्ध काव्य के सामान्य गुण उनमें प्राप्त हो जाते हैं।

२—**चरित्र चित्रण**—सूफी प्रेमाख्यानों के सभी नायक सद्वंश के राजा अथवा उच्चकुल संभूत व्यक्ति हैं। किन्तु वे धीरोदात्त हैं, इस विषय में निश्शंक रूप से सहमति नहीं दी जा सकती। अनेक प्रेमाख्यानों के नायक विरह के अतिशय के कारण नारियों की भाँति करुण विलाप करते दीख पड़ते हैं—पद्मावता का नायक रत्नसेन तो पद्मावती को प्राप्त न कर पाने पर जल मरने को उद्यत हो उठता है। भारतीय महाकाव्य-परम्परा में नायक का कहीं भी इतना अशक्त एवं अदूरदर्शी चित्रण नहीं मिलता। धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व में धैर्य, सहिष्णुता, सदाचार, पराक्रम इत्यादि का जिस मात्रा में समावेश उपेक्षित है उतना

प्रेमाख्यानों के नायकों में देखने को नहीं मिलता। यदि कथा को गूढ़ार्थ से पृथक करके लौकिक आख्यान के रूप में परखा जाये तो नायक का व्यक्तित्व पूर्णतः नारी पर आश्रित क्लीव का सा दिखाई पड़ता है। गूढ़ार्थ व्यंजना द्वारा नायिकाओं में अलौकिक तत्व का आभास देकर सूफ़ी कवियों ने अपने नायकों के गौरव की रक्षा पूर्णतः नहीं तो आंशिक रूप में अवश्य कर ली है। आरम्भ के सूफी प्रेमाख्यानों के नायकों में धीरोदात्य और धीरलालित्य का मिश्रण है। बाद को प्रेमाख्यानों के नायक धीरललित हैं।

प्रधान पात्रों के चरित्र चित्रण में समग्र रूप से इन प्रेमाख्यानों में नीरसता सी दिखाई पड़ती है। सभी प्रधान पात्र लगभग एक से ही गुणों से सम्पन्न, समान परिस्थितिथों से होते हुए उद्देश्य लाभ करते हैं।

कथानक—प्रेमाख्यानों के कथानकों का आधार अधिकांशतः लोक कथाएँ हैं। जान कवि तथा अन्य कुछ कवियों के कथानक काल्पनिक भी हैं। ऐतिहासिक कथानको के नाम पर एक दो प्रेमाख्यानकों का ही नाम लिया जा सकता है जैसे जायसी का पद्मावत इत्यादि। किन्तु इनके विषय में भी आशंकायें हैं :—

१—ये पूर्णतः ऐतिहासिक आधार पर आश्रित नहीं है। नामों के अतिरिक्त इन कुछ भी ऐतिहासिक तत्व नहीं हैं। घटनाएं प्रायः अर्ध ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक होती हैं।

२—ऐतिहासिक आख्यानों से आचार्यों का अभिप्राय सम्भवतः सम्पूर्ण राष्ट्र के इतिहास से संगृहीत कथाओं से था, न कि एक विशिष्ट प्रान्त अथवा छोटे-मोटे राज्य से लिये गये छोटे मोटे कथानक से।

३—**रस**—सूफी प्रेमाख्यानों में प्रमुख रस दो ही हैं—१. शृंगार २. वीर। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को अत्यन्त सफलता से चित्रित किया गया है। संयोग शृंगार के अनेक आकर्षक चित्र उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक कवि ने अनिवार्यतः संयोग शृंगार का चित्रण किया है। आरम्भ में सूफी कवियों के संयोग के चित्रों में मर्यादा है किन्तु रीतिकाल में सूफी कवियों, जान इत्यादि ने नायक नायिका के संयोग के ऐसे चित्र खींचे हैं जिन्हें उन प्रेमाख्यानों के गौरव के अनुकूल नहीं कहा जायेगा, रीतिकालीन विलासिता का चाहे उनमें कितना ही सच्चा चित्रण क्यों न हो। संयोग वर्णन के माध्यम से सूफी कवियों ने आत्मा और परमात्मा के मिलन अथवा 'वस्ल' का आभास देने का प्रयास किया है। रीतिकालीन सूफी कवियों ने एन्द्रियता का स्पर्श दे कर ऐसे चित्रों का संकेतार्थ ही लुप्त कर दिया है। कासिमशाह के हंस जवाहिर में एन्द्रियता ही मुखर है।

वियोग वर्णन में सूफी कवि उपेक्षाकृत अधिक सफल हैं। इन कवियों के विरह वर्णन में तीव्रता का समावेश अति की सीमा तक है तथा सौहार्द्र की भी कमी नहीं है। ऐन्टन चैखव की विश्वविख्यात लघुकथा 'Grief' के नायक की भाँति इन प्रेमाख्यानों की

नायिकाएँ भी मनुष्येत्तर प्राणियों से अपना दुख रोकर संवेदना प्राप्त करती हैं। विरह के मार्मिक वर्णन में जायसी, मंझन और कवि नसीर विशेष रूप से सफल हैं। मंझन की ये दो पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं:—

"सुख दिन भाँति घटत तन जाई
दुख औ निस तिल तिल अधिकाई।"—मधु मालती

विरह की तीव्रता को व्यक्त करने के लिये इन कवियों ने प्रायः अत्युक्ति से काम लिया है। उदाहरणार्थ :—

"पढि राखेउ मन ऊपर, डरेउँ कि मानस दाहि,
पाती कहँ न जारबे, धरेउँ नयन पर ताहि।"
—इन्द्रावती (नूर मुहम्मद)

जायसी के "तेहिक धुआँ हम लाग" जैसा वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में भी है—

"लै संदेश चली जेहि ओरा
विरह लूक धाई चहुँ ओरा।
छूटत जाइ विरह की क्षारा,
वनखंड डार होइ पतझारा।"

—हंस जवाहिर (कासिम)

इस प्रकार के विरह-वर्णन पर फारसी मसनवियों का स्पष्ट प्रभाव है। सूफी कवियों से यह परम्परा हिन्दी के रीतिकालीन कवियों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई।

इन काव्यों में मुख्यतया प्रवासजन्य विरह ही वर्णित है।

वीर रस का वर्णन नायक के पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिये किया गया है। वीर रस का चित्त को दीप्त करने वाला वर्णन किसी भी प्रेमाख्यान में उपलब्ध नहा होता। पद्मावत में गोरा बादल युद्ध की कथा अवश्य प्रभावोत्पादक है अन्यथा युद्ध वर्णन सामान्य कोटि के हैं।

४—**घटना संयोजन**—सूफी कवियों को घटना संयोजन के प्रति एक विशेष प्रकार का मोह है। घटना शैथिल्य का प्रायः सभी प्रेमाख्यानों में अभाव है। स्थूल रूप से इनकी घटनाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। १—नायक द्वारा नायिका के रूप गुण की चर्चा सुनकर गृह त्याग। २—मार्ग के कष्ट, बाधाएँ तथा उनका संवरण कर नायक द्वारा प्रिय की प्राप्ति। ३—पुनः अपने राज्य में आगमन और कथा की समाप्ति (बहुधा नायक के जीवनांत के साथ)।

इस स्थूल विभाजन के अतिरिक्त नाटकीय कथावस्तु की प्रारम्भ, प्रयत्न इत्यादि पाँचों कार्यावस्थाएं इन प्रेमाख्यानों में बड़े सुन्दर रूप से गुम्फित रहती हैं।

कथा के बीच-बीच में पड़ने वाले भावात्मक स्थलों का इन कवियों ने अत्यन्त सरस वर्णन किया है। कुमारियों की उन्मुक्त स्वच्छन्द प्रेमक्रीड़ा, सरोवर स्नान, नायक के गृह

त्याग पर उसके निकट सम्बन्धियों, विशेषतः माँ और पत्नी का करुण विलाप, नायक के मार्ग के कष्ट, वियोग सन्देश, नायक नायिका मिलन, अन्त में सती होने का वर्णन। ऐसे और इस प्रकार के भावात्मक स्थलों का सूफी कवियों ने रस सिद्ध कवियों की भाँति वर्णन किया है।

प्राकृतिक दृश्यों तथा अन्य सामाजिक रीति रिवाजों के वर्णन भी इन सूफी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होते हैं। हमने पीछे उल्लेख किया है कि सामाजिक जीवन का वर्णन सूफी कवियों ने बड़े मनोयोग से किया है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्य के दर्पण में उनके काल का समाज झलकता है। राजनैतिक स्थिति को छोड़ कर इन कवियों ने समाज के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला है। इन काव्यों में आश्चर्य तत्वों, दैत्य, दानव, परी, पीर, जादू टोना इत्यादि का भी बहुत अधिक वर्णन मिलता है। सम्भवतः कवियों को इन आश्चर्य तत्वों की योजना घटनाओं के संगुम्फन के लिये करनी पड़ी है। इसके अतिरिक्त आश्चर्य तत्वों का वर्णन तत्कालीन समाज के अन्ध विश्वास का सच्चा चित्र है।

प्रकृति का वर्णन इन कवियों ने दो रूपों में किया है—१. उद्दीपन रूप में २. स्वतन्त्र रूप में भी नायक के मार्ग में पड़ने वाले वनों, पर्वतों, सागर इत्यादि का वर्णन मिलता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन परम्परागत है किन्तु कहीं-कहीं सजीवता के भी दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ हंस जवाहिर में कासिम शाह ने हेतूत्प्रेक्षा के आधार पर नायिका के विरह का जो वर्णन किया है वह मार्मिक एवं भाव प्रेषण में अत्यन्त सफल है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं:—

"धन वियोग सोग जग बोवा
धरती स्वर्ग जरा दुख रोवा।
....
ठावंहि ठांव भूमि जो रोई
सोत सोत निकसै जल सोई।
रोवा गिरि झरना भये आँसू
रोवैं वन पक्षी वन वासू।
....
रोवैं वृक्ष झरैं पुनि पाती
रोवैं नखत तराई राती।
मेघ सो रोवैं ताहि दुख, भूमि चुवावै आंसु,
जग जाने बरसा भई, लागो भादो मासु।"

—हंस जवाहिर

जहां तक स्वतन्त्र रूप में प्रकृति के वर्णन का प्रश्न है; सभी कवि सफल नहीं हैं।

अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति नाम गिनाने की है। जायसी के वन वर्णन में 'ढाक' का वर्णन बार-बार सुन कर जी ऊब जाता है।

५—**शैली**—जहाँ तक सर्ग बंधन का प्रश्न है, ये प्रेम काव्य भारतीय परम्परा के अनुसार सर्ग बद्ध न होकर मसनवी शैली के अनुरूप संग्रथित हैं। इनमें कथा का विभाजन सर्गों में न करके विभिन्न घटनाओं के शीर्षक देकर किया गया है।

मसनवी वस्तुतः एक प्रकार का छन्द ही है और मसनवी का साहित्यिक नियम, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है, मात्र इतना ही है कि समग्र ग्रंथ एक ही छन्द में रचित हो। सूफी कवियों ने इस नियम का पालन बड़ी तत्परता से किया है। चौपाई छंद को जो कि अपभ्रंश के धत्ता छंद से मिलता जुलता है, लगभग सभी सूफियों ने अपनी रचनाओं के लिए प्रयोग किया है। कई कवियों ने पाँच चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा है, कई ने सात चौपाइयों के पश्चात्। प्रथम का उदाहरण कुतुबन की मृगावती हैं तथा दूसरे का जायसी का पद्मावत। अधिकांश कवियों ने इस विषय में जायसी का अनुकरण किया है। नूर मुहम्मद ने दोहे के स्थान पर बरवै का प्रयोग किया है। इसी प्रकार कवि नसीर ने अपने षट्ऋतु वर्णन में कवित्त और सवैयों का प्रयोग किया है। डा० सरला शुक्ला ने लिखा है कि 'कथा कामरूप' की रचना मित्र छंद में हुई है।

ग्रन्थारम्भ में भी इन कवियों ने मंगलाचरण इत्यादि की भारतीय परम्परा का ग्रहण न करके मसनवी शैली का ही अनुकरण किया है। सर्व प्रथम कवि मुहम्मद की वन्दना करता है, फिर उनके चार मित्रों, तत्पश्चात् अपने पीर की बन्दना करके शाहे वक्त अथवा प्रस्तुत राजा की प्रशंसा करता है। इसके पश्चात् आत्म परिचय एवं ग्रन्थ रचना के उद्देश्य से ग्रन्थ का आरम्भ होता है।

६—**भाषा**—सूफी प्रेमाख्यानकों की भाषा सामान्यतः अवधी है। अवधी के दो रूप हैं—१. पश्चिमी अवधी—इसका भौगोलिक क्षेत्र ब्रज और खड़ी बोली के निकट पड़ता है। २. पूर्वी अवधी—यह बिहारी बोलियों के निकट है। जायसी, कासिम शाह इत्यादि की रचनाओं में यही भाषा प्रमुख रूप से मिलती है।

सूफी कवियों ने भाषा के लोक प्रचलित स्वरूप को ही ग्रहण किया है। इनकी भाषा प्रवहमान है। जिस प्रकार सूरदास ने ब्रज जैसी ग्रामीण बोली में कविता करके उसे मांज दिया कि वह भाव-वहन में समर्थ हो सके, उसी प्रकार सूफी कवियों ने अवधी के लोक प्रचलित स्वरूप को ग्रहण कर उसके अभिव्यंजना-सामर्थ्य में वृद्धि की।

प्रचलित अरबी फारसी के शब्द इन प्रेमाख्यानों में मिलते हैं जैसे—फौव्वारा, कारसाज, हाजिर, उस्ताद, वतन, आलम इत्यादि। स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। जान कवि एवं हुसैन अली की कविता में ब्रज का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

लोकोक्तियों का प्रयोग सभी सूफी कवियों ने बड़ा सुन्दर किया है। कुछ लोकोक्तियाँ हैं :—

१—मार कै कीर भात मो आता

२—जो जेहि कै जस लिखा लिलारा

३—दिवस चार की चांदनी, फिर अंधियारी रात

४—तिय बिन घर नाहिन बनै,
ज्यों मोती बिन सीप।

सूफी कवियों की इन सामान्य विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेने के उपरांत यह प्रश्न उठता है कि इन्हें सफल महाकाव्य कहा जाये अथवा नहीं ! मसनवी शैली के ग्रहण, ऐतिहासिक कथानकों के अभाव, नायकों की चंचल एवं नारी लोभी प्रकृति के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रेमाख्यानों को इतने उच्च गौरव पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। किन्तु आज की आलोचना दृष्टि महाकाव्य में युग जीवन के सद्भाव को अत्यन्त आवश्यक तत्त्व मानती है। आज का आलोचक कवि और युग के पारस्परिक सम्बन्ध की दृढ़ता परखता है। सूफी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की साहित्यिक परम्परा को अक्षुण्ण रखा अपने समाज की मान्यताओं, उसके रीति रिवाजों और विश्वासों को वाणी दी। अतः इनका हिन्दी साहित्य में निश्चित रूप में श्रेष्ठ स्थान है। डा० सरला शुक्ला ने) सूफी प्रेमाख्यानों की तुलना योरुप की सुखान्त धार्मिक कथाओं (Religious Qmedies से की है। सम्भव है अपने युग में इन प्रमाख्यानों का मूल्य मात्र धार्मिक कारणों से ही रहा हो। किन्तु आज इनकी महत्ता युग जीवन से एकांग हो जाने के कारण है। ये प्रेमाख्यान मध्य युग का आलोक स्तंभ हैं। इनकी प्रबन्ध कल्पना निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ है। इतना अवश्य है कि जान इत्यादि के कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो वस्तुतः ही इस गौरव के अधिकारी नहीं हैं।

सूफी कवियों की देन

किसी साहित्यिक ने अपने कर्तव्यों को साहित्य और साहित्य के माध्यम से मानव के प्रति कितना निभाया, इसकी नाप-जोख नहीं की जा सकती। फिर भी इतना निश्चित है कि युग प्रत्येक समर्थ कवि का ऋणी होता है।

सूफी कवियों को अपने समय के प्रति जागरूक होने का गर्व हो सकता है। इनके साहित्य की आत्मा में समन्वय व्याप्त था—दो विभिन्न संघर्षशील संस्कृतियों का समन्वय। इनकी प्रेममयी वाणी ने हिन्दुओं के घरों के गीत गाकर मुसलमानों को रिझाया और मुसलमानों के रीति-रिवाजों और विश्वासों को हिन्दुओं के घरों में पहुँचाया।

हमारी साहित्यिक मान्यताओं और परम्पराओं को सूफी प्रेमाख्यानों के माध्यम से संरक्षण प्राप्त हुआ। निर्गुण सन्तों की दृष्टि एकांकी थी, सूर-तुलसी की

दृष्टि उदार होने पर भी धार्मिक ही थी, अतः जन-जीवन का सफल चित्रण यदि मध्यकालीन साहित्य में उपलब्ध होता है तो सूफी प्रेमाख्यानों में ही।

सूफी कवियों ने हमारी लोक-कथा को और लोक-गीतों को साहित्यिक रूप प्रदान करके उनकी गौरव वृद्धि की। हमारे मध्यकालीन लोक-साहित्य के निकट जितने अधिक प्रेमाख्यान काव्य हैं उतने और कोई साहित्य नहीं हैं।

इन प्रेमाख्यानों ने हमारी लौकिक प्रेम कथाओं को ईश्वरीय प्रेम में समोकर अलौकिकता प्रदान की।

प्रेमाख्यानों की रचना अवधी, सिन्धी, पंजाबी और दक्खिनी बोली में हुई। अतः सूफी कवियों ने निश्चित रूप से इन प्रादेशिक भाषाओं को उच्च कोटि के साहित्य से समृद्ध किया।

सूफी कवियों ने दो प्रकार की सर्वथा भिन्न काव्य-शैलियों का सुन्दर समन्वय किया। भारतीय प्रबन्धकाव्य और फारसी मसनवी का अन्यतम योग किया। सूफी कवियों का अभिव्यञ्जना-कौशल इसीलिए सर्वथा नवीन है।

सूफी कवियों ने जो रूपक-काव्य (Allegory) हिन्दी में प्रस्तुत किया, भारतीय साहित्य के लिए नवीन वस्तु थी, इस काव्य-रूप ने हिन्दी भक्ति-काव्य को एक नवीन विधि का योगदान किया।

ये कवि हृदय के धनी और वाणी के मधु थे। इनके नयन और श्रवण जन-जन के मन में थे और मन ईश्वर में था। "नश्वर स्वर" से इन्होंने "अनश्वर स्वरों" की सृष्टि की है।

पद्मावत की ऐतिहासिकता

भारतीय काव्य-शास्त्र में महाकाव्य की कथावस्तु के लिए निर्देश है कि वह ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आख्यान पर आधृत होनी चाहिये। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी राष्ट्रीय इतिहास (National History) अथवा राष्ट्रीय दन्तकथाओं (National Legends) से कथा ग्रहण करने पर बल दिया गया है। आचार्यों ने इस प्रकार का निर्देश सम्भवतः साहित्य के शिव पक्ष को दृष्टि में रखकर ही किया है। इतिहास जाति की वस्तुस्थिति का अंकन है, उसके गौरव का आगार है। अतः इतिहास से कथायें ग्रहण करने से कवि राष्ट्रीय गौरव, जातीय भावनाओं का गान करेगा, यह सहज ही है। यही कारण है कि महान् कविता सदैव जन-जीवन, बहुधा उसके अतीत से सम्बद्ध रहती है। विश्व का कोई महाकाव्य बिना राष्ट्र के अतीत अथवा राष्ट्र की जन-कथाओं को आधार बनाये नहीं लिखा गया। हिन्दी साहित्य में आदि से अन्त तक ऐसे महाकाव्य और खण्ड काव्य बहुत कम हैं जो शुद्ध काल्पनिक आधार को ग्रहण करके लिखे गये हों।

"पद्मावत" की ऐतिहासिकता पर विचार करने पर सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि

क्या "पद्मावत" इतिहास पर आधृ . महाकाव्य है ? पद्मावत ऐतिहासिक भित्ति पर स्थित है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। वस्तुतः यह निश्चय करना सुगम भी नहीं है।

पद्मावत के मुख्य पात्र रत्नसेन, अलाउद्दीन और पद्मावती हैं। पद्मावत की कथा राजस्थान के इतिहास से सम्बन्ध रखती है तथा राजस्थान के इतिहास में तथा राजस्थान के इतिहास से सम्बद्ध अन्य कृतियों में इस घटना के और रत्नसेन-अलाउद्दीन के संकेत मिलते हैं। रत्नसिंह और अलाउद्दीन के नाम का उल्लेख प्रायः सभी प्रमुख इतिहास ग्रन्थों में मिलता है। Col. Todd ने 'रत्नसिंह' नाम के स्थान पर "भीमसिंह" अथवा "भीमसी" नाम दिया है। "आईने अकबरी" और "तारीखे फरिश्ता" उस काल के प्रामाणिक इतिहास हैं और अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर चढ़ाई करने, पदमिनी के दर्शन का हठ और छल से रत्नसिंह को कैद करने की घटना की पुष्टि इन इतिहासों से हो जाती है। अतः इतना निश्चित है कि पद्मावत का आधार मूलतः ऐतिहासिक है, यह प्रश्न दूसरा है कि उसमें शुद्ध इतिहास कितना है और कल्पना का मिश्रण किस सीमा तक है। यदि काव्य शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो कहना होगा कि पद्मावत की कथा में "ख्यात" अंश कितना है और कवि कल्पना से उद्भूत "उत्पाद्य" अंश कितना है। प्रमुख पात्रों और प्रमुख घटनाओं को लेकर इसका निर्णय करने का प्रयत्न किया जायेगा।

रत्नसेन—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि रत्नसेन नाम कल्पित नहीं है।[१] Col. Todd ने 'राजस्थान' नामक इतिहास ग्रंथ में लिखा है—"वि॰ सं॰ १३३१ में लखमसी चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा। उसके बालक होने के कारण उसका चाचा भीमसी उसका रक्षक बना। भीमसी ने सिंहलद्वीप के राजा हम्मीरसिंह चौहान की पुत्री पद्मिनी से विवाह किया जो बड़ी ही रूपवती और गुणवती थी—....।[२] अतः Todd के अनुसार चित्तौड़ के राजा का नाम रत्नसी अथवा रत्नसिंह न होकर 'भीमसी' अथवा 'भीमसिंह' था।

अकबर के इतिहासकार अबुल फजल के आईने अकबरी में 'रत्नसी' नाम ही है 'भीमसी' नहीं। मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीखे फरिश्ता' में, जो पद्मावत की रचना के लगभग ७० वर्ष पश्चात् लिखी गई, रत्नसेन नाम दिया है:—

"इस समय चित्तौड़ का राजा राय रत्नसेन जो सुल्तान ने जब उसका किला छीना, तब से कैद था, अद्भुत रीति से भाग गया।"[३] श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने चित्तौड़ के राजा का नाम रत्नसिंह दिया है—

"......वहाँ (चित्तौड़) का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि कई

१. जायसी ग्रन्थावली : भूमिका (चतुर्थ संस्करण) पृ॰ २४।

२. टाड : राजस्थान जिल्द १ पृष्ठ ३०७।

३. जयपुर राज्य का इतिहास प्रथम जिल्द पृष्ठ १६१।

सामन्तों सहित मारा गया'' १

इस प्रकार यह इतिहास प्रसिद्ध है कि चित्तौड़ का राजा रत्नसिंह था जिसका उल्लेख जायसी ने 'रत्नसेन' नाम से किया है।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन के इतिहास-सम्मत व्यक्ति होने में किसी भी प्रकार की शंका को कोई स्थान नहीं है।

अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण—अलाउद्दीन ने सन् १३०३ ईस्वी में चित्तौड़ पर आक्रमण किया, इसका उल्लेख सभी इतिहासों में मिलता है। किन्तु अलाउद्दीन के आक्रमण का पद्मिनी के रूप सौंदर्य के साथ कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आईने अकबरी और 'तारीखे फरिश्ता' में पद्मिनी के रूप सौंदर्य पर अलाउद्दीन के मुग्ध हो जाने और इस कारण आक्रमण करने की कथा का विवरण प्रायः वैसा ही है जैसा कि पद्मावत में मिलता है। Col. Todd के विवरण से भी पद्मावत की घटनाओं की पुष्टि होती है, विशेषतः युद्ध की घटना की। ये दोनों इतिहास पद्मावत की रचना के पश्चात् लिखे गये, अतः विद्वानों का अनुमान है कि इन इतिहासों के लेखक पद्मावत के प्रभाव से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाये और उन्होंने 'पद्मावत' के विवरण को ही प्रामाणिक इतिहास मान लिया है। प्रो० शिव सहाय पाठक का कथन है कि अलाउद्दीन के राजकीय इतिहासकार अमीर खुसरो ने, जो चित्तौड़ की चढ़ाई के समय सुल्तान के साथ था, पद्मिनी के नाम तक का उल्लेख नही किया। इस कारण पद्मिनी की कथा, विशेषतः अलाउद्दीन द्वारा पद्मिनी को देखने का हठ करने की घटना कल्पित जान पड़ती है।२

यदि प्रो० शिव सहाय पाठक की बात को सत्य मान लिया जाय तो यह सिद्ध हो जाता है कि पद्मावत की प्रमुख घटना युद्ध का आधार इतिहास नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि यदि यह घटना इतिहास नहीं है तो राजस्थान के लोक साहित्य में प्रचलित कैसे हुई। यदि खुसरो ने पद्मिनी के नाम का उल्लेख नहीं किया तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि पद्मिनी का अस्तित्व ही नहीं। वस्तुतः पद्मिनी की कथा को राजस्थान के लोक साहित्य में आज तक ऐतिहासिक सत्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। और फिर आईने अकबरी और फरिश्ता के इतिहास से इसकी पुष्टि भी होती है। अतः पद्मिनी अथवा पद्मावती नाम को ऐतिहासिक मानना ही अधिक सम्यक् प्रतीत होता है।

प्रमुख पात्रों और प्रमुख घटना के इतिहास-सम्मत होने पर भी पद्मावत दृढ़ ऐतिहासिक आधार पर स्थित ग्रन्थ नहीं है। उसमें कल्पना का इतना अधिक मिश्रण है कि आलोचक उसे ऐतिहासिक विशेषण से विभूषित करने में असमर्थ हैं। पद्मावत का पूर्वार्द्ध शुद्ध काल्पनिक भित्ति पर आश्रित है। पूर्वार्द्ध की प्रमुख घटना रत्नसेन की पद्मावती के प्रेम में आकृष्ट

---

१. जयपुर राज्य का इतिहास प्रथम जिल्द पृष्ठ १६१।

२. देखिये पद्मावत का काव्य सौंदर्य पृष्ठ १६।

हो कर सिंहल जाने की कथा है। सिंहल द्वीप के विषय में कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह राजस्थान का 'संगली' प्रदेश है—किन्तु यह कोरी कल्पना है, जिसका आधार 'सिंहल' और 'सिंगली' की नामगत समानता है। सिंहल यात्रा की रूढ़ि वस्तुतः भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों में इस रूढ़ि का लगभग एकसा रूप मिलता है। इतना ही नहीं, पद्मावत की उल्लिखित समुद्र यात्रा, रत्नसेन की सिंहल से वापसी पर समुद्र में उन पर आपत्ति आना तथा दैवी सहायता इत्यादि घटनाओं का प्रायः ऐसा ही रूप पद्मावत के पूर्वकालीन साहित्य में उपलब्ध होता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पद्मावत का पूर्वार्द्ध लोक कथाओं पर, भारतीय साहित्य में बहुत दिनों से प्रचलित लोक साहित्य की रूढ़ियों पर आधृत है।

पद्मावत के उत्तरार्द्ध को लेकर ही उसकी ऐतिहासिक का प्रश्न उठाया जा सकता है। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है पद्मावत के प्रमुख पात्रों और उत्तरार्द्ध की प्रमुख घटना—रत्नसेन-अलाउद्दीन युद्ध—के विषय में प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों में संकेत मिलते हैं। किन्तु पद्मावत में उल्लिखित सभी तथ्यों की पुष्टि इतिहास से नहीं होती। जायसी ने लिखा है कि अलाउद्दीन आठ वर्ष तक चित्तौड़ का घेरा डाले पड़ा रहा—

"आठ बरिस गढ़ छेंका अहा
धनि सुलतान कि राजा महा"

किन्तु इस सम्बन्ध में श्री गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा का कथन है—

"...............१३०३ ई० में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था। छः मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया।" १

रत्नसेन की मृत्यु मुसलमान सेनाओं द्वारा न होकर देवपाल के हाथों हुई, यह बात भी इतिहास सिद्ध नहीं है। अलाउद्दीन के नियन्त्रण से रत्नसेन के भाग जाने के तथ्य पर भी सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता। इतने शक्तिशाली सम्राट् के बन्धन से रत्नसेन इस प्रकार छुटकारा कदापि न पा सका होगा। इन सब बातों का निरीक्षण करने से यही परिलक्षित होता है कि पद्मावत में ऐतिहासिकता के नाम पर कुछ विशेष उल्लेख करने योग्य नहीं है। वस्तुतः ऐतिहासिकता का विश्लेषण करते समय पद्मावत की कथावस्तु और उसके पात्रों के तीन भाग किये जा सकते हैं—

१. **अर्द्ध-ऐतिहासिक**—रत्नसेन, पद्मावती, अलाउद्दीन, युद्ध आदि।

२. **काल्पनिक**—देवपाल, राघवचेतन, देवपाल-रत्नसेन युद्ध इत्यादि।

३. **लोक कथाओं, जनरूढ़ियों पर आश्रित**—पूर्वार्द्ध की अधिकांश घटनाएं, सिंहल देश, सात समुद्र आदि।

१. उदयपुर राज्य का इतिहास—श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा। प्रथम जिल्द पृ० १८७।

पद्मावत के प्रमुख पात्रों और प्रमुख घटना को हमने जान-बूझ कर अर्ध-ऐतिहासिक कहा है। अवध प्रान्त में प्रचलित "पद्मावती रानी और हीरामन सुग्गे की कथा" और चित्तौड़ के जौहर करके प्राणाहुति देने वाली पद्मिनी रानी की कथा को जायसी ने संपृक्त कर दिया है, अतः इस कथा को पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मावत की कथा में ख्यात अंश, अथवा ऐसा अंश जिसका ग्रहण कवि ने इतिहास से यथावत् किया है, नाम मात्र का है। रत्नसेन, पद्मावती, अलाउद्दीन इन तीन पात्रों और रत्नसेन-अलाउद्दीन-युद्ध की घटना को ही किंचित निर्बल अर्थ में इतिहास-सिद्ध कहा जा सकता है। पद्मावत का अधिकांश इतिहास पुष्ट न होकर कवि कल्पना पर आश्रित अथवा उत्पाद्य है। श्री ओझा ने इस कथा को कवि-कल्पना माना है, वह बहुत अंशों तक उचित है।

जायसी का उद्देश्य कथा को ऐतिहासिकता का पुट दे देना मात्र प्रतीत होता है। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि पद्मिनी की कथा राजस्थान के लोक साहित्य में बहुत दिनों से प्रचलित रही होगी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि साहित्य में भी यही कथा जायसी से पूर्व भी स्थान पा चुकी थी। डा० रामसिंह तोमर का कथन है कि प्राकृत की "रयण सेहरनरवइ" कथा पद्मावत की कथा से बहुत मिलती जुलती है।१ यह कथा विक्रमी १५ वीं में लिखी गई। पद्मावत से यह बहुत कम भिन्नता रखती है। सम्भवतः इसका "रत्नशेखर" ही जायसी का रत्नसेन है। इसकी नायिका का नाम पद्मावती के स्थान पर रत्नावली है। इसका समाधान करते हुए डा० शम्भुनाथ सिंह लिखते हैं, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नावली नाटिका की रत्नावली और "लीलावट ? कहा" की लीलावती, ये दोनों नाम मिल कर रत्नशेखर-नरपति कथा में रत्नावली हो गये हैं और चित्तौड़ की पद्मिनी को उससे मिला कर और स्वप्नवासवदत्ता आदि के पद्मावती नाम का संस्कार होने से जायसी ने "रत्नावली" को बदल कर "पदमावती" कर दिया है। रत्नशेखर का नाम चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह के नाम से मिलते ही जायसी के सामने पूरी कहानी का ढांचा अपने आप खड़ा हो गया होगा। 'पद्मावती रानी और हीरामन सुआ' नामक लोक कथा को भी उन्होंने आधार बनाया होगा। यह भी हो सकता है कि एक ही मूल स्रोत (लोक कथा) के आधार पर इन दोनों ग्रंथों की कथा निर्मित हुई हो।"२

इस प्रकार मूलतः यह लोक कथा ही है जिस पर पद्मावत से पूर्व भी रचना हो चुकी थी। किन्तु जायसी ने लोक कथा के साथ ही साथ इसमें ऐतिहासिकता का छौंक दे देया है। ऐसा सम्भवतः यश लोभ से किया गया है—सम्भवतः जायसी ने लोकप्रियता के लोभ से अपनी कथा में ऐतिहासिकता का समावेश किया है। यह ऐतिहासिकता नाम मात्र

१. देखिये हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भुनाथ सिंह—पद्मावत प्रकरण पृष्ठ ४२७।

२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भुनाथ सिंह पृष्ठ ४२७।

की है—जैसा कि हमने ऊपर देखा। कारण कि जायसी ने ऐतिहासिक तथ्यों को अत्यधिक तोड़-मरोड़ दिया है। एक ओर अलाउद्दीन जैसा प्रतापी राजा चित्तौड़ को आठ वर्ष तक विजय करने में असमर्थ रहता है, दूसरी ओर रत्नसेन की मृत्यु भी उसके हाथों नहीं होती। अलाउद्दीन को पद्मावती के रूप पर आसक्त करने के लिए राघवचेतन की कल्पना की गई है यद्यपि इतिहास में पद्मिनी के रूप पर अलाउद्दीन की आसक्ति अथवा राघवचेतन का कहीं उल्लेख नहीं है। अतः जायसी द्वारा यह कल्पना मूलतः कथावस्तु के किन्हीं उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिए की गई है। जायसी का उद्देश्य है सूफी सिद्धान्तों की, प्रेम की पीर की व्यंजना करना। इसलिए वे रत्नसेन और पद्मावती के मध्य अलाउद्दीन को ला खड़ा करते हैं। इस स्थल पर दो प्रश्न पाठक के सामने आते हैं—

१. यदि रत्नसेन जीव है और पद्मावती ब्रह्म और इन दोनों का विवाह अर्थात् मिलन हो चुका है तो मिलने के पश्चात् शैतान के व्यवधान का क्या कारण है उसका क्या औचित्य है ?

२. शैतान के प्रतीक की योजना के लिए जायसी ने अलाउद्दीन को ही क्यों चुना, किसी अन्य व्यक्ति को क्यों नहीं ?

प्रथम प्रश्न का उत्तर सरल एवं स्पष्ट है। साधक साधना मार्ग की अनेक कठिनाइयों को पार कर ब्रह्म की प्राप्ति करता है—अन्तिम कठिनाई अथवा व्यवधान जो कि सबसे बड़ा व्यवधान भी है, शैतान है। जब तक साधक शैतान से पार नहीं पाता, तब तक ब्रह्म की पूर्ण अनुभूति उसे नहीं होती। अलाउद्दीन के व्यवधान को रत्नसेन और पद्मावती दोनों ही इस संसार की लीलाओं से पार हो कर पार करते हैं।

"दीपक प्रीति पतंग ज्यों जनम निबाह करेउं,
नेछावरि चहुं पास होइ, कंठ लागि जिय देउं।।"

तथा—

"राती पिय के नेह गई, सरग भयउ रतनार।"

और तब अलाउद्दीन अर्थात् शैतान के हाथ क्या लगा :—

'छार उठाइ लीन्हि इक मूठी।
दीन्हि उड़ाइ पिरथिमी झूठी।।"—अर्थात् रत्नसेन

औरपद्मिनी का इस पृथ्वी का लौकिक प्रेम तो झूठा था, वास्तव में उनका सच्चा मिलन तो अब हुआ है।

अलाउद्दीन को जायसी ने मार्ग की बाधा के रूप में चित्रित किया है। इसके विषय में अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः जायसी ने अपने जीवन में मुसलमान राजाओं के रूपलोभ की कथाएं सुनी होंगी। रासो काव्यों में तो युद्ध का प्रमुख कारण ही रूप लोभ है, यह भी हो सकता है कि उस जानकारी का संस्कार होने के कारण जायसी ने उसका

आरोप अलाउद्दीन पर कर दिया हो। अधिक सम्यक यह जान पड़ता है कि जायसी ने मुसलमान सुलतानों की नारी सौंदर्य से लुब्ध होकर आक्रमण करने की घटनाएं सुनी होंगी। अलाउद्दीन का आक्रमण काल १३०३-१३०४ ईस्वी है और पद्मावत का रचना काल, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के पाठ के अनुसार १५४० ईस्वी है। इस शताब्दियों की अवधि में अनेक ऐसी घटनाएँ हुई होंगी—उन्हीं में से किसी का आरोप जायसी ने अलाउद्दीन पर कर दिया होगा।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि कवि ने इतिहास के साथ पूर्ण स्वतन्त्रता बरती है। वह ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तित करने में जरा भी नहीं हिचकिचाया, कारण कि उसका प्रमुख उद्देश्य इतिहास अथवा इतिहास-कथा कहना नहीं है, वरन् काव्य रचना है। द्रष्टव्य तो यह है कि इस तोड़ मरोड़ से ही कवि ने अपनी रचना के काव्य सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है। वस्तुतः पद्मावत का सौंदर्य ही इतिहास ग्रन्थ न हो कर इतिहासाभास-पूर्ण काव्य-ग्रंथ होने में है। पद्मावत की लोकप्रियता इस नाम मात्र की ऐतिहासिकता का समावेश कर देने के कारण ही है। कोई अन्य प्रेमाख्यानक काव्य इतना लोक प्रिय नहीं हुआ जितना कि पद्मावत। कारण कि पद्मावत काव्य ग्रन्थ होने के साथ ही साथ इतिहास का छोर पकड़े हुए है। पद्मावत की लोकप्रियता का ही परिणाम है कि उसे इतिहास की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है और लोग ऐतिहासिक तथ्यों का शोध भी इतिहास में न करके पद्मावत में ही करते हैं। आज यह सर्वमान्यसी धारणा है कि टॉड, फरिश्ता और आईने अकबरी तीनों के अलाउद्दीन सम्बन्धी विवरण पद्मावत पर आश्रित हैं। साहित्य के क्षेत्र में ऐसी अराजकता चाहे दूषित ही है किन्तु यह तथ्य पद्मावत की लोकप्रियता की ओर अवश्य संकेत करता है। दोष भी रचनाकार का नहीं, रचना का पाठन करने वालों का है। कवि ने तो अपनी दृष्टि काव्य सौंदर्य पर ही केन्द्रित की है और इतिहास को काव्य के अनुसार ढाल दिया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कतिपय तथ्यों (Facts) के सम्मिश्रण से पद्मावत के कल्पना तत्व (Fiction) के सौंदर्य की किस सीमा तक अभिवृद्धि हुई है, इस तथ्य का निरीक्षण किया जाये, न कि मात्र ऐतिहासिक तथ्यों के शोध का। दूसरे की अपेक्षा पहला कार्य ही अधिक महत्वपूर्ण एवं श्रेयस्कर है। कवि के सृजन श्रम का मूल्य भी तभी आंका जा सकता है।

पद्मावत का महाकाव्यत्व

भारतीय काव्य शास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों का विस्तार से विवेचन किया गया है। सामान्यतया आचार्य विश्वनाथ कृत लक्षण ही सर्वमान्य हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य के लक्षण निम्नलिखित हैं :—

सर्ग बंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सदंशं क्षत्रियो वा पि धीरोदात्त गुणान्वितः॥

एक वंश भवा भूपाः कुल जा वह वोपि वा ।
शृंगार वीरं शान्त नामेको ङ्गी रस इष्यते ।।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जना श्रयम् ।।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलम् भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा ।।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुण वर्णनम् ।
एकेवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्त कैः ।।
नास्ति स्वल्पा नास्ति दीर्घाः सर्गा अष्टादिकारह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।।
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत ।
संध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोषं ध्वान्त वासराः ।।
प्रातर्मध्यान्ह मृगया शैलर्त्तुवन सागराः ।
सम्भोग विप्रलंभौ चं मुनि स्वर्ग पुराध्वराः ।।
रण प्रयाणोपयम मंत्र पुत्रो दयादयः ।
वर्णनीया यथा योगं सांगोपांगा अभी इहः ।।
कवेर्वृत्तस्य वा ना ना नायकस्ये तरस्य वा ।
नामास्य संगोपादेय कथया सर्ग नाम तु ।।"

अर्थात् संक्षेप में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—यह सर्गों में बंधा हुआ होता है ।

२—इसमें एक नायक रहता है जो देवता या धीरोदात्त गुणों से समन्वित उच्च वंश का क्षत्रिय होता है ।

३—शृंगार, वीर, शान्त इन तीनों रसों में से कोई एक सा रस अंगी रूप में रहता है। नाटक की सब सन्धियां इसमें रहती हैं ।

४—महाकाव्य का वृतान्त इतिहास प्रसिद्ध होता है या सज्जनाश्रित ।

५—इसमें मङ्गलाचरण और वस्तु निर्देश होता है ।

६—कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुण कीर्तन होता है ।

७—एक सर्ग में एक ही छन्द रहता है और अन्त में वह बदल जाता है । सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है । कम से कम आठ सर्ग होने चाहियें ।

८—इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, अभ्युदय आदि विषयों का वर्णन रहता है ।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र के अनुसार महाकाव्य (Eicp) के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार हैं १

१—महाकाव्य एक प्रकथन प्रधान (Narrative) विशालकाय काव्य रचना है।

२—इसमें जातीय भाव की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नहीं, इसीलिए इसमें प्रायः कोई जातीय संघर्ष भी दिखाया जाता है।

३—इसका विषय परंपरा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है।

४—महाकाव्य के पात्र शौर्य गुण प्रधान होते हैं। उनका सम्पर्क देवताओं से भी रहता है। उनके कार्यों की दिशा निर्धारित करने में देवताओं और नियति का हाथ रहता है।

५—इसमें नायक को लेकर सारी कथा एक सूत्र में बँधी रहती है।

६—शैली में एक विशेष प्रकार की शालीनता और उत्कृष्टता रहती है।

७—इसमें एक ही छन्द का प्रयोग रहता है।

इन तत्वों के आधार पर पद्मावत के महाकाव्यत्व की विवेचना करनी चाहिये। स्थूल दृष्टि से देखने पर महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह 'पद्मावत' में हो जाता है।

१—पद्मावत सर्गबद्ध काव्य न होकर खण्डबध्य काव्य है। वस्तुतः सर्ग और खण्ड में कोई मौलिक भेद नहीं है, इतना अवश्य है कि सर्ग विभाजन करते समय विभिन्न सर्गों के आपसी परिमाण का ध्यान रक्खा जाता है, किन्तु पद्मावत में खण्ड विभाजन करते समय कवि ने घटनाओं के अनुसार ही खण्डों का नामकरण कर दिया है। जैसे रत्नसेन जन्म खण्ड, रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड, राजा बादशाह युद्ध खण्ड इत्यादि। फलतः खण्डों का कलेवर भी घटनाओं के परिमाण के अनुसार बढ़ता घटता गया है।

२—पद्मावत का नायक रत्नसेन उच्चकुल संभूत क्षत्रिय राजा हैः—

"जम्बू दीप चितउर देसा
चित्रसेन बड़ तहाँ नरेसा
रत्नसेन यह ताकर बेटा
कुल चौहान जाइ नहिं मेटा।"

रत्नसेन दृढ़ निश्चय, स्थिर एवं साहसी व्यक्ति है। वह शूरवीर भी है और क्षमावान भी, उसमें जातीय गौरव भी है और विनयशीलता भी. पद्मावती के प्रति उसका प्रेम निश्छल एवं दृढ़ प्रेम है। समुद्र यात्रा पर जाते समय राजा गजपति से रत्नसेन कहता है कि यदि मैं जीता रहा तो पद्मावती को लेकर ही लौटूंगा और यदि मेरी मृत्यु हुई तो भी उसी के द्वार पर होगी।

"जा रे जियौं बहुरौं मरौं तो ओहिके वार।"

---

१. "काव्य के रूप"— बा० गुलाबराय—पृष्ठ ९१।

इसी प्रकार स्थल-स्थल पर रत्नसेन के अन्य उदात्त एवं सामान्येतर गुणों का परिचय मिलता है। सामान्यतया रत्नसेन के चरित्र में कोई अवगुण नहीं है फिर भी कुछ स्थलों पर उनके चरित्र की निर्बलता दिखाई पड़ जाती है। "राजा रत्नसेन सती खण्ड" के अन्तर्गत रत्नसेन का पद्मावती के अभाव में जल मरने को उद्यत होना रत्नसेन में धैर्य के अभाव को सिद्ध करता है। महाकाव्य के नायक को यह आतुरता, नारी का इतना प्रबल मोह शोभा नहीं देता।

३—शृङ्गार पद्मावती का अंगी रस है—शृङ्गार में दोनों पक्ष—संयोग पक्ष एवं वियोग पक्ष पद्मावत में पराकाष्ठा से चित्रित हैं। इनमें भी यदि प्रमुखता के प्रश्न को लिया जाय तो यह निर्णय सहज नहीं है कि संयोग प्रमुख है अथवा वियोग। यद्यपि काव्यात्मक उत्कर्ष जितना वियोग के चित्रण में है, उतना संयोग के चित्रण में नहीं।

शृङ्गार रस के साथ-साथ पद्मावत से वीर रस का भी सुन्दर अंकन हुआ है। शृङ्गार के पश्चात् सर्वाधिक परिपाक वीररस का ही है। वीर के मूल में भी शृङ्गार भावना ही है। युद्ध का मूल कारण, पृथ्वीराज रासो इत्यादि की भांति पद्मावत में भी नारी सौंदर्य ही है।

पद्मावत की कथावस्तु में नाटक की सन्धियाँ वर्तमान हैं। कवि ने सप्रयास कथा को नाटकीय रंग देकर संधियों का समावेश नहीं किया किन्तु फिर भी, कथा की गति सरल होने के कारण, नाटक की संधियों को खोजा जा सकता है।

४—पद्मावत का कथानक पूर्णतः इतिहास पर आधृत नहीं है—किन्तु वह सर्वथा काल्पनिक भी नहीं है। वस्तुतः जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, पद्मावत में, विशेषतः उसके नायक रत्नसेन में, पृथ्वीराज रासो के पृथ्वीराज की भांति फैक्ट्स और फिक्शन —तथ्य और कल्पना—का अद्भुत योग हुआ है।[१] पद्मावत में इतिहास तो नाम मात्र का है किन्तु यह कथा लोक प्रसिद्ध अर्थात् ख्यात कथा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जायसी से पूर्व १४६७ विक्रमी में पाठक राजवल्लभ ने इसी कथा को लेकर संस्कृत में रचना की थी। डा० रामसिंह तोमर का कहना है कि प्राकृति के ग्रन्थ "रयण सेहर-नरवइ कहा" में भी यही कथानक लिया गया है।[२] अतः पद्मावत का कथानक लोकप्रसिद्ध जनकथानक है, इतना निश्चित है।

५—पद्मावत के आरम्भ में ईश्वर स्तुति है—

"संवरौ आदि एक करतारू
जे इ जीउ दोन्ह कान्ह सँसारू।" इत्यादि

स्तुति खण्ड के अन्तिम छन्द में वस्तु निर्देश भी है—

"सिंघल दीप पद्मिनी रानी
रतनसेन चितउर गढ़ आनी।

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल—डा० द्विवेदी पृष्ठ ७०—७१।
२. द्रष्टव्य : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भुनाथसिंह पृष्ठ ४२७।

अलाउद्दी ढिल्ली सुलतानू
राघौ चेतन कीन्ह बखानू।

\+ + +

आदि अन्त जस कथ्था अहैं,
लिखि भाषा चौपाई कहै॥"इत्यादि

६—पद्मावत में विशेष रूप से दुर्जन निन्दा अथवा सज्जन प्रशंसा नहीं है। हमारा अभिप्राय उस प्रकार की व्यवस्थित एवं विस्तृत तथा सोद्देश्य दुर्जन निन्दा और सज्जन प्रशंसा से है, जैसी कि रामचरितमानस में उपलब्ध होती है।

७—पद्मावत आदि से अन्त तक एक ही छन्द चौपाई में लिखा गया है तथा प्रत्येक ७ चौपाई के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है।

प्रत्येक सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की सूचना अनिवार्यतः नहीं दी गई है। पद्मावत खण्डों में विभाजित है और एक खण्ड से समग्र प्रभाव के रूप में दूसरे खण्ड की कथा का आभास तो मिलता है किन्तु विधवत भावी खण्ड की घटनावलि को सूचित नहीं किया गया।

पद्मावत में ५८ खंड हैं। इतनी बड़ी खंड संख्या का कारण है कथा की छोटी से छोटी घटना पर भी तत्सम्बन्धी शीर्षक देना।

८—पद्मावत में दिन के विभिन्न प्रहरों, प्रकृति के अनेक दृश्यों और मनुष्य के नाना क्रियाकलापों का वर्णन मिलता है, इसका दर्शन हम वर्णनात्मकता के प्रसंग में कर चुके हैं।

भारतीय लक्षणों के अतिरिक्त पद्मावत में पाश्चात्य काव्य शास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षण भी प्राप्त होते हैं—

१—पद्मावत एक विशालकाय काव्य है—इसकी कथा ५८ खण्डों अथवा ५५३ छंदों में वर्णित है।

२—पद्मावत का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का गौरवगान नहीं है। आध्यात्मिक अथवा अलौकिक स्तर पर उसका उद्देश्य साधक समुदाय की साध्य को प्राप्त करने तक की साधना का अंकन करना है, लौकिक एवं ऐतिहासिक स्तर पर उसका उद्देश्य मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं की राष्ट्रीय भावना का चित्रण करना है। उदाहरणार्थ चित्तौड़ को सब हिन्दू राजा अपनी "माता" कहते हैं:—

"है चितउर हिन्दुन्ह कै माता
गाढ़ परे तजि जाइ न नाता।"

और सब हिन्दू राजा सामूहिक रूप से चित्तौड़ के लिये लड़ मरने को तैयार हैं:—

"पुनि हम जाइ मरहिं ओहि ठाऊं
मेटि न जाइ लाज सो नाऊं।"

यद्यपि जातीयता का प्रश्न पद्मावत में गौण रूप से ही आया है, किन्तु अपने स्थान पर इसका भी महत्व है।

३—पद्मावत का विषय परम्परा से चली आ रही लोकप्रिय जनकथा को काव्य रूप देना है, ऐसा हम ऊपर कह आये हैं।

४—पद्मावत के नायक और प्रतिनायक में शौर्य गुण के दर्शन होते हैं। अलाउद्दीन को जायसी ने "जग सूरू" कहा है। रत्नसेन का शौर्य भी रत्नसेन-अलाउद्दीन युद्ध तथा रत्नसेन-देवपाल युद्ध में व्यंजित है।

पद्मावत नायक और नायिका के कार्य-कलापों में, पद्मावत के पूर्वार्द्ध में देवता का भी हाथ दिखाया गया है। रत्नसेन को सती होने से रोकने के लिये शिवजी और पार्वती वेश परिवर्तित करके आते हैं रतनसेन को सिंहल गढ़ का रहस्य शिवजी से ही प्राप्त होता है, "गढ़ अरु बांक जैस तोर काया" इत्यादि। रत्नसेन और पद्मावती की सिंहल से चित्तौड़ की यात्रा में भी समुद्र में दैवी शक्ति ही राक्षस के पंजे से उनको छुड़ाती है। इस प्रकार घटना-चक्र में दवी शक्तियों का यथेष्ठ हाथ है।

५—पद्मावत की कथा सामान्यतया नायक रत्नसेन के चारों ओर एक सूत्रता में बद्ध है। किन्तु अनेक स्थलों पर पद्मावती ही कथा का मुख्य केन्द्र बन गई है यथा—उत्तरार्ध के 'पद्मावती रूप चर्चा खण्ड' में पूर्वार्द्ध के 'मानसरोदक खण्ड' में। अतः पद्मावती की कथा दृढ़ अर्थ में नायक को लेकर एक सूत्र में बद्ध नहीं है, हाँ यदि नायक के अन्तर्गत नायिका का भी (प्रमुख पात्र होने के कारण) अन्तर्भाव कर लिया जाय तो पद्मावत की एक सूत्रता पूर्ण कही जायेगी।

६—शैली की दृष्टि से पद्मावत भव्य एवं उदात्त कृति है। इसकी शैली विचित्र भावों एवं नाना दृश्यों के चित्रण में समर्थ एवं प्रवाह युक्त है। महाकाव्योचित गरिमा पद्मावत की शैली में विद्यमान है।

७—पद्मावत में आदि से अन्त तक एक ही छंद-चौपाई का प्रयोग है। कवि ने ७ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा है।

महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण वस्तुतः अमर काव्य की परीक्षा के लिए उपयुक्त कसौटी नहीं हैं। प्रत्येक महान् कृति में ये सभी लक्षण अनिवार्यतः उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणतया मङ्गलाचरण को ही लीजियेः—कालिदास के 'कुमारसंभव' में मङ्गलाचरण का अभाव है। हरिऔध जी का 'प्रिय प्रवास' और प्रसाद जी के 'कामायनी' के विषय में भी यही सत्य है। किन्तु मङ्गलाचरण का विधान न होने से ही इन काव्यों के अमरत्व पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार आठ से अधिक सर्गों की योजना का निर्देश भी सभी महाकाव्यों में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित नहीं है। रामचरितमानस में केवल सात ही कांड हैं, फिर भी रामचरितमानस अद्वितीय महाकाव्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय काव्य शास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षण वास्तव में महाकाव्य के

बाह्य परिवेश के विषय में ही संकेत देते हैं, उसके अन्तर तत्व के विषय में नहीं। महाकाव्य को महाकाव्यत्व प्रदान करने वाले उसके ये शरीर संस्थान अथवा बाह्य लक्षण नहीं वरन् उसका आन्तरिक गौरव है। नायक और रस का निर्देश करने में अवश्य भारतीय आचार्य शैली से इतर तत्व का विवेचन कर गये हैं किन्तु आज उनके सम्बन्ध में भी धारणा परिवर्तित हो गई है। उदाहरणतया कामायनी के चरम साध्य आनन्द को, जिसे कि महाकवि प्रसाद ने अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से रसत्व को प्राप्त करा दिया है, शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीनों रसों की परिधि से इतर एक उच्चतर स्थिति का आनन्द रस परिपाक माना जायगा। आज महाकाव्य नायक प्रधान ही न होकर नायिका प्रधान भी हो सकते हैं। कामायनी और साकेत, दोनों से इस बात की पुष्टि होती है। इस प्रकार यह बात सर्वथा सिद्ध है कि महाकाव्य के इन बाह्य लक्षणों का पालन न करने पर भी एकाधिक काव्य युगव्यापी और अमर सिद्ध हुए हैं, अतः महाकाव्य की महानता का मापदण्ड ये लक्षण नहीं वरन् महाकाव्य के अन्तर में व्याप्त मानव जाति के शाश्वत भावों का वह चित्रण है, जो उसे युगों युगों के लिए सभ्यता एवं संस्कृति की चिरन्तन निधि बना देता है। महाकाव्य का महत्त्व देशातीत होता है और उसका गौरव युग व्यापी। कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में महाकवि-कर्म की व्याख्या इस प्रकार है—

"जिसकी रचना के भीतर एक देश, एक समस्त युग अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को व्यस्त कर उसको मानव जाति की चिरन्तन सामग्री बना देता है, उसी कवि को महाकवि कहा जाता है।"[1]

अरस्तू आदि पाश्चात्य विचारकों ने भी महाकाव्य के लिए तीन तत्वों को आवश्यक माना है—१—Great Characters—महान पात्र, २—Great Plot—महान कथानक, ३—Great Style—उदात्त शैली। डा० शम्भुनाथ सिंह ने महाकाव्य के नवीन मानदण्ड स्थिर करते हुए उसकी रचना के लिए आठ आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है।[2]

१—महुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा।
२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व।
३—महत्कार्य और युग जीवन के विविध चित्र।
४—सुसंगठित और जीवन्त कथानक।
५—महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य चरित्र।
६—गरिमामयी उदात्त शैली।
७—प्रभावान्विति और गम्भीर रस व्यंजना।
८—अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

देखिये १. तुलसी ग्रन्थावली—भाग III में हरिऔध द्वारा लिखित "गोस्वामी तुलसीदास का महत्व।"
२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भुनाथ सिंह पृ० १०७-१२१।

इन तत्वों का भी यदि सम्गुम्फन किया जाये तो हम कह सकते हैं कि महाकाव्य में महान् पात्रों के कार्य-कलापों पर आधृत कथानक का प्रतिपादन गरिमामयी उदात्त शैली में किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिये। पद्मावत में महाकाव्यत्व की परीक्षा भी इसी दृष्टि से की जानी चाहिये।

सर्वप्रथम हम पात्रों को लेते हैं। नायक रत्नसेन के विषय में हम कह आये हैं कि वह धीरोदात्त गुण सम्पन्न पुरुष है। एकाध स्थल पर उसके चरित्र में कतिपय हेय गुणों के दर्शन होते हैं, जबकि वह पद्मावती के अभाव में सती होने को उद्यत हो उठता है। किन्तु वह भी वास्तव में उसके चरित्र की दृढ़ता को प्रकट करता है—उसके इस कृत्य से पद्मावती के प्रति उसके प्रेम की पराकाष्ठा व्यंजित होती है। पद्मावत का मूल उद्देश्य प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति करना है, अतः यदि नायक को प्रेमातुर दिखाया गया है तो यह अनुचित नहीं है। इसे नायक का चारित्रिक गुण ही समझना चाहिये।

रत्नसेन में शौर्य गुण प्रचुर मात्रा में है। जब अलाउद्दीन ने उसके पास पद्मावती को समर्पण करने के लिए सन्देश भेजा तो शूरवीर रत्नसेन अपने अभिमान की रक्षा के लिए आतुर हो गया और क्रोधावेश में उसके दूत से कहा—

"सुनि अस लिखा, उठा जरि राजा
जानहु देव तरपि घन गाजा।
का मोहि सिंघ देखावसि आई
कहौं तो सारदूर लै खाई।
भले हं सो साहि पुहुमी पति भारी।
माँग न कोइ पुरुख कै नारी।"

\+ \+ \+

"का मोहिं ते अस सूर अंगारा
चढ़ौं सरग औ परौं पतारा।"

उसका देवपाल को युद्ध के लिए ललकारना भी उसके अपूर्व शौर्य की व्यंजना करता है।

पद्मावत में स्थल-स्थल पर नायक रत्नसेन के अन्य चारित्रिक गुणों की भी व्यंजना हुई है। चरित्र चित्रण की यह परिपाटी जायसी ने अपभ्रंश के चरित काव्यों से ग्रहण की प्रतीत होती है। चरित काव्यों की यह विशेषता थी कि उनमें नायक के चरित्र की रेखाओं को उभारने की विशेष रूप से चेष्टा की जाती थी। यह स्मरण रहे कि संस्कृत में कवि का अधिक ध्यान रस व्यंजना की ओर रहता था। इस दृष्टि से चरित काव्यों ने एक नई दिशा ग्रहण की। चरित काव्य नायक के चरित्र चित्रण को विशेष महत्व देने लगे। जायसी ने भी अपने नायक की चरित्र रक्षा का ध्यान रक्खा है तथा उसमें कहीं शिथिलता नहीं आने दी। कुछ नूतन प्रसंगों की उद्भावना केवल इसीलिए की गई प्रतीत

होती है—यथा 'रत्नसेन-देवपाल युद्ध खण्ड में रत्नसेन-देवपाल युद्ध।' रत्नसेन की मृत्यु अलाउद्दीन के हाथों न दिखा कर, इतिहास के अनुसार जो कि दिखाई जानी चाहिये थी, जायसी ने हिन्दू राजा देवपाल के हाथों रत्नसेन की मृत्यु दिखाई है। ऐसा नायक की गौरव रक्षा के लिये किया गया है। शिव पार्वती द्वारा रत्नसेन की सहायता की कल्पना भी नायक को विशेष महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए की गई है। पार्वती और लक्ष्मी द्वारा रत्नसेन की परीक्षा रत्नसेन की पद्मावती के प्रति प्रेम-निष्ठा को व्यक्त करती है। अतः इन प्रसंगों की उद्भावना नायक के चरित्र को गौरव प्रदान करने के लिए की गई है और इसमें संदेह नहीं कि जायसी अपने कर्म में सफल हुए हैं।

कथानक की दृष्टि से भी पद्मावत एक सफल महाकाव्य कहा जा सकता है। पद्मावत का कथानक बड़ा बृहत् है। उसके ५८ खण्ड हैं—इन खण्डों का विभाजन घटनाओं के अनुसार किया गया है। फलतः घटनाओं के आकार प्रकार के अनुसार खण्ड भी घटते-बढ़ते गये हैं। कुछ खण्ड बहुत बड़े हैं जैसे—"राजा गढ़ छेका खंड", "गन्धर्वसेन मन्त्री खंड", "पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड" और "लक्ष्मी समुद्र खंड" इत्यादि। कुछ खंड अत्यन्त संक्षिप्त हैं, यथा—"रत्नसेन जन्म खंड", "रत्नसेन साथी खंड", "स्त्री भेद वर्णन खंड" इत्यादि। कथा का प्रवाह आरम्भ में "पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड" और उत्तरार्द्ध में "चित्तौड़ आगमन खंड" से लेकर अन्त तक विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि नागमती वियोग खंड तथा पद्मावती रूप चर्चा खंड में कथा की गति विछिन्न होती सी प्रतीत होती है, किन्तु प्रकारान्तर से इनका भी काव्य के समग्र प्रभाव को उत्पन्न करने में योग है। कथानक की दृष्टि से पद्मावत में विशेष शैथिल्य नहीं है, वरन् उसकी कथा सामान्य रूप से सुसंगठित ही कही जायेगी। फिर यह भी तो है कि महाकाव्य को हम मात्र कथा का आनन्द लेने के लिए नहीं पढ़ते। महाकाव्य के कथानक का उद्देश्य समग्र रूप से पाठक के मन में मनोवैज्ञानिक भूमिका निर्माण कर देना है ताकि पाठक महाकाव्य के उद्देश्य को ग्रहण कर सके। पद्मावत का कथानक इस दृष्टि से सफल है।

पद्मावत में घटना-चक्र के बीच अति मानवीय शक्तियों की योजना की गई है। शिव-पार्वती, लक्ष्मी, असुर इत्यादि अमानवीय तत्व नायक-नायिका के कार्यों की गति को प्रभावित करते हैं, इस कारण कथानक में कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। चरित काव्यों में भी नायक के क्रिया-कलापों के बीच अमानवीय शक्तियाँ हस्तक्षेप करती हैं। अतः जायसी ने यह प्रभाव चरित काव्यों से ही ग्रहण किया है।

शैली की दृष्टि से पद्मावत अनूठा काव्य है। पद्मावत की शैली में भारतीय और अभारतीय अथवा फारसी तत्वों का अपूर्ण सम्मिश्रण है। यह मसनवी शैली में लिखा गया काव्य है। मसनवी फारसी काव्य में छन्द की एक पद्धति विशेष है। मनसवी का साहित्यिक उपबन्ध केवल इतना है कि इस छन्द में एक पूर्ण वाक्य इस प्रकार दो भागों में विभक्त होता

है कि दोनों भागों में अन्त्यानुप्रास के गुण का समावेश हो जाता है अर्थात् दोनों भाग एक-दूसरे के बराबर (Parallel) हो जाते हैं! मसनवी का शाब्दिक अर्थ भी (Parallel) अथवा 'समान' ही है। चौपाई में भी यही विशेषता हैं अतः सूफी कवियों ने चौपाई को ही ग्रहण किया। फारसी में ५ या ७ समान तुक वाली पंक्तियों के पश्चात् बेंत अथवा 'कवित्त' से मिलते-जुलते छंद का विधान है। हिन्दी में इन कवियों ने बेंत के स्थान पर दोहे का प्रयोग किया। सम्भवतः सूफी कवियों ने चौपाई को प्रमुखता इस कारण भी दी कि आचार्य शुक्ल के अनुसार 'चौपाई' अवधी का 'अपना छन्द' है और सूफियों की रचनाएँ प्रायः सबकी सब अवधी में ही उपलब्ध होती हैं।

पद्मावत का उद्घाटन मसनवी शैली पर होता है। ईश्वरस्तुति, पैगम्बर वन्दना, गुरु वन्दना और शाहेवक्त की प्रसंशा के पश्चात् कवि कथावस्तु का निर्देश करता है। किन्तु सम्पूर्ण कथा पूर्णतः मसनवी शैली में लिखित नहीं है। फारसी के मसनवियों में काल्पनिक घटनाओं तथा अतिमानवीय कृत्यों की अधिकता रहती है और कथा बिलकुल अस्वाभाविक-सी प्रतीत होने लगती है। हिन्दी प्रेमाख्यानों में भी परवर्ती काल में काल्पनिकता का तत्व प्रमुखता ग्रहण कर गया था। किन्तु जायसी ने पद्मावत की शैली की अस्वाभाविकता से रक्षा की है। यद्यपि पद्मावत में अनेक काल्पनिक घटनाओं का समावेश है (केवल इस अर्थ में कि लोक प्रचलित कथा में जायसी ने कई नवीन स्थलों की उद्भावना की है) तथापि उन कल्पित घटनाओं की संगति मुख्य घटनाओं के साथ इस प्रकार बैठाई गई है कि संयोजन में बाधा नहीं पड़ती।

पद्मावत की शैली की एक मुख्य विशेषता उसकी सांकेतिकता है। शुक्ल जी ने पद्मावत के समस्त प्रभाव को लेकर उसे 'समासोक्ति' की संज्ञा दी है—अभिप्राय यह है कि पद्मावत के पात्र और उसका कथानक दोनों ही द्विविधाव्यक्तित्व सम्पन्न हैं—उसकी घटनाएँ लौकिक जगत एवं पारलौकिक जगत दोनों की ओर संकेत करती हैं। पद्मावत का उद्देश्य है लौकिक जगत के क्रिया-कलाप के माध्यम से अलौकिक सत्ता का आभास देना—और यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति कवि ने एक सूक्ष्म एवं संकेतवाहिनी शैली के द्वारा ही की है। इस प्रकार रत्नसेन और पद्मावती प्रस्तुत कहे जा सकते हैं और इनके द्वारा व्यंजित जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध उसी अर्थ में अप्रस्तुत। प्रस्तुत और अप्रस्तुत की यह असाधारण योजना बहुधा श्लेषयुक्त शैली से सम्पन्न हुई है। कवि स्थल-स्थल पर संकेत देकर अपने इष्ट अर्थ की व्यंजना करता गया है। उदाहरणतया मानसरोदक खण्ड में पद्मावती का यह रूप चित्रण देखिये :—

"कहा मानसर चाह सो पाई
पारस रूप इहाँ लगि आई।

\+ \+ \+

विगसे कुमुद देखि ससि रेखा
भै तेहि रूप जहाँ जो देखा।

\+ \+ \+

नैन जो देखे कँवल भये, निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हँस भये, दसन जोति नग हीर।।"

इसी प्रकार सिंहल गढ़ के वर्णन में मानव शरीर का रूपक वर्णित है। "जौं लहि आपु हेराइ न जोई। तौं लहि हेरत पाव न सोई।" इत्यादि पंक्तियाँ रत्नसेन के प्रेम को साधारण प्रेम से अलौकिक प्रेम साधना की भूमि पर स्थापित करती है। यद्यपि जायसी का उद्देश्य जगत और ब्रह्म के सम्बन्ध में सूफी सिद्धान्त को व्यक्त करना है, किन्तु यह उनकी शैली की विशेषता है कि पद्मावत में कहीं भी सिद्धान्त प्रचार का आग्रह दृष्टिगोचर नहीं होता। पद्मावत की शैली की विशेषता का महत्व चरित काव्यों की तुलना में आँका जा सकता है। चरित काव्यों के रचयिता जैन कवियों ने अपने धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के हेतु भारत के पौराणिक पात्रों—राम, कृष्ण, हनुमान इत्यादि को जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण करते हुए चित्रित किया है। स्पष्ट है कि उनकी शैली में वह पैनापन, वह सांकेतिकता नहीं है जो काव्य के 'गुणीभूत व्यंग्य' नाम को सार्थक कर सके। जायसी की शैली में इसके विरुद्ध साँकेतिकता और सूक्ष्म व्यंजना की शक्ति है। पद्मावत जैसे 'अन्य कथा परक' (Allegorical) महाकाव्य की शैली के लिये यह आवश्यक भी था।

पद्मावत की वर्णनात्मकता के प्रसंग में कहा जा चुका है कि पद्मावत की शैली में नाना भावों का वर्णन करने की क्षमता है तथा नानारूपा प्रकृति और वैविध्यपूर्ण जगत् के कार्य-कलापों का अंकन करने की सामर्थ्य है। सामान्यतया शैली की यह भव्यता, उसकी यह गरिमा आद्योपान्त बनी रहती है किन्तु कुछ स्थलों पर जहां कवि ने नाम परिगणन शैली को ग्रहण किया है, जैसे सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड के अन्तर्गत पेड़ों एवं पक्षियों के वर्णन में तथा रत्नसेन-पद्मावती विवाह खण्ड और अलाउद्दीन भोज खण्ड के अन्तर्गत व्यंजनों के वर्णन में, शैली की यह गरिमा नष्ट हो गई है। ऐसे स्थलों पर वर्णन गद्यात्मक से प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

अलंकारों का स्वाभाविक सौंदर्य पद्मावत में प्रस्फुटित हुआ है। अलंकरण का सचेष्ट प्रयास जायसी में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। पद्मावत में अलंकारों का सौंदर्य अंगभूत सौंदर्य है, पृथक सौंदर्य नहीं। निदर्शन की योजना देखिये—

"जेहि दिन दसन जोति निरमई,
बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती,
रतन पदारथ मानिक मोती।

जँह जँह विहसहि सुभावहि हंसी,
तहँ तहँ छिटकि जोति परगंसी।"

इसी प्रकार तद्गुण का उदाहरण अति सुन्दर है—

"नैन जो देखे कंवल भा निरभर नीर सरीर।
हंसत जो देखे हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"

विरह वर्णन में जायसी ने अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है। "सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग।" इत्यादि पंक्तियों में अत्युक्तिपूर्ण वर्णन है तथा ये पंक्तियाँ ऊहात्मक-सी लगती हैं, किन्तु पृष्ठभूमि के पुष्ट होने के कारण इन पंक्तियों का सौंदर्य भी पाठक को प्रभावित करता है। जायसी ने अनावश्यक अलंकरण कहीं नहीं किया। अलंकारों के स्वाभाविक संयोग के कारण जायसी की शैली का गुरुत्व एवं गांभीर्य स्थिर रह सका है।

उद्देश्य की दृष्टि से पद्मावत विश्व के महानतम काव्यों की श्रेणी में है। भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से कोई एक महाकाव्य का साध्य होना चाहिये। पद्मावत का उद्देश्य काम और मोक्ष है। जायसी ने पद्मावत के अन्त में लिखा है—

"कोइ न जगत जस बेंचा, कोइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम संवरै दुइ बोल॥"

स्पष्ट है कि पद्मावत की रचना का प्रयोजन यशार्जन है, जो काम में अन्तर्भूत होता है। काम को यहाँ व्यापकतम अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। काम शृंगार अथवा यौन भावना का पर्याय नहीं है। काम से अभिप्राय है मानव और उससे इतर शक्ति के बीच के सम्बन्ध के तार को जोड़ने वाली भावना विशेष। जायसी ने काम भावना का उन्नयन कर उसे पारिमार्थिक सत्ता के प्रति सूक्ष्म प्रेम सम्बन्ध का वाची बना दिया है। पद्मावत के अर्थ में काम अलौकिक प्रेम का पर्याय ही है। जायसी का उद्देश्य, जैसा कि डा० शम्भुनाथ सिंह ने लिखा है[1] लौकिक प्रेम के रास्ते से आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति का आभास देना है। डा० सिंह का तो कथन है कि इसी कारण मोक्ष प्राप्ति पद्मावत का प्रधान उद्देश्य भी बन गया है। अन्त की पंक्तियों से निर्वेद भाव की पुष्टि होती है—

"राती पिय के नेह गई, सरग भयउ रतनार।
जो र उवा सों अंथवा, रहा न कोइ संसार॥"

वस्तुतः पद्मावत में स्थल-स्थल पर प्रेम भाव की व्यंजना है। एक स्थल पर जायसी कहते है—

"मुहम्मद वारी प्रेम की, ज्यों भावै त्यों खेल,
तीलहिं फूलहिं संग ज्यों, होइ फुलाएल तेल॥"

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास - डा० सिंह, पद्मावत—"महत उद्देश्य, महत् प्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा"—पृ० ४२८।

प्रेम ही मूलतः वह तत्व है जिससे मनुष्य बैकुण्ठ लाभ करता है—

"मानुस पेम भयउ बैकुण्ठी,
नाहिं तो काह छार इक मुंठी।
पेम पंथ जो पहुँचे पारा,
बहुरि न आइ मिलै एहि छारा।"

इसी प्रेम की व्यंजना करना जायसी का प्रमुख उद्देश्य है। रत्नसेन, पद्मावती इत्यादि तो इस प्रेम की व्यंजना के निमित्त मात्र हैं—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा,
हिय सिंहल, बुधि पद्मिनी चीन्हा।
गुरु सुवा जो पंथ दिखावा,
बिन गुरु को निरगुन पावा।
नागमती एहि दुनिया धंधा,
बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा।
राघौ दूत सोइ सैतानू,
माया अलाउद्दीन सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु,
बूझि लेउ जो बूझै पारहु।"

और भी—

"कहँ सो रतनसेन अस राजा
कहं सुवा अस बुधि उपराजा।
कहाँ अलाउद्दीन सुलतानू,
कहं राघौ जेहं कीन्ह बखानू।
कहं सरूप पद्मावति रानी
कोइ न रहा जग रही कहानी।"

जायसी का उद्देश्य तो मात्र इतना है—

"मुहमद यहि कवि जोरि सुनावा
सुना जो पेम पीर गा पावा।"

यदि पद्मावत को पढ़ कर "पेम की पीर" उपज गई तो कवि का उद्देश्य सफल है। तुलसी ने "कहि किहनि उपावान" तथा "कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना—सिर धुनि लागि गिरा पछिताना" इत्यादि व्यंग-वाक्यों द्वारा जायसी तथा इस वर्ग के अन्य कवियों पर लौकिक प्रभुओं का गुणगान करने का जो आरोप लगाया था उसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि रत्नसेन और पद्मावती, ये तो निमित्त मात्र हैं, साधन मात्र हैं, साध्य तो वह "पेम की पीर" है जिसको पाकर "इक मुंठी छार" मानुस बैकुण्ठ को प्राप्त करता है।

यद्यपि प्रेम तत्व का ग्रहण जायसी ने सूफी विचारधारा से किया है किन्तु समस्त पद्मावत में उन्होंने एक स्थल पर भी सूफी सिद्धान्तों के प्रचार के हेतु कुछ न कहा। अतः जायसी का प्रधान उद्देश्य चाहे अपने मन की अभिव्यक्ति रहा हो, किन्तु प्रश्न यह है कि कौन ऐसा महाकवि है जो किसी विशेष दार्शनिक मत में आस्था रखता हो और काव्य सृजन करते समय अपनी आस्था की अभिव्यंजना न करे। वस्तुतः महाकवि सदैव दर्शन का छोर पकड़े रहते हैं। अंग्रेजी विचारक Coleridge ने उचित ही लिखा है—

"No man was ever a great poet without being at the same time a profound p hilosopher." प्रश्न तो दार्शनिकता की अभिव्यक्ति अथवा काव्य और दार्शनिकता के सामंजस्य का है। पद्मावत में दार्शनिकता की अन्तर्धारा निरन्तर प्रवहमान है और वह रेगिस्तानी नदी की भाँति स्थल-स्थल पर फूटती चलती है। पद्मावत की दार्शनिकता चिपकाई हुई नहीं है, वरन् वह काव्य का सहज अंग बन कर आई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यापक अर्थ में पद्मावत एक सफल महाकाव्य है और जायसी एक सफल महाकवि, कारण कि सफल महाकाव्यों की रचना में महाकवि ही सफल होते हैं। पात्र, कथानक, शैली सभी दृष्टियों से उसका महाकाव्यत्व सिद्ध है। उद्देश्य की दृष्टि से तो वह अप्रतिभ काव्य है। उसके विषय वस्तु और शैली दोनों में ही एकाधिक काव्य प्रवृतियों की विशेषताओं के दर्शन होते हैं। डा० शम्भुनाथ सिंह ने इसे रोमाँचक महाकाव्य माना है क्योंकि इसमें भी रोमाँचक तत्व और साहसिक कार्य जैसे भयंकर यात्रा, दुरूह मार्ग, देव असुर आदि के अलौकिक कार्य, युद्ध, कन्या हरण आदि प्राप्त होते हैं। सहृदय के मन पर पद्मावत का अन्तिम प्रभाव पद्मावती, नागमती के सहगमन से उत्पन्न वैराग्य अथवा निर्वेद का होता है। उद्बुद्ध चेतना वाले साहित्यिक व्यक्ति की सहृदयता को पद्मावत के अन्तर में व्याप्त अनूठी सांकेतिकता अपनी ओर खींचती है। यह उसका विशेष गुण है। इस बात को ध्यान में रखते हुए पद्मावत को अंग्रेजी काव्य-वर्गीकरण के अनुसार Epic of Art— कलात्मक महाकाव्य कहा जाना उचित है। पद्मावत एक ऐसी अमर रचना है कि "जो यह पढ़े कहानी, हम संवरे दुइ बोल" वाली जायसी की कामना युगों-युगों तक पूरी होती रहेगी।

———

पद्मावत की वर्णनात्मकता

प्रत्यंक समर्थ कवि के लिये वर्णनपटु होना अनिवार्य है। भारतीय काव्य शास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों में यह स्पष्ट निर्देश है कि उसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रातः, मध्यान्ह, मृगया, संभोग, विप्रलंभ, रणप्रयाण, पुत्र जन्म इत्यादि घटनाओं तथा पर्वत, सागर,

आकाश, नगर आदि प्राकृतिक तत्वों का यथायोग्य एवं सांगोपांग वर्णन होना चाहिये :—

"सन्ध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासरा : ।
प्रातर्मध्यान्ह मृगया शैलर्तु वन सागरा :
संभोग विप्रलंभौ च मुनि स्वर्गपुरा ध्वरा :
रण प्रयाणोपयम् मंत्र पुत्रोदया दय :
वर्णनीया यथा योगः सांगोपांगा अमीदश ।।"[1]

महाकाव्य की शैली के विषय में भी भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्रों में उल्लेख है कि महाकाव्य की शैली गौरवमयी और प्रवहमान होनी चाहिये—उसमें गम्भीर नद का-सा प्रवाह होना चाहिये । इसका अभिप्राय यही है कि महाकाव्य की शैली नाना वर्णन क्षमा होनी चाहिये । सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों और विराट से विराट तत्वों को शब्दांकित करने की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिये । जिस प्रकार चित्र की सार्थकता चित्रित वस्तु की प्रतिनिधि होने में है, उसी प्रकार वर्णन की सार्थकता वर्ण्य वस्तु का शब्द चित्र होने में है । वस्तुतः सफल वर्णनात्मकता सहृदय के मन पर शब्द चित्र अंकित कर देने का ही दूसरा नाम है । सहृदय को यह आभास हो कि वह कविता नहीं पढ़ रहा है वरन् घटनाएं एवं दृश्य उसमें मनः नेत्रों के सम्मुख नृत्य करते-से प्रतीत होने लगें, तभी वर्णन अपने उद्देश्य में पूर्ण समझा जायेगा । कविवर मतिराम की यह पंक्ति इस आशय को अभिव्यक्त करने में अपेक्षाकृत अधिक सफल सिद्ध होगी :—

"तैं बरने निज बैनन सों सखि,
मैं निज नैनन सों मनु देखे ।"

वर्णन की दो शैलियाँ प्रचलित हैं :—

१—बिम्ब ग्रहण शैली
२—वस्तु परिगणन शैली ।

बिम्ब ग्रहण शैली से अभिप्राय है अभिव्यक्ति सूक्ष्म शब्दों द्वारा घटना, भाव अथवा वस्तु का हृदयग्राही चित्र अंकित करना । समर्थ कवि प्रायः एक-एक शब्द द्वारा वर्ण्य वस्तु का भव्य चित्रण कर दिया करते हैं :—

"कनक भूधराकार सरीरा ।" तुलसी (हनुमान के लिये)

प्राकृतिक दृश्यों अथवा अन्य प्रकार के वर्णनों में कविगण कभी-कभी कतिपय वस्तुओं के नाम गिना कर ही सन्तोष कर लेते हैं । यह वस्तु-परिगणन शैली है । केशवदास ने अनेक स्थलों पर ऐसे वर्णन किये हैं ।

पद्मावत के वर्णनों को सामान्यतया निम्नलिखित कोटियों में विभाजित किया जा सकता है :—

१—रूप वर्णन २—भाव-वर्णन ३—घटना वर्णन ४—प्रकृति वर्णन ।

---

१. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ—६१३-६ : २ ।

रूप-वर्णन—रूप वर्णन से अभिप्राय मानवीय रूप चित्रण से है। पद्मावत में मुख्यतया पद्मावती का रूप वर्णन ही उल्लेखनीय है। यह रूप वर्णन प्रमुखतया दो स्थलों पर है—१—हीरामन द्वारा रत्नसेन के प्रति पद्मावती के रूप-सौंदर्य का वर्णन २—राघव चेतन द्वारा दिल्ली में अलाउद्दीन के समक्ष पद्मावती के रूप का वर्णन। दोनों ही स्थलों का वर्णन नख-शिख वर्णन होने के कारण परिपाटीवद्ध है। यथा—

केश वर्णन—"कौंवल कुटिल केस नग कारे
लहरन्हि भरे भुअंग विसारे
बेधे जानु भलै गिरि बासा
सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा।" इत्यादि

अधर वर्णन—"अधर सुरंग अमिय रस भरे
बिंब सुरंग लागि बन फरे
फूल दुपहरी मानहु राता
फूल झरहिं जब जब कह बाता।" इत्यादि

इन दो स्थलों के अतिरिक्त भी पद्मावती के रूप का वर्णन जायसी ने किया है जैसे मानसरोवर में स्नान करते समय पद्मावती का रूप वर्णन, रत्नसेन-पद्मावती भेंट के समय पद्मावती के शृङ्गार का वर्णस तथा अलाउद्दीन द्वारा पद्मावती का रूप दर्शन और उसका वर्णन। पद्मावती के रूप सौंदर्य के वर्णन में एक तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उसके व्यक्तित्व में एक विराट एवं अलौकिक सौंदर्य का आभास देने का विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणतया मानसरोवर स्नान के समय का यह वर्णन देखिये :—

"सरवर तीर पदुमिनी आई
खोंपा छोरि केस मोकराई।
ओनए मेघ परी जग छांहा,
ससि को सरन लीन्ह जनु राहा।
+ + +
पाये रूप रूप जस चहे,
ससि मुख सब दरपन होइ रहे।
नैन जो देखा कंवल भये, निरमर नीर सरीर
हंसत जो देखा हंस भये, दसन ज्योति नग हीर।" इत्यादि

इसी प्रकार राघव चेतन अलाउद्दीन के सम्मुख पद्मावती के रूप का वर्णन करते हुए कहता है—

"बेनी छोरि झार जो केसा,
रैनि होइ जग दीपक लेसा,

सिर हुति सोहरि परहिं कहुं बारा
सगरे देस होइ अंधियारा।" इत्यादि

पद्मावती के रूप की यह अलौकिकता सांकेतिक है। सूफी सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्म जगत का प्रतिरूप है, अतः मानवीय सौंदर्य का इन कवियों ने अलौकिक सौंदर्य के प्रतीक रूप में ही वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त सिंहल द्वीप में पनिहारियों के सौंदर्य का वर्णन भी सुन्दर है। शृंगारहाट की वेश्याओं का भी रूपचित्रण है।

भाव-वर्णन—पात्र की मानसिक दशाओं, मन में उठने वाले विचारों संकल्पों, परिस्थितिजन्य संकल्पों, इत्यादि की अभिव्यक्ति करना कवि-कर्म में प्रमुख हैं। पद्मावत के कथानक में वैविध्य है अतः उसमें जीवन की अनेक भावात्मक परिस्थितियों एवं अनेक भावों यथा प्रेम, वियोग, आनन्द, जय-पराजय की प्रतिक्रिया, विश्वासघात आदि का सुन्दर अंकन हुआ है। कवि द्वारा मानव जीवन की ऐसी परिस्थितियों के वर्णन अनुभूति की तीव्रता एवं सत्यता की अपेक्षा रखते हैं तथा जायसी में इन दोनों तत्वों का प्राचुर्य है। अनेक घटनाओं और परिस्थितियों के बीच जायसी ने अपने पात्रों की मनोदशाओं की अभिव्यक्ति की है। रत्नसेन को वर रूप में बारात लेकर आते हुए देख कर पद्मावती की जो आनन्दातिरेक की स्थिति होती है, उसका वर्णन कितना मनोरम है:—

हुलसे नैन दरस मदमाते।
हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा बदन ओपि रवि आई,
हुलसा हिया कंचुकि न समाई।"

प्रथम समागम से सशंकित पद्मावती का चित्र भी सुन्दर है:—

"हौं सो बारि औ दुलहिनि, पिय सो तरुन औ तेज
नहिं जानौं कस होइहि, चढ़त कंत की सेज।"

पद्मावती और नागमती के सती होने के पश्चात् सुल्तान के हाथ निराशा की राख लगी, सुल्तान की तज्जन्य मनोस्थिति का कितना स्वाभाविक वर्णन जायसी ने किया है:—

"छार उठाइ लीन्हि एक मूठी,
दीन्हि उड़ाइ पिरथिमी झूठी।
जौ लगि ऊपर छार न परई,
तब लग नाहिं जो तिस्ना मरई।"

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वियोग पक्ष का जितना मार्मिक एवं रसार्द्र वर्णन जायसी ने किया है, उतना हिन्दी के बहुत कम कवियों ने किया है।

घटना-वर्णन—महाकाव्य जीवन की विविध पक्षीय घटनाओं की रंगस्थली होता है। समर्थ कवि घटना चक्र के बीच-बीच उपयुक्त स्थलों का चयन कर रस-सृष्टि करते चलते हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है—

"जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है, वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है।"[१] शुक्ल जी के अनुसार पद्मावत में अनेक ऐसे स्थल हैं :—मायके में कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदि का विलाप, प्रेम मार्ग के कष्ट, रत्नसेन के लिए सूली की व्यवस्था, इस संवाद से पद्मावती की करुण सहानुभूति, रत्नसेन-पद्मावती संयोग, सिंहल से लौटने पर मार्ग में समुद्र की घटना, नागमती का वियोग-सन्देश, बादल का युद्ध प्रस्थान, देवल की दूती से पद्मावती के सतीत्व गौरव की व्यंजना, पद्मावती और नागमती का उत्साहपूर्ण सहगमन, चित्तौड़ की दशा इत्यादि। इन घटनाओं में भी अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक घटनाओं का चयन किया जा सकता है। कथा के इन मार्मिक स्थलों पर जायसी की लेखनी एक से एक सुन्दर पंक्तियों की सृष्टि करती गयी है मानसरोवर स्नान के समय पद्मावती कहती है—

"आजहुं खेल बहुरि कि होई
खेल गए कत खेलत कोई।"

\+ \+ \+

मुहमद बाजी प्रेम की, ज्यों भावै त्यों खेल
लीलहिं फूलहिं संग ज्यों, होइ फुलाएल तेल।"

गोरा बादल युद्ध की घटना कदाचित् पद्मावत की सर्वाधिक प्रभावोत्पादक घटना है। उसका वर्णन भी कवि ने उतने ही समर्थ शब्दों में किया है :—

"सबहिं कटक मिलि गोरा छेंका,
गुंजर सिंह जाइ नहि टेका।
जेहि दिसि उठै सोइ दिसि खावा,
पलटि सिंह तेहि ठायन्ह आवा।
तुरुक बोलावहिं बोलहिं बाहा,
गोरै मीचु धरा मग माहा।
मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ,
जियत न रहा जगत में कोऊ।
जनि जानहुं गोरा सों अकेला,

१. जायसी ग्रन्थावली—भूमिका—पृ० ६६।

सिंह की मोंछ हाथ को मेला।
सिंह जियत नहिं आपु धरावा,
मुए पार कोइ घसियावा।
करै सिंह हठि सौंही डीठी,
जब लगि जियै देह नहिं पीठी।
रतनसेनि तुम बांधा, मसि गोरा के गात,
जब लगि रुहिर न धोवौं, तब लगि होऊँ न रात।"

गोरा बादल एवं अलाउद्दीन युद्ध का वर्णन अत्यंत सजीव शब्दों में किया गया है :—

"ओनई घटा चहुँ दिसि आई,
छूटहिं बान मेघ झरि लाई।
हाथन्ह गहे खड़ग हरद्वानी,
चमकहिं सेज बीजु की बानी।
रुण्ड मुण्ड अब टूटहिं, स्यो बखतर औ कँड़।
तुरय होइहिं बिनु कांधे, हस्ति होइहिं बिन सूंड।"

गोरा और उसके दल की वीरता का कितना भव्य चित्र है :—

"भइ बगमेल सेल घन घोरा,
औ गज पेल अकेल सो गोरा।
सहस कुँवर सहसौ सत बांधा,
मार पहार जूझ कर कांधा।
लगै मरै गोरा कै आगै,
बाग न मोर घाव मुख लागै।
जैसे पतंग आगि धंसि लेई,
एक मुवै दूसर जिउ देउ देई।"

रत्नसेन अलाउद्दीन युद्ध वर्णन में वीभत्स रस की अच्छी पंक्तियां हैं—

"सीस कन्ध कटि कटि भुइं परे,
रुहिर सलिल होइ सायर भरे।
अनंद बधाव करहिं मसखावा,
अब मख जनम-जनम कहं आवा।
+ + +
गिद्ध चील सब मांडौ छावहिं,
काग कलोल करहिं औ गावहिं।"

युद्ध वर्णन के अन्तर्गत युद्ध की साज सज्जा, हाथी, घोड़े, अस्त्र-शस्त्र विशेष रूप से तोप इत्यादि का भी सुन्दर वर्णन है। रत्नसेन-देवपाल और बादल-अलाउद्दीन युद्ध अति संक्षिप्त हैं। अलाउद्दीन-रत्नसेन एवं गोरा बादल-अलाउद्दीन युद्ध का वर्णन ही विशेष विस्तृत एवं सजीव बन पड़ा है।

पद्मावती और नागमती के सहगमन की घटना भी सहृदय के मन पर संसार की असारता का भाव अंकित कर देती है—

"लागि कंठ आगि दै होरी,
छार भई जरि अँग न मोरी।
रातो पिय के नेह गई, सरग भयउ रतनार,
जो के उवा सो अथवा, रहा न कोउ संसार।"

पद्मावती नागमती सहगमन पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है।

प्रकृति वर्णन—जायसी ने प्रकृति वर्णन कई रूपों में किया है। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

१—उपमान रूप में किया गया प्रकृति वर्णन।
२—उद्दीपन अथवा वातावरण निर्माण के लिये किया गया प्रकृति वर्णन।
३—आलम्बन रूप में किया गया प्रकृति वर्णन।
४—विविध रूप में प्रकृति का उपयोग।

उपमान रूप में किया गया प्रकृति वर्णन—ऐसे प्रकृति वर्णन को पुनः तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—नीति, उपदेश, आध्यात्मिक अभिव्यंजना के लिये प्रयोग किये गये उपमान—

"मुहमद बाजी प्रेम की ज्यों भावै त्यों खेल,
लीलहिं फूलहिं संग ज्यों, होय फुलाएल तेल"

२—मानवीय रूप एवं मानव भावों की व्यंजना के लिए उपमानों का प्रयोग :— नख-शिख वर्णन में जायसी ने प्रकृति के उपमानों का प्रचुर प्रयोग किया है। ऐसा प्रयोग कतिपय स्थलों पर अत्यंत सुन्दर बन पड़ा है,

"वरनौ माँग सीस उपराहीं
सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं।
बिन सेंदुर अस जानहु दीया,
उजियर पंथ रैनि महँ किया।
कंचन रेख कसौटी कसी,
जनु घन महँ दामिनी परगसी।"

अथवा

"बीर बहूटिन कै अस पांती" इत्यादि।

मानवीय भावों, विशेषतः प्रेम और विरह का हृदयग्राही वर्णन करने के लिए जायसी ने बड़े सुन्दर उपमानों की योजना की है। विरह की अभिव्यक्ति के लिये सरोवर का उपमान भाव-व्यंजना में कितना सक्षम है—

"सरवर हिया घटत नित जाई,
टूक टूक ह्वै कै बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिय टेका,
दीठि दवंगरा मेरवहु एका।"

रत्नसेन अपनी प्रेम यात्रा को विजय कर, सिंहल से पदमावती को लेकर चित्तौड़ वापिस आता है। वह नागमती के पास प्रसन्नमुख जाता है, किन्तु नागमती तो व्यथिता है, अपनी व्यथा को वह कितने समर्थ उपमान के सहारे व्यंजित करती है—

"काह हंसौ तुम मोसों, किएउ और सों नेह,
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह।"

अन्य कई स्थलों पर नागमती अपनी विरह-वेदना का अतिरेक व्यंजित करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त उपमानों का प्रयोग करती है। जैसे—

"कंवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ,
कबहुं बेलि फिर पलुहै, जो पिउ सींचै आइ।"

नागमती-रत्नसेन भेंट का वर्णन भी सुन्दर उपमान के माध्यम से किया गया है—

"कंठ लाइ कै नारी मनाई,
जरी जो बेल सींच पलुहाई।"

संक्षेप में यह कि नानारूपा प्रकृति का जायसी ने नाना रूप में ही प्रयोग किया है। उपमानगत सौंदर्य जायसी में उत्कृष्ट कोटि का है।

३—अन्य रूपों में भी जायसी ने प्रकृति का उपमानगत प्रयोग किया है—युद्ध वर्णन में बाणों की वर्षा का कैसा समर्थ भाव व्यंजित किया है—

"ओनई घटा चहूं दिसि आई,
छूटहिं बान मेघ झरि लाई।"

काले हाथियों के समूह को जैसे इन पंक्तियों में मूर्तिमान कर दिया गया है—

"मेघहिं चाहि अधिक वै कारे,
भएउ असूझ देखि अंधियारे।
जसि भादों निसि आवै डीठी,
सरग जाइ हिरकी तिन्ह पीठी।"

२—उद्दीपन रूप में किया गया प्रकृति वर्णन—मानव और प्रकृति का परस्पर भाव-सम्बन्ध है। सुखद परिस्थिति हो अथवा दुखद, प्रकृति का प्रभाव मानव हृदय पर अवश्य पड़ता है। एक ही प्रकार की दृश्यावली, एक ही प्रकार का प्राकृतिक सौंदर्य अश्रुसिक्त आँखों में आर भी अधिक आंसू ला देता है और हर्ष=पुलकित हृदय में और भी अधिक हर्ष का संचार कर देता है। जायसी ने भी अपने पात्रों की मनोदशा के अनुरूप ही प्रकृति के व्यापारों की योजना की है। पदमावती रत्नसेन संयोग वर्णन में तथा नागमती वियोगी खण्ड में प्रकृति के उद्दीपन रूप में सुन्दर चित्र मिलते हैं। यथा वियोग-तप्त नागमती की वर्षाऋतु में और भी करुण दशा हो जाती है—

"खरग बीज चमकै चहुँ ओरा,
बुंद बान बरसै घन घोरा।
अद्रा लागि बीज भुंइ लेई,
मोहि पिय बिनु को आदर देई।
+ + + +
पुख नखत्र सिर ऊपर आवा,
हौं बिनु नाह मंदिर को छावा।
+ + + +
सखिन रचा पिउ संग हिंडोला,
हरियर भुंइ कुसमि तन चोला।
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा,
बिरह भुलावै देइ झकोरा।
ना पावस ओहि देसरे, ना हेवन्त बसन्त।
ना कोकिल ना पपीहरा, केहि सुनि आवैं अंत॥"

उधर पदमावती-रत्नसेन का मिलन है, उस स्थिति में जायसी वर्षा ऋतु का दूसरा चित्र खींचते हैं—

"रितु पावस बिरसै पिउ पावा
सावन भादौं अधिक सुहावा।
+ + +
चमकै बिज्जु बरिस जग सोना
दादर मोर सबद सुठि लोना।
रँगराती पिय संग निसि गाजै
गरजै चमक चौंकि कंठ लागै।
सीतल बुंद ऊँच चौबारा

हरियर सब देखिय संसारा।

\+ \+ \+

हरियर भुम्मि कुसुम्भी चोला

औ पिय संगम रचा हिंडोला।। इत्यादि

प्रकृति का यह उद्दीपन सौंदर्य मुख्यतया बारहमासे और षटऋतु वर्णन में ही है। सुख में जीवन का क्रम सुगमता से चलता है, सम्भवतः इसी कारण पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खण्ड की पृष्ठभूमि में षटऋतु (अल्प संख्या ६) वर्णन किया गया है। दूसरी ओर विरह में एक-एक सांस कठिनता से आती है, अतः नागमती का विरह-वर्णन बारहमासे में वर्णित है (६ की अपेक्षा बड़ी संख्या)।

यद्यपि बारह मास और षट ऋतु वर्णन की पद्धति भारतीय साहित्य में संस्कृत काल से चली आ रही है, और जायसी का वर्णन भी मुख्यतया पद्धतिगत ही है, तथापि जायसी द्वारा किया गया यह प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप का वर्णन अपना निजी महत्व रखता है। जायसी का बारहमासा वर्णन हिन्दी साहित्य के सुन्दरतम बारहमासा वर्णनों में से है। पद्धितगत अथवा परम्परायुक्त होने से ही उसके महत्व में कोई कमी नहीं आती। हाँ इस प्रकृति वर्णन के विषय में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—। १—परम्परा के मोह में कवि ने वर्षा का उद्दीपन रूप में अत्यन्त विस्तृत एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया अवश्य है, किन्तु ऐसा करने में डा० कमलकुल श्रेष्ठ के अनुसार, वह देश को भूल गया है। नागमती चित्तौड़ अथवा राजस्थान से अपने प्रिय को सन्देश भेज रही है और यह जगत्प्रसिद्ध है कि राजस्थान वर्षा के अभाव में ही ऊसर हो गया है—राजस्थान में वर्षा बहुत कम होती है। सम्भव है कि कवि ने अमेठी में वर्षा के अभाव में उत्पन्न अपनी मनोग्रन्थि को यहाँ अभिव्यक्त किया हो।

दूसरी बात भी इसी प्रकार की है। यह सर्व विख्यात है कि अमेठी में ढाक के वन बहुत हैं—जायसी के मन पर भी यही संस्कार था, सम्भवतः इसी कारण उन्होंने स्थल-स्थल पर अन्य वृक्षों के साथ ढाक का भी वर्णन किया है, यद्यपि ढाक अत्यन्त साधारण कोटि का पेड़ है, जैसा कि अहमद के दोहे से भी प्रकट है—

"कहा करूँ वैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छाँह।

अहमद ढाक सराहिये, जो पीतम गल बाँह।।"

किन्तु जायसी ने ५ स्थानों पर 'ढाक' अथवा 'ढाक वन' का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि ईश्वर स्तुति में भी वे इसका स्मरण नहीं भूलते—

"जावत जग साखा बन ढाखा,

जावत केस रोवं पँखि पांखा।"

यह संस्कारों का प्रभाव है। कवि स्वयं को अपने ग्रामीण संस्कारों से मुक्त नहीं कर सका है। रानी नागमती के मुख से ये पंक्तियाँ

पुर नखत्र सिर ऊपर ग्रावा,
हों बिनु नाह मन्दिर को छावा।" कहलाने में भी वही अन्तर्वृत्ति विद्यमान है।

३—आलम्बन के रूप में किया गया प्रकृति वर्णन—

आलम्बनगत प्रकृति वर्णन पद्मावत में दो स्थानों पर माना जा सकता है—

१—सिंहल द्वीप वर्णन खंड में

२—समुद्र वर्णन में

ये वर्णन आलम्बनगत केवल इसी अर्थ में हैं कि इनका उद्देश्य किसी पात्र विशेष की मनोस्थिति अथवा किसी परिस्थिति विशेष के उद्दीपन में सहायता देना नहीं, वरन् इनका सर्वथा पृथक महत्व है। वैसे डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने 'सिंहल द्वीप वर्णन' को वातावरण निर्माण के लिए किए गये प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत रखा है तथा समुद्र वर्णन का स्वतन्त्र महत्व होने के कारण उसे आलम्बनगत प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत रखा है,[1] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहल द्वीप का वर्णन जायसी ने एक कथित आध्यात्मिक स्थल, जो मुसलमानों के 'बहिश्त' अथवा स्वर्ग का पर्याय है, के रूप में किया है तथा इस दृष्टि से उसका स्वतन्त्र महत्व है। सिंहल द्वीप की उपमा जायसी ने कैलाश से दी भी है—

"जबहिं द्वीप नियरावा जाई,
मनु कविलास नियर भा ग्राई।"

सिंहल द्वीप का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण किन्तु फिर भी स्वाभाविक है। दूसरी बात यह भी है कि—

"जेहि वह पाई छाँह अनूपा,
फिर नहिं ग्राइ सहै यह धूपा।" इत्यादि आध्यात्मिक संकेतों से मुक्त होने के कारण अतिशयोक्ति का होना क्षम्य है। सिंहल द्वीप की घनी अमराइयों और तालाबों इत्यादि का वर्णन अत्यन्त सुन्दर है, हाँ पेड़ पौधों और पक्षियों के नाम गिनाने की पद्धति, जिसका कि जायसी ने उपयोग किया है विशेष श्लाघ्य नहीं है।

दूसरा आलम्बनगत प्रकृति वर्णन सातों समुद्रों का वर्णन है। क्षरि, दधि, सुरा और खार समुद्रों का वर्णन अत्यन्त साधारण कोटि का है। सर्वाधिक उत्कृष्ट वर्णन किलकिला समुद्र का है :—

"भा किल किला ग्रस उठै हिलोरा
जनु अकास टूटै चहुं ग्रोरा।
उठै लहर पर्वत कै नाईं,

१. द्रष्टव्य "मलिक मुहम्मद जायसी" पहला भाग पृष्ठ २६८ एवं पृष्ठ २७२।

फिरि आवै जोजन सौं ताईं।

+ + +

फिरत समुद जोजन सो ताका
जैसे भवै कोहार का चाका।"

इन दो पंक्तियों में तो अत्यंत सजीव चित्र है—

"गै औसान सबन कर देखि समुद मैं बाढि
नियर होत जनु लीलै, रहा नैन उस काढि।"

प्रकृति के उग्र रूप का वर्णन करने में जायसी की रुचि विशेष रूप से रमती है, इसलिए सम्भवतः किलकिला समुद्र का वर्णन इतना स्वाभाविक बन पड़ा है। मानसर समुद्र का वर्णन भी अच्छा है।

४—विविध रूपों में प्रकृति का प्रयोग—

जायसी ने प्रकृति के तत्वों का प्रयोग उपदेश देने के लिए भी किया है—

"पीव पीव कर लाग पपीहा
तुही तुही कर गुडरी जीहा

+ + +

"जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमराउं
आपनि आपनि भाषा, लेहि दई कर नाउं।"

इसके अतिरिक्त पद्मावत के आरम्भ की

"कीन्हेसि मधु आवै लै माखी,
कीन्हेसि भौरं, पंखि और पांखी।" इत्यादि पंक्तियाँ प्रकृति के माध्यम से ईश्वर के एश्वर्य का वर्णन करती हैं।

५—अन्य वर्णन—उपरोक्त चार प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्णन हैं जो उपर्युक्त वर्गीकरण की परिधि में नहीं आते। उदाहरणार्थ विवाह, भोज, नगर, गढ़ इत्यादि का वर्णन। इन्हें 'सामाजिक वर्णन' अथवा 'सामाजिक स्थिति वर्णन' की भी संज्ञा दी जा सकती है किन्तु गढ इत्यादि के वर्णन को उसके अन्तर्गत भी परिगणित नहीं किया जा सकता। अतः वर्गीकरण के औचित्य के कारण हमने "अन्य वर्णन" की परिधि में इनको समेट लिया है।

इन वर्णनों में विशेष महत्वपूर्ण वर्णन विवाह एवं गढ के वर्णन हैं। नगर वर्णन के अन्तर्गत भी कुछ पंक्तियाँ अति सुन्दर हैं तथा सिंहल की पनिहारिनों का वर्णन—

"माथे कनक गागरी, आवहिं रूप अनूप
जेहि के अस पनिहारी, सो रानी केहि रूप।"

कवि ने हाट वर्णन के अन्तर्गत नगर के अनेक पक्षीय जीवन का वर्णन किया है। यहाँ तक कि वेश्याओं और कठपुतली वालों को भी कवि नहीं भूला है।

अलाउद्दीन-भोज वर्णन में जायसी ने वस्तु परिगणन शैली का परिचय दिया है। रत्नसेन-विवाह के अवसर पर दिये गये भोज के वर्णन में निरामिष भोजन पदार्थों की एक लम्बी सूची है तथा अलाउद्दीन को दिये गये भोज के वर्णन में आमिष पदार्थों की। ऐसी सूचियाँ काव्य रसज्ञ के लिये विशेष महत्व की नहीं हैं। कहीं-कहीं अत्यंत साधारण पंक्तियां भी हैं :—

"मूंजि समोसा घी महं काढे,
लौंग मिरचि तेहि भीतर ठाढ़े।"

रत्नसेन पद्मावती विवाह-वर्णन विशेष उच्चकोटि का न होने पर भी सुन्दर है। नगर भर में विवाह की तैयारियों का विशद् वर्णन है। मुख्य क्रिया पाणिग्रहण का वर्णन तो अत्यंत काव्यात्मक है—

"चाँद के हाथ दीन्ह जय माला
चाँद आनि सूरुज गिउ घाला।
सूरुज लीन्ह चाँद पहिराई,
हार नखत वरइन्ह स्यों पाई।
पुनि धानि भरि अंजुलि जल लीन्हा,
जोवन जनम कंत कहं दीन्हा।
+ + +
कंत लीन्ह दीन्हा धनि हाथा,
जोरि गांठ दुओ इक साथा।
भइ भाँवरि, नेछावरि, राजचार सब कीन्ह
दायज कहौं कहं लगि, लिखि न जाय जस दीन्ह।"

एक मुसलमान कवि द्वारा हिन्दू संस्कृति का यह वर्णन सर्वांग पूर्ण भले ही न हो, किन्तु कवि की आन्तरिक सहृदयता और सद्भावना का साक्षी अवश्य है।

गढ़ वर्णन के अन्तर्गत दो गढ़ों का वर्णन महत्वपूर्ण है—१. सिंहल गढ़ २. चितौड़ गढ़। दोनों गढ़ों के वर्णन के अन्तर्गत गढ़ की बनावट, राज्य व्यवस्था, राज सभा इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया गया है। बनावट और राज्य व्यवस्था इत्यादि की दृष्टि से दोनों गढ़ समान हैं। यथा—

सिंहल—"पौरिहिपौरि सिंह गढि काढ़े"
चित्तौड़—"सारदूल दुहुँ दिसि गढि काढे"

सिंहल—"भांझ ऊँच इन्द्रासन साजा"
गंधुबसेन बैंठ तँह राजा"
चित्तौड़—"कनक-छत्र सिंहासन साजा,
पैठत पंवरि मिला लेइ राजा ।"

किन्तु सिंहलगढ़ के वर्णन में कवि को मानव शरीर का रूपक देकर हठयौगिक प्रक्रिया का संकेत देना अभीष्ट है, तथा उसके लिये कवि का सचेष्ट आग्रह भी परिलक्षित होता है, जबकि चित्तौड़गढ़ के वर्णन में सांकेतिकता अपेक्षाकृत कम मात्रा में विद्यमान है । कारण स्पष्ट है । सिंहलगढ़ का वर्णन कवि कल्पना पर आश्रित है, सिंहल नाथपंथियों के कल्पित स्वर्ग का प्रतीक है, चित्तौड़ का वर्णन करते समय कवि ऐतिहासिक सीमाओं से कुछ न कुछ अवश्य बंधा हुआ है । सिंहलगढ़ में "कंचनवृक्ष" के वर्णन में

"भूल पतार सरग ओहि साखा
अमर बोलि को पाव, को चाखा ।।" इत्यादि पंक्तियां सांकेतिकता का आभास देती हैं, किन्तु चित्तौड़गढ़ के "चन्दन वृक्ष" के वर्णन में यह सायास सांकेतिकता देखने को नहीं मिलती । सिंहलगढ़ का वर्णन विशद् है, चित्तौड़गढ़ का वर्णन अपेक्षाकृत कम विस्तृत है ।

उपसंहार—पद्मावत की वर्णनात्मकता की यही रूपरेखा है । पद्मावत में जहाँ एक ओर बाह्य प्रकृति—वन, मेघ, पेड़, पौधे ऋतु इत्यादि का हृदयग्राही वर्णन है वहाँ दूसरी ओर मानव प्रकृति, परिस्थितियों के संघर्ष में क्रियाशील मानव की विभिन्न मनोस्थितियों का भी सूक्ष्म विश्लेषण देखने को मिलता है । समर्थ कवि की दृष्टि जगत और प्रकृति, अन्तर और बाह्य, सभी स्थलों को भेद जाती है, और जायसी की दृष्टि इतनी तीव्र थी, इसमें सन्देह नहीं । सफल वर्णन के लिये सबल अनुभूति की अपेक्षा रहती है, पद्मावत के वर्णनों के आधार पर यह निर्णय सहज ही हो सकता है कि जायसी की अनुभूति कितनी सर्व-व्यापिनी है अथवा किस सीमा तक संकीर्ण है। समुद्र वर्णन को देख कर यह अनुमान सहज ही है कि जायसी ने समुद्र का दर्शन नहीं किया था, दूसरी ओर ढाक का स्थल-स्थल पर उल्लेख संस्कारगत कहा जा सकता है । यह मानव स्वभाव की कमजोरी है—संस्कारों के प्रभाव से मुक्त रह सकना असम्भव है । दूसरी ओर अमेठी के ऊसरों में वर्षा का अभाव तथा पद्मावत में नागमती वियोग खण्ड में

"जग जल बूड़ जहँ लगि ताकी' जैसी पंक्तियों में मूर्तिमान वर्षा जायसी के कवि-सौहार्द्र का परिचय मिलता है । समग्र रूप से पद्मावत की वर्णनात्मकता निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ है । इस क्षेत्र में कवि ने अपनी कृति के महाकाव्योचित गौरव की रक्षा की है ।

———

चरित्र चित्रण

भारतीय काव्य पद्धति में चरित्र चित्रण की अपेक्षा रस को अधिक महत्व दिया गया है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन काव्यों के नायकों में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के बहुत कम दर्शन होते हैं। लगभग सभी काव्यों के नायक चार ही कोटियों के हैं—१—धीरोदात्त २—धीरोदत्त ३—धीर प्रशान्त ४—धीर ललित। किन्तु रस का अपेक्षाकृत अधिक महत्व होने के कारण नायक प्रायः रस की व्यंजना का साधन बन कर रह गये हैं, उनका चरित्रगत महत्व निश्शेष हो गया है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी मूलतः व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के चित्रण की अपेक्षा जातिगत चित्रण को अधिक महत्व दिया गया। किन्तु फिर भी पाश्चात्य साहित्यकार इस विषय में अधिक सतर्क थे। पुनर्जागरण अथवा 'Renaissance' के पश्चात् शेक्सपियर तक आते-आते चरित्र चित्रण पर बल दिया जाने लगा था। स्वयं शेक्सपियर के नाटकों में उच्च कोटि की चरित्र चित्रण कला के दर्शन होते हैं तथा यह सर्वमान्य है कि शेक्सपियर ने एक से एक सुन्दर व्यक्तित्व संपन्न चरित्रों की सृष्टि की है।

चरित्र चित्रण की दो प्रणालियाँ हैं— १—वर्णनात्मक २—व्यंजनात्मक। वर्णनात्मक प्रणाली में कवि चरित्र और पाठक के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है तथा स्थल-स्थल पर अपने चरित्र की विशेषताओं का कथन करता चलता है। इस प्रकार की चित्रण कला उच्च कोटि की नहीं मानी जाती। वास्तविक चरित्र चित्रण की प्रणाली तो व्यंजनात्मक प्रणाली है। इसमें पात्र की चरित्रगत विशेषताओं की परिस्थितियों एवं घटनाओं की उथल-पुथल के बीच आप से आप व्यंजना होती चलती है। दूसरे शब्दों में पात्रों का चरित्र शनैः-शनैः विकास को प्राप्त होता है। सहृदय को दृष्टि में रख कर ऐसा चरित्र चित्रण ही श्रेष्ठ है, कारण की की पात्रों के गुण-अवगुणों के स्वाभाविक विकास से ही न कि उनमें गुणों-अवगुणों का आरोप करने से, साधारणीकरण की स्थिति तक पहुँचने में सुविधा रहती है।

पद्मावत के पात्रों के चरित्र चित्रण का विचार करते समय सर्वप्रथम तथ्य यह स्पष्ट होता है कि पद्मावत के पात्रों का व्यक्तित्व द्विगुण सम्पन्न है—१—लौकिक व्यक्तित्व २—अलौकिक व्यक्तित्व। प्रो० शिवसहाय पाठक ने पद्मावत के पात्रों के पांच प्रकार के स्वभावों की चर्चा की है।[1] —आदर्श स्वभाव २—जातिगत स्वभाव ३—व्यक्तिगत स्वभाव ४—सामान्य स्वभाव ५—अलौकिक स्वभाव। किन्तु हमारे विचार से व्यक्तिगत स्वभाव के अन्तर्गत आदर्श, जातिगत एवं सामान्य स्वभाव का अन्तर्भाव लिया जा समता है कारण कि आदर्श, जातिगत गुण तथा सामान्य स्वभाव सम्बन्धी गुणों का आलम्बन तो व्यक्ति स्वयं

१. पद्मावत का काव्य सौंदर्य—प्रो० शिवसहाय पाठक, पृष्ठ १८०।

ही है, फिर इन गुणों को उससे पृथक दिखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस प्रकार जायसी के पात्रों का व्यक्तित्व केवल दो प्रकार का है—१—व्यक्तिगत अथवा वह लौकिक महत्व जिसका कि अंकन कवि ने रत्नसेन-पद्मावती कथा कहने के उद्देश्य से किया है :—

"सिंघल दीप पदुमिनी रानी
रतनसेन चितउर गढ आनी।
अलाउदी ढीलो सुलतानू
राघौ चेतन कीन्ह बखानू।
सुना साहि गढ छेका आई
हिन्दू तुरकहिं भई लराई
आदि अंत जसि कथ्था अहैं
लिखि भाषा चौपाई कहैं।"

२—आध्यात्मिक अथवा अलौकिक व्यक्तित्व, जिसका संकेत जायसी ने प्रत्येक पात्र को एक दिव्यतर व्यक्तित्व का व्यंजक बना कर किया है। दूसरे शब्दों जायसी ने प्रत्येक पात्र पर उसके आध्यात्मिक प्रतिरूप का आरोप किया है। "मन राजा तन चितउर कीन्हा" इत्यादि पंक्तियों में जायसी ने अपनी बात स्पष्ट भी कर दी है। अतः जायसी के चरित्रों के इस द्विविध व्यक्तित्व के दोनों पक्षों की रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

रत्नसेन—लौकिक दृष्टि से रत्नसेन का व्यक्तित्व एक शूरवीर प्रेमी का व्यक्तित्व है। सर्वप्रथम रत्नसेन हमारे समक्ष एक दृढ़ निश्चयी प्रेमी के रूप में आता है। हीरामन सुआ से पद्मावती के रूप की चर्चा सुन कर वह उसकी प्राप्ति के लिए आतुर होकर राजपाट, पत्नी, माता आदि सबको त्याग कर चल देता है। इस समय उसका व्यक्तित्व एक त्यागी प्रेमी का-सा है, जिसमें अपने निश्चय के प्रति निष्ठा कूट-कूट कर भरी है। हीरामन सुआ राजा रत्नसेन को बोध देने का प्रयास करता है।

"तुम्ह राजा औ सुखिया, करहु राज सुख भोग
एहि रे पंथ सो पहुँचै, सहै जो दुक्ख वियोग।"

किन्तु राजा के मन में तो प्रेम का अंकुर फूट चुका था, उसकी तो चिन्तन पद्धति ही बदल गई थीः—

"गुरू विरह चिनगी पै मेला
जो सुलगाइ लेइ सो चेला।
अबकै फनिग भृंगि कै करा
भंवर होउ जेहि कारन जरा।"

इसके पश्चात्

'जहि के हिये पेम रंग जामा
का तेहि भूख नींद विसरामा ।"

यहां तक कि रत्नसेन सूली का भी हंसते-हंसते स्वागत करता है—

"जाकर जीव मरै परवसा
सूरी देख सो कस नहिं हंसा ।
आजु नेह सों होइ नवेरा
आजु पुहुमी तजि गगन बसेरा ।"

पद्मावती के प्रति रत्नसेन की यह निष्ठा, प्रेम की यह दृढ़ता वास्तव में अपूर्व है, असाधारण है ।

रत्नसेन क्षत्रिय है और अभिमान एवं पौरुष उसके अणु-अणु में व्याप्त है। राघव-चेतन से पद्मावती के रूप की चर्चा सुन कर अलाउद्दीन रत्नसेन के पास पद्मावती को समर्पित करने के लिये दूत भेजता है—उस समय रत्नसेन के मुख से निःसृत वचन उसके संस्कारों में व्याप्त जातीय अभिमान को कितने ओजयुक्त शब्दों में व्यक्त करते हैं :—

"सुनि अस लिखा उठा जरि राजा
जानहु देव तरपि घन गाजा ।
भलेहं सो पुहुमी पति भारी
मांग न कोइ पुरुख कै नारी ।
+ + +
का मोहि तें अस सूर अंगारा,
चढ़ौं सरग औ परौं पतारा ।
+ + +
विक्रम सरिस कीन्ह जेइं साका
सिंघल दीप लीन्ह जो ताका ।
ताकि सिंघ कै गहै को मोंछा
जो अस लिखा होइ नहिं ओका ।"

यहां उसका लोक-रंजनकारी स्वरूप है। शृंगार की दृष्टि से रत्नसेन दक्षिण नायक है ।

अलौकिक स्तर पर रत्नसेन का व्यक्तित्व एक साधक का ब्रह्मसाधना में लीन व्यक्तित्व है । यद्यपि जायसी ने रत्नसेन के साधक होने का उल्लेख नहीं किया किन्तु पद्मावत के पूर्वार्द्ध में वर्णित उसके चरित्र का विश्लेषण करने से यह तत्व स्पष्ट हो जाता है । कतिपय संकेत भी इस विषय में मिलते हैं :—

"चला भगुति मांगै कहं साजि कथा तप जोग
सिद्ध होउं पद्मावति पायें, हृदय जेहिक वियोग ।"

यहां "सिद्ध" और "वियोग" साभिप्राय प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार राजा गजपति से उसका कथन है :—

"सरग सीस धर धरतो, हिया सो पेय समुंद,
नैन कौड़िया होइ रह, लै लै उठहिं सो बुंद।"

रत्नसेन के व्यक्तित्व की यह सांकेतिकता, यह अलौकिक व्यक्तित्व का आभास जितना पूर्वार्ध में व्यंजित है, उतना उत्तरार्ध में नहीं।

पद्मावती—लौकिक स्तर पर पद्मावती एक आदर्श, निष्ठावती, प्रेमिका एवं एक दक्ष, व्यवहारकुशल नायिका है। रत्नसेन के लिये सूली की व्यवस्था की सूचना पा कर पद्मावती व्याकुल हो उठती है और उसके साथ प्राण त्याग देने को उद्यत हो उठती है। नागमती के साथ उसका वार्तालाप उसकी व्यवहारकुशलता को व्यक्त करता है। नागमती की वाटिका की वह एक साथ ही निन्दा भी करती है (इस बहाने से स्वयं नागमती को हीन सिद्ध कर रही है) और प्रशंसा भी।

जायसी ने पद्मावती के लोकरंजनकारी स्वरूप का भी चित्रण किया। राघव चेतन को देस निकाला दिया जा रहा है, ऐसा सुन कर वह सोचती है :—

"कै ग्यान धनि अगम विचारा
भल न कीन्ह अस गुनी निसारा।
जेइं जाखिनी पूजि ससि काढी
सुरुज के ठाउं करै पुनि ठाढी।
कवि कै जीभ खरग हिरवानी
एक दिसि आग सर दिसि पानी॥"

और तब वह राघवचेतन को सूर्यग्रहण की दक्षिणा देने के बहाने बुला भेजती है तथा कंगन देकर उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। यहाँ जायसी ने पद्मावती की दूरदर्शिता को व्यक्त किया है। "पद्मावती गोरा बादल संवाद खंड" में पद्मावती के चरित्र की और भी महत्वपूर्ण रेखायें स्पष्ट होती हैं। वह स्वयं चल कर गोरा बादल के पास जाती है, मानों अपने पति द्वारा किये गये उन दोनों वीरों के प्रति अन्याय का समाधान करने आयी हो। पद्मावती ने उन दोनों वीरों को गौरव दिया, इससे उसके स्वभाव का सारल्य व्यक्त होता है।

पद्मावती पद्मिनी जाति की नारी है। यद्यपि पद्मिनी जाति की होने के कारण उसके स्वभाव पर अथवा चरित्र पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु फिर भी इतना अवश्य है कि इसी कारण उसमें प्रेम निष्ठा आ गई है। राघव चेतन हस्तिनी नारी की विशेषताएँ बताते हुए कहता है कि वह विश्वास करने पर विश्वासघात करती हैं :—

'मद जस मंद बसाइ पसेऊ
औ विश्वास धरे जस देऊ।"

हस्तिनी निम्नतम कोटि की नारी है। यदि कोटियों के अनुसार प्रेम अथवा रति की एक निष्ठता में वृद्धि मानी जाये तो स्वतः सिद्ध है कि पद्‌मिनी नारी में यह गुण सर्वाधिक मात्रा में होगा। आज के मनोविज्ञान की शब्दावली में कहें तो कहना होगा कि पद्‌मिनी नारी में यौन-स्थापन अथवा यौन-निष्ठा (Sexual Fixation) अन्य नारियों की अपेक्षा सर्वाधिक होती है। पद्‌मावती में यह गुण है और स्थल-स्थल पर प्रकट होता है। रत्नसेन के प्रति उसकी सारी व्याकुलता इसी कारण है कि रत्नसेन उसकी (Sexual Fixation) का आधार है। देवपाल दूती खंड एवं बादशाह दूती खंड में वह अपने सतीत्व की रक्षा इसी कारण कर पाती है। इस यौन-निष्ठा की चरम परिणति के दर्शन हमें पद्‌मावती-नागमती सहगमन में होते हैं। पद्‌मावती कहती है—

"एहि दिवस हौं चाहति नाहा,
चलौं साथ बाहों गल बाहाँ।
सारस पंख न जियैं निनारे,
हौं तुम्हें बिनु का जियौं पियारे।" और इसके पश्चात्
"लागि कंठ आगि दै होरी
छार मह जरि अंग न भोरी।।"

यह एक निष्ठ प्रेम-परिणति पद्‌मावती में प्रकृति-जन्य है।

अलौकिक स्तर पर पद्‌मावती ब्रह्म अथवा अलौकिक शक्ति का प्रतीक है पद्‌मावती के विषय में जायसी ने आध्यात्मिक संकेत अत्यन्त मुखर कर दिये हैं। पद्‌मावती के नख-शिख वर्णन में ही कवि उसके व्यक्तित्व में अलौकिकता का आभास देता चलता है।—

"बेंनी छोरि झार जो केसा
रैनि होइ जग दीपक लेसा
सिर हुति सोहरि परहिं भुइं बारा
सगरे देस होंई अंधियारा।"

मानसरोदक खंड की "पावा रूप रूप कै दरसँ" जैसी पंक्तियों में तो सांकेतिकता स्पष्ट है। वस्तुतः सूफियों की ब्रह्म कल्पना अत्यन्त रूपवती नारी की कल्पना है और जायसी ने अलौकिक रूपमत्ता शब्द का पद्‌मावती के रूप-सौंदर्य पर आरोप करने का प्रयास किया है।

नागमती—नागमती का चरित्र पद्‌मावत के अत्यन्त महत्वपूर्ण चरित्रों में से है। नागमती एक आदर्श भारतीय सद्‌गृहस्थ नारी तथा प्रेषित पति का स्वकीया प्रति नायिका के रूप में चित्रित है। नागमती स्वभाव से शंकालु तथा ईर्ष्यालु है। सुग्गे के मुख से अपने रूप की भर्त्सना और पद्‌मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर वह क्रोधावेश में उसका अन्त करने की सोचती है किन्तु पति की प्रतारणा से वह अपनी भूल को स्वीकार करती है और पति से क्षमा माँगती है—

"मान मते हा गरब जो कीन्हा
कहा तुम्हार मरम मैं चीन्हा
सेवा करैं जो बरहौं मासा
एतनिक औगुन करहु विनासा ॥"

नागमती का पति प्रेम कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। रत्नसेन राजपाट छोड़ कर प्रेममार्ग पर जाने को उद्यत है, नागमती भी उसके साथ जाने का हठ करती है—किन्तु रत्नसेन के समझाने पर वह विवश होकर अपनी हठ तोड़ती है।

पक्षी को दूत बना कर नागमती ने रत्नसेन को जो संदेश भेजा, उसमें पद्मावती के प्रति कहे गये उसके वचन उसके चरित्र की उज्ज्वलता तथा निःस्वार्थ पातिव्रत्य को व्यक्त करते हैं:—

"मोहिं भोग सों काज न बारी,
सौंह डीठि के चाखन हारी।
सवति न होसि तू बारिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोथ पायं मोर माथ॥"

नागमती का व्यक्तित्व विरह दीप्त व्यक्तित्व है। हिन्दी साहित्य की विरहिणी नायिकाओं में यदि दो सर्वश्रेष्ठ विरहिणियों का चयन किया जाये तो एक सूर की गोपियाँ होंगी और दूसरी नागमती। प्रो० शिवसहाय पाठक ने उचित ही कहा है प्रेम अश्रुमय स्वरूप का (And love is loveliest when embalmed in tears) नागमती के चरित्र द्वारा सुन्दर काव्यात्मक निरूपण हुआ है।[1] वस्तुतः पद्मावत में नागमती जायसी के जलते हृदय की ज्वाला है। "साकेत : एक अध्ययन" में डा० नगेन्द्र ने सर्वथा उचित कहा हैं कि प्रत्येक महाकवि के हृदय में एक विरहिणी निवास करती है—कालिदास के हृदय में वह विरहिणी शकुन्तला थी, तो जायसी के हृदय में वह विरहिणी है नागमती।

नागमती का अलौकिक स्वरूप विशेष स्पष्ट नहीं है। वैसे जायसी ने नागमती को "गोरखधन्धा" अथवा "संसार प्रपंच" कहा है किन्तु नागमती के विषय में यह उक्ति सर्वथा सटीक नहीं बैठती।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन पद्मावत में एक शूरवीर प्रतापी सुल्तान के रूप में चित्रित है। जायसी ने उसे रूप लोभी भी दिखाया है। पद्मावती पर आसक्ति रखने के कारण वह प्रतिनायक बन गया है। जायसी ने अलाउद्दीन की सेना की साज सज्जा का बड़ा भव्य वर्णन किया है। उस वर्णन को देखकर अलाउद्दीन के वैभव के प्रति पाठक के मन में रोमांच हो आता है। प्रतिनायक के नाते अलाउद्दीन के चरित्र में हीनता की जो गन्ध आनी चाहिये, इस वर्णन से उस पर पटाक्षेप होता है।

वस्तुतः अलाउद्दीन के चरित्र वर्णन में एक बहुत बडे विडम्बना (Fallacy)

१. पद्मावत का काव्य सौंदर्य—प्रो० पाठक—पृष्ठ १८६।

है। वह प्रतिनायक है—कवि उसके प्रति सहिष्णु नहीं है—किन्तु फिर भी प्रतिनायक के व्यक्तित्व से सहृदय की रागात्मक चेतना का जो अभावात्मक संबल मिलना चाहिये, वह नहीं मिल पाता। हमारा अभिप्राय यह है कि अलाउद्दीन अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट है फिर भी उसे चित्तौड़ विजय करने में आठ वर्ष से अधिक समय लगा।

"आठ बरसि गढ छेंका अहा
धनि सुलतान कि राजा महा।
आइ साहि अवराउं जो लाए
फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए।"

ऐतिहासिक तथ्य यह कि ६ मास के घेरे के अन्तर अलाउद्दीन ने गढ़ को विजय कर लिया तथा राजा रत्नसेन युद्ध में मारा गया—जायसी ने रत्नसेन का मारा जाना भी अला-उद्दीन के हाथों नहीं दिखाया। इस प्रकार जायसी की सहानुभूति रत्नसेन के साथ, अन्ततः हिन्दुओं के साथ दिखाई पड़ती है, यद्यपि मुसलमान होने के कारण उनकी सहानुभूति सुल्तान के साथ होनी चाहिये। साहित्य में अनेक ऐसे अपवाद मिलते हैं कि कवि की सहानुभूति इच्छित दिशा से विभिन्न दिशा में फूट पड़ती है। माइकेल मधुसूदन दत्त के "मेघनाद बध" और Homer के Illiad का उदाहरण दिया जा सकता है। माइकेल मधुसूदर की सहानुभूति राम लक्ष्मण के साथ न होकर रावण-मेघनाद के साथ है, Homer की सहानु-भूति अपने देशवासी यूनानियों के साथ न होकर ट्रोजन लोगों के साथ है। इसी प्रकार जायसी की सहानुभूति भी मुसलमान सुल्तान के साथ न हो कर हिन्दू राजाओं के साथ है। अलाउद्दीन की सेना को देख कर रत्नसेन की रानियों का (अथवा उनके व्याज से जायसी का) कथन है:—

"चढि धौराहर देखहिं रानी
धनि तू असि जाकर सुलतानी।
कै धनि रतनसेनि तू राजा
जाकहं बोलि कटक अस साजा।"

किन्तु सहानुभूति का यह स्थानांतरण होने पर भी कवि अलाउद्दीन के पर-नारी लोभ की निन्दा करने में असमर्थ है, दूसरे शब्दों में कवि काव्यगत औचित्य (Poetic Justice) की रक्षा करने में असमर्थ है। किस कारण से—सम्भवतः राज्यदण्ड के भय से।

अलाउद्दीन के चरित्र में वीरों को आदर देना इत्यादि गुणों का भी समावेश है।

अलौकिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से अलाउद्दीन शैतान अथवा ब्रह्म जीव के बीच में बाधक तत्व के रूप में व्यंजित किया गया है। किन्तु उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विषय में पाठक सर्वथा निर्भ्रान्त मत स्थिर करने में असमर्थ है।

राघव चेतन—राघव चेतन संस्कार रहित प्रतिभा का अच्छा उदाहरण है। उसके गुणों का उल्लेख करते हुए जायसी कहता है—

"चित्त चिंता जानै बहु भेऊं
कवि बियास पंडित सहदेऊ
+ + +
सिंघल कवि पिंगल सब मथा
+ + +
बेद भेद जस बर रुचि, चित्त चिंता तस चेत"

अतः राघव चेतन में अगाध पांडित्य था किन्तु उसके पांडित्य में विवेक और शील का अभाव था। फलतः वह पांडित्य संस्कार रहित एवं दिशाभ्रष्ट था इसी कारण राघव चेतन उसका सदुपयोग नहीं कर सका। अपने आश्रयदाता के साथ भी उसने विश्वासघात किया।

राघव चेतन वामपक्षी समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है और भूत, प्रेत, यक्षिणी इत्यादि की पूजा से विश्वास करता है। जायसी ने वाममार्गियों की स्थल-स्थल पर हंसी उड़ाई है, इसी कारण राघव चेतन को भी वे सद्परिणाम तक नहीं पहुँचा सके।

शास्त्रीय दृष्टि से राघव चेतन प्रतिनायक का सहयोगी है। उसके व्यक्तित्व के प्रति सहृदय का मन घृणा से भर उठता है।

आध्यात्मिक अर्थ में राघव चेतन शैतान अलाउद्दीन का साथी है।

गोरा बादल—गोरा बादल का चरित्र उज्ज्वलता और कर्त्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से पद्मावत का सर्व श्रेष्ठ चरित्र कहा जा सकता है। इन दोनों के चरित्र के दो उज्ज्वल पक्ष हैं—स्वाभिमान और स्वामिभक्ति। इनके स्वाभिमान के दर्शन उस स्थल पर होते हैं जबकि अलाउद्दीन-रत्नसेन मेल के पश्चात् ये राजा को अलाउद्दीन पर बहुत अधिक विश्वास न करने की चेतावनी देते हैं। राजा इनकी चेतावनी को विशेष महत्व नहीं देता तो इनके आत्म-सम्मान को ठेस लगती है और ये राजा को परामर्श देना स्थगित कर राज्यकार्य से एकान्त-वास ग्रहण करते हैं।

गोरा बादल का शेष चरित्र स्वामिभक्ति से ओत-प्रोत है। रत्नसेन के बंधने के के पश्चात् पद्मावती गोरा बादल के पास जा कर सहायता माँगती है। गोरा बादल उससे पूर्व ही कह उठते हैं—

"अग्या होइ वेगि कै, जीव तुम्हारे काज"

यद्यपि वे रत्नसेन से रूठ गये थे किन्तु वे कहते हैं कि हम जीते जी कभी द्रोह नहीं करेंगे—

"जब लगि जियहिं न सकहिं दोहू"

कर्त्तव्य की कैसी निष्ठा है, कितनी उत्कट स्वामिभक्ति है। बादल अपनी गौने में आई हुई वधू का मुख भी देखना नहीं चाहता—"चलत न तिरिया का मुख दीसा"—बादल कहता है कि हे नवागता, तुम गौने में आई हो अवश्य किन्तु मेरे रणगमन का उद्देश्य भी यह है कि मैं अपने स्वामी के पास पहुँच जाऊँ।

"जो तुइ गवन आइ गजगामी
गवन मोर जहवाँ मोर स्वामी।" नव वधू जानती है कि यह गवन आगमन के लिये नहीं है, माता भी जानती है और स्वयं बादल भी जानता ही है कि संसार की सारी इच्छाओं, यौवन की सारी लालसाओं को वह इस प्रकार ठुकरा रहा है, सम्भवतः पुनः उनकी प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु कर्तव्यपरायणता है, स्वामिभक्ति है, वचन पालनता है कि पग पीछे हटता ही नहीं। दोनों हैं कि प्राण हथेली पर लेकर मृत्यु के अखाड़े में उतरते हैं और स्वामिभक्ति पर स्वयं को एक-दूसरे से पहले न्यौछावर कर देना चाहते हैं—

बादल "तू अब राजहिं ले चलु गोरा,
हौं अब उलटि जुरौं या जोरा।
ढहुँ चौगान तुरक कस खेला,
होइ खेलार रन जुरौं अकेला।"

गोरा "पिता मरै जो मारै साथे,
मींचु न देइ पूत के माथे।
+ + +
बहुतन्ह मारि मरौ जो जूझी,
ताकहँ जनि रोवहु मन बूझी।"

और गोरा सुल्तान से टक्कर लेकर समाप्त हो गया किन्तु उसका शरीर वह पहाड़ था जो तब तक नहीं हिला जब तक कि बादल राजा को लेकर सुरक्षित सीमा में नहीं पहुँच गया। बादल भी चित्तौड़ गढ़ की रक्षा करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार इनका चरित्र अत्यन्त उज्जवल अंकित किया गया है। आचार्य शुक्ल का यह कथन इनके विषय में सर्वथा सत्य है—

"अबलाओं की रक्षा से जो माधुर्य योरुप के मध्य युग के नाइटों की वीरता में दिखाई पड़ता था, उसकी झलक के साथ ही साथ स्वामिभक्ति का अपूर्व गौरव इनकी वीरता में देख मन मुग्ध हो जाता है। जायसी की अन्तर्दृष्टि धन्य है जिसने भारत के इस लोकरंजनकारी क्षात्रतेज को पहचाना।"

पद्मावत में अन्य कोई ऐसा पात्र नहीं है जिसका चरित्र महत्वपूर्ण हो। पूर्वार्ध[1] में

१. आचार्य शुक्ल —जायसी ग्रंथावली की भूमिका—पृष्ठ १२८।

राजा गजपति और सिंहल का राजा गन्धर्वसेन, दो व्यक्ति ऐसे हैं जो पद्मावत के गौण पात्र हैं किन्तु उनकी चारित्रिक रेखायें स्पष्ट नहीं हैं और न ही महत्वपूर्ण। मानव भाषा-भाषी शुक का कथावस्तु की गति निर्धारित करने में यथेष्ट हाथ है किन्तु वह पद्मावत की कथानक रूढ़ि का एक अंग है तथा वह कार्य-कलाप का भोक्ता न हो कर एक संदेशवाहक पक्षी है। यदि उसे गुरु माना जाय तो भी उसके इस रूप की महत्ता दृष्टि से ओझल नहीं होती।

इस प्रकार पद्मावत में मुख्यतया ये ही चरित्र हैं। चरित्र चित्रण कला एवं प्रभाव की दृष्टि से नागमती और राघव चेतन दो विशेष महत्वपूर्ण चरित्र हैं। प्रतिनिधि चरित्र के रूप में गोरा बादल का चरित्र विशेष रूप से दृष्टव्य है। अलाउद्दीन का चरित्र जिस ईमानदारी से चित्रित किया जाना चाहिये था, वैसा नहीं किया गया। रत्नसेन एवं पद्मावती के चरित्र प्रमुखतया सांकेतिक रेखाओं से रंजित हैं, इनके चरित्र असाधारण हैं, यद्यपि रत्नसेन के अलौकिक व्यक्तित्व की रेखायें सर्वथा पुष्ट नहीं हैं।

पद्मावत का अध्यात्म

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध क्या है ? दोनों में कितना अन्तर है ? और यह अन्तर कैसे दूर किया जा सकता है ? आदि कुछ ऐसी जिज्ञासाएं हैं जिनके लिए संसार भर में अनेक प्रयत्न हुए। किसी देश, जाति या धर्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई भी सृष्टि की अलौकिकता पर विस्मित होकर इस प्रकार का जिज्ञासु हो सकता है। इसीलिए संसार के भिन्न-भिन्न केन्द्रों में इस प्रकार की जो आध्यात्मिक खोजें हुई, उनमें तत्वतः एकताएँ अधिक हैं। संसार की अनित्यता और क्षणभंगुरता इस विचार-धारा में प्रेरक शक्ति बनती है, इसलिए वैराग्यमूलक निवृत्ति मार्ग ही इस भावना में प्रधान है। आध्यात्मिक विचारकों के सिद्धान्तों में भी बहुत साम्य मिलता है, क्योंकि बिना उदारता के आध्यात्म-भावना हो ही नहीं सकती।

जायसी पहुँचे हुए साधु थे। उनके जीवन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्होंने गार्हस्थिक जीवन व्यतीत तो किया था पर पुत्र की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया था। उनका सम्पर्क भी पीरों से ही अधिक था, अमेठी के राज घराने में वे सम्मानित थे। उन्हें जीवन के सुखों का अच्छा अनुभव था। फिर भी उनकी मूल-वृत्ति आध्यात्मिक ही रही।

जायसी ने हिन्दू-दर्शन का भी ज्ञान प्राप्त किया। उनका यह ज्ञान गम्भीर अध्ययन का फल न था, सुना-सुनाया मात्र था। जायसी ने जो कुछ दार्शनिक ज्ञान प्राप्त किया उसका प्रयोग अवश्य किया। इसीलिए उनका मत संकीर्ण न रहा उसमें व्यापकता आ गई। कुतुबन, मंझन, उसमान आदि की भाँति उनकी आध्यात्मिक भावना एकांकी न रह सकी और न उनके काव्य में नीरसता आ सकी।

जायसी के अध्यात्म की मूल भावना प्रेम है। इश्क मजाजी के द्वारा ही इश्क हकीकी तक पहुँचा जाता है। यही कारण है कि पद्मावत की लौकिक कहानी के सहारे ही उन्होंने अपने आध्यात्मिक-प्रणय का प्रकाशन किया है। पद्मावत एक मसनवी-कथा है। लौकिक प्रेम का बाह्याकार है, पर बीच-बीच में आध्यात्मिक संकेत मिलते जाते हैं। कथा के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में आरम्भ से सिंहल द्वीप से प्रस्थान करने तक और उत्तरार्द्ध में शेष कथा भाग है। आरम्भ से ही कवि आध्यात्मिक संकेत करने लगता है। पद्मावती के जन्म में ही संकेत विद्यमान है—

"सिंघलद्वीप राजघरबारी। महा सरूप दई औतारी॥"

"औतारी" शब्द ही अलौकिक (ब्रह्म) स्वरूप की ओर इंगित करता है। मानसरोवर-खण्ड में तो आध्यात्मिक संकेत पर्याप्त मात्रा में हैं। पद्मावती में ब्रह्मत्व की दिव्य झलक प्रतीत होती है—

"सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरइ लेइ।
पाँव छुवै मकु पावै, यहि मिस लहरहिं लेइ॥"

सखियाँ खेल में जो वार्ताएँ करती हैं वे सभी आध्यात्मिक संकेतों से युक्त हैं—

"ऐ रानी मन देखु विचारी। यहि नैहर रहना दिन चारी॥

\+ \+ \+

पुनि सासुर हम गौनव काली। कित हम कित यह सरवर पाली॥
सासु ननद बोलन्हि जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं॥"

यहाँ पर 'नैहर' से जायसी का तात्पर्य संसार से है। जीव को इस संसार में चार दिन ही रहना है, फिर परलोक का गमन करना है। यहाँ संसार रूपी मानसरोवर के पास जीव को अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधन हैं, पर अन्त में उसे उस पार अवश्य जाना है, जहाँ प्रियतम परमेश्वर है। सास-ननद के कटुवचन से तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्मों की गणना होगी और जीवन के गुणों-अवगुणों की ही आलोचना होगी। मुसलमानों के मत में पुनर्जन्म नहीं होता, इसी से जायसी लिखते हैं कि ससुर आने नहीं देता।

हीरामन तोता पूर्वार्द्ध की कथा में प्रधान है। वह सूफी पंथ का गुरु है। जहाँ उस तोते का वर्णन जायसी करते हैं, उसमें आध्यात्मिक संकेत विद्यमान हैं—

"जो बोले तो मानिक मूँगा। नाहित मौन बाँधि होइ गूँगा॥

\+ \+ \+

सुरुज चाँद के कथ्या कहा। प्रेमक गहन लाइ चित रहा॥
जो जो सुनै धुनै सिर, प्रीति क होइ अगाहु।
अस गुनवंत नाहिं भल सुअटा, बाउर करिहै काहु॥

तोता साधना मार्ग का गुरु है। गुरु के ज्ञान का संकेत माणिक्य और मूँगा से कराया गया है। यह साधना प्रेम-मार्गी है, अतः उसने प्रेम की कथा कह कर राजा में अगाध

प्रीति उत्पन्न कर दी। मतवालापन सूफी मत की विशेषता है, इसका संकेत "बाउर करिहै काहु" में कवि ने रख दिया है।

तोते का वर्णन लौकिक है, पद्मावती के नख-शिख में कोई आध्यात्मिकता नहीं है, पर उसे सुन कर रत्नसेन जोगी बन जाता है। उसमें जागरण हो जाता है और "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" को ही जायसी अपने शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"ठाँवहिं ठाँव सोवैं सब चेला। राजा जागै आपु अकेला ॥
जेहि के हिए प्रेम रंग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥"

पद्मावत प्रेम-गाथा है। कथानक में सैंकड़ों स्थल कवि को मिलते हैं, जबकि वह अपने आध्यात्मिक-प्रेम की अभिव्यक्ति करता है। साधारण संवादों में ही जायसी अनुकूल अवसर निकाल कर व्याख्यान करने लग जाते हैं। नागमती-सुआ-सम्वाद में नागमती राजा से कहती है—

"मैं जाना तुम्ह मोंही माहाँ। देखों ताकि तौ हौ सब पाहाँ।
तुम्ह सों कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिलै आपु जो खोवै, करै तुम्हारा खोज ॥"

भाव यह है कि ईश्वर निर्लिप्त है, उसका आध्यात्मिक-प्रणय-प्रकाश घट-घट में समान रूप से समाया है। साधक परमेश्वर प्रेम का एकाधिकारी नहीं, वह तो केवल उसकी कृपा मात्र का पाने वाला है। उसके रहस्य को कोई नहीं जान सकता, उसका प्रेम तो त्याग और उत्सर्ग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। नख-शिख वर्णन में भी उन्होंने अवसर निकाला है। पद्मावती की भौंहों का वर्णन कर रहे थे उसी बीच में आध्यात्मिक-प्रणय का उद्घाटन करने लगे—

"उन बानन्ह अस को जो न मारा, बेधि रहा सगरौं संसारा ॥
गगन नखत जस जाहिं न गने, हैं सब बान ओहि के हने ॥"

\+ \+ \+

बरुनि बान सब ओ पह, बेधे रन बन ढंख।
सउजन्ह तन सब रोवाँ, पंखिन्ह तन सब पंख ॥

तात्पर्य यह है कि सर्वत्र उसी के प्रेम का प्रसार है। वह सर्व व्यापक है। सूर्य, चन्द्र, तारे, पशु, पक्षी वृक्ष सभी उसी से बंधे हैं।

सूफी-प्रेम की विशेषता विरह है। प्रेम के साथ ही विरह-ज्वाला प्रज्वलित होती है जो कि साधकों में जीवन पर्यन्त जगती रहती है। प्रेम तो बाह्याकार है उसका अन्तस्तल विरह ही है—

"नाउँ मीठ खाएँ जिउ दीजै।"

इस मार्ग में दुःख ही दुःख है "एहि रे पंथ सो पहुंचै, रहै जो दुक्ख वियोग।" सूफी

विरह-साधना में जायसी ने भारतीय हठयोग का भी सम्मिश्रण कर रखा है। सिंहलगढ़ में हठयोगी सिद्धान्तों की अवस्थिति इन्होंने की है। सिंहलद्वीप को इन्होंने कैलाश कहा है, उसके पास ही सातवां समुद्र मानसर बताया है। आध्यात्मिक-पक्ष में मानसर मन की साधना का अन्तिम स्थल है। इस स्थिति के पश्चात् ही योगी को परमेश्वर का साक्षात्कार होने लगता है। तभी तो मानसर के समीप पहुँचते ही सभी जोगी "अस्तु-अस्तु" बोल उठे :—

अस्तु अस्तु जोगी सब बोले, अन्ध जो अहै नैन विधि खोले।"

सिंहलगढ़ के वर्णन में हठयोगी सिद्धान्त स्पष्ट है—

"नव पवरी बाँको नव खण्डा, नवहुँ जो चढ़ै जाय ब्रह्मंडा ॥

+ + +

हिम्र न समाइ दिष्टि नहिं पहुँचै जानहु ठाढ़ सुमेरु।
कहँ लगि कहौं उँचाई ताकरि, कहँ लगि बरनों फेरु ॥"

हठयोगी साधना के साथ ही उन्होंने सूफी-साधना का मेल बैठाने का प्रयत्न किया है, इसीलिए नवखंड और नवपौरी के साथ ही सूफी मत की चार अवस्थाओं—शरीयत, तकीकत, हकीकत और मारिफत का भी संकेत करते गये हैं—

"नवौं खण्ड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरे पार ॥"

पद्मावती के प्रथम-मिलन में राजा मूर्छित हो जाता है, इससे पद्मावती की अलौकित सत्ता का आभास मिलता है। द्वितीय मिलन में भी रत्नसेन आध्यात्मिक प्रणय का ही संकेत करता है—

"को सोवै को को जागै, अस हौं गएउँ विमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि ॥"

पद्मावती और रत्नसेन के मिलन के पश्चात् सूफी-सिद्धान्त का वह अंश शेष रह जाता है जिसमें शैतान प्रेमी और प्रेमिका को अलग करता है। इसीलिए जायसी ने उत्तरार्द्ध में राघव चेतन, अलाउद्दीन और देवपाल की कथाओं को ला जोड़ा है। शैतान में चमत्कार होता है, वह चमत्कार इन्होंने राघव चेतन में प्रस्तुत किया है। उसे यक्षिणी सिद्ध थी, वह प्रतिपदा में द्वितीया का चन्द्रमा दिखा देता है। शैतान शक्तिशाली और भंयकर भी होता है। उसका यह रूप वह अलाउद्दीन में प्रस्तुत करने हैं। प्रेम-गाथाओं में शैतान दूती आदि के द्वारा छल-प्रपंच भी रचता है, यह कार्य जायसी ने देवपाल से कराया है। तात्पर्य यह कि अपनी कथा को लोकप्रिय और हिन्दू भावना के अनुरूप करने के लिए जायसी ने शैतान का पूरा काम अपने तीन पात्रों—राघव चेतन, अलाउद्दीन और देवपाल के द्वारा करवाया है। तीनों की शैतानी जायसी ने अलग-अलग स्थल पर पूर्ण रूप से दिखाई है। अन्त में रत्नसेन के साथ जो व्यवहार किया गया वह शैतान ही कर सकता था—

"माँगत पानि आगि लै धावा। मोगरहुँ एक आइ सिर लावा"

बेचारा रत्नसेन जब पानी माँगता था तो उसे आग दी जाती थी और सिर पर एक लकड़ी की गदा मारी जाती थी।

वियोग के पश्चात् पद्मावती के सतीत्व के रूप में दोनों का शाश्वत् मिलन है। सती-खण्ड में किसी प्रकार का शोक का वातावरण नहीं है। सूफी मृत्यु में ही प्रियतम का मिलन मानता है और वही उसके आनन्द की चरम सीमा और विरह का अन्त है।

लै सर ऊपर खाट बिछाई, पौढी दुवौं कंत कंठ लाई।

+ + +

लागी कंठ आगि दै होरी। छार भई जरि अंग न मोरि॥
रातीं पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
जोरे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार॥

इस प्रकार रहस्य-भावना-प्रधान कथा का अन्त कवि ने शान्ति में ही किया है। ग्रन्थ न तो दुखान्त है और न सुखान्त। पुरुषों को वीरगति प्राप्त हो जाने और समस्त स्त्रियों के जौहर कर लेने के पश्चात् जब अलाउद्दीन गढ़ में प्रवेश करता है तो वहाँ राख मात्र ही दिखाई पड़ती है—

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी, दीन्ह उड़ाव पिरथमी झूठी॥"

अन्त में उपसंहार में जायसी अपनी आध्यात्मिक कहानी का रहस्य भी खोल देते हैं—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा। बिन गुरु जगत को निर्गुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बँधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पद्मावत की सम्पूर्ण कथा को यदि हम आध्यात्मिक रूपक की कसौटी पर कसना चाहें और कथा की प्रत्येक पंक्ति में आध्यात्मिक उपमान खोजने का प्रयास करें तो हमें निराश ही होना पड़ेगा। जायसी ने अन्य फारसी मसनवी-लेखकों का ही अनुकरण किया है। फारसी मसनवियों में भी लौकिक कथा को प्रधानता दी जाती है। आध्यात्मिक रहस्य तो लौकिक कथा के वेषाटोप में आवृत रहता है। अनुकूल अवसर पाकर ही कवि स्थल-स्थल पर अपने आध्यात्मिक संकेत को मुखर कर देता है। उसका लक्ष्य आध्यात्मिक ही होता है पर उसका साधन है लौकिक-प्रेम-कहानी। अपने लक्ष्य के लिए वह अपनी लौकिक कहानी की बलि नहीं चढ़ाता, पर अपने उद्देश्य पर पहुँचता अवश्य है और अपने उद्देश्य की सफलता अपने रूपक के उद्घाटन द्वारा प्रस्तुत कर जाता है।

अप्रस्तुत-योजना

कवि-कर्म जगद्दर्शन की अपेक्षा रखता है। काव्य जगत बाह्य जगत का प्रतिरूप ही है। भावात्मक सत्य का प्रत्यक्षीकरण कराने के लिये कवि गण स्थूल सृष्टि से उपयुक्त बिम्बों-प्रतिबिम्बों का चयन करके भावाभिव्यक्ति किया करते हैं। जिस वस्तु अथवा भाव का प्रत्यक्षीकरण अभिलाषित होता है, उसे प्रस्तुत कहते हैं और उसके प्रत्यक्षीकरण के लिये बिम्ब रूप में जिस वस्तु का बिम्ब रूप ग्रहण में किया जाता है, उसे अप्रस्तुत कहा जाता है। इस प्रकार काव्य में अप्रस्तुत योजना उस सामग्री अथवा वस्तु का नाम है जो मुख्य वस्तु अथवा काव्य साध्य (प्रस्तुत) को व्यक्त करने के लिये साधन रूप में प्रयोग की जाती है। इसी का दूसरा नाम अलंकार-विधान भी है।

अप्रस्तुत योजना का प्रयोजन अभिप्रेत अभिव्यंजना को सफल बनाना है। यह कार्य कई प्रकार से सिद्ध किया जाता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में,

"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुंचाने के लिये कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप, रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप रंग मिला कर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा-फिरा कर कहना पड़ता है।[१]" इस प्रकार अप्रस्तुत योजना का उद्देश्य येनकेनप्रकारेण वस्तु अथवा व्यापार की भावना को यथाशक्ति व्यक्त करना है।

अप्रस्तुत योजना की काव्य में क्या स्थिति है, इस विषय में आचार्य लोग एकदम सहमत नहीं हैं। संस्कृत में अप्रस्तुत योजना अथवा अलंकार विधान और काव्य के सम्बन्ध को लेकर एक दीर्घ विवाद की परम्परा उपलब्ध होती है। भामह, उदभट आदि आचाय ने अलंकारों को काव्य का साधन न मान कर साध्य रूप में स्थापित करने का प्रयास किया —किन्तु निरन्तर विकास को प्राप्त हुई काव्यशास्त्र-विवेचना में इतना महत्त्वपूर्ण विषय अनिर्णीत कैसे रह सकता था। फलत: आचार्य विश्वनाथ तक आते आते काव्य के उभय पक्षों—वर्ण्य वस्तु एवं उसके प्रत्यक्षीकरण के साधन अलंकारों—का पार्थक्य सर्वथा स्पष्ट हो गया और "रसात्मकं वाक्यं [काव्यं" जैसी अचूक एवं पुष्ट स्थापना सर्वमान्य हो गई।

हिन्दी काव्य शास्त्र (यदि उसे इस संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है तो) में यह विवाद पुनः प्रस्फुटित हुआ किन्तु अल्प समय में ही समाप्त भी हो गया। केशव के "भूषन बिनु न विचारई कविता बनिता मित्त" के विरुद्ध देव ने बड़ी सबल धारणा व्यक्त की—

१. "कविता क्या है' —चिन्तामणि—आचार्य शुक्ल पृष्ठ १८१।

"अलंकार भूषन सुरस जोव छन्द तन भाख।
बिन भूषन हू तन जिये, बिन जीवन तन राख॥"

आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े स्पष्ट शब्दों में काव्य का अंगी-अंग विश्लेषण किया तथा अलंकारों आदि के विषय में उनकी स्थापना है,

"पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये (अलंकार) साधन हैं, साध्य नहीं।[1]" इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों अथवा अप्रस्तुत योजना का स्थान गौण है, प्रमुख नहीं, साधन रूप में है। साध्य रूप में नहीं।

जायसी की अप्रस्तुत योजना पर विचार करने से पूर्व एक अन्य बात का भी स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। सम्पूर्ण रूप से पद्मावत अपने आप में एक विशाल अन्यपरक-कथा अथवा Allegory है। आचार्य शुक्ल ने पद्मावत को "समासोक्ति" कहा है। इस प्रकार पद्मावत के कलेवर में प्रस्तुत (रत्नसेनपद्मावती की कथा) के माध्यम से अप्रस्तुत (आध्यात्मिक प्रेम) की व्यंजना है अतः मूलतः पद्मावत को समासोक्ति अलंकार का वृहद् संस्करण ही कहा जा सकता है। किन्तु जब हम पद्मावत की अलंकार योजना का विवेचन करते हैं तो हमारा आशय उन बाह्य शैलीगत गुणों का स्पष्टीकरण एवं निरीक्षण होता है, जिनका प्रयोग कवि ने अपने कथानक के भावात्मक स्थलों, अथवा अपने पात्रों के क्रिया-कलापों को स्वरूप प्रदान करने के लिये किया है।

सर्व प्रथम जायसी द्वारा ग्रहीत उपमानों के सौंदर्य का विश्लेषण किया जायेगा। जायसी ने उपमानों का चयन प्रकृति से भी किया है और लोक जीवन से भी। इस प्रकार से गृहीत उपमानों का प्रयोग कवि ने वर्ण्य के प्रभाव को तीव्र करने के लिये किया है। उपमान रूप सौंदर्य की व्यंजना, मानवीय भावों की अभिव्यक्ति व वस्तु वर्णन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

रूप सौंदर्य की व्यंजना के उपमान—भारतीय साहित्य में नख शिख वर्णन की परम्परा रही है और कवियों ने रूप सौंदर्य के नाम पर नायिका के नख-शिख का ही वर्णन किया है। पद्मावत में नख-शिख आठ स्थलों पर उपलब्ध होता है—

१—सिंहल द्वीप वर्णन खंड में वेश्याओं के वर्णन में एक संक्षिप्त नख-शिख वर्णन।

२—कवि द्वारा पद्मावती का नख-शिख वर्णन, जब पद्मावती युवावस्था को प्राप्त होती है।

३—मानसरोदक खंड में स्नान करते समय की पद्मावती का संक्षिप्त प्रतीकमय नखशिख वर्णन।

४—राजा रत्नसेन के समक्ष हीरामन सुआ द्वारा पद्मावती का नख-शिख वर्णन।

---

१. "कविता क्या है"—चिन्तामणि—आचार्य शुक्ल पृष्ठ १८१।

५—लक्ष्मी समुद्र खंड में दुख भार से आक्रान्त पद्मावती का संक्षिप्त किन्तु हृदय-ग्राही वर्णन।

६—नागमती पद्मावती विवाद खंड में पद्मावती द्वारा अपने रूप की प्रशंसा एवं गर्वोक्ति।

७—उसके प्रत्युत्तर में नागमती द्वारा गर्वोक्ति और अपने सौंदर्य का नख-शिख वर्णन।

८—राघव चेतन द्वारा सुल्तान अलाउद्दीन के समक्ष पद्मावती के रूप सौंदर्य का वर्णन नख-शिख वर्णन के रूप में।

इन वर्णनों में से भी यदि छांटे जायें तो मुख्यतया दो स्थलों के वर्णन ही विशेष रूप से सांगोपांग एवं पूर्ण हैं—

१—हीरामन द्वारा रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती का वर्णन।

२—राघव चेतन द्वारा अलाउद्दीन के सम्मुख पद्मावती का वर्णन।

हीरामन सुआ ने २७ अंगों का वर्णन किया है और राघव चेतन ने २२ का।

नख-शिख वर्णन में अधिकांशतः जायसी ने परम्परागत उपमानों को ही ग्रहण किया है। संक्षेप में नख-शिख वर्णन के उपमानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१—केश वर्णन—क—"बेनी नाग मलयगिरि पैठी (नाग)
नागिन झाँपि लीन्हि चहुँपासा
तेहि पर अलक भुअंजिनि डसा" (नागिन)
"केसि नाग नित देखि मैं संवरि संवरि जिय जाय"
जानहु लोटहिं चढ़े भुअंगा

ख—प्रथम सीस कस्तूरी केसा (कस्तूरी)
ग—संकरे प्रेम चहैं जिउ परी (प्रेम की सांकर)
घ—भौंर केस कंह मालति रानी (भ्रमर)
च—ससि के सरन लीन्ह जनु राहा (राहु)
छ—लहरैं लेइ जनहु कालिन्दी (यमुना-तरंग)

"प्रेम की सांकर" को छोड़ कर शेष सब उपमान प्रकृति से गृहीत हैं। श्री शिवसहाय पाठक का कहना है कि "प्रेम की सांकर" अमूर्त उपमान है—वस्तुतः यह उनका भ्रम है। "सांकर" तो लोहे की बनी हुई जंजीर को कहते हैं, यह अमूर्त किस प्रकार हुई।

२—मस्तक एवं माँग

१—जमुना मांझ सुरसती गंगा (यमुना-सरस्वती)
२—बीर बहूटिन कै अस पाँती (बीर बहूटी)
३—जनु घन महं दामिनी परगसी (विद्युत)
४—खाँडै धार रुधिर जनु भरा (आरक्त खांडा)
५—कंचन रेख कसौटी कसी (कंचन की रेखा)
६—सुरुज किरन जो गगन बिसेखी (सूर्य किरण)
७—जनु बग बिखरि रहे घन स्यामा (बग पंक्ति)

८—जनु बसन्त रात जग देखा (रक्तवर्ण बसन्त)

'आरक्त खांडा' और 'कंचन रेखा' ये दो उपमान सांसारिक क्षेत्र से गृहीत हैं, शेष प्राकृतिक उपमान हैं। माँग वर्णन के सभी उपमान सुन्दर हैं—विशेष रूप से बीर बहूटी, विद्युत, आरक्त खांडा और कंचन रेखा कसौटी पर, ये उपमान चित्रौपम्य की दृष्टि से अनुपम हैं।

३—ललाट—

१—सहज किरण जो सुरुज दिपाई
देखि लिलार सोउ छिप जाई (सूर्य किरण)

२—कहाँ लिलार दुइज के जोती
दुइजं जोती कहाँ अस होती (द्वितीया का चन्द्र)

३—पारस जोती लिलाटहिं ओती (पारस ज्योति)

सामान्यतया मेधावी पुरुष के मस्तिष्क की उपमा जगमगाते अथवा दमकते सूर्य से दी जाती है—नारी के ललाट का सौंदर्य उसके ओज में नहीं वरन् ललाट के कटाव—उसके उचित बनावट होने में है। इस दृष्टि से प्रथम एवं तृतीय उपमान की अपेक्षा दूसरा उपमान विशेष सटीक है।

४—भौंह

१—"भौंहें साम धनुक जनु चढ़ा" (धनुष)

भौंह के लिये धनुष परम्परागत उपमान है।

५—नेत्र

१—"राते कंवल करहिं अलि भवां" (रक्त कमल एवं भ्रमर)

२—"खंजन लरहिं मिरिग जनु भूले" (खंजन और मृग)

३—"उठहिं तुरंग लेहि नहिं बागा" (तुरंग)

४—"सुभर सरोवर नैन वे मानिक भरे तरंग" (माणिक भरी तरंग)

५—"कंवल पत्र पर मधुकर फेरा" (मधुकर)

६—"नयन कुरंग भूलि जनु हेरे" (कुरंग)

६—बरूनी

१ "जुरी राम रावन की सेना" (राम रावन की सेना)

२—"साधे बान जानु दुइ अनी" (बाण-फलक)

७ नासिका

१—"नासिक खरग देउ कहं जोगू" (खंग)

२—"नासिक देखि लजायेउ सूआ" (शुक)

३—"दुहुं समुद्र महं जनु बिच नीरू"
सेतुबंध बांधा रघुबीरू (सेतुबंध)

४—"तिल के पुहुप अस नासिक तासू" (तिल पुष्प)

यहाँ 'सेतुबंध' का उपमान कुछ विचित्र सा है।

८—अधर—

१—"फूल दुपहरी जानौ राता" (दुपहरी का फूल)

२—"हीरा लेइ सो विद्रुम धारा" (विद्रुम)

३—"मानिक अधर दसन जनु हीरा" (माणिक्य)

४—"जनु परभात रात रवि देखा" (अरुण रवि)

५—"रुहिर चुवै जो खांडै वीरा" (रुधिर भरी तलवार)

अधर वर्णन में जायसी की दृष्टि ऐसे उपमानों के चयन की ओर रही है जो अधर के स्वरूप को नहीं वरन् उसके वर्ण को साकार कर सकें।

९—दांत—

१—"दसन चौंक बैठे जनु हीरा" (हीरा)

२—"दारिउँ सरि न करि सका, फाटेउ हिया दरकि" (दाड़िम)

३—"बीचु चमक जस निसि अंधियारी" (विद्युत)

४—"जनु दारिउँ औ स्याम मकोई" (श्याम मकोई)

पहले तीन उपमान विशेष सटीक हैं, चौथा उपमान कुछ विशेष सुन्दर नहीं।

१०—रसना—

१—"अमृत कौंप जीभ जनु लाई" (अमृत कौंप)

२—"जीभ सुरसती नाह" (सरस्वती की जीभ)

११—कपोल—

१—"केइ यह सुरंग खरौरा बांधे" (खांड के लड्डू)

२—"कमल कपोल ओहि अस काजै" (कमल)

३—"सुरंग गेंद नारंग रतनारे" (गेंद नारंग)

४—"एक नारंग दोइ किये कपोला" (नारंग)

१२—तिल—

१—"जनु घुंघुची ओहि सिल कलमुँही" (कलमुँही घुंघुची)

२—"जानहु भँवर पदुम पर टूटा" (भ्रमर)

३—"सो तिल विरह चिनगि कै करा" (विरह की चिनगारी)

४—'अगिनि बान जानो तिल सूझा' (अग्नि बाण)

५—"सो तिल देखि कपोल पर गगन रहा धुव्र गाड़ि" (ध्रुव)

प्रथम दोनों उपमाएँ अति सुन्दर हैं। अन्तिम उपमा में उपमेय (तिल) के आधार (मुख) की उपमा गगन से न दिये जाने के कारण "तिल" की उपमा "ध्रुव" से विशेष सार्थक नहीं है। वैसे कल्पना सुन्दर है।

१३—श्रवण—

१—"दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहिं
नख तन्ह भरे निरखि नहिं जाहिं" (चाँद सूर्य)

२—"स्रवन सीप दुई दीप संवारें" (सीप दीप)

३—"स्रवन सुनहु जो कुंदन सीपी" (स्वर्ण सीपी)

१४—मुख—

१—"ससि मुख अंग मलयगिरि बासा
ससि मुख जबहिं कहे किछु बाता" (चन्द्र)

२—"कंवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ" (पद्म नाल)

१५—ग्रीवा—

१—"बरनौ गीउ कम्बु की रीसी" (कम्बु)

२—"गीउ सुराही कै अस भई" (सुराही)

३—"गीउ मयूर केरि जस काढ़ी" (मयूर)

४—"घिरिन परेवा गीउ उठावा" (घिरिन परेवा)

५—"चहै बोल तमचूर सुनावा" (तमचूर)

१६—भुजा—

१—"कनक दंड दुइ भुजा कलाई" (कनक दण्ड)

२—"कदली गाय के जानौ जोरी" (कदली गाय)

३—"भुज उपमा पौनार नहिं, खीन भयउ एहि चित" (पद्म नाल)

४—"चंदन खभहिं भुजा संवारी" (चंदन खंभ)

१७—हथेली—

१—"औ राती ओहि कंवल हथोरी
एक कंवल कै दूनौ जोरी।" (कमल)

१८—स्तन—

१—"हिया थार कुच कंचन लाडू" (कंचन लड्डू)

२—"कनक कचोर उठं जनु चारू" (कनक कचौड़ी)

३—"कंचन बेल साजि जनु कूंदे" (कंचन बेल)

४—"अस नारंग दवु का कहं राखे" (नारंगी)

५—"उतंग जमीर होइ रखवारी" (जमीर)

६—"जानहु द्रवौ सिरीफल जोरा" (श्रीफल)

७—"अगिनि बान दुइ जानौ साधे,
जग बेधहिं जौ होहि न बांधे" (अग्नि बाण)

८—"जो बन बान लेहि नहिं बागा" (तुरंग)

९—"जानहु दुहू लट्टू एक साथा" (लट्टू)

१९—रोमावलि—

१—"साम भुअंगिनि रोमावली
नाभि निकसि कवल कहं चली
आइ दुहो नारंग बिच भई
देखि मयूर ठमकि रह गई" (श्याम सर्पिणी)

२—"मनहुँ चढी भौरन्ह कै पाँती" (भ्रमरावलि)

३—"रोमावलि बिछ्छूक कहाऊँ" (बिछ्छू)

४—"की कालिन्दी बिरह सताई
चलि पयाग अरइल बिच आई" (कालिन्दी)

प्रथम दोनों उपमाएं अत्यन्त सटीक एवं सुन्दर हैं। 'कालिन्दी' वाली उपभा भी अच्छी है। बिछ्छू की उपमा गर्हित है।

२०—कटि—

१—"भृंग लंक जनु मांझ न लागा" (भृंग)

२—"दुइ खंड नलिन मांझ जनु तागा" (कमल नाल के रेशे)

३—"लंक पुहुमि अस आहि न काहू
केहरि कहौं न ओहि सारि ताहू" (केहरि लंक)

२१—पीठ—

१—"मलयगिरि कै पीठि संवारी
बेनी नागिन चढी जो कारी" (मलयगिरि)

२२—जाँघ—

१—"जुरे जंघ सोचा अति पाये
केरा खंभ फेरि जनु लाये" (केला खंभ)

२३—चरण—

१—"कंवल चरन अति रात विसेखी" (कमल)

२४—गति—

१—"औ गज गवन देखि मन लोभ" (गज गति)

२—"हंस लजाइ मानसर खेले" (हंस गति)

नख-शिख वर्णन के इन उपमानों में कुछ सामान्य तथ्य उपलब्ध होते हैं—

१—"प्रायः सब के सब उपमान परम्परागत हैं। भारतीय काव्य में इन अंगों के लिए ऐसे ही उपमानों का व्यवहार चिरकाल से चला आ रहा है। अतः इन उपमानों से यह दृष्टिगोचर होता है कि भारतीय काव्य परम्परा की जायसी को जानकारी थी।

२—जायसी ने कुछ नवीन उपमानों की भी योजना की है। उन्हें जायसी के मौलिक उपभान कहा जा सकता है जैसे—

१—"केइ यह सुरंग खरौरा बांधे" (कपोलों के लिए खरौरे अथवा खांड के लड्डू का उपमान)

२—"खाँडे धार रुधिर जनु भरा" (मांग के लिए रक्त से भरे हुए खांडे (तलवार) की उपमा।

३—"जुरी राम रावन कै सेना" (वरुनियों की उपमा राम-रावन की सेना से)।

४—"जानहु दोऊ लट्टू एक साथा" (कुचों की उपमा लट्टू से)।

५—"गीउ सुराही कै अस भई" (गर्दन की उपमा सुराही से)।

६—"संकरै पेम चहैं गिउ परी" (लटाओं की उपमा सांकलों से)।

इसमें राम रावन की सेना वाले उपमान को छोड़ कर जो कि इतिहास अथवा पुराण से गृहीत है, शेष सभी उपमान लोक-जीवन से गृहीत हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जायसी ने भाव प्रकृति से उपमान ग्रहण करने की परम्परा का अनुकरण नहीं किया वरन् सामान्य संसार के पदार्थों को भी सौंदर्य बोध का साधन बनाया। "गीउ सुराही कै अस भई"—गर्दन की उपमा सुराही से देना फारसी चिरकाल से प्रचलित है। हिन्दी में यह उपमा फारसी से आई है। आज तक इस उसमा का प्रयोग होता है—

"किसी सुराहोदार गले से कजरी का स्वर ढल जाता है,
धरती की उच्छवासों को छू, मेघ मोम सा जल जाता है।"

—रामविलास शर्मा

सम्भव है लोक-जीवन से गृहीत जायसी के अन्य उपमान भी भूलतः फारसी साहित्य के ही हों।

मानवीय भावों की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त उपमान—मानव भावातिरेक में प्रकृति के क्षेत्र से भावानुरूप स्थलों अथवा चित्रों को चुन कर उनके भाध्यभ से व्यंजना का प्रयत्न करता है। कवि लोग पात्रों की अभिव्यंजना को तीव्र एवं स्वाभाविक बनाने के लिए भी अनेक प्रकार की तदनुरूप योजनाएं किया करते हैं। जायसी ने भी अपने पात्रों की मनोस्थितियों के अनुकूल अप्रस्तुओं की योजना करके उनकी भावाभिव्यक्ति को सशक्त बना दिया है। कुछ उदाहरण देकर बात स्पष्ट की जाती है—नागमती उपमानों के सहारे अपनी व्यथा को मानो साकार कर देती है—

"कंवल जो बिगसा मानसर, बिन जल गयउ सुखाइ
कबहुं बेलि फिर पलु है, जो पिय सींचौ आइ।"

नागमती रत्नसेन को उपालम्भ देती हुई कहती है—

"भंवर पुरुष अस रहा न राखा
तजै दाख महुआ रस चाखा।

तजि नागेसर फूल सोहावा
कंवल बिसौंधहि सो मन लावा।"

यहाँ नागमती ने स्वयं को दाख, पद्मावती को महुआ, पुनः स्वयं को नागेसर और पद्मावती को 'कमल' कहा है। रत्नसेन की उपमा 'भंवर' से दी गई है। नागमती यदि अपने हृदयगत भावों को व्यक्त कर पाई है और उसका उपालम्भ सार्थक हुआ है तो मात्र प्राकृतिक उपमानों की योजना के कारण।

उपालंभ का एक और स्वरूप जो पुनः प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमानों द्वारा ही व्यंजित हो सका है—

"काह हंसौ तुम मोसों, किएउ और सों नेह
तुम मुख चमकै बीजुरी, मो मुख बरसै मेह।"

यहां अश्रुप्लावित आँखों के लिए "मेह" का और प्रसन्न मुख के लिये बिजली का उपमान लाकर कैसी चित्रोपमता भर दी गई है।

मानवीय भावों की व्यंजना के लिए कवि ने लोक-जीवन से भी उपमानों का ग्रहण किया है—

"लागिउ जरै-जरै जस भारू
फिरि फिरि भूंजसि तजै न बारू।"

अथवा

"बरसै मघा झकोरी झकोरी
मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी।"

लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी कई स्थलों पर जायसी ने सुन्दर प्रयोग किया है (उपमान रूप में)। एक उदाहरण पर्याप्त होगा,

"माथे नहिं बैसारिय, जो सुठि सुआ सलोन
कान टुटैं जहि पहिरे, का लेइ करब सो सोन।"

अन्य कार्यों के उपमान—कई स्थलों पर घटित हो रहे कार्य व्यापार को तीव्र करने के लिए तथा मूर्तिमन्त करने के लिए भी उपमानों का प्रयोग किया गया है—वाणों की वर्षा-सी हो रही है—उसी को लक्ष्य कर कवि कहता है—

"ओनई घटा चहुं दिसि आई
छूटहिं वान मेघ झरि लाई।"

लौकिक क्षेत्र से गृहीत एवं उपमान के सहारे जायसी ने प्रेम की बड़ी काव्यात्मक व्यंजना की है—

"मुहमद वाजी पेम की ज्यों भावे त्यों खेल
बीलहिं फूलहिं संग ज्यों होइ फुलाएल तेल।"

प्रेम और सौरभयुक्त तेल का साम्य कितना सटीक है।

अलंकार विधान अथवा अप्रस्तुत योजना—अलंकार योजना दो उद्देश्यों से भी की जाती है—१. स्वरूप-बोध के लिए अर्थात् अगोचर अथवा दुर्बोध्य को बोधगम्य बनाने के लिये २. भाव को तीव्र करने के लिये।

अधिकतर अलंकारों की योजना सादृश्य के आधार पर की जाती है। जायसी ने भी सादृश्यमूलक अलंकारों को ही प्रमुखतया ग्रहण किया है। हम जायसी द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष अलंकारों का सौंदर्य दिखाने का प्रयास करेंगे।

उत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत जायसी ने हेतूत्प्रेक्षा का प्रचुर प्रयोग किया है। हेतूत्प्रेक्षायें प्रायः सुन्दर हैं :—

१—नासिक देखि लजानेउ सुआ।
सूक आइ बेसरि होइ उआ॥
बिहंसत हंसत दसन तस चमकैं पाहन उठे झरक्कि
दारिवं सरि जोन कै सका, फाटेउ हियो दरक्कि।

२—हिया काढि जनु लीन्हीसि हाथा
रुहिर भरी अंगुरी तेहि साथा।

वस्तूत्प्रेक्षा—

"पहिरे खुंभी सिंहल दीपी।
जानहु भरी कचपची सीपी॥
"कंचन रेख कसौटी कसी
जनु घन मांह दामिनी परगसी।"

फलोत्प्रेक्षा—

"पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा
मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।"
देखि अमिय रस अधरन्ह, भएउ नासिका कीर।
पवन वास पहुँचावै, अस रम छांड़ न तीर॥

रूपक—सांग, निरंग और परंपरित तीनों प्रकार के रूपक पद्मावत में उपलब्ध होते हैं। सांग रूपक का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण देखिये—

गगन सरोवर, ससि कंवल, कुमुद तराई पास।
तूं रवि उवा जो भंवर होइ, पवन मिला लै बास॥
जोबन चांद उवा अस, विरह भएउ संग राहु।
घटतहि घटत नवीन भा, काहै न पारौ काहु॥
मुहमद जीवन जल भरन, रहट घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी, ढरी जनम का बीति॥

रूपक और रूपकातिशयोक्ति—

"जोवन जल दिन-दिन जस घटा
भंवर छपान हंस परगटा"

यहां प्रस्तुत वस्तु यौवन पर अप्रस्तुत वस्तु जल का आरोप किया गया है किन्तु दूसरी पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति के सहारे ही श्लेष द्वारा भंवर अर्थात् "काला भ्रमर" अर्थात् "काले केश" इस उपमान की उपलब्धि होती है। यदि रूपक को उपर्युक्त पंक्ति में प्रधान माना जाय तो श्लेष और रूपकातिशयोक्ति उसके अंग ठहरते हैं। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने निर्देश किया है, अलंकारों का यह मेल अंगांगिभावसंकर कहलाता है। इस प्रकार इस चौपाई में सांग रूपक, रूपकातिशयोक्ति, श्लेष, अंगांगिभावसंकर इत्यादि अलंकारों की योजना है जो कि कवि के अलंकर कौशल को व्यक्त करती है।

व्यतिरेक—नासिक खरग देउं केहि जोगू। खरग खीन होहि वदन संजोगू।
रवि परभात तात, वह जूड़ी ॥
का सरवर वहि देउं मयंकू। चाँद कलंकी, वह निकलंकू ॥
औ चांपहिं पुनि राहु गरासो। वह बिन राहु सदा परगासो ॥

दृष्टात—अब हौं भरौं निसांसी, हिएं न आवै सांस।
रोगिया की को चालै वैदहिं जहां उपास ॥

अर्थान्तरन्यास—
"मिलिहहि बिछुरे साजन, अंकम भेंट गहंत
तपनि मृगसरा ज लहहिं, ते अद्रा पलुहंत।"
"जिन्ह घर कन्ता से सुखी, तिन्ह गारो औ गर्व।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व।"
"रकत ढरा मांसू गिरा, हाड़ भयउ सब संख,
धनि सारस होइ रहि मुई, पीउ समेटहिं पंख।"

निदर्शना—"जेहि दिन दसन ज्योति निरमई,
बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई।"
"रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती,
रतन पदारथ मानिक मोती"
"जहं जहं विहंसि सुभावहिं हंसी
तंह तंह छिटकि जोति परगंसी"

विनोक्ति—"जग जल बूड़ि जहं लगि ताकी
मोरि नाव खेवक बिनु थाकी।"

अलंकार वर्णन के अन्तर्गत कतिपय अत्यन्त संश्लिष्ट योजनाएं भी की गई हैं जैसे "अप्रस्तुत प्रशंसा", संसृष्टि और संकर का यह मेल देखिए—

"छल कै जाइहिं बान पै धनुष छांडि कै हाथ"

यहां रूपकातिशयोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा के मेल से अंगांगिभावसंकर हुआ। इन दोनों के रसास्वादन में मिलावट का आभास होता है किन्तु 'बान' का अर्थ जब 'वर्ण' या कान्ति लिया जाता है तो तिल-तण्डुल न्याय से श्लेष अलंकार की संसृष्टि भी सिद्ध होती है।

इसी प्रकार विषादन और अंगांगिभावसंकर की यह योजना अत्यन्त प्रसिद्ध है—

"गहै बीन मकु रैनि बिहाई
ससि बाहन तहं रहे ओनाई।
पुनि धनि सिंह उरैहे लागी,
ऐसेइ विथा रैनि सब जागी।"

जायसी की ये पंक्तियां सूर की इसी भाव की निम्नलिखित पंक्तियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं—

"दूरि क रहु बीन कर धरिबो
मोहे मृग नाहिन रथ हांक्यो,
नाहिन होत चांद को ढरिबो"

तद्गुण अलंकार की अत्यन्त संश्लिष्ट योजना इन पंक्तियों में हैं—

"रतन छुवा जिन्ह हाथन्ह सेती
और न छुवौ सो हाथ संकेती
दमक रंग भए हाथ मंजीठी
मुकुता लेउं पै घुंघुची दीठी"

प्रसंग यह कि देवपाल की दूती बहुत से पकवान ला कर पद्मावती के सम्मुख रखती है परन्तु वह उन्हें हाथ से भी नहीं छूती और उपर्युक्त प्रकार की भावाभिव्यक्ति करती है। इसमें पहले चरण के 'रतन' पद में श्लेष है, दूसरे चरण में काकु वक्रोक्ति। तीसरे चौथे चरणों में तद्गुणों और हेतूत्प्रेक्षा दोनों की सम्भावना हो सकती है अतः वहां संदेहसंकर भी हुआ। चौथे चरण में तद्गुण अलंकार है।[1] 'गोरा' नाम का एक दोहे में बड़ा सारगर्भित प्रयोग किया गया है—

"रतनसेनि जो बांधा, मसि गोरा के गात
जौ लगि रुहिर न धोवौ, तो लगि होइ न रात।"

एक गूढार्थ व्यंजक रूपयोजना देखिये—

"हीरा लेइ सो विद्रुम धारा
विहसत जगत होइ उजियारा।"

हीरे की ज्योति लिए हुए जब वह (पद्मावती) विद्रुम वर्ण की (अरुण) द्युति धारा फैंकती है तो सारा जगत प्रकाशित हो उठता है, अर्थात् पद्मावती के हंसने से संसार

१. जायसी ग्रंथावली—आचार्य शुक्ल के आधार पर—पृष्ठ ११३।

में उसी प्रकार प्रभा विकीर्ण होती है जैसे उषा का मधुर प्रकाश फैलने पर। आचार्य शुक्ल ने इसे "दबा हुआ रूपविधान" Suppressed Inagery की संज्ञा दी है।

जायसी ने ऐसे अलंकार भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें वाक्‌चातुर्य की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता रहती है, जैसे श्लेष और मुद्रा, ये दोनों जायसी के परमप्रिय अलंकार हैं इनके प्रयोग अनूठे हैं और अनेक स्थलों पर इन्होंने इनका चमत्कार प्रदर्शित किया है। जैसे—

पद्‌मावति सब सखी बोलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई।
कोई चंपा कोइ कुंद सहेली। कोई सुकेत करना रस बेली।
कोइ सुगुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकुचन विहँसाती॥

\+ \+ \+

चली सबै मालति संग, फूले कमल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रप, बास परिमलामोद॥

—पद संख्या ५६

काहूँ गही आँव कै डारा। काहूँ बिरह जाँबु अति भारा।
कोइ नारंग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर बड़हर कोइ न्योजी।
कोइ दारिउं कोइ दाख सो खीरी। कोइ सदाफर तुरंज जंभीरी॥

\+ \+ \+

काहू पाई निअरैं, काहूँ कहँ गए दूरि।
काहूँ खेल भएउ बिख, काहूं अंम्रित मूरि॥

—पद संख्या १८७

बोलौं बचन नारि सुन साँचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा।
यह मन तोहि अस लावा नारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥

\+ \+ \+

जाकर जीउ बसै जेहि सेतें, तेहि पुनि ताकरि टेक।
कनक सोहाग न बिछुरै, अवटि मिलै जो एक॥

—पद संख्या ३१३

होइ मैंदान परी अब गोईं। खेल हाल दहुं काँकरि होई।
जोबन तुरं चढी सो रानी। चली जीति अति खेल सयानी॥

\+ \+ \+

मुहमद खेल परेम का, घरी कठिन चौगान।
सीस न दीजे गोई, जौ हाल न होइ मैंदान॥

—पद संख्या ६२८

शब्दालंकार—

जायसी ने शब्दालंकारों का प्रयोग बहुत अधिक नहीं किया किन्तु जितना किया है, अच्छा है। शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करने की धुन उनमें न थी। मुख्यतया यमक, अनुप्रास और श्लेष का ही प्रयोग किया गया है—

१—"गइ सो पूजि मन पूजि न आसा" (यमक)
२—"रस नहिं रस नहिं एकौ भावा" (यमक)
३—"पपिहा पीउ पुकारत पावा" (अनुप्रास)
४—"रंग रकत रह हिरदय राता" (अनुप्रास)

संक्षेप में यही जायसी की अलंकार योजना की रूपरेखा है। इसके आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि जायसी का काव्यशास्त्र का ज्ञान यथेष्ठ पुष्ट था। जायसी ने उपमानों के चयन करने में अधिकतर परम्परा का पालन ही किया है—हाँ अप्रस्तुत योजना में उन्होंने अपनी प्रतिभा खूब दिखाई है। एक से एक सुन्दर अलंकारों की योजना जायसी ने की है। यहाँ वे एकाध स्थल पर परम्परा की सीमा से बहुत दूर चले गये हैं और एकांत मौलिक योजनाएं भी दृष्टिगोचर होती हैं।

जायसी के अलंकार-विधान पर दो आपत्तियां की गई हैं। दोनों ही आचार्य शुक्ल ने उठाई हैं। प्रथम तो यह कि जायसी ने ललित भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी कहीं-कहीं ऐसे उपमानों की योजना की है कि चित्र वीभत्स बन कर रह गया है—जैसे—

विरह प्रसंग में—"विरह सरागन्हि भूंजसि मासं
ढरि ढरि परहिं रकत कै आंसू"

हथेली का वर्णन—"हिया काढ जनु लीन्हेंसि हाथा
रुधिर भरी अंगुरी तेहि साथा।"

आचार्य शुक्ल का कथन है कि ये और ऐसी अन्य उक्तियाँ कोई रमणीय दृश्य सामने नहीं लातीं वरन् एक वीभत्स चित्र सामने खड़ा करती हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ये ऊहात्मक उक्तियाँ उस प्रकार की उक्तियाँ हैं जैसी बिहारी ने कही हैं जिनमें शरीर के तापमान की बाहरी नाप-जोख की गई है? उत्तर है कि जायसी की ऊहात्मक उक्तियां वैसी नहीं हैं। इन ऊहात्मक उक्तियों में कवि का अभिप्राय चमत्कार उत्पन्न करना न हो कर उससे अनुभूति का तारल्य प्रस्तुत करना है। इस प्रकार कवि का अभिप्रेत चमत्कार-प्रदर्शन न हो कर संवेदना को सजीव करना होता है। जिस प्रकार सूरदास जी राधा के निरन्तर प्रवहमान अश्रुओं का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"निसि दिन वरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस रितु हम ते जब तें श्याम सिधारे।
तथा
मसि खूटी, कागर जल भीजे, सर दव लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि जो, पलक कपाट अरे॥"

उनका अभिप्राय किसी प्रकार की चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति से नहीं वरन् अधिक से अधिक सशक्त एवं मूर्त शब्दों में राधा के अश्रुओं के प्रवाह का पाठक को आभास दे देना है, उसी प्रकार जायसी का उद्देश्य विरह के आधिक्य को यथाशक्ति समर्थ शब्दों में व्यंजित कर देना है । और फिर विरह की आग में तपने और विरह की सलाखों द्वारा मन के छलनी किये जाने में रूप साम्य भी है ।

केवल रक्त अथवा "रक्त के आँसू"—इतना नाम आ जाने से ही वीभत्स चित्र सामने नहीं आ सकता । रक्त का प्रयोग तो न जाने कितने साहित्यकारों ने कितने स्थलों पर किया है और ये प्रयोग वीभत्स ही हों, ऐसा अनिवार्य नहीं । रक्त वर्ण वाले सूर्य के लिये 'देव' की विरहिणी "लोहू पियो जो वियोगिनो को सुभयो मुख लाल पिशाचिनि प्राची" इत्यादि पंक्तियों का व्यवहार करती है—बड़ी सुन्दर भाव व्यंजना है । गम्योत्प्रेक्षा अनूठी है । उर्दू के एक शायर की कुछ पंक्तियां हैं—

"दो लफ्ज़ों में पोशीदा बस मेरी कहानी है
इक लफ्ज़ मुहब्बत है, इक लफ्ज़ जवानी है ।
अश्कों को मेरे ले कर दामन पे जरा जांचो,
जम जाये तो खूं समझो, बह जाये तो पानी है ।" —बेजाद लखनवी

कवि ने खून और पानी दोनों शब्दों के माध्यम से अनूठा चमत्कार पैदा किया है । भावाभिव्यंजन की दृष्टि से बड़ी समर्थ उक्ति है । अतः खून, मांस, भूनना इत्यादि आ जाने से ही वीभत्स चित्र सामने आ जायें ऐसा अनिवार्य नहीं है । जायसी के इस प्रकार के वर्णन वीभत्स हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता । यह दूसरी बात है कि भारतीय साहित्य में ऐसे वर्णन परम्परा नहीं रही और हमारा इसके प्रति वैसा संस्कार नहीं रहा जैसा कि सूफी कवियों का होगा । इस दृष्टि से जायसी को निर्दोष ही कहा जायेगा ।

आचार्य शुक्ल की दूसरी आपत्ति यह है कि जायसी ने कुछ स्थलों पर औचित्य का ध्यान न रखते हुए शृङ्गार प्रसंग में वीर रस की सामग्री का आरोप किया है और वीर रस में शृङ्गार रस की सामग्री का । उदाहरण है—

१—स्त्री के रूप में तोपों का वर्णन ।

२—बादल की नवागता वधू के मुख से बादल को उसके साथ रति-युद्ध में जूझने का आमंत्रण और अपनी शृङ्गार सज्जा का वीर रसानुकूल वर्णन । इन दोनों स्थलों पर प्रस्तुत रस के विरुद्ध सामग्री है । आचार्य शुक्ल का कथन है—

"......रसात्मक वर्णनों में यह आवश्यक है कि ऐसी वस्तुओं का बिम्ब ग्रहण कराया जाये, ऐसी वस्तुएं सामने लाई जायें जो प्रस्तुत रस के अनुकूल हों, उसकी प्रतीति में बाधक न हों । ......वीर रस की अनुभूति के समय कुच, तरिवन, सिंदूर आदि सामने लाना या शृङ्गार रस की अनुभूति के अवसर पर मस्त हाथी, भाले, बरछे सामने रखना रसानुभूति में सहायक कदापि नहीं ।"[१] वस्तुतः यह प्रश्न शास्त्रीय विश्लेषण का विषय है । इतना अवश्य है कि लोक साहित्य में जिसमें कि आदिम मानव के अवशेष अभी तक उपलब्ध हैं, इन दोनों प्रवृत्तियों के बीज ढूंढे जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण

१. जायसी ग्रंथावली—भूमिका पृष्ठ—११७ ।

रहे कि जायसी ने ऐसे वर्णनों में परम्परा का ही पालन किया है, अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। सूरदास जी ने भी रति-युद्ध का वैसा ही विशद वर्णन किया है।[२]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मावत का अप्रस्तुत विधान भी उतना ही समर्थ है जितना कि उसकी प्रस्तुत योजना। एक सूक्ष्म शैली की सबसे बड़ी आवश्यकता सूक्ष्म बिम्ब ग्रहण है और जायसी की अप्रस्तुत योजना में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में है। नायिका के सौंदर्य और भावात्मक स्थलों विशेषतः नागमती विरह इत्यादि के चित्रण में कवि का मन अधिक रमा है। फलतः वहाँ की अप्रस्तुत योजना भी उसी भाग में तीव्र हो उठी है, सारांश यह कि परम्पराबद्ध होने पर भी जायसी का अलंकार विधान सुन्दर है।

पद्मावत की भाषा

भाषा विचाराभिव्यक्ति का माध्यम है। माध्यम के गौरव को वहन करने वाली शैली होती है और शैली के गौरव के लिये उत्तरदायी प्रमुखतया कवि की भाषा ही है। भाषा एक समर्थ कवि को पाकर धन्य होती है कारण कि कवि भाषा का गौरव-रक्षक एवं उसकी भव्यता का स्थापक होता है। उच्च कोटि की कलाकृतियों के सहारे ही भाषा युग-युगान्तर तक अपनी प्राण प्रतिष्ठा किये रहती है और उसका क्षय नहीं होता। संस्कृत और ग्रीक भाषाओं का महत्व आज भी अक्षुण्ण है, क्योंकि इनके साहित्य में इनके कवियों की लिखित वाणी अमर है। भाषा को अमरत्व प्रदान करने वाले कवि ही हैं और कवि की रचना को सजीवता प्रदान करने वाली उसकी भाषा है।

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। जायसी ने जिन परिस्थितियों में अपनी रचना की, उनका अवलोकन करने पर पता चलता है कि उस समय इस प्रकार की भाषा में लिखना बड़ा साहसपूर्ण और क्लिष्ट कार्य रहा होगा। मध्यकाल तक देश में प्रमुखतया संस्कृत का ही प्रचलन साहित्य के क्षेत्र में था। किन्तु १००० संवत् विक्रमी तक आते-

---

२: दोऊ राजत रति-रन धीर।
महा सुभट प्रगटे भूतल वृषभानु-सुता बलवीर॥
भौंहें धनुष चढाइ परस्पर, सजे कवच तनु-चीर।
गुन-सन्धान निमेष घटत नहिं, छुटे कटाच्छन तीर॥
नख नेजा-आकृत उर लागे, नंकु न मानत पीर।
मुरली धरनि डारि आयुध लौं, गहे सुभुज भट भीर॥
+ + + +
सूरदास-स्वामी अरु प्यारी बिहरत कुंज कुटीर॥
सूरसागर पद संख्या २६०४

आते प्राकृत और अपभ्रंश इत्यादि में भी पर्याप्त रचनाएँ उपलब्ध होने लगी थीं। इस प्रकार संस्कृत की साहित्य के क्षेत्र में एकछत्रता समाप्त हो चुकी थी, किन्तु उसके स्थान पर अपभ्रंश तथा प्राकृत का प्रचार था। जायसी के समय तक आते-आते ये भाषायें भी प्रधानतया साहित्य क्षेत्र की भाषायें बन चुकी थीं और लोक-जीवन से इनका सम्पर्क विछिन्न-सा हो गया था। दूसरी ओर कोई ऐसी सर्वमान्य एवं सम्पन्न भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में स्थिर नहीं थी। चारणों की भाषा राजस्थानी मिश्रित थी—वह विशेष परिष्कृत भाषा न थी कि साहित्य का प्रयोजन उससे सिद्ध हो। सन्तों की भाषा सधुक्कड़ी थी तथा इस योग्य नहीं थी कि महत्वपूर्ण कार्य उससे सिद्ध हो। ऐसी परिस्थिति में सूफी कवियों ने एक क्षेत्रीय बोली, अवधी को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये चुना तो यह उनके साहस का परिचायक है। पद्मावत हिन्दी सूफी साहित्य की आरम्भिक कृतियों में से है, अतः भाषा का आदर्श निश्चित करने में उसका अवश्य ही महत्वपूर्ण योग रहा होगा। इस प्रकार पद्मावत की भाषा का मूल्यांकन आवश्यक है तथा यह निश्चित करना अनिवार्य है कि पद्मावत के आधार को ग्रहण करके अवधी भाषा परिष्कार एवं सुसंस्कार के किस स्तर को प्राप्त हुई। दूसरे शब्दों में अवधी भाषा के साहित्यिक इतिहास में पद्मावत का क्या स्थान है, यह जानना अनिवार्य एवं लाभदायक होगा। ऐसा इसलिए भी आवश्यक है कि जायसी के पश्चात् हिन्दी साहित्य के अमर कवि तुलसीदास की रचनाएं उपलब्ध होती हैं और जायसी की रचनाओं ने भाषा की दृष्टि से उनके सम्मुख एक आदर्श रखा होगा, ऐसा निश्चित जानना चाहिये।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी पद्मावत की भाषा बड़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी सहायता से १६ वीं शती की अवधी भाषा के उस स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है जो कि उसका लोक व्यवहार का स्वरूप था। इस सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा का कथन सर्वथा उचित है, कि "पद्मावत का महत्व उसके सुरक्षित रूप में है। अतः जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सका है। हिन्दी साहित्य के जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं जिनकी कृति वास्तविक रूप में हमारे सामने है। जायसी ने तत्कालीन बोल-चाल की अवधी में अपनी रचना की। इनकी कृति स्वाभाविक बोल-चाल के यथा तथ्य शब्दों से पूर्ण है।" [१] पद्मावती की भूमिका में डा० गियर्सन का कथन भी उल्लेखनीय है, कि पद्मावत सोलहवीं शती में बोली जाने वाली अवधी का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी पद्मावत का महत्व अक्षुण्ण है।

पद्मावत की भाषा १६ वीं शती में प्रचलित अवध की जन भाषा है। यह वहाँ की स्वाभाविक और सरल भाषा है। जायसी ने लोक भाषा को ही यथासम्भव कम से कम

---

१. "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"—डा० रामकुमार वर्मा पृष्ठ ४४३—४४।

हेर-फेर के साथ पद्मावत की भाषा का रूप दे दिया है। जन भाषा के अनुरूप ही उसमें लोकोक्तियों और सूक्तियों तथा मुहावरों की भरमार है। इन लोकोक्तियों और मुहावरों के कारण पद्मावत की भाषा में प्रवाह का समावेश हो गया है तथा उसकी व्यंजकता बढ़ गयी है। जायसी ने लोकोक्तियों को भाषा में भरने का यत्न नहीं किया बल्कि उनकी भाषा का यह गुण अयत्नज है। कुछ सूक्तियां देखिये :—

लोनी सोइ कंत जेहि चहै।
मारि न जाइ चहै जेहि स्वामी।
कान टुटै जेहि पहिरे, का लेइ करब सो सोन॥
भंवरा जान कंवल कै प्रीती।
को अब हाथ सिंघ मुख घालै।
मेटि न जाइ लिखा पुरविला ।
घर कै भेद लंक अस टूटी।
सही न जाइ सवत कै झारा।
सोइ सिंगार कंत जो चाहा।
पाहन कर रिपु पाहन हीरा।

"चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलौ हौं नांह,
एक चांद निसि सरग महं, दिन दूसर जल मांह।"
"बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास,
जो पिरीत पै दुवौ महं, अंत होहिं इक पास।"
"रकत ढरा माँसू गिरा, हाड़ भयउ सब संख
धनि सारस होइ ररि मुई, आइ समेटहु पंख।"

भाषा को चुस्त एवं मुहावरेदार बनाने के लिए लोकोक्तियों की नितान्त आवश्यकता है। पदमावत में लोकोक्तियों का प्रचुर और सुन्दर प्रयोग मिलता है। समस्त पद्मावत में जायसी ने अति सुन्दर मुहावरों की योजना की है। इससे उनकी भाषा की व्यंजकता में चार चांद लग गये हैं। उदाहरण के लिये कुछ मुहावरे इस प्रकार हैं :—

नीर खीर छाने दरबारा।	दूध का दूध, पानी का पानी।
दूध पानि सब करै निनारा॥	
पिता हमार न आंख लगावहिं	आँख लगाना।
गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा,	गऊ सिंह का एक घाट पानी पीना।
दूनौं पानि पियहिं एक घाटा।	
मुख कह आन पेट बस आना	मुख में और पेट में और।
अस बड़ बोल जीभ मुँह छोटे	छोटे मुँह बड़ी बात।

राजै दीन्ह कटक कहं बीरा	बीड़ा देना।
तस ये बुझो जीउ पर खेलहिं	जान पर खेलना।
आजु करहिं रन भारत	महाभारत करना।
परबत उड़इ सूर के फूंके	फूंक कर पहाड़ उड़ाना।
तेहि औगुन दस हाट बिकानी	बाजार में बिकना।
निसिदिन रहइ बसंत तहं। छह ऋतु बारह मास।	सदा बसंत रहना।
सत्रु अहै जो करिया, कबहु सो बोरै नाव।	नाव डुबाना।
आइ बात तेहिं आगे चली	बात चलना।
चांटा चलत न दुखवै कोई	चींटी को भी न दुखाना।
मारग मानुष सोन उछारा	राह में सोना उछालना।

कहीं कहीं अवध प्रान्त के ठेठ मुहावरों का ही प्रयोग—

"देखेउं तोरे मंदिल घमोई"

\+ \+ \+

नौजि होइ घर पुरुख बिहूना।

जायसी ने कतिपय स्थलों पर अन्य भाषा की सूक्तियों को भी ग्रहण किया है। यथा संस्कृत के इस श्लोक का—

"शैले शैले माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे
साधवो नाहि सर्वत्रं, चंदनं न बने बने।"

ज्यों का त्यों अनुवाद-सा प्रस्तुत किया है :—

"थल थल नग न होंहि जेहि जोती
जल जल सीप न उपजहिं मोती।
बन बन बिरिछ न चंदन होई
तन तन बिरह न उपजै सोई।"

फारसी की प्रसिद्ध सूक्ति—

"इश्क का मुश्करा नतवां नहुं फ्तन"
(प्रीति और कस्तूरी छिपाये नहीं छिपते)

जायसी ने इस प्रकार रख दिया है—

"परिमल पेम न आछै छपा"

किन्तु इस प्रकार की अन्य भाषाओं से गृहीत व्यंजनाएं बहुत कम हैं। यदि बाहरी सूक्तियों का प्रयोग उन्हें अभिप्रेत होता तो फारसी के विशेषज्ञ होने के नाते वे फारसी की अनेक सूक्तियां प्रस्तुत करते। जायसी ने प्रमुख रूप से अवधी के लोक प्रचलित रूप को ही प्राधान्य दिया है तथा उन्हीं लोकोक्तियों और मुहावरों की संयोजना की है जो कि अवधी

के लोक प्रचलित साधारण व्यवहार में प्रयुक्त हो चुके थे।

जायसी ने अन्य भाषाओं के शब्दों का भी बहुत कम व्यवहार किया है। संस्कृत की शब्दावली जायसी की अति अल्प ज्ञात होती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग जायसी ने कहीं-कहीं किया है :—

बरनौ सूर पुहुमी पति राजा
भूमि न भार सहै जिहि साजा।
हयगय सेन चलै जग पूरी
परवत टूटि उड़ाँहि होइ धूरी।
मुंइ उड़ि अन्तरिक्ख मृतमंडा
खंड खंड धरती बरम्हंडा।
डोलै गगन इन्द्र डरि काँपा
वासुकि धाइ पतारहिं चाँपा।

भूमि, भूमिपति, इन्द्र, गगन, वासुकि इत्यादि तत्सम शब्द हैं। फारसी के सुल्तान, असवार इत्यादि शब्द भी आए हैं किन्तु इन सब शब्दों को जायसी ने अवधी के अनुरूप ढाल लिया है। सेना, सेना-सज्जा, बादशाह भोज खंड इत्यादि में अनेक नाम अभारतीय हैं किन्तु वे अपने मूल रूप में प्रयुक्त न होकर अवधी की प्रकृति के अनुसार ढाल दिये गये हैं।

इस प्रकार जायसी की भाषा मुख्यतया अवधी का लोक प्रचलित रूप ही है। किन्तु लोक भाषा के यथातथ्य रूप में ग्रहण कर लेने से ही महान् काव्य की रचना नहीं हो सकती। वस्तुतः उच्च कोटि की कविता के लिए उसकी भाषा के लिए कुछ गुणों का होना अनिवार्य है। आचार्य शुक्ल ने कविता की भाषा में निम्नलिखित गुणों की स्थिति अनिवार्य मानी है :—[1]

१—बिम्ब विधायिनी शक्ति—अथवा अगोचर बातों को गोचर रूप में प्रकट करने की शक्ति।

२—जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार सूचक शब्दों का ग्रहण। अर्थात् सामान्य विधेयक शब्दावली की अपेक्षा विशेष स्वरूपवाली शब्दावली।

३—नाद सौंदर्य अथवा वर्ण विभाग का सौंदर्य।

जायसी की भाषा में बिम्ब ग्रहण कराने की अथवा वस्तु का चित्रात्मक अंकन करने की अपूर्व क्षमता है। पद्मावत की वर्णनात्मकता में अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा चुके हैं जिससे कवि की चित्रात्मक शैली का परिचय मिलता है। यहाँ पर कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं।

१—अलाउद्दीन आठ वर्ष तक चित्तौड़ का घेरा डाले रहा किन्तु वह उसे विजय

---

१. देखिये चिंतामणि—भाग प्रथम—"कविता क्या है"—कविता की भाषा—आचार्य शुक्ल।

नहीं कर सका। जायसी ने उस लम्बी अवधि का आभास देने के लिए एक बिम्बविधायक शब्द योजना का आश्रय लिया है—

"आठ बरिस गढ छेंका अहा,
धनि सुलतान कि राजा महा।
आइ साहि अंबराउ जो लाये,
फरे झरें पै गढ नहीं पाये।"

"आठ बरिस गढ छेंका अहा" मात्र कह देने से पाठक की दृष्टि इस पंक्ति को साफ बचा कर निकल जाती किन्तु जायसी ने जितनी प्रभावात्मक व्यंजना द्वारा आठ वर्षों की अवधि को मूर्तिमन्त कर दिया है।

२—किलकिला समुद्र का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं—

"गा धीरज वह देखि हिलोरा
जनु अकास टूटै चहुं ओरा।
उठै लहरि परबत कै नाईं,
होइ फिरे जोजन लख ताईं।
धरतो लेत सरग लहि बाढा
सकल समुन्द जानहु भा ठाढा।
तीर होइ तर ऊपर सोई
महनारंभ समुद जस होई।
गै अवसान सबन्हि के, देखि समुंद कै बाढि,
नियर होत जनु लीला, रहा नयन अस काढि।"

पर्वताकार लहरों के लिए "सकल समुद जानहु भा ठाढा" और वेगवती लहरों को "रहा नयन अस काढि" कितने सशक्त प्रयोग हैं।

इसी प्रकार की अनेक योजनाएँ पदमावत में स्थल-स्थल पर है। यह उसकी भाषा की व्यंजक शक्ति की परिचायिका हैं।

पदमावत में क्लिष्ट अध्यात्म को एक सरस और सरल माध्यम से व्यक्त किया गया है, दूसरे शब्दों में विशेष की सामान्य अभिव्यक्ति की गई है। रत्नसेन की साधना के उल्लेख में जायसी ने सर्वत्र सांसारिक आपदाओं और बाधाओं का उल्लेख किया है, किन्तु कहीं भी पारिभाषिक शब्दावली में साधक के समक्ष साधना मार्ग के कष्टों का उल्लेख नहीं किया। सूफीमत में शरीयत, तरीकत, हकीकत, मारिफत आदि साधनावस्थाएं हैं किन्तु जायसी ने इनका कथन न करके इनकी व्यंजना की है। कारण स्पष्ट है। पारिभाषिक शब्दों के जाल में पड़कर कवि अपने उद्देश्य में सफल न हो पाता और इसकी भाषा भी अनावश्यक रूप से दुरूह हो जाती। इस प्रकार जातिवाचक शब्दों की अपेक्षा सामान्य शब्दों का प्रयोग

करने की जायसी में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। फिर भी कहीं-कहीं पर रसायनी नाम और हठ योग की कुछ प्रक्रियाओं का उल्लेख भाषा को दुरूह बना देता है। किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

पद्मावत में वर्णविन्यास का भी विशेष सौंदर्य है। जायसी ने अनुप्रास के प्रति अनावश्यक मोह का परिचय कहीं नहीं दिया। उनकी कृति में अनुप्रास स्वाभाविक रूप में आ गये हैं। उदाहरणतः 'रकार' का सौंदर्य देखिये—

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहं पांव।"

तथा

"कुहू कुहू करि कोयल राखा।"

यद्यपि ट्वर्ग श्रुति माधुर्य की दृष्टि से उपयुक्त वर्ण वर्ग नहीं है किन्तु जायसी ने 'ड़' का कहीं-कहीं बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है—

"पिय सों कहहु सन्देसड़ा हे भौंरा हे काग।"
"जग जल बूड़ि जहां लगि ताकी।"

कहीं-कहीं अनुनासिक ध्वनियों से पद में अपूर्व सौंदर्य आ गया है—

"नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।"

"जहं जहं विहंसि सुभावहिं हँसी
तहं तहं छिटकि जोति परगँसी।"

इस प्रकार पद्मावत की भाषा में साहित्यिक विशेषताएं पर्याप्त मात्रा में हैं। इनका होना अनिवार्य भी है। महाकाव्य की भाषा जनसाधारण की लोक भाषा कदापि नहीं हो सकती अथवा यों कहना चाहिये कि जन साधारण की भाषा में महाकाव्य की रचना हो ही नहीं सकती। पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी है, यह सत्य है किन्तु पद्मावत की गम्भीर विषयवस्तु और उसके महान उद्देश्य की अभिव्यक्ति मात्र ठेठ लोक भाषा से संभव न थी। सूक्ष्म भावों की व्यंजना में सामान्य शब्दों का आधार पर्याप्त नहीं होता। अतः जायसी की भाषा में उसके लोक प्रचलित सौंदर्य का रूप ही मुख्य हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः जायसी की भाषा अत्यन्त समृद्ध एवं समर्थ भाषा है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के हीरक जयन्ती अंक में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्द जायसी की भाषा का यथार्थ मूल्यांकन करते हैं :—

"पद्मावत की भाषा ऊपर से देखने पर बोल-चाल की देहाती अवधी कही जाती है किन्तु वस्तुतः वह अत्यन्त प्रौढ और अर्थ संपत्ति से समर्थ शैली है। अनेक स्थलों पर जायसी ने ऐसी श्लेषात्मक भाषा का वर्णन किया है, जिसके अर्थ लगातार कई दोहों तक एक से अधिक अर्थों में पूरे उतरते हैं।" यह सत्य भी है। जो कवि इस प्रकार की अर्थगर्भित व्यंजना कर सकता है—

"जोवन जल दिन दिन जस घटा,
भंवर छपान हंस परगटा।"

उसकी भाषा साधारण भाषा कैसे हो सकती है। इसी प्रकार नागमती का उपालंभ मार्मिकता की उच्चतम सीमा का स्पर्श करता है—

"काह हँसौ तुम मोसौं, किये और सों नेह,
तुम मुख चमकै बीजुरी, मो मुख बरसै मेह।"

भाषा की यह असाधारण व्यंजना-शक्ति निश्चित ही जायसी की काव्य प्रतिभा का परिचय देती है। अतः "जायसी की भाषा ठेठ अवधी है" यह कहने की अपेक्षा यह अधिक उचित होगा कि "जायसी की भाषा काव्य-गुणों से सम्पन्न ठेठ अवधी है।" तुलसी की भाषा से जायसी की भाषा यदि किसी प्रकार हीन कही जाती है तो इसी अर्थ में कि तुलसी की भाषा में संस्कृत शब्दावली की बहुलता है, जायसी की भाषा संस्कृत-बहुल नहीं है। किन्तु उसी अंश में तुलसी की भाषा जन-भाषा से दूर भी है किन्तु जायसी की अवधी जन-साधारण की ही भाषा है। जन-भाषा में पद्मावत जैसे श्रेष्ठ महाकाव्य की रचना कवि को विशेष गौरव प्रदान करता है। इस दृष्टि से जायसी का स्थान हिन्दी-साहित्य में अनन्य है।

मूल्याङ्कन

जायसी तथा अन्य प्रेमाख्यानक कवि—मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी की प्रेमाख्यानक मणि-माला के सुमेरु हैं। प्रेमाख्यानक कवियों ने हिन्दी में एक अभूतपूर्व सम्पन्न काव्य-प्रणाली प्रस्तुत की। सब में भारतीय लोक कथा और लोकायन की संग्रह-वृत्ति हैं। सभी कवियों ने लौकिक प्रेम कहानी के माध्यम से अलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रणय का संकेत ही काव्य का प्रमुख लक्ष्य रखा है। सब में समन्वयवादी प्रवृत्ति और काव्यात्मक रुचि के के दर्शन होते हैं फिर भी जायसी अपने ग्रन्थों में प्राप्त सुधा-निधि के कारण न केवल हिन्दी काव्य-गगन पर स्वर्णाभा प्रसारित करते है वरन् अन्य कवि-उडुगणों की प्रभा को सुरक्षित रखते हुए उनमें और कान्ति भरते हैं। अन्य प्रेमाख्यानक कवियों में वह काव्य-रस नहीं प्राप्त होता जो पद्मावत् में है। कथा के बीच-बीच में जीवन के विविध स्वरूपों का वैसा जीता-जागता चित्र अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। कवि ने ऐसे-ऐसे सुन्दर वर्णन और साँगोपाङ्ग चित्र दिये हैं कि देखते ही बनता है। जायसी प्रतिभा के धनी थे, लोक-जीवन में रमे थे और उनकी वाणी भावानुभूति का रस-संवेद्य चित्र आलेखन में समर्थ थी। कुतबन, मंझन, उसमान, नूरमुहम्मद, हुसैनअली आदि अनेक कवियों के प्रेमाख्यान उतने काव्य-गुणों से युक्त नहीं हो सके हैं। जायसी के परवर्ती कवियों ने उनका अनुकरण करना चाहा और अनेक स्थलों पर उन्हीं के उच्छिष्ठ से अपने काव्य को अलंकृत करना चाहा है। फिर भीउन में वह शोभा नहीं आ सकी जो जायसी की अनूठी उक्तियों में है। जायसी को जीवन का गहन अनुभव था, वे लोक-जीवन की रस माधुरी में पगे हुए थे। इसीलिए उन्होंने लोक-संस्कृति की गुदड़ी मे छिपे अनमोल रत्नों को अपने काव्य में चमकाकर उनसे अपने काव्यको गौरवान्वित किया। अन्य प्रेमाख्यानकों में भी लोकवार्ताओं, लोक-रीतियों और लोक-गीतों का आश्रय लिया गया है किन्तु कवि-प्रतिभा के अपेक्षाकृत अभाव के कारण उन में वह सजधज नहीं आयी है। जायसी बड़े ही बहुश्रुत थे। उन्होंने हिन्दू धर्म, पुराण, काव्यशास्त्र तथा संस्कृत काव्य का सुपरिचय प्राप्त किया था। उन्होंने अपने फारसी काव्य-ज्ञान को विशेष परिष्कृत किया और संस्कृत तथा फारसी शैलियों की ऐसी गंगा-यमुना प्रस्तुत की जो मिल कर सर्वथा एक रस हो गयी। अन्य प्रेमाख्यानक कवियों में यह योग्यता न थी। यही कारण है कि काव्य-मर्मज्ञों के समक्ष अन्य प्रेमाख्यानक ग्रन्थ लोक-प्रिय नहीं हो पाते।

शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य के रूप में लिखे हुए ग्रन्थ इस परम्परा में दो प्रकार के हैं। एक तो वे जिनमें मुख्य उद्देश्य लोक कथा के रूपक से सूफीमत के आध्यात्मिक तथ्य का निरूपण करना था। इन ग्रन्थों में मृगावती, पदमावत, मधुमालती चित्रावली और ज्ञानदीप जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में जब हम पदमावत को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि अन्य ग्रन्थों में कवि गण अपने अन्योक्तिमूलक आदर्श तक पहुंचने में किसी प्रकार भले ही

समर्थ हुए हों किन्तु वे लोक पक्ष के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके। यही कारण है कि उनकी कथाएँ अनेक स्थलों पर बाल-कथा का रूप धारण करती हैं। उनमें महाकाव्योचित वह गरिमा और मधुरिमा नहीं मिलती जो पद्मावत की अपनी विशेषता है। पद्मावत में सूफी मसनवी शैली और बोल-चाल की अवधी के आकर्षण हीन वाह्य-रूप में जो अनुभूतियों की मर्महारिता, हृदयस्पर्शी प्रसगों की वहुलता, रसात्मकता, अर्थगाम्भीर्य और अलंकृत शैली प्रस्तुत की गयी है उसके कारण वह सबसे निराला ग्रन्थ ही दृष्टिगत होता है। जायसी ने पदमावत में अपने आध्यात्मिक लक्ष्य में सीमित रह कर लौकिक काव्य के विविध रूपों में किसी प्रकार का संकोच भी नहीं किया। सच तो यह है कि लौकिक प्रेम का विशद निरूपण ही आध्यात्मिक प्रणय का प्रकाशन है। यही कारण है कि यद्यपि अवसर पाने पर उन्होंने संसार की अनित्यता, वैराग्य और आध्यात्मिक विरह आदि पर प्रवचन पूर्ण रूप से किये हैं तथापि विषय के अन्तर्गत आने वाले प्रसगों में शृंगार आदि का वर्णन इतना विस्तार से किया है कि अश्लीलता तक का संचार हो गया है। इस प्रकार पद्मावत जितना ही मत सापेक्ष्य सिद्धान्तग्रन्थ है उतना ही रस सापेक्ष्य काव्य ग्रन्थ भी। रस और सिद्धान्त दोनों का ऐसा अद्भुत सामञ्जस्य अन्यत्र नहीं मिलता। दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक ग्रन्थ वे हैं जिनमें लौकिक पक्ष अपेक्षाकृत अधिक उभरा हुआ है। उनका प्रेमाख्यान केवल आरोपित है। उनमें लौकिक शृंगार कीवहुलता तो मिलती है किन्तु पदमावत जैसे परोक्ष संकेतों की स्पष्ट और सचेष्ट व्यंजना नहीं मिलती। परवर्त्ती ग्रंथ जैसे अनुराग बांसुरी, भाषा प्रेमरस, पुहुपावती और प्रेम चिन्गारी आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों की पदमावत से क्या तुल्ना? सारांश यह कि विचार, अर्थगाम्भीर्य, रसात्मकता, भाषा सौंदर्य सभी दृष्टियों से मलिक मुहम्मद जायसी प्रेमाख्यानक परम्परा के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं। इतना अवश्य है कि गगन भंडल के सूर्य की भांति इन्होंने अन्य सभी नक्षत्रों को अपने प्रकाश में विलीन नहीं किया है, प्रत्युत पीयूष वर्षी चंद्र की भांति सब को और भी सरसता प्रदान की है।

जायसी और कबीर तथा अन्य संत कवि—भक्तिकालीन कवियों में जायसी का नाम कबीरदास जी के साथ भी प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है। संतमत के प्रवर्तक होने के कारण कबीरदास जी को आदर्श संत और कवि समझा जाता है। कबीरदास जी का पंथ निराला था, उन्होंने जायसी की भाँति समन्वयवाद का पल्ला नहीं पकड़ा, उन्होंने क्रान्तिकारी बन कर ही समाज और साहित्य में पदार्पण किया था। भारतीय अद्वैतवाद, मुस्लिम एकेश्वरवद और सूफी मत के प्रेम पंथ को स्वीकार करते हुए भी वे सब से अलग ही थे। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, पीर-पैगम्बर सूफी और साधु किसकी खबर नहीं ली? काव्य तो अनायास ही यत्र-तत्र उनकी वाणी से ध्वनित हो गया नहीं तो उनको कविता से क्या सरोकार? कुछ भी हो, एक स्वतंत्र विचारक और प्रतिभा के धनी कवि के रूप में कबीर दास हिन्दी भक्ति साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। संत कवियो में कबीर दास को छोड़ कर और कोई भी ऐसा श्रेष्ट विचारक या कवि नहीं है जो जायसी की समकक्षता में

आ सके। कबीर दास जी कविरूप में जायसी से हीन ही सिद्ध होते हैं। उनकी अधिकांश रचना काव्य-कोटि में आती ही नहीं। कहाँ उनकी स्फुट नीरस पद रचना और कहाँ साहित्य की अमूल्य विधि पदमावत जैसी महाकाव्य ? कहाँ कबीर की असाहित्यिक सधुक्कड़ी और कहाँ पदमावत की शास्त्र सम्मत सरस और अलंकृत काव्य भाषा ?

कबीर का रहस्वाद अवश्य ही हिन्दी काव्य में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त किये है। उनके रहस्यवादी पद ही ऐसे हैं जिनमें कबीर का कवित्व भी प्रकाशित होता है। यदि उनके रहस्यवादी शब्द तथा साखियां निकाल लिये जायें तो सम्भवतः कोई कबीर को कवि ही न कहे। शुद्ध समाज सुधारक, उपदेशक या संत मात्र ही वे रह जायेंगे। रहस्यवाद को लेकर कुछ लोग अवश्य ही इन्हें जायसी से बढ़कर सिद्ध करने की चेष्टा भी करते हैं। किन्तु निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो कबीर के रहस्यवाद का अस्थिपंजर यदि अद्वैतवाद और हठयोग है तो उसका प्राण सूफीमत का प्रेम ही है। यदि सूफीमत के प्रेम की पीर की अभिव्यंजना उसमें से निकाल ली जाय तो उसमें रहस्यवाद रह ही नहीं जाता। कबीर के 'पीव', 'साईं', या 'भरतार' में जायसी की प्रेम पद्ति का दूसरा रूप है। कबीर के रहस्यवाद में भी अव्यक्त और अशरीरी प्रियतम के प्रति दाम्पत्य भाव का प्रणय है। उसमें भी प्रेम की पीर और विरह की प्रेम भावना अभारतीय है। भारतीय भक्ति और ज्ञान मार्ग सर्वथा भिन्न हैं। भक्ति में सगुण और ज्ञान में निर्गुण का स्पष्ट आधार है। केवल सूफी पद्धति में ही निर्गुण के प्रति भी दाम्पत्य प्रणय का योग होता है। निर्गुण के प्रति दाम्पत्य प्रेम ही उसे रहस्य की संज्ञा भी देता है। इस प्रकार कबीर का रहस्यवाद निश्चय ही सूफीमत पर ही अवलम्बित है। फिर कबीर का रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद है। उसमें ब्रह्म, माया तथा हठयोग के षटदल कमल, कुंडलिनीं, इड़ला, पिंगला, सुशुम्ता, आदि का का योग है। इसके कारण इसमें बड़ा अटपटापन है। कहाँ यम, नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार और समाधि आदि पर आधारित वैराग्य प्रधान हठयोग और कहाँ प्रियतम और प्रियतमा के लौकिक प्रणय से सम्बिन्धित प्रेम की पीर ? कुंडलिनी के जागरण पर प्रेम की अभिव्यक्ति क्योंकर होगी ? प्रिया-प्रियतम किस प्रकार मिलकर एक दूसरे का रागात्मक एकीकरण प्राप्त करेंगे ? तात्पर्य यह कि कबीर का रहस्यवाद शुद्ध नहीं है, दार्शनिकता और हठयोग के पचड़े में पड़ने से उसकी रसात्मकता का लोप हो जाता है। इसके विपरीत जायसी का रहस्यवाद सहज सुबोध और सरस है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सूफीमत भले ही निर्गुण का साहाय्य ले किन्तु प्रबन्ध शृंखला में उसके प्रियतम और प्रियतमा सुस्पष्ट हैं। उसके माध्यम से अवसर विशेष का लाभ उठा कर कवि सरलता से अव्यक्त प्रियतम के प्रति प्रणय तथा प्रेम की पीर की सहज अभिव्यक्ति कर लेता है। इसी लिए जायसी का रहस्यवाद

सरस, वोधगम्य और सहृदय संवेद्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने ठीक कहा है कि जायसी सच्चे रहस्यवादी हैं।[१]

कबीर के रहस्यवादी पदों में विचारधारा की दृष्टि से दो सर्वथा भिन्न अभिव्यंजनाएँ अनमेल रूप में मिली हैं। उसमें प्रधानतया दो प्रकार के रूपक हैं। एक में आधार हठयोग-प्रतीकों का और दूसरे में ग्राम्य दाम्पत्य भाव का है। जैसे—

झीनी झीनी बीनी चदरिया
इंगला पिंगला ताना भरनी सुषमन तार से बीनी चदरिया

अथवा

गगन सरज बरसै अमी, बादल गहिर गंभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।।

अर्थात् जिनमें हठयोग से सम्बन्धित सभी क्रियाओं की गिनती गिनाई जाती है। स्पष्ठ है यह अधिक दर्शन और योग सापेक्ष्य होने से अप्रतीतत्व दोष से युक्त है।

कबीर के रहस्यवादी पदों का दूसरा रूपक लौकिक है, इसमें पति-पत्नी, पीहर और ससुराल का उल्लेख है। ये प्राय: अश्लील हैं जैसे—

१. मेरी चुनरी में लागल दाग हो।
२. आई गवनवां की सारी उमरि अबहीं मोरि बारी।
३. घूँघट के पट खोल रे तोहिं पीय मिलेंगे।
४. दुलहिनी गावहु मंगलचार।
   हम घर आये हो राजाराम भतार।

इसमें शब्दावली ग्राम्य-दोष से दूषित है। प्रणय की सहज अभिव्यक्ति इतनी भोंड़ी है कि सहृदय का रसानन्द खंडित हो जाता है। जायसी ने भी हठयोग, अद्वैतवाद और सूफी-मत के सिद्धान्तों का कथन किया है और अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व को भी प्रस्फुटित किया है किन्तु उसके दोनों प्रकार के कथन उपयुक्त संदर्भ में बँधे हैं। प्रबन्ध में बँधकर कथा-प्रसंग के अनुसार वे कथन पूर्णतया युक्तियुक्त है उनसे रहस्यवाद की अभिव्यक्ति और भी पुष्ट होती है।

सारांश यह कि कवि कर्म की दृष्टि से, सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से तथा रहस्यवाद की सम्पन्न काव्य-प्रणाली की दृष्टि से भी जायसी कबीरदास जी की अपेक्षा हिन्दी

१. "कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देख कर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्रकृतिक रूपों और व्यापारों का पुरुष के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरहविकलता के रूप में अनुभव करते हैं।"—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृ० १६४

काव्य-धारा में अधिक सम्मान्य स्थान प्राप्त करते हैं। जब कबीरदास जी का यह हाल है तो अन्य सन्त कवि जैसे दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, दरियासाहब आदि का क्या कहना ?

जायसी और तुलसीदास—सगुणभक्तिधारा के कवियों में से केवल गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ ही जायसी की चर्चा किसी प्रकार की जा सकती है। दोनों ही अवधी भाषा के अमर रत्न हैं, दोनों ने महाकाव्यों का निर्माण किया है, दोनों ने काव्य-प्रणयन में लोक-जीवन पर सम्यक् दृष्टि रखी है। दोनों ही सिद्धान्त रूप से पारमार्थिक लक्ष्य को मानव-जीवन का चरम उद्देश्य मानते हैं। जायसी का पद्मावत रामचरितमानस से पूर्व की रचना है। कुछ लोगों का अनुमान है कि गोस्वामी जी ने मानस की रचना में जायसी प्रणीत दोहा-चौपाई, छन्दों को स्वीकार किया। हो सकता है कि गोस्वामी जी ने जायसी के पद्मावत को देखा हो और उसकी छंदयोजना से प्रभावित हुए भी हों। पर चौपाई दोहे की पद्धति और भी प्राचीन है। जायसी और तुलसी दोनों ही अवधी के अमर रत्न हैं पर दोनों के दृष्टिकोण और काव्य सम्बन्धी उपलब्धियों में महान अन्तर है। जायसी ने अपने काव्य के उपकरण भारतीय ग्राम्य जीवन तथा लोक प्रचलित कथाओं से प्रधान रूप से तथा पुराण, इतिहास और साहित्य से गौण रूप से प्राप्त किये। लोक जीवन का तो जायसी को बड़ा ही विशद अध्ययन था किन्तु अन्य भारतीय सामग्री जो कुछ उनके पास थी अधिकांश सुनी सुनाई ही थी। भारतीय दर्शन और हठयोग का भी ज्ञान संत-समागम के परिणाम स्वरूप ही उन्हें प्राप्त हुआ था। इस प्रकार जब हम जायसी के ज्ञान भंडार की तुलना गोस्वामी तुलसी दास जी के 'नाना पुराणनिगमागम' की विपुल ज्ञान-राशि से करते हैं तो प्रतीत होता है कि हिमालय के सम्मुख नीलगिरि प्रस्तुत है।

काव्यांगों के विवेचन की दृष्टि से भी तुलसी-साहित्य जायसी-काव्य से बहुत बढ़-चढ़ कर है। गोस्वामी जी भारतीय काव्य-शास्त्र के महान पंडित और सच्चे कलाकार थे। उन्होंने जो काव्य-कृतियाँ प्रस्तुत की हैं, विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं। जायसी फारसी मसनवी शैली के पूर्ण ज्ञाता थे। भारतीय काव्य-पद्धति का कुछ परिचय उन्हें था, उसी के आधार पर उन्होंने काव्य का नवीन रूप प्रस्तुत किया। उनकी उपलब्धि अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण अवश्य है किन्तु थे वे लोककथाकार ही। रस, छन्द, अलंकार के सुन्दर पुट से उन्होंने लोक वार्ता को सरस काव्य बना दिया। जायसी की भाषा में वह निखार और परिमार्जन न आ सका जो तुलसी की भाषा में है। जायसी की भाषा शुद्ध लोक भाषा ही रह गयी। गोस्वामी जी ने भी अवधी की स्वाभाविकता की रक्षा की है किन्तु अपने कौशल से उसे सर्वथा सम्पन्न काव्य भाषा का रूप दिया है।

सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य गगन में मलिक मुहम्मद जायसी अन्य प्रेमाख्यानक कवियों के साथ सनक्षत्र सुधाकर की भाँति प्रकाशित हैं। उनका योगदान हिन्दी-साहित्य में बहुत ही मूल्यवान् है।

पद्मावत-भाष्य

स्तुति-खण्ड

[१]

संवरौं आदि एक करतारू। जेइं जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।।
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहिं पिरीति कबिलासू।।
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा।।
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू।।
कीन्हेसि सात दीप ब्रह्मंडा। कीन्हेसि भुवन चौदहउ खंडा।।
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि राती। कीन्हेसि नखत, तराइन पाँती।।
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाहाँ। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माहाँ।।
कीन्ह सबइ अस जाकर, दोसरहि छाज न काहु।
पहिलेहिं तेहिक नाउँ लइ, कथा कहौं अवगाहु।। १ ।।

शब्दार्थ—संवरौं=सुमिरौं=स्मरण करूँ। करतारू=कर्त्ता-परमेश्वर। जिउ=जीव, प्राण। दीन्ह=दिया[1]। जोति=ज्योति[2]। पिरीति=प्रीति[3] (खातिर)। कविलासू-कैलासू=स्वर्ग। खेहा=मिट्टी। उरेहा=चित्रकारी (अवधी-भाषा भाषी प्रान्तों में दीवारों पर चित्र लिखने के लिए उरेहना प्रयुक्त होता है)। बरन-बरन—वर्ण-वर्ण=अनेक ('बरन-बरन' भी प्रान्तीय प्रयोग है—'रंग-रंग' भी कभी-कभी अनेक अर्थ में प्रयुक्त मिलता है)। दिनअर=दिनकर (सूर्य)। सीउ=शीत। तेहि माँहा=उसमें। कीन्ह (किया हुआ)=बनाया हुआ। अस=इस प्रकार। दोसरइ=दूसरा। छाज=शोभित होना। काहु=किसी के लिए। पहिलेहि=प्रथम ही। तेहिक=उसी का। नाउँ लइ=नाम लेकर।

१—अवधी भाषा में, सामान्य भूत में 'न' या 'न्ह' क्रिया के अन्त में होता है, जैसे—दीन्ह मोहिं सिख नीक गुसाईं—तुलसी।

२—अव्वलो मा खलक अल्ला हो नूरी اوّل ما خلق الله نوری अर्थात् सर्व प्रथम अल्लाह ने ज्योति को उत्पन्न किया—हदीस।

३—लौलाका लमाखलकतुल अफलाक لولاك لما خلقت الافلاك अर्थात् ऐ रसूल अगर तू न होता तो मैं आसमान कभी पैदा न करता—हदीस।

अवगाहु=अगाध, गम्भीर[1] ।

अर्थ—मैं सर्वप्रथम (आदि) उस सृष्टिकर्ता का स्मरण करता हूँ जो एक है और जिसने जीवन दान किया तथा सृष्टि की रचना की। उसने प्रथम ज्योति (नूर) की उत्पत्ति की। यह प्रथम ज्योति पैगम्बर मुहम्मद साहब हैं और उसी की प्रीति से उसी के लिए उसने स्वर्ग की रचना की। फिर उसने अग्नि, पवन, जल और मिट्टी आदि तत्वों का निर्माण किया। इसके पश्चात् और अनेक रंगों के चित्र बनाये (तुलसीदास जी ने भी लिखा है—**शून्य भीति पर चित्र रंग बहु तन बिनु लिखा चितेरे**।) फिर उसने पृथ्वी, आकाश और पाताल बनाये और अनेक योनियों की सृष्टि की। सप्त-द्वीप, नवखंड, ब्रह्मांड, त्रिभुवन, चौदह खंड, दिन, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, नक्षत्र, तारागणों की पंक्तियां, धूप, शीत, छाया, बादल, बिजली आदि सभी वस्तुएँ उसी सृष्टि में ही रच दीं।

ईश्वर ने इस प्रकार की रचना की कि दूसरे किसी को भी वह शोभा नहीं प्राप्त हो सकती अर्थात् दूसरा कोई ऐसा बना ही नहीं सकता। इसीलिए मैं सबसे पहले उसी परमेश्वर का नाम लेकर तब अपनी पदमावत की अगाध कथा कहता हूँ।

टिप्पणी—जायसी ने पदमावत की रचना भारतीय प्रबन्ध काव्यों की शैली पर न करके फारसी-मसनवी-शैली पर की है। भारतीय प्रबन्ध काव्यों की भाँति इसमें सर्ग नहीं होते। घटनाओं के शीर्षक इसमें होते हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ईश्वर की स्तुति, हजरत मुहम्मद की वन्दना और तत्कालीन राजा की प्रशंसा होती है और तब कथा का प्रारम्भ होता है। स्तुति-खंड में मसनवी शैली की ही स्तुति है। सबसे पहले ईश्वर की स्तुति है। मुसलमान होने के कारण जायसी ने प्रथम पंक्ति में मुस्लिम एकेश्वरवादी ईश्वर का वर्णन किया है। 'एक करतारू' शब्द द्रष्टव्य है। मुस्लिम एकेश्वरवाद और हिन्दू अद्वैतवाद शब्दार्थ की दृष्टि से अधिक भिन्न नहीं हैं पर इन दोनों मतों का सैद्धान्तिक भेद यही है कि एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर कर्ता होता है, वही सृष्टि के अणु-अणु की रचना करता है और अद्वैतवाद में ब्रह्म रचना नहीं करता वरन् स्वयं आत्म-विकास करके सृष्टि का रूप धारण कर लेता है। जायसी ने एकेश्वरवादी सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। जायसी ने नैय्यायिकों और पौराणिकों के मतों का भी समन्वय बीच में करा दिया है। उसमें हिन्दू और मुस्लिम भावनाओं की गंगा-यमुनी है। पुराणों के सप्त द्वीप और नव खंड हैं, साथ ही 'नूर' पैगम्बर की उत्पत्ति का भी उल्लेख है।

'कीन्हेसि' शब्द भी साभिप्राय है। इसमें भूतकाल (क्रिया) है। इस्लाम मतानुसार वर्तमान सृष्टि प्रथम और अन्तिम है। न तो इस सृष्टि के पहले परमेश्वर ने और कोई सृष्टि की थी और न करेगा। पुनर्जन्म की व्यवस्था वहाँ है ही नहीं। कयामत के

१—अवधी में अगाध का रूप अवगाह हो जाता है जैसे—**खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।**—तुलसी।

समय सभी जीवात्माओं का एक साथ निर्णय होगा जिसमें अपने-अपने पुण्य के अनुसार वे या तो अनन्त काल तक स्वर्ग में चली जायेंगी या नरक में। हिन्दू भावना के अनुसार जहाँ सृष्टि का वर्णन होता है वहाँ सामान्य वर्तमान काल 'सृष्टि करता है' का प्रयोग होता है।

हिन्दू विचारधारा से तत्व पांच होते हैं—क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर किन्तु मुसलमानी विचारधारा से ये चार होते हैं—"अनासिर अरबआ"। 'अनासिर' का अर्थ तत्त्व और 'अरबआ' का अर्थ चार है, ये हैं—अग्नि, पवन, जल और मिट्टी। आसमान को तो कर्ता सबसे पहले ही बनाता है और फिर उसी में चार अनासिर उत्पन्न करता है। इसीलिए जायसी ने इन्हीं चार का उल्लेख किया है।

[२]

कीन्हेसि हेवँ समुद्र अपारा। कीन्हेसि मेरु, खिखिंद पहारा॥
कीन्हेसि नदी नार, औ झरना। कीन्हेसि मगर मंछ बहु बरना॥
कीन्हेसि सीप, मोंति बहु भरे। कीन्हेसि बहुतइ नग निरमरे॥
कीन्हेसि बनखंड औ जरि मूरी। कीन्हेसि तरिवर तार खजूरी॥
कीन्हेसि साउज आरन रहहीं। कीन्हेसि पंखि उड़हिं जहँ चहहीं॥
कीन्हेसि बरन सेत औ स्यामा। कीन्हेसि भूख नींद बिसरामा॥
कीन्हेसि पान फूल बहु भोगू। कीन्हेसि बहु ओषद, बहु रोगू॥
निमिख न लाग कर ओहि, सबइ कीन्ह पल एक।
गगन अंतरिख राखा, बाज खंभ बिनु टेक॥ २॥

शब्दार्थ—हेवँ समुद्र—इसके कई पाठान्तर मिलते हैं—भौंर समुन्द्र, सात समुन्द्र, वहम समुन्द्र और भुवन समुन्द्र। हेवँ ∠ हेम ∠ हिम (गुप्त भूमिका पृ० २६)। मेरु=सुमेरु। खिखिन्द=किष्किन्धा पर्वत। नग=नगीना। निरमरे=निर्मल। जरि-मूरि=जड़-मूल। तरवरि=तरुवर (वृक्ष)। तार=ताड़। साउज=श्वापद, जानवर। आरन=अरण्य, वन। पंखि=पक्षी। जहँ चहहीं=जहाँ चाहें। बरन=रंग। सेत=श्वेत। बिसरामा=विश्राम। ओषद=औषध। निमिख=पल। ओहि=उसे। अंतरिख=अंतरिक्ष। बाज (सं०-वर्ज्य) =बिना (अवधी में 'बाज आना' मुहावरा है जैसे हम इससे बाज आये—अर्थात् इसके बिना ही रहेंगे)। टेक=सहारा।

अर्थ—परमेश्वर ने हिम और अपार समुद्र, सुमेरु पर्वत तथा किष्किन्धा पहाड़ बनाये। नदी, नाले, झरने, मगर तथा अनेक प्रकार की मछलियाँ बनाईं। समुद्रों में ऐसी सीपें उत्पन्न कीं जिनमें मोती भरे होते हैं। इसके अतिरिक्त और बहुत से निर्मल नगीने उपजाये। वन खंड, जड़, मूल, वृक्ष, ताड़, खजूर उगाये। बहुत से जानवर पैदा किये जो कि जंगल में निवास करते हैं। अनेक पक्षी बनाये जो इच्छानुसार जहाँ चाहें उड़ सकते हैं। उसने श्वेत और काले रंग भी बनाये। उसने भूख, नींद और विश्राम रचे। पान, फूल तथा अनेक प्रकार के भोग-सुख की सामग्रियों को उत्पन्न किया। साथ ही अनेक प्रकार के रोग और उनकी औष-

धियाँ भी पैदा कीं। इन सबकी रचना करने में उस परमेश्वर को पल भी न लगा, देखते ही देखते उसने समस्त सृष्टि रच डाली। आकाश को बिना किसी खम्भे के सहारे यों ही खड़ा कर दिया।

नोट—जायसी की यह प्रवृत्ति रही है कि वे हिन्दू पुराण तथा रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों की वस्तुओं तथा पात्रों के नामोल्लेख यत्र-तत्र कर दें, चाहे वे प्रासङ्गिक हों या न हों। सम्भवतः यह इन्होंने इसलिए किया जिससे पद्मावत हिन्दू समाज में प्रवेश पा सके। कैलाश, किष्किंधा तथा मेरु के प्रयोग इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

छन्द की दृष्टि से जायसी में व्यवस्था नहीं मिलती। कहीं कहीं उनकी चौपाई १६ के स्थान पर १५ मात्रा की हो जाती है और दोहे के विषम चरणों में १३ के स्थान पर १२ मात्राएँ रह जाती हैं जैसे उपर्युक्त पद की तृतीय पंक्ति :—

S I I S I S I I I I S S I I I I I I I I I I I S =१५

कीन्हेसि सीप मोंति बहु भरे। कीन्हेसि बहुतइ नग निरमरे॥

दोहे का विषम चरण—

I I I I S I I I S I =१२

निमिख न लाग कर ओहि, सबइ कीन्ह पल एक।

I I I S I I I S S =१२

गगन अंतरिख राखा, बाज खंभ बिनु टेक॥

[३]

कीन्हेसि मानुस दिहिस बड़ाई। कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहिं पाई।
कीन्हेसि राजा भूँजहि राजू। कीन्हेसि हस्ति घोर तिन्ह साजू॥
कीन्हेसि तिन्ह कहँ बहुत बेरासू। कीन्हेसि कोइ ठाकुर कोइ दासू।
कीन्हेसि दरब गरब जेहिं होई। कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई॥
कीन्हेसि जिअन, सदा सब चहा। कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा॥
कीन्हेसि सुख औ कोड़ अनंदू। कीन्हेसि दुख चिंता औ दंदू॥
कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोइ धनी। कीन्हेसि सँपति बिपति पुनी घनी॥
कीन्हेसि कोइ निभरोसी, कीन्हेसि कोइ बरिआर।
छार हुते सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार॥ ३॥

शब्दार्थ—दिहिस=दिया। भुगुति (भुक्ति)=भोजन। भूँजहिं=भोगते हैं। घोर=घोड़ा। बेरासू=विलास। दरब (द्रव्य) =धन। गरब (गर्व)=अभिमान। अघाइ= सन्तुष्ट होता। जिअन=जीवन। मीचु=मृत्यु। कोड=क्रीड़ा, हँसी-मजाकपूर्ण खेल[1]।

१—(अवधी ग्राम-गीतों में इस शब्द का प्रयोग बहुत प्रचलित है। जैसे=
(१) "सासु तोर पूत ठाढ़ मलिनिया से कोड़ करें।"
(२) "ननद भौजि मिलि कोड़ करें. हँसिया खियाल करें।" (और भी है)

दन्दू-(द्वन्द्व)=झगड़ा। निभरोसी=जिसे किसी का भरोसा नहीं, निराश्रय, असहाय। बरिआर=बलवान्। छार (क्षार)=मिट्टी। हुते-पाठान्तर हिं ते=भी से या ही से।

अर्थ—उस परमेश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न किया और उसे बड़प्पन दिया, क्योंकि ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य ही सभी योनियों में सर्वश्रेष्ठ है। उसने अन्न बनाया जिससे आहार मिलता है। उसने राजाओं को बनाया जो राज्य को भोगते हैं और हाथी-घोड़ों को राजा के साज-बाज के लिये उत्पन्न किया। उनके लिये अनेक प्रकार की विलास की सामग्रियाँ बनाईं। संसार में कितनों को राजा बनाया और कितनों को दास। उसने धन की रचना की जिसे पाकर लोगों को अभिमान हो जाता है[1]। उसी ने लोभ बनाया जिसके कारण मनुष्य को कभी सन्तुष्टि नहीं होती। उसने जीवन दिया जिसकी इच्छा सबको होती है। उसने मृत्यु बनाई जिससे कोई संसार में रह नहीं पाया। उसने सुख और क्रीड़ा के आनन्द बनाये, साथ ही दुःख, चिन्ताएँ, और झगड़े उत्पन्न किये। किसी को तो भिखारी बनाया और किसी को अमीर बनाया। फिर अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ बनाईं। परमेश्वर ने किसी को तो असहाय और किसी को बलवान् बनाया। मिट्टी से ही उसने सभी वस्तुएँ बनाईं और फिर सब वस्तुओं को मिट्टी ही में मिला दिया।

नोट—पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित नागरी प्रचारिणी सभा वाली प्रति में उक्त पद (३) पद (४) से बाद में छपा है पर हमने डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित ग्रन्थावली का क्रम रखा है।

टिप्पणी—मिट्टी के सम्बन्ध में जायसी की वेदान्तिक दृष्टि अन्यत्र भी मिलती है--

'माटी मोल न किछु लहै औ माटी सब मोल।"

अवधी भाषा-भाषी प्रान्त में बोल-चाल में भी 'माटी' का प्रयोग शरीर के लिए होता है। जायसी ने मिट्टी की रचना से मनुष्य शरीर की ओर संकेत किया है।

[४]

कीन्हेसि अगर कस्तुरी बेना। कीन्हेसि भीवँसेन औ चेना॥
कीन्हेसि नाग, मुखहि विष बसा। कीन्हेसि मन्त्र, हरइ जेहिं डसा॥
कीन्हेसि अमिय जिअन जेहि पाएँ। कीन्हेसि विष जो मीचु तेहि खाएँ॥
कीन्हेसि ऊखि मीठि रस-भरी। कीन्हेसि करुइ बेलि बहु फरी॥
कीन्हेसि मधु लावइ लइ माखी। कीन्हेसि भवँर, पतंग औ पाँखी॥
कीन्हेसि लोवा उंदुर चाँटी। कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माँटी॥

(पिछले पृष्ठ से)

अपभ्रंश में भी इस शब्द का पूर्वरूप कुड्ड इसी अर्थ में प्रयुक्त था। जैसे—

"जइ केवइँ पानीसु पिउ, अकिआ कुड्ड करीसु।" (हेमचन्द्र)

अर्थात् यदि मैं अपने प्रिय को पा जाऊँ तो अपूर्व क्रीड़ा (अकिया कुड्ड) करूँ।

१—'प्रभुता पाई काहि मद नाहीं'—तुलसीदास।

कीन्हेसि राकस भूत परेता। कीन्हेसि भोकस देव दयंता ॥
कीन्हेसि सहस अठारह, बरन बरन उपराजि ।
भुगुति दिहेसि पुनि सब कहँ, सकल साजना साजि ॥४॥

शब्दार्थ—अगर=सुगन्धित द्रव्य जिसकी अगरबत्ती प्रचलित है । बेना=खस । भीवँसेन-पाठान्तर भीमसेन=एक प्रकार का कपूर । चेना=एक प्रकार का चीनी कपूर (ज्योतिरीश्वर ठक्कुर ने अपने वर्णरत्नाकर में नव प्रकार के कपूरों का उल्लेख किया है उनमें भीमसेन और चीनी कपूरों के नाम हैं) । नाग=सर्प । बसा=है । डसा=काटा हुआ, सर्पदंश । अमिअ=अमृत । ऊखि=गन्ना । करुई=कड़वी । फरी=फलीं । मधु=शहद । लावइ=लगावें । लइ=लाकर । भँवर=भ्रमर । पतंग=पतिंगा । पाँखी=पक्षी । राकस =राक्षस । लोवा=लोमड़ी, सं० लोपाक । उन्दुर=चूहा । चाँटी=चींटी । खनि=खोद-कर । भोकस=दानव । दयन्ता=दैत्य । उपराजि=उत्पन्न करके । साजना=रचना । साजि=सुसज्जित करके । सहस अठारह=अठारह हजार प्रकार के जीव (इस्लाम धर्म-ग्रन्थों के अनुसार जीवों की संख्या अठारह हजार है;[1] भारतीय मतानुसार योनियाँ चौरासी लक्ष हैं) । भुक्ति=भोजन ।

अर्थ—परमेश्वर ने अगर, कस्तूरी, खस, भीमसेन और चेना कपूर आदि सुगन्धित वस्तुएँ बनाईं । उसी ने सर्प बनाये जिनके मुख में विष होता है । साथ ही साथ ऐसे मंत्रों का निर्माण किया जो सर्पदंश के प्रभाव को दूर कर देते हैं । उसने अमृत बनाया जिसके पाने पर जीवन मिलता है और विष बनाया जिसके खाने से मृत्यु मिलती है । उसने गन्ना बनाया जिसमें मीठा रस भरा होता है, उसी ने कड़वी लतायें बनाईं जिनमें अनेक फलियाँ लगती हैं । उसने शहद बनाया जिसे मधु-मक्खियाँ लाकर छत्ता लगाती हैं । उसने भौंरे, पतिंगे और अनेक पक्षी बनाये । उसने लोमड़ी, चूहे और चींटियाँ पैदा कीं तथा राक्षस, भूत, प्रेत, दानव और दैत्य भी बनाये । इस प्रकार उस परमेश्वर ने अनेक प्रकार के, अठारह हजार जीवों की सृष्टि की और फिर सर्व प्रकार से रचना को साज करके सबको भोजन (भुगुति)दिया ।

[५]

धनपति उहइ जेहिक संसारू । सबहि देइ नित, घटै न भँडारू ॥
जावँत जगति हस्ति औ चाँटा । सब कहँ भुगुति रात दिन बाँटा ॥
ताकरि दिस्टि सबहिं उपराहीं । मित्र सत्रु कोइ बिसरइ नाहीं ॥
पंखि पतंग न बिसरइ कोई । परगट गुपुत जहाँ लगि होई ॥
भोग भुगुति बहु भाँति उपाईं । सबहि खियावइ, आपु न खाईं ॥
ताकर इहइ सो खाना पिअना । सब कहँ देइ भुगुति औ जिअना ॥
सबहिं आस ताकरि हर स्वाँसा । ओह न काहु कइ आस निरासा ॥

---
[1] —उपजे सहस अठारह भाँती—अखरावट ।

जुग जुग देत घटा नाहिं, उभै हाथ तस कीन्ह।
अउर जो देहिं जगत महँ, सो सब ताकर दीन्ह ॥५॥

शब्दार्थ—उहइ=वही। जेहिक=जिसका। देइ=देता है। घटे=कम होता है। भँडारू=कोष। जावँत=जितना। जगति=संसार में। हस्ति=हाथी। चाँटा=चींटी। कहँ=को। ताकरि=उसकी। दिस्टि=दृष्टि। उपराहीं=ऊपर रहती है। बिसरई=भूलता है। परगट=प्रगट। गुपुत=गुप्त, छिपा हुआ। लगि=तक। उपाई=उत्पन्न की। खियावइ=खिलाता है। ताकर=उसका। इहइ=यही। पिअना=पीना। जिअना=जीवन। ओह=उसको। काहु कइ=किसी की। सर्बाहि आस ताकरि हर स्वाँसा—इसके दो और पाठान्तर हैं—१. सबै आस–हर ताकर आसा–२. सबहि सो ताकरि हेरइ आसा। १. आस–हर=निराश भावार्थ है सबको उसी आशा-निराशा है। २—हेरइ=देखता है—अर्थात् सभी उसी की आशा देखता है। वास्तव में तीनों पाठों का भावार्थ यही है कि सभी को उसी की आशा है। घटा=कम हुआ। उभै=दोनों। अस=इस प्रकार। अउर=और। दीन्ह=दिया हुआ।

अथ—धनपति तो वही है जिसका संसार है। वही सबको अपने कोष में से नित्य दान करता है और इस देने से उसके भंडार में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इस संसार में जितने भी हाथी से चींटी तक प्राणी हैं, सबको वही रात-दिन भोजन देता है। सबके ऊपर उसकी कृपा-दृष्टि है; मित्र और शत्रु किसी को भी वह नहीं भूलता। पक्षी और पतिंगे किसी को भी नहीं भुलाता, चाहे वह कहीं भी प्रकट या अप्रकट रूप में रहता हो। वह सबका ख्याल रखता है। वह निष्काम कर्म करने वाला है—उसने जो कुछ बनाया है दूसरों के लिए। भोजन तथा भोग की जितनी सामग्रियाँ उसने बना रखी हैं, सब जीवों को ही खिलाता है, स्वयं नहीं खाता। जीवों को खिलाना और पालना ही उसका खाना-पीना है। सबको भोजन और जीवन देता है। सबको हर स्वाँस में उसी की ही आशा है, वह सबसे आशा-रहित (निराश) है। युग-युग से वह दोनों हाथों से संसार को दे रहा है पर उसका भंडार बिल्कुल नहीं घटा। अन्य लोग जो संसार में कुछ दान आदि करते हैं वह भी सब उसी का दिया हुआ है।

नोट—इन पंक्तियों में जायसी ने *भगवान् की पालन-शक्ति और दानशीलता का वर्णन किया है।*

[६]

आदि सोई बरनौं बड़ राजा। आदिहु अंत राज जेहि छाजा ॥
सदा सरवदा राज करेई। औ जेहि चहइ राज तेहि देई ॥
छत्रहि अछत, निछत्रहि छावा। दोसर नाहिं जो सरवरि पावा ॥
परबत ढाह देख सब लोगू। चाँटिहि करइ हस्ति कर जोगू ॥
बज्रहि तिनकै मारि उड़ाई। तिनहि बज्र की देइ बड़ाई ॥

ताकर कीन्ह न जानइ कोई। करै कोइ जा मन चित होई॥
काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू भीख भवन दुख भारा॥
सबइ नास्ति वह अस्थिर, अइस साज जेहि केर।
एक साजइ अउ भाँजइ, चहइ सँवारइ फेर॥६॥

शब्दार्थ—बड़=बड़ा—पाठान्तर सोइ=वह। आदिहुँ=आदि से—पाठान्तर आदि न=आदि नहीं। छाजा=शोभा पाना। सरबदा=सर्वदा, हमेशा। करेई=करता है। चहइ=चाहता है। देई=देता है। छत्रहि=छत्रधारी राजा को। अछत=छत्र-विहीन, रंक। निछत्रहिं=रंक को। छावा=छा देता है, छत्रपति बना देता है। सरवरि=बराबरी। ढाहु=गिरा देता है। कर=का। जोगू=योग्य। वज्रहि=वज्र को। तिनकै=तिनके से। तिनहि=तिनके को। काहू=किसी को। सारा=पूर्ण रूप से किया। नास्ति=नश्वर। अस्थिर=स्थिर। अइस=ऐसा। केर=का। भाँजइ=नष्ट करता है। सँवारइ=बनावे। फेर=फिर।

अर्थ—मैं आरम्भ में उसी बड़े राजा का वर्णन करता हूँ जिसका राज्य आदि से अन्त तक सुशोभित है। सदैव से वह शाश्वत राज्य करता है और जिसको ही चाहता है राज्य दे देता है। छत्रपति को छत्रविहीन और रंक को राजा कर देता है।[1] दूसरा कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। सभी लोग देखते हैं कि वह बड़े-बड़े पर्वतों को गिरा देता है। चींटी को हाथी के समान कर देता है। वज्र को वह तिनके से मारकर उड़ा देता है और तिनके को वज्र बना देता है। उस प्रभु का जो कुछ किया हुआ है उसे कोई जान नहीं सकता। जो कुछ वह मन में लाता है उसे ही कर डालता है। किसी को तो वह सभी प्रकार के भोग और सभी सुख देता है और किसी को भीख देता है; उसके लिए घर ही दुःख का भार है–बेचारा दाने-दाने को तरसता है।

इस संसार में सभी नश्वर हैं, स्थिर केवल वह परमेश्वर है जिसके इस प्रकार के संसार के साज हैं। वह एक को बनाता है और फिर नष्ट करता है और चाहता है तो नष्ट करने के बाद फिर उसे सँवार देता है।

[७]

अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सौं, सब ओहिसों बरता॥
परगट गुपुत सो सरबबिआपी। धरमी चीन्ह, चीन्ह नहिं पापी॥
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुँब न कोइ सँग नाता॥
जना न काहु, न कोइ ओइं जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥
ओइं सब कीन्ह जहाँ लगि कोई। वह न कीन्ह काहू कर होई॥
हुत पहिलेइं औ अब है सोई। पुनि सो रहहि रहिहि नहिं कोई॥
अउर जो होइ सो बाउर अंधा। दिन दुइ चारि मरै करि धंधा॥

1—'रंक चलै सिर छत्र धराई'—सूरदास।

जो ओइँ चहा सो कीन्हेसि, करइ जो चाहइ कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबइ चहइ जिअ दीन्ह॥

शब्दार्थ—अलख=अलक्ष्य, जो देखा न जा सके। अबरन (अवर्ण)=रंग से रहित। करता(कर्ता)=सृष्टिकर्त्ता। ओहिसौं=उससे। बरता=व्यवहार करता। सरबबिआपी=सर्व व्यापी। धरमी=धर्मात्मा। चीन्ह=पहिचानता है। ओहि=उसके। जना=पैदा किया। जहँ लगि=जहाँ तक। सिरजना (सर्जना)=रचना। हुत=था। धंधा=काम, नौकरी। बरजनहार=रोकने वाला।

अर्थ—वह संसार की रचना करने वाला परमेश्वर न तो देखा जा सकता है और न उसका कोई रूप या रंग है, उसका वर्णन सम्भव नहीं। वह सबसे सम्बन्धित है और सब लोग उसी की सत्ता से व्यवहार में प्रवृत्त हैं। तात्पर्य यह है कि संसार के जितने कार्य-व्यापार हो रहे हैं उनके पीछे वही निराकार ब्रह्म विद्यमान है। वह सर्वव्यापी है और प्रकट और अप्रकट सबमें वही है। जो धर्मात्मा है वह अणु-अणु में विद्यमान अरूप ब्रह्म को पहचान लेता है, पर जो पापी हैं, स्वयं अपने सुख और अहम्मन्यता में लिप्त हैं, वे उसकी सत्ता का ज्ञान नहीं पाते। न उसके कोई पुत्र है और न माता-पिता, उसके कोई कुटुम्बी या नातेदार भी नहीं हैं। उसने किसी को पैदा नहीं किया (यहाँ पैदा करने का तात्पर्य पितृत्वमात्र से है--स्थूल रूप से वह किसी का जनक नहीं है) और न उसे किसी ने पैदा किया है। फिर भी इस सृष्टि में जो कुछ दिखाई पड़ता है सब उसी की रचना है। पर उसे कोई भी नहीं बना सकता। वह पहले भी था और अब भी वही है और भविष्य में स्थायी रूप से केवल वही रह जायगा और कुछ न रह सकेगा। तात्पर्य यह कि संसार की सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं; भूत, वर्तमान और भविष्य की रचना परमेश्वर के हाथ का खिलौनामात्र है, फिर भी यदि कोई होने का दम भरता है तो वह पागल और अन्धा है, ज्ञाननेत्र से हीन है, संसार के मद से मतवाला है। दो-चार दिन की जिन्दगी में जीविका का काम करके मर जायगा। तात्पर्य यह कि यह संसार अपना नहीं है। जो लोग अज्ञानतावश उसे अपना समझते हैं वे भूल करते हैं। मनुष्य मोह में पड़कर जीविका का काम (धंधा) करके थोड़े दिनों बाद मर जायगा। अब तक उस परमेश्वर ने जो चाहा है वही किया है और जो चाहता है वही करता है, उसे रोकने वाला कोई नहीं है चाहे सब लोग अपनी जान दे दें।

[८]

एहि बिधि चीन्हहु करहु गिआनू। जस पुरान महँ लिखा बखानू॥
जीउ नाहिं, पै जिअइ गोसाईं। कर नाहीं, पै करइ सबाईं॥
जीभ नाहिं, गुनना सब बोला। तन नाहीं, जो डोलाव सो डोला॥
स्रवन नाहिं, पै सब किछु सुना। हिअ नाहिं, पै सब किछु गुना॥
नैन नाहिं, पै सब किछु देखा। कवन भाँति अस जाइ बिसेखा॥

ना कोई है ओोहि के रूपा। न ओोहि काहु अस तइस अनूपा ।।
ना ओोहि ठाउँ, न ओोहि बिनु ठाऊँ। रूप रेख बिनु निरमल नाऊँ ।।
ना वह मिला न बेहरा, अइस रहा भरपूरि ।
दिष्टिवंत कहं निअरे, अन्ध मूरुख कहँ दूरि ।। ८ ।।

शब्दार्थ—चीन्हहु=पहिचानो। गिआनू=ज्ञान। पुरान=धर्मग्रन्थ, कुरान (जायसी ने कुरान को ही पुरान नाम से ग्रहण किया है)। गोसाईं=ईश्वर (अवधी में गुसाईं या गुसइयाँ ईश्वर के लिए बहुत मिलता है)। सबाई=सब कुछ। किछु=कुछ। डोलाव=चलाता है। स्रवन (श्रवण)=कान । हिअ=हृदय। गुनना=मनन करना। बिसेखा=विशेष रूप से ज्ञान करना। ना ओोहि काहु अस तइस अनूपा-पाठान्तर-ना ओोहि सन कोइ आहि अनूपा (अर्थ दोनों पाठों के समान हैं)। ठाऊँ=जगह। निर्मल=निर्विकार। नाऊँ=नाम। मिला=मिला हुआ (विश्व की वस्तुओं में विलीन)। बेहरा=अलग (बिहरना=फटना)। दिष्टिवन्त=दृष्टिमान्, ज्ञानी। निअरे=निकट। मूरुख=मूर्ख।

अर्थ—जैसा कि धर्म-ग्रन्थों में लिखा है या वर्णन किया गया है उसी रीति से उसे पहिचानो और उसी रूप में उसका ज्ञान करो (समझो)। उसकी लीला बिचित्र है। उसके जीव नहीं है फिर भी वह जीता है, हाथ नहीं हैं पर सब कुछ करता है, जिह्वा के न होते हुए भी सब कुछ बोलता है, शरीर नहीं है फिर भी जिसे वह चलाता है वही चलता है। उसके कान नहीं हैं पर सब कुछ सुनता है, हृदय नहीं है पर सब कुछ विचार और मनन करता है। आँखें नहीं हैं पर सब कुछ देखता है[1]। इस प्रकार के अलौकिक परमेश्वर को कैसे जाना जाय ? उसके रूप का कोई नहीं है, वह ऐसा अनुपम है कि कोई वैसा हो ही नहीं सकता। उसके लिए कोई स्थान नहीं है पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह न हो, उसमें कोई आकार नहीं है जिसमें किसी प्रकार का रूप या रेखा आदि हों। वह सर्वथा निर्लिप्त, निर्दोष और निर्विकार है। वह समस्त संसार में इस प्रकार पूरा तरह व्याप्त है कि न तो वह संसार के पदार्थों में मिला हुआ है और न अलग, संसार के अणु-अणु में विद्यमान होते हुए भी उसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है। इससे न तो वह विश्व में विलीन कहा जा सकता है और न पृथक्। जो लोग ज्ञानी और अन्तर्दृष्टि वाले हैं उन्हें तो अत्यन्त निकट प्रतीत होता है पर जो लोग ज्ञान से अन्धे हैं उनके लिए वह अत्यन्त दूर है।

[९]

अउर जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानइ भोला ।।
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहँसइ जोगू ।।
दीन्हेसि जग देखइ कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनइ कहँ बैना ।।

१—बिन पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिन कर्म करै बिधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी बकता बड़ योगी ।।—रामायण-तुलसीदास।

दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर-पल्लौ, बर बाहाँ॥
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सोई जान जेहि दीन्हेसि नाहीं॥
जोवन मरम जान पै बूढा। मिला न तरुनापा जब ढूँढा॥
सुख कर मरम न जानइ राजा। दुखी जान जा कहँ दुख बाजा॥
कया क मरम जान पै रोगी, भोगी रहइ निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं जानइ, जो घट-घट महँ नित॥ ९॥

शब्दार्थ—अमोला=अमूल्य। मरम (मर्म)=रहस्य, भेद। भोला=भोला मनुष्य। रसना=रसों को प्राप्त करने वाली जिह्वा। दसन (दशन)=दाँत। विहँसइ जोगू=हँसने के योग्य। कहँ=को। बैंना=बचन, बोली। बोल=बोली। पल्लौ=पल्लव। बाहाँ=भुजाएँ। बाजा=बजता है, पड़ता है। कया=शरीर। निंत=नित्य।

अर्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को और भी अनेक अमूल्य रत्न दिये हैं, पर भोला मनुष्य इनका मर्म नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि हमारे शरीर में परमेश्वर ने जो सुन्दर अंग दिये हैं वे अन्य जीव-जन्तुओं को प्राप्त नहीं हैं। मनुष्य इन्हीं से अनेक प्रकार के सुख-सौन्दर्य का लाभ पाता है, पर सहज रूप से प्राप्त होने के कारण वह उनका मूल्य नहीं समझता। जायसी जी इन अमूल्य निधियों का वर्णन करते हैं :—

परमेश्वर ने हमें जीभ दी है और भाँति-भाँति के रस और भोग दिये हैं, हम जीभ से सब प्रकार के स्वाद का सुख पाते हैं। उसने दाँत दिये हैं जो हँसी के योग्य है अर्थात् दाँतों की मनोहर पंक्ति से मनुष्य की हँसी मनोहर हो जाती है, अन्य जीवों की दाँतों की पंक्तियों को हँसी का सौन्दर्य अलभ्य है। संसार का सौन्दर्य देखने को उसने आँखें दी हैं; आँखें तो अन्य जीवों को भी दी हैं पर सौन्दर्यानुराग की वह शक्ति उनकी आँखों को नहीं मिली है जो मनुष्य को। इसी प्रकार सुमधुर वचनों के श्रवण का सुख प्राप्त करने को कान दिये हैं। उसने कण्ठ दिया है जिसमें मधुर बोली है। पल्लव सदृश सुन्दर हथेलियाँ और सुन्दर बाँहें उसने दी हैं। चलने को चरण दिये हैं जो सुन्दर ढंग से मनुष्य को चलाते हैं।

मनुष्य को सभी सुविधाएँ सुलभ हैं अतः वह इनका महत्व नहीं जानता। जिनको उसने नहीं दिया वे इनका महत्व जानते हैं। जवानी का क्या मूल्य है, वह बूढ़ा ही जानता है जिसके हाथ से जवानी निकल चुकी है—क्योंकि फिर जवानी को खोजता है और नहीं पाता। इसी प्रकार सुख के मर्म को राजा क्या जाने जिसे सुख का कभी अभाव नहीं। सुख का मूल्य तो वह दुःखी ही जानता है जिसके ऊपर दुःख आ पड़ता है। सुन्दर और स्वस्थ शरीर का महत्व तो रोगी जानता है, भोगी तो निश्चिन्त होता है। अर्थात् स्वस्थ रहने की अवस्था में मनुष्य अपने शरीर की परवाह नहीं करता, भोगों में पड़कर प्रसन्नतापूर्वक शरीर को नष्ट करता है पर जब रोगी हो जाता है तो खोये हुए स्वास्थ्य के लिए हाथ मलता है। सभी वस्तुओं के रहस्य को परमेश्वर ही जानता है जो सर्वदा प्रत्येक के हृदय में निवास करता है।

नोट—जायसी ने कहीं-कहीं दोहे की रचना में मनमानी की है। १३, ११ के स्थान पर १६, ११ मात्राओं का क्रम रखा है। प्रतीत होता है चौपाइयों की धुन में कभी-कभी वे दोहे के प्रथम चरण को भी १६ मात्राओं का ही रच जाते थे।

[१०]

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पारइ बरना॥
सात सरग जौं कागर करई। धरती सात समुंद मसि भरई॥
जावँत जग साखा बन ढाँखा। जावँत केस रोवँ पँखि पाँखा॥
जावँत रेह खेह जहँ ताईं। मेघ बूँद औ गगन तराईं॥
सब लिखनी कइ लिखि संसारू। लिखि न जाइ गति समुंद अपारू॥
एत कीन्ह सब गुन परगटा। अबहूँ समुंद बूँद नहीं घटा॥
अइस जानि मन गरब न होई। गरब करइ मन बाउर सोई॥
बड़ गुनवंत गोसाईं चहइ, सो होइ तेहि बेगि।
औ अस गुनी संवारइ, जो गुन करइ अनेग॥१०॥

शब्दार्थ—कर=का। करना=रचना। पारइ-पाठान्तर-पावै=पार पाना, सकना। बरना=वर्णन, चित्रण। सरग=आकाश। कागर=कागज। मसि=स्याही। जावँत=जितना। ढाँखा=ढाक, पलाश का जंगल। रोवँ=रोम। रेह=राख। खेह=मिट्टी। ताईं=तक। तराईं=तारागण। बाउर=पागल। बेगि=शीघ्र। अनेग=अनेक।

अर्थ—उस परमेश्वर की रचना अपार है; वर्णन करके कोई उसका चित्रण नहीं कर सकता। यदि सातों आकाशों का कागज बनायें और पृथ्वी के सातों समुद्रों की स्याही बनायें तथा संसार के वनों के पलाश आदि वृक्षों की डालियाँ, केश, रोम और पक्षियों के पंख, धूल, राख, बादलों की बूंद और आकाश के तारे आदि सब को लेकर लेखनी बनायें और संसार के सारे लोग ईश्वर के गुण लिखने लगें तो भी उस भगवान् के अपार सागर सदृश गुण नहीं लिखे जा सकते[१]।

इतना उसने किया और सभी गुणों को प्रकट किया है फिर भी सागर का सागर है वह एक बूंद भी कम नहीं हुआ है। ऐसा जानकर मन में घमण्ड नहीं होता। जो गर्व करता है वह पागल है। वह परमेश्वर बड़ा गुणी है, जो कुछ चाहता है, शीघ्र ही हो जाता है। वह ऐसे गुणियों को सँवारता है जो अनेक प्रकार के गुण दिखाते हैं।

[११]

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाउँ मुहम्मद पूनिउँ करा॥
प्रथम जोति बिधि तेहि कै साजी। औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी॥

१—संस्कृत में इसी अर्थ का एक श्लोक है—
असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धु-पात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं, तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा। भा निरमल जग मारग चीन्हा ॥
जौं न होत अस पुरुष उज्यारा। सूझि न परत पंथ अँधियारा ॥
दोसरइँ ठाँव दई ओइँ लिखे। भए धरमी जो पाढ़ित सिखे ॥
जगत बसीठ दई ओइँ कीन्हे। दोउ जग तरा नाउँ ओहि लीन्हे ॥
जेइँ नहिं लीन्ह जरम सो नाऊँ। ता कहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ ॥
गुन अवगुन बिधि पूँछत, होइहि लेख अउ जोख।
ओन्ह बिनउब आगे होइ, करब जगत कर मोख ॥११॥

शब्दार्थ—निरमरा=निर्मल। पूनिऊँ-करा=पूर्णिमा की कला। तेहिकै-पाठान्तर-ताकर=उसकी। तेहि प्रीति=उसकी प्रीति से ही। सिष्टि=सृष्टि। उपराजी=उत्पन्न की। लेसि=जला दिया। भा=हुआ। मारग=मार्ग। चीन्हा=पहिचाना। दई=दैव, पाठान्तर दीन=दिया। पाढ़ित=पढ़ंत, मन्त्र, आयत, कलमा। जगत बसीठ=संसार में ईश्वर का संदेशा लाने वाला, पैगम्बर। जरम सो नाऊँ-पाठान्तर-जनम भरि नाऊँ। विधि=रीति। होइहि=होगी। लेख अउ जोख=कर्मों का हिसाब। ओन्ह=वे। बिनउब=विनय करेंगे। मोख (मोक्ष)=मुक्ति, छुटकारा।

अर्थ—कर्त्ता का वर्णन करने के बाद सूफी मत के प्रकाशन में जायसी अपने पैगम्बर मुहम्मद का वर्णन कर रहे हैं :—

सृष्टि के पश्चात् उसने (ईश्वर ने) निर्मल ज्योतिधारी एक पुरुष (पैगम्बर) की रचना की जिसका नाम मुहम्मद था और जो पूर्णिमा की चन्द्र-कला के सदृश प्रकाशित था। उसने पहले अपनी प्रथम ज्योति प्रकाशित की और उसी की प्रीति से सृष्टि की रचना की[1]। परमेश्वर की ज्योति के प्रकाशित होने से संसार में प्रकाश हो उठा, सारा संसार निर्मल हो गया और संसार ने मार्ग देख लिया। यदि इस प्रकार से पुरुष का प्रकाश न होता तो संसार में अँधेरा रहता और मार्ग न दिखाई पड़ सकता। परमेश्वर ने दूसरे स्थान पर उसी पैगम्बर को लिख दिया अर्थात् अपने बाद दूसरा दर्जा पैगम्बर को ही दिया। जिन लोगों ने उसका कलमा पढ़ा, वे धर्मात्मा कहलाये। ईश्वर ने उस पैगम्बर को संसार में अपना संदेशा देने वाला दूत बनाया है। उसका नाम लेने से मनुष्य के दोनों लोक बन जाते हैं। जिसने जीवन में उसका नाम नहीं लिया उसको नरक में स्थान मिलता है। कयामत में परमेश्वर जब मनुष्य के गुण-अवगुण पूछता है और उसके जीवन भर के कर्मों का हिसाब होता है, तब आगे होकर पैगम्बर ही मनुष्यों के लिए विनती करता है और संसार को मुक्ति दिलाता है।

टिप्पणी—पदमावत की रचना में जायसी का उद्देश्य केवल यही था कि उनके सूफी मत तथा इस्लाम के सिद्धान्त हिन्दुओं तक पहुँचें। जायसी ने बड़ी चतुराई से अपने मतों को हिन्दू-शब्दावली में रखा है। उन्होंने कुरान को पुरान बिहिश्त को

१—तेहि के प्रीति बीज अस जामा—अखरावट।

सरग और दोजख को नरक आदि कहा है पर पैगम्बर का स्थान इस्लाम में सबसे महत्वपूर्ण है, इसे न तो वे छिपा सकते थे और न इसके स्थान में कोई और नाम दे सकते थे। चतुराई से वे "पैगम्बर" शब्द का उल्लेख न करके "पुरुष एक" लिख गए और पैगम्बर के संबन्ध में जो कुछ इस्लाम में है उसी को सात अर्धालियों और एक दोहे में कह दिया। इस्लाम के कल्मे 'ला इलाहा इल्लल्लाहु मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह' अर्थात् संसार में परमेश्वर एक है और मुहम्मद उसका रसूल है—का अक्षरशः वर्णन कर दिया है। पैगम्बर और रसूल का ठीक समानार्थ 'बसीठ' शब्द के द्वारा प्राप्त है। बसीठ शब्द की व्युत्पत्ति सं० अवसृष्ट प्रा० अवसिट्ठ ∠ वसिट्ठ ∠ वसीठ = उत्तरदायित्वपूर्ण संदेश का ले जाने वाला दूत। मुहम्मद के प्रति उनका धार्मिक श्रद्धाभाव उनके वर्णन में ध्वनित है। मुहम्मद का दूसरे दरजे पर उल्लेख कलमे के भाव को ध्वनित करने के लिए ही किया गया है। "प्रथम……उपराजी" मुहम्मद के लिए ही सृष्टि की—यह कुरान में लिखा है कि यदि मुहम्मद न होते तो दुनिया न होती।

[१२]

चारि मीत जो मुहमद ठाऊँ। चहुँक दुहूँ जग निरमर नाऊँ॥
अबाबकर सिद्दीक सयाने। पहिलइँ सिदिक दीन ओइँ आने॥
पुनि जो उमर खिताब सुहाए। भा जग अदल दीन जौं आए॥
पुनि उसमान पंडित बड़ गुनी। लिखा पुरान जो आयत सुनी॥
चौथइँ अली सिंघ बरियारू। सौंह न कोई रहा जुझारू॥
चारिउ एक मतइँ एक बाता। एक पंथ औ एक सँघाता॥
बचन जो एक सुनाएन्हि सांचा। भए परवान दुहूँ जग बाँचा॥
जो पुरान बिधि पठवा, सोई पढ़त गिरंथ।
अउर जो भूले आवत ते, सुनि लागत तेहि पंथ॥१२॥

शब्दार्थ—ठाऊँ = ठिकाना, उत्तराधिकारी। चहुँक = चारों का। निर्मर = निर्मल। नाऊँ = नाम। सिदिक = सत्य। दीन = धर्म। ओइँ = वे। आने = ले आये। अदल = न्याय-परायण। पुरान = कुरान (ऊपर स्पष्ट किया गया है कि जायसी ने इस्लाम सम्बन्धी नामों का हिन्दू-रूपान्तर किया है)। बरियारू = बली। सौंह = सामने। जुझारू = योद्धा। पंथ = दीन। संघाता = जमात। वचन = कलमा। परवान = प्रमाण। बाँचा = पढा। विधि = अल्लाह। गिरंथ = ग्रन्थ, किताब।

अर्थ—मुहम्मद के वर्णन के बाद मुहम्मद के चार मित्रों (खलीफाओं) का वर्णन करते हैं—

मुहम्मद के जो चार मित्र थे वही उसके उत्तराधिकारी हुए। इन चारों का दोनों लोकों में अत्यन्त निर्मल नाम है। प्रथम व्यक्ति थे अबूबकर सिद्दीक, जो बड़े चतुर थे। सर्व-

प्रथम इन्होंने ही लाकर सच्चे धर्म का प्रचार किया। उसके बाद खलीफा उमर पद पर शोभायमान हुए। जिनके धर्म-प्रचार से संसार न्याय-परायण बना। फिर तीसरे व्यक्ति उसमान थे जो बड़े ही विद्वान् श्रौर गुणी थे। इन्होंने मुहम्मद साहब से कुरान की श्रायतें सुन कर कुरान को लिखा। चौथे व्यक्ति बलवान् अली थे जिनके सम्मुख लड़ने वाला कोई योद्धा नहीं था। ये चारों एक मत श्रौर एक विचार के थे। इनका एक ही पंथ (दीन) था श्रौर एक ही जमात थी। इन्होंने जो सच्चे वचन (कलमा) सुनाये वे प्रमाण हो गये श्रौर उन्हीं को दोनों लोकों ने पढ़ा। परमेश्वर ने जो कुरान भेजा है उसी ग्रन्थ को ये लोग पढ़ते हैं श्रौर जो श्रन्य लोग भूले-भटके श्राते हैं वे भी इस कुरान को सुनकर सच्चे रास्ते पर श्रा जाते हैं।

टिप्पणी—इस्लाम के चार खलीफा हैं—अबूबकर, उमर, उसमान श्रौर अली। अबूबकर का काल ६३२-३४ ई०, उमर का ६३४-४४ ई०, उसमान का ६४४-५५ ई० श्रौर अली का ६५५-५६ ई० है। मुहम्मद के पश्चात् ये चारों क्रमशः गद्दी पर बैठे थे। उसमान के समय में ही कुरान का सम्पादन हुश्रा था श्रौर वह वर्तमान रूप में लिपिबद्ध किया गया था। इस पद में जायसी ने अपनी पद्धति के अनुसार इस्लाम शब्दावली का हिन्दी-रूपान्तर किया है इसलिए चार यार को चार मीत, उसमान को पंडित, कुरान को पुरान, कलमे को बचन, अल्लाह को विधि, किताब को गिरंथ (ग्रंथ) श्रौर दीन को पन्थ कहा है।

[१३]

सेरसाहि ढिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू॥
श्रोही छाज छात श्रौ पाटू। सब राजा भुइँ धरहिं लिलाटू॥
जाति सूर श्रौ खाँडइ सूरा। श्रौ बुधिवंत सबइ गुन पूरा॥
सूर नवाइ नवउ खँड भई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लगि राज खरग बर लीन्हा। इसकंदर जुलकरां जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमां केरि श्रंगूठी। जग कहँ जिश्रन दीन्ह तेहि मूठी॥
श्रौ श्रति गरू पुहुमिपति भारी। टेकि पुहुमि सब सिस्टि सँभारी॥
दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के, जग तुम्हार मुहताज॥१३॥

शब्दार्थ—चारिउ=चारों दिशा। तपइ=प्रकाशित है। जस=समान। भानू=सूर्य। श्रोही=उसे। छाज=सुशोभित है। छात=छत्र। पाटू=सिंहासन। भुइँ=पृथ्वी पर। लिलाटू=मत्था। खाँडइ=खड्ग, तलवार। बुधिवन्त=बुद्धिमान्। सबइ=सभी। सूर=शूरवीर। नवाइ=झुका दिया। नवउँ खंड=नव खंड, सारे संसार। दुनी=दुनिया। नई=झुकी। बर=बल से। इसकंदर=सिकन्दर। जुलकरां=जुलकरनैन, सिकन्दर की

अरबी उपाधि, (इस शब्द के कई अर्थ बताये जाते हैं—१. दो सींग वाला क्योंकि सिकन्दर यूनानी प्रथा के अनुसार दो सींग वाली टोपी पहनता था। २. पूर्व और पश्चिम दोनों कोनों को जीतने वाला। ३. बीस वर्ष राज्य करने वाला। ४. दो उच्च ग्रहों से युक्त अर्थात् भाग्यशाली)। सुलेमां=सुलेमान नामी यहूदी राजा। केरि=की। अंगूठी=सुलेमान की जादूभरी अंगूठी प्रसिद्ध है। उसमें कई रत्न जड़े हुए थे। इस अंगूठी के कारण सुलेमान ने जिनों को बश में कर रखा था। इन्हीं जिनों के कारण उसके पास अतुल वैभव और अपार शक्ति थी। जिअन=जीवन। मूठी = मुट्ठी। गरू=भारी। पुहुमिपति=पृथ्वीपति, राजा। टेकि=सहारा देकर। सिष्टि=सृष्टि। जुगहि जुग=युग-युग। मुहताज=मुख देखने वाला, याचक।

अर्थ—मसनवी शैली के अनुसार कर्त्ता और पैगम्बर के वर्णन के पश्चात् जायसी अपने समय के बादशाह शेरशाह सूर का वर्णन कर रहे हैं :—

शेरशाह सूर दिल्ली का सुलतान है, उसका प्रताप इस प्रकार प्रकाशित है जैसे सूर्य का। उसे ही राज-छत्र और सिंहासन शोभा देता है। सभी राजाओं ने उसके सम्मुख अपना मत्था जमीन पर टेक दिया। वह सूर जाति का पठान है और तलवार चलाने में बड़ा वीर है। वह बड़ा बुद्धिमान् तथा सभी गुणों में पूर्ण है। उसने नव खंडों के सभी शूरवीरों को झुका दिया है। उसने अपनी तलवार के बल पर राज्य वहाँ तक फैला लिया है जहाँ तक कि जुलकरनैन सिकन्दर महान् ने जीत रक्खा था। उसके हाथ में यहूदी सम्राट् सुलेमान की अँगूठी है। अपनी मुट्ठी से संसार को जीने देने के लिए दान करता है। वह बड़ा भारी राजा है। उसी ने पृथ्वी को सहारा देकर सारी सृष्टि को संभाल रखा है। मुहम्मद (मलिक मुहम्मद जायसी) आशीर्वाद देता है—"तुम युग-युग राज्य करो, तुम संसार भर के बादशाह हो। सारा संसार तुम्हारा ही मुख देखने वाला है।"

[१४]

बरनौं सूर पुहुमिपति राजा। पुहुमि न भार सहइ जा साजा॥
हय गय सेन चलइ जग पूरी। परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी॥
रेनु रइनि होइ रबिहि गरासा। मानुस पंखि लेहिं फिरि बासा॥
ऊपर होइ छावइ महि मंडा। षट खँड धरति अष्ट ब्रह्मंडा॥
डोलइ गगन इंद्र डरि काँपा। बासुकि जाइ पतारहिं चाँपा॥
मेरु धसमसइ समुँद सुखाई। बन खँड टूटि खेह मिलि जाई॥
अगिलहि काहि पानि खर बाँटा। पछिलेहि काहि न काँदहु आँटा॥
जो गढ़ नए न काऊ, चलत होहि सत चूर।
जबहि चढ़इ पुहुमीपति, सेरसाहि जगसूर॥१४॥

शब्दार्थ—हय=घोड़ा। गय (गज)=हाथी। पूरी=पूर्ण, सारा (तुक के लिए जग

पूरा के स्थान पर जग पूरी (स्त्रीलिंग) लिख गये हैं)। रइनि=रजनी, रात। गरासा=ग्रस्त कर लिया। पंखि=पक्षी। लेहिं=लेते हैं। फिरि=लौट कर। बासा=निवास, बसेरा। महि=पृथ्वी, धूल। धरति=पृथ्वी। बासुकि=शेषनाग। चाँपा=दब गया। मेरु=सुमेरु। धसमसइ=धँस जाता है। बनखंड=जंगल। खेह=मिट्टी। अगिलहि=सेना का अगला हिस्सा। काहिं=को। पानि=पानी। काँदहु=कर्दम, कीचड़। आँटा=अँटता, पूरा पड़ता। नए=झुके। काऊ=किसी से भी। सत चूर=सौ टुकड़े।

अर्थ--जायसी जी शेरशाह के बल-विक्रम का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन कर रहे हैं:—

अब मैं पृथ्वीपति सूर वंशी राजा (शेरशाह सूर) का वर्णन करता हूँ जब वह अपनी सेना को सजाता है तो पृथ्वी उसका भार नहीं सह सकती। जब उसके हाथी-घोड़ों की सेना समस्त संसार में फैलकर चलने लगती है तो पर्वत टूटकर धूल होकर उड़ उठते हैं। सेना के चलने से धूल इतनी उड़ती है कि रात्रि हो जाती है और अँधेरा सूर्य को ढक लेता है। रात्रि के भ्रम में राही मनुष्य और पक्षी लौटकर अपने-अपने स्थान और घोंसले में निवास लेते हैं। घोड़ों की टाप से पृथ्वी की सतह कट जाती है। सारी मिट्टी उठकर ऊपर छा जाती है इसलिए ऊपर के सात आसमान के स्थान पर आठवाँ आसमान दिखाई पड़ने लगता है। मुस्लिम मत के अनुसार नीचे सात पृथ्वी की तहें और ऊपर सात आसमानों की तहें हैं। इन सात पृथ्वियों में से ऊपर की तह खतम होकर आसमान में उड़ जाती है। फलस्वरूप धरती के छः ही खंड रह जाते हैं और आसमान आठ हो जाते हैं[1]।

आकाश डोलने लगता है, इन्द्र डर से कांपने लगता है, शेषनाग डर कर पाताल में दुबक जाते हैं। सुमेरु पर्वत पृथ्वी में धँस जाता है और समुद्र सूख जाते हैं। जंगल टूक-टूक होकर मिट्टी में मिल जाते हैं। सेना इतनी बड़ी है कि उसके अगले हिस्से को तो पानी और घास का भाग मिल पाता है, पिछले हिस्से को पानी की कौन कहे, कीचड़ भी नहीं पूरी पड़ती। शेरशाह की शक्ति ऐसी है कि जो गढ़ कभी नहीं झुके—अजेय हैं—वे भी जब संसार-विजेता शेरशाह चढ़ता है तो चूर-चूर हो जाते हैं।

अलंकार—संबन्धातिशयोक्ति और भ्रांतिमान् (मानुस पंखि लेहिं फिरि बासा)।

[१५]

अदल कहौं जस प्रिथिमी होई। चाँटहि चलत न दुखवइ कोई॥
नौसेरवां जो आदिल कहा। साहि अदल सरि सोउ न अहा॥

१—फिरदौसी के शाहनामे में एक पंक्ति है—

ز سم ستوران دراں پہن دشت + زمین شش شد و آسماں گشت ہشت

ज सुम्मे सितौरां दरां पन्हे दश्त। जमीं शश्शुदो आस्मां गश्त हश्त॥

अर्थात् घोड़ों की टाप से लम्बा-चौड़ा मार्ग कट गया। जमीन सात के स्थान पर छः रह गई और आसमान आठ हो गये।

जायसी ने अलाउद्दीन की सेना के वर्णन में इसी भाव को दुहराया है—

सत खण्ड धरति भई खट खंडा। ऊपर अस्ट भए ब्रह्मण्डा॥ ५०६।३।

अदल कीन्ह उम्मर की नाईं। भइ अहान सिगरी दुनिआईं॥
परी नाथ कोइ छुअइ न पारा। मारग मानुस सोन उछारा॥
गउव सिंघ रेंगहिं एक बाटा। दूअउ पानी पिअहिं एक घाटा॥
नीर खीर छानइ दरबारा। दूध पानि सो करइ निरारा॥
धरम निआउ चलइ सत भ.खा। दूबर बरिअ दुनहुँ सम राखा॥
सब पिरथिमी असीसइ, जोरि-जोरि कै हाथ।
गाँग जउँन जौ लहि जल, तौ लहि अम्मर माथ॥१५॥

शब्दार्थ—अदल=न्याय। जस=जैसा। प्रिथिमी=पृथ्वी। चाँटहि=चींटी। दुखवइ=दुख देता। सरि=बराबर। सोउ=वह। अहा=था। नाईं=समान। अहान=आख्यान, ख्याति, वाह्-वाह। सिगरी=सारी। नाथ=नाक की सोने की नथ। पारा=सकता। मारग=मार्ग। मानुस=मनुष्य। सोन=स्वर्ण। उछारा=उछालते हैं। गउव=गाय। सिंघ=सिंह। रेंगहिं=चलते हैं। बाटा=रास्ता। दूअउ=दोनों। पानि=पानी, जल। निरारा=अलग। निआउ=न्याय। सत=सत्य। भाषा=वचन। दूबर=दुर्बल। बरिअ=बली। गाँग=गंगा। जउँन=यमुना। जौ लहि=जब तक। तौ लहि=तब तक। अम्मर=अमर। माथ=मस्तक।

अर्थ—इस अंश में जायसी शेरशाह के न्याय की प्रशंसा करते हैं:—

अब मैं शेरशाह के न्याय का वर्णन करता हूँ जैसी कि पृथ्वी भर में उसकी चर्चा है। चलते हुए चींटी को भी कोई नहीं दुखाता। बादशाह नौशेरवाँ को लोग न्यायी कहते हैं पर वह भी शेरशाह के न्याय की बराबरी नहीं कर सकता। इसने उमर बादशाह के समान न्याय किया, इसलिए सारे संसार में वाह्-वाह होने लगी उसका ऐसा प्रताप था कि सोने की नथ भी यदि कहीं पड़ी हुई हो तो कोई उसे छू नहीं सकता था। ऐसी सुरक्षा थी कि लोग मार्ग में सोना उछालते चलते थे। गाय और सिंह एक ही रास्ते चलते थे और दोनों एक ही घाट पर पानी पीते थे। न्याय के लिए जब दरबार में बैठता था तब दूध का दूध और पानी का पानी कर देता था। उसके राज्य में धर्म का न्याय और सत्य वचन चलते थे। उसने कमजोर और बलवान् दोनों को समान कर रखा था। सारी पृथ्वी हाथ जोड़-जोड़ कर आशीर्वाद देती थी कि जब तक गंगा-यमुना में जल रहे तब तक तेरा मस्तक अमर रहे।

अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति और उपमा।

[१६]

पुनि रुपवंत बखानौं काहा। जावँत जगत सबइ मुख चाहा॥
ससि चौदसि जो दइअ संवारा। तेहू चाहि रूप उँजियारा॥
पाप जाइ जौं दरसन दीसा। जग जोहारि कइ देइ असीसा॥
जइस भान जग ऊपर तपा। सबइ रूप ओहि आगें छपा॥

भा अस सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दह आगरि करा ॥
सौंह दिस्टि कइ हेरि न जाई। जेइँ देखा सो रहा सिर नाई ॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। बिधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा ॥
रूपवंत मनि माथें, चन्द्र घाट वह बाढ़ि ।
मेदिनि दरस लोभानी, अस्तुति बिनवइ ठाढ़ि ॥१६॥

शब्दार्थ—काहा=क्या। जावँत=जितना। मुख चाहा=मुख देखता है। ससि चौदसि =पूर्ण चन्द्र (मुसलमान द्वितीया के चन्द्र से दिन गिनते हैं इस प्रकार पूर्णिमा को उनकी तिथि चौदस ही पड़ती है)। दइअ (दैव)=ईश्वर। जोहारि=वन्दना। चाहि=अपेक्षा, अधिक। सूर=शूर, सूर्य और सूरवंशी। दह=दस। आगरि=अधिक। करा= कला। सौंह=सम्मुख। दिस्टि=दृष्टि। कइ=करके। हेरि=देखना। सवाई=सवा गुना। विधि=ब्रह्मा। मेदिनि=पृथ्वी।

अर्थ—इस छंद में शेरशाह के तेज और उसके नित्य के झरोखा-दर्शन का वर्णन जायसी इस प्रकार करते हैं:—

सुलतान शेरशाह बड़ा रूपवान् है उसका मैं क्या वर्णन करूँ। जितना संसार है सभी उसका मुख देखना चाहता है। परमेश्वर ने जो चौदस के पूर्ण चन्द्र का रूप सँवारा है उससे भी बढ़कर उसके रूप में सौन्दर्य है। उसके दर्शन से पाप भागता है। संसार उसकी वन्दना करके आशीर्वाद देता है। उसका तेज इस प्रकार है जैसे ऊपर सूर्य का प्रकाश है। सबके रूप उसके आगे छिप गये। वह शूर पुरुष ऐसा निर्मल है कि उसकी कलायें सूर्य से भी दस गुनी अधिक प्रकाशमान हैं। उसके सम्मुख दृष्टि करके देखा नहीं जाता। जो कोई उसे देखता है वही सिर नवा के रह जाता है। प्रतिदिन उसका रूप सवा गुना बढ़ता जाता है। ब्रह्मा ने उसका स्वरूप संसार से ऊपर बनाया है। वह बड़ा रूपवान् है, उसके मस्तक पर मणि है, इससे चन्द्र उससे घटता है[1]। वह उससे बढ़कर है (क्योंकि चन्द्रमा के मत्थे में तो कलंक होता है)। सारी पृथ्वी उसके दर्शनों को लालायित हो गयी और एक स्थान पर खड़ी हुई उसकी वन्दना करती रहती है।

अलंकार—व्यतिरेक।

[१७]

पुनि दातार दइअ बड़ कीन्हा। अस जग दान न काहूँ दीन्हा ॥
बलि औ बिक्रम दानि बड़ अहे। हेतिम करन तिआगी कहे ॥
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुँद सुमेर घटहिं नित दोऊ ॥
दान डाँक बाजइ दरबारा। कीरति गई समुद्रहँ पारा ॥

१—बाबर ने शेरशाह को देखकर कहा था कि इसके मस्तक पर राजकीय तेज के चिह्न अंकित हैं—अब्बासकृत तारीखे-शेरशाही, पृ० ४२।

कंचन बरिस सोर जग भयेऊ। दारिद भागि देसंतर गएऊ ॥
जौं कोइ जाइ एक बेर माँगा। जरमहु होइ न भूखा नाँगा ॥
दस असुमेध जग्गि जेइँ कीन्हा। दान पुन्नि सरि सेउ न दीन्हा ॥
अइस दानि जग उपना, सेरसाहि सुलतान।
ना अस भएउ न होइहि, ना कोइ देइ अस दान ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—दातार=दानी। तिआगी=त्यागी। अहे=थे। सरि=बराबर। पूज=पूरा होना। भंडारी=भंडारी, खजानची। डाँक=डंका। कंचन=सोना। बरिस=वर्षा पाठान्तर परसि। सोर-पाठान्तर-सूर। देसंतर=देशान्तर। गएऊ=गया। बेर=बार। जरमहु=जीवन भर। नाँगा=नंगा। असुमेध=अश्वमेध यज्ञ। उपना-पाठान्तर-उपजा=उत्पन्न हुआ।

अर्थ—शेरशाह के दान का वर्णन जायसी करते हैं—

फिर ब्रह्मा ने उसे बड़ा दानी बनाया है। संसार में ऐसा दान किसी ने नहीं दिया। राजा बलि और विक्रमादित्य बड़े दानी थे, हातिम और कर्ण बड़े त्यागी कहे गये हैं। पर इन सब में कोई भी शेरशाह की बराबरी में पूरा नहीं पड़ सकता। रत्नाकर (समुद्र) और सुमेरु (सोने का पहाड़) भी नित्य उससे घट जाते हैं। उसके द्वार पर दान का डंका बजा करता है, उसके दान की कीर्ति समुद्र के पार पहुँच गई। उसके दान से सोने की वर्षा होती है[1], इसका शोर सारे संसार में हो गया और दरिद्रता भाग कर दूसरे देश में चली गयी। जो कोई उसके पास एक बार भी माँगने जाता है उसे जीवन में फिर भूखा-नंगा नहीं होना पड़ता। जिस व्यक्ति ने दस अश्वमेध यज्ञ किये हैं वह भी दान-पुण्य में इसकी बराबरी नहीं कर सकता। सुलतान शेरशाह संसार में ऐसा दानी उत्पन्न हुआ है कि न तो कोई भूत में हुआ है न ऐसा भविष्य में होगा और न वर्तमान में कोई है, जो ऐसा दान कर सके।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

[१८]

सैयद असरफ पीर पिआरा। तिन्ह मोहि पंथ दीन्ह उजियारा ॥
लेसा हिएँ पेम कर दीया। उठी जोति भा निरमल हिया ॥
मारग हुत अँधियार असूझा। भा अँजोर सब जाना बूझा ॥
खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहित धरम लीन्ह कइ चेला ॥
उन्ह मोर करिअ पोढ़ कर गहा। पाएउँ तीर घाट जो अहा ॥
जा कहँ अइस होहिं कँड़हारा। तुरित बेगि सो पावइ पारा ॥
दस्तगीर गाढ़े के साथी। जहँ अवगाह देहिं तहँ हाथी ॥

१—तारीख-ए-शेरशाही में लिखा है—"शेरशाह अपने दान के लिए प्रसिद्ध हो गया था। वह सारे दिन सूर्य की तरह सोना और मेघों की भाँति मोती बरसाता था।" पृ० १४६।

जहाँगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चांद ।
ओइ मखदूम जगत के, हौं उन्ह के घर बांद ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—पीर=साधु । पिआरा=प्यारे । तिन्ह=उन्होंने । उजिआरा=प्रकाशित किया । लेसा=जलाया । हिएँ=हृदय में । पेम=प्रेम । कर=का । हुत=था । अँधियार=अँधेरा । असूझा=जहाँ कुछ न दिखाई पड़े । अँजोर=उजेला । खार=क्षार । मोर=मेरा । मेला=मिलाया । बोहित=नाव । लीन्ह=लिया । कइ=करके । करिअ=पतवार । पोढ़=मजबूती से । गहा=पकड़ा । अहा=था कँड़हारा=पाठान्तर कंधारा=कर्णधार । तुरित=तुरन्त । दस्तगीर=हाथ पकड़ने वाला । गाढ़े=कठिनाई । अवगाह=अथाह । हाथी=हाथ । निहकलंक=निष्कलंक । मखदूम=मालिक । बाँद=सेवक ।

अर्थ—इस अंश में जायसी अपने गुरु का वर्णन करते हैं :—

सैयद अशरफ जी मेरे परम प्रिय हैं, उन्होंने ही मुझे उज्ज्वल पन्थ दिया । उन्होंने ही सूफी मत को देकर मेरे हृदय में ईश्वरीय प्रेम का दीपक जलाया । उससे ज्योति उठी और हृदय निर्मल हो गया । मेरे लिए संसार का पथ अँधेरा और असूझ था । गुरु की कृपा से उजेला हुआ और मुझे ज्ञान-विवेक मिला । मेरे पापों ने मुझे खारे समुद्र में डाल दिया था, उन्होंने मुझे अपना चेला बना कर धर्म की नाव पर चढ़ा लिया । उन्होंने मेरी पतवार मजबूती से पकड़ ली जिससे किनारे पर जो घाट था उसे मैं पा गया, अर्थात् मुझे सुगम प्रेम का पंथ मिल गया । जिसका कर्णधार इस प्रकार हो वह तो तुरन्त ही पार हो जाता है । मेरे गुरु जी हाथ पकड़ने वाले और कठिनाई में साथ देने वाले हैं । जहाँ अगाध पाते हैं वहीं हाथ दे दिया करते हैं । सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती वंश के थे तथा निष्कलंक चन्द्र सदृश थे । वे सारे संसार के मालिक थे और मैं उनके घर का सेवक हूँ, उनकी परम्परा का बन्दा हूँ ।

अलंकार—रूपक, उपमा ।

[१९]

उन्ह घर रतन एक निरमरा । हाजी सेख सभागइँ भरा ॥
तिन्ह घर दुइ दीपक उजिआरे । पंथ देइ कहँ दइअ सँवारे ॥
सेख मुबारक पूनिउँ करा । सेख कमाल जगत निरमरा ।
दुओ अचल धुव डोलहिं नाहीं । मेरु खिखिद तिनहुँ उपराहीं ॥
दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं । कीन्ह खाँभ दुहुँ जगत की ताईं ॥
दुहुँ खंभ टेकी सब मही । दुहुँ के भार सिस्टि थिर रही ॥
जिन्ह दरसे औ परसे पाया । पाप हरा निरमल भौ काया ॥
महमद तहाँ निचिन्त पथ, जेहि संग मुरसिद पीर ।
जेहि रे नाव करिया औ खेवक, बेग पाव सो तीर ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—उन्ह=उसके । रतन=रत्न । निरमरा=निर्मल । सभागइँ-पाठान्तर-

सभैगुन, रूमागुन, सोभागइ=सौभाग्य। देइ कहँ=देने के लिए। दइअ=ईश्वर। पूनिऊँ करा =पूर्णमासी की कला। दुओ=दोनों। धुव=ध्रुव। खिखिद=किष्किन्धा। उपराहीं= ऊपर। टेकी=सँभाली। मही=पृथ्वी। दुहुँके=दोनों के। परसे=छुए। पाया=पैर। मुरसिद=सीधा रास्ता बताने वाला गुरु। जेहि=जिसके पास। करिआ=पतवार पकड़ने वाला। खेवक=खेने वाला। महमद=मलिक मुहम्मद जायसी।

अर्थ—सैयद अशरफ जहाँगीर के घर सौभाग्य से भरा हुआ एक निर्मल रत्न शेख हाजी पैदा हुआ। उनके घर दो दीपक प्रकाशित हुए जिन्हें परमेश्वर ने रास्ता दिखाने के लिए सँवारा था। इन दो में से एक पूर्ण चन्द्र की कलाओं से युक्त शेख मुबारिक थे। दूसरे संसार में अति निर्मल शेख कमाल थे। दोनों अटल ध्रुव के सदृश थे और अपने पद से डोलते न थे। सुमेरु और किष्किन्धा से भी वे ऊपर थे। परमात्मा ने उन्हें सुन्दर रूप और तेज दिया था। दोनों संसार के टेकने के लिए खम्भे थे। इन दोनों खम्भों ने पृथ्वी को सहारा दिया और इन दोनों के भार लेने पर सृष्टि स्थिर रही। जिन्होंने इनके दर्शन और चरण-स्पर्श किये, उनके पाप दूर हो गए और शरीर निर्मल हो गया। जायसी जी कहते हैं कि जिसके साथ सन्मार्ग-प्रदर्शक गुरु और पीर (संत) हैं, वही अपने मार्ग में निश्चिन्त होता है और जिसकी नाव पर डाँड (चप्पू) और पतवार पकड़ने वाला दोनों है, उसकी नाव तेजी से किनारे पर पहुँच जाती है। (यहाँ करिआ से तात्पर्य गुरु का और खेवक से पीर का है।)

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति और उपमा।

[२०]

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा।।
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहि दीन्ह गिआनू।।
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखुरू।।
सैयद महमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहिं खेला।।
दानिआल गुरु पंथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए।।
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइँ मेरए जहँ सैयद राजे।।
उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कबि बरनी।।
ओइ सो गुरु हौं चेला, निंति बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुति देखइ पावौं, दरस गोसाईं केर।। २०।।

शब्दार्थ—मोहदी=सैयद मुहीउद्दीन, जायसी के दूसरे गुरु। उताइल=जल्दी। खेवा =नाव का बोझ। सुरखुरू=मुख पर तेज धारण करने वाला, तेजस्वी। ओइ=वे। संगम =मेल, साक्षात्कार। खेला=खेल। लइँ मेरए=मिला दिया। सैयद राजे=सैयद राजे हामिदशाह। करनी=कर्म। उघरी=खुली। प्रेम कवि=प्रेम-काव्य। निंति=नित्य। चेर=चेला। उन्ह हुति=उनके द्वारा। गोसाईं=परमेश्वर।

अर्थ—जायसी के प्रथम गुरु तो सैयद अशरफ जहाँगीर थे पर बाद में वे सैयद मुहीउद्दीन की सेवा में भी रहे और उनसे ज्ञान प्राप्त किया, उन्हीं के सम्बन्ध में कहते हैं—

गुरु मुहीउद्दीन मेरे मल्लाह हैं, मैं उनका सेवक (शिष्य) हूँ। उनकी नाव तेजी से चलती है। उनके अगुआ शेख बुरहान थे जिन्होंने उन्हें रास्ते पर लाकर ज्ञान दिया। उनके भी गुरु शेख अलहदाद थे। वे दीन और दुनिया में विख्यात तेजस्वी थे। शेख अलहदाद सैयद मुहम्मद के चेले थे। वे सिद्ध पुरुष थे और उनके लिए परमेश्वर का साक्षात्कार खेल था। शेख दानियाल ने सैयद मुहम्मद को रास्ता दिखाया था। उनको हजरत ख्वाजा खिजिर ने सैयद राजे से मिलाया था। इस प्रकार की गुरु-परम्परा का उल्लेख करके जायसी जी कहते हैं कि उस गुरु मुहीउद्दीन से जब मैंने अपनी सेवा का फल पाया तब मेरी जिह्वा खुली और मैंने प्रेम-काव्य का वर्णन किया। वे ही मेरे गुरु हैं, मैं नित्य उनका शिष्य होकर विनती करता हूँ। उन्हीं के द्वारा मैं परमेश्वर का दर्शन करना चाहता हूँ।

टिप्पणी—मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की परम्परा में से थे। यह परम्परा दो भागों में विभक्त हो गयी थी। एक मानिकपुर (कालपी) की और दूसरी जायस की। मलिक मुहम्मद ने दोनों परम्पराओं से दीक्षा ली। जायस वाली परम्परा में तो वे थे ही, मानिकपुर वाली परम्परा से भी उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। छन्द संख्या अठारह और उन्नीस में उन्होंने जायस परम्परा का और छन्द बीस में मानिकपुर की परम्परा का उल्लेख किया है। इनकी गुरु-परम्परा का वंश-वृक्ष देना उपयुक्त होगा, इससे उक्त-पद और स्पष्ट हो जायेंगे—

निजामुद्दीन औलिया
|
सिराजुद्दीन
|
शेख अलाउल हक

- शेख कुतुब आलम (पंडोई)
  - शेख हशमुद्दीन (मानिकपुर)
  - सैयद राजे हामिदशाह
  - शेख दानियाल
  - सैयद मुहम्मद
  - शेख अलहदाद
  - शेख बुरहान (कालपी)
  - शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन)
- जायस
  - ×
  - ×
  - ×
  - ×
  - ×
  - सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती
  - शेख हाजी
    - शेख मुहम्मद मुबारक
    - शेख कमाल

[२१]

एक नैन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कबि सुनी ॥
चाँद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजिआरा ॥
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ ॥
जौं लहि अंबहि डाभ न होई। तौ लहि सुगंध बसाइ न सोई ॥
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा। तौ अति भएउ असूझ अपारा ॥
जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचनगिरि लाग अकासा ॥
जौं लहि घरी कलंक न परा। काँच होइ नहिं कंचन करा ॥
एक नैन जस दरपन, औ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवंत पाँव गहि, मुख जोवहिं कइ चाउ ॥२१॥

शब्दार्थ—जइस=जैसा। उवा=उदय हुआ। सूक=शुक्र। नखतन्ह=नक्षत्रों। माहाँ=में। जौं लहि=जबतक। अंबहि=आम। डाभ=चोपी (आम के मुख पर से निकलने वाला तीखा रस जिसको पहले लोग निकाल कर तब चूसते हैं)। बसाइ=सुगन्धित

होना। सोई=वह। पानि=पानी। घरी=सोना गलाने की मिट्टी की घरिया (कटोरी)। कलंक=दूषित सोना। काँच=कच्चा। कंचन=सोना। करा=कला। भाउ=भाव। जोवहिं=देखते हैं। चाउ=प्रीति।

अर्थ—अब जायसी अपना परिचय दे रहे हैं। अपना परिचय देते हुए सर्वप्रथम वे अपने अंग-दोष अर्थात् कानेपन पर ही कह उठे। अपने दोष को वे दोष नहीं मानते। सम्भवतः जीवन में कई बार उन्हें इस अंग-दोष पर असम्मान मिला था "मोंहि हँसे की कोहरे" उक्ति इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। उसी की प्रतिध्वनि यहाँ भी दिखाई पड़ रही है। जायसी अपने अङ्ग-दोष के पक्ष में काव्य रीति से पुष्टि कर रहे हैं। उनके कथन में गर्वोक्ति की स्पष्ट झलक है।

मुहम्मद नाम का एक आँख[1] वाला गुणी कवि है। उसकी कविता को जिसने ही सुना वही मोहित हो गया (प्रथम अर्धाली में गर्वोक्ति है)। ब्रह्मा ने उसे संसार में चन्द्रमा जैसा अवतार दिया है। जैसे कि चन्द्रमा में कलंक होते हुए भी प्रकाश करने की शक्ति है, इसी प्रकार एकाक्ष होते हुए भी जायसी काव्य-यश से प्रकाशित हैं। एक ही आँख से उन्हें संसार का वास्तविक रूप दिखाई पड़ा। (व्यंजना इस पंक्ति में यह भी है कि एक आँख से देखने के कारण वे समदर्शी बने। अवधी प्रयोग के अनुसार एक आँख से देखने का तात्पर्य समदर्शी होना होता है।) संसार के मनुष्यों में जायसी इस प्रकार चमके जैसे नक्षत्रों में शुक्र तारा चमकता है। शुक्राचार्य भी काने थे, इसलिए जायसी ने शुक्र तारे से अपनी उपमा दी है। अपने एकाक्ष होने की और पुष्टियाँ कर रहे है—जबतक आम में चोप नहीं होती, उसमें सुगन्ध नहीं आती (आम की तीखी चोपी ही उसे पंकाती है और सुगन्धित करती है)। इसी प्रकार परमेश्वर ने समुद्र के पानी को खारा किया है, तभी तो वह इतना अपार और अथाह है। सुमेरु पर्वत सोने का है पर पहले वही शंकर के त्रिशूल से नष्ट किया गया था, शंकर के त्रिशूल के स्पर्श से ही तो वह सुवर्ण का हो गया और आकाश को छूने लगा। दोषयुक्त सोना जबतक मिट्टी की घरिया में नहीं पड़ता, कच्चा ही रहता है, पर घरिया में तपाये जाने पर ही वह शुद्ध सोना होकर चमकने लगता है। एक आंख के होते हुए भी वे दर्पण के समान निर्मल हैं और उनके भाव भी निर्मल हैं। बड़े-बड़े रूपवान् लोग उनके पैर पड़ते हैं और प्रीति से उनका मुख देखते हैं।

अलंकार—उपमा।

टिप्पणी—उक्त उपमाओं में चन्द्रमा और शुक्राचार्य की उपमाएँ सुन्दर हैं पर अन्य उपमाएँ पिष्टपेषणमात्र ही हैं। क्योंकि कानेपन से ही तो उनका महत्त्व नहीं बढ़ा जैसा कि आम की चोप, त्रिशूल या घरिया के कारण आम, सुमेरु या सोना महत्त्व को प्राप्त हुए हैं। सागर की उपमा भी ठीक नहीं है।

१—महमद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक आंखि। (३६७। ८)

[२२]

चारि मीत कबि मुहमद पाए । जोरि मिताई सरि पहुँचाए ।।
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी । पहिलै भेद बात उन्ह जानी ।।
पुनि सलार काँदन मति माहाँ । खाँडै दान उभै निति बाहाँ ।।
मियाँ सलोने सिंघ अपारू । बीर खेत रन खरग जुझारू ।।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने । कइ अदेस सिद्धन बड़ माने ।।
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े । औ सँग जोग गोसाईं गढ़े ।।
बिरिख जो आछहिं चंदन पासाँ । चंदन होहिं बेधि तेहि बासाँ ।।
मुहमद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकइ चित्त ।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछरन कित्त ।।२२।।

शब्दार्थ—सरि=बराबर । मतिमाहाँ=मतिमान् । खाँडै=तलवार । उभै=उठती है । अपारू=अपार, पाठान्तर-बरियारू=बली । रन=रण । जुझारू=योद्धा । अदेस=प्रणाम । सिद्ध लोग अपने गुरु से मिलने पर तीन बार 'आदेश, आदेश, आदेश' कहते हैं, उत्तर में गुरु भी 'आदेश' कहता है । यह उनके प्रणाम करने की अपनी रीति है । चतुरदसौ गुन=चौदह विद्याएँ । गोसाईं=ईश्वर । गढ़े=बनाया था । बिरिख=वृक्ष । आछहिं=होते हैं-पाठान्तर-होइ जो । बेधि=प्रवेश करके । बासाँ=सुगन्ध । निबहा=निर्वाह हो गया, निभ गया । कित्त=किस प्रकार, कहाँ ।

अर्थ—इस पद मे जायसी अपने चार मित्रों का वर्णन करते हैं—मित्रों के द्वारा भी वे अपने महत्व की ओर संकेत कर रहे हैं :—

कवि मुहम्मद के चार मित्र थे । अपनी मित्रता जोड़कर उन्होंने उन्हें भी अपने समान ही बना लिया । पहिले मित्र युसुफ मलिक बड़े पंडित और ज्ञानी थे । सबसे पहिले रहस्य की बातों को उन्होंने जायसी से समझा । फिर बुद्धिमान् सलार काँदन[1] हुए जिनके हाथ तलवार उठाने तथा दान में सदा उठे रहते थे । तीसरे व्यक्ति सलोने मियाँ थे जो अपार वीर थे, वे तलवार चलाने में वीर योद्धा थे । चौथे मित्र बड़े शेख बड़े सिद्ध व्यक्ति थे । बड़े-बड़े सिद्ध भी उन्हें प्रणाम करते और बड़ा मानते थे । चारों मित्र चौदह विद्याओं को पढ़े हुए थे । परमेश्वर ने इन्हें संगति के योग्य बनाया था । जिस प्रकार चन्दन के पास वाले वृक्ष भी उसकी सुगन्ध के प्रवेश पाने से चन्दन हो जाते हैं, उसी प्रकार उन चारों के संसर्ग से कोई भी श्रेष्ठ बन सकता है । जायसी जी कहते हैं कि चारों मित्र मिलकर

१—काँदन—पंडित शुक्ल जी की प्रति में पाठ 'खादिम' है जो 'काँदन' का सरल किया हुआ पाठ है । डा० वासुदेवशरण जी 'काँदन' को शुद्ध पाठ मानते हैं और अर्थ करते हैं—काँदन—धातु काँदना=काटना; काँदन मति माहाँ=काँदन या मारकाट में जिसकी बुद्धि थी । —पद्मावत पृ० २२ ।

एकचित्त हो गए। इस संसार में उनका साथ भली प्रकार निभ गया तो दूसरे संसार में उन्हें कौन अलग कर सकता है ?

अलंकार—रूपक, उपमा।

[२३]

जाएस नगर धरम अस्थानू। तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू॥
औ बिनती पंडितन्ह सों भजा। टूट सँवारेहु मेरएहु सजा॥
हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा॥
हिअ भंडार नग आहि जो पूँजी। खोली जीभ तारा कै कूँजी॥
रतन पदारथ बोलइ बोला। सुरस पेम मधु भरिअ अमोला॥
जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया॥
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा॥
मुहमद कबि जो प्रेम का, ना तन रकत न माँसु।
जेइँ मुख देखा तेइ हँसा, सुना तो आए आँसु॥२३॥

शब्दार्थ—तहवाँ=वहाँ। बखान=वर्णन। भजा=किया। टूट=त्रुटि। सँवारेहु=सुधारिए। मेरएहु=मिला दें। सजा=सज्जा, अलंकरण। केर=का। पछिलगा=पीछे चलने वाला। तबला=नक्कारा, बड़ा ढोल। डगा=कदम। दइ डगा=कदम बढ़ाकर, नक्कारा के बजने पर पिछले सिपाहियों को भी आगे वालों के साथ पैर बढ़ाकर चलना पड़ता है। हिय=हृदय। पूँजी=सम्पत्ति। तारा=ताला। कूँजी=कुंजी, ताली। कै=लगा कर। रतन-पदारथ=रत्नसेन और पद्मावती[1]।

घाया=घाव। फेरे=बदले हुए। भा=हुआ। तपा=तपस्वी। धूरि=धूलि। लपेटा=लगाये हुए। मानिक=माणिक्य-रत्न। छपा=छिपा हुआ। रकत=रक्त।

अर्थ—इस पद में जायसी अपने स्थान, काव्य तथा प्रेमतत्व का परिचय दे रहे हैं। इसमें उनकी नम्रता द्रष्टव्य है। शारीरिक असौंदर्य पर तो उन्होंने गर्वोक्ति की है, पर काव्य-परिचय में वे अति ही नम्र हैं। इस वैषम्य का कारण यह है कि जायसी अंग-विकार के कारण अपने को किसी से कम नहीं मानते थे, पर कवि-हृदय होने के कारण काव्य-सम्बन्धी गर्वोक्ति उन्हें अभिप्रेत न थी।

जायस नगर (जिला रायबरेली) धार्मिक स्थान है, वहीं पर इस कवि मुहम्मद ने अपने

१—जायसी ने अनेक स्थलों पर रत्नसेन और पद्मावती के लिए रतन-पदारथ का प्रयोग किया है जैसे—

तेहि ते अधिक पदारथ करा। रतन जोग उपना निरमरा॥५२-६॥
जस तूँ पदिक पदारथ, तैस रतन तोहि जोग।
मिला भँवर मालति कहँ, करहु दोउ रस भोग॥४१७-८॥

प्रेम-काव्य का वर्णन किया। इन्होंने पंडितों से विनती की कि इस काव्य की त्रुटियों को आप लोग सुधार लें और उसमें अलंकरण अपनी ओर से मिला दें। मैं सब कवियों का अनुचर हूँ। काव्य-प्रणयन में मेरी गति ऐसी है जैसी कि सेना के अग्रसर होने पर साधारण सिपाही की होती है। नक्कारे की आवाज पर जैसे पिछले सिपाही भी आगे वालों के साथ पैर बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार मैं भी पंडितों के पीछे-पीछे कुछ कह चला हूँ। मेरे हृदय के भण्डार में परमेश्वर की जो रत्न-रूप पूँजी है उसे ही मैंने जिह्वा रूपी ताले की कुंजी से खोल दिया है। खुल जाने पर रतनसेन और पद्मावती के वृत्तान्त के शब्द निकले, जिनमें सुन्दर प्रेम रस भरा है। व्यंजना से तात्पर्य यह है कि अब मैं प्रेमकाव्य का निरूपण कर रहा हूँ। उसमें अमूल्य निधि ईश्वरीय प्रेम का व्यक्तीकरण है। इस प्रेम-काव्य में विरह की चोट प्रधान है। इस प्रकार के काव्य की रचना करने वाले को न तो भूख लगती है और न छाया प्रिय होती है। वह अपना भेष बदल कर तपस्वी होकर रहता है। धूलि से लिपटा हुआ, छिपा हुआ माणिक्य-सा रहता है। योगी का बाहरी स्वरूप आकर्षणहीन होता है पर अन्दर दैवी प्रेम का अनुपम रूप होता है। जायसी कहते है कि जो प्रेमकाव्य रचना करने वाला कवि है उसके शरीर में न खून रहता है, न माँस, उसके मुख की ओर जो देखता है वही हँस पड़ता है क्योंकि प्रेमी का स्वरूप अत्यन्त उपहासास्पद बना होता है पर जब वही उसका काव्य सुनता है तो आँखों में आँसू भर लेता है।

अलंकार—रूपक।

[२४]

सन नौं सै सैंतालिस[1] अहै। कथा अरंभ बैन कबि कहै॥
सिंहल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीं ढिल्ली सुलतानू। राघो चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरुकहि भई लराई॥
आदि अन्त जसि कथ्था अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै॥
कबि बिआस रस कौंला पूरी। दूरहि निअर निअर भा दूरी॥
निअरहि दूरि फूल सँग काँटा। दूरि जो निअरैं जस गुर चाँटा॥
भँवर आइ बनखंड हुति, लेहि कँवल कै बास।
दादुर बास न पावहिं, भलेहिं जो आछहिं पास॥२४॥

शब्दार्थ—अहै-पाठान्तर-अहा=था। अरम्भ-बन=आरम्भ वचन, प्राक्कथन

१—पं० शुक्ल जी वाली प्रति में 'सत्ताइस' पाठ है, पं० चन्द्रबली वली पांडे ने भी ९२७ को ही ठीक माना है (ना० प्र० पत्रिका, भाग १३, पृ० ४९१)। डा० माताप्रसाद गुप्त और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ९४७ मानते हैं। इतिहास की दृष्टि से भी यही पाठ ठीक प्रतीत होता है।

(Foreword)। आनी=लाया। छेंका=घेरा। अहै=है। भाषा=हिन्दी (उस काल में हिन्दी नाम न होकर अवधी आदि बोलियों को भाखा कहते थे, गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी भाषा का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—"भाखा भनित मोरि मति थोरी।") कवि बिआस=कथा-काव्य रचने वाला कवि, व्यास जी ने महाभारत में बृहत् कथा-काव्य कहा था, इसीलिए पदमावत आख्यान-काव्य-रचना करते हुए उन्होंने व्यास का नाम लिखा है। कौला=कमल की आकृति का कटोरा। रसपूरी=रस से परिपूर्ण। निअर=निकट। बनखंड=जंगल। कँवल=कमल। कै=का। बास=महक, सुगन्ध। दादुर=मेंडक। पावई=पाता है। भलेहि=चाहे। आछै=है।

अर्थ—इस छंद में जायसी जी अपने ग्रन्थ का कथा-सार भूमिका के रूप में दे रहे हैं।

सन् ९४७ हिजरी (१५४० ई०) था जब कवि ने पद्मावत की कथा का आरम्भ वचन कहा अर्थात् ग्रन्थ का लिखना आरम्भ किया। कथा इस प्रकार है—सिंघल द्वीप की पद्मावती रानी को चित्तौड़ का राजा रत्नसेन अपने गढ़ में ले आया। दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन के पास राघवचेतन ने जाकर पद्मावती के रूप का वर्णन किया। इसको सुन कर बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ को घेर लिया। हिन्दू और मुसलमानों में युद्ध हुआ। आरम्भ से अन्त तक पद्मावती की जैसी कथा थी उसे जायसी ने हिन्दी भाषा में चौपाई छन्द में लिखा है। कथा-काव्य कहने वाला कवि रस पूर्ण कटोरा प्रस्तुत करता है। इतने होने पर भी पात्र के अनुसार ही उसका ग्रहण हो सकता है। जैसा पात्र होता है उसी प्रकार वस्तु उसे दूर या निकट प्रतीत होती है। रसिक को दूर की वस्तु भी निकट प्रतीत होती है और अरसिक को निकट की वस्तु भी दूर दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए फूल और काँटा निकट होते हैं। पर एक दूसरे से सर्वथा दूर हैं—दोनों के गुण एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार निकट होते हुए भी वे दूर हैं। गुड़ और चींटी दूर होते हुए भी निकट हैं, कितना ही दूर गुड़ रखिए चींटी पहुँच जायेगी, इस प्रकार वह दूर होते हुए भी निकट है। चींटी में रसास्वादन की शक्ति है इसलिए वह दूर होती हुई भी गुड़ के पास तुरन्त पहुँच जाती है किन्तु रसहीन कंटक निकट होते हुए भी पुष्प के रस को क्या जाने? एक और सुन्दर उदाहरण जायसी जी देते हैं कि भौंरा जंगल में होता है, कमल से वह काफी दूर होता है पर वह इतनी दूर से उड़कर कमल के पास आकर उसकी सुगन्ध लेता है पर मेंडक जो कमल के पास ही रहता है कभी उसकी सुगन्ध नहीं पाता—इस प्रकार भौंरा दूर होते हुए भी कमल के पास है और मेंडक पास होते हुए भी दूर है। जायसी का तात्पर्य यह है कि उनकी पदमावत की आध्यात्मिक कथा किसी के लिए तो अति सरस और सुबोध है पर किसी के लिए सर्वथा नीरस और दुर्बोध है।

अलंकार—उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास।

सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड

[२५]

सिंघल दीप कथा अब गावौं । औ सो पदुमिनि बरनि सुनावौं ।।
बरन क दरपन भाँति बिसेखा । जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा ।।
धनि सो दीप जहँ दीपक नारी । औ सो पदुमिनि दइअ अवतारी ।।
सात दीप बरनहिं सब लोगू । एकौ दीप न ओहि सरि जोगू ।।
दिया दीप नहिं तस उजिआरा । सराँ दीप सरि होइ न पारा ।।
जंबू दीप कहौं तस नाहीं । पूज न लंक दीप परिछाहीं ।।
दीप कुसस्थल आरन परा । दीप महुस्थल मानुस हरा ।।
सब संसार परथमैं, आए सातों दीप ।
एकौ दीप न उत्तिम, सिंघल दीप समीप ।।२५।।

शब्दार्थ—पदुमिनि=पद्मिनी स्त्री, पद्मावती । बरनि=वर्णन करके । बरन क=वर्णन का । नारी-पाठान्तर बारी=बाला-स्त्री । दइअ=ईश्वर । अवतारी=अवतार-पाठान्तर सँवारी=सँवारी हुई । ओहि=उसके । सरि=समानता । जोगू=योग्य । दिया दीप=दिउ या ड्यू जो काठियावाड़ के समुद्र तट पर है और जिस पर पुर्तगालियों का अधिकार रहा है । सराँ द्वीप=सुमात्रा, मध्यकाल में इसे स्वर्ण द्वीप या सरन द्वीप कहते थे । अरब वाले लंका को ही सरनदीप (स्वर्णद्वीप) कहते हैं । जम्बूदीप=भारत । लंकदीप=लंका (भ्रमवश बहुत से लोग सिंहलद्वीप को भी सीलोन (लंका) समझते हैं पर ऐसा नहीं है; क्योंकि लंका का नाम तो जायसी ने दे ही रक्खा है) । परछाँही=छाया-पाठान्तर "लंक दीप सरि पूज न छाँही ।" कुसस्थल-पाठान्तर-गभस्थल=एक द्वीप, कुशद्वीप का उल्लेख पुराणों में और दारा प्रथम के लेखों में प्राप्त होता है । आरन=अरण्य, वन । महुस्थल=एक द्वीप । मानुस-हरा=मनुष्य से शून्य । परथमैं=प्रथम में । उत्तिम=उत्तम । सिंहलद्वीप=काल्पनिक द्वीप है, जायसी ने जिन सात द्वीपों के नाम दिये हैं, सुनी सुनाई बात के आधार पर लिख दिए हैं । प्रत्येक नाम में उनकी कल्पना और भावना का योग है । सिंहल (सीलोन) हठयोगी सिद्धों का सिद्ध-पीठ माना जाता है । जोगी बन जाने वाले रत्नसेन के अभीष्ट स्थान को उन्होंने सिंहलदीप कह दिया । लंकद्वीप से उनका तात्पर्य राक्षसों के द्वीप से है (तूफान से भटके हुए जहाजों के लिए लिखते हैं कि "भए कुपंथ लंक दिसि हाँके ।" श्री शिरेफ ने सातों द्वीपों को पद्मावती के शरीर के भिन्न अंगों पर घटाया है । जायसी की प्रवृत्ति देखते हुए यह अनुमान उचित प्रतीत होता है । द्वीपों के नाम काल्पनिक ही प्रतीत होते हैं । दियाद्वीप=नेत्र । सरन दीप=श्रवण या कान । जम्बूद्वीप=जामुन जैसे काली अलकें । लंकद्वीप=कटि । कुशस्थल पाठान्तर कुम्भस्थल=कुच । महुस्थल=मधुस्थल, गुह्य अंग ।

अर्थ—अब मैं सिंहलद्वीप की कथा गा रहा हूँ और उस पद्मिनी नारी पद्मावती का वर्णन करके सुना रहा हूँ। वर्णन की विशेषता दर्पण की भाँति होती है। जिस प्रकार दर्पण में जैसा रूप होता है ठीक वैसा ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार वर्णन के द्वारा जो जैसा होता है ठीक वैसा ही पाठक या श्रोता के समक्ष दृष्टिगत होने लगता है। वह सिंहल द्वीप धन्य है जहाँ दीपक के समान नारियाँ हैं और जहाँ परमेश्वर ने पद्मावती का अवतार कराया है। लोगों ने संसार में सात द्वीपों का वर्णन किया है पर एक द्वीप भी इस सिंहल द्वीप की समता के योग्य नहीं है। दियादीप उसके समान प्रकाशित नहीं है और सरनदीप उसकी बराबरी नहीं कर सकता। जम्बूद्वीप भी उसके समान नहीं है। लङ्काद्वीप तो उसकी परछाहीं को भी नहीं पहुँच सकता। कुशस्थल द्वीप में तो जङ्गल पड़ा है और महुस्थल द्वीप में मनुष्य ही नहीं हैं। इस संसार में सबसे पहले ये ही सातों द्वीप बने, पर इनमें से उत्तमता में एक भी सिंहलद्वीप के समीप नहीं आ सकता।

अलंकार—असम।

छन्द—दोहे के विषम चरणों में १३ के स्थान पर १२ मात्राएँ ही हैं।

[२६]

गंध्रपसेन सुगंध नरेसू। सो राजा यह ताकर देसू॥
लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥
छप्पन कोटि कटक दर साजा। सबै छत्रपति औरँगन्ह राजा॥
सोरह सहस घोर घोरसारा। सावँकरन बालका तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंघली। जिमि कबिलास एरापति बली॥
असुपती क सिरमौर कहावा। गजपति क आँकुस गज नावा॥
नरपती क कहाव नरिंदू। भुअपती क जग दोसर इन्दू॥
अइस चक्कवै राजा, चहूँ खंड भै होइ।
सबै आइ सिर नावहिं, सरवरि करै न कोइ॥२६॥

शब्दार्थ—सुगन्ध=यशस्वी। ताकर=उसी का। चाहि=बढ़कर। दर=दल। छत्रपति=राजा। औरँगन्ह=(औरँग=तख्त) सिंहासन वाले-पाठान्तर-औ गढ़ (किला)। घोर=घोड़े। तुखारा=तुखारी घोड़े। सावँकरन=श्याम कर्ण। बालका=बलख देश के घोड़ों की एक जाति[1] पाठान्तर अरु बाँक=और बाँके। कबिलास=स्वर्ग। एरापति=ऐरावत। असुपती क=अश्वपतियों का, घोड़े वाले राजाओं का। सिरमौर=शिरोमणि। आँकुस=अंकुश। नावा=झुका दिया। भुअपती क=भूपतियों का। दोसर=दूसरा।

१— डा० वासुदेवशरण जी ने इसका अर्थ वंशज कहा है, किन्तु यह बहुत ठीक नहीं प्रतीत होता—जायसी ने दुबारा इसी शब्द का प्रयोग एक जाति विशेष के घोड़ों के लिए किया है—'जाति बाला समुद्र थहाए'—(५१३।३)

इंदू=इंद्र । चक्कवै=चक्रपति, चक्रवर्ती । चहूँ खंड=चारों खंड, समस्त संसार।

अर्थ—सिंहलदीप में गन्धर्वसेन नाम का यशस्वी राजा था। वह यहाँ का राजा था और यह उसका देश था। लंका का जो रावण राजा सुना गया है उससे भी बढ़कर इसका साज है। (रावण के प्रभुत्व के सम्बन्ध में रामायण में लिखा है—रावण नाम जगत् जस जाना। लोकप जाके बन्दी खाना।") छप्पन करोड़ सेना का दल साजता था, सभी राजाओं में वह श्रेष्ठ राजा है। १६ हजार घोड़े उसकी घोड़साल में हैं, इनमें श्याम कर्ण और तोखारी, बालका जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के बली घोड़े हैं। सिंहल में सात हजार हाथी हैं जो कि ऐरावत जैसे बलशाली हैं। वह राजा अश्वपति राजाओं का शिरमौर कहा जाता है और गजपतियों को अंकुश से अपने सामने झुका रखता है। नरपतियों का नरेन्द्र कहा जाता है और भूपतियों के लिए तो संसार में दूसरा इन्द्र ही है। चारों खण्डों में यह ऐसा चक्रवर्ती राजा हुआ है कि सभी राजा आकर इसके आगे सिर नवाते हैं, कोई इसकी समता नहीं करता।

अलंकार—तद्रूप रूपक और असम।

छंद—दोहे के विषम चरणों में मात्राएँ १२ ही हैं।

[२७]

जबहि दीप निअरावा जाई। जनु कबिलास निअर भा आई ॥
घन अँबराउँ लाग चहुँ पासा। उठं पुहुमि हुति लाग अकासा ॥
तरिवर सबै मलैगिरि लाए। भै जग छाँह रैनि होइ छाए ॥
मलै समीर सोहाई छाहाँ। जेठ जाड़ लागे तेहि माहाँ ॥
ओही छाँह रैन होइ आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै ॥
पंथिक जौं पहुँचै सहि घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ॥
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा ॥
अस अँबराउँ सघन घन, बरनि न पारौं अन्त।
फूलै फरै छहूँ रितु, जानहु सदा बसन्त ॥२७॥

शब्दार्थ—निअरावा=निकट पहुँचना। कबिलास=स्वर्ग। अँबराउँ=आम के बाग। पासा=सं० पार्श्व=ओर। पुहुमि=पाठान्तर-भूमि=पृथ्वी। हुति=से। तरिवर=वृक्ष। मलैगिरि=मलयाचल। रैनि (रजनी)=रात। हरिअर=हरा। पंथिक=पथिक। घामू=धूप। बहुरि=फिर। पारौं=सकूँ।

अर्थ—जब उस द्वीप के निकट पहुँचते हैं तो क्या देखते हैं मानो स्वर्ग निकट हो गया है। चारों ओर घने आम के बाग हैं। पेड़ जमीन से उठकर आकाश को छुए हुए हैं। मलयाचल से सभी वृक्ष लाकर यहाँ लगाये गये हैं संसार में उनकी छाया हो गई, रात का अंधकार उन्हीं की तो छाया है। इन वृक्षों की छाया में सुगन्धित मलय पवन शोभा पाता है। इसमें जेठ की गर्मी में भी ठंडक लगती है। उस छाया में रात प्रतीत होती है और सारा आकाश वृक्ष की पत्तियों से हरा दिखाई पड़ता है। धूप सहकर जो पथिक वहाँ तक

पहुँच जाता है, वह सारा दुःख भूल जाता है और पूर्ण शान्ति मिलती है, जिसे वह अनुपम छाया मिल जाती है उसे फिर लौटकर धूप नहीं सहनी पड़ती। इन पंक्तियों में जायसी अपनी पद्धति के अनुसार परमार्थ तत्व की ओर संकेत करते हैं—जिसे प्रेम के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है उसे संसार के कष्ट भूल जाते हैं, परम शान्ति मिलती है और पुनः संसार के कष्ट भोगने के लिए नहीं आना पड़ता। ऐसा ही रहस्यवादी संकेत सम्पूर्ण काव्य में यत्र-तत्र मिलता है।

ऐसा घना आम का बाग है कि मैं उसका वर्णन करके अन्त नहीं पा सकता, यह बाग छहों ऋतुओं में फूला-फला रहता है और सदा ही वसन्त ऋतु यहाँ होती है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा), समासोक्ति।

[२८]

फरे आँब अति सघन सोहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए॥
कटहर डार पींड सों पाके। बड़हर सोउ अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जाँबु जो पाकि भँवर असि डीठी॥
नरिअर फरे फरी खुरहुरी। फुरी जानु इन्द्रासन पुरी॥
पुनि महु चुवै सो अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू॥
और खजहजा आव न नाऊँ। देखा सब रावन अँबराऊँ॥
लाग सबै जस अंब्रित साखा। रहै लोभाइ सोइ जोइ चाखा॥
गुआ सुपारी जायफर, सब फर फरे अपूरि।
आस पास घनि इँबिली, औ घन तार खजूरि॥ २८॥

शब्दार्थ—आँब=आम। जस=जैसे। पींड=जड़ की पिंडाकार मिट्टी। पाके=पके हुए। खाँड=शक्कर। असि=ऐसी। जाँबु=जामुन। डीठी=दिखाई पड़ती है। नरिअर=नारियल। खुरहुरी-पाठान्तर-फरहरी=एक बेल। फुरी-पाठान्तर फुरै=सचमुच। जानु=मानों। महु (मधूक)=महुआ। चुवै=टपकता है। मधु=शहद। जस=जैसा। पुहुप=फूल। बास=सुगन्ध। (महुआ वृक्ष पश्चिमी भारत में नहीं होता, अवधी प्रान्त में बहुत होता है। जब फूलता है तो इसमें से मस्त सुगन्ध निकलती है। इसके सफेद फूल टपकते हैं और बड़े मीठे होते हैं।) खजहजा=खाने वाले फल और मेवे। रावण—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका अर्थ रमणीय किया है और इसकी व्युत्पत्ति अपभ्रंश शब्द 'रमण' से देने का प्रयत्न किया है। यह आवश्यकता से अधिक खींचतान प्रतीत होती है। रावण की वाटिका की प्रशंसा जनश्रुति में बहुत थी, अतः बहुश्रुत जायसी का सिंहल की वाटिका की समता लंका के रावण की वाटिका से देना अधिक समीचीन जान पड़ता है। जायसी ने ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग किया है और सर्वत्र उसका अभिप्राय लंका के राजा रावण से ही है। नाऊँ=नाम। अंब्रित=अमृत। गुआ=सं० गुवाक, एक प्रकार की सुपारी—पाठान्तर

लौंग। इँबिली=इमली।

अर्थ—बागों में सघन आम पके हुए अच्छे लग रहे हैं, जैसे फले हुए हैं वैसे ही अधिक सिर नवाये हुए झुके हैं। कटहल डाल और जड़ों में फले हुए पके हैं। बड़हल भी उस बाग में अत्यन्त अनुपम लग रहे हैं। खिरनी पक कर शक्कर के समान मीठी हो गई है। जामुन जो पकी हुई है वह भौंरे के समान काली-काली दिखाई पड़ रही है। नारियल फले हुए हैं और खुरहुरी फली हुई है। इसे देखकर ऐसा लगता है जैसे इन्द्रपुरी सजी हो। फिर महुआ टपकता है, वह शहद की भाँति मीठा है। इसके फूल की मीठी मँहक आ रही है। अन्य भी फल और मेवे हैं जिनका नाम मुझे नहीं आता। वे सब रावण के बाग में ही देखे गये हैं। सभी डालियाँ अमृत सी लग रही हैं। जिसने इन फलों को चखा है वह लुभा रहा है। गुआ नामक सुपारी, जायफल आदि सभी फल पूर्ण रीति से फले हुए हैं। आस-पास घनी इमली, घने ताड़ और खजूर के वृक्ष हैं।

[२९]

बर्साहि पंखि बोलहिं बहु भाषा। करहिं हुलास देखि कै साखा॥
भोर होत बासहिं चुहचुही। बोलहिं पाँडुक एकै तुही॥
सारौ सुवा सो रहचह करहीं। गिरहिं परेवा औ करबरहीं॥
पिउ पिउ लागे करै पपीहा। तुही तुही कह गुडुरू खीहा॥
कुहू कुहू कोइल करि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाषा॥
दही दही कै महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनि हारा॥
कुहकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कोराहर बोलहिं कागा॥
जावँत पंखि कहे सब, बैठे भरि अँबराऊँ।
आपनि आपनि भाषा, लेहिं दइअ कर नाउँ॥ २९॥

शब्दार्थ—पंखि=पक्षी। हुलास=उल्लास, आनन्द। बासहिं-पाठान्तर-बोलहिं-बास=सं० वाश 7 प्रा०-बास 7 बासना=बोलना। चुहचुही=फूलसूँघनी चिड़िया। पाँडुक=पिड़की, फाख्ता। एकै तुही='एक तू' की आवाज। सारौ=सारिका, मैना। रहचह=चहचहाना। गिरहिं=गिरता है (कबूतर की प्रकृति है कि वह ऊपर जाकर एकदम गिरता है) पाठान्तर-कुरहि=कुलेल करता है। परेवा=कबूतर। करबरही=खरभराना। गुडुरू=एक प्रकार का बटेर जो तुही-तुही बोलता है। भिंगराज=भृङ्गराज, भुजंगा जो अनेक प्रकार की बोली के लिए प्रसिद्ध है। महरि=एक छोटी चिड़िया जिसे ग्वालिनि या अहीरिन कहते हैं जो "दही-दही" बोलती है। हारिल=एक पक्षी जो पृथ्वी पर कभी नहीं बैठता, यदि बैठता है तो लकड़ी रखकर। हारा=हाल। बिनवै=निवेदन करता है। कुहकहिं=बोलते हैं। कोराहर=कोलाहल। जावँत=जितने। दइअ=ईश्वर। कर=का। नाउँ=नाम।

अर्थ—सिंहल के बागों में बहुत से पक्षी हैं जो अनेक बोलियाँ बोलते हैं। सुन्दर

डालियों को देखकर अत्यन्त आनन्द मनाते हैं। प्रातःकाल होते ही चुहचुही बोलने लगती है। पांडुक पक्षी 'एक तू ही' बोलने लगता है। मैना और तोता बोलने लगते हैं।, कबूतर ऊपर उड़कर गिरने तथा खरभराने लगते हैं। पपीहा पी-पी करने लगता है, गुड्डरू 'तुही-तुही' कर खीझने लगती है, कोयल 'कुहू-कुहू' करने लगती है और भृङ्गराज अनेक प्रकार की बोलियों में बोलने लगते हैं। ग्वालिन पक्षी 'दही-दही' का शब्द करता है और हारिल अपना हाल निवेदन करता है। मोर कुहुकते हैं जो अत्यन्त सुन्दर लगता है। कौए कोलाहल करते हैं।

जितने भी पक्षी कहे जाते हैं सभी सिंहल की अमराइयों में बैठे हैं और अपनी-अपनी बोली में ईश्वर का नाम लेते हैं।

टिप्पणी—इस पद में पक्षियों की बोली का सुन्दर निरूपण है, अवधी भाषा-भाषी प्रान्त के ग्रामों में पक्षी अपनी बोली के अनुसार ही नाम पाते हैं। यहाँ चुहचुही, पपीहा, महरि, पांडुक, गु डुरू, ग्वालिनि अपनी बोली के अनुकरण पर ही इन नामों से पुकारे गये हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

[३०]

पैंग पैंग पर कुआँ बावरी। साजी बैठक औ पाँवरा॥
औरु कुंड बहु ठाँवहिं ठाँऊ। सब तीरथ औ तिन्ह के नाऊँ॥
मढ़ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे॥
कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी॥
कोइ ब्रह्मचर्ज पंथ लागे। कोइ दिगम्बर आछहिं नाँगे॥
कोइ सरसुती सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पंथ बैठ बियोगी॥
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देबी सती॥
सेवरा खेवरा बानपरस्ती, सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब, जारि आतमा भूत॥ ३०॥

शब्दार्थ-पैंग पैंग=कदम-कदम। बैठक=बैठने की चौकियाँ या कुएँ की जगत। पाँवरी=सीढ़ियाँ। ठाँवहिं ठाऊँ=जगह-जगह। मढ़=मढ़ी-पाठान्तर-मठ। जपा तपा=जप तप करने वाले। रिखेस्वर=ऋषीश्वर। रामजन-पाठान्तर रामजप=राम को जपने वाला रामानंदी भक्त। मसवासी (पाठान्तर विसवासी) सं० मासोपवासी=एक मास तक उपवास करने वाला (गरुड़ पुराण में एक मास के व्रत का विधान है जो आश्विन शुक्ल ११ से कार्तिक शुक्ल ११ तक का है। महाभारत में भी इस व्रत का उल्लेख है।) आछहिं=हैं। नाँगे=नंगे। सरसुती=सरस्वती (दसनामी साधुओं में से एक)। निरास=जो किसी से आशा न रखे। (छन्द ५ की ७ वीं पंक्ति में इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग है)। महेसुर=महेश्वरी (शंकर का पुजारी)। जंगम=एक प्रकार का शैव साधु। जती=यति, साधु। सती=शक्ति-देवी।

सेवरा-खेवरा = श्वेत पट और क्षपणक नामक जैन साधु जिनका उल्लेख बाणभट्ट के हर्ष चरित में आया है, श्वेत पट ∠सेयवड़ ∠सेवरा; क्षपणक >खवणग्र ∠खवड़ा=खड्वड़ा ∠खेवड़ा <खेवरा। बानपरस्त=वानप्रस्थ। अवधूत=योगी। जारि = जलाना।

अर्थ—सिंहल में पद-पद पर कुएँ और बावलियाँ बनी हैं जिनमें जगह-जगह बैठने की चौकियाँ (जगत) हैं और सीढ़ियाँ बनी हैं। स्थान-स्थान पर कुंड हैं, ये सब तीर्थ हैं तथा जिनके नाम सभी तीर्थों के हैं। चारों ओर मढ़ी और मंडप बने हैं जहाँ जप-तप करने वाले लोग आसन लगाये बैठे हैं। इनमें से कोई ऋषीश्वर है तो कोई एक महीने भर का उपवास करने वाला मसवासी संन्यासी है, कोई रामभक्त है, कोई ब्रह्मचारी है तो कोई दिगम्बर मतावलम्बी होने से नंगा ही रहता है। कोई सरस्वती, कोई सिद्ध, कोई योगी है, तथा कोई वियोगी बनकर सभी इच्छाओं को त्यागे हुए उदासी बाबा बना है। कोई शंकर भक्त, जंगम, या यति है तो कोई देवीपूजक है। सेवरा, खेवरा, वानप्रस्थ, सिद्ध, साधक और अवधूत आदि भिन्न-भिन्न पंथ के साधु वहाँ पर आसन मारे बैठे हैं और मन और इन्द्रियों को दमन किए हुए हैं।

(३१)

मानसरोदक देखिअ काहा। भरा समुंद अस अति अवगाहा॥
पानि मोति अस निरमर तासू। अंब्रित बानि कपूर सुबासू॥
लंक दीप कै सिला अनाईं। बाँधा सरवर घाट बनाई॥
खँडखँड सीढ़ी भईं गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुं फेरी॥
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस सहस पँखुरिन्ह कर छाता॥
उलथहिं सीप मोंति उतिराहीं। चुगहिं हंस और केलि कराहीं॥
कनक पंखि पैरहिं अति लोने। जानहु चित्र सँवारे सोने॥
ऊपर पाल चहूँ दिसि, अंब्रित फर सब रूख।
देखि रूप सरवर कर, गइ पिआस और भूख॥ ३१॥

शब्दार्थ—मानसरोदक=मानसरोवर तालाब। काहा=क्या। अवगाहा=(सं० अगाध) अथाह। बानि-सं० वर्ण 7 प्रा० 7 वण्ण 7 बान >बाना=समान। अनाई=मँगवाकर। गरेरी=चक्करदार। राता=लाल। उलथहिं=प्रा० उल्लथ 7 उलथना=उलटना। लोने=लावण्य, सुन्दर। पाल=ऊँचा तट, किनारा।

अर्थ—मानसरोवर को क्या देखें अर्थात् उसका क्या कहना! समुद्र के समान अत्यन्त अथाह भरा हुआ है। उसका पानी मोती के समान निर्मल है, अमृत के समान मीठा है और उसमें कपूर की सुगन्ध निकलती है। लंका द्वीप से शिलाएँ मंगवाकर तालाब बँधवाया गया है और उसमें सुन्दर-सुन्दर घाट बनवाये गये हैं। खंड-खंड में चक्करदार सीढ़ियाँ गयी हैं, लोग इनमें चारों ओर उतरते और चढ़ते रहते हैं। इस तालाब में लाल

कमल फूल रहा है उसके हजारों पंखुड़ियों का छत्ता है। तालाब में सीपें उलट पड़ती हैं जिनमें से मोती निकलकर उतरा उठते हैं। हंस इन मोतियों को चुगते और खेल करते हैं। वे सुनहले पंखों से तालाब में तैरते हुए अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। ऐसा लगता है मानो सोने से सँवारे हुए चित्र हैं। (कुछ प्रतियों में चौपाई इस प्रकार है—"खनि पतार पानी तहँ काढ़ा। छीर समुन्द निकला हुत बाढ़ा।" इसका अर्थ होगा—पाताल खोदकर पानी निकाला गया है जो ऐसा मालूम होता है मानो क्षीरसागर ही बढ़कर निकला है।) तालाब के चारों ओर बांध (भीटा) बनाया गया है जिस पर अमृत फल वाले सभी वृक्ष लगे हैं। उस तालाब के रूप को देखकर सारी भूख और प्यास मिट जाती है।

अलंकार—उपमा।

[३२]

पानि भरइ आवहिं पनिहारी। रूप सुरूप पदुमिनी नारी॥
पदुम गंध तेन्ह अङ्ग बसाहीं। भँवर लागि तेन्ह संग फिराहीं॥
लंक सिंघनी सारँग नैनी। हंसगामिनी कोकिल बैनी॥
आवहिं झुंड सो पाँतिहि पाँती। गवन सोहाइ सो भाँतिहि भाँती॥
केस मेघावरि सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु की नाईं॥
कनक कलस मुख चँद दिपाहीं। रहस कोड सों आवहिं जाहीं॥
जासौं वे हेरहिं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी॥
मानहु मैन मुरति सब, अछरीं बरन अनूप।
जेन्हिकी ये पनिहारी, सो रानी केहि रूप॥३२॥

शब्दार्थ—पदुम (पद्म)=कमल। बसाहीं=मँहकती हैं। लागि=लगे हुए। तेन्ह=उनके। फिरहीं=फिरते हैं। लंक=कमर। सारंग=मृग। पाँती=पंक्ति। गवन=गमन। केस=केश, बाल। ता पाईं=पैर तक। मेघावरि=मेघ-अवली, बादलों की घटा। दसन=दाँत। बीजु=बिजली। रहस=रास। कोड=क्रीड़ा-खेल-पाठान्तर केलि। हेरहिं=देखती हैं। चख=आँख। बाँक=टेढ़े। हनहि=मारती हैं। मैन (मदन)=कामदेव। मुरति=मूर्ति। अछरी=अप्सरा। बरन=रँग। जेन्हिकी=जिसकी।

अर्थ—मानसरोवर पर पानी भरने पनिहारिन आती हैं, वे सुन्दर रूपवाली पद्मिनी नारियाँ हैं। उनके अंग से कमल की सुगंध निकलती है। सुगन्ध के कारण भौंरे उनके साथ लगे हुए फिरा करते हैं। उनकी कमर सिंहिनी की कमर के समान पतली है और उनकी आँखें मृग की आँखों के समान बड़ी और सुन्दर हैं। वे हंस के समान मतवाली चाल से चलनेवाली और कोकिल जैसी मीठी वाणी बोलने वाली हैं। वे पंक्ति-पंक्ति में झुण्ड की झुण्ड आती हैं। उनका भाँति-भाँति का चलना सुन्दर लगता है। उनके सिर के बाल बादलों की घटा के समान सिर से पैर तक लहराते रहते हैं। उनके दाँत ऐसे चमकते हैं जैसे बिजली। सिर

पर सोने के कलसे (घड़े) रखे हुए हैं। वे चन्द्रमा के समान मुख से सुशोभित होती हैं और रास तथा खेल करती हुई आती-जाती हैं। जिस व्यक्ति की ओर वे नारियाँ टेढ़े नयनों से देखती हैं उसे मानों उन्होंने कटार मार दी। वे अप्सराओं के रंग वाली सुन्दरियाँ ऐसी हैं मानो कामदेव की मूर्तियाँ हों। जायसी कहते हैं कि जिनकी पनिहारी दासियाँ ऐसी हैं तो भला वे रानियाँ किस रूप की होंगी?

अलंकार—उपमा, भ्रान्तिमान्, रूपक और उत्प्रेक्षा।

छोटा तालाब [३३]

ताल तलावरि बरनि न जाहीं। सूझइ वारपार तेन्ह नाहीं॥
फूले कुमुद केत उजिआरे। जानहुँ उए गगन महँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लै पानी। चमकहिं मंछ बीजु की बानी॥
पैरहिं पंखि सो संगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरहिं औ दिनहिं मिलाहीं॥
कुरलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुअहिं एक पासा॥
केंवा सोन ढेक बग लेदी। रहे अपूरि मीन जल भेदी॥
नग अमोल तेन्ह तालन्ह, दिनहिं बरहिं जनु दीप।
जो मरजिआ होइ तहँ, सो पावइ वह सीप॥३३॥

शब्दार्थ—तलावरि = छोटा तालाब। केत = (पाठान्तर सेत) = कमल, श्वेत कमल। उए = उदय हुए। मंछ = मछली। बीजु = विद्युत, बिजली। बानी = वर्ण-रंग। राते = लाल। कुरलहिं = बोलते हैं। **जिअन हमार मुअहिं एक पासा**-सारस की जोड़ी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक की मृत्यु पर दूसरा उसके वियोग में मर जाता है। जायसी ने इसी का प्रयोग दुबारा किया है–एक मुए संग मरें सो दूजी-४०८/५। केंवा, सोन, ढेक, बक, लेदी = ताल की चिड़ियाँ। अपूरि = अपूर्ण, कम करना। जल भेदी = जल में भेद करने वाली, गिरने वाली। बरहि = जलते हैं। मरजिआ = जान को खतरे में डालकर मोती निकालने वाला गोताखोर।

अर्थ—सिंहल के ताल और छोटे तालाबों का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका वार-पार कुछ नहीं सूझता। इनमें कुमुद और सफेद कमल खिले हैं, ऐसा मालूम होता है मानों आकाश में तारे उदय हुए हैं (तालाब का पानी आकाश के रंग का है और सफेद फूल तारों जैसे हैं) आकाश से बादल उतरते हैं और पानी लेकर ऊपर चढ़ जाते हैं। तालाब में उछलती हुई मछलियाँ इस प्रकार चमकती हैं जैसे बिजली। तालाब में सफेद, पीले, लाल रंगों के बहुरंगी पक्षी साथ-साथ तैरते हैं। चकई और चकवा खेलते हैं, रात में अलग होते और दिन में मिलते हैं। सारस प्रसन्न हो-होकर बोलते हैं मानो कहते हैं कि जीना तो बस हमारा यही है कि हम साथ ही साथ मरते भी हैं। तालाब में केंवा, सोन, ढेक, बगले और लेदी चिड़िया तथा जल को भेद जाने वाली मछलियाँ भरी हैं। इन तालों में अनेक अमूल्य

मोती चमकते हैं मानो दिन में ही दीपक जल रहे हैं। जो जान जोखिम में डालकर घुसने वाले गोताखोर हों वही वे मोती वाले सीप पा सकते हैं।

व्यञ्जना से जायसी अलौकिक प्रणय की ओर संकेत कर रहे हैं कि जो प्रेम की पीर सहने वाला, प्रेम पर प्राणों की बाजी लगाने वाला हो वही उस परमेश्वर के अमूल्य प्रेम रूपी मोती पाने का अधिकारी हो सकता है।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति।

[३४]

पुनि जो लाग बहु अंब्रित बारी। फरीं अनूप होइ रखवारी॥
नवरँग नीबू सुरँग जँभीरा। औ बादाम बेद अंजीरा॥
गलगल तुरँज सदाफर फरे। नारँग अति राते रस भरे॥
किसमिस सेब फरे नौ पाता। दारिवँ दाख देखि मन राता॥
लागि सोहाई हरपारेउरी। ओनइ रही केरन्ह की घउरी॥
फरे तूत कमरख औ निउँजी। राय करौंदा बैंरि चिरउँजी॥
संखदराउ छोहारा डीठे। औरु खजहजा खाटे मीठे॥
पानी देहि खँडवानी, कुअँहि खाँड बहु मेलि।
लागीं घरी रहट की, सींचहि अंब्रित बेलि॥३४॥

शब्दार्थ—पुनि=फिर। लाग=लगी है। अंब्रित=अमृत। बारी=वाटिका। फरीं=फली हुई। नवरंग=नये रंग वाले। बेद=बेदाना (अनार)। गलगल-पाठान्तर-गागल =बड़ा नींबू। नौ पाता=नई पत्तियाँ। दारिव (दाड़िम)=अनार। राता=अनुरक्त, प्रसन्न। हरपारेउरी=लवली, कमरख की जाति का एक पेड़ जिसमें आंवले जैसे फल लगते हैं जो खट मिट्ठे होते हैं)। ओनइ=झुकी हुई। केरन्ह=केलों। घउरी=गुच्छा, घौर (जिसमें बहुत से केले लगे होते हैं)। तूत=शहतूत। निउँजी=लीची। रायकरौंदा=रामकरौंद। बैंरि= बेर। संखदराउ=अमलबेंत, एक खट्टा फल। डीठे=दिखाई पड़े। औरु=और (अन्य)। खँडवानी=खाँड़ का पानी, रस।

अर्थ—फिर जो अमृतमय वाटिका लगी हुई है वह अत्यन्त सुन्दरता से फली हुई है, उसकी रखवाली होती है। नये रंग वाले नीबू, जंभीर, बादाम, बेदाना, अँजीर, गलगल, तुरँज (चकोतरा), शरीफा फले हुए हैं। लाल-नारंगियाँ रस से भरी हैं। नयी पत्तियों के साथ किशमिश और सेव फले हैं। अनार और दाख देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। लवली सुन्दर लग रही है, केलों के गुच्छे लद कर झुके हैं। शहतूत, कमरख, लीची, रामकरौंदा, बेर और चिरोंजी फले हैं। अमलबेंत, छोहारे तथा अन्य खट्टे और मीठे फल दिखाई पड़ रहे हैं। कुओं में शक्कर मिला-मिलाकर शक्कर के रस युक्त पानी इन बागों में दिया जाता है। रहट की घरियाँ लगी हैं जो कि इन अमृत बेलों को सींचती हैं।

टिप्पणी--जायसी के सभी वर्णन अधिक से अधिक वस्तुओं की नामावली मात्र से युक्त रहते हैं। अधिक से अधिक फलों का नाम गिनाना ही कवि को अभिप्रेत था।

[३५]

पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा। बिरिख बेधि चंदन भै बासा॥
बहुत फूल फूली घन बेली। केवरा चंपा कुन्द चंबेली॥
सुरँग गुलाल कदम औ कूजा। सुगँध बकौरी गंध्रप पूजा॥
नागेसरि सद बरग नेवारी। औ सिंगारहार फुलवारी॥
सोन जरद फूली सेबती। रूप मंजरी औ मालती॥
जाही जूही बकचुन लावा। पुहुप सुदरसन लाग सोहावा॥
बोलसिरी बेइलि औ करना। सबहि फूल फूले बहु बरना॥
तेन्ह सिर फूल चढ़हिं वै, जेन्ह माथें मनि भागु।
आछहिं सदा सुगन्ध भै, जनु बसन्त औ फागु॥ ३५॥

शब्दार्थ—चहुँ पासा=चारों ओर। बिरिख=वृक्ष। बेधि=बेध कर, प्रवेश कर। बासा=सुगन्ध। कूजा=कुब्जक, जंगली गुलाब। बकौरी=गुलबकावली। गंध्रप=गन्धर्व। सदबरग=गेंदा। बोलसिरी=मौलिश्री। बेइलि=बेल। आछहिं=हैं।

अर्थ—फिर वहाँ चारों ओर फुलवारी लगी है। वृक्षों को बेधकर चन्दन की सुगन्ध उनमें हो गई है। घनवेलि में बहुत फूल फूले हैं। केवड़ा, चंपा, कुन्द, चमेली, लाल गुलाला, कदम्ब, कुब्जक, सुगन्धित गुलबकावली, राजा गन्धर्वसेन पूजा में प्रयुक्त होते हैं, नागकेसर, गेंदा, नेवारी, हारसिंगार, सोनजरद, सेवती, रूपमंजरी, मालती, जाही, जूही, बकचुन, पुष्प सुदर्शन आदि सुन्दर लग रहे हैं। मौलिश्री, बेलि, करना आदि सभी फूल अनेक रंगों के फूले हुए हैं। ये फूल उनके सिर चढ़ते हैं जिनके मत्थे पर सौभाग्य की मणि है! ये सदा सुगन्धित रहते हैं मानो सदा वसन्त और फागुन के दिन रहते हैं।

[३६]

सिंघल नगर देखु पुनि बसा। धनि राजा असि जा करि दसा॥
ऊँची पँवरी ऊँच अवासा। जनु कबिलास इन्द्र कर बासा॥
राउ राँक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हँसता मुखी॥
रचि रचि राखे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ केवरा॥
सब चौपारिह चन्दन खंभा। ओठँधि सभापति बैठे सभा॥
मनहुँ सभा देवतन्ह कै जुरी। परी द्रिस्टि इंद्रासन पुरी॥
सबै गुनी पंडित औ ग्याता। संसकिरत सब के मुख बाता॥
अहिक पंथ सवाँरहि, जस सिवलोक अनूप।
घर घर नारि पदुमिनी, मोहहि दरसन रूप॥३६॥

शब्दार्थ—बसा = बसा हुआ। असि = ऐसी। दसा (दशा) = स्थिति। पँवरि = ड्योढ़ी। अवासा = घर। रांक = रङ्क, गरीब। रचि = बनाकर। चौरा = चबूतरा। मेद = एक सुगन्धि जो किसी पशु के नाफे से बनाई जाती थी, आईने अकबरी पृ०-८५ में इसका उल्लेख है। ओठँधि = टेक लगाये हुए। गुनी = कलावंत। संसकिरत = संस्कृत। अंहिक पंथ = ऐहिक (साँसारिक) पथ-पाठान्तर-अस कै मन्दिर।

अर्थ—फिर देखो सिंहल नगर बसा हुआ है, वह राजा धन्य है जिसकी ऐसी स्थिति है। ऊँचे-ऊँचे महल हैं जिनकी स्थिति ऊँची है, अतः उसमें ऊँची-ऊची ड्योढ़ियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वर्ग है और यहाँ इन्द्र का निवास स्थान है। यहाँ पर अमीर-गरीब सभी घर-घर में सुखी हैं, जिसे देखो वही प्रसन्नमुख है। सबने जगह-जगह चन्दन के चबूतरे बना रखे हैं, जिनमें अगर, मेद और केवड़ा पोते गये हैं। सभी चौपालों में चन्दन के खम्भे बने हैं जिनमें सभा के सभापति टेक लगाकर बैठते हैं। ऐसा मालूम होता है कि देवताओं की सभा लगी हुई है और इन्द्र की पुरी दिखाई पड़ रही है। सभी कलावन्त पण्डित और ज्ञानी हैं और सब लोग संस्कृत ही बोलते हैं। सभी जीवन के मार्ग को बनाते हैं अर्थात् सभी पुण्यात्मा हैं; मानो सारी शिवपुरी ही हो। प्रत्येक घर में पद्मिनी नारियाँ हैं जो अपने रूप से सब को मोहती हैं।

टिप्पणी—जायसी पर सिद्धों का प्रभाव था। कारण यह है कि सूफीमत की साधना योगमार्ग के सदृश ही उन्हें लगती है। ये सिद्ध औघड़पंथी शिव के पुजारी थे इसी लिये जायसी ने सुने-सुनाए ज्ञान के आधार पर सिंहल में शिवपुरी का आदर्श रखा है। जायसी का कैलाश (कविलास) हिन्दु-साहित्य का कैलाश नहीं है, काल्पनिक कैलाश है जो इन्द्रपुरी के सदृश सभी सुख-सौभाग्य से युक्त है।

[३७]

पुनि देखिअ सिंघल की हाटा। नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा॥
कनक हाट सब कुँहकुँह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी॥
रचे हँथौड़ा रूपइँ ढारी। चित्र कटाउ अनेग सँवारी॥
रतन पदारथ मानिक मोती। हीर पँवार सो अनबन जोती॥
सोन रूप सब भएउ पसारा। धवलसिरी पोतहिं घर बारा॥
औ कपूर बेना कस्तूरी। चंदन अगर रहा भरिपूरी॥
जेइँ न हाट एहि लीन्ह बेसाहा। ता कहँ आन हाट कित लाहा॥
कोई करै बेसाहना, काहू केर बिकाइ।
कोई चला लाभ सौं, कोई मूर गवाँइ॥३७॥

शब्दार्थ—हाट = बाजार। बाटा = मार्ग। कुँहकुँह = कुंकुम। महाजन = मध्यकालीन भारत में सोनीहटी (सराफा) के सदस्य महाजन कहे जाते थे। इन महाजनों की

नियुक्ति चुनाव के द्वारा हुआ करती थी। हँथौड़ा=हाथ का कड़ा। रूपईं=चाँदी। धवल=सफेद। सिरी=खड़िया मिट्टी। पँवार=पन्ना-पाठान्तर-लाल। अनबन=भाँति-भाँति। बारा=द्वार, दरवाजे। बेना=खस। बेसाहा=खरीदा। मूर=मूलधन।

अर्थ—फिर सिंहल का बाजार देखिए। उसके सभी मार्गों पर नवों निधियों की सम्पत्ति (लक्ष्मी) है। सोने की हाट को कुंकुम से लीप-पोतकर सिंहलद्वीप के सभी महाजन बैठे हैं। चाँदी को ढारकर उन्होंने हाथ के कड़े बना रखे हैं, और अनेक प्रकार के चित्रों के कटाव बना करके उन्हें सजाया हुआ है। रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती, हीरा, पन्ना आदि भाँति-भाँति की चमक वाले जवाहर भरे हैं। चारों ओर सोने के रूप का ही फैलाव है। घर-द्वार सफेदी से लिपे-पुते हैं। कपूर, खस, कस्तूरी, चन्दन और अगर की सुगन्ध उनमें आ रही है। जो व्यक्ति इस हाट में खरीद नहीं करता उसे दूसरी हाट में क्या लाभ है ? यहाँ पर कोई खरीद करता है और कोई बिक्री करता है, कोई यहाँ लाभ करके चलता है और कोई मूलधन भी खो जाता है।

नोट—अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने मनुष्य जीवन पर लक्ष्य किया है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा क्रय-विक्रय करता है। कुछ लोग सुकर्मों के द्वारा लाभ करते हैं और मनुष्य जीवन से ईश्वरत्व प्राप्त करते हैं और कुछ लोग अपने पापों के फल-स्वरूप मूलधन के रूप में प्राप्त मनुष्य-जीवन को भी खो जाते हैं।

अलंकार—समासोक्ति (जो इन हाट······मूर गँवाइ)।

[३८]

पुनि सिंगार हाट धनि देसा। कइ सिंगार तहँ बैठी बेसा॥
मुख तँबोर तन चीर कुसुंभी। कानन्ह कनक जराऊ खुंभी॥
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं। नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं॥
भौंह धनुक तहँ नैन अहेरी। मारहिं बान सान सौं फेरी॥
अलक कपोल डोल हँसि देहीं। लाइ कटाख मारि जिउ लेहीं॥
कुच कंचुकि जानहुँ जुग सारी। अंचल देहि सुभावहिं ढारी॥
केत खेलार हारि तेन्ह पासा। हाथ झारि होइ चलहिं निरासा॥
चेटक लाइ हरहिं मन, जो लहि गथ है फेंट।
साँठि नाठि उठि गए बटाऊ, ना पहिचान न भेंट॥

शब्दार्थ—सिंगारहाट=रूप बाजार (वेश्याओं का मुहल्ला)। बेसा=वेश्या। तँबोर=ताम्बूल, पान। तन=शरीर। चीर=साड़ी। कुसुम्भी=पीली (हरसिंगार के फूल के रस से रंगी हुई)। कानन्ह=कानों में। जराऊ=जड़ाऊ। खुम्भी=कानों की लौंग, इयरिंग। मिरिग=मृग। सान=शान, हथियार को तेज करने वाली वस्तु। अलक=बाल। कटाख=कटाक्ष। जुग=दो। सुभावहिं=स्वभावतया। ढारी=पांसों का फेंकना, खिसका

देना। केत=कितने ही। चेटक=जादू। गथ=पूँजी। फेंट=गाँठ, कमर क. टेंट साँठि=पूँजी। नाठि=नष्ट हुई। बटाऊ=राही।

अर्थ—फिर उस देश (सिंहल) का रूप बाजार धन्य है। वहाँ पर वेश्याएँ शृङ्गार करके बैठी होती हैं, उनके मुख में पान की लाली है और शरीर पर कुसुम्भी साड़ी है। कानों में जड़ाऊ सोने की इयरिंग पहनती हैं। हाथ से वीणा बजाती हैं जिसे सुनकर मृग सुधि-बुधि भूल जाते हैं, पुरुष भी मोहित हो जाते हैं—चलते हुए रुक जाते हैं आगे पैर नहीं उठाते। उनकी भौंहें धनुष के सदृश हैं। उनके नेत्र शिकारी हैं जो भृकुटि के इशारे रूपी सान पर चढ़े हुए तेज बाण मार रहे हैं। उनके घुँघराले बाल कपोलों पर लहराते हैं। वे बीच-बीच में मुस्कराती हैं, कटाक्षों को चला-चलाकर मार-मारकर लोगों की जान लेती हैं। उनकी कंचुकी में दो उरोज ऐसे लगते हैं मानो पाँसे की दो गोट हैं, वे अपने अंचल स्तनों पर से अनायास ही गिरा देती हैं (गोटें ढर जाती हैं)। इन पाँसों पर कितने ही खेलाड़ी हार गये, वे सारा धन गँवाकर हाथ झाड़कर निराश होकर चले गये। जब तक गाँठ में पूँजी है ये आकर्षण के जादू से उनके मन को हरती हैं पर पूँजी के नष्ट हो जाने पर वे बटोही की भाँति चले जाते हैं जैसे उनसे कभी भेंट पहचान ही नहीं हुई।

टिप्पणी—जायसी का यह वर्णन बड़ा ही यथातथ्य चित्रण है। साथ ही इसके द्वारा उन्होंने संसार की मोहक माया का भी निरूपण किया है। मनुष्य सांसारिक माया-मोह के आकर्षण में स्वयं फंसता है। अपना ज्ञान, विवेक और भक्ति आदि धन खोकर नष्ट हो जाता है और जब उसके पास कुछ नहीं रह जाता, संसार के मित्र, पुत्र, कलत्र आदि उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं और वह हाथ मल कर पछताता चला जाता है।

अलंकार—भौंह धनुष...रूपक।

कुच कंचुकि...उत्प्रेक्षा।

केत खेलार...भेंट...समासोक्ति।

छन्द—दोहे में यतिभंग और गतिभंग दोनों ही दोष हैं—प्रथम चरण में १३ के स्थान पर १२ मात्राएँ हैं और तृतीय चरण में १३ के स्थान पर १६ मात्राएँ हैं।

[३९]

लै लै बैठ फूल फुलहारी। पान अपूरब धरे सँवारी॥
सोंधा सबै बैठु लै गांधी। बहुल कपूर खिरौरी बाँधी॥
कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू॥
कतहूँ कथा कहै कछु कोई। कतहूँ नाच कोड भलि होई॥
कतहूँ छरहटा पेखन लावा। कतहूँ पाखँड काठ नचावा॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला॥

कतहुँ काहुँ ठग विद्या लाई। कतहुँ लेहि मानुस बौराई॥
चरपट चोर धूत गँठिछोरा, मिले रहहि तेहि नाँच।
जो तेहि नाँच सजग भा अगुमन, गथ ताकर पै बाँच॥२॥

शब्दार्थ—फुलहारी=फूल बेचने वाली, मालिनी। अपूरब=अपूर्व, सुन्दर। सोंधा=सुगंधित द्रव्य। गाँधी=गंधी। बहुल=बहुत-पाठान्तर-फूल। खिरौरी=सं० खदिरवटिका, केवड़ा देकर बाँधी हुई कत्थे की टिकिया। कोड=(क्रीड़ा) हास-नृत्य। छरहटा सं० छलहट्ट=छल का बाजार जहाँ जादू और इन्द्रजाल आदि के खेल होते हैं—पाठान्तर-चिरहँटा=बहेलिया। पेखन=प्रेक्षण, तमाशा, नाटक। पाखंड=ढोंग, कठपुतली वाला छिपकर कठपुतलियों का स्वाँग प्रस्तुत करता है, इसलिए कठपुतली का नाटक दिखाने वाला। काठ=कठपुतली। चेटक=जादू। चरपट=चालाक, उचक्का। अगुमन=पहले से। गथ=पूँजी। पै=पर। बाँच=बचा।

अर्थ—उस बाजार में फूलवाली मालिनें फूल लेकर बैठी हैं। तंबोली सुन्दर पान सँभाले बैठे हैं। गंधी सभी प्रकार के सुगन्धित इत्र आदि लिये बैठे हैं। बहुत-से कपूर तथा केवड़ा देकर बाँधी हुई कत्थे की टिकिया लिये हैं। कहीं पर पंडित लोग पुराण पढ़ रहे हैं और धर्म-ग्रन्थों की कथा आदि सुना रहे हैं। कोई नाच तथा खेल दिखा रहे हैं। कहीं छल के हाट में तमाशा लगा है तो कहीं कठपुतली वाला कठपुतली का नाच दिखा रहा है। कहीं पर सुन्दर गाने-बजाने हो रहे हैं तो कहीं नाटक, जादू के खेल हो रहे हैं। कहीं पर कोई ठगविद्या आदि के द्वारा मनुष्यों को पागल बना रहे हैं। उन नाचों में चालाक, चोर, धूर्त गंठकटे आदि मिले होते हैं, पर जो लोग पहले से ही सजग होते हैं उन्हीं की पूँजी बच जाती है।

टिप्पणी—इस छंद के भी अन्त में जायसी समासोक्ति के द्वारा संसार की ओर संकेत कर रहे हैं। संसार में मनुष्य को ठगने की सामग्री बहुत है। मनुष्य का विवेक सरलता से नष्ट हो सकता है पर जो लोग सजग होते हैं, जिनकी दृष्टि परलोक की ओर भी होती है उनको संसार की माया ठग नहीं सकती।

अलंकार—समासोक्ति।

छंद—जायसी ने कहीं-कहीं चौपाई में ही ११ मात्रा की अर्धाली जोड़कर दोहा बनाना चाहा है। इसी का उदाहरण इस पद का दोहा है जिसमें प्रथम और तृतीय चरण में १६ और द्वितीय और चतुर्थ चरणों में ११ मात्राएँ हैं।

[४०]

पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौ जस लाग अकासा॥
तरहिं कुरुम बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी॥
परा खोह चहुँ दिसि तस बाँका। काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका॥

अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सप्त पतारन्ह जाई॥
नव पँवरी बाँकी नव खण्डा। नवहुँ जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा॥
कंचन कोट जरे नग सीसा। नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा॥
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिष्टि मन थाका॥
हिय न समाइ दिस्टि नहिं पहुँचै, जानहुँ ठाढ़ सुमेरु।
कहँ लागि कहौं उँचाई ताकरि, कहँ लगि बरनौं फेरु॥

शब्दार्थ—तरहिं=नीचे। कुरुम=कूर्म (कच्छप भगवान् जिनकी पीठ पर पृथ्वी है) पाठान्तर करिन्ह=दिग्गज (दिशाओं में वे हाथी जो चार ओर से पृथ्वी को अपने दाँतों पर उठाये हैं) डीठी=दृष्टि (दिखाई पड़ना)। खोह=खाई। नवखण्ड=नव मंजिलें। कंचन कोट=सोने का परकोटा। नग सीसा-पाठान्तर कौसीसा=सं० कपिशीर्षक=कंगूरा। चाहि बढ़ कर। लगि=तक। ठाढ़=खड़ा हुआ। फेरु=घेरा।

अर्थ—फिर सिंहलगढ़ (किला) के पास आइये। इसका क्या वर्णन करूँ; ऐसा ऊँचा है मानो आकाश में लगा हुआ है। किले की नींव इतनी नीचे गयी है कि कच्छप भगवान् और शेषनाग की पीठ छुए है और ऊपर इतना ऊँचा है कि इन्द्रलोक दिखाई पड़ता है। किले के चारों ओर खाई इतनी गहरी है कि देखते समय जाँघ काँपने लगती है, झाँक-कर देखा नहीं जाता। ऐसा असूझ लगता है और भय मालूम होता है कि यदि गिर पड़े तो सातवें पाताल में जा पड़ेंगे। किले में सुन्दर नव ड्योढ़ियां और नव मंजिलें हैं। यदि कोई इनके नवखंडों पर चढ़ जाय तो ब्रह्मांड में पहुँच जाय। कोट (गढ़) सोने का है और नग (हीरे) और शीशे जड़े हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नक्षत्रों से भरी बिजली हो। (नग नक्षत्र है और शीशा बिजली)। लंका से भी ऊँचा किला है, उसको देखते नहीं बनता, दृष्टि और मन थक जाते है। उसकी विशालता हृदय में समाती नहीं और दृष्टि वहाँ तक पहुँचती नहीं, सुमेरु पर्वत की भाँति खड़ा है। उसकी ऊँचाई और घेरे का कहाँ तक वर्णन करूँ?

टिप्पणी—सिंहलद्वीप से जायसी का तात्पर्य हठयोगियों के सिद्धपीठ से है अतः गढ़ से उनका तात्पर्य मनुष्य के शरीर से है जिसको साध कर ही हठयोगी सिद्धि प्राप्त करता है। प्रत्येक पंक्ति में उनका रूपक नहीं है पर "नवपौरी बाँकी नवखंडा। नवहुं जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा।" निश्चय ही उनके रूपक से युक्त है। नव पौरी और नवखंड से जायसी का तात्पर्य मनुष्य की नव इन्द्रियों (२ आंख, २ कान, २ नाक के छिद्र, मुख, लिंग और गुदा) से है जिन्हें हठयोगी साधता है। इनके सध जाने के पश्चात् कुण्डलिनी सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है। 'ब्रह्मंडा' से जायसी का मतलब ब्रह्मरंध्र से ही है। इसका विस्तृत वर्णन अगले पद में है।

अलंकार—जस लाग अकासा—उत्प्रेक्षा तथा सम्बन्धातिशयोक्ति।

तरहिं कुरुम...डीठी—सम्बन्धातिशयोक्ति।
नव पौरी...ब्रह्मंडा...रूपकातिशयोक्ति और समासोक्ति।
कंचन कोट...दीसा—उपमा।
सम्पूर्ण पद में सम्बन्धातिशयोक्ति।

[४१]

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहिं त बाजि होइ रथ चूरू॥
पँवरी नवौ बज्र कइ साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी॥
फिरहिं पांच कोटवार सो भँवरी। कांपै पाँय चँपत वै पँवरी॥
पँवरिहि पँवरी सिंघ गढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े॥
बहु बनान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूँछि पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाईं। जगमगाहिं मढ़ ऊपर ताईं॥
नवौ खण्ड नव पँवरीं औ, तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरें सों चढ़ं, सत सौं चढ़ जो पार॥४१॥

शब्दार्थ—बाँचि=बचा कर। सूरू=सूर्य। बाजि=लड़कर। पाजी=पैदल सेना। कोटवार=सं० कोट्टपाल=कोतवाल। भँवरी=चक्कर। चँपत=पड़ते ही। वै=उन। पँवरी=ड्योढ़ी। बनान=प्रकार। टारहिं=चलाते है। जीहा=जीभ। कुंजर=हाथी। गुंजरि=गरजकर। लीहा=लिया। ताईं=तक। बसेरे=पड़ाव।

अर्थ—गढ़ इतना ऊंचा है कि सूर्य और चन्द्र बचकर चलते हैं, नहीं तो गढ़ से लड़कर उनके रथ चूर-चूर हो जांय। उसमें नव ड्योढ़ियां हैं जो वज्र की बनी हैं। प्रत्येक पर एक-एक हजार पैदल सेना बैठी है। उसमें पाँच कोतवाल चक्कर लगाते हैं। वे ड्योढ़ियाँ बहुत डरावनी हैं अतः उन पर पैर रखने से पाँव काँपने लगते हैं। प्रत्येक ड्योढ़ी पर सिंहों के चित्र कढ़े हुए हैं, उन्हें खड़े देखकर राजा लोग भी डर जाते हैं। वे नाहर ऐसे विचित्र बने हैं कि मालूम होता है कि गरज कर सिर चढ़ना चाहते हैं। वे पूँछ चलाते और जीभ फैलाये हुए हैं। उनसे हाथी भी डरते हैं कि गरजकर ले लेंगे (मार डालेंगे)। सोने की शिला गढ़कर सीढ़ी बनाई गयी है जो कि ऊपर तक चमकती रहती है। उसमें [illegible]ड, नव ड्योढ़ियाँ हैं, उसका दरवाजा वज्र का बना है। जो उसके पार जाना चाहे उसे [illegible]ड़ावों पर से सत के द्वारा ही चढ़ना पड़ेगा।

टिप्पणी—*इस पद में हठयोग के सिद्धान्तों का विशेष व्यक्तीकरण है। मनुष्य के शरीर के नवद्वार ही नव-पौरी हैं, हजार-हजार पैदल सेना इन्द्रियों की सेना है जो मनुष्य के ज्ञान और विवेक के समक्ष खड़ी हैं। इस सेना को पराजित करने के बाद ही साधक इन्द्रियों को वश में करता है। पाँच कोतवाल काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह हैं जो*

इन्द्रियों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं। प्रत्येक पौरी पर चित्र-लिखित सिंह-मिथ्या अहंकार हैं। मिथ्या होते हुए भी जैसे सिंह भयावने हैं उसी प्रकार सांसारिक मिथ्याभिमान साधक के मार्ग का बहुत भयंकर विघ्न है, बड़े-बड़े साधक भी इसके शिकार हो जाते हैं। सोने की सीढ़ी-सुषुम्णा नाड़ी है जिसके द्वारा भीतर से कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र तक पहुँचती है। इस सीढ़ी के ऊपर ब्रह्मांड की दिव्य ज्योति है। नव इन्द्रियों के ऊपर अज्ञान ही वज्र केवार है जिसका तोड़ना दुस्साध्य है। 'चारि बसेरे' हैं सूफीमत की चार अवस्थायें-शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत।

नोट—भारतीय विचारधारा में अष्टचक्र और नवद्वार का उल्लेख मिलता है। जायसी ने अष्टचक्रों और नवद्वारों दोनों का एकीकरण करके नव-पौरी में आरोपित कर दिया है। आठ खंडों में नव द्वार होते हैं।

अलंकार—समासोक्ति। इस प्रकार के वर्णनों में अन्योक्ति अलंकार भी माना जा सकता है क्योंकि जायसी का मुख्य लक्ष्य सिद्धान्त-प्रतिपादन था। पर सच तो यह है कि जायसी सिद्धान्त-प्रतिपादन को बहुत गौण रखते हैं, ग्रन्थ में कहानी का वर्णन प्रधान है। यही कारण है कि इनका रूपक प्रत्येक शब्द और पंक्ति में सटीक नहीं बैठता। इस प्रकार प्रस्तुत (गढ़-वर्णन) प्रधान और अप्रस्तुत (हठयोग-सिद्धान्त) अप्रधान होने के कारण अलंकार समासोक्ति ही मानना समीचीन है।

[४२]

नवौ पँवरी पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू॥
घरी सौ बैठि गनै घरिआरी। पहर पहर सो आपनि बारी॥
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घरिआर पुकारा॥
परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा। का निचिंत माँटी कर भाँड़ा॥
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरै घटै तुम आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ॥
पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई॥
मुहमद जीवन जल भरन, रहँट घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥४२॥

शब्दार्थ—घरिआरू=घड़ियाल, घंटा। घरी=घड़ी। गनै=गिनै। डाँड=डंडा। डाँडा=दण्ड दिया। निचिन्त=निश्चिन्त। माँटी कर भाँडा=मिट्टी का बर्तन। आऊ=आयु। गजर=जोर से घंटे पीटने की आवाज। हिआ=हृदय। निसोगा=शोकरहित, चिन्ता रहित।

अर्थ—नव ड्योढ़ियों के ऊपर दसवाँ दरवाजा (सहस्रार) है, उस पर राजा (काल) की घंटा बजा करता है। वहाँ घंटा बजाने वाले लोग घड़ी गिनते हुए बैठे रहते हैं।

अपनी-अपनी बारी पर प्रत्येक पहर पर घंटा बजाते हैं। (प्राचीन काल में समय ज्ञात करने के लिए जल के एक बड़े बर्तन में एक छेददार वस्तु डाली जाती थी जिसे घड़ी कहते थे। एक घड़ी में उसके छेद से इतना पानी भर जाता था कि वह पानी में डूब जाती थी। एक आदमी उसे देखता बैठा रहता था और उसके डूबते ही उसे खाली करके फिर डालता और घंटा बजाता था। रात दिन इस क्रम को रखने के लिए आदमियों की ड्यूटी भी बदला करती थी।) जभी घड़ी पूरी होती थी वह पीटता था। घड़ियाल की आवाज पर जायसी कल्पना करते है कि घंटा घड़ी-घड़ी पर पुकार कर मानो कह रहा है कि सारे संसार पर डण्डा मार कर काल चक्र दण्डित कर रहा है (सबकी आयु घड़ी-घड़ी कम होती जा रही है) तो ऐ मिट्टी के भांडे मनुष्य! तू क्यों निश्चिन्त बैठा है? तू जिस चाक पर कच्चे मिट्टी के बर्तन की भाँति चढ़ा है, उस पर आते ही चक्कर लगाना होगा। यहाँ कोई स्थिर नहीं बच सकता। (कुम्हार के चाक पर गीली मिट्टी आते ही घूमने लगती है, जब तक चाक चलता है, बर्तन बनता है और बर्तन बनना बन्द होते ही चाक भी बन्द हो जाता है।) तात्पर्य यह कि इस कालचक्र की गति में कोई स्थिर नहीं रह सकता। जैसे-जैसे घड़ी भर रही है तेरी आयु घटती जा रही है, अतएव ऐ पथिक (मनुष्य) तू निश्चिन्त क्यों सो रहा है? प्रत्येक पहर पर घंटा जोर से बज रहा है।

फिर भी जो चिन्ता से रहित है वह नहीं जगता, सोता ही रहता है। जायसी कहते हैं कि यह जीवन रहट की घरिया की रीति से चल रहा है। जिस प्रकार रहट की घरियाँ जल से भरी हुई निकलती हैं पर स्वतः ढलकर खाली होती हुई चली जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी प्रतिक्षण व्यतीत होता है और ज्यों ही काल पूरा हुआ जीवन समाप्त हो जाता है।

टिप्पणी—दसवाँ द्वार सहस्रार है जिसकी व्यंजना पिछले पद में भी है। मध्य-कालीन साहित्य में दसवें द्वार का उल्लेख बहुत है। इसी द्वार से अमृत झरता है इसी द्वार से सुषुम्णा ब्रह्मांड में प्रवेश करती है।

अलंकार—"नवौं पँवरि... घरिआरू—समासोक्ति।

घरी घरी घरिआर पुकारा—हेतूत्प्रेक्षा।

मुहम्मद जीवन...जलभरन—रूपक।

[४३]

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसे दुरुपदी॥
औरु कुंड एक मोंतीचूरू। पानी अंब्रित, कीच कपूरू॥
ओहि क पानि राजा पै पिआ। बिरिध होइ नहि, जौलहि जिआ॥
कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा॥
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव, को चाखा॥
चांद पात औ फूल तराईं। होइ उजिआर नगर जहँ ताईं॥

वह फर पावै तपि कै कोई। बिरिध खाइ नव जोबन होई॥
राजा भए भिखारी, सुनि वह अंब्रित भोग।
जेइं पावा सो अमर भा, ना किछु व्याधि न रोग॥४३॥

शब्दार्थ—नीर-खीर=जल और दूध—इड़ा और पिंगला की नाड़ियाँ, कबीर ने भी इड़ा और पिंगला को यमुना और गंगा कहा है क्योंकि हठयोग के अनुसार इड़ा विष की और पिंगला अमृत की नाड़ी है, दोनों के रंग क्रमशः श्याम और श्वेत हैं, इन्हीं रंगों को दृष्टि में रखकर जायसी ने नीर-खीर की नदी लिखा है। दुरपदी=द्रौपदी-पञ्च इन्द्रियाँ (द्रौपदी के पांच पति थे अतः पाँच से सम्बन्धित होने से इन्होंने इन्द्रियों को द्रौपदी कहा)। कुंड=प्रेम का कुण्ड। पानी = प्रेम। कीच=कीचड़ (विरह)। बिरिध=वृद्ध। जौ लहि= जब तक। बिरिछ=वृक्ष (कंचन वृक्ष से इनका तात्पर्य सुषुम्णा नाड़ी से है जिसका ऊपरी सिरा ब्रह्मरन्ध्र है। पद ४१ में भी सुषुम्णा को कंचन की सीढ़ी कहा है।)

अर्थ—सिंहल गढ़ पर जल और दूध की दो नदियाँ हैं। द्रौपदी जैसी नारियाँ इस पर पानी भरती हैं। वहाँ एक ओर मोती चूर नामक स्वच्छ कुण्ड है उसमें अमृत का पानी और कपूर की कीचड़ है। उसका पानी केवल राजा पीता है और जब तक जीता है वृद्ध नहीं होता है। उसके पास एक सोने का वृक्ष है जो स्वर्ग के इन्द्र के कल्पवृक्ष के समान है। उसकी मूल पाताल में और शाखा [illegible] में है। उस पर की अमरबेल के चखने को कौन पा सकता है? उसके पत्ते चाँद और [illegible] तारागण हैं। जहाँ तक नगर है इनके प्रकाश से उजेला रहता है। तपस्या करके ही कोई उसके फल को पा सकता है। यदि वृद्ध उसे खा ले तो युवा हो जाय। उस अमृत-भोग को सुनकर राजा भिखारी होता है। जो उसे पा जाता है अमर हो जाता है, फिर उसे व्याधि और रोग नहीं होते।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने हठयोग और सूफी सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय किया है। हठयोग के अनुसार मानव शरीर में तीन नाड़ियाँ होती हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा। इड़ा विष की काली नाड़ी है और पिंगला अमृत की श्वेत नाड़ी है। सुषुम्णा बीच की नाड़ी है, जिसके मूल में कुण्डलिनी है, और उसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है। ब्रह्मरंध्र के ऊपर सहस्र कमल है। साधक यम-नियमादि के द्वारा इन्द्रियों का जब दमन कर लेता है तो कुण्डलिनी सुषुम्णा के मार्ग पर ऊपर चढ़ती है, कुण्डलिनी के चढ़ने से ज्ञान की ज्योति जग जाती है। ब्रह्मरंध्र में कुण्डलिनी के पहुँच जाने पर साधक को सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह अद्वैत में मिल कर एक हो जाता है। जायसी सूफी थे, सूफी मत में साधना की स्थिति है पर उसमें हठयोग जैसी नहीं है। इन्द्रियों का दमन वहाँ भी है पर सूफीमत में प्रेम की महिमा अमित है, इसलिए हठयोग की सिद्धि यहाँ पर प्रेम-अमृत का पात्र बनाया गया है। प्रेमपात्र का मिलन ही सूफीमत की अन्तिम उपलब्धि है। जायसी ने हठयोग की पद्धति को अपने मत में स्थान देकर

प्रेम का महत्व प्रदर्शित किया है। उक्त पद का भावार्थ इस प्रकार होगा:—

शरीर में इड़ा और पिंगला की दो नाड़ियाँ हैं। पंच इन्द्रियां इनसे सत् और असत् भाव प्राप्त करती हैं। यहाँ पर एक प्रेम का कुण्ड हृदय भी है उसमें प्रेम अमृत है और विरह कीच है। मन प्रेम को प्राप्त करता है। और प्रेम के कारण शाश्वत यौवन प्राप्त करता है। हृदय के पास ही सुषुम्णा नाडी है जिसका ऊपरी सिरा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है जहाँ सहस्रदल कमल पर प्रियतम विराजमान हैं। सुषुम्णा का मूल मूलाधार चक्र (पाताल) में और शाखा ब्रह्मांड (स्वर्ग) में हैं। प्रणय के प्राप्त हो जाने पर नव यौवन का आनंद सदा बना रहता है। इसी प्रेम को सुनकर मन योगी बनकर अपना सब कुछ छोड़ चला जाता है और फिर उसे संसार के माया-मोह नहीं व्यापते। संसार के सुख-दुःख उसे नहीं सताते। (सूफीमत में प्रेम को सुनकर साधक का योगी होना सिद्ध है। राजा रत्नसेन पद्मावती का प्रेमी होकर भिखारी बन जाता है)।

अलंकार—समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति।

[४४]

गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति, गजपति, औ नरपती॥
सब क धौरहर सोनै साजा। औ अपने अपने घर राजा॥
रूपवंत धनवंत सभागे। परस पखान पँवरि तेन्ह लागे॥
भोग बेरास सदा सब माना। दुख चिंता कोइ जरम न जाना॥
मँदिर मँदिर सबके चौपारी। बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी॥
पाँसा ढरै खेल भलि होई। खरग दान सरि पूज न कोई॥
भाँट बरनि कहि कीरति भली। पावहिं हस्ति घोर सिंहली॥
मँदिर-मँदिर फुलवारी, चोवा चंदन बास।
निसि दिन रहै बसंत सा, छहु रितु बारहु मास॥४४॥

शब्दार्थ—चारि=चार (अन्तःकरण के मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) पाठान्तर-भारि=बहुत से। असुपति=अश्वपति। अश्वपति, गजपति और नरपति प्राचीनकाल में राज्य के पदाधिकारी होते थे, इनका उल्लेख मध्यकालीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिलता है। परस पखान=पारस पत्थर। पँवरि=ड्योढ़ी। तेन्ह=उनके। बेरास=विलास-सुख। जरम=जन्म, जीवन भर। चौपारी=चौपाल, बैठक। सारी=पासा। ढरै=चलता है, गिरता है। खरग दान।=तलवार चलाना। चोवा=विशेष प्रकार की एक सुगन्धि; इसका वर्णन आईन-ए-अकबरी में मिलता है।

अर्थ—उस गढ़ पर चार अधिकारी रहते हैं—गढ़पति, अश्वपति, गजपति और नरपति। सबके महल सोने से सजे हुए हैं और अपने-अपने घर में सब राजा हैं। वे सभी रूप-

वान्, धनवान् और सौभाग्यवान् हैं, उनकी ड्योढ़ियों में पारस पत्थर लगे हैं। वे भोग-विलास में ही मग्न हैं। दुःख, चिन्ता आदि तो उन लोगों ने जीवन भर जाने ही नहीं। प्रत्येक महल में चौपालें हैं जहाँ बैठकर सभी राजकुमार पाँसा खेलते हैं। पाँसे खेले जाते हैं, सुन्दर खेल होते हैं, पर तलवार चलाने वाले खेल में तो कोई उनकी समता नहीं कर सकता। भाव यह कि ये लोग केवल पाँसा खेल नहीं खेलते, ये तलवार चलाने वाले भी हैं। इसीलिए भाट लोग इनकी बड़ाई करते हैं और इनका यश वर्णन करके घोड़े और सिंहल द्वीप के हाथी इनाम में प्राप्त करते हैं। घर-घर में फुलवाड़ी लगी है, चोवा और चन्दन आदि की सुगन्धि निकलती रहती है। वहाँ पर छहों ऋतुओं और बारहों मास वसन्त ऋतु ही छाई रहती है।

नोट—यहाँ पर अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) की ओर संकेत है। रहस्यवादी का अन्तःकरण सर्वथा सम्पन्न है। उसे दुःख नहीं व्यापता, सदा प्रसन्न रहता है। पांसे से तात्पर्य ईश्वरीय प्रेम से है। रहस्यवादी प्रेम का खेल खेलता रहता है जिसके कारण उसे सदा आनंद रहता है।

अलंकार—समासोक्ति।

[४५]

पुनि चलि देखा राज दुआरू। महिं घूँबिअ पाइअ नहिं बारू।।
हस्ति सिंघली बाँधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा।।
कवनो सेत, पीत रतनारे। कवनो हरे, धूम औ कारे।।
बरनहि बरन गगन जस मेघा। औ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा।।
सिंघल के बरने सिंघली। एकेक चाहि सो एकेक बली।।
गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं।।
मात निमत सब गाजहिं बाँधे। निसि दिन रहहिं महाउत काँधे।।
धरती भार न अँगवै, पाँव धरत उठ हालि।
कुरुँम टूट फन फाटे, तिन्ह हस्तिन्ह की चालि।।४५।।

शब्दार्थ—घूँबिअ=घूमने पर। पाइअ=पाते हैं। बारू=द्वार। बारा=द्वार। रतनारे=लाल। कवनो=कोई। टेंघा=सहारा दिया। एकेक=एक से एक। चाहि=बढ़कर। पब्बै=पर्वत पाठान्तर-वै पैगहि=पैर से। पेलहिं=ढकेलते है। बिरिख=वृक्ष। उपारि=उखाड़ कर-पाठान्तर-उचारि=तोड़कर। झारि=झाड़ कर-पाठान्तर—डारि=गिराकर। मेलहिं=डालते हैं। मात=मस्त। निमत=जो मतवाला नहीं है—पाठान्तर तेइ=वे। अँगवै=सहें। हालि=हिल। कुरुँम=कच्छप भगवान्। फन फाटे=शेषनाग का फण फटे-पाठान्तर-भुइं फाटै=भूमि फटै। तिन्ह=उन।

अर्थ—फिर उनके राजद्वार को देखा, सारी पृथ्वी घूम करके देखा कहीं ऐसा दरवाजा नहीं है। द्वार पर सिंहली हाथी बँधे हैं। ये ऐसे हैं मानों सजीव पहाड़ हों। इनमें ...

कोई सफेद है, कोई पीला, कोई लाल, कोई हरा, कोई काला। जैसे बादलों में अनेक रंग होते हैं वैसे ही ये बहुरंगी हैं। ऊँचे इतने कि मानों अपनी पीठ पर इन्होंने आकाश को सहारा दे रक्खा है। वे सिंहलद्वीप के सिंहली हाथी प्रसिद्ध हैं। एक से एक बलवान् हैं। ये पहाड़ों को पकड़ कर ढकेल देते है, वृक्षों को उखाड़ कर तथा मिट्टी झाड़-झाड़ कर उन्हें अपने मुख में डाल लेते हैं। मतवाले भी और वे भी जो मतवाले नहीं हैं बँधे हुए चिंघाड़ते रहते हैं। रात-दिन महावत उनके कन्धों पर बैठे रहते हैं। पृथ्वी उनके भार को सह नहीं सकती, पाँव रखते ही हिल उठती है। उनकी चाल से पृथ्वी के धारण करने वाले कच्छप भगवान् की पीठ टूट गयी और शेषनाग के फण फट गए।

अलंकार—जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा
तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा } वस्तूत्प्रेक्षा।

अन्तिम दोहे में—सम्बन्धातिशयोक्ति।

[४६]

पुनि बाँधे रजबार तुरंगा। का बरनौ जस उन्ह के रंगा॥
लील समुंद चाल जग जानै। हाँसुल भँवर किआह बखानै॥
हरे कुरंग महुअ बहु भाँती। गर्र कोकाह बलाह सो पाँती॥
तीख तुखार चाँड़ औ बाँके। तरपहिं तबहि तायन बिनु हाँके॥
मन तें अगुमन डोलहिं बागा। लेत उसास गगन सिर लागा॥
पावहिं साँस समुंद पर धावहिं। बूड़ न पावँ, पार होइ आवहिं॥
थिर न रहहिं, रिस लोह चबाहीं। भाँजहि पूँछि सीस उपराहीं॥
अस तुखार सब देखे, जनु मन के रथवाह।
नैन पलक पहुँचावहिं, जहँ पहुँचा कोउ चाह॥४६॥

शब्दार्थ—रजबार=राज-द्वार। तुरंगा=घोड़े। समुंद=बादामी रंग का घोड़ा। हाँसुल=सारा शरीर मेंहदी के रंग का और पैर कुछ काले। भँवर=मुश्की, भौंरे के रंग का। किआह=ताड़ के पके फल के रंग का। कुरंग=लाख के रंग का। महुअ=महुए के रंग का हल्का पीला। गर्र=लाल और सफेद मिले रोएँ का। कोकाह=सफेद रंग का। बलाह=जिसके गर्दन और पूँछ के बाल पीला या मूत्र रंग के होते हैं, फारस की खाड़ी में तिग्रा नदी के मुहाने पर उबुल्लाह नामक बंदरगाह था, वहाँ से आने वाले घोड़ों का नाम बोल्लाह पड़ा था। तीख=तेज। तुखार=तुखार देश के घोड़े। चाँड=चण्ड, बली। बाँके=फुर्तीले। तरपहिं तबहि तायन-पाठान्तर–सँबरहि पौरि ताज—तरपहि=भागने के लिए तड़पते हैं। तायन=चाबुक। हाँके=मारे, चलाये। अगमनु=आगे। सांस=सं० शंस-आज्ञा, इशारा। रथवाह=रथ के घोड़े।

अर्थ—फिर राजद्वार पर घोड़े बँधे हैं। उनके रंगों का क्या वर्णन करूं? नीले और बादामी रंग के घोड़ों की चाल संसार जानता है। कुछ घोड़े ऐसे हैं जिनके शरीर तो मैंहदी के रंग के और पैर काले रंग के हैं, कुछ मुश्की और कुछ ताड़ के पके फल के रंग के हैं। हरे रंग और महुए के रंग के भी घोड़े हैं। लाल और सफेद रोएँ वाले, सफेद तथा चितकबरे घोड़े भी हैं। ये घोड़े बड़े ही तेज, बली और फुर्तीले हैं। बिना चाबुक लगाये या हाँके ही बहुत तेजी से चलते हैं। मन से भी आगे उनकी बाग रहती है, उसासें छोड़ते हुए आकाश से बातें करने लगते हैं। इशारा पाते ही समुद्र पर दौड़ जाते हैं, उनके पैर डूबते नहीं, पार पहुँच जाते हैं। रोकने पर स्थिर नहीं रहते, क्रोध से लगाम चबाते रहते हैं। भागते हैं तो पूँछ को सिर के ऊपर तक मोड़ लेते हैं। ये तुखारी घोड़े ऐसे तेज हैं मानो मन के घोड़े हों। आँख से पलक मारते ही जहाँ भी कोई पहुँचना चाहे पहुँचा देते हैं।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

[४७]

राज सभा पुनि दीख बईठी। इंद्रसभा जनु परि गई डीठी॥
धनि राजा असि सभा सँवारी। जानहु फूलि रहा फुलवारी।
मटुक बंध सब बैठे राजा। दर निसान नित जेन्ह के बाजा॥
रूपवंत मनि दिपै लिलाटा। माँथें छात, बैठ सब पाटा॥
मानहु कँवल सरोवर फूलै। सभा क रूप देखि मन भूलै॥
पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगंध बास भरि रही अपूरी॥
माँझ ऊँच इन्द्रासन साजा। गंध्रपसेनि बैठ जहँ राजा॥
छत्र गगन लहि ताकर, सूर तवै जसु आपु।
सभा कँवल जिमि बिगसै, माँथे बड़ परितापु॥४७॥

शब्दार्थ—बईठी=बैठी। परि गई=पड़ गई। दीठी=दृष्टि। दर=दरवाजा। निसान=नौबत। जेन्हके=जिनके। छात=छत्र। पाटा=सिंहासन। मेद=एक प्रकार की सुगन्ध। लहि=तक। ताकर=उसका। तवै=तपै।

अर्थ—फिर राजसभा जो बैठी दिखाई पड़ती है ऐसी जान पड़ती है जैसे इन्द्र-सभा हो। वह राजा धन्य है जिसने ऐसी सभा सँवारी है मानो फुलवाड़ी फूल रही हो। सब राजा लोग मुकुट बाँधे बैठे हैं, उनके दरवाजे पर नित्य नौबत बजा करती है। बड़े रूपवान् हैं, उनके मस्तक चमकते रहते हैं। मस्तक पर छत्र हैं और सिंहासनों पर बैठते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो सरोवर में कमल खिले हों। सभा का रूप देखकर मन भूल जाता है। पान, कपूर, मेद और कस्तूरी आदि की सुगन्ध मुख में भरी होती है। इन सब राजाओं के बीच इन्द्रासन पर राजा गंधर्वसेन बैठे हुए सुशोभित हैं। उनका छत्र आकाश तक छाया रहता है। इस प्रकार से तेजमय हैं जैसे राजा के रूप में स्वयं सूर्य ही तप रहा है। उनकी सभा कमल के

सदृश विकसित है और उनके मस्तक पर प्रताप चमकता है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और दोहे में पूर्णोपमा।

[४८]

साजा राजमँदिर कबिलासू। सोने कर सब पुहुमि अकासू॥
सातखण्ड धौराहर साजा। उहै सँवारि सकै अस राजा॥
हीरा ईंट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै लावा॥
जाँवत सबै उरेह उरेहे। भाँति भाँति नग लाग उबेहे॥
भा कटाव सब अनबन भाँती। चित्र होल गा पाँतिहि पाँती॥
लागे खंभ मनि मानिक जरे। जनहु दिया दिन आछत बरे॥
देखि धौरहर कर उँजियारा। छपि गे चाँद सूर औ तारा॥
सुने सात बैकुंठ जस, तस साजे खँड सात।
बेहर बेहर भाउ तेन्ह, खँड खँड ऊपर जात॥४८॥

शब्दार्थ—कबिलासू=कैलाश (डा० अग्रवाल का मत है कि महल के ऊपर के खंड में जहाँ राजा-रानी रहते और सोते थे, कैलाश कहा जाता था। गुप्तकालीन स्थापत्य में तीन-खंडे महल को कैलाश कहते थे। आगे चलकर सात खंडे भवन को भी कैलाश कहा जाने लगा। इसकी छत, फर्श और दीवारों पर सोने का काम होता था। इस प्रकार राजा-रानी के निवास के लिए ही कैलाश का प्रयोग हुआ है।)[1] धौराहर=धरहरा (धुर+ऊपर+घर) मीनार (खम्भे की तरह की वह ऊँची इमारत जिस पर चढ़ने के लिए अन्दर से सीढ़ियाँ बनी होती हैं जैसे काशी का माधवराव का धरहरा। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने लिखा है कि राजमन्दिर के भीतर राजा का रनिवास धवलगृह (धरहरा) कहलाता था, उसे ही अन्तःपुर कहते थे)। गिलावा=गारा। नग=हीरे आदि नग जो गहनों में जड़े होते हैं। जाँवत=जितने। उबेहे=सं० उद्वेध, पच्चीकारी करके जड़े हुए। उरेहे=चित्रित। कटाव=काँट-छांट की कारीगरी। अनबन=(सं० अन्यवर्ण) अनेक रंग के। गा=गया। जरे=जड़े। जनहु=मानो। दिया=दीपक। आछत=होते हुए। बरे=जले। बेहर-बेहर=अलग-अलग।

अर्थ—राज-मन्दिर में राजा के निजी-निवास के लिए अन्तःपुर(कैलाश) सजा रखा है उसमें सारी जमीन और छत (नीचे-ऊंचे) सोने के ही बने हैं। महल के सात खंड हैं, वही ऐसा राजा है जो ऐसा श्रेष्ठ धरहरा बना सकता है। महल में हीरे की ईंटें और कपूर का गारा लगा है,उसमें अनेक हीरे आदि जड़े हैं और स्वर्ग तक ऊँचा लेजाया गया है। जितने प्रकार के चित्र हो सकते हैं सभी दीवारों पर बनाये गये हैं, चुन-चुन कर भाँति-भाँति के नग उसमें पच्चीकारी करके लगाये गये हैं। अनेक प्रकार के कटाव के कार्य बने हैं और पंक्ति-पंक्ति में चित्र बनते

१—जायसी ने आगे भी लिखा है—

सात खण्ड ऊपर कबिलासू, तहँ सोव नारि सेज सुखवासू॥ २६१। १॥

गये हैं। ऐसे खंभे हैं जिनमें मणि और माणिक्य जड़े हैं। उनकी चमक ऐसी है मानो दिन के होते हुए भी दीपक जल रहे हैं। धरहरे के ऊँचे उजाले को देखकर चाँद, सूरज और तारे छिप गये। जैसे सात स्वर्ग सुने जाते हैं, वैसे ही धरहरे के सात खंडों को राजा ने सजाया है। जैसे-जैसे ऊपर के खंड होते जाते हैं भिन्न-भिन्न ढंग के उनके भाव सजावट में होते गये हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और उपमा।

[४६]

बरनौं राज मँदिर रनिवासू। अछरिन्ह भरा जानु कबिलासू॥
सोरह सहस पदुमिनी रानी। एक एक तें रूप बखानी॥
अति सुरूप औ अति सुकुमारा। पान फूल के रहहिं अधारा॥
तिन्ह ऊपरि चंपावति रानी। महा सुरूप पाट परधानी॥
पाट बैसि रह किए सिंगारू। सब रानी ओहि करहिं जोहारू॥
निति नव रंग सुरंगम सोई। प्रथमै बैस न सरबरि कोई॥
सकल दीप महँ चुनि चुनि आनी। तेन्ह महँ दीपक बारह बानी॥
कुअँरि बतीसौं लक्खनी, अस सब माँह अनूप॥
जाँवत सिंघल दीपइ, सबै बखानइ रूप॥४६॥

शब्दार्थ—अछरिन्ह=अप्सराओं। पाट=सिंहासन। बैसि=बैठी रहती है। ओहि=उसकी। जोहारू=अभिवादन। प्रथमै=आरम्भिक (जवानी)। बैस=आयु। सरबरि=बराबरी। आनी=लाई हुई। बारह-बानी=शुद्ध और सर्वोत्तम सोना।[1] लक्खनी=लक्षणों वाली।

अर्थ—राजा के महल के रनिवास का वर्णन करता हूँ। अप्सराओं से इस प्रकार भरा है मानों स्वर्ग हो। राजा की सोलह हजार पद्मिनी रानियाँ हैं। स्वरूप में वे एक से एक बढ़कर हैं। सभी अत्यन्त रूपवती और सुकुमारी हैं। फूल-पत्ती के आधार पर उनका जीवन है। तात्पर्य यह कि उनका भोजन अति सूक्ष्म है। इन रानियों में पटरानी चम्पावती रानी है। वह सबसे सुन्दरी और सब में प्रधान है। सिंहासन पर शृङ्गार किये बैठी रहती है; सभी रानियाँ उसका अभिवादन करती हैं। नित्य नये रंग के वस्त्रों को

१. प्राचीन भारत में शुद्ध सोने के दो मान दंड माने गये थे—सोलहवानी और बारहवानी। कौटिल्य के काल से लेकर मुस्लिम युग तक सोलहवानी सोने का उल्लेख मिलता है। मुसलमानी काल में विशुद्ध सोने को बारहवानी कहने लगे। बारहवानी सोना सबसे शुद्ध और छः बान का सबसे निकृष्ट माना जाता था। बारहवानी सोने के विविध बान बनाने की विधियाँ आईन-ए-अकबरी में मिलती हैं। जायसी ने सर्वत्र बारहवानी सोने का उल्लेख किया है (४६।७, ६३।१०, १००।८, २७३।६)

धारण करती हैं, नयी उम्र वाली है अन्य कोई उसकी समता नहीं कर सकती है। रानियाँ सभी द्वीपों से चुन-चुन का लाई गई है पर उन सबमें वह बारहवानी सोने के समान चमकने वाली है। यह रानी उत्तम नारी के बत्तीसों लक्षणों से युक्त है और सबमें अनुपम है, जितना सिंहलद्वीप है, सभी उसके रूप की प्रशंसा करते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और रूपक।

---

३. जन्म खण्ड

[५०]

चंपावति जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाहाँ ॥
भै चाहै असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखी जसि होनी ॥
सिंघल दीप भएउ तब नाऊँ। जौं अस दिया दीन्ह तेहि ठाऊँ ॥
प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथें मनि भई ॥
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई ॥
जस औधान पूर होइ तासू। दिन दिन हिएँ होइ परगासू ॥
जस अंचल झीने महँ दिया। तस उजियार देखावै हिया ॥
सोनै मँदिर सँवारै, औ चंदन सब लीप।
दिया जो मनि सिव लोक महँ, उपना सिंहलदीप ॥५०॥

शब्दार्थ—रूप=चांदी, रूपवती। उतिमाहाँ=उत्तम। जोति=स्वर्ण, महा ज्योति। भै=होना। असि=ऐसी। सलोनी=वह क्रिया विशेष है जिसमें सोने पर मसाला लगाकर तपाते हैं। ऐसा करने से उसमें मिली हुई चाँदी अलग हो जाती है और शुद्ध सोना दमक उठता है। मसाले का नाम सलोनी इसलिए है कि उसमें सांभर नमक, कड़वा तेल और ईंट की बुकनी का सम्मिश्रण होता है। श्लेष से सलोनी का अर्थ लावण्यवती भी है। दिया=दीपक। ठाऊँ=जगह। घट=हृदय। ओदर=गर्भ। औधान (सं० आधान) गर्भाधान समय। तासू=उसका। उपना=उत्पन्न हुआ।

अर्थ—जायसी जी पद्मावती के जन्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ईसा, बुद्ध और रामावतार में जन्म से पूर्व ही ब्रह्म की ज्योति माताओं में प्रकाशित हो उठी थी, उसी प्रकार पद्मावती के जन्म में भी उसकी माता में प्रकाश आया।

राजा गन्धर्वसेन की पत्नी चम्पावती का उत्तम नारियों में रूप (चांदी) है, पद्मावती रूपी स्वर्ण-ज्योति की छाया उसके मन में पड़ी। चाँदी रूपी चंपावती के गर्भ में महाज्योति रूपी पद्मावती स्वर्ण का आना देखकर जायसी कहते हैं कि प्रतीत होता है अब स्वर्ण (पद्मावती) की सलोनी प्रक्रिया होने वाली है। पद्मावती महाज्योति

का मातु-कुक्षि में आना सलोनी क्रिया है। जो होनहार है उसे कौन रोक सकता है, नहीं तो कहाँ महाज्योति पद्मावती और कहाँ चम्पावती। पद्मावती के गर्भ में आते ही सिंहलद्वीप का नाम हो गया, हो भी क्यों नहीं, जबकि पद्मावती ऐसा दीपक उस जगह पर विधाता ने प्रकाशित कर दिया। वह ज्योति पहले आकाश में बनी, फिर वह राजा गंधर्वसेन के मस्तक में मणि रूप में हुई। फिर वह ज्योति माता चम्पावती के गर्भ में आई, गर्भ में आकर उसे बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ। जैसे-जैसे गर्भ की अवधि पूरी होने लगी चम्पावती के हृदय में प्रकाश बढ़ने लगा। उसके हृदय में प्रकाश इस प्रकार झलकने लगा जैसे पतले अंचल के नीचे दीपक झलके। सोने के महलों के सँवारने का कार्य होने लगा, सारे घर चन्दन से लीपे जाने लगे। बात यह है कि जो शिवलोक में मणि का दीपक है वही सिंहलद्वीप में उत्पन्न होने जा रही है।

टिप्पणी—ईसामसीह और मुहम्मद साहब की उत्पत्ति के समय माताओं में जिस ज्योति का प्रकाश बताया गया है वही जायसी ने चम्पावती में दिखाने का प्रयत्न किया है। ईश्वर रूपी परम ज्योति की छाया घट-घट में प्रतिबिम्बित होती है। विशुद्ध निरंजन ज्योति का दर्शन मातृ-कुक्षि में ही सम्भव है। स्थूल के सम्पर्क में आकर सूक्ष्म ज्योति मलिन होती है मातृ-कुक्षि में आ जाने से मलिन हो जाने के कारण उसकी शुद्धता के लिए सलोनी क्रिया भी आवश्यक है। अरूप ज्योति को भौतिक रूप प्राप्त करने के लिये माता के गर्भ में आना पड़ता है यही अरूप ज्योति की सलोनी (लावण्य) कहानी है।

अलंकार—उपमा—जस अंचल···हिया।

श्लेष—रूप, जोति, सलोनी।

[५१]

भए दस मास पूरि भै घरी। पदुमावती कन्या औतरी॥
जानहुँ सुरुज किरिन हुति काढ़ी। सूरुज करा घाटि वह बाढ़ी॥
भा निसि माँह दिन क परगासू। सब उजिआर भएउ कबिलासू॥
अतें रूप मूरति परगटी। पुनिउँ ससि सो खीन होइ घटी॥
घटतहि घटत अमावस भई। दुइ दिन लाज गाड़ि भुइँ गई॥
पुनि जौं उठी दुइजि होइ नई। निहकलंक ससि विधि निरमई॥
पदुम गंध बेधा जग बासा। भँवर पतंग भए चहुँ पासा॥
अतें रूप भई कन्या, जेहि सरि पूज न कोइ।
धनि सो देस रुपवंता, जहाँ जनम अस होइ॥५१॥

शब्दार्थ—घरी=घड़ी (समय), धातु गलाने की घरिया। हुति=थी। काढ़ी=निकाली। करा=किरणें। घाटि=घट कर। दिन क=दिन का। परगासू=प्रकाश। अतें=

इतने। पुनिउँ=पूर्णिमा। खीन=क्षीण। पदुम=पद्म (कमल)। निहकलंक=बिना धब्बे का (द्वितीया के चंद्र में काला धब्बा नहीं होता।) बेधा=वासित हो गया।

अर्थ—दस मास के बीतने पर घड़ी पूरी हुई और पद्मावती कन्या का अवतार हुआ। उसमें इतना तेज था मानो वह सूर्य की किरणों में से निकाली गयी थी। फिर भी सूर्य की किरणें उसकी अपेक्षा घटकर थीं और वह बढ़कर थी क्योंकि रात्रि में ही दिन का प्रकाश हुआ, सारा स्वर्ग उससे प्रकाशित हो गया। इतने रूप वाली मूर्ति प्रकट हुई कि पूर्णिमा का चन्द्र भी क्षीण होकर घटने लगा। क्रमशः घटते-घटते चन्द्रमा सर्वथा क्षीण हो गया और अमावस्या आ गयी। जबकि चन्द्र का लोप ही हो गया। मारे लज्जा के चन्द्रमा दो दिन (अमावस्या और प्रतिपदा) को पृथ्वी में गड़ गया, दिखाई न पड़ा। इस प्रायश्चित्त के बाद ब्रह्मा ने उसे दुबारा द्वितीया के चन्द्र के रूप में नया उत्पन्न किया। तब कहीं वह निष्कलंक होकर उत्पन्न हुआ।

पद्मावती के शरीर से कमल की सुगन्ध निकली, जिससे सारा संसार सुवासित हो गया। उस सुगन्ध से चारों ओर भौंरे (प्रेमी) और पतिंगे (रूप के लोभी) उड़ने लगे। वह कन्या इतने रूप वाली हुई कि उसकी बराबरी में कोई पूरा पड़ नहीं सकता। वह सुन्दर देश धन्य है जहाँ ऐसा जन्म हो।

अलंकार—व्यतिरेक—जानहुँ... भा निसि माँह दिन परगासू।"

हेतूत्प्रेक्षा—अतें रूप... दिन लाज गढ़ि भुइँ गई॥

[५२]

भइ छठि राति छठी सुख मानी। रहस कोड सों रैनि बिहानी॥
भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए॥
उत्तिम घरी जनम भा तासू। चाँद उवा भुइँ दिया अकासू॥
कन्या रासि उवौ जग किया। पदुमावती नाउँ जिसु दिया॥
सूर परस सों भएउ किरीरा। किरिन जामि उपना नग हीरा॥
तेहि तें अधिक पदारथ करा। रतन जोग उपना निरमरा॥
सिंघल दीप भएउ अवतारू। जंबू दीप जाइ जम बारू॥
रामा आइ अजोध्याँ उपने, लखन बतीसौ संग।
रावन राइ रूप सब भूलै, दीपक जैस पतंग॥५२॥

शब्दार्थ—रहस=रास। कोड=क्रीड़ा[1]। बिहानी=सवेरा हुआ। अरथाए=व्याख्या

---

[1] अवधी प्रान्तों में नारियाँ प्रसन्नता के अवसरों पर हँसी-मजाक युक्त खेल (क्रीड़ा) या स्वाँग सा करती हैं उन्हीं को कोड़ कहते हैं। रुहेलखण्ड में इसे खोड़िया कहते हैं जो विवाह के अवसर पर दूल्हे के घर बरात चले जाने पर महिलाओं द्वारा खेला जाता है। जैसे—

की। उवा=उदय हुआ। उदौ=उदय। जिसु=जिसका। किरीरा=क्रीड़ा। परस=पारस पत्थर, (कहा जाता है कि सूर्य की किरणें जब पारस पत्थर पर निरन्तर पड़ती हैं तो पत्थर हीरा बन जाता है।) किरिन=किरणें। जामि=जमकर, उगकर। उपना=उत्पन्न हुआ। पदारथ=हीरा और पद्मावती। करा=किया। रतन=रत्न और रत्नसिंह। निरमरा=निर्मल। जम बारू=यम द्वार। रामा=रमणी, राम की पत्नी सीता। राइ=राजा। लखन=लक्षण।

अर्थ—छः रात्रियों के बीतने पर छठी का आनन्द मनाया गया, सखियों ने खुशी में रास और स्वाँग-खेल किये और इन्हीं आनन्दों में रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातः होने पर सभी पंडित लोग आए। पंचांगों से निकाल कर उन लोगों ने जन्म के लग्न की व्याख्या की। उसका जन्म उत्तम घड़ी में हुआ था। पृथ्वी में चन्द्र का उदय हुआ और आकाश में उसका प्रतिबिम्ब पड़ा। ज्योतिषियों ने जन्म में कन्या राशि को प्रकाशित किया। अर्थात् पद्मावती के जन्म में कन्या राशि पड़ी थी। लोगों ने उसका नाम पद्मावती दिया, क्योंकि कन्या राशि वालों के नाम का प्रथम वर्ण 'प' होता है। अगली पंक्तियों में उसके जन्म लग्नों का फल बताया गया है :—

सूर्य और पारस का मेल हुआ, दोनों ने क्रीड़ा की जिससे सूर्य की किरणें बीज रूप में जमीं और हीरे की उत्पत्ति हुई। ऊपर वाले पद में कह चुके हैं कि पद्मावती सूर्य की किरणों से रची गयी थी (जानहु सूरज किरिन हुति काढ़ी) तथा वह परम ज्योति है जो माता के गर्भ में आई थी (पुनि वह जोति मातु घट आई ५०|८)। इस प्रकार सूर्य की किरण रूपी ज्योति पारस रूपी माता (चम्पावती) से मिली और तब जैसे सूर्य की किरणें और पारस के निरन्तर संयोग से हीरे की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उस नग से भी बढकर पदार्थ रूपी पद्मावती का निर्माण हुआ इस पदार्थ (पद्मावती) के योग्य ही रत्न (रत्नसेन) भी उत्पन्न हो चुका है।

रमणी (सीता) के जब बत्तीसों शुभ लक्षण अंगों में उत्पन्न हुए तो वह अयोध्या आई। इसी प्रकार जब पद्मावती सर्वलक्षणसम्पन्ना रमणी होगी तो वह पति-देश में आएगी। रावण रूपी राजा रत्नसेन उस पर इस प्रकार भूल जायेगा जैसे पतिंगा दीपक पर भूल जाता है। पतिंगा दूर से भागा हुआ दीपक पर आता है इसी प्रकार रत्नसेन भी जोगी बन कर इसके लिये आयेगा।

"ननद भौज मिलि कोड़ करें हँसिया खियाल करें"

तथा

सूतल रहिलौं अटरिया, झरोखवन चित गै।

सासु तोर पूत ठाढ़ फुलवरिया, मलिनियाँ से कोड़ करें। (अवधी लोक गीतों से) जायसी ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। देखिए छन्द ३२/६, १८६/७, ३१२/६ और ४३२/६।

टिप्पणी—राम सम्बन्धी रामायण आदि अनेक काव्य-ग्रंथों में कहीं भी रावण का सीता के प्रति प्रेमभाव का आविर्भाव नहीं दिखाया है। रावण ने सीता का हरण केवल प्रतिशोध के लिए किया था और सीता को उसकी रानी बनने के कथन में भी उसके अभिमानमात्र का ही संकेत है। जायसी पर हिन्दू संस्कार शुद्ध रूप में न थे इसीलिए उन्होंने सीता पर रावण की आसक्ति की कल्पना की है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में राम और रावण के सम्बन्ध में प्राप्त संदर्भ प्रायः अशुद्ध हैं जिसका कारण हिन्दू-संस्कारों का अभाव और जायसी की विकृत ऊहापोह है।

अलङ्कार—रूपकातिशयोक्ति=अन्तिम दोहे में।
श्लेष—पदारथ, रतन।

[५३]

अही जनम पत्री सो लिखी। दै असीस बहुरे जोतिषी॥
पाँच बरिस महँ भई सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी॥
भै पदुमावति पंडित गुनी। चहूँ खंड के राजन्ह सुनी॥
सिंघल दीप राज घर बारी। महा सुरूप दैयँ ओतारी॥
एक पदुमिनि औ पंडित पढ़ी। दहुँ केहि जोग दैयँ असि गढ़ी॥
जाकहँ लिखी लच्छि घर होनी। असि सो पाव पढ़ी औ लोनी॥
सप्त दीप के बर जो ओनाहीं। उतर न पावहिं फिरि फिरि जाहीं॥
राजा कहै गरब कै, हौं रे इंद्र सिबलोक।
को सरि मोसों पावै, कासों करों बरोक॥५३॥

शब्दार्थ—अही=थी। बहुरे=लौटे, चले गए। महँ=में। बारी=बाला। पुरान=धर्मग्रन्थ। बैसारी=बैठाया। दैयँ=देव। दहुँ (किधौं) =पता नहीं। गढ़ी=बनाया। लच्छि=लक्ष्मी। लोनी=लावण्यमयी, सुन्दरी। ओनाहीं=झुकते हैं, आते हैं। उतर=उत्तर। बरोक=(वर+रोक) वररक्षा, सगाई। (ब्याह न बरोखी जातपाँत न चहत हौं—तुलसी-कवितावली)

अर्थ—उसकी जो जन्मपत्री थी उसे बहुत से ज्योतिषियों ने लिख डाली—जन्मपत्री टेवे के आधार पर ज्योतिषियों ने उसके फल के साथ बड़ी कुण्डली लिख दी—फिर वे लोग आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर को चले गए। जब वह पाँच वर्ष की बाला हुई तो धर्मग्रन्थ पढ़ने के लिये बैठा दी गई। पढ़-लिखकर पद्मावती गुणी और पंडिता हो गयी। उसकी विद्वत्ता की खबर चारों खण्डों के राजाओं ने सुनी कि सिंहल द्वीप में राजघराने में एक बड़ी रूपवती बाला दैव ने उत्पन्न की है। एक तो वह पद्मिनी नारी है और दूसरे वह पढ़ी-लिखी पंडिता है। पता नहीं किस के योग्य ईश्वर ने उसको बनाया है। जिसके भाग्य में यह लक्ष्मी लिखी होगी वही ऐसी पढ़ी-लिखी और सुन्दरी पा सकता है। सातों द्वीपों के वर उसे पाने के लिये

झुकते हैं, पर वह उत्तर में 'न' पाते और लौट जाते हैं।

राजा घमण्ड के साथ कहता है कि मैं शिवलोक का इन्द्र हूँ, मेरी समता को कौन पा सकता है, मैं किसके साथ इस लड़की की सगाई करूँ।

टिप्पणी—स्त्रियाँ चार प्रकार की होती हैं—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी, हस्तिनी हैं। पद्मिनी सर्वश्रेष्ठ नारी है। उसके शरीर से स्वाभाविक रूप से कमल जैसी गंध निकलती है, रंग भी कमल जैसा होता है, स्वभाव में मृदु होती है।

जायसी के काल में स्त्री-शिक्षा का प्रचार न था, पर जायसी स्त्री-शिक्षा में विश्वास करते थे, इसीलिए उन्होंने पढ़ी-लिखी नारी की महत्ता उक्त पद में बतायी है।

अलंकार—रूपक और वितर्क।

[५४]

बारह बरिस माँह भइ रानी। राजैं सुना सँजोग सयानी ॥
सात खंड धौराहर तासू। पदुमिनि कहँ सो दीन्ह नेवासू ॥
औ दीन्हीं संग सखी सहेली। जा सँग करहिं रहस रस केली ॥
सबै नवल पिय संग न सोईं। कँवल पास जनु बिगसहिं कोईं ॥
सुआ एक पदुमावति ठाऊँ। महा पंडित हीरामनि नाऊँ ॥
दैयँ दीन्ह पंखिहि असि जोती। नैन रतन मुख मानिक मोंती ॥
कंचन बरन सुआ अति लोना। मानहु मिला सोहागहि सोना ॥
रहहिं एक सँग दोऊ, पढ़हिं सास्तर बेद।
बरह्मा सीस डोलावहि, सुनत लाग तस भेद ॥५४॥

शब्दार्थ—रानी=पद्मावती। संजोग[1] (संयोग)=विवाह। धौराहर=धवलगृह, धरहरा, ऊँचा महल जिसमें सात खंड होते थे। इनमें अविवाहित वयस्क राजकुमारों व राजकुमारियों को अलग-अलग स्थान मिलता था। बाण भट्ट ने इसे कुमारी-अन्तःपुर की भी संज्ञा दी है। इस प्रकार के राजप्रासाद गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक बनते थे। दतिया में वीरसिंह देव का सात खंडों का धवलगृह अभी तक विद्यमान है। नेवासू=निवास। रहस=रास। केली=केलि, खेल। कोईं=कुमुदिनियाँ। दैयँ=ईश्वर। दीन्ह=दिया। जोती=ज्योति। सास्तर=शास्त्र। बरह्मा=ब्रह्मा। लाग=लगा। तस=उस प्रकार। भेद=व्याख्या।

अर्थ—पद्मावती बारहवें वर्ष में हो गई। राजा ने सुना कि वह विवाह के योग्य सयानी हो गई तो उसने उसे सात खण्डों के ऊँचे धरहरे पर निवास दिया और वहाँ पर उसे रास और खेल आदि करने के लिए ऐसी सखियाँ और सहेलियाँ दीं जो विवाहिता न थीं (नयी थीं) और पति के साथ कभी सोई न थीं, पद्मावती के साथ ये इस प्रकार लगती

१. चित्रावली में प्राय: यही शब्द मिलते हैं—'चित्रावलि संजोग सयानी।'

थीं जैसे कमल के पास कुमुदिनियाँ खिली हों। पद्मावती के पास एक तोता था जो महापंडित था और उसका नाम हीरामणि था। ईश्वर ने उस पक्षी को भी ऐसी ज्ञान की ज्योति दी थी। उसकी आँख में रत्न (ज्ञान दृष्टि) और मुख में माणिक्य और मोती (धर्मशास्त्र के तत्व) थे। तोता सोने के रंग का अत्यन्त ही सुन्दर था। उस तोते के ज्ञान और सुन्दर रूप का मेल इस प्रकार मिला था जैसे सोने और सोहागे का मिलता है।

पद्मावती और हीरामन दोनों साथ-साथ रहते और वेद-शास्त्र पढ़ते थे। वे शास्त्र की इस प्रकार व्याख्या करते थे कि ब्रह्मा भी उसे सुनने लगता था और प्रशंसा के रूप में सिर हिलाता था।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और संबन्धातिशयोक्ति।

टिप्पणी—विवाह-योग्य लड़कियों को अवधी प्रान्त में लोगों से मिलने-जुलने नहीं देते, इसी की प्रतिच्छाया इस पद में जायसी प्रस्तुत करते हैं। सात दरजा ऊँचे धरहरे में पद्मावती के निवास देने में व्यंजना यही है कि वह किसी से न मिल सके, साथ में खेलने वाली भी ऐसी सखियां हैं जो विवाहिता नहीं हैं।

सोने में सोहागे का मिलना-अवधी मुहावरा है जिसका अर्थ है सोने में सुगन्ध। सोहागा वह वस्तु है जिसके द्वारा सुनार सोने को जोड़ता है। पर मुहावरे का तात्पर्य दो ऐसी मूल्यवान् वस्तुओं का संयोग है, जो एक दूसरे के गुण की पूरक हों।

[५५]

भइ ओनंत पदुमावति बारी। धज धोरैं सब करी सँवारी॥
जग बेधा तेइ अंग सुबासा। भँवर आइ लुबुधे चहु पासा॥
बेनी नाग मलैगिरि पीठी। ससि माँथे होइ दुइजि बईठी॥
भौंहैं धनुक साँधि सर फेरी। नैन कुरँगिनि भूलि जनु हेरी॥
नासिक कीर कँवल मुख सोहा। पदुमिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिअ हुलसैं कुच कनक जँभीरा॥
केहरि लंक गवन गज हरे। सुर नर देखि माथ भुइँ धरे॥
जग कोइ दिस्टि न आवै, आछहिं नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी, तप साधहिं तेहि आस॥५५॥

शब्दार्थ—ओनंत=भार से झुकी हुई। बारी=बाला (कुमारी), बाग। धज=रौंस। क्यारियाँ। धोरैं (धवल)=किनारियाँ, बगीची में क्यारियों के किनारे की पट्टियां, चोटी। करी=कली। बेधा=वासित हुआ। लुबुधे=लुब्ध हुए, मोहित हुए। बेनी=वेणी, चोटी। नाग=साँप। पीठी=पीठ। धनुक=धनुष। साँधि=संधान करके। सर (शर)=बाण। हेरी=खोज रही हैं। कीर=तोता। दसन=दाँत। हिअ=हृदय, छाती। हुलसैं=उल्लसित हो। जँभीरा=नीबू। लंक=कमर। हरे=हर लिया। आछहिं=हैं।

अर्थ—बाला पद्मावती रूपी वाटिका यौवन-भार से झुक गयी। उसके अंग-प्रत्यंग प्रस्फुटित होकर सँवर गये, (वाटिका के अर्थ में सभी क्यारियों और उसके किनारों का पट्टियों में कलियाँ सुशोभित हो गयीं), सारे संसार में उसके अंग की सुवास भर गयी, सुगन्ध के कारण भौंरे (रूपी बाल) चारों ओर मोहित होकर साथ लगे हैं। उसकी पीठ पर वेणी (चोटी) ऐसी लगती थी मानों मलयगिरि पर सर्प हो। चन्द्रमा मस्तक बन कर द्वितीया होकर बैठा है अर्थात् उसका मस्तक द्वितीया के चाँद के समान सुन्दर लग रहा है। भौंह रूपा धनुषों पर दृष्टि रूपी बाण संधान करके चला रही है। आँखें ऐसी हैं मानों भूली हुई हिरना स्थान खोज रही हो (आंखों में चंचलता और भोलापन है)। उसकी नासिका तोते के समान और मुख कमल के समान शोभित है। पद्मावती के रूप को देख कर सारा संसार मोहित है। उसके ओंठ माणिक्य के समान लाल और दाँत हीरे के समान श्वेत हैं, छाती पर सोने के नीबू के समान उरोज खिल रहे थे। उसकी कमर सिंह की कमर को और उसकी चाल हाथी की चाल को हर लेती है। उसकी सुन्दरता को देख कर देवता और मनुष्य जमीन पर सिर रख देते हैं। संसार में कोई इसके समान दिखाई नहीं पड़ता, लोग आकाश की ओर आँख देकर रह जाते हैं। योगी, यति और संन्यासी उसके पाने की आशा से तप करते हैं।

टिप्पणी—बारी शब्द श्लिष्ट है, इसमें वाटिका और कुमारी दोनों का अर्थ है। जायसी ने इस पद में पद्मावती का नख-सिख वर्णन किया है। साथ ही वाटिका के सुगन्ध, भौंरे, नाग, मलयगिरि, धनुष चलाना, हिरण, तोता, कमल, माणिक्य, हीरा, नीबू, सिंह और हाथी आदि वस्तुओं का उल्लेख कर दिया है।

इस पद में जायसी ने पद्मावती का नख-शिख वर्णन किया है पर यह नख-शिख वर्णन भारतीय पद्धति का न होकर फारसी पद्धति का है। भारतीय पद्धति में नख-शिख का प्रायः नीचे (चरण) से वर्णन आरम्भ होता है?[1]

अलंकार—मुद्रा।

इस पद के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित प्रति में एक और पद है। इसे

१—सूरदास का नख-शिख वर्णन—

> **अद्भुत एक अनूपम बाग।**
> **युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।**
> **ता पर सरवर, वा पर गिरिवर, तेहि पर फूले कंज पराग।**
> **रुचिर कपोत बैठे ता ऊपर, ता पर शुक पिक मृगमद काग।।**

स्पष्ट है उक्त पद में पाँव (कमल), जंघाएँ (गज), कमर (सिंह,) त्रिवली (सर), छाती (गिरि,) गला (कपोत), नासिका (शुक), बोली (पिक), कस्तूरी का टीका (मृगमद), बाल (काग) क्रमशः रखे हैं। पर जायसी जी क्रमशः सिर, मत्था, भौंरे, आँख, नाक, मुख, दाँत, कुच, कटि और चाल का कथन करते हैं।

डा० माताप्रसाद जी प्रक्षिप्त मानते हैं।[1] कथा-शृङ्खला की दृष्टि से पद ठीक जँचता है, वह पद इस प्रकार है—

एक दिवस पद्मावति रानी। हीरामनि तइँ कहा सयानी॥
सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥
पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोलि सकै नहि माता॥
देस देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं॥
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥
हीरामन तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नहि जाई॥
अज्ञा देउ देखौं फिरि देसा। तोहि जोग बर मिलै नरेसा॥
जौ लगि मैं फिरि आवौं, मन चित धरहु निवारि।
सुनत रहा कोइ दुरजन, राजहि कहा विचारि॥

अर्थ—एक दिन रानी (पद्मावती) ने हीरामणि तोते से कहा कि हे हीरामणि मैं तुमसे समझा कर कहती हूँ कि दिन पर दिन मुझे कामदेव सताता है। मेरा पिता मेरे विवाह की कोई बात नहीं चलाता, डर के मारे मेरी माता उससे बोल नहीं सकती। देश-देश के वर मुझे प्राप्त करने की इच्छा से आते हैं पर मेरा पिता उनकी ओर दृष्टि भी नहीं उठाता। मेरा यौवन गंगा नदी की भाँति उमड़ रहा है, मेरे प्रत्येक अंग में काम व्याप्त हो रहा है। तब हीरामणि ने उसे समझाकर कहा कि ब्रह्मा का लेख मेटा नहीं जा सकता। यदि आदेश करो तो मैं सारे देश में घूमकर देखूँ, तेरे योग्य वर बनने के लिए कोई राजा मिल जायेगा। जब तक मैं लौटकर आऊँ, तब तक अपने मन को रोक रखना। उसकी यह बात कोई दुर्जन सुन रहा था, उसने जाकर राजा से कह दिया।

[५६]

राजै सुना विस्टि भइ आना। बुधि जो देह सँग सुआ सयाना॥
भएउ रजाएसु मारहु सुआ। सूर सुनाव चाँद जहँ उआ॥
सतुरु सुआ के नाऊ बारी। सुनि धाए जस धाव मँजारी॥
तब लगि रानी सुआ छपावा। जब लगि आइ मँजारिन्ह पावा॥
पिता क आएसु माँथे मोरे। कहहु जाइ बिनवै कर जोरे॥
पंखि न कोई होइ सुजानू। जानै भुगुति कि जान उड़ानू॥

१—डा० गुप्त का कथन है—"किसी भी प्राचीन प्रति—हस्त लिखित या मुद्रित में यह छंद नहीं मिला है। ग्रियर्सन की प्रतियों में भी यह केवल एक कैथी की प्रति में था, उसी के प्रमाण पर उन्होंने इसे मूल पाठ में ग्रहण किया है। शुक्ल जी ने केवल ग्रियर्सन के प्रमाण पर ही इसे स्वीकार किया, या कोई और प्रमाण उन्हें इसके पक्ष में प्राप्त हुए थे, यह अज्ञात है।" कुछ भी हो शैली और कथा-प्रसंग की दृष्टि से पद प्रक्षिप्त नहीं लगता।

सुवा जो पढ़ै पढ़ाए बैना। तेहि कत बुधि जेहि हिएँ न नैना।।
मानिक मोति देखावहु, हिएँ न ग्यान करेइ।
दारिवँ दाख जानि कै, अबहिं ठौर भरि लेइ।।५६।।

शब्दार्थ—आना=अन्य। रजाएसु=राजा की आज्ञा। सतरु=शत्रु। नाऊ=नाई। बारी=पान का काम करने वाले नौकर। मँजारी=बिल्ली। भुगुति=भोजन। कि=या।

अर्थ—राजा ने पुना कि पद्मावती के साथ तो चतुर तोता रहता है वही उसे बुद्धि देता है। यह सुनकर उसकी दृष्टि और (विपरीत) हो गयी। राजा की आज्ञा हुई कि तोते को मार दो क्योंकि जहाँ चन्द्रमा का उदय है वहाँ यह सूर्य सुनाता है अर्थात् राजकुमारी को उलटी बात सुनाता है। तोते के शत्रु नाई और बारी होते हैं, राजा की आज्ञा सुनकर इस प्रकार दौड़े जैसे बिल्ली दौड़ती है। ऐसा जानकर रानी पद्मावती ने इसके पहले कि ये बिल्ली रूपी नाई और बारी उस तोते को पावें, तोते को छिपा दिया और उन लोगों से कहा कि पिता जी की आज्ञा मेरे सिर माथे पर है, जाकर हाथ जोड़कर मेरी विनती कहो कि पक्षी कोई विद्वान् नहीं है, यह या तो अपना खाना जानता है या उड़ना। तोता तो पढ़ाने पर ही बात पढ़ता है, जिसके हृदय में आँख (अपनी सूझ) नहीं है, उसे बुद्धि कहाँ से मिल सकती है? उसे यदि माणिक्य और मोती दिखाओ तो वह उसे जान नहीं सकता, दाख और अनार समझ कर तुरन्त ही मुँह में भर लेता है।

[५७]

वै तौ फिरे उतर अस पावा। बिनवा सुअै हिएँ डरु खावा।।
रानी तुम्ह जुग-जुग सुख आऊ। हौं अब बनोवास कहँ जाऊँ।।
मोतिहि जौं मलीन होइ करा। पुनि सो पानि कहाँ निरमरा।।
ठाकुर अंत चहै जौं मारा। तहँ सेवक कहँ कहाँ उबारा।।
जेहि घर काल मँजारी नाचा। पंखी नाउँ जीउ नहिं बाँचा।।
मैं तुम्ह राज बहुत सुख देखा। जौं पूँछहु दै जाइ न लेखा।।
जो इंछा मन कीन्ह सो जेंवा। भा पछिताउ चलेउँ बिनु सेवा।।
मारै सोइ निसोगा, डरै न अपने दोस।
केला केलि करै का, जौं भा बैरि परोस।।५७।।

शब्दार्थ—आऊ=आयु। बनोवास=जंगल का वास। करा=चमक। पानि=आब। उबारा=रक्षा। तुम्ह राज=तुम्हारे आधिपत्य में। जेंवा=खाया। निसोगा=शोक रहित, निश्चिन्त, बेफिक्र[1]। केलि=खेल, आनन्द करना। भा=हुआ। बैरि=बेर। परोस=पड़ोस।

---

१. जो परलोक से बेफिक्र है, जिसे अपने पापों की चिन्ता नहीं, निसोगा इसी अर्थ में पीछे भी प्रयुक्त हुआ है—हिआ निसोगा जाग न सोई—४२।७।

अर्थ—पद्मावती के कथन पर नाई-बारी लौट गये। तब हृदय में डर कर सुआ बोला। हे रानी! तुम्हें युग-युग सुख और आयु प्राप्त हो, मैं अब जंगल में रहने के लिए जाना चाहता हूँ क्योंकि यदि मोती की चमक मलिन हो जाय तो उसमें वह निर्मल आब कहाँ रह सकती है? यदि मालिक ही अन्त में मारना ही चाहता है तो फिर सेवक की रक्षा कहाँ हो सकती है? जिस घर में काल रूपी बिल्ली नाच रही है वहाँ पक्षी नाम का प्राणी नहीं बच सकता। मैंने तुम्हारे आधिपत्य में बड़ा सुख प्राप्त किया। यदि पूछो तो मैं उसका हिसाब नहीं दे सकता। जो इच्छा हुई वही भोजन मैंने पाया, मुझे पछतावा यही है कि चलते हुए कुछ सेवा न कर सका। जो अपने कर्मों की ओर से निश्चिन्त होता है, अपने दोषों से नहीं डरता, वही दूसरे को मारता है। राजा इसी प्रकार का व्यक्ति है। वह मुझे अवश्य मारेगा। हम यहाँ रह नहीं सकते। केला यदि बेर के पड़ोस में रहेगा तो क्या आनन्द मना सकता है? अर्थात् यदि राजा का भय बना रहेगा तो हम स्वतन्त्र होकर आपके साथ पठन-पाठन का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते।

अलंकार—रूपक, दृष्टान्त।

[५८]

रानी उतर दीन्ह कै मया। जौं जिउ जाइ रहै किमि कया॥
हीरामनि तूँ प्रान परेवा। धोख न लाग करत तोहि सेवा॥
तोहि सेवा बिछुरन नहि आखौं। पींजर हिए घाल तोहि राखौं॥
हौं मानस तूँ पंखि पिआरा। धरम परीति तहाँ को मारा॥
का सो प्रीति तन माहँ बिदाई। सोइ प्रीति जिअ साथ जो जाई॥
प्रीति भार लै हिएँ न सोचू। ओहि पंथ भल होइ कि पोचू॥
प्रीति पहार भार जौं कांधा। सो कस छूट लाइ जिअ बाँधा॥
सुआ न रहै खुरुक जिअ, अबहिं काल सो आउ।
सतुरु अहै जो करिआ, कबहुँ सो बोरै नाउ॥५८॥

शब्दार्थ—मया=मोह, दया। कया=शरीर। परेवा=पक्षी। लाग=लगा। आखौं=कहूँ। घालि=डालकर। का=कैसी, क्या। पोचू=नीच। खुरुक=चिन्ता। करिआ=कर्णधार। बोरै=डुबो दे।

अर्थ—रानी ने बड़े मोह और दया से भरकर उत्तर दिया कि हे तोते, यदि जीव चला जायगा तो शरीर कैसे रहेगा? तू मेरा प्राण-प्यारा पक्षी है, तुझ से मेरी सेवा करते हुए कोई गलती नहीं हुई। मैं तुझको सेवा से अलग होने को नहीं कह सकती। मैं तुझे अपने हृदय के पिंजरे में डालकर रखूँगी। मैं मनुष्य हूं और तू प्यारा पक्षी है। जहाँ धर्म की प्रीति है वहाँ कौन मार सकता है? वह प्रीति ही कैसी जो शरीर के साथ बिदा हो जाय। प्रीति तो वही सच्ची है जो जीव के साथ ही जाती

है। प्रेम के भार को लेकर फिर हृदय में नहीं सोचती कि वह रास्ता अच्छा है या बुरा। प्रीति के पहाड़ सदृश भार को जो कंधा लगा देता है उसका बँधा हुआ दिल किस प्रकार छूट सकता है ? पद्मावती के ऐसा कहने पर भी तोता रहना नहीं चाहता था क्योंकि उसके दिल में चिन्ता थी कि अभी वह काल आ सकता है, यदि कर्णधार ही शत्रु हो जाय तो कभी भी नाव को डुबो सकता है।

टिप्पणी—इस पद में जायसी प्रेम-पंथ की व्याख्या करने का अवसर पा गए हैं। जहाँ-जहाँ भी उन्हें इस प्रकार का अवसर मिलता है वहाँ-वहाँ वे प्रेम-पंथ की प्रशंसा करते हैं। सच्चा प्रेम वह है जो शरीर रहते नहीं जा सकता। प्रेम का भार उठाने के पश्चात् मन उसके आगामी भले-बुरे की चिन्ता नहीं करता। सच्चा प्रेम सदा ही हृदय से बँधा रहता है और सभी प्रकार की विपत्तियों को झेलता हुआ भी शाश्वत रीति से बना रहता है।

अलंकार—समासोक्ति, रूपक और दृष्टान्त।

---

४. मानसरोदक खण्ड

[५६]

एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मानसोदक चली अन्हाई ॥
पदुमावति सब सखीं बोलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई ॥
कोई चंपा कोई कुंद सहेलीं। कोइ सुकेत करना रसबेलीं ॥
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकचुन विहँसाती ॥
कोई सु बोलसरि पुहुपावती। कोइ जाही जूही सेवती ॥
कोइ सोनजरद जेउँ केसरि। कोइ सिंगारहार नागेसरि ॥
कोइ कूजा सदबरग चँबेली। कोई कदम सुरस रस बेली ॥
चलीं सबै मालति सँग, फूले कँवल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रब, बास परिमलामोद ॥५६॥

शब्दार्थ—कौनिउँ=कोई-पाठान्तर-पूनिउ=पूर्णमासी। मानसरोदक=(मानसर+उदक) मानसर के जल-पाठान्तर-मानसरोवर। अन्हाई—स्नान। सुकेत-पाठान्तर-केतकि=केतकी का फूल। करना=वसन्त में खिलने वाला श्वेत पुष्प। रसबेली, सुदरसन, गुलाल आदि भिन्न-भिन्न फूल हैं। राती=लाल। बकौरि=गुलबकावली। बकचुन=गुच्छा। बोलसिरी=मौलिश्री। जाही=चमेली की जाति का फूल। जूही=यूथिका। सेवती=श्वेत गुलाब कूजा=सफेद जंगली गुलाब। जेउँ=जैसे। परिमलामोद=आनन्द देने वाली सुगन्ध।

अर्थ—एक दिन कोई शुभ दिवस आया। पद्मावती नहाने चली। उसने अपनी सभी

सखियों को बुलाया। सखियाँ इस प्रकार लगती थीं मानों फुलवाड़ी हों। उसमें से कोई चम्पा, कोई कुन्द, कोई केतकी, कोई करना, कोई रसबेली की भाँति थी। कोई गुलाल, कोई लाल सुदर्शन जैसी थी। कोई बकावली के गुच्छों के समान विहँसती थी। कोई मौलिश्री की तरह फूलों से लदी थी। कोई जाही, जूही, सेवती, सोनजरद हरसिंगार, सफेद जंगली गुलाब, सदबरग, चमेली, कदम्ब और रसबेली की भाँति हैं। वे सभी सखियाँ मालती के साथ-साथ चलीं जैसे कमल के साथ कुमुदिनियाँ फूली हों। उनकी आनन्ददायक सुगन्ध से गन्धर्व गण भी मोहित हो गये।

अलंकार—उपमा।

डा० बासुदेव शरण अग्रवाल जी ने चम्पा, कुन्द आदि के केवल उपमा वाची नहीं माना है। उन्होंने प्रत्येक का श्लिष्ट अर्थ भी दिया है। इस प्रकार इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं -

चम्पा=शरीर चाँपने (दबाने) वाली। कुन्द=वस्त्रों की कुन्दी करने वाली। सुकेत=सु+केत(घर) = राजभवन। करना=रसवेली=इस वाक्य को फारसी में 'करनारि सबीलें' भी पढ़ा जाता है। सबील=पानी के स्थान या पियाऊ को कहते हैं, इस प्रकार अर्थ हुआ पानी का प्रबन्ध करने वाली नारी। बकौरि=वाक्यावली। बकचुन=वाक्य चुनकर। सुबोलसरि=सुन्दर बोल वाली। पुहुपावती=फूल बरसाने वाली जाही जूही (जाह=स्थान) =स्थान-स्थान की देख भाल करने वाली। सोनजरद=(जरदा चावल का पुलाव) पीले चावल का पुलाव। जैउँ=जीमना, खाना। केसरि=केसर। सिंगारहार=हार (आभूषण) का शृंगार। नागकेसरि=फारसी लिपि में 'नागी सरि'=नागमती के समान। कूजा (कूजना)=हर्षित होना। सदबरग=सत्य के बल से चलने वाली। मालती=सुन्दर स्त्रियाँ। गन-गंध्रप=गन्धर्वों के समूह जो कामुक होते हैं और सुन्दरी कन्याओं पर आ जाते हैं।

भावार्थ—पद्मावती की सखियों में कोई शरीर दबाने वाली, कोई वस्त्रों की कुन्दी करने वाली थी। कोई राजभवन (सुकेत) में पानी का प्रबन्ध करने वाली, कोई शरीर में गुलाल मलने वाली और कोई उसके दर्शनों की अनुरक्त (सुदर्शन राती) थी। कोई वाक्यों (बकोरि) को चुन-चुन (बकचुन) कर बोलती और विहँसती थी। कोई सुन्दर बोल कहती हुई मुँह से फूल झाड़ती थी। कोई उसके स्थान की देख-भाल करने वाली और कोई सेवा करने वाली (सेवती) थी। कोई केसरिया पीले चावल के पुलाव का भोग लगाती थी, कोई हार का शृंगार करने में नागमती के समान थी। कोई हर्षित होकर बोलती (कूजा) थी, कोई सत्य के बल पर चलने वाली (सदबरग) थी। कोई चमेली का तेल लगाती थी, कोई उसके चरणों के रस में पगी थी।

वे सब सुन्दरियाँ (मालती) संग में प्रसन्न होकर चलीं। पद्मावती के मन में मोद (प्रसन्नता) हुई। उन पद्मिनियों के शरीर के सुबास से गन्धर्वों के समूह मोहित होकर

स्तम्भित रह गये ।

अलंकार—मुद्रा ।

विशेष—यह अर्थ बहुत अधिक खींचतान के पश्चात् ही निकलता है । अर्थ को सम्पन्न करने के लिए कहीं-कहीं फारसी लिपि से लाभ उठाकर अर्थ ग्रहण कर दिया जाता है । फिर भी अनेक सटीक नहीं हो पाते जैसे—छठी पंक्ति का अर्थ ऐसी सखी के लिए होता है जो स्वयं चावल का भोग लगाती है और शृंगार करने में नागमती के सदृश है । अन्य पंक्तियों में सखी की सेवाओं का वर्णन है किन्तु यहाँ खींचतान करने पर भी सखी का सेविकापन नहीं बन पड़ता । तात्पर्य यह कि पद का शुद्ध अर्थ पहला ही जान पड़ता है ।

[६०]

खेलत मानसरोवर गईं । जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं ।।
देखि सरोवर रहसहिं केली । पदुमावति सौं कहहिं सहेलीं ।।
ऐ रानी मन देखु बिचारी । एहि नैहर रहना दिन चारी ।।
जौ लहि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जौं खेलहु आजू ।।
पुनि सासुर हम गौनब काली । कित हम कित एह सरवर पाली ।।
कित आवन पुनि अपने हाथाँ । कित मिलिकै खेलब एक साथाँ ।।
सासु नँनद बोलिन्ह जिउ लेहीं । दारुन ससुर न आवै देहीं ।।
पिउ पिआर सब ऊपर, सो पुनि करै दहुँ काह ।
कहुँ सुख राखै को दुख, दहुँ कस जरम निबाहु ।।६०।।

शब्दार्थ—पालि=बाँध, भीटा । ठाढ़ी=खड़ी । रहसहि=रास करती हैं । केली=खेल । एहि=इस । नैहर=पीहर । गौनब=जायेंगी । काली=कल । कित=कहाँ । दारुन=दारुण, कठोर । पिउ=पति । दहुं=पता नहीं । काह=क्या । जरम=जन्म, जीवन । निबाहु=निर्वाह हो ।

अर्थ – खेलते-खेलते सभी मानसरोवर पहुंची और ताल के चारों ओर वाले भीटे (बाँध) पर खड़ी हुईं । तालाब को देखकर रास और खेल करने लगीं । उस समय सखियाँ पद्मावती से कहने लगीं कि हे रानी ! इस बात को विचार करके देख लो कि इस पीहर में थोड़े दिन ही रहना है । जब तक पिता के आधिपत्य में हम हैं तब तक जो कुछ खेलना है खेल लो । फिर कल (शीघ्र) ही हम लोग पति घर चली जायेंगी । तब कहाँ हम रहेंगे और कहाँ यह तालाब और उसका बाँध होगा । तब यहाँ आना हमारे वश में कहाँ हो सकता है और फिर हम मिलकर एक साथ कहाँ खेल सकती हैं ? वहाँ सास और ननद कटु वचन बोलकर जान लेंगी और कठोर ससुर हमें अपने घर न लौटने देगा । फिर सबसे बढ़ कर तो प्यारे पति का भय है, पता नहीं वह कैसा व्यवहार करेगा ? न जाने सुख से रखेगा या दुःख से ? कुछ पता नहीं कि जीवनभर निर्वाह कैसे हो ?

टिप्पणी—इस छन्द में जायसी आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत करते हैं। नैहर से उनका तात्पर्य इस संसार से है। इस संसार में चार दिन ही रहना है, फिर परलोक को गमन करना है। यहाँ संसार रूपी मानसरोवर के पास जीव को अनेक प्रकार के आमोद और प्रमाद के साधन हैं, पर अन्त में उस पार अवश्य जाना है जहाँ प्रियतम परमेश्वर है। उस लोक में पता नहीं कैसी बीतेगी। सास ननद के कटुवचन से तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्मों की गणना होगी और जीवन के गुणों-अवगुणों की ही आलोचना होगी। मुसलमानों के मत से पुनर्जन्म नहीं होता इसी से जायसी लिखते हैं कि "दारुण ससुर न आवैं देहीं।" अन्तिम दोहे में अपने प्रेम पन्थ की झलक भी उन्होंने एक ही शब्द "पिउ पियार" में दे दी है। सूफी-प्रेम में सुख और आनन्द की उतनी कल्पना नहीं है जितनी पीड़ा की, इसलिये वे कहते हैं कि सबसे अधिक तो प्रियतम प्यारा है जिसकी उलझनें और आशंकाएँ अनुमानित नहीं हो सकती। कबीर ने भी इस लोक को नैहर और परलोक को ससुराल कहा है।

अलंकार—समासोक्ति।

यहाँ पं० शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में एक और पद इस प्रकार है:—

मिलहिं रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी। झूलि लेहिं सुख बारी भोरी॥
झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहिं झूलन देइहिं साईं॥
पुनि सासुर लेइ राखिहि तहाँ। नैहर चाह न पाउब जहाँ॥
कित यह धूप, कहाँ यह छाहाँ। रहब सखी बिनु मन्दिर माहाँ॥
गुन पूछिहि और लाइहि दोखू। कौन उतर पाउब तह मोखू॥
सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब सँकोचि दुवौ कर जोरे॥
कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेई अंत जनम दुख भरना॥
कित नैहर पुनि आउब, कितु ससुरे यह खेल॥
आपु आपु कहँ होइहि, परब पंखि जस डेल॥

इस पद को भी डा० माताप्रसाद गुप्त जी प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों में यह पद भी नहीं मिलता। प्रसंग की दृष्टि से यह पद भी अनावश्यक नहीं है। उसमें हिंडोले (झूले) का वर्णन है। स्नान से पूर्व तालाब के बाँध पर हिंडोले झूलने की कल्पना ठीक प्रतीत होती है। इस पद में भी पीहर के सुखों की ही पुनरावृत्ति है। पर इस प्रकार की पुनरावृत्तियाँ पद्मावत में भरी हैं। लोक-प्रवृत्तियों का आभास पद्मावत की शैली में बहुत है, पुनरुक्ति लोक-गीतों की एक विशेषता है।

शब्दार्थ—रहसि=प्रसन्न होकर। हिंडोरी=झूला। बारी=बालाएँ। ताईं=तक। साईं=पति। पाउब=पायेंगी। रहब=रहेंगी। मोखू=छुटकारा। संकोचि=डर कर। दुवौ=दोनों। अन्त जनम=शेष जीवन। परब=पड़ेगी। डेल=डलिया। पंखि=पक्षी।

अर्थ—सब प्रसन्नता से मिलती हैं और हिंडोले (झूले) पर चढ़ती हैं। सब भोली बालाएँ झूल कर सुख प्राप्त करती हैं। वे आपस में कहती हैं कि जब तक पीहर में हो झूल लो। ससुराल में जाने पर पति झूलने न देगा। वह तो वहीं सुसराल में ही रखेगा जहाँ पीहर के सुख प्राप्त नहीं होंगे। तब यह धूप और छाया कहाँ मिलेगी। तब तो सखियों के बिना ही घर के अन्दर ही रहना पड़ेगा। वहाँ पर लोग गुण पूछेंगे, और बात-बात में दोष लगायेंगे। वहाँ तो सोचना होगा कि कौन सा उत्तर दूँ कि जान छूटे। सास और ननद के भौंहें सिकोड़ने पर तो भय होगा और दोनों हाथ जोड़कर खड़ा रहना पड़ेगा। यह आनन्द कहाँ मिलेगा, हमें तो सारा जीवन भर ससुराल में ही रहकर दुःख उठाना पड़ेगा।

पीहर का फिर आना कहाँ होगा और ससुराल में कहाँ ये खेल मिलेंगे? हम सब अलग-अलग इस प्रकार बन्दी रहेंगी जैसे पक्षी डलिया में बन्द करके रख दिया जाता है।

अलंकार—विषम, उपमा और समासोक्ति, इस पद में भी पीहर और ससुराल के परीक्षा-अर्थ अभिप्रेत हैं।

[६१]

सरवर तीर पदुमनी आई। खोंपा छोरि केस मोकराई॥
ससि-मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरघानी॥
ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन्ह जन राहाँ॥
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा॥
भूलि चकोर दिस्टि तहँ लावा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा॥
दसन दामिनी कोकिल भाखीं। भौंहैं धनुक गगन लै राखीं॥
नैन खंजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं॥
सरवर रूप बिमोहा, हिएँ हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावौं, तेहि मिसु लहरैं देइ॥६१॥

शब्दार्थ—खोंपा=जूड़ा। छोरि=खोलकर। मोकराई=खोल दिया। मलयगिरि=मलय पर्वत। झाँपि=छिपा लिया। अरघानी=सुगन्ध। ओनए=छा गये। दिनहिं=दिन में ही। पाठान्तर-दीन=दुखी। दिस्टि=दृष्टि। दसन=दांत। मकु=कदाचित्। मिसु=बहाने से।

अर्थ—तालाब के किनारे वे पद्मिनी बालाएँ आयीं और उन्होंने अपने बालों के जूड़े को खोल कर बालों को खोल दिया। रानी पद्मावती का मुख चन्द्रमा के सदृश है और अंग मलयगिरि के समान। कटि तक खुले हुए बाल इस प्रकार लग रहे हैं मानों सांपों ने सुगन्धि के लिए शरीर को ढक लिया। अथवा ये बाल मुख पर ऐसे हैं मानों बादल घिर आये, सारे संसार में छाया हो गयी। मुख के नीचे गर्दन आदि पर बाल ऐसे लग रहे हैं मानों राहु ने चन्द्रमा की शरण ली है। पद्मावती के मुख की चमक देखकर दीन दशा को

प्राप्त होकर सूर्य दिन में ही छिप गया और पद्मावती रूपी चन्द्र सखियों रूपी तारागणों को लेकर रात्रि में प्रकट हुआ है। चकोर पक्षी भूलकर पद्मावती के मुख को ही चन्द्रमा समझने लगा और उसने अपनी दृष्टि इसके मुख की ओर लगायी, क्योंकि काले बालों के भीतर उसका मुख ऐसा लगा जैसे बादलों की घटा के बीच चन्द्रमा हो। उसके दांत बिजली और बोली कोकिल के समान थी। उसकी भौंहें ऐसी थी मानों आकाश में इन्द्र धनुष हो। उसके चंचल नयन ऐसे हैं मानों दो खंजन पक्षी खेल कर रहे हैं। उसकी छाती पर उरोज नारंगी के समान हैं, जिस पर उनके श्याम अग्रभाग ऐसे लगते हैं मानों भंवरे इनका रस ले रहे हैं। पद्मावती रूपी चन्द्र पर मोहित होकर तालाब अपने हृदय में हिलोरें लेने लगा कि कदाचित् उसके पैरों को छू पाऊँ। वह लहरों के बहाने यही भाव प्रकट कर रहा है। यहां पर जायसी कृष्ण-कथा का आभास दिया है। जैसे जब वसुदेव जी कृष्ण को लेकर यमुना पार कर रहे थे तो यमुना की लहरें कृष्ण के चरण छूने को बढ़ीं। वैसे ही मानसरोवर की लहरें इसलिए उठ रही हैं कि वे पद्मावती के चरण-कमलों को छू पावें।

अलंकार—उपमा, रूपक, हेतूत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रम और कैतवापह्नुति।

[६२]

धरीं तीर सब छीपक सारी। सरवर महँ पैठी सब बारी॥
पाएँ नीर जानु सब बेलीं। हुलसी करहिं काम कै केलीं॥
नवल बसंत सँवारहि करीं। होइ परगट चाहहिं रस भरीं॥
करिल केस बिसहर बिसभरे। लहरें लेहि कँवल मुख धरे॥
उठे कोंप जनु दारिवँ दाखा। भई ओनंत प्रेम कै साखा॥
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लए तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई उईं। अब कत दिस्टि कँवल औ कुईं॥
चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर, दिन दोसर जल माँह॥६२॥

शब्दार्थ—तीर=किनारे-पाठान्तर—उतारि। छीपक=छपी हुई, छापे की। पाठान्तर=कंचुकि=चोली। सारी=साड़ी। पैठी=प्रवेश किया। बारी=कुमारी। बेली=लतायें। हुलसी=उल्लसित होकर। केली=केलि, क्रीड़ा। करीं=कलियाँ। करिल=काले। केस=केश। बिसहर=विषधर सर्प। कोंप=कोंपल। दारिवँ=दाडिम, अनार। ओनंत=झुकी हुई। नहाइ=स्नान करता है। धनि=धन्य। उईं=उदय हुईं। कत=कहाँ। कुईं=कुमुदिनी। नाँह=नाथ (चकवा)। दोसर=दूसरा।

अर्थ—सभी सखियों ने तालाब के किनारे पर अपनी छपी हुई साड़ियों को रख दिया और तालाब में घुस गयीं। तालाब के पानी में सब ऐसे प्रसन्न हुईं जैसे लताएं पानी

पाकर खिल उठें। सब काम की क्रीड़ाएँ जल में करने लगीं। जल में उनके उठे हुए स्तन प्रकट कर रहे थे कि उनकी आयु का नया वसन्त कलियों में फूट रहा हो। जवानी के रस से भरी हुई वे कलियों के रूप में प्रकट हो जाना चाह रही थीं। (यहां जायसी ने बालाओं को बेलों से और उनके उठे हुए उरोजों को फूटती हुई कलियों से उपमा दी है। नव-यौवना कुमारियों की काम-क्रीडा देखकर कल्पना करते हैं कि जवानी रूपी कली फूट पड़ने को आतुर हैं।) उनके काले केश पानी पर लहरा रहे थे, मानो विष से भरे सांप पानी पर लहरा कर कमल रूपी मुखों पर झुके पड़ रहे थे। उनकी प्रसन्न मुख-मुद्रा में अधर और दांत ऐसे लग रहे थे मानों दाडिम और दाख में नई कोंपलें निकल रही हैं। प्रेम की शाखा दाख और दाडिम फलों के भार से झुक आई थीं। सारी सखियां तालाब में भर गयीं, ऐसा प्रतीत होने लगा कि तालाब संसार में नहीं समायेगा। उसमें चन्द्रमा तारागणों को लेकर स्नान कर रहा है। जायसी जी कहते हैं कि उस तालाब के जल को धन्य है जहाँ चन्द्रमा और तारागण उदय हुए हैं। अब यहां पर कमल और कुमुदिनी कहाँ दिखाई पड़ सकती हैं? तालाब में पद्मावती और सखियों को देखकर चकई को भ्रम हुआ कि ये चन्द्र और तारे हैं। वह अपने चकवा से बिछुड़ कर पुकारने लगी कि हे नाथ! तुम कहां हो? कैसी विपत्ति है? एक चन्द्रमा तो रात में आकाश पर निकलेगा और दूसरा चन्द्रमा दिन में ही तालाब के जल में दिखाई पड़ रहा है। तात्पर्य यह कि उसे अब दिन और रात दोनों में ही प्रिय-वियोग का दुःख उठाना पड़ेगा।

अलंकार—की दृष्टि से यह छन्द भी पूर्व छन्द की भांति ही मनोहर है। इसमें भी हैं—रूपक, उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् (भ्रम)।

[६३]

लागीं केलि करैं मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा॥
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी॥
बादि मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जौं खेलत हारा॥
सँवरिहि साँवरि, गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हारु न होइ पराए हाथा॥
आजुहि खेल, बहुरि कित होई। खेल गए कत खेलै कोई॥
धनि सो खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूसल खेमा॥
मुहमद बाजि परेम की, जेउं भावै तेउं खेलु।
तोलहि फूलहि संग जेउं, होइ फुलाएल तेल॥६४॥

शब्दार्थ—लागीं=लगीं। साखी=साक्षी, मध्यस्थ। बादि=बाजी। मेलि=लगा कर। हारु=हार। हारा=हार गया। रौताई=प्राप्ति। खेम=क्षेम, रक्षा। जेउं=ज्यों। फुलाएल=इत्र से सुवासित (गुलाब के फूल के साथ तिल रखा जाता है, इससे इसमें

सुगन्ध आ जाती है और उससे तेल में गुलाब के इत्र की खुशबू आ जाती है।)

अर्थ—सखियाँ पानी में खेल करने लगीं। उनकी सुन्दरता देखकर तालाब का हंस लजा कर पानी में से निकल कर किनारे पर जा बैठा। पद्मावती को खेल देखने वाली बना कर एक ओर रखा। सखियों ने कहा कि हे शशि रूपी पद्मावती तुम हम ताराओं के देखने वाली बन जाओ। फिर उन्होंने बाजी लगा कर खेल आरम्भ किया। बाजी यह थी कि जो खेल में हार जाय वह अपने गले का हार दे। सांवली-सांवली के साथ और गोरी सखी गोरी के साथ अपनी-अपनी जोड़ की सखी से खेलने लगी। जायसी जी यहां पर फिर समासोक्ति से अपनी बात कहने लगे कि समझ बूझकर एक साथ खेल खेलो, कहीं दूसरे के हाथ हार न हो जाय। आज का खेल फिर नहीं हो सकता। एक बार खेल खत्म हो जाने पर कोई कैसे खेलेगा तात्पर्य यह कि इस मानव-जीवन का खेल बहुत सोच-समझ कर खेलना चाहिये। मनुष्य जन्म दुबारा नहीं मिलता वह खेल धन्य है जिसमें प्रेम-रस का खेल है, इसमें प्राप्ति का भी आनन्द है और क्षेम का भी। अवधी की कहावत है कि "रौताई और खेम" दोनों नहीं मिलते अर्थात् एक तो अमूल्य वस्तु का पाना (रौताई) बड़ा कठिन है और यदि पा जाय तो कुशलता से उसकी रक्षा करना और भी कठिन है। दोनों एक ही व्यक्ति को नहीं मिलते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—रौताई और कूसल खेमा।

तात्पर्य यह कि इस जीवन में यदि कोई ईश्वरीय प्रेम को प्राप्त कर जाता है तो इस लोक और परलोक दोनों के आनन्द सुरक्षित हो जाते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि इस प्रेम के जल में जो चाहो सो खेल लो, इसमें तुम इस प्रकार बन जाओगे जैसे फूल के साथ तिल्ल रखने से उसका तेल सुगन्धित हो जाता है। मनुष्य यदि जीवन में भगवत्-प्रेम का खेल-खेले तो नीरस मानव-जीवन भी आनन्दयुक्त हो जाय।

अलंकार—समासोक्ति, रूपक।

[६४]

सखी एक तेइँ खेल न जाना। चित अचेत भइ हार गँवाना॥
कँवल डार गहि भै बेकरारा। का सों पुकारौं आपन हारा॥
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ लै हाथाँ॥
घर पैठत पूँछब एहि हारू। कौनु उतर पाउबि पैसारू॥
नैन सीप आँसुन्ह तस भरे। जानहु मोति गिरहिं सब ढरे॥
सखिन्ह कहा भोरी कोकिला। कौनु पानि जेहि पौनु न मिला॥
हार गँवाइ सो अैसेहि रोवा। हेरि हेराइ लेहु जौं खोवा॥
लागीं सब मिलि हेरैं, बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठी मोंति लै, घोंघा काहू हाथ॥६४।

शब्दार्थ— तेइँ=वह। गहि=पकड़कर। बेकरारा=घबराई हुई। पैसारू=रहने पाना। पैठत=घुसते ही। पूँछब=पूछेंगे। ढरे=ढलके। हेरि=खोजना। हेराई=खोजवाना। पानि=पानी, वर्षा। पौनु=पवन, आँधी।

अर्थ—उनमें से एक सखी खेल नहीं जानती थी। उसका हार खो गया। हार खोकर वह चित्त से अचेत हो गयी। कमल की नाल पकड़ कर वह अधीर हो गई। और वह रोने लगी कि अब मैं किससे अपने हार को मांगूँ। मैं इन लोगों के साथ क्यों खेलने आयी। अपने हाथ का हार गँवा कर चली हूँ। ज्योंही घर में घुसूँगी, घर वाले हार को पूछेंगे तो कौन-सा उत्तर देकर वहां रहने पाऊँगी। उसकी आँखों से आँसू गिरते हुए ऐसे लग रहे थे जैसे सीप से मोती ढुलक रहे हों। सखियों ने उसे समझाते हुए कहा कि तू तो कोकिल के समान भोली है। (कोकिल वर्षा ऋतु की हरियाली देखकर पहले वसन्त समझकर बोलती है पर बाद में वर्षा की अधिकता देखकर चुप हो जाती है।) खेल में लगकर पहले तो प्रसन्न हो गई, पर सोचो तो कौन सा पानी (वर्षा) ऐसा है जिसके पीछे आँधी नहीं आती पहले तो खेलने में भूल गयी, पर खेल का परिणाम कुछ दुःख तो होगा ही। तेरा हार खो गया, पर धीरज धरो, हार को खोकर कहीं इस प्रकार रोया जाता है? यदि तुमने खो दिया है तो चलो खोजो और खोजवाओ। ऐसा कह कर सखियां एक साथ डूब-डूबकर खोजने लगीं। कोई तालाब के तल से मोती लेकर निकलती है और कोई घोंघा।

टिप्पणी—मानसर से जायसी मानस (हृदय) की ओर संकेत करते हैं। मानस की यौगिक साधना कठिन है। जो साधना की रीति नहीं जानता, बीच में पछताता है पर साधना मार्ग में असफल होकर बैठ रहने से कार्य नहीं चलता, फिर-फिर प्रयत्न होता है। ईश्वरीय प्रेम की साधना का खेल साधारण खेल नहीं है, उसमें कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं, पर फिर भी जो उसमें निरत रहते हैं उन्हें अपने-अपने कर्मों के अनुसार कुछ-न-कुछ अवश्य मिलता है, कोई मोती अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता है और कोई घोंघा अर्थात् ज्ञान का विकृत रूप, हठयोगी बाह्य साधना मात्र ही लेकर रह जाता है।

नोट—कथा-प्रसंग की दृष्टि से यहाँ कुछ दोष है। पहले बाजी में हार के हारने की बात थी, अब हार तालाब में गिर कर खो गया। वास्तव में परोक्ष अर्थ पर दृष्टि रखने से कथा-प्रसंग भूल सा गया प्रतीत होता है।

अलंकार— 'नैन सीप आंसुन तस भरे। जानहु मोति गिरहिं सब ढरे॥'—उपमा।

[६५]

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसें। पावा रूप रूप कें दरसें॥
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा॥

ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना॥
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहि रूप जहाँ जो देखा॥
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे॥
नैन जो देखे कँवल भए, निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भए, दसन जोति नग हीर॥६५॥

शब्दार्थ—तेन्ह=उनके। गै=गई। तपनि=गर्मी। न जनौं=नहीं जानता। पौन=हवा। पुन्नि=पुण्य। भै=हुई। गँवावा=नष्ट किया। ततखन=तत्क्षण, फौरन। वेगि=शीघ्र। उतिराना=ऊपर आया। दसन=दांत। जोति=ज्योति।

अर्थ—अन्त में पद्मावती ने भी हार खोजवाने के निमित्त सरोवर में प्रवेश किया। पद्मावती के चरण स्पर्श के लिए ही मानसरोवर ने हार चुरा लिया था। अतः मानसरोवर ने अपने आप कहा, जो मैं चाहता था उसे अब पा गया। पारस रूप में पद्मावती यहाँ तक आ गयी। उसके चरणों के स्पर्श को पाकर मैं निर्मल हो गया। इसके रूप के दर्शन से मुझे सुन्दर रूप प्राप्त हो गया। इसके शरीर की सुगन्ध से हमारे में सुगन्ध आ गयी। अब मैं शीतल हो गया, हृदय की सारी तपन बुझ गई। नहीं जानता कि कौन सी हवा इसे आज यहाँ ले आई? मेरी पुण्य दशा आज उदय हुई है, मेरे सारे पाप नष्ट हो गये। उसी क्षण हार ऊपर आ गया, सखियों ने हार को प्राप्त किया और पद्मावती (चंद) मुस्करा उठी। उसकी मुस्कान रूपी चन्द्रकिरण को पाकर तालाब के कुसुम खिल उठे। जहाँ भी उसने देखा, वहीं उसी के सदृश सुन्दर रूप बन गया। जिसने जो रूप चाहा, प्राप्त किया। पद्मावती के चन्द्रमुख के लिए सब पदार्थ दर्पण हो गये। अर्थात् जहां-जहाँ उसके विभिन्न अंगों की झलक पड़ी, सुन्दर और चमकीली वस्तुओं का निर्माण हो गया। जहां उसके नेत्र पड़े वहां कमल खिल उठे। उसके शरीर की कान्ति की आभा से तालाब का पानी निर्मल झलकने लगा। हँस कर जहाँ उसने देखा वहां श्वेत हंसों की सृष्टि हो गयी और दांतों की उज्ज्वल ज्योति जहां पड़ी वहां मोती और हीरे उत्पन्न हो गये।

टिप्पणी—मानस (हृदय) में जब परमेश्वर की प्रेम ज्योति आ जाती है तो उसमें आमूल परिवर्तन हो जाता है, अंग-अंग में शीतलता, शान्ति और आनन्द छा जाता है। ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो उठता है। तन, मन, आत्मा (हंस) सभी में उसी अखण्ड ज्योति की आभा झलकने लगती है। सारा मानस दर्पण की भाँति उसी के रूप से प्रतिबिम्बित हो उठता है।

दोहे का तात्पर्य यह है कि संसार में जो भी उज्ज्वल, कान्तिमय है सब में उसी परोक्ष ज्योति की झलक है। कमल, निर्मल नीर, हंस, मोती और हीरे आदि की समुज्ज्वलता में उसी की ज्योति का प्रतिबिम्ब है। इसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है अर्थात् पद्मावती बिम्ब है और जगत् उसी का प्रतिबिम्ब है।

अलंकार—समासोक्ति।

५. सुआ खण्ड

[६६]

पदुमावति तहँ खेल धमारी। सुआ मँदिर महँ देखि मँजारी॥
कहेसि चलौं जौं लहि तन पाँखा। जिउ लें उड़ा ताकि बन ढाँखा॥
जाइ परा बनखंड जिउ लीन्हे। मिले पंखि, बहु आदर कीन्हे॥
आनि धरीं आगें बहु साखा। भुगुति न मिटै जौं लहि बिधि राखा॥
पाई भुगुति सुक्ख मन भएऊ। अहा जो दुक्ख बिसरि सब गएऊ॥
ऐ गोसाइं तू अैस बिधाता। जाँवत जीउ सब क भख दाता॥
पाहन महँ न पतंग बिसारा। जहँ तोहि सँवर, दीन्ह तुइँ चारा॥
तब लगि सोग बिछोह कर, भोजन परा न पेट।
पुनि बिसरा भा सँवरना, जनु सपने भइ भेंट॥६६॥

शब्दार्थ—धमारी=धमधम, उछल-कूद, खेल-पाठान्तर दुलारी। मँजारी=बिल्ली। जौं लहि=जब तक। पाँख=पंख। जिउ=जीव। ताकि=देखकर। ढाँखा=वृक्ष। भुगुति=भोजन। अहा=था। अैस=ऐसा। जाँवत=जितने। क=का। भख=भक्ष्य, भोजन। सँवर=स्मरण करता। तुइँ=तुमने। चारा=भोजन। सोका=शोक। पारा=पड़ा। बिसरा=भूल गया। सँवरना=स्मरण।

अर्थ—पदमावती वहाँ (मानसरोवर पर) खेल और उछल-कूद में व्यस्त थी। इधर महल में तोते ने बिल्ली को देखा। तोते ने अपने मन में कहा कि जबतक शरीर में पंख है भाग चलूँ। वन के वृक्षों को देखता हुआ जान लेकर उड़ चला। अपनी जान लिये हुए वन में जा पहुँचा। बहुत से पक्षी मिले जिन्होंने उसका बड़ा आदर किया और उसके सामने बहुत सी फलों की डालियाँ ला के रख दीं। जायसी कहते हैं कि जब तक ईश्वर जीवित रखता है, भोजन का अभाव नहीं हो सकता। भोजन पाकर तोते के मन को सुख हुआ, जो कुछ दुःख था, उसे भूल गया। उसने कहा—हे ईश्वर, तू ऐसा करने वाला है कि जितने जीव हैं सब को भोजन देता है। पत्थर के भीतर रहने वाले एक पतंगे को भी नहीं भूलता. जहाँ किसी ने तुझे स्मरण किया, तूने उसे वहीं भोजन दिया। पर दुःख तो यह है कि जब तक पेट में भोजन नहीं पड़ता तभी तक मनुष्य को तेरे विरह का दुःख रहता है अर्थात् दुःख में लोग तेरा स्मरण करते हैं, पर ज्यों ही भोजन प्राप्त हुआ फिर तो तुझे भुला ही देते हैं और तब तेरा स्मरण ऐसा होता है, जैसे तुझ से स्वप्न मात्र ही में मिले थे।

टिप्पणी—जायसी का मुख्य उद्देश्य कहानी के पीछे सूफी प्रेम तत्व का निरूपण करना था। उन्होंने सतर्कता रखी है कि आध्यात्मिक निरूपण से कहानी बोझिल न हो। प्रधानता उन्होंने कहानी की कथा को दी है फिर भी वे ऐसे स्थल निकाल लेते हैं

जिनमें वे अपना संकेत प्रस्तुत कर दें। यह छन्द इसी प्रकार है, इसमें उन्होंने ईश्वर का पोषक रूप बता दिया और मनुष्य के ईश्वर सम्बन्धी प्रेम की ओर संकेत करके सच्चे प्रेम की प्रेरणा की।

[६७]

पदुमावति पहँ आइ भँडारी। कहेसि मँदिर महँ परी मँजारी॥
सुआ जो उतर देत हा पूँछा। उड़िगा, पिंजर न बोलै छूँछा॥
रानी सुना सुक्ख सब गएऊ। जनु निसि परी, अस्त दिन भएऊ॥
गहनै गही चाँद कै करा। आँसु गगन जनु नखतन्ह भरा॥
टूटि पालि सरवर बहि लागे। कँवल बूड़, मधुकर उड़ि भागे॥
एहि विधि आँसु नखत होइ चुए। गगन छाँड़ि सरवर भरि उए॥
चिहुर चुवहिं मोतिन्ह कै माला। अब हम फिरि बाँधा चह बाला॥
उड़ि वह सुअटा कहँ बसा, खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा, पवन न पावै तासु॥६७॥

शब्दार्थ—भँडारी=सं० भाण्डागारिक, भंडारी। कहेसि=कहा। पूँछा=प्रश्न करने पर। हा पाठान्तर-हुत=था। गहनै=ग्रहण। गही=पकड़ लिया। कै=की। करा=कला। उए=उदय हुए। चिहुर=चिकुर, बाल। दहुँ=पता नहीं। गा=गया।

अर्थ—पद्मावती के पास उसका भंडारी आया और उसने कहा कि महल में बिल्ली झपट पड़ी है। जो तोता प्रश्न करने पर उत्तर देता था वह उड़ गया, पिंजड़ा बोलता नहीं क्योंकि तोते से छूछा (रहित) है। जब रानी पद्मावती ने सुना कि उसका तोता भाग गया, उसका सारा सुख चला गया। वह इस प्रकार मलिन हो गई जैसे दिन डूब गया और रात हो गई हो। चन्द्र की कला पर ग्रहण लग गया, उसकी आँखों में इतने आँसू भरे मानो आकाश के तारे हों। फिर आँख के आँसू बह निकले, जैसे कि तालाब में बाढ़ आ गई उसका भीटा (बाँध) टूट गया और पानी बह निकला। नेत्र रूपी कंवल सब डूब गये और पुतली रूपी भौंरे भाग गये। उसकी आँखों से आँसू नक्षत्रों के रूप में इस प्रकार गिरे मानो आकाश के तारे आकाश छोड़कर तालाब में भर कर उदय हो गये हैं। उसके बाल जो खेल के कारण खुल कर उसकी गर्दन और वक्षस्थल आदि पर बिखर रहे थे, उसमें से उनके आँसू चूने लगे, मानो मोती की माला के मनके एक-एक करके गिर रहे हैं और कह रहे हैं कि अब हमें फिर वह बाला बाँधना चाहती है। पद्मावती ने अपनी सखी से कहा कि वह तोता उड़ करके कहाँ बसा है, उस जगह को खोजो। न जाने वह पृथ्वी पर ही है या स्वर्ग चला गया। कहीं भी उसकी हवा भी नहीं मिलती।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, रूपक।

[६८]

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अब पाइअ, गा पंखी॥

जौं लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि, कीन्हेसि निति सेवा ॥
तेहि बँदि हुतें जौं छूटै पावा। पुनि फिरि बाँदि होइ कित आवा ॥
ओई उड़ान फर तहिऐ खाए। जब भा पंखि पाँख तन आए ॥
पिंजर जेहि क सौंपि तेहि गएऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ ॥
दस बाटैं जेहि पिंजर माहाँ। कैसे बाँच मँजारी पाहाँ ॥
एईं धरति अस केतन लीले। तस पेट गाढ़ बहुरि नहिं ढीले ॥
जहाँ न राति न देवस है, जहाँ न पौन न पानि ॥
तेहि बन होइ सुअटा बसा, को रे मिलावै आनि ॥६८ ॥

शब्दार्थ—पाइअ=पावे। गा=गया। पंखी=पक्षी। जौं लहि=जब तक। अहा=रहा। बाँदी=बन्दी। कीन्हेसि=किया। निति=नित्य। कित=क्यों। आवा=आयेगा। हुतं=से। तहिऐ=उसी दिन। जेहि क=जिसका। बाटैं (बाट, का बहुवचन)=रास्ते। माहाँ=में। बाँच=बचे। अस=ऐसे। केतन=कितने। लीले=निगल लिए। तस=ऐसा। गाढ़=गहरा। बहुरि=फिर। ढीले=ढीला किया, छोड़ा। देवस=दिन। घानि=सं० आघ्राण-गंध-पाठान्तर पानि=पानी। आनि=लाकर।

अर्थ—चारों ओर सखियाँ पद्मावती को समझाती हैं कि अब उसे कहाँ पा सकते हैं जबकि पक्षी उड़ गया। जब तक यह पक्षी पिंजरे में था यह बन्दी था और उसने आपकी नित्य सेवा की। जब उस बन्धन से वह छूट गया तो वह क्यों फिर बन्दी होने आयेगा। उस ने तो उड़ने के फल उसी दिन चख लिए जिस दिन उसने पक्षी का जन्म लिया और शरीर में पंख आये थे। जिसका पिंजरा था उसे सौंप करके चला गया, जो पिंजरा जिसका था उसी का हो गया। जिस पिंजरे में दस रास्ते हों भला उसमें वह बिल्ली से कैसे बच सकता है। बिल्ली ने इस पृथ्वी पर ऐसे कितनों को निगल लिया है, उसका पेट ऐसा गहरा है कि जो उसमें गया फिर निकल नहीं सकता। अब तो वह पक्षी ऐसी जगह चला गया, जहाँ न रात्रि है और न दिन, न हवा है और न गंध (या पानी) है। ऐसे वन में वह तोता जा बसा है, कौन उसे लाकर मिला सकता है।

टिप्पणी—आत्मा को दस द्वार के पिंजरे (शरीर) का तोता भारतीय साहित्य तथा लोक गीतों में प्रायः कहा गया है। जायसी ने भी यहाँ पर तोते के द्वारा जीव का ही निरूपण किया है। पिंजरा मानव शरीर है, उसके दस द्वार हैं—२ कान, २ आँख, २ नाक, मुँह, लिङ्ग, गुदा और ब्रह्मरन्ध्र (शिर का ब्रह्माण्ड, कभी-कभी मृत्यु के समय मनुष्य का ब्रह्माण्ड टूट जाता है और प्राणवायु निकल जाती है)। मंजारी-काल (मृत्यु) है जिससे इस धरती पर कोई नहीं बचता। जीव के निकल जाने पर शरीर के पंच तत्त्व क्षिति, जल, अग्नि, आकाश, हवा जहाँ के तहाँ हो जाते हैं। जीव शरीर से निकल कर परलोक में चला जाता है, जहाँ रात दिन, पवन आदि नहीं।

हैं। जायसी की प्रवृत्ति है कि लौकिक कहानी में जहाँ-कहीं भी उन्हें अवसर मिल जाय वे दार्शनिक और आध्यात्मिक तथ्य का 'आभास दे दें' नहीं तो तोता तो उनकी आध्यात्मिक कथा में गुरु का प्रतीक है, जीव के अर्थ में उनका यह प्रयोग केवल प्राप्त अवसर का सदुपयोग मात्र है। सूफी मत में विरह की महत्ता अधिक है, जब कहीं भी इन्हें किसी प्रकार के विरह का अवसर मिला उनका भावुक हृदय प्रकट हो जाता है। 'को रे मिलावे आनि' में विरह की मर्मस्पर्शिता स्पष्ट है। विरह की अलौकिकता का भी संकेत विद्यमान है—'जहाँ न राति दिवस है जहाँ न पौन न पानि'।

अलंकार- समासोक्ति।

[६६]

सुअें तहां दिन दस कलि काटी। आइ बिआध ढुका लै टाटी॥
पैग पैग भुइं चांपत आवा। पंखिन्ह देखि सबन्हि डर खावा॥
देखहु कछु अचरिजु अनभला। तरिवर एक आवत है चला॥
एहि बन रहत गई हम आऊ। तरिवर चलत न देखा काऊ॥
आजु जो तरिवर चल भल नाहीं। आवहु एहि बन छांड़ि पराहीं॥
वै तो उड़े और बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका॥
साखा देखि राज जनु पावा। बैठ निचिंत चला वह आवा॥
पांच बान कर खोंचा, लासा भरे सो पांच।
पांख भरे तनु अरुझा, कत मारे बिनु बांच॥६६॥

शब्दार्थ—आइ=आकर। कलि=आराम से। बिआध=व्याध, बहेलिया। ढुका=पहुँचा। टाटी=जाल। पैग=पग, पद। भुइं=भूमि। चांपत=दबाता। अनभल=अकल्याणकर। आऊ=आयु। काऊ=किसी। पराहीं=भागें। औरु=और, दूसरा। ताका=देखा। खोंचा=चिड़िया फँसाने का लम्बा बांस जिसके सिरे पर डंडियाँ लगी रहती हैं। इन डंडियों को साखें कहते हैं। इनमें लासा लगा रहता है। बान=बाण, शाखायें। लासा=एक लसदार वस्तु जिसका प्रयोग बहेलिया करता है, लासा पक्षियों के पंखों में चिपट जाता है और वह जीता ही पकड़ा जाता है। तनु=शरीर। अरुझा=उलझा। कत=कैसे। बांच=बचा।

अर्थ—तोते ने वहां दस दिन तक आराम से बिताया। जब एक बहेलिया जाल लेकर आ पहुँचा। वह भूमि पर चुपके-चुपके पैर दबाये आया, पक्षियों ने उसे देखकर बड़ा भय अनुभव किया। प्रतीत होता है आते हुए बहेलिया अपने को छिपाने और पक्षियों को फँसाने के लिये पेड़ की डालियों और लताओं को अपने ऊपर रख कर चलता था, उसे देखकर पक्षियों ने आपस में कहा कि एक अकल्याणकर आश्चर्य की बात दिखाई पड़ती है; क्योंकि

एक वृक्ष चलता हुआ दिखाई पड़ रहा है। हमें इस वन में रहते आयु बीत गयी पर हमने कभी वृक्ष को चलते हुए नहीं देखा था। अतः आज जो पेड़ चल रहा है तो वह कुछ भला नहीं हो सकता, चलो इस वन को छोड़ कर भाग चलें। इस पर वे सब पक्षी तो उड़ चले, उन्होंने दूसरे वन की राह ली, पर पंडित सुआ भूल करके हतबुद्धि हो गया। उसने फल से लदी हुई शाखाओं को देखकर ऐसा समझा मानो उसे राज्य मिल गया हो, निश्चिन्त होकर आकर उन शाखाओं पर बैठ गया। इन शाखाओं में बहेलिया ने पाँच डंडियों का बान या साँकर रखा हुआ था। इन पाँचों में लासे लगे थे। इसमें पड़ते ही तोते के पंख फँस गये और शरीर उलझ गया। फिर भला यह मृत्यु के बिना कैसे बच सकता है?

टिप्पणी—अन्तिम दोहे में आकर जायसी पुनः संसार की ओर संकेत कर ही देते हैं। **"पाँच बान कर खोंचा, लासा भरे सो पाँच"** *निश्चय है पंचेन्द्रिय और उनके आकर्षक गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की ओर संकेत करते हैं। विषयेच्छा मन को भ्रम में डाल देती है और जो उसमें फँस जाता है वह बच नहीं सकता।*

अलंकार—समासोक्ति।

[७०]

बँदि भा सुआ करत सुख केली। चूरि पाँख धरि मेलेसि डेली॥
तहवाँ बहुल पंखि खरभरहीं। आपु आपु कहँ रोदन करहीं॥
बिख दाना कत दैय अँकूरा। जेहि भा मरन डहन धरि चूरा॥
जौं न होति चारा कै आसा। कत चिरिहार ढुकत लै लासा॥
एइँ बिख चारै सब बुधि ठगी। औ भा काल हाथ लै लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला। चूरे पाँख जस तन फूला॥
यहु मन कठिन मरै नहिं मारा। जार न देखु, देखु पै चारा॥
हम तौ बुद्धि गँवाई, बिख चारा अस खाइ।
तूँ सुअटा पंडित हता, तूँ कत फाँदा आइ॥७०॥

शब्दार्थ—करत=करते हुए। केली=खेल। डेली=झाबा। चूरि=चूर कर। मेलेसि=डाल दिया। खरभरहीं=खलबलाते थे, फड़फड़ाते थे। रोदन=रोना। बिख=विष। दैय=दैव, ईश्वर। अंकूरा=अंकुरित किया, उगाया। डहन=डैना, पर। कै=का। आसा=आशा। चिरिहार=चिड़ीमार। ढुकत=आता। एइँ=इसी। चारै=चारा से। भा=हुआ। लगी=लग्गी, लम्बा बाँस। जार=जाल।

अर्थ—सुख और आनन्द से रहने वाला सुआ बन्धन में पड़ गया। व्याध ने उसके पंख चूर कर उसे अपने झाबे में डाल दिया। वहाँ बहुत से पक्षी फड़फड़ा रहे थे और अपने-अपने को रो रहे थे। वे कहते थे कि विषैले दाने को ईश्वर ने क्यों उगाया जिससे पक्षी मारे गए और उनके डैने चूर्ण हुए। यदि हमें चारे (भोजन) का लोभ न होता तो बहेलिया

क्यों लासा लेकर आता ? इसी विषैले चारे (दाने) ने ही सबकी बुद्धि ठग ली और बहेलिया हाथ में बाँस लेकर काल बन गया। मन इस झूठी माया में भूल गया। उनके पंख ऐसे ही चूर्ण हुए जैसे कि मन दाने (चारे) को देखकर प्रसन्न हुआ था। यह लोभी मन बड़ा कठिन है, मारने से मारा नहीं जा सकता। यह जाल नहीं देख पाता, केवल दाने को देखता है। उन पक्षियों ने पंडित तोते से कहा कि हम लोगों ने विष रूपी दाने को खाकर अपनी-अपनी बुद्धि गँवा दी, पर तू तो पंडित तोता था। तू किस प्रकार इस जाल में फँस गया।

नोट—इस छन्द में भी पूर्व छन्द की ही विचारधारा चल रही है।

अलंकार—रूपक (बिख-दाना) तथा समासोक्ति।

[७१]

सुऐं कहा हमहूँ अस भूले। टूट हिंडोर गरब जेहिं भूले॥
केरा के बन लीन्ह बसेरा। परा साथ तहँ बैरी केरा॥
सुख कुरिआर फरहरी खाना। बिख भा जबहिं बिआध तुलाना॥
काहेक भोग बिरिख अस फरा। अड़ा लाइ पंखिन्ह कहँ धरा॥
होइ निचिंत बैठे तेहि अड़ा। तब जाना खोंचा हिय गड़ा॥
सुखी चिंत जोरब धन करना। यह न चिंत आगे है मरना॥
भूले हमहु गरब तेहि माहाँ। सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ॥

चरत न खुरुक कीन्ह तब, जब सो चरा सुख सोइ।
अब जो फाँद परा गियँ, तब रोएँ का होइ॥७१॥

शब्दार्थ—हिंडोर=हिंडोला, झूला। केरा=केला। बैर=बेरी। कुरिआर=कुरलना, शब्द करना। फरहरी=फलाहार। बिआध=बहेलिया। तुलाना=आ पहुँचा। काहेक=क्यों। बिरिख=वृक्ष। फरा=फला। अड़ा=अड्डा (बहेलिया अड्डा बनाकर उसमें लासा लगाता है। फिर उसे हरी डालों से ढक देता है, पक्षी उसे डाल समझ कर बैठता और फँस जाता है); पाठान्तर-आड़=ओट। खोंचा=बाँस। गड़ा=गड़ गया। चिंत=चिन्ता। चरत=खाते हुए। खुरुक=चिन्ता। गियँ=ग्रीवा, गर्दन।

अर्थ—तोते ने कहा, हम भी इसी प्रकार भूल गये जैसे आप लोग भूले थे। पर वह गर्व का हिंडोला टूट गया जिसके गर्व में हम भूले हुए थे। हमने केले के वन में बसेरा किया पर वहाँ पर केले के साथ कँटीली बेर भी थी। केले और बेर का साथ ठीक नहीं होता, बेर के कांटे केले के मुलायम पत्तों को छेदते रहते हैं। तात्पर्य यह कि जहाँ हम अच्छा समझ कर गये, वहीं दुःख भी छिपा बैठा था। हमें केवल कूजना और फलों के खाने का ही काम था। पर वह सब खाना तब विष हो गया जबकि बहेलिया वहाँ आ पहुँचा। वह सुख का वृक्ष इस प्रकार क्यों फला? वहाँ चिड़ीमार ने जाल लगा कर पक्षियों को पकड़ लिया। हम

तो उस अड्डे पर भी निश्चिन्त ही बैठे थे पर उस हम तभी समझ सके जब व्याध का बाँस आकर हमारी छाती में गड़ गया। जीव की प्रकृति यह है कि वह सुख की अवस्था में धन के जोड़ने में ही चिन्तित रहता है, वह यह चिन्ता नहीं करता कि उसे आगे मरना भी है। हम भी इसी गर्व में भूल हुए थे और जिससे हमने सब कुछ प्राप्त किया वह भूल गया। जब मैं खाने लगा और उसका सुख पाने लगा तब हमने आगे की चिन्ता नहीं की, तो अब जब गले में फंदा पड़ गया तो रोने से क्या हो सकता है ?

अलंकार—रूपक।

[७२]

सुनि कै उतर आँसु सब पोंछे। कौनु पंख बाँधा बुधि ओछे॥
पंखिन्ह बुधि जौं होति उज्यारी। पढ़ा सुआ कत धरति मँजारी॥
कत तीतर बन जीभ उघेला। सकति हँकारि फाँदि गियँ मेला॥
ता दिन ब्याध भएउ जिउ लेवा। उठे पाँख भा नाउँ परेवा॥
भै बिआधि तिस्ना संग खाधू। सूझै भुगुति, न सूझ बिआधू॥
हमहिं लोभ ओइँ मेला चारा। हमहिं गरब वह चाहै मारा॥
हम निचिंत वह आउ छपाना। कौन बिआधहि दोख अपाना॥
सौ औगुन कत कीजै, जिउ दीजै जेहि काज।
अब कहना कछु नाहीं, मस्ट भलो पँछिराज॥७२॥

शब्दार्थ—उघेला=खोली। सकति=शक्ति। हँकारि=बुलाकर। फाँदि=फंदा। गियँ=ग्रीवा, गला। तिस्ना=तृष्णा। खाधू=खाद्य, भोजन। ओइ=उसी। मस्ट=मौन।

अर्थ—तोते के उत्तर को सुन कर सब आँसू पोंछने लगे और बोले कि किसने हमारे शरीर में पंख लगाए और बुद्धि ओछी दी ? यदि पक्षियों को उज्ज्वल बुद्धि होती तो क्या पढ़े-लिखे तोते को बिल्ली पकड़ सकती—अर्थात् इतना चतुर तोता भी बिल्ली के पकड़े जाने के डर से साधारण पक्षी की तरह डर कर क्यों भागता ? तीतर पक्षी में भी बुद्धि नहीं होती, नहीं तो भला वह क्यों अपनी जीभ खोल कर शक्ति को बुलाता और अपनी गर्दन फंदे में डालता (तीतर यदि बोले नहीं तो चिड़ीमार उसका कैसे पता पावे और फँसावे)। इसलिए हम पक्षियों का तो चिड़ीमार उसी दिन जान लेने वाला हो गया जिस दिन हमें पंख मिले और हम पक्षी कहलाये। तात्पर्य यह कि पक्षी तो चिड़ीमार के लिए ही पैदा किये गये हैं। तृष्णा के साथ खाना ही हमारे लिये व्याधि है क्योंकि हमें चारा ही दिखाई पड़ता है। पास ही बैठा हुआ व्याध नहीं दिखाई पड़ता। हममें लोभ है, इसीलिए हमें फँसाने के लिए वह चारा डालता है। हममें अपने पर गर्व है इसीलिए वह हमें मारना चाहता है। हम निश्चिन्त हो गये तभी तो व्याध आकर छिप गया, व्याध का उसमें क्या

दोष है—सारा दोष तो अपना ही है। वह अवगुण हम क्यों करें जिसके लिये प्राण देना पड़ता है। इसलिए हे पक्षिराज ! अब कुछ कहना नहीं है, मौन साधना हा अच्छा है।

----

६. रत्नसेन-जन्म खंड

[७३]

चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोटि चित्र जेइँ साजा॥
तेहि कुल रतनसेनि उजिआरा। धनि जननी जनमा अस बारा॥
पंडित गुनि सामुद्रिक देखहिं। देखि रूप औ लगन बिसेखहिं॥
रतनसेनि एहि कुल औतरा। रतन जोति मनि माथें बरा॥
पदिक पदारथ लिखी सो जोरी। चांद सुरुज जस होइ अँजोरी॥
जस मालति कहँ भँवर बियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी॥
सिंघल दीप जाइ ओहि पावा। सिद्ध होइ चितउर लै आवा॥
भोग भोज जस मानैं, विक्रम साका कीन्ह।
परखि सो रतन पारखी, सबै लखन लिखि दीन्ह॥७३॥

शब्दार्थ—कोटि=कोट, किले की दीवार, परकोटा। चित्र=चित्रित किया; बुर्ज, कंगूरे आदि से सजाया। अस=ऐसा। बारा=बालक। सामुद्रिक=लक्षण। बिसेखहिं = विचार करते है। पदिक=हार के बीच का टिकरा, पैंडेल, पद्मावती, पाठान्तर-पदुम=पद्मावती। अँजोरी=उजेला। बिक्रम=विक्रमादित्य। साका=पराक्रम, यश, शक विजय के पश्चात् संवत्सर की स्थापना। लखन=लक्षण।

अर्थ—चित्रसेन चित्तौड़गढ़ के राजा थे। उन्होंने किला बनाकर उसे अनेक प्रकार बुर्ज, कंगूरे आदि से सुसज्जित किया। उसके वंश में रत्नसेन का (पुत्र रूप में) उजेला हुआ। वह माँ धन्य है जिसने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया। पंडित लोग सोच-विचार कर उसके लक्षण देखने लगे, रूप और लगन देख करके विचार करने लगे। उन लोगों ने कहा कि इस कुल में रत्नसेन ने अवतार लिया, उसके मस्तक में रत्न-ज्योति और मणि चमकती है। हार के पदिक स्वरूप पद्मावती इसकी जोड़ी लिखी हुई है। इन दोनों का संयोग चाँद और सूर्य जैसा उजेला करेगा। जिस प्रकार मालती के लिए भौंरा वियोगी होकर उड़ता है, उसी प्रकार उसके (पद्मावती के) लिए यह जोगी होगा। सिंहलद्वीप जाकर उसको यह प्राप्त करेगा, फिर वहाँ से सिद्ध होकर उसे चित्तौड़ ले आयेगा। राजा भोज की भाँति भोग करेगा और राजा विक्रमादित्य की भाँति इसका यश फैलेगा। पारखी पंडितों ने इस रत्न को परख कर सभी लक्षणों को लिख दिया।

अलंकार—मुद्रा।

७. बनिजारा खंड

[७४]

चितउर गढ़ क एक बनिजारा। सिंघल दीप चला बैंपारा ॥
बाँभन एक हुत नष्ट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैंपारी ॥
रिनि काहू कर लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहँ गएँ होइ किछु बाढ़ी ॥
मारग कठिन बहुत दुख भए। नाँघि समुद्र दीप ओहि गए ॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत, किछु दीख न थोरा ॥
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाउ, निधनी मुख हेरा ॥
लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई। सहसन्हि केर न कोई ओनाई ॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना, औ घर कीन्ह बहोर।
बाँभन तहाँ लेइ का, गाँठि साँठि सुठि थोर ॥७४॥

शब्दार्थ—क=का। बनिजारा=सं० वाणिज्यकार-व्यापारियों का समूह। बैंपारा =व्यापार। बाँभन=ब्राह्मण। हुत=था। पुनि=पुनः, फिर। रिनि=ऋण। काहू= किसी। कर=हाथ। लीन्हेसि=लिया। काढ़ी=निकाला, उधार लिया। मकु=शायद, चाहे। किछु=कुछ। बाढ़ी=बढ़ती, वृद्धि। भए=हुए। नांघि=लाँघ कर। ओहि=उस। ओरा=ओर, अन्त। सुठि=सुन्दर। बनिज=वाणिज्य। तहँ केरा= वहाँ का। पाउ=पाता है। निधनी=निर्धन। हेरा=देखता है। केर=की। ओनाई= झुकना, कम होना। बेसाहना=खरीदना। बहोर=लौटना। लेइ का=क्या ले। गाँठि= गाँठ में, हाथ में। साँठि=(सं० संस्था)-पूँजी। सुठि=(सं० सुष्ठु)-बहुत। थोर=थोड़ी।

अर्थ—चित्तौड़ गढ़ का एक वणिकों का काफिला सिंहलद्वीप में व्यापार के लिए चला। उसमें एक निर्धन भिखारी ब्राह्मण भी था, अन्य व्यापारियों को चलते हुए देखकर वह भी चल पड़ा। किसी से उसने ऋण ले लिया, उसे आशा थी कि शायद उसे वहाँ जाने से कुछ लाभ हो जायगा। रास्ते में उसे बहुत से कठिन दुःखों का सामना करना पड़ा। सभी व्यापारी समुद्र को लाँघ कर उस द्वीप में गये। बाजार को देखने पर उसका ओर-छोर ही नहीं सूझ पड़ता था। वहाँ सभी वस्तुएँ बहुत थीं, थोड़ी वस्तु कोई न थी—अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ ही थीं, कम कीमती कोई वस्तु न थी। वहाँ पर ऊँचा व्यापार था अतः धनी तो उसमें अपनी वस्तुएँ पा जाता था और निर्धन व्यक्ति मुँह देखता रह जाता था। वहाँ पर लाखों और करोड़ों की वस्तुएँ बिकती थीं—कोई हजार के लिए नहीं झुकता, अर्थात् हजार में कोई वस्तु नहीं मिलती। सब लोगों ने अपनी-अपनी खरीद की और घर के लिए लौट पड़े। पर वह ब्राह्मण क्या खरीदे क्योंकि उसके पास तो पूँजी बहुत थोड़ी थी।

पूरा किया लिसानो नहुरत न आइ हट।

[७५]

झुरवै ठाढ़, कहाँ हौं आवा। बनिज न मिला, रहा पछितावा॥
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ। मूर गँवाइ चलेउ तेहि बाटाँ॥ जीवन रूपी पूँजी लेकर आता है।
का मैं मरन सिखावन सिखी। आएउँ मरै, मीचु हुति लिखी॥
अपने चलत न कीन्हि कुबानी। लाभ न दोख, मूर भौ हानी॥
का मैं बोवा जरम ओहि भूँजी। खाइ चलेउँ घरहू कै पूँजी॥
जेहि बेवहरिआ केर बेवहारू। का लै देब जौं छेंकिहि बारू॥
घर कैसे पैठब मैं छूँछें। कौन उतर देबेउँ तिन्ह पूँछें॥
साथ चला सत बिचला, भए बिच समुँद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं, तूँ बिधि देहि अधार॥७५॥

शब्दार्थ—झुरवै=चिन्तन करना, सोचना। ठाढ़=खड़ा होकर। बनिज=वाणिज्य। मूर=मूलधन। बाटाँ=बाट, मार्ग। मीचु=मृत्यु। हुति=थी। कुबानी=कुवणिज्य, बुरा व्यापार। बोवा=बोया। भूँजी=भोगता हूँ। बेवहरिआ=(सं० व्यावहारिक) उधार देने वाला, महाजन। बेवहारू=कर्ज। छेकिहि=घेरेगा। बारू=द्वार। पैठब=घुसूँगा। उतर=उत्तर। देबेउँ=दूँगा। साथ=(सं० सार्थ) अनेक व्यापारियों का समूह, बनिजारा। सत=सत्य, धर्म। बिचला=छोड़ा।

अर्थ—एक जगह पर खड़ा होकर ब्राह्मण चिन्ता करने लगा कि यहाँ कहाँ आ गया? मुझे रोजगार की कोई वस्तु नहीं मिली, केवल पश्चात्ताप ही हाथ रहा। लाभ सोच कर इस बाजार में आया था पर मूलधन भी खोकर उसी रास्ते लौटा। क्या मैंने मृत्यु की शिक्षा सीखी थी और यहाँ मरने आया था, क्या मेरे भाग्य में मृत्यु ही लिखी हुई थी? जहाँ तक मुझ से हुआ मैंने बुरा व्यापार नहीं किया, फिर भी मुझे लाभ नहीं दिखलाई पड़ा। मूल की भी हानि ही मुझे हुई। मैंने क्या बोया था? इस जन्म में उसी का परिणाम भोग रहा हूँ, में तो घर की भी पूँजी खाकर चला हूँ। मैंने जिस महाजन से आते समय उधार लिया था उसको मैं क्या दूँगा जब वह हमारे द्वार को घेर लेगा? लौट कर खाली हाथ घर में कैसे घुसूँगा? और जब वे लोग पूछेंगे तो क्या उत्तर दूँगा? व्यापारियों के काफिले में मैं भी चल पड़ा था, अपने सत् (धर्म) को छोड़ दिया, (ब्राह्मण होकर बनिये का काम करने चला)। समुद्र और पहाड़ों के बीच हुआ और रास्ते के कष्टों को सहा, पर अब मेरी आशा निराशा हो गयी। लौटने जा रहा हूँ, हे ईश्वर! मुझे सहारा दे।

टिप्पणी—इस पद में भी जायसी मनुष्य जीवन की ओर संकेत कर रहे हैं। यह संसार एक हाट है। यहाँ पर सुकर्मों का ही वाणिज्य होता है। जो लोग सुकर्म करते हैं वे तो वाणिज्य में लाभ उठाते हैं, उन्हें इस जीवन के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त होता है, पर जो सुकर्म नहीं कर पाते वे अपने मूलधन

प्राप्त मनुष्य-जीवन को भी खो बैठते हैं। उन्हें मरते समय चिन्ता होती है कि मैंने सुकर्म नहीं किये, ईश्वर के घर पहुँचने पर मैं अपने कर्मों का क्या हिसाब दूँगा। यही सोच कर वह अत्यधिक पछताता है। जायसी का संकेत है कि मनुष्य को सत्कर्म करने चाहिएँ ताकि अन्त में पछतावा न हो।

[७६]

तबहि बिआध सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
बेंचै लाग हाट लै ओहीं। मोल रतन मानिक जहँ होहीं॥
सुआ को पूँछ पतिंग मँदारे। चल न देखि आछै मन मारे॥
बाँभन आइ सुआ सौं पूँछा। दहुँ गुनवंत, कि निरगुन छूँछा॥
कहु परबते जो गुन तोहि पाहाँ। गुन न छपाइअ हिरदै माहाँ॥
हम तुम्ह जाति बराभँन दोऊ। जातिहि जाति पूँछ सब कोऊ॥
पंडित हहु तो सुनावहु बेदू। बिन पूँछे पाइअ नहि भेदू॥
हौं बाँभन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ।
पढे के आगे जो पढ़ै, दून लाभ तेहि होइ॥७६॥

शब्दार्थ—बिआध=बहेलिया। लाग=लगा। पूँछ=पूँछता है। पतिंग=पक्षी। मंदारे=मंद, तुच्छ—पाठान्तर भंडारे=ढेर, झाबा। चलन=हाल। दहुँ=या। आछै=था। परबते=तोते। पाहाँ=पास। हहु=हो।

अर्थ—इसी समय बहेलिया तोता लेकर बाजार में आ गया। तोते का सुनहला रंग था और अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। वह उस बाजार में लाकर उसे बेचने लगा जहाँ माणिक्य, रत्नों और हीरों के मोल हो रहे थे। ऐसी जगह तुच्छ पक्षी को कौन पूछता? बाजार का ऐसा हाल देखकर वह पक्षी मन मारे बैठा था। ब्राह्मण ने आकर तोते से पूछा कि तुम्हारे पास कोई गुण भी है या बिना गुण के ही खाली पक्षी हो। ऐ तोते, जो गुण तेरे पास हों उन्हें कहो, गुण को हृदय में छिपाना नहीं चाहिए। मैं और तुम दोनों ही ब्राह्मण हैं, एक जाति के हैं। सब लोग अपनी ही जाति वाले को पूछते हैं। यदि तुम पंडित हो तो वेद सुनाओ, बिना पूछे भेद नहीं जाना जाता। मैं एक तो ब्राह्मण हूँ, फिर पंडित हूं, इसलिए जो गुण तुझ में हों, कह सुनाओ क्योंकि यदि विद्वान् के सामने कोई पढ़ाई-लिखाई (विद्वत्ता) की बात कही जाय तो उससे दूना लाभ होता है।

[७७]

तब गुन मोहि अहा, हो देवा। जब पिंजर हुँत छूट परेवा॥
अबगुन कवम जो बँदि जजमाना। घालि मँजूसा बेंचै आना॥
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा॥
दुइ मारग देखौ एहि हाटाँ। दैय चलावै दहुँ केहि बाटाँ॥

रोवत रकत भएउ मुख राता। तन भा पिअर कहौं का बाता॥
राते स्याम कंठ दुइ गीवाँ। तिन्ह दुइ फांद डरौं सुठि जीवा॥
अब हौं कंठ फाँद गिवँ चीन्हा। दहुँ के फाँद चाह का कीन्हा॥
पढ़ि गुनि देखा बहुत मैं, है आगें डरु सोइ।
धुंध जगत सब जानि कै, भूलि रहा बुधि खोइ॥७७॥

शब्दार्थ--अहा=था। हुँत=से। परेवा=पक्षी। बँदि=बंदी। जजमाना=यजमान, स्वामी। घालि=डाल कर। मँजूसा=मंजूषा (पोटली), झाबा। आना=लाकर। दैय=ईश्वर। दहुँ=पता नहीं। रकत=रक्त, लाल। राता=लाल। पिअर=पीला। कंठ=कंठी-काली और लाल लकीरें जो तोते के गले पर होती हैं। गीवाँ=ग्रीवा, गला। गिवँ=ग्रीवा, गला। चीन्हा=पहिचाना। धुंध=अन्धकार।

अर्थ—तोते ने उत्तर दिया—हे देव! मेरे पास गुण तो तब था जब मैं पिंजरे से मुक्त स्वतंत्र पक्षी था। अब मुझमें कौन सा गुण है, जब कि मैं अपने स्वामी का बंदी हूं। जो मुझे झाबे में डालकर बेचने को ले आया है। जो पंडित होता है वह बाजार में बिकने को नहीं आता, अब तो मैं केवल बिकना चाहता हूँ, मेरा सारा पढ़ा-लिखा भूल गया है। अब तो मुझे सामने दो मार्ग दिखाई पड़ते हैं। पता नहीं ईश्वर किस पर चलायेगा। दो मार्ग से तात्पर्य यह कि अच्छा या बुरा—उसका मतलब यह कि या तो किसी भले के हाथ पड़कर बन जायेंगे या किसी बुरे के हाथ पड़ कर मारे जायेंगे। मेरे गले में लाल और काली दो कंठियां, लकीरें हैं; उन्हीं फंदों से अपने जीवन के लिए डरता हूँ। अब मैंने अपने गले के इन कंठों को पहचाना है, पता नहीं ये फंदे क्या करना चाहते हैं? मैंने पढ़कर और मनन करके देख लिया कि आगे मेरे लिए भय है, अब तो मुझे संसार में अँधेरा ही है, ऐसा जानकर मैंने अपनी बुद्धि ही खो दी है।

[७८]

सुनि बाँभन बिनवा चिरिहारू। करु पंखिन्ह कहँ मया न मारू॥
कत रे निठुर जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डरु आवा॥
कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मँसु खवा॥
आवहिं रोइ, जाहि कै रोवना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोवना॥
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखहिं माँसु पराएँ माँसू॥
जौं न होत अस पर मँस खाधू। कत पंखिन्ह कहँ धरत बिआधू॥
जौं रे ब्याध पंखी निति धरई। सो बेंचत मन लोभ न करई॥
बाँभन सुआ बेसाहा, सुनि मति बेद गरन्थ।
मिला आइ कै साथिन्ह, भा चितउर के पंथ॥

शब्दार्थ—चिरिहारू=चिड़ीमार। मया=दया। परावा=दूसरे का। खाधुक=

खाने वाले-पाठान्तर-का दोस जनावा। पर मँसु=दूसरे का मांस। खवा=खाने वाले। जाहि=जाता है। कत=क्यों। बेसाहा=खरीदा। गरंथ=ग्रन्थ।

अर्थ—तोते के ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मण चिड़ीमार से विनय करने लगा कि तुम इन पक्षियों पर दया करो, इन्हें मारो मत। हे निष्ठुर तू! दूसरे की जान क्यों मारता है, तुझे हत्या का कोई डर नहीं लगता? इस पर बहेलिये ने कहा—पक्षी को खाने वाले तो मनुष्य हैं, अतः निष्ठुर उनको कहना चाहिए जो दूसरे का मांस खाने वाले हैं (मैं तो केवल पकड़ने वाला हूँ)। मनुष्य रोकर ही इस संसार में आता (जन्म लेता) है और रोकर ही इस संसार से जाता है। फिर भी वह संसार के भोग, सुख और सोने को नहीं छोड़ता। साथ ही वह यह भी जानता है कि उसका शरीर एक दिन नाश को अवश्य प्राप्त होगा, फिर भी दूसरे के मांस से अपने मांस का पोषण करता है। यदि इस प्रकार के दूसरे के मांस खाने वाले न होते तो बहेलिया पक्षियों को क्यों पकड़ता? व्याध जितने पक्षियों को रोज पकड़ता है उन्हें बेच देता है, मन में किसी प्रकार का लोभ नहीं करता। तात्पर्य यह है कि व्याध तो अपनी आजीविका के लिए पक्षी पकड़ता और बेचता है, उसे पक्षियों के प्रति कोई लोभ या मोह नहीं है, उनके मारने का वह दोषी नहीं है।

तब ब्राह्मण ने तोते की मति, उसके वेद आदि ग्रन्थों के ज्ञान आदि देख सुनकर तोते को खरीद लिया और अपने मित्रों से आ मिला और वापसी के लिए चितौड़ के रास्ते पर आ गया।

नोट—सूफी मांसाहार के पक्षपाती नहीं होते, इन पंक्तियों में जायसी ने अपने मांसाहार-विरोध को व्यक्त किया है।

[७९]

तब लगि चित्रसेनि सिव साजा। रतनसेनि चितउर भा राजा॥
आइ बात तेंहि आगें चली। राजा बनिज आव सिंघली॥
हहिं गजमोंति भरीं सब सीपी। औरु वस्तु बहु सिंघल दीपी॥
बाँभन एक सुआ ले आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँठा। राते डहन लिखे सब पाटा॥
औ दुइ नैन सोहावन राता। राता ठोर अमिय रस बाता॥
मस्तक टीका, काँध जनेऊ। कबि बिआस, पंडित सहदेऊ॥

बोल अरथ सों बोले, सुनत सीस पै डोल।
राजमँदिर महँ चाहिअ, अस वह सुआ अमोल॥७९॥

शब्दार्थ—तब लगि=तब तक। सिव साजा=शिवपुरी (स्वर्ग) की तैयारी की,

मर गया[1]। भा=हुआ। बनिज=वाणिज्य, व्यापार का सामान। हहिं=हैं। राते=लाल। डहन = डैने। पाठा=नीति और धर्मपरक वे उपदेश जो सुर्खी से हस्तलिखित प्रतियों में लिखे जाते थे। ठोर = चोंच (बात की ठौर)। सहदेऊ = पञ्च पाण्डवों में सहदेव जी अपनी पंडिताई के लिए प्रसिद्ध थे।

अर्थ—तब तक (जितने दिनों में चित्तौड़ के व्यापारी सिंहलद्वीप गये और लौटे) राजा चित्रसेन स्वर्गवासी हो गया और चित्तौड़ में रत्नसेन राजा बना। राजा के सामने इस प्रकार की बात चली कि हे राजा सिंहल द्वीप से व्यापार का सामान आया है जिसमें गजमुक्ताओं से भरी सीपियाँ हैं तथा और सिंहलद्वीपी वस्तुएँ हैं। एक ब्राह्मण एक तोता ले आया है जो सुनहले रंग का अत्यन्त ही सुन्दर है। उसके लाल और काली दो कँठियाँ कंठ में हैं। उसके डैने भी लाल-लाल हैं, मानो वे नीतिपरक सुर्खियों में लिखे पाठ हैं। उसके दो सुन्दर-सुन्दर लाल-लाल आँखें हैं, उसकी चोंच भी लाल है जिसमें से अमृत रस की बातें निकलती हैं। उसके मस्तक पर एक टीका और कंधे पर जनेऊ की लकीरें बनी हैं, वह ज्ञान में कवि व्यास और सहदेव जी के सदृश पंडित है। बोलने पर वह अर्थ बोलता है कि जिसे सुनकर प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्नता से शीश डुलाने लगता है। वह तोता ऐसा मूल्यवान् है कि उसे तो राजमहल में ही होना चाहिए।

[८०]

भई रजाएसु जन दौराए। बाँभन सुआ बेगि लै आए॥
बिप्र असीसि बिनती औधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा॥
पै यह पेट भएउ बिसवासी। जेहिं नाए सब तपा सँन्यासी॥
दारा सेज जहाँ जेहि नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिव बाहीं॥
अंध रहै जो देख न नैना। गूँग रहै, मुख आव न बैना॥
बहिर रहै, सरवन नहिं सुना। पै एक पेट न रह निरगुना॥
कै कै फेर अंत बहु दोषी। बारहिं बार फिरै, न सँतोषी॥
सो मोहिं लिहें मँगावै, लावै भूख पिआस।
जौं न होत अस बैरी तौ, केहि काहू कै आस॥८०॥

शब्दार्थ—औधारा=किया। निरारा=न्यारा, अलग। बिसवासी=विश्वासघाती। नाए=नवाये, झुकाया। तपा=तपस्वी। दारा=स्त्री-पाठान्तर-डासन=बिस्तर। लाइ=

१. मध्यकालीन भारत में शैवराज्यों में एक प्रथा थी जिसमें मरण के उपरान्त राजाओं के लिए शिव मंदिर का निर्माण किया जाता था और उसमें शिव लिंग की स्थापना की जाती थी। इससे यह माना जाता कि मृत-व्यक्ति शिव में लीन हो गया।

(पद्मावत—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७८।)

लगाकर। गिव=ग्रीवा, गर्दन। बाहीं=बाँह। निरगुन=स्वाभाविक गुण से रहित। कै कै=कर कर के। फेर=चक्कर। बारहिबार=द्वार-द्वार। लिहें=लिये हुए।

अर्थ—राजा की आज्ञा हुई, मनुष्य दौड़ाये गये। वे लोग ब्राह्मण और तोते को शीघ्र ही ले आये। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया और विनती की कि तोता तो मेरी जान है इसे अलग नहीं करना चाहता, पर यह पेट बड़ा विश्वासघाती है, इसी पेट ने सब तपस्वियों और संन्यासियों को भी झुकाया है। मनुष्य को बिस्तर आदि जहा नहीं मिलते वहाँ वह गले के नीचे अपनी बाँह रखकर जमीन में ही सो जाता है, जिसके आँख नहीं होती वह अंधा ही जीवन बिता लेता है, जो गूँगा होता है वह बिना वाणी के ही रह जाता है, बहरा सुनता ही नहीं। ये सब चल जाते हैं पर पेट अपने स्वाभाविक गुण (भूख) को कभी नहीं छोड़ता, पेट की क्रिया सबको चलानी ही पड़ती है। अनेक चक्कर करके मनुष्य अन्त में दोषी बनता है, द्वार-द्वार दुनिया में चक्कर लगाता है, उसे कहीं भी संतोष नहीं होता। यह पेट ही मुझे लेकर सब जगह जाता है और सबके सामने मँगवाता है, भूख और प्यास को लाता है, यदि यह वैरी पेट न होता तो क्यों कोई किसी की आशा रखता ?

टिप्पणी—सूफी निस्पृह होता है। ऐहिकता की ओर उसकी दृष्टि नहीं होती फिर भी संसार को छोड़कर वह नहीं जाता। इसका मूल कारण वह बुभुक्षा को मानता है।

[८१]

सुअँ असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू ॥
भागवंत बड़ बिधि औतारा। जहाँ भाग तहँ रूप जोहारा ॥
कोउ केहु पास आस कै गौना। जो निरास दिढ़ आसन मौना ॥
कोउ बिनु पूँछे बोल जो बोला। होइ बोल माँटी के मोला ॥
पढ़ि गुनि जानि बेद मत भेऊ। पूँछी बात कही सहदेऊ ॥
गुनी न कोई आपु सराहा। जौं सो बिकाइ कहा पै चाहा ॥
जौं लहि गुन परगट नहिं होई। तौ लहि मरम न जानै कोई ॥
चतुर बेद हौं पंडित, हीरामनि मोहि नाउँ।
पदुमावति सो मेरवौं, सेव करौं तेहि ठाउँ ॥८१॥

शब्दार्थ—साज्=ठाट-बाट, वैभव। रूप=सौंदर्य। जोहारा=प्रणाम करता है औतारा=उतारा है, बनाया है। गौना=गमन किया। दिढ़=दृढ़। भेऊ=भेद। सहदेऊ=सहदेव-सहदेव जी की यह आदत थी कि जानते हुए भी बिना पूछे नहीं बताते थे। मेरवौं=मिलाऊँ।

अर्थ—तोते ने राजा को आशीर्वाद दिया कि तेरा बड़ा ठाट-बाट हो, बड़ा प्रताप हो और राज्य अखंडित हो। ईश्वर ने तुझे बड़ा भाग्यवान् बनाया है। जहाँ भाग्य होता है वहाँ रूप स्वयं प्रणाम करता है, अर्थात् तुझमें जहाँ भाग्य है वहीं अपूर्व रूप भी है। जब

कोई किसी के पास जाता है तो कोई आशा लेकर ही जाता है, जिसे किसी प्रकार की आशा किसी से नहीं है वह अपने आसन पर दृढ़ है और शान्त है। यदि कोई बिना पूछे ही कुछ बोल उठे तो उसके बोलने का मूल्य मिट्टी के बराबर होता है। पढ़कर, मन में गुनकर और वेद का मत और भेद समझ करके भी सहदेव जैसे पंडित पूछने पर ही कहते थे, विना पूछे कभी न कहते थे। गुणी स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करता; पर जो बिकता है, वह तो कहना ही चाहता है क्योंकि जब तक उसका गुण प्रकट न होगा तब तक उसके मर्म को कोई नहीं जान सकता। तोते का तात्पर्य यह है कि यद्यपि मैं गुणी हूँ, अनेक ज्ञान को जानने वाला हूँ और गुणी के स्वभाव के अनुसार कहना नहीं चाहता पर आपके हाथ बिकना चाहता हूँ अतः कुछ निवेदन अवश्य करूँगा। वह कहता है कि—मैं चतुर हूँ, वेद का पंडित हूँ, मेरा नाम हीरामन है। मैं आपसे पद्मावती को मिला दूँगा। उसी के पास रह कर सेवा किया करता हूँ।

[८२]

रतनसेनि हीरामनि चीन्हा। एक लाख बाँभन कहँ दीन्हा॥
बिप्र असीसा, कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमँदिर महँ आना॥
बरनौं काह सुआ कै भाषा। धनि सो नाउँ हीरामनि राखा॥
जौं बोलै तौ मानिक मूँगा। नाहिं तौ मौन बाँध होइ गूँगा॥
जौं बोले राजा मुख जोवा। जनहु मोति हिअ हार पिरोवा॥
जनहुँ मारि मुख अंब्रित मेला। गुर होइ आपु, कीन्ह चह चेला॥
सुरुज चाँद कै कथ्या कहा। पेम क गहन लाइ चित रहा॥
जो जो सुनै धुनै सिर राजा, प्रीति क होइ अगाहु।
अस गुनवंत,नाहिं भल सुअटा, बाउर करिहै काहु॥८२॥

शब्दार्थ—चीन्हा=पहचाना। आना=ले आया। जौं=जब। जोवा=देखता था। पिरोवा=गुँथा हुआ। मारि=बेशुमार बहुत। अंब्रित=अमृत। चह=चाहना-पाठान्तर-जग। कथ्या=कथा। सुरुज-चाँद=सूर्य-चन्द्र, प्रेमी-प्रेमिका। गहन=ग्रहण, प्रेम की लगन। अगाहु=स्थान, अनुभूति।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने हीरामन को पहचान लिया कि सचमुच वह गुणी है। उसने ब्राह्मण को एक लाख मुद्रायें दीं। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद देकर प्रस्थान किया। वह तोता राजमहल में लाया गया। जायसी कहते हैं कि मैं उस तोते की वाणी का क्या वर्णन करूँ, उसका हीरामनि नाम जिसने रखा वह धन्य है। जब कुछ वह बोलता है तो माणिक्य और मूँगे जैसे अनमोल बचन ही कहता है, नहीं तो मौन साध कर मूक ही रहता है। जब वह बोलने लगता है तो राजा उसका मुख देखता था मानो उसके हृदय में मोती का हार गूँथा गया हो। इतनी मिठास थी उसकी वाणी में मानो उसके मुख में

बहुत सा अमृत डाला गया हो। उसकी बोली से लगता है कि गुरु सदृश होकर औरों को शिष्य बनाना चाहता है, उसकी उपदेशात्मक बोली से गुरुत्व टपकता है। उसने सूर्य-चाँद जैसे प्रेमी और प्रेमिकाओं की कथा कही, उसे सुनकर राजा प्रेम को ग्रहण करके चित्त लगाये सुनता रहा। प्रकारान्तर से सूर्य-चन्द्र से जायसी का संकेत रत्नसेन और पद्मावती से भी है। उसने संकेत से राजा से पद्मावती के प्रेम की चर्चा की जिसे सुनकर राजा में प्रेम की लगन उत्पन्न हो गई। उसे ज्यों-ज्यों सुनता है राजा सिर धुनने लगता है। राजा में प्रेम की अनुभूति होने लगी। यह देखकर कवि कहता है कि ऐसा गुणी तोता अच्छा नहीं, क्योंकि यह तो किसी को बावला कर देगा।

टिप्पणी—जायसी ने तोते को साधना मार्ग का गुरु बनाया है। ८१ वें पद में भी तोते के मुख से गुरु के ज्ञान की व्यंजना करवाई थी, गुरु संकेत से ही अपना ज्ञान प्रकाशित करता है, गुण के प्रकाश हो जाने पर साधक उसे पहचानता है और बड़ी श्रद्धा से उसकी ओर बढ़ता है तथा उसके उपदेशों में मन लगाता है। इस पद की प्रथम पंक्ति में रत्नसेन (साधक) गुरु को पहचान लेता है, गुरु के महत्व को दिखाने के लिए राजा उसे एक लाख मुद्रा में खरीदता है। गुरु के ज्ञान का संकेत माणिक्य, मूंगा और अमृत के द्वारा कवि ने किया है, उसके गुरुत्व को भी स्पष्ट कर दिया है। यह साधना प्रेममार्गी है अतः उसने प्रेम की कथा कह कर राजा में अथाह प्रीति उत्पन्न कर दी। मतवालापन सूफी प्रेम की विशेषता है, उसका संकेत दोहे के अन्तिम चरण में जायसी ने कर दिया है।

८. नागमती-सुआ-संवाद खंड

[८३]

दिन दस पाँच तहाँ जो भए। राजा कतहुँ अहेरें गए।।
नागमती रुपवंती रानी। सब रनिवास पाट परधानी।।
कै सिंगार दरपन कर लीन्हा। दरसन देखि गरब जियँ कीन्हा।।
भलेहि सो और पिआरी नाहाँ। मोरे रूप कि कोइ जग माँहाँ।।
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी। दीन्हि कसौटी औ बनवारी।।
सुआ बान वहु कहु कसि सोना। सिंघलदीप तोर कस लोना।।
कौन दिस्टि तोरी रुपमनी। दहु हौं लोनि, कि वै पदुमिनी।।
जौं न कहसि सत सुअटा, तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महँ, मोरें रूप समान।।८३।।

शब्दार्थ—कतहुँ=कहीं। अहेरें=शिकार। कै=करके। भलेहि सा और पिआरी नाहाँ-पाठान्तर—बोलहु सुआ पिआरे-नाहाँ। सो नारी=वह स्त्री, सुनार का स्त्री सुनारिन।

बनवारी[1]-पाठान्तर पनवारी। बान (वर्ण)=रंग ('कनकहिं बान चढ़े जिमि दाहे'-तुलसी) दहुँ-किधौं=कैसा है। लोना=सुन्दर। दिस्टि=भाँति। रुपमनी=सुन्दरी। आन=सौगन्ध।

अर्थ—जब वहाँ पर दस-पाँच दिन हो गये तो राजा कहीं पर शिकार को गया। राजा रत्नसेन की रानी नागमती रूपवती और रनिवास में पटरानी थी। उसने शृङ्गार करके हाथ में दर्पण लिया, अपना रूप देखकर उसने अपने मन में बड़ा घमण्ड किया। सोचने लगी कि भले ही और रानियाँ अपने पति को प्यारी हों पर मेरे रूप की क्या कोई संसार में हो सकती है ? हँसती हुई वह स्त्री तोते के पास पहुँची। उसने सुनारी स्त्री की भाँति कसौटी और कसने वाली सलाइयों को रखकर पूछा कि हे सुआ ! तू कसौटी पर कस करके बता कि मेरा सौंदर्यरूपी सोनार कैसा है ? तेरे सिंहलद्वीप में कैसी सुन्दरता है ? तुम्हारी सुन्दरी किस भाँति की है, मैं अधिक सुन्दर हूं या तुम्हारी पद्मिनी। यदि तू सच न कहे तो तुझे राजा की सौगन्ध है। तू बतला कि क्या संसार में कोई मेरे रूप के समान है या नहीं।

[८४]

सँवरि रूप पदुमावति केरा। हँसा सुआ रानी मुख हेरा॥
जेहि सरवर महँ हंस न आवा। बकुली तेहि जल हंस कहावा॥

---

१. डा० वासुदेवशरण जी ने इस शब्द का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है—संक्षेप में उसका आशय इस प्रकार है—

'बनवारी' शब्द संस्कृत में 'वर्णमालिका' था। बनवारी उन शलाकाओं को कहते थे जिनके सिरे पर भिन्न-भिन्न वर्ण या शुद्धि के सोने की छोटी-छोटी गोलियाँ लगी रहती थीं। श्रीधर कृत पाटी गणित (नवीं शती) के अनुसार सोलह बान के शुद्ध सोने से चौथाई-चौथाई बान घटाते हुए हर प्रकार के सोने की दो-दो माशे की गोलियाँ सिरे पर लगाकर शलाकाएँ बना ली जाती थीं। बान का मापदण्ड दो प्रकार का था, एक सोलहबानी, दूसरा बारहबानी। कौटिल्य के समय से हिंदू युग तक सोलहबानी सोना खरा मान जाता था। किन्तु जायसी में प्रायः बारहबानी सोने का उल्लेख हुआ है। बारहबानी माना की स्वर्ण शुद्धि मुसलमानी काल में आरम्भ हुई। सोना कसने के लिए दो वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी, एक तो बानवारी शलाकाओं की और दूसरे कसौटी की। जिस सोने की परीक्षा की जाती थी उसको कसौटी पर खींचकर फिर हर एक बान की बनवारी सलाई की रेखा खींचकर दोनों को मिलाते थे; और जिस बान से सोने की रेखा का रंग मिल जाता था, वह सोना उसी बान का समझा जाता था। बारहबानी शुद्धि मान के अनुसार बारहबानी का सोना सबसे शुद्ध और छः बान का सबसे निकृष्ट समझा जाता था।

दैयँ कीन्ह अस जगत अनूपा। एक एक तें आगरि रूपा॥
कै मन गरब न छाजा काहू। चाँद घटा औ लागा राहू॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहा। लोनी सोइ कंत जेहि चहा॥
का पूँछहु सिंघल की नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी॥
पुहुप सुगंध सो तिन्ह के काया। जहाँ माँथ का बरनौं पाया॥
गढ़ी सो सोने सोंधै, भरी सो रूपै भाग।
सुनत रूखि भै रानी, हिएँ लोन अस लाग॥८४॥

शब्दार्थ—हेरा=देखा। बकुली=बगली (मादा बगला)। आगरि=बढ़ कर। छाजा=शोभित होता। काहू=किसी को भी। लोनि=लावण्यवती। बिलोनि=असुन्दरी। सोंधै=सुगन्धित। रूखि=रुष्ट हो गई, सूख गई। हिएँ=हृदय में। लोन=नमक।

अर्थ— पद्मावती के रूप का स्मरण करके और नागमती के रूप को देखकर तोता हँस पड़ा। उसने कहा कि जिस तालाब में हंस नहीं आता वहाँ पर बगुली ही हंस कही जाती है। परमेश्वर ने ऐसा अनुपम जगत् बनाया है कि यहाँ पर एक से एक बढ़कर रूप हैं। घमण्ड किसी को भी शोभा नहीं देता। चन्द्रमा अति सुन्दर है पर वह भी घट जाता है और उसे राहु ग्रसता है। इस संसार में सुन्दरी और असुन्दरी कौन है ? सुन्दरी तो वही है जिसे पति चाहे। सिंहल की स्त्री के विषय में क्या पूछती हो, दिन की समता अन्धेरी रात नहीं कर सकती। उनके शरीर से फूल की बास आती है, भला माथे के समान पैर कैसे कहा जा सकता है ? सिंहल द्वीप की नारी तो सुगन्धित सोने से गढ़ी गयी है, और उसमें सौंदर्य और सौभाग्य भरे गये हैं। तोते के ऐसे वचन सुन कर रानी सूख गई, उसके हृदय में जैसे नमक लग गया हो।

टिप्पणी—इस पंक्ति में मनोवैज्ञानिक सत्य द्रष्टव्य है। रानी नागमती का गर्व करना और तोते से पूछना स्वाभाविक है। सौंदर्य की व्याख्या भी अनूठी है—"लोनी सोइ कंतु जेहि चहा।" 'एक ते एक आगरि रूपा" *भी उसी प्रकार सुन्दर उक्तियाँ हैं।*

अलंकार—उपमा, दृष्टान्त।

[८५]

जौं यह सुआ मँदिर महँ रहई। कबहूँ कि होइ राजा सौं कहई॥
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी। छाड़ै राज चलै होइ जोगी॥
बिख राखै नहिं, होइ अँगूरू। सबद न देइ बिरह तवँचूरू॥
धाइ धामिनी बेगि हँकारी। ओहि सौंपा, जिअ रिसि न सँभारी॥
देखु यह सुअटा है मँदचाला। भएउ न ताकर जाकर पाला॥
मुख कह आन, पेट बस आना। तेहि औगुन दस हाट बिकाना॥
पंखि न राखिअ होइ कुभाखी। तहँ लै मारु, जहाँ नहिं साखी॥

जेहि दिन कहँ हौं निति डरौं, रैनि छपावौं सूर ।
लै चह दीन्ह कँवल कहँ, मोकहँ होइ मँजूर ।। ८५ ।।

शब्दार्थ—अँगूरू-पाठान्तर, अँकूरू = अंकुर । तवँचूरू-तमचुर=मुर्गा । धाइ= दौड़ कर । धामिनी=दासी का नाम । हँकारी=बुलाया । आन=दूसरा । मारु=मारो । साखी = साक्षी, गवाह । कँवल=पद्म (पद्मावती) । मँजूर-मयूर=मोर (मोर पक्षी नाग का शत्रु है, यहाँ नाग से भाव नागमती है) ।

अर्थ—नागमती सोचने लगी कि यदि यह तोता राजमहल में रहेगा तो कभी तो यह बात राजा से कह देगा । इस बात को सुनकर राजा वियोगी हो जायेगा, राज्य छोड़कर जोगी बनकर चला जायगा । विष को न रखना चाहिए; उसमें कहीं अँकुर न फूट आवें । ऐसा न हो कि यह मुर्गे की भाँति बोलकर राजा में विरह जगा दे । दौड़कर उसने शीघ्र ही अपनी दासी धामिनी को बुलाया और उसे तोते को सौंप दिया क्योंकि वह अपने में क्रोध को संभाल न सकती थी । उसने कहा—देखो यह तोता बड़ी बुरी चाल वाला है, जिसने इसको पाला उसी का भला करने वाला यह न हुआ । यह मुख से और कहता है, इसके पेट में कुछ और बसता है, इसी दुर्गुण के कारण तो यह दस बाजारों में बिका है । इस कुभाषी पक्षी को न रखना चाहिए, इसे ले जाकर ऐसी जगह पर मार डालो जहाँ कोई देखने वाला न हो । मैं जिस दिन के लिए रोज डरती हूँ, रात्रि में सूर्य को छिपा रखती हूँ, उसी को यह कमल-से मिलाना चाहता है । अर्थात् सूर्य रूप जो रत्नसेन है उसे मैं अपने प्रेम से छिपाये हूँ, अपने सौंदर्य की माया में उसे सुला रक्खा है, यह उसे कमल (पद्म) रूपी पद्मावती से मिलाना चाहता है । [ऊपर भी जायसी ने राजा को रात्रि (नागमती के सौन्दर्य के मोह) में सोया हुआ कहा है, मुर्गा बनकर तोता उसे जगा न दे । कमल में पद्मावती की व्यंजना है—कमल और सूर्य का प्रेम कवि-प्रसिद्धि में है ।] यह मेरे लिये मोर बनना चाहता है । जायसी ने नागमती में नाग (सर्प) की व्यंजना रक्खी है, सर्प का मोर शत्रु है, इसीलिए नागमती कहती है कि यह तो मेरा शत्रु हो रहा है ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, श्लेष ।

[८६]

धाइ सुआ लै मारैं गई । समुझि गिआन हिएँ मति भई ।।
सुआ सो राजा कर बिसरामी । मारि न जाइ चहै जेहि सामी ।।
यह पंडित खंडित बैरागू । दोस ताहि, जेहि सूझ न आगू ।।
जौं तिवाईं कै काज न जाना । परै धोख, पाछें पछिताना ।।
नागमती नागिनि बुधि ताऊ । सुआ मँजूर होइ नहिं काऊ ।।
जो न कंत के आएसु माहाँ । कौनु भरोस नारि के नाहाँ ।।
मकु एहि खोज होई निसि आई । तुरै रोग हरि मायें जाई ।।

दुइ सो छपाए ना छपैं, एक हत्या औ पापु।
अंतहु करहिं बिनास ये, सैं साखी दै आपु ॥८६॥

शब्दार्थ—धाइ=धाय; दासी। मारै=मारने। बिसरामी=विश्राम देने वाला। आगू=आगे, भविष्य। तिवाई=पाठान्तर-तिरया=स्त्री। मकु=सम्भव है। ('गगन मगन मकु मेघहि मिलई'—तुलसी) तुरै=घोड़ा। हरि=बन्दर। तुरै···जाई—लोगों का विश्वास है कि घोड़ों का रोग बन्दर पर चला जाता है। इसलिए जब घोड़े बीमार होते थे तो घुड़साल में बन्दर रख दिये जाते थे, जिससे रोग बन्दर पर चला जाय और घोड़ा बच जाय। सैं=स्वयं। साखी (साक्षी)=गवाह।

अर्थ—धाय तोते को मारने तो गयी पर समझकर उसके हृदय में यह बुद्धि पैदा हुई कि तोता तो राजा को आराम देने वाला है, जो स्वामी का प्रिय है उसे मारा नहीं जा सकता। यह तोता तो पण्डित है, मालूम होता है इसके वैराग्य के खंडित हो जाने के कारण ही इस जन्म में इसे तोता होना पड़ा है। दोष तो उसका है जिसे भविष्य नहीं सूझता। जो व्यक्ति स्त्री-जाति का कार्य नहीं जानता वही धोखे में पड़ता है और पीछे पछताता है। नागमती तो अवश्य ही नागिनी बुद्धि की है—दूसरे को मारना चाहती है। तोता किसी के लिए मयूर (शत्रु) नहीं बन सकता। जो स्त्री अपने पति की आज्ञा में नहीं है, भला उसका पति उस पर क्या विश्वास करेगा? सम्भव है रात आते ही तोते की खोज की जाय और तब घोड़े का रोग बन्दर पर जाय। अर्थात् रानी का दोष मेरे ऊपर पड़े और मैं ही मारी जाऊँ। दो वस्तुएँ एक हत्या, और दूसरे पाप, छिपाये नहीं छिपतीं, अन्त में वे ही विनाश कराती हैं और स्वयं उसके पाप की साक्षी बन जाती हैं।

[८७]

राखा सुआ, धाइ मति साजा। भएउ खोज निसि आएँ राजा ॥
रानी उतर मान सौं दीन्हा। पंडित सुआ मँजारी लीन्हा ॥
मैं पूँछा सिंघल पदुमिनी। उतरु दीन्ह, तूँ को नागिनी ॥
वै जस दिन, तूँ निसि अँधियारी। जहाँ बसंत, करील को बारी ॥
का तोर पुरुष रैनि को राऊ। उलू न जान देवस कर भाऊ ॥
का वह पंखि कोटि महँ कोटी। अस बड़ बोल जीभ कह छोटी ॥
रुहिर चुअै जब जब कह बाता। भोजन बिनु भोजन मुख राता ॥
माथें नहिं बैसारिअ, सठहि सुआ जौं लोन।
कान टूट जेहि अभरन, का ले करब सो सोन ॥८७॥

शब्दार्थ—मति साजा=विचार करके। मान सौं=घमण्ड से। कोटि=धनुष का सिरा, जो टेढ़ा होता है, दोष, टेढ़ा (पाठान्तर-कूट-कालकूट विष)। कोटि महँ कोटी=टेढ़ों में टेढ़ा। रुहिर (रुधिर)=खून पाठान्तर-जहर। अभरन=आभरण, गहना।

बैसारिग्र=बिठाते ।

अर्थ—धाय ने अपनी मति को निश्चय करके तोते को छिपा रक्खा । रात को जब राजा आया तो तोते की खोज हुई । रानी ने बड़े तपाक से उत्तर दिया कि पंडित सुए को बिल्ली ने पकड़ लिया । मैंने उससे सिंहल की पद्मिनी के विषय में पूछा था । उस पर उसने उत्तर दिया था कि तुम नागिनी के समान कौन हो ? सिंहल की पद्मिनी दिन के सदृश तो तू रात को अँधेरी के समान है, कहाँ वसन्त और कहाँ करील की कँटीली झाड़ी ? और तेरा पति ही क्या है—वह तो रात का स्वामी है, उल्लू दिन का भाव नहीं जान सकता। इसलिए वह पक्षी क्या था, टेढ़ों में टेढ़ा । उस छोटी जिह्वा से बहुत बड़ी-बड़ी बातें करता था। उसकी लाल चोंच पर संकेत करके कहती है कि जब-जब वह बात करता था उसके मुख में से खून टपकता मालूम पड़ता था। बिना किसी भोजन के भी उसका मुख लाल था । दुष्ट तोता यदि सुन्दर हो जाय तो उसे मत्थे पर नहीं बिठाना चाहिए, जिस आभूषण से कान ही टूट जाय उस सोने को लेकर क्या करेंगे ?

अलंकार—उत्प्रेक्षा—रुहिर चुग्रै······रात ।

दृष्टान्त—कान टूट ······सोन ।

[८८]

राजै सुनि बियोग तस माना । जैसे हिएँ बिक्रम पछिताना ॥
वह हीरामनि पंडित सुग्रा । जौं बोलै तौ अंब्रित चुग्रा ॥
पंडित दुख खँडित निरदोखा । पंडित हुतें परै नहि धोखा ॥
पंडित केरि जीभि मुख सूधी । पंडित बात न कहै निबूधी ॥
पंडित सुमति देइ पँथ लावा । जो कुपंथ तेहि पँडित न भावा ॥
पंडित राते बदन सरेखा । जो हत्यार रुहिर पै देखा ॥
कै परान घट आनहु मती । कै चलि होहु सुग्रा सँग सती ॥
जनि जानहु कै औगुन, मँदिर होइ सुख साज ।
आएसु मेटि कंत कर, काकर भा न अकाज ॥ ८८ ॥

शब्दार्थ—बिक्रम=विक्रमादित्य—राजा विक्रमादित्य के सम्बन्ध में एक कहानी है कि उसके पास भी एक हीरामन तोता था । उसने राजा को एक दिन एक फल दिया और कहा कि जो उसे खायेगा वह कभी बूढ़ा न होगा । राजा ने वह फल बगीचे में बोने को दिया । उससे पेड़ हुआ और उसमें जो पहला फल लगा उसे माली राजा की सेवा में लाया। राजा ने वह फल रानी को दिया । रानी ने परीक्षा के लिए फल का थोड़ा-सा भाग एक कुत्ते को दिया । कुत्ता मर गया । बात यह थी कि फल जब गिरा था तो उसमें एक साँप ने अपना विष डाल दिया था । राजा ने तोते को मरवा डाला । कुछ दिन पीछे उस वृक्ष में एक और फल लगा । मालिन रूठी हुई थी । उसने उस फल को मरने के लिए खाया, वह

बूढ़ी से जवान हो गई। उसने पति को भी एक फल खिला कर नवयुवक बना लिया। राजा को यह सुनकर पश्चात्ताप हुआ।

हुतें=से। निबूधी=बुद्धि से रहित, विचारशून्य। सरेषा=चतुर। मती=नागमती।

अर्थ—राजा यह सुनकर हृदय में ऐसा दुःखी हुआ जैसे राजा विक्रमादित्य तोते का मरवा कर पछताया था। उसने कहा—वह हीरामनि पंडित सुआ जब बोलता था तो अमृत टपकता था। वह पंडित था, दुःख को नष्ट करने वाला और निर्दोष था, पंडित से कोई धोखा नहीं हो सकता। पंडित के मुख में जीभ सीधी होती है, वह कभी विचारशून्य बात नहीं कहता। पंडित सुमति देकर सत्पथ पर लाता है पर जो कुपंथ पर है उसे पंडित अच्छा नहीं लगता। पंडित चतुर व्यक्ति होता है, उसका मुख लाल होता है पर जो हत्यारा होता है उसमें खून दिखाई पड़ता है। हे नागमती! या तो मेरे प्राणस्वरूप तोते को लाओ, नहीं तो चलकर तोते के साथ तुम भी सती हो। यह मत समझो कि बुरा करके राजमहल में सुख से रहोगी, पति की आज्ञा को मिटाकर भला किसकी हानि नहीं होती?

[८९]

चाँद जैस धनि उजिअरि अही। भा पिउ रोस गहन अस गही॥
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवाँ जब हारी॥
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा॥
ऐसें गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पिआरी सोई॥
रानी आइ धाइ के पासाँ। सुआ भुआ सेंवर कै आसाँ॥
परा प्रीति कंचन महँ सीसा। बिथरि न मिलै, स्याम पै दीसा॥
कहाँ सोनार पास जेहि जाऊँ। देइ सोहाग करै एक ठाऊँ॥
मैं पिय प्रीति भरोसे, गरब कीन्ह जिअ माहँ।
तेहि रिसि हौं परहेलिउँ, निगड़ रोस किअ नाहँ॥ ८९॥

शब्दार्थ—धनि=स्त्री। उजअरि=उज्ज्वल। अही=थी। गहन=ग्रहण। पारी=सकी। दोहाग=दुर्भाग्य (सोहाग का विलोम)। विरचि=करके—पाठान्तर-लागि=लिए। भुआ=सेमर का फल जिसमें रुई होती है। परा=पड़ा। कंचन=सोना। सीसा=एक काले रंग की धातु। विथरि—पाठान्तर बिछुरि, बिहरि=अलग। स्याम=काला। दीसा-दिखाई पड़ता है। सोनार=स्वर्णकार-पाठान्तर-सोनारि=वह औरत। देई=देकर। सोहाग=सोहागा, सौभाग्य। परहेलिउँ=अवहेलना की गयी। निगड़ (सं० निगड)=निःसीम, अत्यधिक—पाठान्तर-रूसेउ नागर नाँह=पति असन्तुष्ट हो गया।

अर्थ—रानी नागमती चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और प्रसन्न थी, राजा के क्रोध करने पर मानो उस पर ग्रहण लग गया। वह अपने बड़े सोहाग का निर्वाह न कर सकी,

जब सेवा से विचलित हुई तो उसका दुर्भाग्य आ गया। वह सोचने लगी कि इतने ही दोप के करने पर पति रूठ गया। जो पति को अपना कहे वह झूठा (व्यर्थ) है। ऐसे गर्व पर किसी को भूल न जाना चाहिए, पति की तो वास्तव में प्यारी वही है जो पति से बहुत डरती रहती है। रानी धाय के पास इस प्रकार आई जैसे तोता आशा लगा कर सेमर के फल पर आता है। कवि कहता है कि प्रीति रूपी सोने में सीसा पड़ गया, जिससे सोने का रंग स्पष्ट नहीं होता, वह काला दिखाई पड़ता है। सोनार रूपी वह स्त्री कहाँ मिलेगी जिसके पास मैं जाऊँ और जो सोहागा रूपी मेरा सोहाग दे कर हमें पति से मिला दे। जिस प्रकार सीसे के पड़ जाने से सोना दो टुकड़े हो जाता है, उसमें कालिमा दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार इस समय मैं अपने पति से अलग हो गयी हूँ, मेरा प्रेम दूषित हो गया है, सोनार जैसे सोहागा डाल कर सोने को जोड़ देता है उसी प्रकार वह कौनसी नारी है जो मेरे सुहाग को देकर मुझे अपने प्रियतम से मिला दे। मैंने अपने पति के प्रेम के भरोसे पर बड़ा गर्व किया था उसी क्रोध के कारण अब मेरी अवहेलना हुई। अब मेरे पति ने अत्यन्त क्रोध किया है।

टिप्पणी—यहाँ पर जायसी ने प्रेम के स्वरूप की अच्छी व्याख्या की है, प्रेम का असली स्वरूप आध्यात्मिक है। मनुष्य भगवान् से प्रेम तो कर सकता है, पर अभिमान का उस प्रेम में स्थान नहीं है। प्रेमी प्रतिक्षण परमेश्वर से डरता रहे तभी तक कुशल है। लौकिक पक्ष में यह ठीक घटित है। भारतीय पत्नीत्व का स्वरूप जायसी ने यहाँ खींचना चाहा है।

अलंकार—उपमा— { **चाँद जैस धनि……गही।**
सूआ ……सेंवर कै आस।

श्लेष—सोनार, सोहाग।

रूपक—परा प्रेति… …एक ठाऊँ।

[९०]

उतर धाइ तब दीन्ह रिसाई। रिसि आपुहि, बुधि औरहि खाई॥
मैं जो कहा रिसि करहु न बाला। को न गएउ एहि रिसि कर घाला॥
तूँ रिसि भरी न देखसि आगू। रिसि महँ काकर भएउ सोहागू॥
बिरस बिरोध रिसिहि पै होई। रिसि मारै, तेहि मार न कोई॥
जेहि की रिसि मरिए, रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै॥
जेहि रिसि तेहि रस जोगै न जाई। बिनु रस हरदि होइ पिअराई॥
कंत सोहाग कि पाइअ साँधा। पावै सोइ जो ओहिं चित बाँधा॥
रहै जो पिय के आएसु, औ बरतै होइ खीन।
सोइ चाँद अस निरमरि, जरम न होइ मलीन॥ ९०॥

शब्दार्थ—उतर=उत्तर। रिसि=क्रोध। घाला=फेंका हुआ, मारा हुआ। आगू=भविष्य, परिणाम। का कर=किसका। बिरस=अनबन। रस=प्रेम, (यहाँ पर रिस

के विलोम रूप में प्रयुक्त है। 'देव' ने भी इसी अर्थ में एक जगह प्रयोग किया है—रस रिस रास रोस, आसरो सरन विसे बीसो विसवास रोकि राख्यो निसिवासरो)। जीजै=जीते हैं (मारे मरिय जिवाये जीजै। तासों कबहुँ बैर नहिं कीजै-तुलसी)। जोगें=बचाना (अमिय मूरि निमि जोगवत रहऊँ—तुलसी)। हरदि=हल्दी। पियराई=पीला होना, निष्प्रभ होना। साँधा=मेल, एक में जोड़ना। सुहाग=सौभाग्य, सुहागा (प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता—कालिदास-कुमार संभव—प्रियतम का सौभाग्य प्राप्त कर लेना ही स्त्रीत्व का सौंदर्य है)। आएसु=आज्ञा। बरतै=व्यवहार करे। खीन-पाठान्तर-हीन=क्षीण, नम्र। निरमरि=निर्मल। जरम पाठान्तर-जनम=जीवन।

अर्थ—तब धाय ने क्रुद्ध होकर कहा कि क्रोध अपने को और बुद्धि दूसरे को मारती है (अवधी का मुहावरा है—रिसि खाइ अपुनै, बुद्धि खाइ आनै)। मैंने तो पहले ही कहा था, कि हे रानी क्रोध न करो, भला कौन इस क्रोध से मारा नहीं जाता। तू क्रोध में भरी थी, परिणाम तुम्हें नहीं दिखाई पड़ता था, सोचना चाहिए कि भला क्रोध में किसका सौभाग्य बन सकता है। क्रोध में तो विरस और विरोध ही पैदा होता है, यदि कोई क्रोध को मार ले तो उसे कोई नहीं मार सकता। भला जिसके क्रोध से मरते हैं और प्रेम से जीते हैं, उस प्रेमी के रस को छोड़कर क्रोध कभी न करना चाहिए। जिसके भीतर रिस (क्रोध) है उससे रस (प्रेम) की रक्षा नहीं की जा सकती। प्रेम के अभाव में स्त्री के चेहरे पर पीलापन आ जाता है, तेज जाता रहता है। प्रियतम और सौभाग्य का मेल क्या प्राप्त किया जा सकता है? उसको तो वही पा सकती है जिसका चित्त उसी पति में बँधा है। जो पति की आज्ञा में रहती है और नम्र बनकर उसके प्रति व्यवहार रखती है, वही चन्द्रमा के समान निर्मल रहती है और जीवन में कभी मलिन नहीं होती।

अलंकार—उपमा—सोइ चाँद अस निरमरि।

[९१]

जुआ हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहँ आनी॥
मान मते हौं गरब जो कीन्हा। कंत तुम्हारा मरम मैं लीन्हा॥
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करहु बिनासा॥
जौं तुम्ह देइ नाइ कै गीवाँ। छाँड़हु नहिं बिनु मारें जीवाँ॥
मिलतहि महँ जनु अहहु निनारे। तुम्ह सौं अहै अदेस, पिआरे॥
मैं जाना तुम्ह मोही माहाँ। देखौं ताकि तौ हहु सब पाहाँ॥
का रानी का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भलि सोई॥
तुम्ह सौं कोई न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिलें आपु जो खोवै, करै तुम्हारा खोज॥ ९१॥

शब्दार्थ—मान मते=अभिमान की बुद्धि से-पाठान्तर-मानु पीय=हे पति मानो।

मरम=भेद। बरहौ=बारह। एतनिक=थोड़े से। नाइ कै=डाल कर। गीवां=ग्रीवा, गर्दन। ग्रहहु=हो। निनारे=ग्रलग। ग्रदेस=प्रणाम (पीछे इस शब्द का प्रयोग हो चुका है। कइ ग्रदेस सिद्धन्ह बड़ मान २२।५)। ताकि=ध्यान से देखकर। हहु=हो। पाहाँ=पास। मया=कृपा। वररुचि-भोज=राजा भोज की सभा में वररुचि नाम का विद्वान् था। सभा में सभी प्रकार के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ होते थे ग्रौर निर्णय किये जाते थे।

ग्रर्थ—रानी ने मन में समझ लिया कि वह प्रेम की बाजी हार गयी। उसने तोते को लाकर राजा को दे दिया ग्रौर कहा कि प्रेमाभिमान के कारण मैंने गर्व कर लिया था, हे पति मैंने तो तुम्हारा भेद लिया था कि तुम मुझे कितना चाहते हो? जो व्यक्ति बारहों मास ग्रापकी सेवा करता है उसे बहुत थोड़े दोष पर ही ग्राप मार सकते हो। जो ग्रपनी गर्दन तुम्हारे सामने डाल देता है उसे भी तुम बिना मारे नहीं छोड़ते। मिलते हुए भी जैसे तुम ग्रलग ही हो। हे प्रिय तुमसे तो प्रणाम ही है। मैं समझती थी कि तुम मुझी में हो, पर जब ध्यान से देखा तो देखती हूँ कि तुम तो सब में समाये हो। यहाँ पर जायसी ग्राध्यात्मिक ग्रौर ग्रलौकिक प्रणय की ग्रोर संकेत करते हैं। नागमती कहती है कि क्या रानी ग्रौर क्या दासी, जिस पर ग्राप कृपा करें वही ग्रच्छी है तुमसे कोई नहीं जीता, वररुचि ग्रौर भोज भी तुमसे हार गए। जो व्यक्ति पहले ग्रपने को खो दे, वही तुम्हारी खोज कर सकता है।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने ग्राध्यात्मिक रहस्य का ग्रच्छा संकेत किया है। ईश्वर निर्लिप्त है, वह तो सब में समाया ग्रौर सब के साथ समान व्यवहार कर सकता है, उस का ग्राध्यात्मिक प्रणय-प्रकाश सब में इस प्रकार समान रूप में पड़ सकता है जैसे एक सूर्य का प्रकाश घट-घट में समान रूप से पड़े। साधक परमेश्वर के प्रेम का एकाधिकारी नहीं, वह तो केवल उसकी कृपा मात्र का ग्रधिकारी है। उसके रहस्य को कोई नहीं जान सकता। परमेश्वर का प्रेम त्याग ग्रौर उत्सर्ग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि कबीर ने कहा है कि—

"यह तो है घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइं धरै, तब ग्रावै घर माहिं॥"

इसी प्रकार जायसी भी कहते हैं कि तुम्हारी खोज वही कर सकता है जो पहले ग्रपने को खो दे।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह पद महत्त्वपूर्ण है। नागमती ने सचमुच तोते को मरवाना चाहा था, पर जब उसे धाय से तोता मिल गया तो उस ने कैसा पैंतरा बदल कर कहा कि वह तो परीक्षा लेना चाहती थी। जायसी जी मनोविज्ञान के पंडित थे, त्रिया-चरित्र का उन्होंने सुन्दर उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया है।

ग्रलंकार—समासोक्ति।

राजा-सुआ-संवाद खंड

[६२]

राजें कहा सत्त कहु सुआ। बिनु सत कस जस सेंवर भुआ।।
होइ मुख रात सत्त की बाता। जहाँ सत्त तहँ धरम सँघाता।।
बाँधी सिस्टि अहै सत केरी। लछिमी आहि सत्त की चेरी।।
सत्त जहाँ साहस सिधि पावा। जौं सतबादी पुरुष कहावा।।
सत कहँ सती सँवारै सरा। आगि लाइ चहुँ दिसि सत जरा।।
दुइ जग तरा सत्त जेइँ राखा। औ पिआर दैअहि सत भाखा।।
सो सत छाँड़ि जो धरम बिनासा। का मति हिएँ कीन्ह सत नासा।।
तुम्ह सयान औ पंडित, असत न भाखहु काउ।
सत्त कहहु सो मोसों, दहुँ काकर अनियाउ।। ६२।।

शब्दार्थ—भुआ=सेमल का फल। रात=लाल, तेजयुक्त (सुर्खरू)। संघाता=साथ, समूह। सरा=चिता। दहुँ-(किधौं)=आखिर। का कर=किसका। अनियाउ=अन्याय, अपराध।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे तोते तू सच कह, सत्य के बिना मनुष्य ऐसा है जैसे सेमर का फल जो देखने में सुन्दर और आकर्षक लगता है पर उसमें रूई मात्र होती है। सत्य की बात कहने पर मुख पर चमक आती है, जहाँ सत्य है वहीं धर्म का साथ है। सारी सृष्टि ही सत्य की बाँधी है, लक्ष्मी भी सत्य की ही दासी है। जहाँ सत्य है वहीं साहस और वहीं सिद्धियाँ हैं, जो सत्यवादी है वही वास्तव में पुरुष कहा जाता है। सत्य के लिए ही सती चिता जलाती है और सत्य की रक्षा के लिए ही चारों ओर से आग लगा कर जल जाती है। जिसने सत्य की रक्षा की, उसके दोनों लोक बन जाते हैं। सत्यवादी देव (परमेश्वर) भी उसी को प्यार देता है। जो धर्म को नष्ट करता है वही सत्य को छोड़ता है, उसके हृदय में क्या बुद्धि है जिससे वह सत्य का नाश करता है। तुम तो चतुर और पंडित हो। किसी से असत्य नहीं कह सकते, मुझसे सत्य-सत्य कहो कि आखिर इसमें किसका अन्याय था।

टिप्पणी—जायसी ने सत की भी स्थल-स्थल पर प्रशंसाएँ की हैं।

[६३]

सत्त कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ।।
हौं सत लै निसरा एहि पतें। सिंघल दीप राज घर हतें।।
पदुमावति राजा कै बारी। पदुम गंध ससि बिधि औतारी।।
ससि मुख, अंग मलैगिरि रानी। कनक सुगंध दुआदस बानी।।
हैंहि जो पदुमिनि सिंघल माहाँ। सुगँध सुरूप सो ओहि की छाहाँ।।
हीरामनि हौं तेहि क परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा।।

ओ पाएउँ मानुस कै भाखा। नाहिं त कहाँ मूँठि भरि पाँखा॥
जो लहि जिओं रात दिन सुमिरौं, मरौं तो ओहि लै नाउँ।
मुख राता तन हरिअर कीन्हे, ओहूँ जगत लै जाउँ॥ ९३॥

शब्दार्थ—निसरा=निकला। पतें=प्रत्यय, बिश्वास, पाठान्तर-पथे, सते, बूते (बल)। हतें=से। बारी=बाला, लड़की। औतारी=बनाया। दुआदस बानी=बारह बानी, शुद्धतम सोना। हौं=मैं। तेहिक=उसी का। कंठा फूटा=गले में लकीरें बनीं, बाणी का चतुर बना। मूठि=मुट्ठी[1]।

अर्थ—तोते ने उत्तर दिया कि हे राजा! सत्य कहने से तो जान मारी जाती है, फिर भी मुख से असत्य कभी नहीं कह सकता। मैं सत्य ही लेकर इसी विश्वास के आधार पर सिंहल द्वीप के राजघराने से निकल पड़ा हूँ। सिंहलद्वीप के राजा की लड़की पद्मावती है। उसके शरीर से कमल की सुगन्ध निकलती है मानो ब्रह्मा ने कमल की गंध और चंद्रमा से ही उसे रचा है। उसका मुख चन्द्रमा के सदृश और अंग की खुशबू चन्दन के सदृश है, उसमें शुद्ध सोना और सुगन्ध है। सिंहलद्वीप में और भी जो पद्मिनी नारियाँ हैं वे सब सुगन्ध और स्वरूप में उसकी छाया सदृश हैं। मैं उसी का हीरामनि नाम का पक्षी हूँ, उसी की सेवा करते हुए मेरे गले में कंठी फूटी है और मुझे मनुष्य की बोली प्राप्त हुई है। नहीं तो मैं मुट्ठी भर पंखों वाला पक्षी ही हूँ। जब तक जीऊँगा, रात-दिन उसी का स्मरण करता रहूँगा और जब मरूँगा तब भी उसी का नाम लेकर मरूँगा। उसी ने मुझे लाल मुख वाला और हरे शरीर वाला बनाया है। दूसरे लोक को भी इस लाल मुख और हरे तन को लेकर जाऊँगा।

अलंकार—उपमा, रूपक।

[९४]

हीरामनि जौं कँवल बखाना। सुनि राजा होइ भँवर भुलाना॥
आगें आउ, पंखि उजिआरे। कहहि सो दीप पतंग कै मारे॥
रहा जो कनक सुबासित ठाऊँ। कस न होइ हीरामनि नाऊँ॥
को राजा, कस दीप उतंगू। जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि सो समुँद चखु भे किलकिला। कँवलहि चहौं भँवर होइ मिला॥
कहु सुगंध धनि कसि निरमरी। भा अलि संग, कि अबहीं करी॥
औ कहु तहाँ जो पदुमिनि लोनी। घर घर सब के होइ जसि होनी॥

१—किसी शायर ने इसी से मिलता-जुलता शेर कहा है :—

"मालूम है मुझे सब बुलबुल तेरी हकीकत,
एक मुश्त उस्तवाँ हैं, दो पर लगे हुए हैं।

ओ बुलबुल! तुझे मैं जानता हूँ कि तेरी असलियत क्या है? एक मुट्ठी पंख हैं और दो पर लगे हुए हैं।

सबैं बखान तहाँ कर, कहत सो मोसों आउ ।
चहौं दीप वह देखा, सुनत उठा तस चाउ ।। ९४ ।।

शब्दार्थ—दीप=द्वीप, दीपक । पतंग=पतंगा, शलभ । कनक सुवासित=सुगन्धित सोना (पद्मावती) । उतंगू=उत्तुङ्ग, उच्च । समुंद=समुद्र (पद्मावती) । किलकिला=क्षुब्ध समुद्र का एक रूप जिसका वर्णन आगे चलकर जायसी ने किया है—पुनि किलकिला समुंद महँ आए—१५५।१ । चख=चक्षु, नेत्र । धनि=स्त्री । निरमरी=निर्मल । अलि=भौंरा । करी=कली (अविकसित, अविवाहिता) । लोनी=सुन्दरी । होनी=होने वाले व्यवहार । चाव=उमङ्ग ।

अर्थ—हीरामनि ने ज्योंही उस कमल (पद्मावती) का वर्णन किया कि उसे सुन कर राजा भौंरे के समान मतवाला होकर सब कुछ भूल गया । उसने कहा कि ऐ उज्ज्वल श्रेष्ठ पक्षी ! आगे आओ (पास आओ), उस द्वीप रूपी दीपक का वर्णन करो । जो मेरे मन को पतंग बनाकर मार रहा है । तेरा, जो उस सुगन्धित स्वर्ण (पद्मावती) के स्थान पर रहा हो, नाम हीरामनि क्यों न हो । बताओ कौन वहां का राजा है, कैसा श्रेष्ठ वह दीप है जिसको सुनते ही मेरा मन पतंगा हो गया है । उस समुद्र रूपी पद्मावती को सुनकर मेरी आंखें भी किलकिला समुद्र की भाँति क्षुब्ध हो गयी हैं, वहीं मंडराना चाहती हैं । मैं भौंरा बनकर उस कमल रूपी पद्मावती से मिलना चाहता हूँ । बताओ कि वह सुगन्धित अंगों वाली स्त्री कैसी निर्मल है, उसका और भौंरे का साथ हुआ है या कि अभी बिलकुल अविकसित कली ही है । फिर उस द्वीप की सुन्दरी पद्मिनियों का वर्णन कर और उनके घर-घर में जो व्यवहार-बात हों उनको भी कह । मुझसे वहाँ की सभी वस्तुओं का वर्णन करता चल । मेरे हृदय में ऐसी उमंग उठ रही है कि मैं उस द्वीप को देखना चाहता हूँ ।

अलंकार—रूपक ।

[९५]

का राजा हौं बरनौं तासू । सिंघल दीप आहि कबिलासू ।।
जो गा तहाँ भुलानेउ सोई । गे जुग बीत न बहुरा कोई ।।
घर घर पदुमिनि छतिसौ जाती । सदा बसंत देवस औ राती ।।
जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी । तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी ।।
गन्ध्रपसेनि तहाँ बड़ राजा । अछरिन्ह माहँ इंद्र विधि साजा ।।
सो पदुमावति ताकरि बारी । औ सब दीप माहि उजिआरी ।।
चहूँ खण्ड के बर जो ओनाहीं । गरबन्ह राजा बोलै नाहीं ।।
उअत सूर जस देखिअ, चाँद छपै तेहि धूप ।
औसे सबै जाहिं छपि, पदुमावति के रूप ।। ९५ ।।

शब्दार्थ—कबिलासू=कैलाश, स्वर्ग। गा=गया। गे=गये। बहुरा=लौटा। छतिसौ=छत्तीसौं जाति, लोक में कुल जातियों की संख्या ३६ मानी जाती है, सभी। देवस=दिवस। अछरिन्ह=अप्सराओं। ओनाहीं=झुकते हैं। उअत=उगता हुआ। सूर=सूर्य।

अर्थ—तोता बोला कि हे राजा मैं उस द्वीप का क्या वर्णन करूँ, वह सिंहलद्वीप तो स्वर्ग है। वहाँ जो ही जाता है वही भुला जाता है, अनेक युगों के बीत जाने पर भी कोई आज तक वहाँ से नहीं लौटा (मुसलमान धर्म के अनुसार पुनर्जन्म नहीं होता)। वहाँ की सभी जातियों की स्त्रियाँ पद्मिनी जाति की नारियाँ हैं, वहाँ सदैव ही रात-दिन वसन्त की ही बहार रहती है। जितने रङ्गों के फूल फुलवाड़ी में होते हैं उतने रङ्गों की सुगन्धयुक्त नारियाँ वहाँ हैं। वहाँ पर गन्धर्वसेन नाम का महाराजा है, उसका साज-सौंदर्य ऐसा है मानो ब्रह्मा ने अप्सराओं के बीच इन्द्र बना रखा है। वह पद्मावती इसी राजा की बेटी है, वह सारे द्वीपों में प्रकाशित है। चारों खंडों के वर उसको पाने के लिए झुकते हैं पर वह गर्वीला राजा किसी से बोलता तक नहीं। सब देशों के राजकुमार पद्मावती के रूप के सामने इस प्रकार छिप जाते हैं, उनकी द्युति फीकी पड़ जाती है जैसे जब सूर्योदय होता है तो उसकी धूप से चन्द्रमा की द्युति फीकी पड़ जाती है और छिप जाता है। पद्मावती का बाल-सौन्दर्य उगते हुए सूर्य के समान है।

अलंकार—उपमा।

[९६]

सुनि रबि नाउँ रतन भा राता। पंडित फेरि इहै कहु बाता॥
तुइँ सुरंग मूरति वह कही। चित महँ लागि चित्र होइ रही॥
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिएँ परगसी॥
अब हौं सुरुज, चाँद वह छाया। जल बिनु मीन, रकत बिनु काया॥
किरिनि करा भा पेम अँकूरू। जौं ससि सरग, मिलौं होइ सूरू॥
सहसहुँ कराँ रूप मन भूला। जहँ जहँ दिस्टि कँवल जनु फूला॥
तहाँ भँवर जेउँ कँवला गंधी। भै ससि राहु केरि रिनि बंधी॥
तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहि सूझि।
पेम छाँड़ि किछु और न लोना, जौं देखौं मन बूझि॥९६॥

शब्दार्थ—रतन=रत्नसेन। राता=लाल, प्रसन्न। सुरंग=सुन्दर रङ्ग वाली। परगसी=प्रकाशित हुई। किरिनि=किरण। करा=कला। रिनि बंधी=किम्वदन्ती है कि चन्द्रमा राहु का ऋणी है अतः राहु अपने ऋण वसूल करने के लिए चन्द्रमा को घेरता है। लोग उस समय दान देकर राहु का ऋण चुकाते हैं। ऋण का बन्धन बड़ा दृढ़ होता है अतः रिनबंधी से तात्पर्य दृढ़ बन्धन से है। लोना=सुन्दर।

अर्थ—उस सूर्य सदृश पद्मावती का नाम सुनकर रत्नसेन अत्यन्त पुलकित हो उठा। उसने कहा कि हे पंडित सुए फिर से यही बात कहो। तुमने उस सुन्दर मूर्ति का वर्णन किया है कि चित्र बनकर वह मेरे चित्त में चढ़ गई है। मानो सूर्य होकर वह मन में श्राकर बस गयी है। सारे हृदय में उसी का प्रकाश व्याप्त हो गया है। श्रब तो मेरा श्रौर उसका श्रभिन्न सम्बन्ध इस प्रकार हो गया है जैसे सूर्य श्रौर उसकी छाया चांद का। जैसे जल के बिना मछली श्रौर रक्त के बिना शरीर नहीं रह सकता, इसी प्रकार श्रब मैं उसके बिना नहीं रह सकता। श्रब मेरे हृदय में प्रेम का श्रंकुर किरणों की कला के समान फूट निकला है। यदि पद्मावती स्वर्ग में रहने वाला शशी है तो मैं सूर्य बनकर उससे मिलूँगा। पर श्रब श्रपनी सहस्र किरणों से उस पर मैं भूल गया हूँ। जहाँ-जहाँ मेरी दृष्टि पड़ रही है वहीं फूला हुश्रा कमल (पद्मावती) दिखाई पड़ता है। भौंरा तो वहीं रहता है जहाँ कमल की सुगन्ध है, श्रब तो चन्द्रमा राहु के ऋण में बंध गया श्रर्थात् श्रब चाहे जो कुछ हो मैं तो उससे बँध गया। श्रब तो मुझे तीनों लोक श्रौर चौदहों भुवनों में यही दिखाई पड़ रहा है कि प्रेम को छोड़कर श्रौर कुछ भी सुन्दर नहीं है, यह मैंने श्रपने मन में श्रच्छी प्रकार समझ लिया है।

अलंकार—उपमा श्रौर रूपक। इस पद में जायसी ने सूर्य, चन्द्र श्रौर राहु के बड़े श्रव्यवस्थित सम्बन्ध जोड़े हैं।

[९७]

पेम सुनत मन भूलु न राजा। कठिन पेम सिर देउ तौ छाजा॥
पेम फांद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह बहु फांद न टूटा॥
गिरगिट छंद धरै दुख तेता। खिन खिन रात, पीत, खिन सेता॥
जानि पुछारि जो भै बनबासी। रोवँ रोवँ परे फांद नगवासी॥
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फांदू। उड़ि न सकै, श्ररुझी भा बांदू॥
मुयों मुयों श्रहनिसि चिललाई। श्रोहि रोस नागन्ह धरि खाई॥
पाँडुक, सुश्रा, कंठ श्रोहि चीन्हा। जेहि गियँ परा चाह जिउ दीन्हा॥
तीतिर गियँ जो फांद है, नितहि पुकारै दोख।
सकति हँकारि फांद गियँ मेलै, कब मारै होइ मोख॥९७॥

शब्दार्थ—पेम=प्रेम। छाजा=शोभित होना। फांद=फंदा। जीउ=जाव। छंद=रूप। रात=लाल। सेता=सफेद। पुछारि=पूँछ वाला, मोर। नगवासी=सं० नागपाशिक, नाग के फंदे। पांखन्ह=पंखों से। मुयों-मुयों=मरा-मरा, मोर की बोली में 'मुयों' की ध्वनि निकलती है। श्रहनिसि=दिन-रात। श्रोहि=उसी। रोस=क्रोध। पाँडुक =पण्डुक पक्षी। चीन्हा=चिन्ह, निशान। गियँ=ग्रीवा, गला। सकति=शक्ति। हँकारि =ललकार करके। कब-पाठान्तर-कत=क्यों। मारै=मारने पर। मोख=मुक्ति।

अर्थ—तोते ने कहा कि हे राजा प्रेम का नाम सुनते ही भूल न जाओ। प्रेम बड़ा कठिन है, जो सिर देता है उसी को यह शोभा देता है। जो व्यक्ति प्रेम के फन्दे में एक बार पड़ जाता है वह कभी नहीं छूटता। अनेक लोगों ने जान दे दी पर उसका प्रेम का फन्दा नहीं टूटा। जायसी जी प्रेम के उदाहरण में भिन्न-भिन्न पक्षियों और जीवों के दुःखों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गिरगिट भी प्रेम में पड़ा होगा तभी तो वह अनेक प्रकार के रूप बदलता है। क्षण-क्षण पर लाल, पीला और सफेद होता है (गिरगट का रंग बदलना प्रसिद्ध है)। मोर जंगल में रहता है इस पर जायसी कल्पना करते हैं कि प्रेम के कारण मोर बनवासी हो गया है, उसके अंग पर टेढ़ी-मेढ़ी लकारें होती हैं, इनके लिए वे कल्पना करते हैं प्रेम के दर्द की ही उसके रोम-रोम में नागपाश पड़ी हुई है। मोर अधिक उड़ नहीं सकता है, इसके लिए कहते हैं कि पंखों से लौट-लौट कर वह फन्दे में ही रह जाता है, उड़ नहीं सकता, उलझ करके बन्दी बनकर रह जाता है। वह 'मुयों-मुयों की बोली बोलता है मानों दर्द से रात-दिन चिल्लाता है कि 'मरा-मरा'! उसके दर्द में ऐसा पागल हो जाता है कि वह साँप को पकड़ कर खाने लगता है। पंडुक और तोते के गले में उसी प्रेम के फन्दे का ही निशान (लकीरें) है। जिसके गले में वह प्रेम का फन्द पड़ा वही जान देना चाहता है। तीतर के गले में भी वही फन्दा पड़ा है इसी दोष से वह उचक-उचक करके नित्य पुकारता रहता है (तीतर की बोली में हिचकी-सी आती है, मानो उसी दर्द से वह ऐसा बोलता है)। इतने उदाहरण देकर हीरामनि राजा से कहता है कि तेरे में क्या शक्ति है कि जो तू आवाहन करके उस प्रेम के फन्दे को गले में डाल रहा है, पता नहीं कब मारकर यह मुक्ति देगा, अर्थात् इससे तो छुटकारा तभी मिलेगा जब मृत्यु होगी।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, गिरिगिट से लेकर अन्त तक सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ जायसी ने इस पद में रक्खी हैं।

टिप्पणी—सूफीमत में प्रेम का मार्ग अत्यन्त कठिन बताया गया है, इसीलिए जायसी सर्वत्र प्रेम-पंथ में उसकी यातनाओं की सूची प्रस्तुत करते हैं

[९८]

राजैं लीन्ह ऊभ भरि साँसा। अैस बोल जनि बोलु निरासा॥
भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला॥
दुख भीतर जो पेम-मधु राखा। गंजन मरन सहै सो चाखा॥
जेइँ नहिं सीस पेम पंथ लावा। सो प्रिथिमी महँ काहे कों आवा॥
अब मैं पंथ पेम सिर मेला। पाँव न ठेलु राखु कै चेला॥
पेम बार सो कहै जो देखा। जेइँ न देख, का जान बिसेखा॥
तब लगि दुख, प्रीतम नहिं भेंटा। जब भेंटा, जरमन्ह दुख मेटा॥

जसि अनूप तुइँ देखी, नख सिख बरनि सिंगार।
है मोहि आस मिलन कै, जौं मेरवै करतार ॥९८॥

शब्दार्थ--ऊभ=खड़ा होकर। दुहेला=कठिन खेल। गंजन मरन-पाठान्तर-जग नहिं मरन-गंजन=दलन, पीड़ा। जरमन्ह=जीवन भर का। मेरवै=मिला दे।

अर्थ—राजा ने खड़े-खड़े लम्बी साँस लेकर कहा, इस प्रकार के निराशा के वचन न बोलो। भले ही प्रेम एक कठिन खेल हो, पर जो प्रेम का खेल खेल लेता है, वह दोनों संसारों में तर जाता है। प्रेम मार्ग में दुःख के भीतर जो मधु भरा है उसे वही चखता है जो दलन और मरण सहने की शक्ति रखता है। अर्थात् विना कष्ट सहन के प्रेम का मधु नहीं प्राप्त होता। जिस आदमी ने प्रेम-पन्थ में अपना सिर नहीं लगाया वह पृथ्वी पर आया ही क्यों? अब मैंने प्रेम-मार्ग में अपना सिर लगा दिया है तो तुम मेरा पाँव मत डिगाओ, मुझे अपना शिष्य बना कर रक्खो। प्रेम का द्वार वही बता सकता है, जिसने उसे स्वयं देखा है। जिसने नहीं देखा वह उसकी विशेषता क्या जानेगा? दुःख तो तभी तक है जब तक प्रियतम का मिलन नहीं होता। जब उससे मिलन हो जाता है तब तो जन्म-जन्म के दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिए वह पद्मावती जैसी अनुपम तुमने देखी है, उसका तू नख-शिख-शृङ्गार का वर्णन कर। मुझे उससे मिलने की आशा है, यदि परमेश्वर मिला दे।

---

१०. नख-शिख खण्ड

[९९]

का सिंगार ओहि बरनौं राजा। ओहि क सिंगार ओहि पै छाजा॥
प्रथम हि सीस कस्तुरी केसा। बलि बासुकि को औरु नरेसा॥
भँवर केस, वह मालति रानी। बिसहर लुरहिं लेहिं अरघानी॥
बेनी छोरि झारु जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥
कोंवल कुटिल केस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअंग बिसारे॥
बेधे जानु मलैगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा॥
घुँघुरवारि अलकैं बिख भरीं। सिंकरी पेम चहहिं गियँ परीं॥
अस फँदवारे केस वै राजा, परा सीस गियँ फाँद।
अस्टौ कुरी नाग ओरगाने, भै केसन्हि के बाँद॥ ९९॥

शब्दार्थ—बलि=निछावर होना। वासुकि=शेषनाग। लुरहि=लहर रहे हैं। लेहिं=लेते हैं। अरघानी=आघ्राण, सुगंध। बेनी=वेणी, जूड़ा। कोंवल=कोमल। कुटिल=टेढ़े। बिसारे=विषैले। बेधे=लिपटे है। घुँघुरवारि=घुँघराली। अलकैं=लटें। बिख=विष। सिंकरी=जंजीरें। गियँ=गले। फंदवार=फंदे में फँसाने

वाले। अस्टौ=अष्ट, आठ। कुरी=कुल वाले (नागों के आठ कुल हैं—वासुकि, तक्षक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, शंखचूड़, महापद्म, और धनंजय)। ओरगाने (अरबी अरकान=स्तम्भ, अधिपति। बाँद=बन्दी।

अर्थ—तोता बोला----हे राजा ! मैं उस के शृङ्गार का क्या वर्णन करूँ ? उस का शृङ्गार तो उसी पर शोभा पाता है अर्थात् उसके समान और कोई नहीं है। सबसे पहले उसके शीश पर उसके केश कस्तूरी के समान काले और सुगन्धित हैं, उस पर तो शेषनाग ही निछावर है। हे राजा ! और कौन उसके सदृश होगा ? फिर भी कवि ने दूसरी उपमाएँ दी हैं:—रानी मानो मालती कुसुम है और उसके केश भौंरे हैं जो विषधर साँपों की भाँति लहर रहे हैं और उसकी सुगन्ध ले रहे हैं। जब वह अपने जूड़े को छोड़ कर अपने बाल झाड़ने लगती है तो बालों के कालेपन से स्वर्ग और पाताल सर्वत्र अँधेरा हो जाता है। उस के कोमल टेढ़े बाल काले साँपों जैसे ऐसे लहरते हैं जैसे विषैले सर्प। ऐसा प्रतीत होता है मानों पद्मावती के शरीर रूपी मलयगिरि चन्दन की सुगन्ध ने उन्हें बेध रखा है, इसी कारण सिर पर चढ़े हुए उनके चारों ओर लोट रहे हैं। विष से भरी हुई काली-काली अलकें मानो प्रेम की जंजीरें हैं जो कि किसी के गले में पड़ना चाहती हैं। कवि कहता है कि वे केश ऐसा फन्दा डालने वाले थे कि दूर होने पर भी राजा का शीश और गर्दन उसके फन्दे में पड़ ही गये। इन केशों के बन्धन में तो आठों कुलों के नागों के अधिपति आकर बँध गये हैं। अर्थात् उन केशों में मूर्च्छित करने वाली विषभरी शक्ति अष्टकुल के महानागों से भी अधिक थी।

टिप्पणी—जैसा पहले लिखा जा चुका है इसका नख-शिख भारतीय कवियों की भाँति पैरों से न आरम्भ होकर फारसी कवियों की भाँति शीश से ही आरम्भ होता है। जायसी ने पद्मावती का नखशिख दुबारा राघवचेतन से कराया है। प्रणाली में साम्य है। केश-वर्णन में शब्दावली भी मिलती है—देखिए छन्द ४७०।

अलंकार—अनन्वय—ओहिक सिंगार·····छाजा।

असम—को औरु नरेसा।

रूपक—भँवर···रानी, कोंवल······बिसारे।

हेतूत्प्रेक्षा—बिसहर···अरघानी, बेधे जनु···पासा।

अतिशयोक्ति—बेनी······अँधियारा। अस्टौ कुरी······बाँद।

उत्प्रेक्षा—सिंकरी प्रेम परीं।

[१००]

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं।।
बिनु सेंदुर अस जानहु दिया। उजिअर पंथ रैनि महँ किया।।
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी।।

सुरुज किरिनि जस गगन बिसेखी। जमुना माँझ सरसुती देखी ॥
खाँडै धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा ॥
तेहि पर पूरि धरे जौं मोंती। जमुना माँझ गाँग कै सोती ॥
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू ॥
कनक दुआदस बानि होइ, चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत औ तरई, उअै गगन निसि गाँग ॥१००॥

शब्दार्थ—उपराहीं=ऊपर। सेंदुर=सिन्दूर। दिया=दीपक। करवत=त्रिवेणी संगम (प्रयाग) और काशी में लोग अपने को आरे से कटवाते थे, इसी को करवट कहते थे। बेनी=त्रिवेणी। गाँग=गंगा। सोती=स्रोत, धारा। तपा=तपस्वी। चूरू (चूर्ण)=चारा जाना। मकु=सम्भव है। दुआदस बानि=शुद्धसुवर्ण (देखिए छंद ८९ में ६-७ और ९०/७)।

अर्थ—अब मैं उसके सिर के ऊपर की माँग का वर्णन कर रहा हूँ, जिस पर अभी सिन्दूर नहीं चढ़ा है क्योंकि अभी पद्मावती कुमारी है। बिना सिन्दूर के उसकी माँग ऐसी लगती है जैसे दीपक ने रात में सफेद रंग की पगडण्डी बना दी हो (उसके काले बाल रात्रि का अँधकार और माँग पगडंडी है) अथवा काली कसौटी के बीच सोने की रेखा के समान है। या बादलों के बीच जैसे बिजली की रेखा प्रकाशित हो। या नीले आकाश में सूर्य की कोई विशेष किरण है। या यमुना की धारा के बीच में सरस्वती की पतली धारा हो अथवा काली तलवार की धार पर खून की धारा है। या त्रिवेणी संगम पर जैसे आरा रक्खा गया हो। उस माँग के ऊपर उसने जो मोतियों की लड़ी पूर रक्खी है, वह ऐसी लगती है मानो यमुना में गंगा की धारा निकलती है। तपस्वी इसलिए आरे से अपने को चिरवाते हैं कि सम्भव है उनके खून को लेकर वह (पद्मावती) सिंदूर लगा ले। जिस प्रकार सोना बारहबानी बनने के लिए सोहागे की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार वह माँग प्रिय का सौभाग्य चाहती है। इस समय उसके ऊपर मोतियों की लड़ी ऐसी लगती है मानो रात में आकाश-गंगा के नक्षत्र और तारागण आकाश की सेवा कर रहे हैं।

अलंकार—समस्त पद आलंकारिक है, कवि ने माँग की एक से एक उपमाएँ एकत्र की हैं और सिंदूर के न होने की व्यंजना के द्वारा राजा के हृदय में उससे विवाह करने की तीव्र गुदगुदी भी उत्पन्न कर दी है।

प्रत्येक पंक्ति में उपमा और उत्प्रेक्षा का कमनीय समन्वय है और संदेह अलंकार बनता गया है। सोहाग शब्द में श्लेष अलङ्कार है।

[१०१]

कहौं लिलाट दुइजि कै जोती। दुइजिहि जोति कहाँ जग ओती ॥
सहस करां जो सुरुज दिपाई। देखि लिलाट सोउ छपि जाई ॥
का सरवरि तेहि देउ मयंकू। चाँद कलंकी, वहो निकलंकू ॥

औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
तेहि लिलाट पर तिलक बईठा। दुइजि पाट जानहु ध्रुव डीठा॥
कनक पाट जनु बैठेउ राजा। सबै सिंगार अत्र लै साजा॥
ओहि आगें थिर रहै न कोऊ। दहुँ का कहँ अस जुरा संजोऊ॥
खरग, धनुक, औ चक्र बान दइ, जग मारन तिन्ह नाउँ।
सुनि कै परा मुरुछि कै राजा, मो कहँ भए एक ठाउँ॥१०१॥

शब्दार्थ—ओती=उतनी। सरवरि=बराबरी। मयंकू=चन्द्रमा। दुइज=द्वितीया। पाट=आसन। धुव=ध्रुवतारा। डीठा=देखा। अत्र=अस्त्र, आभूषण। संजोऊ=साज, तैयारी। दहुँ=पता नहीं। तिन्ह नाउँ=उसका नाम है, प्रसिद्ध है। मो कहँ भए एक ठाऊँ-पाठान्तर-मोकहँ हए कुठाँव मुझे बुरी जगह (मर्मस्थल) पर मारा।

अर्थ—तोता कहता है कि अब मैं उसके मत्थे का वर्णन करता हूँ, उसका ललाट द्वितीया के चन्द्रमा के समान है, पर दूज के चाँद में उतनी चमक कहाँ है? सहस्र किरणों से युक्त सूर्य भी यदि उदय हो तो उसके ललाट को देख कर छिप जाय तो फिर चन्द्रमा उसकी बराबरी कैसे कर सकता है। चाँद तो कलंक युक्त है और ललाट निष्कलङ्क है। और फिर चन्द्रमा को तो राहु ग्रसता है और ललाट तो बिना राहु के सदा प्रकाशित है। अपने ललाट पर उसने बिन्दी लगा रखी है, मानो दूज के चाँद रूपी आसन पर ध्रुव बैठा दिखाई पड़ रहा है अथवा जैसे सोने के पटले पर सभी शृङ्गारों और आभूषण आदि से सज कर राजा बैठा है। उसके आगे कोई स्थिर नहीं रह सकता। तोता कहता है कि यह युद्ध की तैयारी पता नहीं किसके लिए हुई है? इसी का उत्तर अगले दोहे में राजा देता है।

तोते की उपर्युक्त बातें सुनकर राजा ने कहा कि नासिका रूपी खड्ग, भृकुटि रूपी धनुष, पुतलियाँ रूपी चक्र, कटाक्षरूपी दो बाण सभी संसार को मारने वाले प्रसिद्ध हैं। पर मेरे लिए तो ये सब एक जगह ही हैं, अर्थात् सब के सब इकट्ठे होकर मुझे मारने आ रहे हैं। ऐसा कहकर वह मूर्च्छित हो गया।

अलंकार—व्यतिरेक—का सरवरि······परगासा।
उत्प्रेक्षा—तेहि ललाट ···· राजा।
रूपकातिशयोक्ति—खरग धनुक····· नाउ।

[१०२]

भौहें स्याम धनुकु जनु ताना। जासौं हेर मार बिख बाना॥
उहै धनुक उन्ह भौहन्ह चढ़ा। केइ हतियार काल अस गढ़ा॥
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा॥
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा॥
उहै धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहीं सहस्सरबाहू॥

शब्दार्थ—उलथहि=उभड़ते रहते हैं। भवाँ=चक्कर। माँति=मतवाले होकर। उपसवाँ (अपस्रवण)=उड़कर भागना चाहते हैं। बागा=बागडोर। अड़ार (सं० अट्टाल)=भंडार, राशि। जोरा=जोड़ा, दो। सुभर=लहरों से भरा हुआ। काल भँवर=काल के समान भयंकर भँवर, काले भौंरे की भाँति पुतलियाँ।

अर्थ—उसके नैनों के बाँकपन की समता कोई नहीं कर सकता। मान का सागर दोनों में उमड़ा पड़ता है, आँखों के लाल डोरे मानो लाल कमल हैं और उनमें काली पुतली रूपी भौंरा चक्कर लगा रहा है। वे मतवाले होकर घूमते हैं मानो उड़कर चले जाना चाहते हैं। वे ऐसे घोड़ों के समान हैं जो बागडोर नहीं लेना चाहते, उछलकर आकाश ... चाहते हैं, पवन को झकझोर देते हैं और हिलोर पैदा कर देते हैं, आकाश ...म और पृ... पर लाते और फिर से लौटाते हैं। उसके नेत्र भी आँधी की भाँति मनुष्यों के हृदयों ...ो झकझोरते हैं और आशा की हिलोरों को ऊपर उठाकर फिर नीचे गिरा देते हैं। इन नेत्रों ...े डोलते ही संसार डोल उठता है, बड़े-बड़े भंडारों को पल भर में उलट देना चाहते हैं। ... समुद्र की भँवर चक्र के समान दोनों आंखें ऐसी होती हैं कि जब घूमती हैं तो आकाश को ...ी पकड़कर डुबो देती हैं। ये आंखें ऐसी हैं मानो समुद्र की हिलोर हैं या झुकते हुए खंजन या ...ले हुए मृग हैं। सुन्दर भरे हुए समुद्र के समान वे दोनों नेत्र हैं और माणिक्य के समान लाल ...रे उनकी चपल तरंगें हैं, उनके साथ काली पुतलियाँ रूपी भयंकर भँवर किनारे तक आकर ...र लौट जाती हैं अर्थात् देख-देख कर लजा-लजा कर लौट जाती हैं।

अलंकार—इसमें भी कमनीय कल्पना के रूप में उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की ...ार है। रूप-वर्णन में कवि की कवित्व-शक्ति तीव्र हो उठी है।

[१०४]

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी॥
जुरी राम रावन कै सैना। बीच समुंद भए दुइ नैना॥
वारहि पार बनावरि साँधी। जासौं हेर लाग बिख बाँधी॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा॥
गँगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहि सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े॥
बरुनि बान सब ओपहँ, बेधे रन बन ढंख।
सउजन्ह तन सब रोवाँ, पंखिन्ह तन सब पंख॥१०४॥

शब्दार्थ—बरुनी=बरौनी। जानु=मानो। अनी=सेना। बनावरि=बाणावली, तीरों की कतार। सोतहि सोत=शरीर के रोमकूप। रन=अरण्य, वन। ओपहँ=उसके पास, ढंख-पाठान्तर-ढांख=वृक्ष। सउजन्ह (सं० श्वापद)=जानवरों के।

उहै धनुक मैं, ओपहँ चीन्हा । धानुक आपु बेझ जग कीन्हा ॥
उन्ह भौंहन्हि सरि केउ न जीता । आछरिं छपीं, छपीं गोपीता ॥
भौंह धनुक, धनि धानुक, दोसर सरि न कराइ ।
गगन धनुक जो ऊगवै, लाजन्ह सो छपि जाइ ॥१०२॥

शब्दार्थ—हेर=देखना । हतियार=हत्यारा । किरसुन=कृष्ण । राघौ=राम । हुत=था । राहु=द्रौपदी-स्वयंबर में अर्जुन द्वारा बेधी हुई मछली । सहस्सरबाहू=सहस्र-बाहु (यद्यपि सहस्रबाहु को परशुराम ने फरसे से मारा था, पर भ्रमवश जायसी ने धनुष का उपयोग लिख दिया है) । ओपहँ=उस पर । चीन्हा=पहिचाना । धानुक=धनुर्धर । सरि=बराबरी । आछरि=अप्सरायें । गोपीता=गोपियाँ (स्वर्ग की अप्सराएँ और गोपियाँ अपने सौंदर्य और मोहिनी शक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं) ।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती की भौंहों का वर्णन करता है :—

उसकी काली भौंहें ऐसी हैं मानो चढ़ा हुआ धनुष हो । जिस की ओर देखती है उसे विष बुझे बाण मार देती है । उन भौंहों पर मारने वाला धनुष चढ़ा है, किस हत्यारे ने काल के समान इन भौंहों को बनाया है । यही धनुष कृष्ण और राम के पास था और इसी से रावण और कंसासुर मारे गये थे । इसी धनुष से अर्जुन ने द्रौपदी-स्वयंबर में मत्स्य-वेध किया था । और इसी से परशुराम ने सहस्रबाहु को मारा था । इसी धनुष को मैंने उस पर देखा और पहिचाना । वह स्वयं धनुषधारी बनी हुई है और सारे संसार को बाणों से बेध रही है । इन भौंहों की बराबरी में कोई जीत नहीं सकता । अप्सरायें और गोपियां इन भौंहों के मोहन मन्त्र से हार कर छिप गयीं । धनुष के समान भौंहें, और उसको धारण करने वाली स्त्री—दोनों धन्य हैं, दूसरा कोई उसकी समानता के योग्य नहीं है । आकाश का जो इन्द्रधनुष है वह लज्जा से छिप जाता है ।

[१०३]

नैन बाँक सरि पूज न कोऊ । मान समुंद अस उलथहिं दोऊ ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ । घूमहिं मोंति चहहिं उपसवाँ ॥
उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा । चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा ॥
पवन झकोरहिं देहिं हलोरा । सरग लाइ भुइँ लाइ बहोरा ॥
जग डोलै डोलत नैनाहाँ । उलटि अड़ार चाह पल माहाँ ॥
जबहिं फिराव गँगन गहि बोरा । अस वै भँवर चक्र के जोरा ॥
समुद हिंडोर करहिं जनु झूले । खंजन लुरहिं मिरिग जनु भूले ॥
सुभर समुंद्र अस नैन दुइ, मानिक भरे तरंग ।
आवत तीर जाहिं फिरि, काल भँवर तेन्ह संग ॥ १०३ ॥

अर्थ--उसकी आँखों की बरौनियाँ ऐसी सुन्दर हैं कि उन का क्या वर्णन करूँ मानो बाण ताने दो सेनायें खड़ी हैं। आँखों की दोनों ओर बरौनियाँ ऐसी हैं जैसे समुद्र के आर-पार राम और रावण की सेनायें हैं। वार-पार ये अपने बाणों के समूह चला रही है और जिसकी ओर देख देती हैं उसे ही विषैले तीर लग जाते हैं। इन बाणों से इस प्रकार कौन-कौन नहीं मारा गया, सारा संसार उन ही का शिकार बन गया। उदाहरण में जायसी कहते हैं कि आकाश में असंख्य तारे हैं ये सब उसी के बाण से मारे गये हैं। पृथ्वी सारी की सारी उन्हीं बाणों से विंधी है जिसकी साक्षी खड़े हुए सारे वृक्ष दे रहे हैं। मनुष्य के शरीर के असंख्य रोम खड़े हैं, इन की जड़ों में उसी के बाण लगे हुए हैं। उस के पास बरौनियों के बाण हैं जिनसे उसने वन में सभी खंडों को वेध डाला है, जानवरों के शरीर में जितने रोम और पक्षियों के शरीर में जितने पंख हैं ये सब उसी के कारण ही हैं।

टिप्पणी--जायसी ने इस पद में आध्यात्मिक रहस्यवाद का उद्घाटन किया है। पद्मावती ईश्वर का प्रतीक है, उसी के विरह बाणों से सारा संसार बिंधा है। सूर्य, चन्द्र, तारे, पशु, पक्षी, वृक्ष सभी में उसी का अनुराग समाया है, सब उसी के रंग में रंगे हैं और समस्त सृष्टि की हलचल के पीछे उसी परम ज्योति का प्रेम और विरह विद्यमान है।

अलंकार--समासोक्ति

[१०५]

नासिक खरग देऊँ केहि जोगू। खरग खीन, ओहि बदन सँजोगू॥
नासिक देखि लजानेउ सुआ। सूक आइ बेसरि होइ उआ॥
सूआ सो पिअर हिरामनि लाजा। औरु भाउ का बरनौं राजा॥
सूआ सो नांक कठोर पँवारी। वह कोंवलि तिल पुहुप सँवारी॥
पुहुप सुगंध करहिं सब आसा। मकु हिरगाइ लेइ हम बासा॥
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिवँ देखि सुआ मन लोभा॥
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस को पाव, को नाहीं॥
देखि अमिअ रस अधरन्हि, भएउ नासिका कीर।
पवन बास पहुंचावै, अस रम छांड़ न तीर॥ १०५॥

शब्दार्थ—खरग=खड्ग, तलवार। जोगू=जोड़, समता। खीन=क्षीण। बदन=मुख। सूक=शुक्र तारा। बेसरि=नाक का गहना जिस में मोती लगता है। पिअर=पीला। पँवारी=सुम्मी, लोहारों का एक औजार जिससे लोहे में छेद करते हैं। कोंवलि=कोमल। मकु=कदाचित्। हिरगाइ=पास में लेकर। बासा=सुगन्ध। दारिवँ=दाडिम, अनार। दहुँ=पता नहीं। को=कौन। तीर=पास।

अर्थ—पद्मावती की नासिका की समता खड्ग से मैं कैसे करूँ, खड्ग इसी लिए कृश (क्षीण) हो गयी है कि नाक का तो उसके सुन्दर मुख से मेल है। उस की नासिका को

देखकर तोता लज्जित हो जाता है, इसी लिए स्वयं शुक (शुक्र तारा) बेसरि बनकर नाक में आ लगा है। मैं हीरामनि भी उसी नासिका से लजाकर ही पीला हो गया हूं और क्या कहूं। तोते और नाक की कोई समता नहीं क्योंकि तोते की चोंच तो ऐसी कठोर होती है जैसे लोहार का पँवारी नामक औजार, पर नाक तो तिल के फूल के समान कोमल और सुन्दर संवारी हुई है। सारे फूल केवल इसी आशा से सगन्ध करते हैं कि कदाचित् हमारी बास के कारण वह हमें लेकर नाक से मिला ले। उसके होठों और दांतों पर नासिका इस प्रकार शोभायमान है, मानो अनार देखकर तोता का मन लुभा गया है। खंजन पक्षी रूपी दो आंखें उस नासिका के दोनों ओर खेल रही हैं। तोता कहता है कि न जाने उसके रस का कौन आस्वादन कर पायेगा, कौन नहीं।

उसके होठों के अमृत रस को देखकर मानो तोता नासिका बन गया है। साँस के द्वारा अधर-रस की बास उस तक पहुँच रही है और वह उस पर ऐसा रम गया है कि उस का पास नहीं छोड़ता है।

अलंकार—व्यतिरेक—नासिक खरग......संजोगू। सुआ सो नाक......संवारा।
हेतूत्प्रेक्षा—नासिक देख......उआ। सुआ......लाजा।
पुहुप सुगंध......हम बासा, अधर दसन......लोभा।
देखि अमिय......छाँड़ न तीर।
रूपकातिशयोक्ति—खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं।

[१०६]

अधर सुरंग अमिअ रस भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे।
फूल दुपहरी मानहुं राता। फूल झरहिं जब जब कह बाता॥
हीरा गहै सो बिद्रुम धारा। बिहँसत जगत होइ उजिआरा॥
भए मँजीठ पानन्ह रंग लागें। कुसुम रंग थिर रहा न आगें॥
अस कै अधर अमिअ भरि राखे। अबहिं अछूत न काहूँ चाखे॥
मुख तँबोल रंग धारहिं रसा। केहि मुख जोग सो अंम्रित बसा॥
राता जगत देखि रँग राते। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाते।
अमिअ अधर अस राजा, सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कंवल बिगासा, को मधुकर रस लेइ॥ १०६॥

शब्दार्थ—बिंब=बिम्बाफल। धारा=पानी, आब, कान्ति—हंसने पर दांत रूपी हीरे की कान्ति बाहर के होठ रूपी विद्रुम की कान्ति पर छा जाती है जैसे कि प्रकाश होने पर सूर्य की रोशनी लालिमा पर छा जाती है। इस प्रकार उसकी मुसकान से ही जग का अंधेरा दूर होता है (रहस्यवाद)। विद्रुम=मूँगा। मँजीठ=मजीठ के समान लाल। अछूत=अछूते, जिस को किसी ने नहीं छुआ है। तंबोल=ताम्बूल, पान। धारहि=धारण करती है। रसा=जिह्वा। केहि कहँ=किसके लिए। बिगासा=विकसित हुआ। को=कौन।

मधुकर=भौंरा ।

अर्थ—उसके रंगीन लाल होठ अमृत रस से भरे हैं, बिम्बाफल उसके होठों से लजा कर ही वन में जाकर फले हैं । होठ दुपहरिया के फूल के समान लाल-लाल हैं । जब-जब वह बात करती है मानो फूल झड़ते हैं । हँसने पर लाल मसूढ़ों के बीच दाँतों की पंक्ति ऐसी लगती है जैसे मूँगों में हीरे जड़े गये हैं, उसकी मुस्कान में संसार प्रकाशित होता है । (लाल-लाल ओठों के बीच में मुस्कान ललायी में उजेली उषा की भी व्यंजना कर रही है) इस रंग के आगे कुसुम्भ की लालिमा स्थिर नहीं हो सकती अर्थात् उतरी या मुरझाई प्रतीत होती है । इस प्रकार उसने अपने अधरों में अमृत भर रक्खे हैं, अभी तक वे अधर अछूते हैं, किसी को उनके रस चखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । पान के रंग को उसकी जिह्वा धारण करती हैं, देखना है अमृत से सुवासित उस अधर के पान का सौभाग्य न जाने किसे मिलेगा ? सारा संसार उसके लाल रंग को देखकर लाल हो गया, वे लाल-लाल हँसते हुए अच्छे लगते हैं । हे राजा, उसके अधरामृत की सारा जगत् आशा किये हुए है पर पता नहीं किसके लिए वह कमल खिला हुआ है और कौन भौंरा उसका रस लेगा ?

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

टिप्पणी—पद में जायसी की दो प्रवृत्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

१—वर्णन द्वारा श्रोता की आसक्ति बढ़ाने का प्रयत्न । पथ-दर्शक साधक की आसक्ति को तीव्र से तीव्रतर करता जाता है । ऐसा करने के लिए प्रेममार्गी जायसी पद्मावती के अंग-प्रत्यंग सम्बन्धी रूप, रस, गंध आदि का उत्तेजक वर्णन करते हैं ।

२—अवसर पाकर आध्यात्मिक संकेत भी देते जाते हैं—जैसे—

बिहंसा जगत् होइ उजियारा ।
राता जगत देखि रंग राते ।
अमिय अधर अस राजा सब जग आस करेइ ।

[१०७]

दसन चौक बैठे जनु हीरा । औ बिच बिच रंग स्याम गंभीरा ।।
जनु भादौं निसि दामिनि दीसी । चमकि उठि तसि भीनि बतीसी ।।
वह जो जोति हीरा उपराहीं । हीरा दीपहिं सो तेहि परिछाहीं ।।
जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई ।।
रबि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोंती ।।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी । तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ।।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजा । पुनि वह जोति औरु को दूजा ।।
बिहँसत हँसत दसन तस चमके, पाहन उठे झरक्कि ।
दारिवँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ।।१०७।।

शब्दार्थ—दसन=दाँत। चौक=चार, आगे के चार दाँत। दीसी=दिखाई पड़ी। भीनि=भिदी हुई, मिस्सी लगी हुई। बतीसी=दन्त समूह, बत्तीस दाँत। उपराहीं=ऊपर बढ़ कर। निरमई=बनी। पाहन=पत्थर, हीरा। झरक्कि=झलक। दारिवँ=दाड़िम, अनार। सरि=बराबरी। दरक्कि=फट जाना।

अर्थ—आगे के चार दाँत इस प्रकार चमकीले हैं जैसे हीरे जड़ाये गये हों। दाँतों के बीच-बीच में मिस्सी का गहरा काला रंग दिखाई पड़ता है; कालिमा के बीच सफेद दाँत ऐसे लगते हैं जैसे भादों की रात में बिजली दिखाई पड़े। उसके दाँतों की जो ज्योति है वह हीरे की ज्योति से भी ऊपर है, हीरा जो चमकता है वास्तव में वह भी उसी की छाया है। जिस दिन उसके दाँतों की ज्योति बनी अनेक प्रकार की ज्योतियाँ उसी से बनीं। सूर्य, चन्द्र और तारागणों को उसी ने चमक दी है और भी जितने माणिक्य और मोती आदि रत्न पदार्थ हैं उसी की ज्योति से ज्योतित हैं। जहाँ-जहाँ वह अपनी स्वाभाविक मुसुकान से हँसी है, वहीं-वहीं उसकी दर्शन ज्योति छिटक कर प्रकाशित हो गयी। बिजली की चमक उसकी बराबरी नहीं कर सकी, फिर और कोई ज्योति उसकी बराबरी कैसे कर सकती है। उसके मुसकाने और विहँसने पर उसके दाँत चमके जिससे उसकी चमक के पड़ने से पत्थर भी झलकने लगा और हीरा बन गया और अनार उसके दाँत की बराबरी न कर सका, इसलिए उसकी छाती फट गई।

टिप्पणी—इस पद में आध्यात्मिक संकेत है—संसार की सभी वस्तुएँ ईश्वर के ही प्रतिबिम्ब से चमक रही हैं। सूर्य, चन्द्र, हीरा आदि पर ईश्वर की ही झलक है। तुलना कीजिए।

नैन जो देखे कंवल भए, निरमर नीर समीर।
हँसत जो देखे हंस भए, दसन जोति नग हीर॥६५/६

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा—दसन… …हीरा, जनु भादों……बतीसी।
हेतूत्प्रेक्षा—विहँसत … …दरक्कि।

[१०८]

रसना कहौं जो कह रस बाता। अंब्रित बचन सुन मन राता॥
हरै सो सुर चात्रिक कोकिला। बीन बंसि वह बैनु न मिला॥
चात्रिक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं॥
भरे पेम मधु बोलै बोला। सुनै सो माति घूमि कै डोला॥
चतुर बेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहाँ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह, बरम्हा सिर धुना॥
अमर, भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता॥
भावसती ब्याकरन सरसुती, पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सँ बात कह, तस जनु लागहिं बान॥१०८॥

शब्दार्थ—रसना—जिह्वा । अंम्रित=अमृत । राता=अनुरक्त हो जाता है। हरै=चुराते हैं। सुर=स्वर । चात्रिक=चातक । बीन बंसि=वीणा और बांसुरी को पाठान्तर बिनु-बसंत । माति=मतवाला होकर । घुमि=घूमकर । भारथ=महाभारत। जूझ=युद्ध, विवाद । भावसती=भास्वती नामक शतानन्द विरचित ज्योतिष का ग्रंथ ।

अर्थ—उसकी जीभ का वर्णन करता हूँ जिससे वह रसीली बातें करती है । उसके अमृतमय वचनों को सुनकर मन अनुरक्त हो जाता है । उसके स्वरों ने चातक और कोयल के स्वरों को हर लिया है । वीणा और वंशी में भी उन स्वरों की मिठास नहीं मिलती । चातक और कोयल सभी ऋतुओं में नहीं रहते, क्योंकि वे उसके वचनों को सुनकर शरमाते हैं और मुँह छिपा लेते हैं । वह प्रेम से भरे हुए अत्यन्त मीठे वचन बोलती है, जो उसे सुनता है वही मतवाला होकर घूमने लगता है । चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सब का ज्ञान उसके पास है । उसके एक-एक शब्द में चार-चार अर्थ होते हैं । उसे सुनकर इन्द्र मोहित होता है और ब्रह्मा सिर धुनने लगता है । अमरकोष, महाभारत, छंद शास्त्र, गीता आदि के शास्त्रार्थ में पंडित उससे हार जाते हैं । भास्वती ज्योतिष, संस्कृत व्याकरण, पिंगल, पुराण के पाठ में वह साक्षात् सरस्वती है । वेद के रहस्यों को इस प्रकार बताती है कि उसे सुनकर लोग दंग हो जाते हैं, विद्वानों को तो जैसे बाण लग जायँ ।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा—चात्रिक कोकिल......छपि जाहीं ।

[१०९]

पुनि बरनौं का सुरँग कपोला । एक नारँग के दुऔ अमोला ।।
पुहुप पंक रस अंम्रित साँधे । केइँ ये सुरँग खिरौरा बाँधे ।।
तेहि कपोल बाएं तिल परा । जेइँ तिल देख सो तिल तिल जरा ।।
जनु घुँघुची वह तिल कर मुहाँ । बिरह बान बाँधा सामुहाँ ।।
अगिनि बान तिल जानहुँ सूझा । एक कटाख लाख दुइ जूझा ।।
सो तिल काल मेंटि नहिं गएउ । अब वह गाल काल जग भएऊ ।।
देखत नैन परी परिछाहीं । तेहतें रात स्याम उपराहीं ।।
सो तिल देखि कपोल पर, गँगन रहा धुव गाड़ि ।
खिनहि उठै खिन बूड़ै, डोलै नहिं तिल छाँड़ि ।। १०९ ।।

शब्दार्थ—दुऔ=दोनों । पंकरस=पराग । साँधे=साने, गूँधे । केइँ=अथवा । खिरौरा=सं० खदिरवटक >खदरवडक >खइरउरअ >खिरौरा; स्त्री० खिरौरी (३९।२)= कत्थे की टिकिया । घुँघुची=गुञ्जा, रत्ती । करमुँहा=काले मुँह वाली । साँधा=संधान किया, चलाया । सामुँहा=सामने । रात= लाल । स्याम=काला । उपराहीं=ऊपर । धुव=ध्रवतारा । गाड़ि=गड़ा हुआ । खिन=क्षण । बूडै=डूबे ।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती के कपोलों का वर्णन करते हुए कहता है कि उसके सुन्दर कपोलों का क्या वर्णन करूं। जैसे एक नारंगी के दो अमूल्य टुकड़े हैं। कपोलों के बीचों-बीच वृत्ताकार लालिमा ऐसी लगती है मानों फूल के पुष्परस (पराग) और अमृत को सानकर किसी ने कत्थे की रंगीन टिकिया बाँधी है। उसके बायें कपोल पर एक तिल का निशान है। उस तिल को जो ही देखता है वही तिल-तिल जलता है। घुंघची भी काले मुंह वाली हो गयी है। मानो वह भी इस तिल को देखकर ही जल गई है। वह काला तिल ऐसा है मानो सामने विरह बाण तना हुआ है, या यह तिल मानो अग्नि बाण है, उसके एक कटाक्ष पर दो लाख लोग मर जाते हैं। उस तिल को काल भी न मेट सका, इसीलिए वह तिल-युक्त कपोल संसार का काल बना हुआ है। नेत्रों ने जैसे ही इस तिल को देखा उनपर इस तिल का प्रतिविम्ब पड़ गया इसीसे लाल कपोल और काले तिल के अनल के कारण नेत्र भीतर से काले और ऊपर लाल दिखाई पड़ते हैं। कपोल पर के तिल को देख ध्रुवतारा एक ही जगह पर गड़ गया, कभी उदय होता है और कभी डूबता है पर स्थान को तिल भर भी छोड़ नहीं सकता।

अलंकार—उपमा—पुनि बरनौं······अमोला।

उत्प्रेक्षा—पुहुप······बाँधे, जनु घुँघुची······करमुहाँ।

सो तिल······छाँड़ि।

[११०]

स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल कनक रचे उँजिआरे॥
मनि कुंडल चमकहिं अति लोने। जनु कौंधा लौकहिं दुहुँ कोने॥
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥
तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ धुव दुऔ खूँट बैसारे॥
पहिरे खुंभी सिंघल दीपी। जानहुँ भरी कचपची सीपी॥
खिन खिन जबहिं चीर सिर गहा। काँपत बीज दुहूँ दिसि रहा॥
डरपहिं देव लोक सिंघला। परै न बीज टूटि एहि कला॥
करहिं नखत सब सेवा, स्रवन दिपहिं अस दोउ।
चाँद सुरुज अस गहने, औरु जगत का कोउ॥११०॥

शब्दार्थ - कौंधा=बिजली। लौकहिं=चमकती है। निरखि=देखना। खूँट=कान का एक गहना। बारे=जलाये। धुव=ध्रुव। खूँट=किनारे। बैसारे=बैठाये। खुँभी=कान का एक गहना। कचपची=अनेक छोटे-छोटे तारों का एक गुच्छा, कृत्तिका नक्षत्र।

अर्थ—कान रूपी सीपों में दो दीपक शोभायमान हैं, ये दोनों सोने के चमकीले कुंडल हैं। ये मणिजटित कुंडल अत्यन्त सुन्दर चमकते हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानों दोनों

कानों में बिजली चमक रही है। दोनों दिशाओं में नक्षत्रों से भरे हुए चन्द्र, तारे और सूर्य हैं और देखे नहीं जाते। उसी पर खूँट आभूषण रूपी दो दीपक और जल रहे हैं मानो दोनों किनारों पर दो ध्रुवतारे बिठाये हों। उसने सिंहल द्वीप की बनी हुई खुम्भी पहिन रक्खी है, वह ऐसे लगती है मानो सीपी में कचपचिया भरी हों। क्षण-क्षण पर जब वह सिर पर के चीर को पकड़ती है तो कुण्डलों के हिलने से दोनों दिशाओं में बिजली काँपने लगती है। उस समय देव-लोक भी सिंहल से डरता है कि कहीं इसकी कला से बिजली न टूट पड़े। उसके दोनों कान जड़ाऊ रत्नों से इस प्रकार प्रकाशमान हैं मानो सारे नक्षत्र उसकी सेवा करते हैं, सूर्य और चाँद जैसे जब उसके गहने हैं तो संसार में और किसी की बात ही क्या है ?

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा।

[१११]

बरनौं गीवँ कूँज कै रीसी। कंज नार जनु लागेउ सीसी॥
कुँदै फेरि जानु गिउ काढ़ी। हरी पुछारि ठगी जनु ठाढ़ी॥
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा। तेहि तें अधिक भाउ गिउ बाढ़ा॥
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा। बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा॥
गिउ मँजूर तँवचुर जो हारा। वहै पुकारहिं साँझ सँकारा॥
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा। घूँटत पीक लीक सब देखा॥
धनि सो गीव दीन्हेउ विधि भाउ। वहु कासौं लै करै मेराऊ॥
कंठ सिरी मुकुताहल माला, सोहै अभरन गीवँ।
को होइ हार कंठ ओहि लागै, केइँ तपु साधा जीवँ॥१११॥

शब्दार्थ—गीवँ=ग्रीवा। कूँज=क्रौंच पक्षी। रीसी=ईर्ष्या। कंजनार (कंजनाल) =कमलनाल—पाठान्तर=कंचनतार=सोने के तार। कुँदै=खराद। गिउ=गर्दन। पुछारि=मोर। साँच=साँचा। बाग=घोड़े की बागडोर। मंजूर=मयूर, मोर। तवँचुर= मुर्गा। संकारा=प्रातःकाल। तिरि (त्रि)=तीन। मेराऊ=मेल। मुकुताहल=मुक्ताफल, मोती। अभरन (आभरण)=गहना।

अर्थ—तोता कहता है कि अब मैं पद्मावती की गर्दन का वर्णन करता हूँ जो क्रौंच पक्षी को भी ईर्ष्या देने वाली है। ऐसा मालूम होता है मानो शीशी में कमल नाल लगी हो। वह ग्रीवा ऐसी सुढार है जैसे खराद पर चढ़ा कर निकाली गई हो। अथवा हरी हुई मोरनी ठगी-सी खड़ी है। कबूतर उसके सौंदर्य को देखकर अपना हृदय निकाल कर खड़ा हो जाता है क्योंकि उससे अधिक सौंदर्य उसमें मिलता है। ग्रीवा ऐसी सुन्दर ढली है मानो चाक पर चढ़ाकर उसकी गोलाई सच्ची की गई है अथवा जैसे बागडोर लेने पर जैसे घोड़े की गर्दन सीधी होती है, वैसी ही उसकी गर्दन सुन्दर लगती है। गर्दन की शोभा से मोर और

मुर्गे हार गए इसलिए रोज सुबह और शाम चिल्लाया करते हैं। फिर उसकी गर्दन में तीन रेखायें पड़ी हैं। जब वह पान के पीक घूंटती है तो उसके निशान उसमें दिखाई पड़ते हैं। वह गर्दन धन्य है जिसे ब्रह्मा ने इतना सौंदर्य दिया। देखते हैं, किसके साथ ऐसी ग्रीवा वाली का मेल होता है। उसकी गर्दन में कंठश्री मोतियों की माला में दो आभूषण शोभित होते हैं। पता नहीं वह कौन है जो हार बनकर उस कंठ में लगेगा, वह तो कोई तपस्वी ही होगा जिसने अनेक साधना की होंगी।

अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा।

[११२]

कनक दंड दइ भुजा कलाई। जानहु फेरि कुंदेरें भाई॥
कदलि खांभ की जानहु जोरी। औ राती ओहि कँवल हथोरी॥
जानहु रकत हथोरीं बूड़ी। रबि परभात तात, वह जूड़ी॥
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसी हाथाँ। रकत भरी अँगुरी तेंहि साथाँ॥
औ पहिरें नग जरी अंगूठी। जग बिनु जीव, जीव ओहि मूठी॥
बाँहू कंगन, टाड़ सलोनी। डोलति बाँह भाउ गति लोनी॥
जानहु गति बेड़िनि देखराई। बाँह डोलाइ जीउ लै जाई॥
भुज उपमा पँवनारि न पूजी, खीन भई तेहि चित।
ठाँवहि ठाँव बेह भे हिरदं, ऊभि सांस लेई नित॥११२॥

शब्दार्थ—कुंदेरें=खराद पर। भाई=घुमाई हुई। कदलि=केला। खांभ=स्तम्भ-पाठान्तर-गाभ=नरम कल्ला। राती=लाल। हथोरी=हथेली। रकत=खून। बूड़ी=डूबी। परभात=प्रभात, लाली। तात=गरम। जूड़ी=ठंडी। अंगुरी=उंगली। जरी=जड़ी हुई। नग=हीरा। बाँहू=भुजबंद, बहुंटा। कंगन-टाड़=गहने—कंगन कलाई में पहिना जाता है और टाड़ बाँह में। सलोनी=सुन्दर। बेड़िनि=नाचने-गाने वाली एक जाति की स्त्री। पंवनारि (पद्मनाल)=कमल डंडी। खीन=क्षीण। चित=चिन्ता। वेह पाठान्तर-बेध=छेद। ऊभि=उठकर (कमल की नाल पानी के ऊपर उठी रहती है)। नित=नित्य।

अर्थ—स्वर्ण दण्डों के समान उसकी भुजायें और कलाइयां हैं मानो खराद पर घुमा कर सुन्दर किया गया है। वे केले के नवीन कल्लों की दो जोड़ियों के समान हैं। उनमें लाल-लाल कमलवत् हथेलियां हैं। हथेलियां इतनी लाल हैं मानो रक्त में डूबी हुई हों। प्रातःकालीन सूर्य की लाली भी उसके समान नहीं क्योंकि वह तो गर्म होती है पर ये ठंडी हैं। कितनों का हृदय निकाल कर उसने अपनी हथेलियों में रख लिया है। इसीलिए उस हथेली के साथ ही रक्त से भरी हुई उंगलियां हैं। जिनमें हीरे से जड़ी हुई अंगूठियां वह पहिने हुए है। संसार बिना प्राण के है क्योंकि जग के प्राण रूपी नग तो उसकी मुट्ठी में हैं। भुजबंद,

कंगन और टाड़ सुन्दर हैं, इनसे युक्त उसकी भुजायें जब डोलती हैं तो ऐसी सुन्दर लगती हैं मानो नाचने वाली बेड़िन हाथों की चाल दिखा रही है और इसके द्वारा लोगों का जी लेती है। उसकी भुजा की उपमा में कमल डंडी पूरी न उतर सकी इसी चिन्ता से वह अत्यन्त क्षीण (पतली) हो गयी, उसके हृदय में जगह-जगह छेद हो गये (कमल नाल तोड़ने पर उसके भीतर कई छेद होते हैं) और वह ऊपर उठ-उठ करके लम्बी सांस लेती है।

अलंकार—उपमा—कनक-दंड दुई भुजा कलाई।
उत्प्रेक्षा—कदलि खाँभ की जानहुँ जोरी। भुज उपमा·········चित।
व्यतिरेक—रवि परभात तात, वह जूड़ी।

[११३]

हिया थार, कुच कंचन लाडू। कनक कचोर उठे करि चाडू॥
कुन्दन बेल साजि जनु कूँदे। अंब्रित भरे रतन दुइ मूँदे॥
बेधे भँवर कंट केतुका। चाहहिं बेध कीन्ह कँचुकी॥
जोबन बान लेहिं नहीं बागा। चाहहिं हुलसि हिएँ हठ लागा॥
अगिनि बान दुइ जानहु साँधे। जग बेधहिं जौं होंहि न बाँधे॥
उतंग जँभीर होई रखवारी। छुइ को सक राजा कै बारी॥
दारिवँ दाख भरे अनचाखे। अस नारंग दहुँ का कहँ राखे॥
राजा बहुत मुए तपि, लाइ लाइ भुइँ माथ।
काहूँ छुअै न पारे, गए मरोरत हाथ॥११३॥

शब्दार्थ—थार=थाल। लाडू=लड्डू। कचोर=कटोरा-पाठान्तर-कटोर। चाडू=सं० चाटु7 प्रा० चाडु=खुशामद। पाठान्तर-चारू=सुन्दर। बेल=बेल का फल। कुंदन =सोना। कूंदे=खरादे हुए। अंब्रित=अमृत। मूंदे=ढके हुए। केतुकी=केतकी फूल। बेधे=बिधे हुए। कँचुकी=चोली। जोबन=स्तन, यौवन। बान=रंग-पाठान्तर-बास= महक। हुलसि=उल्लसित होकर। उतंग=उठे हुए। जंभीर=बड़े नीबू। बारी=लड़की, वाटिका। दारिवँ=अनार। दाख (द्राक्षा)=अंगूर। फरे=फले। अनचाखे=बिना चखे हुए। नारंग=नारंगी। दहुं=पता नहीं। का कहँ=किसके लिए। मुए=मरे। पारे=सकें।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती के स्तनों का वर्णन करता है—

हृदय रूपी थाल में उसके दो कुच ऐसे हैं जैसे सोने के दो लड्डू हों, सुन्दर सोने के दो उठे हुए कटोरे खुशामद में लगे हैं। सुन्दर सोने के बेल बनाकर मानो खराद पर चढ़ाए गये हैं, या अमृत से भरे हुए दो रत्न ढक कर रखे हुए हैं। कुचों के ऊपर जो काली टँप होती है उसे दृष्टि में रखकर कवि कहता है मानो केतकी फूल के कांटे में काला भौंरा बिंध गया है और अब चोली को बेध कर निकलना चाहते हैं। ये यौवन के कारण बाग

नहीं लेते अर्थात् रोके नहीं रुकते । अब वे हुलस कर हृदय में लग जाना चाहते हैं। अथवा मानो दो अग्नि बाण सधे हुए हैं, यदि बंधे न होते तो सारे संसार को बेध डालते । ये उठे हुए नीबू के समान हैं जिनकी रखवाली होती है । यह तो राजा की वाटिका (लड़की) है, इसको कौन छू सकता है । इसमें दाड़िम (दाँत) और दाख (अधर) अनचाखे पड़े हुए हैं, तोता कहता है कि पता नहीं ये नारंगियां (कुच) भी किसके लिए रखी हुई हैं। अनेक राजा लोग तपस्या कर-कर और पृथ्वी पर माथा रगड़-रगड़ कर मर गये, कोई इसे छू न सका । सभी हाथ मलते चले गये ।

इन अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने अध्यात्म पक्ष की ओर भी संकेत किया है । अर्थात् बड़े-बड़े ऋषि-मुनि परमेश्वर को पाने को अनेक तप करते हैं पर पा नहीं सकते ।

अलंकार—रूपक, हिया·········लाड्ड ।

उत्प्रेक्षा—कुंदन बेल······मूँदे ।

रूपकातिशयोक्ति—बेधे भँवर·········केतुकी ।

मुद्रा—उतंग जंभीर············राखे ।

[११४]

पेट पत्र चंदन जनु लावा । कुंकुह केसरि बरन सोहावा ।।
खीर अहार न कर सुकुवाँरा । पान फूल के रहै अधारा ।।
स्याम भुअंगिनि रोमावली । नाभी निकसि कँवल कहँ चली ।।
आइ दुहुं नारंग बिच भई । देखि मँजूर ठमकि रहि गई ।।
जनहु चढ़ी भँवरन्हि कै पाँती । चंदन खाँभ बास कै माँती ।।
कै कालिंद्री बिरह सताई । चलि पयाग अरइल बिच आई ।।
नाभी कुण्डर बानारसी । सौंह को होइ, मीचु तहँ बसी ।।
सिर करवत, तन करसी लै लै, बहुत सीझे तेहि आस ।
बहुत धूम घूंटत मैं देखे, उतरु न देइ निरास ।।११४।।

शब्दार्थ—पत्र=परत, मरोड़े, त्रिवली । लावा=लगाया गया । कुंकुह=कुंकुम । खीर=क्षीर, दूध । सुकुवाँरा=सुकुमार, कोमल । मँजूर=मोर । ठमकि=रुककर । कालिंद्री=यमुना । पयाग-अरइल=प्रयाग और अरैल (यमुना के एक किनारे पर प्रयाग [इलाहाबाद] और दूसरे किनारे पर अरैल एक गांव है) । कुंडर=कुंड । करवत=आरा । करसी=उपले की आग में शरीर तपाना (प्रयाग में कंडे की आग में शरीर तपाने का माहात्म्य है । तुलसीदास जी ने भी लिखा है—गीध अजामिल गणिका आदिक ले करसी प्रयाग कब सीझे) । सीझे=तपे । घूंटत=घुट-घुट कर मरना । निरास=कामनाविहीन ।

अर्थ—इस पद में पद्मावती के पेट का वर्णन है । पत्र के आकार का स्निग्ध पेट ऐसा प्रतीत होता है जैसे पत्ते पर चन्दन लगाया गया है, वह कुंकुम और केसर के रंग सा

सुशोभित है। पद्मावती ऐसी सुकुमारी है कि दूध का भी भोजन नहीं करती, केवल पान-फूल के आधार पर रहती है। उसकी नाभि से रोमावली की पंक्ति ऊपर को जाती है जैसे काली नागिन निकल कर कमल मुख की ओर जा रही है। वह ऊपर आकर दोनों नारंगियों (कुचों) के बीच खड़ी हुई, पर मोर (गर्दन) को देखकर रुक गयी। या भौंरों की पंक्ति चढ़ी जा रही है और चन्दन के खम्भे की महक पर मतवाली हो गयी। अथवा विरह की सतायी हुई यमुना चलकर प्रयाग और अरैल के बीच में बह रही है, इसकी नाभि जैसे काशी-करवट का कुण्ड है, कौन उसका सामना कर सकता है क्योंकि वहाँ तो मृत्यु ही बसती है। अनेक राजकुमारों ने उसकी आशा से काशी-करवट किया, सिर पर आरा रखवाया तथा शरीर को कंडे की आग में तपाया, अनेक लोग धुँए में घुट-घुट कर मर गये, पर पद्मावती ने किसी के पक्ष में उत्तर न दिया क्योंकि वह तो सर्वथा कामनाविहीन है।

टिप्पणी—पेट की रोमावली स्त्रियों के पेट में नहीं होती, फिर भी जायसी ने कवि-प्रसिद्धि के कारण प्रयोग किया है। विद्यापति ने हृदय की रोमावली की ठीक ऐसी ही उपमा दी है, जायसी ने उसे ज्यों का त्यों ले लिया है—

विद्यापति—नाभि विवर सयँ लोम लतावलि,
भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम-भय,
कुच गिरी संधि निवासा॥

[११५]

बैरिनि पीठि लीन्ह ओइ पाछें। जनु फिरि चली अपछरा काछें॥
मलयागिरि कै पीठि सँवारी। बेनी नाग चढ़ा जनु कारी॥
लहरें देत पीठि जनु चढ़ा। चीर ओढ़ावा कंचुकि मढ़ा॥
दहुँ का कहँ असि बेनी कीन्ही। चंदन बास भुअंगन्ह दीन्ही॥
किस्न कै करा चढ़ा ओहि माथे। तब सो छूट, अब छूट न नाथें॥
कारी कँवल गहे मुख देखा। ससि पाछें जस राहु बिसेखा॥
को देखै पावै वह नागू। सो देखै माथें मनि भागू॥
पन्नग पंकज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ।
छात, सिंघासन, राज, धन, ता कहँ होइ जो डीठ॥ ११५॥

शब्दार्थ—बैरिनि=शत्रु, क्योंकि वेणी के बाण से घायल करती है। ओई=उस। पाछें=पीछे। अपछरा=अप्सरा। कंचुकी=केंचुली। कै करा=कला करके, चतुराई से। ओहि=उसके। कारी=कालिय नाग। राहु=एक मत के अनुसार राहु की आकृति सर्प की है। बिसेखा=विशेष। पन्नग=सर्प। छात = छत्र। दीठ=देखता है।

अर्थ—इस पद में तोता पद्मावती की पीठ का वर्णन करता है—उसने शत्रु पीठ

को अपने पीछे कर रखा है। मालूम होता है कि कोई अप्सरा सज-बज कर पीठ घुमा कर चली जा रही है। पीठ पर वेणी ऐसी लगती है जैसी पीठ तो मलयगिरि हो और उस पर काला नाग चढ़ा हो। लहरें देते हुए साँप पीठ पर चढ़ रहा है और पद्मावती की सफेद ओढ़नी ऐसी प्रतीत होती है जैसे नाग के ऊपर की सफेद केंचुली हो। पता नहीं किसके लिये ऐसी वेणी बनाई गई है? उसके शरीर की बास रूपी चन्दन की गन्ध को वेणी रूपी सर्पिणी ने प्राप्त किया है। श्री कृष्ण जी अपनी कला के बल पर उसके मत्थे पर चढ़ गये थे पर तब तो वह छूट गया था अब तो वह नाथी भी गयी है (वेणी चोटीले से बाँधी गयी है) इसलिए छूट नहीं सकती। मुख के पीछे बाल और वेणी हैं ऐसा दिखाई पड़ता है मानो कालिय नाग ने कमल को मुख में पकड़ लिया हो, या शशी को पीछे से राहु ने विशेष रूप से घेरा हो। उस नाग को कौन देख पा सकता है? वही देखेगा जिसके मस्तक पर सौभाग्य-मणि है। साँप रूपी वेणी कमल रूपी मुख को पकड़े है, और उसके ऊपर खंजन रूपी नेत्र बैठे हैं। इस प्रकार के विचित्र दृश्य को जो देखेगा उसे छत्र, सिंहासन, राज्य, धन सभी प्राप्त होंगे।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपकातिशयोक्ति।

[११६]

लंक पुहुमि अस आहि न काहू। केहरि कहौं न ओहि सरि ताहू॥
बसा लंक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लंक वह खीनी॥
परिहँस पिअर भए तेहिं बसा। लीन्हे लंक लोगन्ह कहँ डँसा॥
जानहु नलिनि खंड दुइ भई। दुहुँ बिच लंक तार रहि गई॥
हिय सों मोरि चलै वह तागा। पैग देत कत सहि सक लागा॥
छुद्र घंटि मोहहिं नर राजा। इंद्र अखार आइ जनु साजा॥
मानु बीन गहे कामिनी। रागहिं सबै राग रागिनी॥
सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बन बासु।
तेहि रिसि रक्त पिअै मनई कर खाइ मारि कै मांसु॥११६॥

शब्दार्थ—लंक=कमर। पुहुमि=पृथ्वी। सरि=बराबर। बसा=बर्रं, भिड़। झीनी=पतली। परिहँस=ईर्ष्या। पिअर=पीला। लंक-पाठान्तर=डंक। नलिन=कमल-नाल। अखार=अखाड़ा। छुद्रघंटि=करधनी, घुंघुरूदार पेटी। मनई=मनुष्य।

अर्थ—इस पद में पद्मावती की कटि का वर्णन है—

उसकी जैसी कटि पृथ्वी में किसी की नहीं है, सिंह के पास कहूँ तो उसकी कमर भी उसके समान नहीं है। भिड़ की कमर संसार में लोग पतली कहते हैं पर पद्मावती की कमर तो भिड़ से भी पतली है। भिड़ उसी की ईर्ष्या से ही पीली हो गई है और इसी से डंक लेकर लोगों को मारती फिरती है। जिस प्रकार कमल नाल के तोड़ देने पर उसका महीन रेशा दोनों खंडों के बीच रह जाता है इसी प्रकार इसकी कमर कमलिनी के पतले तारों

की भाँति नीचे और ऊपर के खंडों को जोड़े हुए है। यह तार सी (कमर) इतनी कोमल है कि हृदय के भाव-परिवर्तन के साथ मुड़ती जाती है। कदम उठाने को भी वह कैसे बर्दाश्त कर सकती है अर्थात् कमल-नाल के रेशे की भाँति नाजुक कमर है, पैर उठाने में उसके टूटने का भय है। कमर में जो घुँघुरूदार करधनी पहनती है उसे देखकर राजा लोग मोहित होते हैं। किंकिणी की झनकार सुनकर प्रतीत होता है मानो इन्द्र का अखाड़ा सजा हुआ है। घुँघरुओं की ध्वनि ऐसी लगती है मानो उसने वीणा ले रक्खी है और उस पर सभी राग-रागिनी बजा रही है। सिंह उसकी कमर की समता में न जीत सका, इसीलिये उसने हारकर वन में वास किया और उसी क्रोध के मारे मनुष्य को मारकर उसका रक्त पीता है और मांस खाता है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[११७]

नाभी कुंडर मलै समीरू। समुंद भँवर जस भँवै गभीरू॥
बहुतै भँवर बौंडरा भए। पहुँचि न सके सरग कहँ गए॥
चंदन माँझ कुरंगिनी खोजू। दहुँ को पाव, को राजा भोजू॥
को ओहि लगि हिवंचल सीझा। का कहँ लिखी, अैस को रीझा॥
तीवइ कँवल सुगंध सरीरू। समुंद लहरि सोहै तन चीरू॥
झूलहिं रतन पाट के झोंपा। साजि मदन दहुँ का पहँ कोपा॥
अबहिं सो आहि कँवल कै करी। न जनौं कवन भँवर कहँ धरी॥
बेधि रहा जग बासना, परिमल मेद सुगंध।
तेहि अरघानि भँवर सब लुबुधे, तजहिं न नीवी बँध॥ ११७॥

शब्दार्थ—नाभी कुंडर=गुह्यस्थान सम्भवतः अश्लीलत्व को बचाने के लिये जायसी ने नाभी कुण्डर शब्द लिखा है। भँवै=घूमता है। बौंडरा=बवंडर। कुरंगिनि=हिरणी। खोजू=खोज का चिह्न, खुर का पड़ा हुआ निशान (स्त्री के गुह्यांग के लिये हिरणी के पदचिह्न का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है[1])। हिवंचल=हिमाचल। सीझा=तपा। तीवइ=स्त्री। समुंद लहरि=समुद्र-लहर नामक एक प्रकार का लहरिया वस्त्र जिसे गंगासागर भी कहा गया है। पाट=रेशम। झोंपा=गुच्छे। करी=कली (अविवाहिता)। जनौ=जानौं, जानता। कहँ=के लिए। धरी=रखी हुई है। बासना=सुगन्ध। अरघानि=आघ्राण, महक। नीवी=फुफंदी, वह डोरी जिससे स्त्रियाँ लहँगे की गाँठ बांधती हैं।

अर्थ—उसके नाभि कुण्ड [गुह्यस्थान] से मलयानिल जैसी सुगन्ध आती है।

१—अन्यत्र भीष्माद् गांगेयादन्यत्र च हनूमतः।
हरिणीखुरमात्रेण मोहितं सकलं जगत्॥

समुद्र की भँवर के समान नाभि घूमी हुई और गम्भीर है। बहुत से भँवर और बवंडरों ने उस नाभि की समता करनी चाही पर वे उसकी समता न कर सके और नष्ट हो गये। उसका आकार चन्दन के वन में हिरणी के पदचिह्न जैसा है। तोता कहता है कि हे राजा, पता नहीं कौन राजा भोज उसे पावेगा ? कौन ऐसा योगी है जिसने उसके लिए हिमालय पर तपस्या की है ? वह किसके भाग में लिखी है, ऐसा राजा कौन है जो इस पर रीझेगा ? उस स्त्री के शरीर से कमल की सुगंध निकलती है, उसके शरीर पर समुद्र-लहर नामक वस्त्र शोभायमान होते हैं। रत्नों और रेशम के गुच्छे झूलते हैं। मालूम नहीं ऐसा साज सजा कर कामदेव ने किसके ऊपर कोप किया है। अभी तक वह कमल कली है अर्थात् कुमारी है, मालूम नहीं किस भ्रमर के लिए रखी हुई है, अर्थात् पता नहीं किस राजा के साथ ब्याह होगा ? सारा संसार उसकी सुगन्ध से सुवासित है। उसकी महक से भौंरे लोभ बस उसकी फुफंदी के बन्धन को नहीं छोड़ते—अर्थात् सभी उसके निकट पड़े हैं।

टिप्पणी—गुह्याङ्ग का वर्णन अश्लील माना जाता है इसलिए काव्य में इस का वर्णन वर्जित है। जायसी की प्रवृत्ति अश्लील प्रकरणों को विस्तार देने की रही है इसलिए उन्होंने इस अंग का भी वर्णन किया है। उपर्युक्त पद में के निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं जो उसी अर्थ की ओर विशेष संकेत करते हैं :—

भँवै गंभीरु, भंवर बौंडरा, चंदन मांझ कुरंगिनि खोजू, नीवी बंध।

[११८]

बरनौं नितंब लंक कै सोभा। औ गज गवन देखि सब लोभा ॥
जुरे जंघ सोभा अति पाए। केरा खाँभ फेरि जनु लाए ॥
कँवल चरन अति रात बिसेखे। रहहिं पाट पर, पुहुमि न देखे ॥
देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। पगु पर जहाँ सीस तहँ देहीं ॥
माँथे भाग को वहुँ अस पावा। कँवल चरन लै सीस चढ़ावा ॥
चूरा चाँद सुरुज उजियारा। पायल बीच करहिं झनकारा ॥
अनवट बिछिआ नखत तराईं। पहुँचि सकै को पावन्हि ताईं ॥

बरनि सिंगार न जानेउ, नखसिख जैस अभोग।
तस जग किछौ न पावौं, उपमा देउँ ओहि जोग ॥ ११८ ॥

शब्दार्थ—केरा=केला। फेरि=उलट कर। लाए=लगाए। रात=लाल। पाट=रेशमी आसन। पुहुमि=पृथ्वी। चूरा=चमक चूड़ा। अनवट बिछिया=पाँवों की उँगलियों में पहने जाने वाले गहने। किछौ=कुछ भी। जोग=योग्य।

अर्थ—अब मैं उसके नितम्बों का वर्णन करता हूं जो उसकी कटि की शोभा है। उसकी हाथी के समान चाल को देखकर सभी लुभा जाते हैं। उसकी दोनों जुड़ी हुई जंघाएँ अत्यन्त सुन्दर लगती हैं मानो केले के खम्भे उलट कर लगाये गये हैं। उसके कमलवत् चरण लाल रंग के हैं। वे चरण सदा रेशमी आसन पर ही रहते हैं, कभी जमीन पर

नहीं पड़े। देवता लोग उसके पाँवों को हाथों पर लेते हैं, जहाँ-जहाँ उसके पैर पड़ते हैं वहाँ-वहाँ वे सिर रख देते हैं। पता नहीं कौन ऐसा भाग्यशाली है जो उसे पायेगा और उसके कमल-चरणों को लेकर शीश चढ़ायेगा। उसका पैरों का चमकचूड़ा चन्द्र और सूर्य की भाँति उज्ज्वल है, पायल बीच में झनकार करती है। अनवट और बिछिया; नक्षत्र और तारागणों की भाँति चमकते हैं। ऐसा कौन है जो उन पैरों तक पहुँच सके?

जायसी कहते हैं कि पद्मावती नख से शिख तक जैसी अनुपम सुन्दर है वैसा वर्णन करना मैं नहीं जानता। संसार में मैं किसी को भी तो नहीं पाता जिसके समान उसकी उपमा दूँ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—केरा खाँभ फेरि जनु लाए।

उपमा—चूरा······उजिआरा।

रूपक—अनवट बिछिया नखत तराई।

टिप्पणी—चोटी से लेकर पाँव तक प्रत्येक अंग का साहित्यिक वर्णन जायसी ने किया है। प्रत्यङ्ग की उपमा उन्होंने कवि परम्परा के अनुरूप दी है, कई उपमाएँ जैसे 'कमर की उपमा भिड़' उनकी अपनी हैं। प्रत्येक अंग की शोभा के वर्णन के साथ तोता राजा में उसके पाने की चाह को भी तीव्र करता गया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से वे पंक्तियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। जायसी ने पद्मावती का नखशिख आगे चल कर फिर वर्णन किया है। उसकी शब्दावली भी इसी प्रकार है, देखिए पद संख्या ४७० से ४८५

---

११. प्रेम-खंड

[११६]

सुनतहि राजा गा मुरुछाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई॥
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहि लहर होइ बिसँभारा॥
बिरह भँवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहि लेई॥
खिनहि निसास बूड़ि जिउ जाई। खिनहि उठै निसँसै बौराई॥
खिनहि पीत, खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत, खिन होइ अचेता॥
कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिऔं जिवन, न दसइँ अवस्था॥

जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।
एतना बोल न आव मुख, करहिं तराहि तराहि॥ ११६॥

शब्दार्थ—लहरि सुरुज=सूर्य की लहर, लू का झोंका। बिसँभारा=बेसँभाल। बेवस्था =व्यवस्था, दशा। दसइँ अवस्था=मरण। लेनिहारन्ह=लेने वाले। हरहि=धीरे-धीरे। तरासहि=(फारसी तराशीदन्) काटते हैं। एतना=इतना। तराहि तराहि=त्राहि-त्राहि।

अर्थ—जब राजा रत्नसिंह ने पद्मावती के नखशिख-वर्णन को सुना तो वह मूर्छित हो गया। ऐसा मालूम होता है मानो सूर्य की कोई लहर (लूँ) आ लगी हो। प्रेम के घाव के दुःख को कोई नहीं जानता, उसको तो वही जानता है जिसे उसकी चोट लगती है। वह प्रेम के अपार समुद्र में पड़ गया, उसमें लहरें लहर रही हैं और वह बेसुध हो गया है। विरह भँवर बनकर चक्कर दे रहा है और क्षण-क्षण जीव को हिलोरा दे रहा है। क्षण भर के उसाँसों में जीव डूब जाता है और क्षण भर बाद पागल की भाँति सांस छोड़ता उठता है। कभी उसका मुँह पीला और कभी सफेद होता है, कभी उसे चेत रहती है, और कभी बेहोश रहता है। प्रेम की दशा मृत्यु से भी कठिन है, न जीव को जीवन मिलता है और न मरण। मानो जान लेने वाला जान ले रहा है और धीरे-धीरे उस पर छुरी चला रहा है और वह बेचारा तनिक भी बोल नहीं सकता, केवल त्राहि-त्राहि करता है।

टिप्पणी—सूफी-प्रेम की विशेषता वेदना और कसक है, हर्ष और उल्लास नहीं।

[१२०]

जहँ लगि कुटुँब लोग औ नेगी। राजा राय आए सब बेगी॥
जाँवत गुनी गारुरी आए। ओझा, बैद, सयान बोलाए॥
चरचहिं चेष्टा परिखहिं नारी। निअर नाहिं ओषद तेहि बारी॥
है राजहिं लष्वन कै करा। सकति बान मोहा है परा॥
नहिं सो राम, हनिवंत बड़ि दूरी। को लै आव सजीवनि मूरी॥
बिनौ करहिं जेते गढ़पती। का जिउ कीन्ह, कवनि मति मती॥
कहहु सो पीर, काह बिनु खाँगा। समुँद सुमेरु आव तुम्ह माँगा॥
धावन तहाँ पठावहु, देहिं लाख दस रोक।
है सो बेलि जेहि बारी, आनहिं सबै बरोक॥ १२०॥

शब्दार्थ—नेगी=नेग (उपहार) पाने वाले, दास-दासी। जाँवत=जितने। गारुरी=गारुड़ी, साँप का विष उतारने वाले। ओझा=भूत-प्रेत पूजने तथा भूत-प्रेत को उतारने वाले। चरचहिं=अनुमान लगाते हैं। चेष्टा=हरकत। परिखहिं=परीक्षा करते हैं। नारी=नाड़ी। निअर=निकट। बारी=वाटिका, बाला (पद्मावती)। लष्वन=लक्ष्मण। हनिवंत=हनुमान्। बिनौ=विनय। पीर=पीड़ा। खाँगा=घटा। धावन=दूत। रोक-रोकड़=नकद रुपया। बरोक=वररक्षा-फलदान।

अर्थ—जितने कुटुम्बी, नेग पाने वाले नौकर-चाकर तथा राजा और राय थे सभी तुरन्त ही आये। जितने भी गुणी, गारुड़ी, ओझा, वैद्य और चतुर लोग थे, सभी बुलाये गये। सब लोग राजा की हरकतों को देखकर अनुमान लगाने लगे कि क्या-क्या रोग उसे हैं। उसकी नाड़ी की भी परीक्षा होने लगी, पर उसकी औषधि पद्मावती तो निकट

है ही नहीं। राजा की तो लक्ष्मण की दशा हुई है, उसे शक्ति बाण ने मूर्छित कर दिया है। न तो वे राम हैं, और न हनुमान्, कौन संजीवनी बूटी को ला सकता है ? सभी गढ़-पति लोग विनती करते हैं कि हे मतिमान् राजा ! तुमने अपने जी में क्या कर लिया ? उस पीड़ा को कहो, क्या नहीं है ? कौन-सी वस्तु घटी है, तुम्हारे माँगने पर तो रत्नाकर और सुमेरु पर्वत भी आ सकते हैं। जहाँ पर वह है, वहाँ दूत तुरन्त भेजो हम दस लाख रोकड़ देंगे। जिस वाटिका में वह लता (बेल) स्वरूपा बाला है वहाँ से दूत उसके विवाह सम्बन्धी सारे फलदान को ले आयें।

टिप्पणी—विवाह में सगाई की रीति हिन्दुओं और मुसलमानों में एक दूसरे की विपरीत है। प्रायः वर पक्ष की ओर से ही पैगाम कन्या पक्ष को भेजे जाते हैं।

[१२१]

जौं भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनहुँ सोइ अस जागा।।
आवन जगत बालक जस रोवा। उठा रोइ, हा ग्यान सो खोवा।।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ।।
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा। सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा।।
सोवत अहा जहाँ सुख साखा। कस न तहाँ सोवत बिधि राखा।।
अब जिउ तहाँ, इहाँ तन सूना। कब लगि रहै परान बिहूना।।
जौ जिउ घटिहि काल के हाथाँ। घटन नीक पै जीउ निसाथाँ।।

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरें, कर पहुँचत अवगाह।। १२१।।

शब्दार्थ—भा=हुआ। बैरागा=वैराग्य। हौं=मैं। अहा=था। सकति=शक्ति बिहूना=विहीन, रहित। अहुठ=साढ़े तीन। अवगाह=थाह लेना।

अर्थ—जब राजा को होश हुआ, उसमें वैराग्य जाग उठा। उसकी दशा ऐसी थी जैसे बावला सोकर जग गया हो। वह इस प्रकार रोने लगा जैसे संसार में जन्म लेते ही बालक रोता है। वह रोने लगा कि 'हाय मेरे पास जो ज्ञान था उसे मैंने खो दिया।' मैं तो अमरपुर में था, इस मृत्यु लोक में क्योंकर आ गया। किसने मुझ पर मरने का उपकार किया है ? मेरी सोई शक्ति को जगा कर मेरी जान ले ली है। मैं वहाँ सो रहा था जहाँ सभी प्रकार के सुख थे। ब्रह्मा ने मुझे वहीं पर सोते क्यों नहीं रहने दिया ? अब तो मेरा जीव वहीं है। यहाँ पर तो केवल यह सूना शरीर है। यह भला कब तक प्राण से रहित होकर जीवित रह सकता है ? यदि यह जीव काल के हाथ खत्म हो जाय तो बड़ा अच्छा होगा, क्योंकि इसका निस्संग (पद्मावती के बिना) रहना ठीक नहीं। यह साढ़े तीन हाथ का शरीर रूपी तालाब है जिसमें हृदय रूपी कमल है, आँखों के लिए वह निकट ही जान पड़ता

है पर वहाँ तक हाथ पहुँचाना चाहें तो अथाह जल मिलता है।

अलंकार—रूपक—अहुठ हाथ……माँह।

[१२२]

सबन्हि कहा मन समझहु राजा। काल सतें कै जूझि न छाजा॥
तासौं जूझि जात जौं जीता। जात न किरसुन तजि गोपीता॥
औ नहिं नेहु काहु सौं कीजै। नाउँ मीठ, खाएँ जिउ दीजै॥
पहिलेहिं सुक्ख नेहु जब जोरा। पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा॥
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू। पहुँचि न जाइ परा तस फेरू॥
गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा। पेम अदिस्ट गँगन सौं ऊँचा॥
धुव तें ऊँच पेम धुव उवा। सिर दै पाउ देइ सो छुवा॥
तुम्ह राजा औ सुखिआ, करहु राज सुख भोग।
एहि रे पंथ सो पहुँचै, सहै जो दुक्ख बियोग॥ १२२॥

शब्दार्थ—सतैं=सत से, शक्ति से। जूझि=युद्ध। छाजा=शोभा पाना। किरसुन=कृष्ण। नाउँ=नाम। गँगन=आकाश। अदिस्ट=अदृष्ट। धुव=ध्रुव। उवा=उदय हुआ। दै=देकर। पाउ देइ=पैर रखकर।

अर्थ—सब ने कहा कि हे राजा! मन में विचार करके देखो। काल की शक्ति से युद्ध करना शोभा नहीं देता। यदि उससे लड़ करके जीता जा सकता तो क्या कृष्ण गोपियों को छोड़कर चले जाते। किसी से प्रेम नहीं करो, प्रेम का नाम मधुर है, पर खाने पर जान ही देनी पड़ती है। पहले तो सुख के साथ प्रेम जोड़ा जाता है पर बाद में उसका निर्वाह करना अत्यंत कठिन है। यह साढ़े तीन हाथ का शरीर सुमेरु पर्वत जैसा ऊँचा है, उसमें इतने चक्कर हैं कि ऊपर पहुँचा नहीं जाता। आकाश पर दृष्टि रखने से उस तक पहुँचा जा सकता है पर प्रेम तो अदृष्ट है और आकाश से भी ऊँचा है। आकाश के ध्रुव(तारा) से भी ऊँचे प्रेम का ध्रुव उगता है। जो पहले सिर देकर पीछे इस प्रेम मार्ग में पाँव देता है, वही प्रेम के ध्रुव को छू सकता है। तुम तो राजा हो और सब प्रकार से सुखी हो, आराम से राज और सुख भोग करो, इस रास्ते पर तो वही पहुँचता है जो विरह का दुःख सहता है।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने सूफी प्रेम के सिद्धान्तों का आभास दिया है—इसमें विरह-वेदना और दुःख की प्रधानता है। इसमें अपने को मार कर ही अग्रसर हुआ जाता है। तुलना कीजिए :—

यह तो है घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुइँ धरे, तब आवे घर माहिं॥—कबीर

इस पद में हठयोग की ओर भी संकेत है। साढ़े तीन हाथ के शरीर में सुमेरु पर्वत की ऊँचाई और 'गगनदिस्टि' हठयोग के प्रेम का आभास देते हैं।

[१२३]

सुअँ कहा मन समुझहु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा ॥
तुम्ह अबहीं जेइं घर पोई। कँवल न बैठि बैठ हहु कोई ॥
जानहि भँवर जो तेहि पँथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिए न छूटे ॥
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइअ नाहि राज के साजू ॥
ओहि पँथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती, तपा, संन्यासी ॥
भोग जोरि पाइत वह भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू ॥
तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा ॥
साधन्ह सिद्धि न पाइअ, जौ लहि साध न तप्प।
सोई जानहि बापुरे, जो सिर करहिं कलप्प ॥१२३॥

शब्दार्थ—जेइं=खाया। पोई=पकी-पकाई। बैठ हहु=बैठे हो। कोई=कुमुदिनी। उदासी=वैरागी। साधन्ह=इच्छाओं से। साध=साधना। तप्प=तपस्या। कलप्प=काट डाले।

अर्थ—तोते ने कहा कि हे राजा! मन में विचार कर लो। प्रीति का करना कठिन कार्य है। तुमने तो अभी तक घर की पकी-पकाई आराम से खाई है। तुम उस भौंरे के समान हो जो कमल पर नहीं बैठा है, कुमुदिनियों पर ही बैठता रहा है। कमल पर बैठने के उन कष्टों को तो भौंरा ही जानता है, जो उस पथ पर उसे मिले हैं। उसने जान दे दी, फिर भी मुक्त न हो सका है। सिंहल का राज्य पाना बड़ा कठिन है, राज्य के ठाट-बाट के बल पर तुम उसे कभी नहीं पा सकते। उस रास्ते पर तो वही जा सकता है जो वैरागी, जोगी, यती, तपस्वी या संन्यासी होता है। यदि भोगों को जोड़ कर कोई उस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता तो सुखों को छोड़ कर कोई भी योगाभ्यास न करता। तुम राजा हो और सुख प्राप्त करना चाहते हो, पर निश्चय जानिए योग और भोग की कभी नहीं बनती। इच्छाओं मात्र से सिद्धि नहीं प्राप्त होती जब तक कि साधना और तप न हों। उसको तो वे ही बेचारे जानते हैं जो अपने सिर को काट डालते हैं।

[१२४]

का भा जोग कहानी कथें। निकसै न घिउ बाजु दधि मथें ॥
जौं लहि आपु हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई ॥
पेम पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़ै सीस सौं चढ़ा ॥
पंथ सूरि कर उठा अंकूरू। चोर चढ़ै, कि चढ़ै मंसूरू ॥

तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरें घटहिं माँह दस पंथा॥
काम क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पाँचौ चोर न छाड़हि काया॥
नव सेंधं ओहि घर मँझिआरा। घर मूसहि निसि, कै उजिआरा॥
अबहूँ जाग अयाने, होत आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागिहि, मूसि जाहिं जब चोर॥१२४॥

शब्दार्थ—बाजु-पाठान्तर-बिनु=बिना। हेराइ=खोये। हेरत=खोजते। सूरिन्ह=शूलियों। अंकूरू=अंकुर, फल, धार। मंसूरू=मंसूर एक सूफी था जो ईश्वरीय प्रेम में दीवाना होकर अनलहक का जाप करता हुआ बगदाद के खलीफा मुक्तदिर की आज्ञा से शूली पर चढ़ा दिया गया था। पहिरसि=पहिनोगे। कंथा=कथरी, गूदड़ी। तोरें=तुम्हारे। घटहिं माँहि=हृदय में ही। दस पंथा=दस मार्ग (दश इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय)। मूसहिं=लूट रहे हैं। नव सेंधें=नव इन्द्रिय द्वार (२ आँख, २ कान, २ नाक, मुख, और २ गुह्य अंग)।

अर्थ—तोता राजा से कहता है कि योग की कहानी कहने से कुछ नहीं होता, बिना दही मथे कभी भी घी नहीं निकल सकता। जब तक कोई व्यक्ति स्वयं नहीं खो जाता, तब तक कोई उसे खोज नहीं सकता। दैव ने प्रेम के पहाड़ को बड़ा कठिन बनाया है। उस पर तो वही चढ़ सकता है जो अपने शीश को चढ़ा सकता है। उसमें तो शूलियों के पंथ हैं जिन पर धारे उठी हैं, उस शूली पर या तो चोर ही दण्ड के रूप में चढ़ सकता है या मंसूर जैसा सूफी ही। तुम राजा हो, गुदड़ी क्या पहिनोगे? अर्थात् जब तक तुम्हारे हृदय में राजसी वृत्तियाँ हैं, जोगी का वेष धारण करने से कोई लाभ नहीं। तुम्हारे शरीर में ही दस मार्ग (दश इन्द्रियाँ) है। काम, क्रोध, तृष्णा, मद, माया ये पाँचों चोर शरीर को नहीं छोड़ रहे हैं। इस शरीर रूपी घर में नव सेंधें (नकब) बनी हैं। चोर लोग रात-दिन लूट रहे हैं। इसलिए हे अनजान! अब भी तो जागो, रात्रि का सवेरा होने वाला है, जब चोर लोग सब लूट ले जायेंगे तब हाथ कुछ न लगेगा।

टिप्पणी—इस पद में हीरामनि का गुरुत्व स्पष्ट है। नख-शिख में यह व्यंजना से संकेत रहा था और पद्मावती रूपी अध्यात्म ज्ञान की ओर इच्छा उकसा रहा था, अब जब प्रेम जाग्रत हुआ तो वह स्पष्ट शब्दों में जगा रहा है।

[१२५]

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, पेम चित लागा॥
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा॥
हिएँ की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिआर भा बूझा॥
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी

जौ पै नाहीं अस्थिर दसा। जग उजार का कीजै बसा।।
गुरू बिरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।।
अब कै फनिग भृंगि कै करा। भँवर होउँ जेहि कारन जरा।।
फूल फूल फिरि पूछौं, जौं पहुँचौ ओहि केत।
तन नेवछावर कै मिलौं, ज्यौं मधुकर जिउ देत।। १२५।।

शब्दार्थ—पलक न मार=पलक नहीं गिराता। अस्थिर=स्थिर। फनिग=पतिंगा। भृंगि=एक कीड़ा जो पतिंगे के चारों ओर गा-गा कर उसे इतना मुग्ध कर देता है कि पतिंगा भी भृंगी बन जाता है[1]। करा=कला, व्यापार। केत=केतकी।

अर्थ—उसकी बात सुनकर राजा का मन जाग उठा। उसका मन प्रेम में इतना लगा था कि उसने पलक मारना भी बन्द कर दिया था, अब उसकी आँखों से मोती और मूँगे की भाँति आँसू रक्तबिन्दु गिरने लगे। वह इस प्रकार मग्न हो गया जैसे गूँगा गुड़ खाकर मस्त हो जाता है। अर्थात् अध्यात्म-प्रेम रहस्यमय है, उसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। हृदय की ज्योति प्रकाशित हुई, अब उसे वही द्वीप (सिंहल द्वीप) दिखाई पड़ने लगा और यहाँ का द्वीप अँधेरा लगने लगा। अर्थात् उस प्रकाश के कारण अज्ञानान्धकार दूर हुआ और सत्य दिखाई पड़ने लगा। ज्ञान-दृष्टि उलट गई, माया से चित्तवृत्ति विमुख हो गई और संसार को झूठा समझ कर फिर न पलटी। जबकि संसार की दशा स्थिर नहीं है तब तो संसार उजाड़ खण्ड ही है, उसमें बस कर क्या करना? गुरु तो शिष्य के हृदय में विरह रूपी चिनगारी ही डाल सकता है, पर चेला तो वह है जो उस चिनगारी को प्रदीप्त कर ले। अब मैं भृंगी और पतिंगे की कला करूँगा, अर्थात् जिस प्रकार पतिंगा भृंगी के मन्त्र पर भृंगी ही बन जाता है, इसी प्रकार मैं भी तुम्हारे कहे हुए वचनों के अनुसार बदल कर अपने पूर्व रूप को बिलकुल भुला दूँगा। अब मैं उस पद्मावती (पद्म) के लिए भौंरा बनूँगा जिसकी विरहाग्नि में जल रहा हूँ। प्रत्येक फूल-फूल से उसको पूछता हुआ फिरूँगा जिससे यदि उस केतकी रूपी पद्मावती के पास पहुँच जाऊँ तो उससे अपने शरीर का उत्सर्ग करके इस प्रकार मिलूँगा जैसे भौंरा केतकी के काँटों में बिंध कर जान दे देता है।

---

१. किम्वदन्ती का समाधान इस प्रकार किया जाता है—

मादा भृंगी पतिंगे को मार कर उसी के शरीर पर अण्डे दे देती है। कुछ समय बाद अण्डों में से बच्चे निकलते हैं और मरे हुए पतिंगे को खाकर पलते रहते हैं। अन्त में वे पतिंगे की मृत ठठरी को छोड़कर उड़ जाते हैं। लोक-धारणा के आधार पर जब कोई किसी के ध्यान में तन्मय हो जाता है और अपने को उसी में सर्वथा मिला देता है तो उसकी उपमा भृंगी कीट से दी जाती है। जैसे— **राधा माधव भेंट भई।**

राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।।—सूरसागर

अलंकार—रूपक ।

इस पद के पश्चात् कुछ प्रतियों में एक पद और मिलता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अर्थ की दृष्टि से भी यह पद अप्रासंगिक है। इस पद में राजा के भाई, बन्धु और मित्र राजा को समझाते हैं और राजा अपने निश्चय को बताता है। १२० से १२२ पदों में भी राजा के सम्बन्धी और सगे उसे समझा चुके थे, अतः अब उनका फिर समझाना एक प्रकार से अनावश्यक है। पद इस प्रकार है—

बंधु मीत बहुतै समुझावा । मान न राजा कोउ भुलावा ।।
उपजी पेम पीर जेहि आई । परबोधित होइ अधिक सो आई ।।
अमृतबात कहत विष जाना । पेम के वचन मीठ कै माना ।।
जो ओहि विषं मारि कै खाई । पूछहुँ तेहिसन पेम मिठाई ।।
पूँछहु बात भरथरिहिं जाई । अमृत राज तजा विष खाई ।।
औ महेस बड़ सिद्ध कहावा । उनहूँ विषं कण्ठ पै लावा ।।
होत आव रवि किरन विकासा । हनुवंत होइ को देइ सुआसा ।।
तुम सब सिद्धि मनावहु, होइ गनेस सिधि लेव ।
चेला को न चलावं, तुलै गुरु जेहि भेव ।।

अर्थ—बन्धु और मित्रों ने उसे बहुत समझाया पर राजा किसी प्रकार का समझाना नहीं मानता। जिसके हृदय में प्रेम की पीड़ा का निवास होता है वह फिर प्रेम से ह प्रबोधित होता है। अमृत की बात भी कोई कहे तो वह उसे विष ही मानता है। वह तो केवल प्रेम की बात को ही मीठी मानता है। जो उस विष को ही मार के खा जाता है वही प्रेम के मिठास को जानता है। इस प्रेम की मिठास को जाकर राजा भर्तृहरि से पूछो जिसने अपने राज्य के अमृत को छोड़कर प्रेम का विष खाया। महेश (शंकर) भी बड़े सिद्ध कहे जाते हैं, उन्होंने भी विष को कण्ठ में धारण किया। अब तो प्रातःकाल होने वाला है, कौन हनुमान् होकर आशा दे। अर्थात् राजा में प्रेम की लक्ष्मण-शक्ति लगी है, कौन उसे बचावे ? उत्तर में कहता है कि तुम सब सिद्धि मनाओ, शिष्य को और कोई नहीं चला सकता, वह तो केवल गुरु के संकेत पर चलेगा। तात्पर्य यह कि अब रत्नसेन किसी की बात न सुनेगा, वह तो केवल गुरु के पथ-दर्शन पर चलेगा।

———

१२. जोगी-खण्ड

[१२६]

तजा राज, राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी ॥
तन बिसँभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम, परी सिर जटा ॥
चंद बदन औ चन्दन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
मेखल, सिंगी, चक्र धँधारी। जोगौटा रुद्राख, अधारी ॥
कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ॥
मुंद्रा स्रवन, कण्ठ जपमाला। कर उदपान, काँध बघछाला ॥
पाँवरि पाँव, लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह, भेस कै राता ॥
चला भुगुति माँगै कहँ, साजि कया तप जोग ।
सिद्ध होउँ पदुमावति पाएँ, हिरदे जेहि क बियोग ॥ १२६ ॥

शब्दार्थ—किंगरी=छोटी सारंगी या चिकारा जिसे बजाकर जोगी भीख माँगते हैं। विसँभर=बेसँभाल, बेसुध। धँधारी=गोरख धंधा, एक में गुछी हुई लोहे की पतली कड़ियाँ जिनमें उलझे हुए डोरे या कौड़ी को गोरख-पंथी साधु अद्भुत रीति से निकलते हैं। जोगौटा (सं० योगपट्ट)=वह वस्त्र जिसे जोगी ध्यान करते समय सिर से पैर तक डाले रहते हैं। ध्यान के उपरान्त यह पट कंधे पर पड़ा रहता है। डंड=आबनूस का बना हुआ एक छोटा डंडा जिसे घुमाकर जोगी चमत्कार दिखाते हैं। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा=वेष धारण कर लेने के पश्चात् गोरख-पंथी साधु 'जय श्री गोरखनाथ' बोलते हैं। अधारी=वह टिकठी जिसके सहारे योगी बैठते या कभी-कभी सो लेते हैं। (**सिंगी भसम अधारी मुद्रा दै जदुनाथ पठाए। —सूरसागर**) उदपान=कमंडल । पाँवरि=खड़ाऊँ। राता=गेरुआ ।

अर्थ—इस पद में राजा के जोगी हो जाने पर उसके वेष का वर्णन है—

राजा ने राज्य छोड़ दिया और योगी हो गया। उसने हाथ में छोटी सारंगी ले ली और वियोगी हो गया। वह शरीर की सुध-बुध भूल गया और पागल की भाँति पद्मावती का नाम रटने लगा। वह प्रेम में उलझ गया, उसके सिर पर जटा हो गई। उसने अपने चन्द्रमुख और चन्दन लगने वाले शरीर में भस्म लगा ली और शरीर को मिट्टी ही बना दिया। उसने जोगियों की भाँति मेखला, सींग का बाजा, चक्र, धंधारी, जोगबाट, रुद्राक्ष की माला और अधारी ले ली। गुदड़ी पहन कर हाथ में डंडा ले लिया और सिद्ध बनने के लिए, जय श्री गोरखनाथ, का उच्चारण किया। कान को छेद कर स्फटिक की

मुद्रा कान में डाल ली, कंठ में जपने वाली माला पहिन ली, हाथ में कमण्डल और कन्धे पर बाघम्बर धारण कर लिया। पैर में खड़ाऊँ और सिर पर छाता, हाथ में खप्पर और गेरुआ वेश धारण कर लिया। इस प्रकार शरीर को जोगी और तपस्वी के अनुरूप सजा कर राजा भुक्ति (भिक्षा) माँगने के लिए चल पड़ा और सोचने लगा कि पद्मावती के पाने पर ही सिद्ध बनूँगा जिसके लिए हृदय में इतना वियोग है।

[१२७]

गनक कहहिं करु गवन न आजू। दिन लै चलहि, फरै सिधि काजू॥
पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत, न नयनन्हि आँसू॥
पंडित भुलान, न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूँछ न कालू॥
सती कि बौरी पूँछै पांड़े। औ घर पैठि समेटै भाँड़े॥
मरि जो चलै गांग गति लेई। तेहि दिन घरी कहाँ को देई॥
मैं घर बार कहाँ कर पावा। घर काया पुनि अन्त परावा॥
हौं रे पंखेरू पंखी, जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम्ह आपन घर जाहु॥१२७॥

शब्दार्थ—गनक=ज्योतिषी। सरेखा=होश में। कया=काया, शरीर। बौरी=बावली, भोली। पाठान्तर-बेरा (सं० वेला)=समय। गांग गति=मृत्यु निकट जानकर व्यक्ति को गंगातट पर ले जाते थे, जहाँ वह प्राण छोड़ता था।

अर्थ—जब राजा चलने को तैयार हुआ तो ज्योतिषियों ने कहा कि हे राजा! आज प्रस्थान न करो। जो शुभ दिन को विचार कर अच्छे मुहूर्त में चलता है उसे अपने कार्य में सिद्धि होती है। इस पर राजा ने उत्तर दिया कि—प्रेम का पंथ दिन और घड़ी को नहीं देखता, देखता तो आदमी तब है जब उसे होश रहती है। प्रेमी की दशा तो विचित्र है—जिसके शरीर में प्रेम होता है उसके शरीर में न माँस होता है, न रक्त और न उसकी आँखों में आँसू होता है। पंडित लोग तो भ्रम में होते हैं, वे चाल को नहीं जानते—भला जब काल मनुष्य का जीव लेता है तब भी क्या वह दिन और घड़ी पूछता है? सती जब पति के साथ जलने जाती है तो क्या पंडित से मुहूर्त पूछती है और यदि मुहूर्त न हुआ तो घर में बैठकर बर्तनों को समेटती है? जो गंगा की गति प्राप्त करने के लिए मरने चलता है वह दिन और घड़ी कहाँ विचारता है? अपने सम्बन्ध में राजा कहता है कि यह जो मुझे घर-द्वार मिला था वह मेरा कहाँ है? घर और शरीर अन्त में दूसरे के ही तो होंगे। अब तो मैं उसी वन का पक्षी हूँ जहाँ पर मेरा निर्वाह होगा, मैं प्रसन्नतापूर्वक उसी वन को जा रहा हूँ, तुम सब अपने-अपने घर जाओ।

उस के वैभव में कोई लोभ नहीं रहता।

[१२८]

चहुँ दिसि आन सोंटिअन्ह फेरी। भै कटकाई राजा केरी ॥
जांवत अहे सकल ओरगाना। सांबर लेहु, दूरि है जाना ॥
सिंघल दीप जाइ सब चाहा। मोल न पाउब जहाँ बेसाहा ॥
सब निबहिहि तहँ आपनि सांठी। सांठी बिना रहब मुख मांटी ॥
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलै सब लोगू ॥
गरब जो चढ़ै तुरै की पीठी। अब सो तजहु सरग सौं डीठी ॥
मंत्रा लेहु होहु सँग लागू। गुदरि जाइ सब होइहि आगू ॥
का निचिंत रे मनुसे, आपनि चिंता आछु।
लेहि सजग होइ अगुमन, फिरि पछिताहि न पाछु ॥१२८॥

शब्दार्थ—आन=सं० आज्ञा > प्रा० आणा=घोषणा। सोंटिअन्ह=सोंटा बरदार, छड़ी हाथ में रखने वाले, दौवारिक। फेरी=फिरा दी। कटकाई=दलबल के साथ चलने, की तैयारी। केरी=की। जांवत=जितना। ओरगाना=अरबी शब्द अरकान (रुक्न=खम्भा का बहुवचन) सरकार के खम्भे, अमीर उमरा प्रधान सामंत। (देखिए पद ९९) सांबर=संवल, रास्ते की खाद्य सामग्री। बेसाहा=खरीदना। सांठी=पूँजी। तुरै=घोड़ा। गुदरि जाइ=हाजिर होकर (बादशाह के सम्मुख लोग उपस्थित होते थे और सेना राजा के सामने से गुजरती थी। —(भाभिनुसार गुदारा लागा—तुलसी)।

अर्थ—चारों ओर डौंडी वालों ने घोषणा कर दी और राजा के चलने की पूरी तैयारी हो गई। जितने भी सर्दार हैं सभी लोग अपने-अपने साथ खाद्य-सामग्री ले लें क्योंकि बहुत दूर जाना है। सभी लोग सिंहलद्वीप जाना चाहते हैं, वहाँ पर कोई वस्तु नहीं मिल सकती। सभी लोग अपनी-अपनी पूँजी से ही निर्वाह कर सकते हैं। यदि साथ में पूँजी नहीं है तो मुख में धूल ही पड़ेगी। राजा तो अपनी तैयारी से चल पड़ा है और सब लोग भी तैयारी करके जल्दी चल पड़ें। जो घमण्ड के घोड़े की पीठ पर चढ़ता है उसे अब वे छोड़ दें और आकाश पर दृष्टि एक कर चल पड़ें। मन्त्र लो और साथ हो जाओ, आगे होकर सभी लोग उपस्थित हो जायें। हे मनुष्य ! निश्चिन्त क्यों हो, अपनी चिन्ता करो, सजग होकर मन को आगे बढ़ाओ जिससे फिर पीछे न पछताना पड़े।

[१२९]

बिनवै रतनसेनि कै माया। माथें छत्र, पाट निति पाया ॥
बेरसहु नव लख लच्छि पिआरी। राज छाँड़ि जनि होई भिखारी ॥
निति चंदन लागै जेहि देहा। सो तन देखु भरब अब खेहा ॥
सब दिन रहेउ करत तुम्ह भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू ॥
कसें धूप सहब बिनु छाहाँ। कैसें नींद परिहि भुइँ माहाँ ॥

कैसें ओढ़ब काँवरि कंथा। कैसें पाऊँ चलब तुम्ह पंथा ॥
कैसें सहब खिनहि खिन भूखा। कैसें खाएब कुरकुटा रूखा ॥
राज-पाट, दर, परिगह, सब तुम्ह सों उजिआर।
बैठि भोग रस मानहु, कै न चलहु अँधिआर ॥ १२९ ॥

शब्दार्थ—माया=माता। बेरसहु=विलास करो। साधव=साधोगे। काँवरि=कमरी, कम्बल। कथा=गुदड़ी। कुरकुटा=मोटा कुटा हुआ भात। (मृच्छकटिक में कूट शब्द भात के लिए प्रयुक्त हुआ है—देखिए पद १३२/७)। दर=दल। परिगह=(सं॰ परिग्रह)=राजा का ठाट-बाट।

अर्थ—राजा रत्नसेन की माँ उसके सामने विनय करने लगी कि तुमने सदा मस्तक पर छत्र धारण किया है और सिंहासन पर बैठे हो। तुम यहाँ पर नव लाख लक्ष्मी सदृश प्यारी पत्नियों के साथ सुख भोगो। राज्य छोड़ कर भिखारी मत बनो। जिस शरीर में नित्य चन्दन लगता रहा है, उसमें मिट्टी लगाओगे। सदा तुमने सुख भोगे हैं, अब तप और योग को कैसे साधोगे? किस प्रकार बिना छाया के घूम सकोगे और तुम्हें किस प्रकार जमीन पर नींद लगेगी? किस प्रकार तुम कमरी-गूदड़ी ओढ़ोगे और कैसे पैदल रास्ता चलोगे? क्षण-क्षण कैसे तुम भूख सहोगे और किस प्रकार मोटा-झोटा सूखा-रूखा भात खाओगे? यहाँ का सारा राजपाट, सेना, परिवार आदि तुम्हीं से सुशोभित हैं, यहीं पर रहकर सुख करो। यहाँ पर अन्धेरा करके न जाओ।

[१३०]

मोहिं यह लोभ सुनाउ न माया। काकर सुख, काकर यह काया ॥
जौं निआन तन होइहि छारा। माँटी पोखि मरै को मारा ॥
का भूलहु एहि चंदन चोवाँ। बैरी जहाँ आँग के रोवाँ ॥
हाथ, पाऊँ, सरवन औ आँखी। ये सब ही भरिहैं पुनि साखी ॥
सोत सोत बोलिहिं तन दोखू। कहु कैसें होइहि गति मोखू ॥
जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचंद कस साधत जोगू ॥
ओनहूँ सिस्टि जौं देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा ॥
देखु अन्त अस होइहि, गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंहल दीप जाब मैं, माता मोर अदेश ॥ १३० ॥

शब्दार्थ—निआन=निदान, अन्त में। चोवा=एक प्रकार की सुगन्धि जो अगर की लकड़ी का रस भभके से पानी में चुवाकर बनाई जाती थी। एक सेर अगर से २ तोले से १५ तोले तक चोवा तैयार होता था। छारा=क्षार, मिट्टी। माँटी=मिट्टी, शरीर। पोखि=पोषण करके। आँग=अंग। रोवाँ=रोम। सरवन (श्रवण)=कान। सोत-सोत (स्रोत-स्रोत)=रग-रग। गोपीचन्द=पांचाल के एक राजा थे, इन्होंने गुरु गोरखनाथ के प्रभाव में आकर राज्य छोड़ा था और योगी हो गए थे। राजा भर्तृहरि की बहन मीनावती मैनावती

इनकी माता थी। कजरीवन=कदलीवन। यहाँ सिद्धों का निवास कहा जाता है। ऋषीकेश से बदरिकाश्रम तक का वन प्रदेश महाभारत में कदलीवन कहा गया है। अदेस=आदेश, प्रणाम (देखिए—पद २२/५, ६१/५)।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे माँ! तुम मुझे यह लोभ न सुनाओ। भला किसका सुख और किसका यह शरीर है? जब अन्त में शरीर नष्ट ही हो जायेगा तो इस मिट्टी रूपी शरीर को पोषण करके उसके भार से कौन मरे? इस चन्दनादि के लेप आदि में क्या भूलूँ जबकि अंग का रोम-रोम दुश्मन है। हाथ, पाँव, कान, आँख आदि शरीर के अंग ही ईश्वर के यहाँ मेरे विरुद्ध गवाही देंगे, रग-रग शरीर के दोषों को कह देगी तो बताओ किस प्रकार हमें मुक्ति मिल सकती है? यदि राज्य और सुख अच्छे होते तो भला राजा गोपीचन्द क्यों जोग साधता? उन्होंने भी सृष्टि को विहङ्गम दृष्टि से देखा और राज्य को छोड़कर कदलीवन की राह ली। देखिए, अन्त में ऐसा ही होगा, ऐसा मेरे गुरु ने उपदेश किया है। हे माता! मैं सिंहलद्वीप जाऊँगा, आप मुझे आज्ञा दें।

[१३१]

रोवै नागमती रनिवासू। केइँ तुम्ह कंत दीन्ह बन बासू।।
अब को हमहिं करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होइब जोगिनी।।
कै हम लावहु अपने साथाँ। कै अब मारि चलहु सैं हाथाँ।।
तुम्ह अस बिछुरे पीउ पिरीता। जहवाँ राम तहाँ सँग सीता।।
जौं लहि जिउ संग छाड़ न काया। करिहौं सेव, पखरिहौं पाया।।
भलेहिं पदुमिनी रूप अनूपा। हमतें कोइ न आगरि रूपा।।
भवै भलेहिं पुरुषन्ह कै डीठी। जिन्ह जाना तिन्ह दीन्हि न पीठी।।
देहिं असीस सबै मिलि, तुम्ह माथें निति छात।
राज करहु गढ़ चितउर, राखहु पिय अहिबात।। १३१ ।।

शब्दार्थ—होइव=हूँगी कै=या। सैं=सं० स्वयं। पखरिहौं=(सं० प्रक्षालन धोऊँगी। भवै=भ्रमै, भ्रमती, घूमती हैं। आगरि=आगे बढ़कर। डीठी=दृष्टि। अहिबात=सोहाग।

अर्थ—रनिवास में नागमती रोने लगी और कहने लगी कि हे प्रियतम! तुम्हें वनवास किसने दे दिया? अब हमें कौन सुखी बनायेगा, अतएव अब हम भी आपके साथ जोगिनी बनेंगी। या तो आप हमें अपने साथ लें या अपने हाथ से ही मार जाइए। तुम्हारे जैसे प्रियतम से बिछुड़ कर हम नहीं रह सकतीं, जहाँ राम थे वहीं सीता भी थीं। जब तक शरीर में जीव रहेगा, आपकी सेवा करूँगी और पैर धोऊँगी। भले ही सिंहल की पद्मिनी बड़ी सुन्दरी हो, पर कोई भी स्त्री हमसे अधिक सुन्दर नहीं हो सकती। भले ही पुरुषों की दृष्टि अन्य स्त्रियों को देखकर उनकी ओर घूम जाये पर जिनसे परिचय होता है

उन्हें कभी पीठ नहीं दी जाती अर्थात् पुरुष दूसरी स्त्री की ओर देख भले ही ले, पर जिससे उसका पूर्व प्रेम है उसे छोड़ नहीं देता। हम सब रानियाँ आपको आशीष देती हैं, तुम्हारे मस्तक पर राजछत्र सजा रहे, तुम चित्तौड़गढ़ में रह कर राज्य करो और हमारे सोहाग को अचल रखो।

[१३२]

तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घर नारी॥
राघौ जौं सीता संग लाई। रावन हरी, कवन सिधि पाई॥
यहु संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानहु नहिं देखा॥
राजा भरथरि सुनि रे अयानी। जेहि के घर सोरह सै रानी॥
कुचन्ह लिहें तरवा सहराईं। भा जोगी, कोइ साथ न लाईं॥
जोगिन्ह काह भोग सों काजू। चहै न मेहरी, चहै न राजू॥
जूड़ कुरकुटा पै भख चाहा। जोगिहि तात भात दहुँ काहा॥
कहा न मानै राजा, तजी सबाईं भीर।
चला छाड़ि सब रोवत, फिरि कै देइ न धीर॥ १३२॥

शब्दार्थ—तिरिआ=स्त्री। मते=मत ले, सलाह ले। लेखा=हिसाब। बिछुरि गये=अलग होने पर। तरवा=पैर का तलवा। मेहरी=पत्नी। कुरकुटा=सूखा भात (देखिए पद १२९।७)। तात भात=गर्म पका हुआ चावल। सबईं=सभी। धीर=सान्त्वना।

अर्थ—राजा ने कहा कि तुम स्त्री हो, तुम्हारी मति नष्ट है, वह पुरुष मूर्ख है जो स्त्री की सलाह ले। रामचन्द्र जी ने वन जाते समय सीता को साथ लिया था। पर इससे लाभ क्या हुआ, रावण सीता को हर ले गया, राम को भला कौन सी सिद्धि मिली? यह संसार तो स्वप्न का हिसाब है, बिछुड़ जाने पर मानो एक दूसरे को देखा ही न था। हे मूर्ख, सुन! राजा भरथरी के घर सोलह सौ रानियाँ थीं और वे सब अपने कुचों से उसके पैर के तलवे सहलाया करती थीं, फिर भी वह योगी हो गया और किसी को उसने साथ न लिया। जोगी को भोग से क्या काम? वह न तो पत्नी चाहता है और न राज्य। वह तो केवल सूखा भात भी खाने को ले लेगा, उसे भला गर्म भात जैसे स्वादिष्ट भोजन से क्या? राजा ने किसी का भी कहना न माना और सभी भीड़ को छोड़ दिया। सबको रोता हुआ ही छोड़कर चल पड़ा और लौट कर किसी को धीरज भी न बँधाया।

[१३३]

रोवै मता, न बहुर बारा। रतन चला, जग भा अँधिआरा॥
बार मोर रजिआउर रता। सो लै चला, सुवा परबता॥
रोवहिं रानी, तजहिं पराना। फोरहिं बलय, करहिं खरिहाना॥

चूरहिं गिव अभरन, ओ हारू। अब काकहँ हम करब सिगारू ॥
जाकहँ कहहिं रहसि कै पीऊ। सोइ चला, काकर यहु जीऊ ॥
मरैं चहहिं, पै मरै न पावहिं। उठै आग, तब लोग बुझावहिं ॥
घरी एक सुठि भएउ अँदोरा। पुनि पीछें बीता होइ रोरा ॥
टूट मनै नव मोती, फूट मन दस कांच।
लीन्ह समेटि ओबरिन, होइगा दुःख कर नांच ॥ १३३ ॥

शब्दार्थ—मता=माता। बहुरै=लौटता। बारा=बालक। रजिआउर=सं० राज्यकुल। रता=लीन। परान=प्राण। बलय=चूड़ी। खरिहाना=खलिहान, ढेर। गिव=ग्रीवा, गला। अंदोरा=(आन्दोलन) शोर। ओबरिन=रनिवास का कमरा पाठान्तर बोहेरन=बटोरन। अभरन=आभूषण। नांच=खेल। होइगा= समाप्त हुआ।

अर्थ—माता रोती है पर उसका बालक रत्नसेन नहीं लौटता। जब रत्नसेन चला गया तो सर्वत्र अंधेरा हो गया। माँ रोने लगी कि मेरा बालक राजपाट में लीन था, उसे जंगली तोता लेकर जा रहा है। सारी रानियाँ रो-रो कर प्राण दे रही हैं, अपनी चूड़ियाँ तोड़-तोड़ कर ढेर कर रही हैं। गले के मोती के गहने और हारों को चूर-चूर कर रही हैं कि हम किसके लिए श्रृङ्गार करेंगी ? जिसे हम प्रसन्नतापूर्वक प्रियतम कहती थीं वही अब चला है तो यह प्राण अब किसका है ? वे मरना चाहती हैं तो लोग उन्हें मरने नहीं देते, उनकी आग जब उठती है तो लोग उसे बुझा देते हैं। एक घड़ी तक बड़ा शोर हुआ। फिर पीछे सब रोना-धोना शान्त हो गया। नव मन मोती और दस मन कांच की चूड़ियाँ टूट गईं। अन्त में कमरे की सभी वस्तुएँ समेट ली गईं और दुःख का खेल समाप्त हो गया।

टिप्पणी—*इस पद में जायसी ने सहानुभूतिपूर्ण वर्णन न करके वैराग्य पूर्ण वर्णन किया है। रानियों के रोने का उन्होंने करुणाजनक वर्णन न किया। वरन् अन्त में उसे एक नाच (देखना) मात्र ही कहकर समाप्त कर दिया।*

[१]

निकसा राजा सिंगी पूरी। छाड़ि नगर मेला होइ दूरी ॥
राय राने सब भए बियोगी। सोरह सहस कुँवर भए जोगी ॥
माया मोह हरी सें हाथां। देखेन्हि बूझि निआन न साथा ॥
छाड़ेन्हि लोग कुटुम्ब घर सोऊ। भे निनार दुःख सुख तजि दोऊ ॥
सँवरै राजा सोइ अकेला। जेहि रे पंथ खेलै होइ चेला ॥
नगर नगर औ गावँहि गाऊँ। चला छाड़ि सब ठावँहि ठाऊँ ॥
काकर घर, काकर मढ़ माया। ताकर सब जाकर जिउ काया ॥

चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुश्रा सब भेषु।
कोस बीस चारिहुँ दिसि, जानहुँ फूला टेसु ॥ १३४ ॥

शब्दार्थ—मेला होइ दूरी=दूर जाना होगा। मेला=पहुँचने या जाने का स्थान, (मेलान १३६/३) सिंगी=सींग का बाजा। पूरी=बजाकर। निश्रान=निदान, श्रन्त। निनार=न्यारे-श्रलग। मढ़=मठ।

श्रर्थ—राजा रत्नसेन सींग का बाजा बजाकर चल निकला। नगर के मेले को छोड़ कर दूर हो गया। इसके पीछे श्रौर सब छोटे राजा श्रौर सरदार भी वियोगी हुए श्रौर सोलह हजार राजकुमार भी योगी होकर साथ हो गये। माया-मोह हाथ से हर गया क्योंकि उन्होंने विचारा कि श्रन्त में कोई साथ न जायेगा। उन्होंने कुटुम्ब, घर श्रादि सब छोड़ दिया। दुःख-सुख श्रादि को छोड़कर वे सबसे न्यारे हो गए। श्रब राजा केवल उसी पद्मावती का स्मरण कर रहा था, जिसके रास्ते पर वह चेला होकर जारहा था। नगर-नगर, गाँव-गाँव सभी जगहों को छोड़कर वह चल पड़ा श्रौर सोचने लगा कि किस का घर, मठ श्रौर धन श्रादि है यह सब तो उसी ईश्वर के हैं, जिसका दिया हुश्रा यह शरीर श्रौर जीव है।

जोगियों का काफिला गेरुश्रा वेश करके चल पड़ा, ऐसा प्रतीत होने लगा मानो बीस कोस तक चारों श्रोर टेसू फूले हुए हों।

[१३५]

श्रागें सगुन सगुनिश्राँ ताका। दहिउ मच्छ रूपे कर टाका ॥
भरें कलस तरुनी चलि श्राई। दहिउ लेहु ग्वालिनि गोहराई ॥
मालिनि श्राउ मौर लै गाँथे। खंजन बैठ नाग के माँथें ॥
दहिनें मिरिग श्राइ खौ धाई। प्रतीहार बोला खर बाईं ॥
बिर्ख संवरिश्रा दाहिन बोला। बाएँ दिसि गादुर नहिं डोला ॥
बाएँ श्रकासी धोबिनि श्राई। लोवा दरसन श्राइ देखाई ॥
बाएँ कुररी, दाहिन कूचा। पहुँचै भुगुति जैस मन रूचा ॥

तो के
क्या ?
रोता ह

जाकहँ होहिं सगुन श्रस, श्रौ गवनै जेहि श्रास।
श्रस्टौ महासिद्धि तेहि; जस कवि कहा बिश्रास ॥ १३५ ॥

शब्दार्थ—सगुनियाँ=शकुन बताने वाला। ताका=देखा। टाका=पानी रखने की टंकी। दहिउ=दही। मच्छ=मछली। रूपे=चाँदी। टाका=बर्तन। गोहराई=पुकारा। मौर=विवाह का फूलों वाला मुकुट। गाथे=संग्रथित, गुथे हुए। मिरिग=हिरन। प्रतीहार=तीतर। खर=गधा। बाईं=बायें। बिर्ख=वृष, बैल। सँवरिया=काला। गादर=चमगादड़-पाठान्तर-चाषु=नीलकंठ। श्रकासी=धोबिनि, क्षमकरी

चील जिसका सिर सफेद और सारा अंग लाल या कत्थई होता है[1]। लोक=लोमड़ी। कुरारी=टिटिहिरी। कूचा=क्रौंच पक्षी। भुगुति=भोजन।

अर्थ—जब राजा चला तो शकुन जानने वाले लोगों ने इस प्रकार देखा—चाँदी के बर्तनों में दही और मछली भरी हुई आ रही थी। घड़ा भरे हुए स्त्री आगे मिली। ग्वालिनि 'दही लो' ऐसा पुकारती हुई मिली। मालिनी मौर गुथा हुआ लेकर आगे आई। खंजन पक्षी नाग के सिर पर बैठा हुआ दिखाई पड़ा। दाहिनी ओर हिरन दौड़कर आ गया। बाईं ओर तीतर और गधा बोला। दाहिनी ओर काला बैल बोल उठा और बाईं ओर नीलकंठ बैठा रहा, उड़ा नहीं। बाईं ओर आकाशी धोबिन (क्षेमकरी चील) आ गई और लोमड़ी ने आकर दर्शन दिया। बाईं ओर कुररी और दाहिनी ओर क्रौंच पक्षी बोल रहे थे। इनसे ज्ञात होता था कि मन में जो अभिलाषा थी वैसा भोग मिलेगा।

जायसी कहते हैं कि जिसे इस प्रकार का शकुन हो, वह जिस आशा से प्रस्थान कर रहा है, उसे आठों महासिद्धियाँ मिलेंगी, ऐसा व्यास कवि ने कहा है।

[१३६]

भएउ पयान चला पुनि राजा। सिंघनाद जोगिन्ह कर बाजा॥
कहेन्हि आजु कछु थोर पयाना। कालिह पयान दूरि है जाना॥
ओहि मेलान जब पहुँचिहि कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
एहि आगे परबत की पाटी। विषम पहार अगम सुठि घाटी॥
बिच बिच खोह नदी औ नारा। ठाँवहि ठाँव उठहि बटपारा॥
हनिवँत केर सुनब पुनि हाँका। दहुँ को पार होइ को थाका॥
अस मन जानि सँभारहु आगू। अगुआ केर होहु पछलागू॥
करहि पयान भोर उठि, नितहि कोस दस जाहिं।
पंथी पंथा जे चलहिं, ते का रहन ओनाहिं॥१३६॥

शब्दार्थ—पयान=सं० प्रयाण, प्रस्थान। मेलान=पड़ाव। पाटी=पर्वत की पाटी, चित्तौड़ से दक्षिण पूर्व चलने पर मालवा का पर्वत प्रदेश। बटपारा=लुटेरे। हनिवँत=हनुमान। हाँका=गर्ज[2]। ते=वे। का=क्या। रहन=रहना, टिकना। ओनाहिं=झुकते हैं—पाठान्तर ओठाहिं=उसी जगह।

---

[1]कुंकुम रंग सुअंग जितो, मुखचंद सों चंद सों होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच विसाद हरी है॥
गौरी कि गंग विहंगिनि वेष, कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखि पयान समै तुलसी, सब सोच विमोचन छेमकरी है॥

[2]किम्वदन्ती है कि भारत और लंका के बीच हनुमान जी प्रहरी बनकर आज तक आवाज़ देते हैं जिसके भय से राक्षस लोग इधर न आवें।

बैठि तहाँ भा लंका ताका। छठएँ मास देई उठि हाँका॥

तुलसी—कवितावली उत्तरकांड १८०। देखिए.

अर्थ—फिर प्रस्थान हुआ। राजा चला, जोगियों का शृंगी बाजा बज उठा। उन लोगों ने कहा कि आज तो थोड़ा ही चलना है पर कल का सफर लम्बा है। जब कोई उस निश्चित पड़ाव पर पहुँच जायेगा, तभी हम कहेंगे कि वह एक श्रेष्ठ पुरुष है। इसके आगे पहाड़ी भूमि है, उसमें कठिन पहाड़ और अगम घाटियाँ हैं। बीच-बीच में खोह, नदी और नाले हैं, जगह-जगह पर लुटेरे उठते हैं। वहाँ पर हनुमान की सी गर्ज सुनाई पड़ती है। पता नहीं कौन उस विषम रास्ते को पार कर सकेगा और कौन थक जायगा। ऐसा मन में जानकर पहले से ही सँभलो और अगुआ के पीछे-पीछे चलो। प्रातःकाल उठकर लोग प्रस्थान करते और नित्य दस कोस जाते थे। जो राही रास्ते में जाते हैं वे क्या कभी वहीं टिक रहने की रुचि रखते हैं ?

[१३७]

करहु दिस्टि थिर होहु बटाऊ। आगू देखि धरहु भुइँ पाऊ॥
जौं रे उबट होइ परे भुलाने। गए मारे, पंथ चलै न जाने॥
पावन्ह पहिरि लेहु सब पँवरी। काँट न चुभै, न गड़ै अँकवरी॥
परे आइ अब बनखँड माहाँ। डंडक आरन बींझ बनाहाँ॥
सघन ढाँख बन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख मिलिहि इहाँ कर भूला॥
झाँखर जहाँ सो छाड़हु पँथा। हिलगि मकोइ न फारहु कंथा॥
दहिने बिदर, चँदेरी बाएँ। दहुँ कहँ होब बाट दुहुँ ठाएँ॥
एक बाट गौ सिंघल, दोसर लंक समीप।
हहि आगे पंथ दोऊ, दहुँ गवनब केहि दीप॥१३७॥

शब्दार्थ—उबट=मार्ग से चूका हुआ। पँवरी=खड़ाऊँ। अँकरवरी=अंकरौरी, कंकड़। (अंकरौरी सम गनौ पहारा —चित्रावली।) डंडक आरन=दण्डकारण्य। बींझ=विन्ध्याचल। बनाहाँ[२]=बन में। ढाँख=वृक्ष। झाँखड़=झाड़ियाँ। हिलगि=निकट जा कर। बिदर=बीदर।

---

[२]यह मालवे का पठार और उसके दक्षिण का पहाड़ी प्रदेश है जिसमें नर्मदा बहती है। प्राचीन मार्ग उज्जयिनी से जाता हुआ महेश्वर के पास नर्मदा पार कर पूर्व की ओर बढ़ता था। यहाँ जायसी ने स्थूल रूप में चंदेरी और दक्षिण की ओर बीदर का संकेत किया है। दोनों ही बीच के मार्ग से लगभग बराबर दूरी पर स्थित थे। नर्मदा पार करने के बाद एक स्थल-मार्ग नागपुर की ओर बढ़ता हुआ दक्षिण चला जाता था और दूसरा रतनपुर बिलासपुर होता हुआ उड़ीसा के तट पर पहुँचता था जहाँ से सिंहल और पूर्वी द्वीपों के यात्री जहाज लेते थे। जायसी का संकेत इसी दूसरे मार्ग की ओर है।

अर्थ—जोगियों ने आपसे यह विचार किया कि—अपनी दृष्टि को स्थिर करके पथिक बनो। आगे देखकर जमीन में पैर रक्खो। यदि ऊबड़-खाबड़ स्थान में हम भूल गये तो रास्ते में मारे गये, आगे चलना नहीं जान सकते। पाँवों में खड़ाऊँ पहन लो जिससे पैरों में न तो काँटा चुभे और न कंकड़ी गड़े। अब हम दण्डकारण्य वन के नीचे आ पड़े हैं, जहाँ जंगल ही जंगल हैं, चारों ओर घने वृक्ष फूले हुए हैं, यहाँ यदि भूल गये तो बड़ा दुःख मिलेगा। जिस रास्ते में झाड़-झंखाड़ हैं उसे छोड़ दो, मकोय के पास सँट कर अपनी गूदड़ी न फाड़ो। दाहिनी ओर बीदर और बाईं ओर चंदेरी पड़ेगी। न जाने दोनों के बीच में हमें रास्ता कहाँ मिलेगा ? एक रास्ता तो सिंहल को जाता है और दूसरा लंका के पास जाता है। दोनों रास्ते आगे बँट जाते हैं, पता नहीं हम इस रास्ते से किस द्वीप में पहुँचेंगे ?

[१३८]

ततखन बोला सुआ सरेखा। अगुआ सोइ पंथ जेइँ देखा ॥
सो का उड़ै न जेहि तन पाँखू। लै सो परासहिं बूड़ै साखू ॥
जस अंधा अंधे कर संगी। पंथ न पाव होइ सहलंगी ॥
सुनु मति, काज चहसि जौं साजा। बीजानगर बिजैगिरि राजा ॥
पूँछु न जहाँ कुण्ड और गोला। तजु बाएँ अँधियार खटोला ॥
दक्खिन दहिने रहै तिलंगा। उत्तर माँझे गढ़ा खटंगा ॥
माँझ रतनपुर सौंह दुआरा। झारखण्ड दै बाउँ पहारा ॥
आगें पाउँ आड़ैसा, बाएँ देहु सो बाट।
दहिनावर्त लाइकै, उतरु समुंद्र के घाट ॥१३८॥

शब्दार्थ—ततखन=तत्क्षण, तुरन्त। परासहि=पत्ते को। साखू=शाखा। सहलंगी=साथ मार्ग लांघने वाला साथी। बीजानगर=जायसी ने जिस मार्ग की चर्चा की है वह एक चालू मार्ग था। चित्तोड़ से दक्षिण-पूर्व की दिशा में उज्जैन-इन्दौर की पहाड़ी पट्टी को पार करने के बाद विंध्याचल के वनों के बीच से दण्डक वन में मार्ग जाता था। यह नर्मदा के दोनों ओर फैला हुआ जंगल था। यहाँ माहेश्वर के पास नर्मदा के पुराने घाट पर मार्ग उतरता था। यही बीजागढ़ का राज्य मांडू से ६० मील दक्षिण था (अकबरनामा पृ० १८) सुदूर दक्षिण में बीजानगर या विजय नगर का साम्राज्य था जो कि रतनसेन के मार्ग से अलग ही छूट जाता था। कुंड औ गोला=गोलकुण्डा—बीजागढ़ राज्य से एक रास्ता दक्षिण की ओर खान देश होता हुआ गोलकुण्डा के लिए जाता था। जायसी का अभिप्राय इसी रास्ते से है। अँधियार खटोला=सागर-दमोह का घना जंगली इलाका। खटंगा=कटंग, जबलपुर से मांडल-तक फैला हुआ प्रदेश जिसे गोंडवाना कहते थे। झारखंड=छत्तीसगढ़ और गोंडवाने का उत्तर भाग। सौंह दुआरा=सिंह द्वारा-छिंदवाड़ा।

दहिनावर्त=दक्षिणावर्त । ओड़ैसा=उड़ीसा ।

अर्थ—तुरन्त ही चतुर तोता बोल उठा कि अगुवा वही हो सकता है जो रास्ते को पहले से देखे हुए है। जिसके शरीर में पंख ही नहीं वह क्या उड़ेगा? जो अगुवा अयोग्य है वह अपने अनुगामियों के साथ इस प्रकार डूब जाता है जैसे शाखा पत्तों के साथ पानी में डूब जाती है। यदि अंधा अंधे का साथी होगा तो उसे रास्ता कभी नहीं मिल सकता। यदि अपना काम पूरा करना चाहते हो तो मेरी राय सुनो। विजय नगर, बीजागढ़, कुण्ड और गोली (गोलकुंडा) जहाँ है उनकी बात न पूछना, अँधियारे खटोले को बायें छोड़ते हुए आगे बढ़ जाना। दक्षिण में दाहिनी ओर तैलंगाना रह जायगा, उत्तर की ओर गढ़-कटंग मिलेगा। रास्ते में रतनपुर और छिंदवाड़ा पड़ेंगे, बाईं ओर झारखंड का पहाड़ी प्रदेश मिलेगा। आगे पैर रखते ही बाईं ओर उड़ीसा मिलेगा, उसमें दखिनी ओर घूमकर समुद्र के घाट पर उतर जाओ।

टिप्पणी—यहाँ जायसी ने योगमार्ग की ओर संकेत किया है। योगमार्ग में अज्ञानी अपने अनुचर को ले डूबता है। योगमार्ग पर जाने के लिए जिसकी साधना (पंख) नहीं है वह न स्वयं आगे बढ़ सकता है और न दूसरे को बढ़ा सकता है।

[१३९]

होत पयान जाइ दिन केरा। मिरगारन महँ भएउ बसेरा ॥
कुस साँथरि भै सौर सुपेती। करवट आइ बनी भुइँ सेती ॥
कया मलै तेहि भसम मलीजा। चलि दस कोस ओस निति भीजा ॥
ठाँवहिं ठाँव सोवहिं सब चेला। राजा जागै आपु अकेला ॥
जेहि कें हिएँ पेम रँग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥
बन अँधिआर, रैन अँधियारी। भादौं बिरह भएउ अति भारी ॥
किंगरी हाथ गहें बैरागी। पाँच तंतु धुनि उठै लागी ॥
नैन लागु तेहि मारग, पदुमावति जेहि दीप।
जैस सेवाती सेवहिं, बन चातक जल सीप ॥१३९॥

शब्दार्थ—मिरगारन=मृगारण्य। सौर=गद्दा[1]। सुपेती=सफेद। सेती=से। मलीजा=मलना। ठाँवहिं ठाँव=जगह जगह। सेवाती=स्वाति।

अर्थ—प्रस्थान होने पर दिन का बसेरा मृगारण्य में हुआ। राजा कुश की साथरी पर लेटा, वह उसे इस प्रकार लगी मानो सफेद चद्दर से ढका हुआ सुन्दर गद्दा बिछा हो। जमीन से ही लगकर उसने करवट ली। उसके शरीर में भस्म मली हुई थी। दस-दस कोस चलने के बाद वह पड़ाव डालता था और खुले आसमान के नीचे जमीन पर लेटता है।

---

[1]सौर माँह जिन विनउर टोवा। कुस साँथरी सो कैसें सोवा ॥ चित्रावली ॥
तथा—सेत बिछावन सौर सुपेती—जायसी ३३६/६ ॥

ओस के पड़ने से प्रतिदिन उसका शरीर भीग जाता था। पड़ाव पड़ने पर सभी चेले जगह-जगह सो जाते हैं, पर राजा अकेला जागता रहता था। (या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी —गीता) जायसी कहते हैं कि जिसके हृदय में प्रेम का रंग समाया हुआ है उसे भूख, नींद और विश्राम कैसे प्रिय लगेंगे। वन में अँधेरी भादों की रात्रि विरह के कारण राजा को बहुत दुःखदायी सिद्ध हुई। वह हाथ में सारंगी लिये हुए था, उसके पाँचों तारों से एक ही ध्वनि (पद्मावती) निकलने लगी। राजा के नेत्र अब उसी द्वीप के मार्ग पर लगे थे, जिसमें पद्मावती रहती थी। उसकी साधना इसी प्रकार थी जैसे वन में पपीहा और जल में सीप स्वाति नक्षत्र की ओर ध्यान लगाये रहते हैं।

नोट—यहाँ साधक की योग-साधना का रूप चित्रित किया गया है।

---

१३. राजा-गजपति-संवाद खण्ड

[१४०]

मासेक लाग चलत तेहि बाटाँ। उतरे जाइ समुँद के घाटाँ॥
रतनसेनि भा जोगी जती। सुनि भेंटै आएउ गजपती॥
जोगी आपु, कटक सब चेला। कौन दीप कहँ चाहिअ खेला॥
पहिलेहि आए, माया कीजै। हम पहुनई कहँ आएसु दीजै॥
सुनहु गजपती उतरु हमारा। हम तुम्ह एकै, भाव निरारा॥
सो तिन्ह कहँ जिन्ह महँ बहु भाऊ। जो निरभाव न लाव नसाऊ॥
यहै बहुत जो बोहित पावौं। तुम्हतें सिंघल दीप सिधावौं॥
जहाँ मोहि निजु जाना, होहु कटक लै पार।
जौं रे जिऔं लै बहुरौं, मरौं तो ओहि के बार॥ १४०॥

शब्दार्थ—गजपती=उड़ीसा का राजा, यह उपाधि अब तक कलिंग में चली आ रही है। चाहिअ खेला=मन की मौज में जाना चाहते हो। माया=कृपा। पहुनाई=आतिथ्य। उतर=उत्तर। निरारा=अलग। लाव=लगाव। नसाऊ=विगाड़। बोहित नाव। बहुरौं=लौटूँगा। बार=द्वार।

अर्थ—राजा रत्नसेन को उस मार्ग पर चलते हुए एक मास के लगभग लगे, तब वे समुद्र के किनारे पर पहुँचे। कलिंग का राजा यह सुनकर कि राजा रत्नसेन योगी हो गया है, उससे मिलने आया। उसने कहा कि आप योगी हैं और आपकी सारी सेना आपका शिष्यत्व ग्रहण कर के आ रही है, आप लोग किस द्वीप की ओर जा रहे हैं? आप हमारे देश में पहली बार ही आये हैं अतः कृपा कीजिए और मुझे आप सबका आतिथ्य करने की आज्ञा दीजिए। राजा ने कहा कि हे गजपति! तुम मेरा उत्तर सुनो। हम और तुम एक जैसे हैं किन्तु हमारे भाव अलग हैं। आतिथ्य आदि तो उनके लिए हैं, जिनमें

अनेक प्रकार अर्थात् सांसारिक भाव हों। जो लोग बिना भाव के हैं, निर्लिप्त हैं, उनके लिये न कोई लगाव है और न कोई बिगाड़। मेरे लिए तो यही बहुत होगा कि मुझे आपकी ओर से नावें मिल जायँ, जिससे यहां से मैं सिंहल द्वीप चला जाऊँ, जहाँ मुझे निश्चित रूप से जाना है। वहाँ मैं अपने दल-बल के साथ पहुँच जाऊँ, यदि जीवित रहा तो पद्मावती को साथ लेकर लौटूंगा, नहीं तो उसी के दरवाजे पर मर जाऊंगा।

[१४१]

गजपति कहा सीस बरु मांगा। एतने बोल न होइहि खाँगा॥
ये सब बेहु आनि नं गढ़े। फूल सोइ जो महेसहि चढ़ै॥
पै गोसाइं सों एक बिनाती। मारग कठिन, जाब केहि भांती॥
सात समुंद असूझ अपारा। मारहिं मगर मच्छ घरियारा॥
उठे लहरि नहिं जाइ संभारी। भागहिं कोइ निबहै बंपारी॥
तुम्ह सुखिया अपने घर राजा। एत जो दुक्ख सहहु केहि काजा॥
सिंघल दीप जाइ सो कोई। हाथ लिहें जिउ आपन होई॥
खार खीर दधि उदधि सुरा जल, पुनि किलकिला अकूत।
को चढ़ि बाँधहि समुंद ये सातों, है काकर अस बूत॥ १४१॥

शब्दार्थ—बरु=बल्कि। खाँगा=कमी। आनि=लाकर। नं=नवीन। जाब=जायेंगे। भागहि=भाग्य से। निबहै=निर्वाह करना=बचना। बंपारी=व्यापारी। जल=जल का सागर जिसे जायसी ने मानसरोवर लिखा है—सतएं समुंद्र मानसर आए—किलकिला=एक समुद्र। अकूत=अपार। बाँधहि=काबू में कर सकता है, (जहाज पर चढ़ कर पार कर सकता है) पुल बांध सकता हैं। बूत=शक्ति।

अर्थ—गजपति ने कहा कि हे राजा आप तो शीश मांगें तो वह भी हाजिर है। इतने मांगने में तो कोई कमी नहीं हो सकती, ये सब नौकायें मैं बिलकुल नयी बनाई हुई लाकर देता हूँ। फूल तो वही है जो शंकर को चढ़े अर्थात् यह तो हमारा सौभाग्य है कि हम अपनी कुछ वस्तुओं से आपकी सेवा करते हैं। पर स्वामी से हम एक विनती करते हैं कि मार्ग अत्यन्त कठिन है, आप किस प्रकार जा पायेंगे। अत्यन्त अपार और असूझ सात समुद्र बीच में पड़ते हैं। मगर, मछलियां और घड़ियाल जैसे भयंकर जल-जन्तु मनुष्यों को मारने वाले हैं। समुद्र की लहरें ऐसी उठती है कि उन्हें संभाला नहीं जा सकता। विरला ही कोई व्यापारी इन समुद्रों से बच पाता है,तुम तो अपने घर में सुखी थे, भला इतना दुख किस लिए सह रहे हो? सिंहलद्वीप तो वही व्यक्ति जा सकता है जो अपनी जान हथेली पर रक्खे रहता है। मार्ग में सात समुद्र हैं—क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, जल (मानसरोवर) और किलकिला। ये सभी अपार हैं, कौन चढ़कर इन सातों समुद्रों को काबू में कर सकता है? अथवा कौन इस पर सेतु यांध सकता है? किसमें भला इतनी शक्ति है?

टिप्पणी—यहाँ जायसी ने जिन सात समुद्रों का नाम लिया है, वे पुराणानुकूल हैं, केवल किलकिला ही नवीन है। पुराणों के अनुसार सागर हैं—क्षार (खारा पानी), क्षीर (दूध), दधि, घृत, सुरा और मधु। घृत और मधु के स्थान पर जायसी ने उदधि और किलकिला लिखा है।

अलंकार—दृष्टान्त—बेसब देहु.................महेसहिं चढ़े ॥

[१४२]

गजपति यह मन सकता सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ ॥
जौं पहिलें सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई ॥
सुख संकलपि, दुख साँबर लीन्हेऊँ। तौ पयान सिंघल कहँ कीन्हेऊँ ॥
भँवरजान पै कँवल पिरीती। जेहि महँ बिथा पेम कै बीती ॥
औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरु लेखा ॥
सात समुँद सत कीन्ह सँभारू। जौं धरती, का गरुव पहारू ॥
जेइँ पै जिय बाँधा सतु बेरा। बरु जिय जाइ फिरै नहिं फेरा ॥
रंगनाथ हौं जाकर, हाथ ओहि के नाँथ।
गहें नाँथ सो खाँचै, फेरे फिरै न माँथ ॥ १४२ ॥

शब्दार्थ—सकती=शक्ति। सीऊ=सीमा। सँकलपि=दान करके (दान करते समय मंत्र द्वारा संकल्प कराया जाता है), अवधी भाषा भाषी प्रान्त में दान कर देने के अर्थ में संकल्प का प्रयोग होता है। पाठान्तर—त्यागा। साँबर=सम्बल, रास्ते का भोजन पाथेय। बरु=बल्कि-पाठान्तर-करि। गरुव=भारी। नाँथ=नकेल। रंगनाथ=रंग में नथा हुआ, जोगी। नाथ=नाथपंथी, जोगी।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि हे गजपति यह मन तो शक्ति की सीमा है पर बात यह है कि जिसके हृदय में प्रेम है, उसके पास जीव ही कहाँ है, (जीव से तात्पर्य सुखार्थी जीव) जो प्रेम मार्ग में सिर को देकर ही आगे बढ़ता है, उस मरे हुए आदमी का मृत्यु भला क्या कर सकती है? मेरे सम्बन्ध में यदि पूछो तो मैंने सुखों को सर्वथा त्याग कर ही सिंहल द्वीप को प्रस्थान किया है। राजा उदाहरण देता है कि भौंरा ही कमल के प्रति वास्तविक प्रेम को जानता है, इसीलिए उसके भीतर प्रेम की व्यथा भरी है। जिसने उस प्रेम के समुद्र का दर्शन कर लिया है, उसके लिये तो ये सारे भयावह सात समुद्र बूंद मात्र के सदृश हैं। ये सात समुद्र भी सत्य के द्वारा ही सँभाले हुए हैं, धरती भी सत से युक्त है इसीलिए भारी पहाड़ उसका क्या कर सकते हैं? जिसके हृदय में सत का बेड़ा बँधा है उसका चाहे प्राण भले ही चला जाय वह लौट नहीं सकता। इसलिए मेरा संकल्प दृढ़ है—मैं जिसके प्रेम में अब योगी हुआ हूँ, उसी के हाथ में मेरी नकेल है—वही प्रेम की नकेल पकड़े मुझे खींच रही है। अब मत्था फेरे से नहीं फिर सकता। भाव यह कि मुझमें

पद्मावती के पाने का दृढ़ संकल्प है, त्याग की पूर्ण मात्रा है, सत का बल है, अब मैं समुद्र आदि के भय से डर नहीं सकता।

अलंकार—यमक—नाथ के दो अर्थ—योगी, नकेल।
उपमा—भँवर······पहारू।

[१४३]

पेम समुंद अंस अवगाहा। जहाँ न वार पार नहिं थाहा॥
जौं वह समुंद काह एहि परे। जौं अवगाह हंस होइ तिरे॥
हौं पदुमावति कर भिखमंगा। दिस्टि न आव समुंद औ गंगा॥
जेहि कारन गियँ काँथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जाउं तेहि पंथा॥
अब एहि समुंद परौं होइ मरा। पेम मोर पानी कै करा॥
मर होइ बहाँ कतहूँ लै जाऊँ। ओहि के पंथ कोइ लै खाऊँ॥
अस मन जानि समुंद महँ परऊँ। जौ कोइ खाइ बेगि निस्तरऊँ॥
सरग सीस, धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लै लै उठहिं सो बुंद॥ १४३॥

शब्दार्थ—अंस=ऐसा। अवगाहा=अथाह। हंस=उज्ज्वल हंस पक्षी, शुद्ध आत्मस्वरूप। तिरे=पार हुए। काँथरि कथा=फटा पुराना, बिस्तर जिसे जोगी लेते हैं। गियँ=ग्रीवा, गर्दन। निस्तरऊँ=उद्धार होना। कौड़िया=कौड़िल्ला नामक एक पक्षी जो झपट कर पानी में से मछली पकड़ कर फिर ऊपर उड़ने लगता है।

अर्थ—राजा रत्नसेन कहता जा रहा है—प्रेम का समुद्र इतना अथाह है कि उसका कोई वार-पार नहीं है और कोई उसका थाह नहीं लगा सकता। जो कोई इस प्रेम के समुद्र में पड़ता है, वह श्रेष्ठ हंस सरीखा शुद्धात्मा ही होगा और वही उसे पार कर सकता है। मैं तो पद्मावती का भिखारी हूँ, मुझे तो न समुद्र दिखाई पड़ रहा है न गंगा अर्थात् न तो मार्ग कठिन होता है और न आसान। अब जिसके लिए गर्दन में कंथा धारण कर रक्खी है और जोगी बना हूँ, वह जहाँ भी मिलेगी वहीं और उसी रास्ते जाऊँगा। अब तो मैं इस समुद्र में मृतक समान होकर ही पड़ रहा हूँ, प्रेम और पानी की कला (अर्थात् गुण) समान है। दोनों ही मृत व्यक्ति को डुबाते नहीं, बहा ले जाते हैं। मर करके वह जाऊँगा, फिर पानी चाहे जहाँ बहा ले जाय। उस पद्मावती के रास्ते में पड़ा हूँ चाहे कोई हमें खा ले। ऐसा हृदय में विचार कर समुद्र में प्रस्थान करता हूँ। यदि कोई रास्ते में ही हमें खा डालेगा तब तो शीघ्र ही हमारा उद्धार हो ा। मेरा सिर आकाश में, धड़ पृथ्वी पर और हृदय पद्मावती के प्रेम-समुद्र में है; अ रूपी कौड़िल्ला पक्षी उस, प्रेम समुद्र से निकलते हैं तो आंसू रूपी पानी की बूंद गिरती रहती हैं (कौडिल्ला पक्षी जब पानी से निकलता है तो पानी की बूंदें टहकती रहती हैं) इस दोहे में रूपकस्पष्ट नहीं होता है पर भाव यह है कि पृथवी, आकाश और समुद्र में मेरे हृदय का तादाम्म्य है, पद्मावती के प्रेम से हृदय

आपूरित है और जैसे कौड़िया पक्षी बार-बार उड़ता है और समुद्र के पानी में डूबकर निकलता है, उसी प्रकार मेरे नेत्र पद्मावती के प्रेम में डूबे हुए हैं, विरह के कारण आंसू आंख में बार-बार भर आते हैं।

टिप्पणी—सूफी प्रेम में त्याग की मात्रा अधिक होती है, अपने को जलाना और मरना दिखाना सूफी-प्रेम की विशेषता है, प्रेम का यही स्वरूप इस पद में चित्रित है।

अलंकार—रूपक।

[१४४]

कठिन वियोग जोग दुख डाहू। जरमजरत होइ और निबाहू॥
डर लज्या तहँ दुवौ गँवानी। देखं कछु न आगि औ पानी॥
आगि देखि ओहि आगिअ भावा। पानी देखि कै सौंहें धावा॥
जस बाउर न बुझाए बूझा। जौनिहिं भाँति जाइ का सूझा॥
मगर मच्छ डर हिएँ न लेखा। आपुहि जान पार भा देखा॥
औ न खाहि ओहि सिंघ सदूरा। काठहु चाहि अधिक सो झूरा॥
काया माया सँग न आथी। जेहि जिय सौंपा सोई साथी॥
जो कछु दरब अहा सँग, दान दीन्ह संसार।
का जानी केहि के सत, दैय उतारै पार॥ १४४॥

शब्दार्थ—डाहू=दाह, जलन। जरम=जीवन भर। लज्या=लज्जा। दुवौ=दोनों। गँवानी=खोई। भावा=अच्छा लगा-पाठान्तर-धावा=दौड़ा। बुझाए=समझाए। सदूरा=शार्दूल, शेर। चाहि=अपेक्षा। झूरा=सूखा, खूनरहित। आथी=है। माया=धन। दरब=धन।

अर्थ—राजा कहता जा रहा है—जिसके हृदय में कठिन विरह की जलन है, उसका सारा जीवन जलते-जलते ही बीतता है और इसी प्रकार उसका उद्धार होता है। उसके लिए डर और लज्जा दोनों ही जाते रहते हैं। वह आग और पानी अर्थात् दुःख और सुख को नहीं देखता। आग देखकर उसे आग ही अच्छी लगती है, पानी देखकर तो वह सामने ही दौड़ पड़ता है। जिस प्रकार पागल मनुष्य समझाने से नहीं समझता, उसे जैसा ही समझ पड़ता है वैसा ही, इच्छानुसार, चलता है। मगरमच्छ आदि का डर हृदय में नहीं समझ पड़ता, केवल उसे अपना मार्ग ही दिखाई पड़ता है, वह केवल पार जाना चाहता है। उसको शेर, बाघ आदि खा नहीं सकते क्योंकि वह तो काठ से भी अधिक शुष्क और खूनरहित होता है। उसके साथी शरीर, धन आदि कुछ नहीं होते, उसने तो जिसको अपना जीव सौंप दिया वही उसका साथी है। जो कुछ द्रव्य आदि उसके पास थे, उन्हें उसने संसार को दान कर दिया, अब पता नहीं किस के सत् के सहारे भगवान् पार करेगा?

[१४५]

धनि जीवन औ ताकर जिया। ऊँच जगत महँ जाकर दिया॥
दिया सो सब जप तप उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं॥
एक दिया तेइँ दस गुन लाहा। दिया देखि धरमी मुख चाहा॥
दिया सो काज दुहूँ जग आवा। इहाँ जो दिया, उहाँ सो पावा॥
दिया करै आगें उजिआरा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा॥
दिया मँदिल निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा॥
हातिम करन दिया जौं सिखा। दिया अहा धरमन्हि महँ लिखा॥
निरमल पंथ कीन्ह तिन्ह, जिन्ह रे दिया कछु हाथ॥
किछु न कोइ लै जाइहि, दिया जाइ पै साथ॥१४५॥

शब्दार्थ—धनि=धन्य। जिया=जीव। दिया=दिया हुआ-दान। उपराहीं=ऊपर-श्रेष्ठ। लाहा=लाभ, प्राप्त किया। धरमी=धर्मात्मा-पाठान्तर-सब जग। दिया=दीपक। मँदिल=मंदिर, घर। मूसहिं=चुरा ले जाते हैं। हातिम=हातिमताई जो फारस का एक बड़ा दानी था। करन=दानी कर्ण।

अर्थ—राजा रत्नसेन कहता जाता है—

उसका जीवन और जीव धन्य है जिसका दान संसार में श्रेष्ठ है। दान जप, तप आदि से बढ़कर है, संसार में दान के बराबर और कुछ नहीं है। जो एक देता है उसे दस गुना मिलता है। दानी को देखकर सभी धर्मात्मा लोग उसका मुख देखना चाहते हैं। जो कुछ आदमी दान करता है वह दोनों लोकों में काम आता है, इस लोक में जो देता है वही दूसरे लोक में पाता है। दान (दिया हुआ) रूपी दीपक के आगे ही उजेला होता है, जहाँ दान का दीपक नहीं, वहाँ अँधेरा ही होता है। यही घर में रात्रि के समय उजेला करता है, जिस घर में दान रूपी दीपक नहीं होता वहाँ चोर घुसकर लूट लेते हैं। हातिमताई और दानी कर्ण आदि ने दान करना ही सीखा था। दान के माहात्म्य के कारण उनका नाम धर्मात्माओं में लिखा गया है। जिन लोगों ने संसार में कुछ दान किया, उन्हीं ने अपना जीवन-पथ निर्मल किया है। इस संसार में और कुछ भी साथ नहीं जायेगा, जायेगा तो केवल वही जो हमने इस लोक में दान कर दिया।

अलंकार—यमक और श्लेष—दिया=दीपक, दान।

१४. बोहित खण्ड

[१४६]

सत न डोल देखा गजपती। राजा दत्त सत्त दुहुं सती॥
आपन नाहिं कया पै कंथा। जीउ दीन्ह अगमन तेहि पंथा॥
निस्चैं चला भरम डर खोई। साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई॥
निस्चैं चला छाड़ि कै राजू। बोहित दीन्ह, दीन्ह नै साजू॥
चढ़े बेगि, औ बोहित पेले। धनि ओइ पुरुष पेम पंथ खेले॥
तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख बासू॥
पेम पंथ जौं पहुंचै पारां। बहुरि न आइ मिलै एहि छारां॥
एहि जीवन कै आस का, जस सपना तिल आधु।
मुहमद जिअतहि जे मरहिं, तेइ पुरुष कहु साधु॥१४६॥

शब्दार्थ—डोल=चलता। दत्त=दान। सत्त=सत्य। सती=शक्ति। अगुमन=अग्रसर। नै=नये। तिल=क्षण।

अर्थ—राजा गजपति ने देखा कि राजा अपने सत् से नहीं हट सकता, संकल्प में पूर्णतया दृढ़ है। इसमें दान और सत दोनों शक्तियां हैं। यह समझता है कि शरीर अपना नहीं है यह तो पुरानी गुदड़ी के सदृश है। ऐसा जान कर उस मार्ग पर अग्रसर होकर उसने अपना जीवन तक दे दिया। निश्चय ही वह सभी प्रकार के भ्रम और डर को खोकर जा रहा है इसे सफलता मिलेगी क्योंकि सिद्धि वहीं मिलती है जहाँ साहस होता है। यह दृढ़ संकल्प के साथ अपने राज्य को छोड़ कर जा रहा है। राजा गजपति ने उसे नौकाएँ तथा और भी अनेक नये साज-सामान दिये। सभी लोग तुरन्त उस पर चढ़े और उन्होंने नाव को ढकेलना शुरू किया। कवि कहता है कि वे पुरुष धन्य हैं जो प्रेम-पन्थ पर खेलते हैं। ऐसे लोग स्वर्ग पाते हैं जहाँ मृत्यु कभी नहीं होती और सदा सुख का वास मिलता है। जो प्रेम-पन्थ के पार पहुंच जाता है उसे फिर इस संसार में नहीं आना पड़ता। इस जीवन की भला क्या आशा? यह तो ऐसा है जैसे आधे क्षण का स्वप्न। मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि साधु पुरुष तो वे हैं जो जीते हुए मरे हुए हैं अर्थात् ज्ञान में जागरूक होते हुए भी जो संसार के लिए मृत सदृश हैं।

"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः"—गीता।

अलंकार—उपमा।

[१४७]

जस रथ रेंगि चलै गज ठाटी। बोहित चलै, समुंद गा पाटी॥

धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं।।
समुँद अपार सरग जनु लागा। सरग न घालि गनै बैरागा।।
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा।।
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी।।
राजा सेंति कुँवर सब कहहीं। अस अस मच्छ समुँद महँ रहहीं।।
तेहि रे पंथ हम चाहहिं गवना। होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना।।
गुरु हमार तुम्ह राजा, हम चेला औ नाथ।
जहाँ पांव गुरु राखै, चेला राखै माँथ।। १४७।।

शब्दार्थ—रथ=पाठान्तर-बन। रेंगि=धीरे चलता है। गज ठाटी=हाथियों से जुता हुआ। गा पाटी=पट गया। उपराही=अधिक। सरग=आकाश। घालि=फेंकना, डालना। चाल्हा=एक मछली। नराजी=नाराज हुई। बाजी=पड़ी। सँजूत=सावधान।

शब्दार्थ—राजा रत्नसेन के बेड़े का वर्णन कवि इस पद में कर रहा है—

जिस प्रकार हाथियों से जुता हुआ रथ धीरे-धीरे चलता है उसी प्रकार समुद्र में जोगियों का जहाज धीरे-धीरे चला। नावों से समुद्र पट गया। फिर नावें मन से भी अधिक तेज चलने लगीं। एक क्षण में ही वे हजार कोस चली जाती थीं। समुद्र अपार है और स्वर्ग से लगा हुआ मालूम होता था, पर वैरागी लोग सोचने लगे कि कहीं आकाश गिर न पड़े। उसी समय एक बड़ी मछली दिखाई पड़ी जो कि ऐसी प्रतीत हुई मानो धौलागिरि पर्वत ही आ रहा है। चाल्हा के क्रुद्ध होकर चलने पर समुद्र की लहरें उठने लगीं और आकाश को छूने तथा भूमि पर थपेड़े मारने लगीं। राजा से सारे राजकुमार कहने लगे कि क्या ऐसे-ऐसे भयानक मच्छ समुद्र में रहते हैं। हम इस रास्ते से जाना चाहते हैं अतः हमें सावधान हो जाना चाहिए। हम अब इस रास्ते पर लौट नहीं सकते। हे राजा! हम सब साधु तुम्हारे चेला हैं, जहाँ गुरु का पैर पड़ेगा वहाँ चेलों का तो सिर पड़ेगा।

[१४८]

केवट हँसे सो सुनत गवेंजा। समुँद न जान कुँआ कर मेंजा।।
यह तो चाल्ह न लागै कोहू। काह कहौ जो देखहु रोहू।।
अबहीं तो तुम्ह देखे नाहीं। जेहि मुख अैसे सहस समाहीं।।
राज पंखि तिन्ह पर मँडराहीं। सहस कोस जिन्ह की परिछाहीं।।
ते ओइ मच्छ ठोर गहि लेहीं। सावक मुख चारा लै देहीं।।
गरजै गगन पंखि जौं बोलहिं। डोलै समुँद डहन जो छोलहिं।।
तहाँ न चांद न सुरुज असूझा। चढ़ै सो जो अस अगुमनबूझा।।
दस महँ एक जाइ कोइ, करम धरम सत नेम।
बोहित पार होइ जौं, तौ कूसल और खेम।।१४८।।

शब्दार्थ—गबेंजा=बातचीत गप-शप (सावन मास गएंजे कीए, भादों खाए पूआ)। मेंजा=मेंढक। कोहू=किसी को।

अर्थ—वैरागियों की बातचीत सुनकर केवट लोग हँस पड़े और कहने लगे कि कुएँ का मेंढक समुद्र को नहीं जान सकता। यह तो चाल्ह है, यह किसी को भी भयानक नहीं लगती—भला जब तुम लोग रोहू मछली को देखोगे तो क्या कहोगे, अभी तक तो तुमने उसे देखा ही नहीं, ऐसी-ऐसी मछलियाँ तो हजार उसके मुख में समा जायेंगी। उनके ऊपर तो राज पक्षी मँडराते रहते हैं इन हजारों कोस तक उनकी परछाहीं पड़ती रहती है। वे पक्षी इन मछलियों को पकड़ लेते हैं और अपने बच्चों के मुख में उन्हें चारे के रूप से डाल देते हैं। जब आकाश में ये पक्षी बोलते है तो आकाश गरजने लगता है और जब वे अपने डैंने खोलते हैं तो समुद्र डोलने लगता है। न तो समुद्र के उस भाग में चांद है और न सूर्य बिल्कुल ही असूझ है। इस पर वही चढ़ सकता है जो इसे पहले ही से जानता है। उस पर ये कोई एक ही अपने कर्म, धर्म, सत्य और नियम के बल पर जा सकता है अतः, जब हम इस बोहित को पार कर लें तभी क्षेम-कुशल समझो।

[१४६]

राजै कहा कीन्ह सो पेमा। जेहि रे कहाँ कर कूसल खेमा ॥
तुम्ह खेवहु खेवै जौं पारहु। जैसें आपु तरहु मोहि तारहु ॥
मोहि कूसल कर सोच न ओता। कूसल होत जौं जनम न होता ॥
धरती सरग जाँत पर दोऊ। जो तेहि बिच जिय राख न कोऊ ॥
हौं अब कुसल एक पै मांगौ। पेम पंथ सत बाँधि न खांगौं ॥
जौं सत हिएँ ता नैनन्ह दिया। समुँद न डरै पैठि मरजिया ॥
तहँ लगि हेरौं समुँद ढंढोरी। जहँ लगि रतन पदारथ जोरी ॥
सप्त पतार खोजि अस, काढ़े बेद गरंथ ॥
सात सरग चढ़ि धावौं, पदुमावति जेहि पंथ ॥ १४६ ॥

शब्दार्थ—पारहु=सको। ओता=उतना। जाँत (यन्त्र)=चक्की। पर=पल्ला, (चलती चक्की देखि कर, दिया कबीरा रोय। दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय) खाँगौं=कमी रक्खूँ। मरजिया=जीवन पर खेल कर समुद्र से मोती निकालने वाला। हेरौं=खोजूँ। ढँढोरी=छान कर, खोज कर। सरग=आकाश।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि मैंने प्रेम मार्ग का अवलम्बन किया है, इस मार्ग पर कुशल और क्षेम कहाँ मिल सकता है? यदि तुम खे सको तो नावों को खेवो, और जिस प्रकार आप पार हो उसी प्रकार मुझे भी पार ले चलो। मुझे कुशल की उतनी चिन्ता नहीं है, कुशल तो तभी होता जब कि मनुष्य जन्म न मिलता। यह पृथ्वी और आकाश चक्की के दो पाट हैं, इन दो पाटों के बीच में जो पड़ेगा वह बच नहीं सकता। पर मैं केवल एक

कुशल ही माँगता हूँ कि प्रेम पन्थ में सत् की कोई कमी न हो। यदि हृदय में सत् है तो आँखों में ज्ञान का दीपक है। फिर हम कठिनाइयों से इस प्रकार नहीं डरते जैसे गोताखोर समुद्र से नहीं डरता और उसके तल में प्रवेश कर जाता है। मैं भी उसी भाँति वहाँ तक खोजूँगा जहाँ तक रत्न-पदार्थ (रत्नसेन और पद्मावती) की जोड़ी नहीं मिलती, अर्थात् जब तक मेरा पद्मावती का मिलन नहीं हो जाता। मत्स्य अवतार में जिस प्रकार सात पातालों को खोजकर वेद ग्रन्थ को निकाल लिया था उसी प्रकार जिस मार्ग पर पद्मावती है उस पर पहुँचने के लिए सात आकाशों पर दौड़ूँगा।

अलंकार—उपमा—सप्त तार......पंथ।

श्लेष—रतन पदारथ।

१५. सात समुद्र खण्ड

[१५०]

सायर तिरै हिएँ सत पूरा। जौं जियँ सत, कायर पुनि सूरा॥
तेहि सत बोहित पूरि चलाए। जेहि सत पवन पंख जनु लाए॥
सत साथी, सत कर सहिवांरू। सत्त खेइ लै लावै पारू॥
सतै ताक सब आगू पाछू। जहँ जहँ मगर मच्छ औ काछू॥
उठै लहरि नहिं जाइ सँभारा। चढ़ै सरग औ परै पतारा॥
डोलहिं बोहित लहरै खाहीं। खिन तर, खिनहिं होहिं उपराहीं॥
राजैं सो सतु हिरदैं बाँधा। जेहि सत टेकि करै गिरि काँधा॥
खार समुँद सो नाँघा, आए समुँद जहँ खीर।
मिले समुँद वै सातौं, बेहर बेहर नीर॥ १५०॥

शब्दार्थ—सायर=सागर। तिरै=पार करता है। पूरी=भर कर-पाठान्तर-कुरी=समूह। सहिवांरू=संभार, (माताप्रसाद गुप्त भूमिका पृ० ३४) साज-सामान, धन। काछू=कछुए। बेहर-बेहर=अलग-अलग।

अर्थ—कवि कहता है कि सागर को वही पार कर सकता है जिसका हृदय सत से भरपूर है। यदि हृदय में सत है तो वह कायर भी हो तो शूर हो जायगा। उसी सत को भरकर जोगियों ने नावों को चलाया और उसी सत के बल से मानो हवा के पंख लग गए अर्थात् बड़ी तीव्र गति से नावें चलीं। सत्य ही साथी है और सत्य का ही साज, सामान और धन है। सत्य ही खेकर पार ले जा सकता है, सत्य ही आगे-पीछे, जहाँ-जहाँ मगर, मच्छ, कछुए आदि हैं, देख सकता है। लहरें इतनी ऊँची उठती हैं कि सँभाला नहीं जा सकता, वे तो आकाश में चढ़ती हैं और पाताल में गिरती हैं। लहरों के थपेड़े खा-

खाकर नाव डाँवाडोल होती है, कभी नीचे होती है और कभी ऊपर। राजा ने सत को हृदय में बाँध रखा था उसके बल पर तो पहाड़ को भी कंधे पर टेका जा सकता है। के खारे समुद्र को पार कर दूध के समुद्र में पहुँचे। सातों समुद्र एक दूसरे से मिले थे यद्यपि उनके जल अलग-अलग रूप के थे।

[१५१]

खीर समुँद का बरनौं नीरू। सेत सरूप पियत जस खीरू॥
उलथहिं मोंती, मानिक, हीरा। दरब देखि मन धरै न धीरा॥
मनुवाँ चहै दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥
जोगी मनहिं ओहि रिस मारहिं। दरब हाथ कै समुँद पबारहिं॥
दरब लेइ सो अस्थिर राजा। जो जोगी तेहि के केहि काजा॥
पंथहि पंथ दरब रिपु होई। ठग, बटवार, चोर सँग सोई॥
पंथिक सो जो दरब सों रूसै। दरब समेटि बहुत अस मूसै॥
खीर समुँद सो नाँघा, आए समुँद दधि माँह।
जो हहिं नेहु के बाउर, ना तिन्ह धूप न छाँह॥ १५१॥

शब्दार्थ—उलथहिं=उतारते हैं। मनुवाँ—मन-पाठान्तर-मानुष=मनुष्य। पबारहिं=फेंकते हैं। अस्थिर=स्थिर। रूसै=विरक्त हो। मूसै=लूटे। पंथिक=पान्थ, पथिक, साधु।

अर्थ—क्षीर सागर के जल का क्या वर्णन करूँ उसका रंग सफेद और पीने में दूध के समान है। उसमें मोती, माणिक्य और हीरा उतराते हैं धन को देखकर मन को धीरज नहीं होता, लेने की लालसा उत्पन्न होती है। मन तो धन और सुख चाहता है और इन्हीं के पीछे रास्ते को भूल जाता है और योग नष्ट हो जाता है। जोगी उसी क्रोध से मन को मार देता है और हाथ में आये हुए धन को समुद्र में फेंक देता है। द्रव्य तो वह लेगा जो स्थि[illegible] से राजा बनना चाहता है, पर जो जोगी है उसके लिए धन किस काम का ? रास्ते में तो उसका शत्रु हो जायेगा। ठग, लुटेरे, चोर धन के लिए साथ हो जायेंगे। सा[illegible] वह है जो द्रव्य से विरक्त हो जाय, द्रव्य को इकट्ठा करने से तो ऐसे बहुत से योग[illegible] लिये गये अर्थात् अपने मार्ग में असफल हुए।

क्षीर सागर को पार कर दधि सागर में पहुँचे। जो लोग प्रेम के पीछे पागल [illegible] न धूप लगती है और न छाया, वे सुख-दुःख की परवाह नहीं करते—

'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।' —भर्तृहरि

[१५२]

दधि समुँद्र देखत मन डहा। पेम क लुबुध दगध पै सहा॥
पेम सों बाधा धनि वह जीऊ। दही माँहि मथि काढ़ घीऊ॥

दधि एक बूँद जाम सब खीरू। काँजी बूँद बिनसि होइ नीरू ॥
साँस दुआलि मन मँथनी गाढ़ी। हिएँ चोट, बिनु फूट न साढ़ी ॥
जेहि जियँ पेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरहिं डरि भागी ॥
पेम कि आगि जरै जौं कोई। ताकर दुख न अँबिरथा होई ॥
जो जानै सत आपुहि जारै। निसत हिएँ सत करै न पारैं ॥
दधि समुँद्र पुनि पार भे, पेमहिं कहाँ सँभार।
भावै पानी सिर परौ भावै परो अँगार ॥१५२॥

शब्दार्थ—डहा=जला। दग्ध=जलन। जाम=जम जाता है। खीरू=क्षीर। काँजी=खटाई ("कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ"—तुलसी) दुआलि=रस्सी पाठान्तर—देहेड़ि=दही जमाने वाली मटकी (देखिए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पद्मावत पृष्ठ ७२१) मँथनी=मथने की हंडी। बिहून=रहित। साढ़ी=मलाई। अँबिरथा=व्यर्थ निष्फल। निसत=सत्य विहीन। भावै=चाहे।

अर्थ—दधि सागर को देख कर मन जलने लगा पर प्रेम का लोभी तो जलन को सहता है वह जीव धन्य है जो प्रेम से जलाया गया है, और दही को मथकर घी को निकालता है। दही की एक बूँद ही सारे दूध को जमा देती है, पर खटाई की एक बूँद से दूध फट कर पानी छोड़ देता है। स्वाँस रस्सी है मन गहरी हंडी है। जब तक हृदय रूपी रई को गाढ़ी चोट नहीं लगती, मलाई नहीं फटती और घी नहीं निकलता। इसी प्रकार जब तक हृदय, पर चोट नहीं पड़ती, प्रेम का विकास नहीं होता। जिसके हृदय में प्रेम है उसे अग्नि चन्दन हो जाता है, प्रेम से विहीन व्यक्ति इस प्रेम की अग्नि से डर कर भागा-भागा फिरता है। जो कोई प्रेम की आग से जलता है उसका जलना भी निष्फल नहीं होता। जो सत को जानता है वह तो प्रेम की आग में स्वयं अपने को जलाता है, पर जो सत्य से रहित है वह इस सत (तपस्या) को कर नहीं सकता है।

वे दधि सागर को पार कर गये, पर प्रेम सँभाला कैसे जा सकता है। चाहे सिर पर पानी बरसे और चाहे अँगारा बरसे, प्रेमी तो अपने मार्ग पर चला ही जायेगा।

[१५३]

आए उदधि] समुँद अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा ॥
आगि जो उपनी ओहि समुँदा। लंका जरी ओहि एक बुँदा ॥
बिरह जो उपना वह हुत गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत तस बाढ़ा ॥
जेहिं सो बिरह तेहिं आगि न डीठी। सौंह जरै, फिरि देइ न पीठी ॥
जग महँ कठिन खरग कै धारा। तेहिं तें अधिक बिरह कै झारा ॥
अगम पंथ जौं अैस न होई। साध किए पावत सब कोई ॥
तेहि समुँद महँ राजा परा। चहै जरै पै रोवँ न जरा ॥

तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै तेहि नीर।
वह जो मलैगिरि पेम का, बुंद समुंद समीर ॥१५३॥

शब्दार्थ—झारो=लपट। उपनी=उत्पन्न हुई। हुत=था। गाढ़ा=गम्भीर, भयानक। खरग=खड्ग, तलवार। रोवँ=रोम, बाल। साध=इच्छा। तलफै=उबले।

अर्थ—अब ये लोग अपार उदधि समुद्र में आये। उसकी लपटों से पृथ्वी और आकाश सभी जलते हैं। उस समुद्र से जो आग उत्पन्न हुई उसी की एक बूँद मात्र ही लंका जलाने के लिए पर्याप्त थी। उस से जो विरह की आग उत्पन्न हुई थी वह गंभीर थी। वह इतनी बड़ी फैली कि संसार में थोड़ा भी न बुझ सकी। जिसको वह विरह हो जाता है वह आग की परवाह नहीं करता, सामने चलता है, पर पीछे नहीं देखता। संसार में तलवार की धार बड़ी कठिन होती है, पर विरह की ज्वाला उससे भी अधिक है। यदि प्रेम का रास्ता ऐसा अगम न होता तो सभी उसकी इच्छा रखते। ऐसे समुद्र में अब राजा रत्नसेन पड़ा है वह उसमें जलना चाहता है। पर उसका रोम भी नहीं जलता। उस का पानी इस प्रकार उबलता है जैसे आग पर रखे हुए कड़ाह में तेल उबलता है, वह जो प्रेम का मलयगिरि है उसकी रस बूँद से समुद्र की हवा सुवासित हो गई। अर्थात् राजा को प्रेम के कारण उबलता हुआ समुद्र भी सुखकर लगता है।

[१५४]

सुरा समुंद पुनि राजा आवा। महुआ मद छाता देखरावा ॥
जो तेहि पिअै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै पंथ पैगु न देई ॥
पेम सुरा जेहि के जिय माहाँ। कत बैठे महुआ की छाहाँ ॥
गुरु के पास दाख रस रसा। बैरि बबूर मारि मन कसा ॥
बिरहै दगधि कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह जस काठी ॥
नैन नीर सो पोती किया। तस मद चुआ बरै जस दिया ॥
बिरह सरागन्हि भूँजै माँसू। गिरि गिरि परहिं रकत के आँसू ॥

मुहमद मद जो परेम का, किएँ दीप तेहि राख।
सीस न देइ पतंग होइ, तब लगि जाइ न चाखि ॥१५४॥

शब्दार्थ—छाता=महुए के फूल का एक गुच्छा। भाँवरि=चक्कर। सीस फिरै=सिर घूमता है। मन कसा=मन वश में किया। भाठी=भट्ठी। काठी=लकड़ी, ईंधन। पोती=अर्क उतारने में पानी का वह पुचारा जो शराब चुआते समय बर्तन पर फेरा जाता था। इससे भभके से उठी हुई भाप उस बर्तन में जाकर ठंडी हो जाती है और मद्य के रूप में टपकती है (हिन्दी शब्द सागर पृ० २२००)। सरागन्हि=छड़ों पर। चाखि=खाना—पाठान्तर खाध=खाद्य, भोजन।

अर्थ—फिर राजा सुरा-सागर में आया। यहाँ पर जगह-जगह महुए के फूल के छत्ते दिखाई दे रहे थे। जो उस सागर के जल को पीता है उसे चक्कर आने लगते हैं, सिर घूमने लगता है और रास्ते पर पैर नहीं पड़ता। पर प्रेम की शराब जिसके हृदय में है वह भला महुए की छाया में क्योंकर बैठेगा? गुरु के पास रह कर जिसने दाख के रस का आस्वादन किया और बेर बबूर रूपी माया मोह आदि को मार कर अपने मन को वश में कर लिया है तथा जिसने विरह में जलाकर अपने शरीर को भट्टी बना रखा है और हड्डियों को इस प्रकार जलाया है जैसे भट्टी में लकड़ी जलती है। उसकी आँखों से निकलने वाला आँसू मानो पानी की पोती है जिसके कारण प्रेम की शराब बूँद-बूँद टपकती है। यह प्रेम दीपक की भाँति प्रकाशित है। यहाँ पर अर्क बनाने की क्रिया का पूरा रूपक है—भट्ठी जलाई जाती है और उसके ऊपर मिट्टी के बर्तन पर लेप लगा कर गीला कपड़ा लपेटा जाता है जिससे भाप के द्वारा टोंटी से रस बूँद-बूँद टपकता है। भाव यह है कि विरहाग्नि में जलकर प्रेम की सुरा तैयार होती है। विरह रूपी शलाकाओं से राजा अपने माँस को जलाता है और खून के आँसू टपकते हैं।

जायसी कहते हैं कि उस प्रेम का मद तब तक चाखा नहीं जाता जब तक उस दीप का पतङ्गा होकर शीश देकर राख न हो जाय।

अलङ्कार—रूपक।

[१५५]

पुनि किलकिला समुँद महँ आये। किलकिल उठा, देखि डरु खाए॥
गा धीरज वह देखि हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परवत की नाईं। होइ फिरै जोजन लख ताईं॥
धरती लेल सरग लहि बाढ़ा। सकल, समुँद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। महनारंभ समुँद जस होई॥
फिरत समुँद जोजन लख ताका। जैसें फिरै कुम्हार का चाका॥
भौं परलौ निअराएन्हि जबहीं। मरै सो ताकर परलौ तबहीं॥
गै अवसान सबहि कै देखि समुँद कै बाढ़ि।
निअर होत जनु लीले, रहा नैन अस काढ़ि॥१५५॥

शब्दार्थ—हिलोरा=लहरें। महनारम्भ=मथनारम्भ, समुद्र-मन्थन। परलौ=प्रलय। निअराएन्हि=निकट। अवसान=होश-हवास। लीलै=निगल जाय।

अर्थ—फिर सब लोग किलकिला समुद्र में आये। किलकिला समुद्र की उठी लहरों को देखकर सभी लोग डर गये। उन लहरों को देखकर सब का धीरज टूट गया, मानो चारों ओर से आकाश टूट रहा है। लहरें पर्वत की शक्ल में ऊपर उठतीं और लाख योजन तक फैलकर तभी लौटतीं। पृथ्वी से आकाश तक वह समुद्र बड़ा दिखाई पड़ता था मानो सारा

समुद्र ही खड़ा हो गया है। नीचे का पानी ऊपर हो जाता है, मानो समुद्र मन्थन हो रहा है। लाख योजन समुद्र ऐसा चक्कर काटता दिखाई पड़ता जैसे कुम्हार की चाक घूम रही हो। ऐसा मालूम होने लगा कि प्रलय निकट है। इस पर कवि कहता है जो मनुष्य जभी मरे उसके लिए तभी प्रलय है।

समुद्र की बाढ़ देखकर सबके होश-हवास गायब हो गये। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो वह आँखें निकाले हुए है कि निकट आते ही सबको निगल जायगा।

[१५६]

हीरामनि राजा सौं बोला। एही समुंद आइ सत डोला॥
एहि ठाउँ कहँ गुरु संग कीजै। गुरु संग होइ पार तौ लीजै॥
सिंघल दीप जो नाहिं निबाहू। एही ठावँ साँकर सब काहू॥
यह किलकिला समुंद गंभीरू। जेहि गुन होइ सो पावै तीरू॥
एहि समुंद पंथ मंझधारा। खाँडै कै असि धार निनारा॥
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा॥
खाँडै चाहि पैनि पैनाई। बार चाहि पातिर पतराई॥
मरन जिअन एही पँथ, एही आस निरास।
परा सो गया पतारहि, तिरा सो गा कबिलास॥१५६॥

शब्दार्थ—साँकर=सँकरा, कठिन। निनारा=बिलकुल। पाटा=चौड़ाई। चाँटा=चींटी। चाहि=अपेक्षा। खाँडै=तलवार। पैनि=तेज। पैनाई=धार। बार=बाल। गा=गया। कबिलास=स्वर्ग।

अर्थ—हीरामनि तोता, राजा रत्नसेन से कहने लगा कि इसी समुद्र में आकर बड़े-बड़े तपस्वियों का सत डोल जाता है। इसी जगह के लिये गुरु को साथ लेना चाहिए, यदि ऐसी जगह गुरु साथ में हों तो पार हो जाता है। सिंहल द्वीप तक जो निर्वाह नहीं होता उसका कारण यह है कि यही जगह सबको कठिन हो जाती है। यह किलकिला गंभीर सागर है, इसे तो वही पार कर सकता है जिसमें गुण हों। इस समुद्र के बीच में धारा ऐसी तेज है जैसे तलवार की धार! तीस हजार कोस का इसका पाट है, पर इतना संकीर्ण भी है कि चींटी भी नहीं चल सकती। इसके पानी की धारा की तेजी तलवार की अपेक्षा अधिक तेज है और पतलेपन में बाल से भी अधिक पतली है। इसी रास्ते में मरना और जीना है, इसी में आशा और निराशा है। जो इसमें पड़ा वह तो पाताल गया और जो इसे पार कर गया वह तो स्वर्ग पहुँच गया।

इस पद के बाद एक पद और है जिसे डा० माताप्रसाद जी ने अप्रामाणिक सिद्ध किया है। भावधारा की दृष्टि से भी पद अनावश्यक है। पद इस प्रकार है—

राजै दीन्ह कटक कहँ बीरा। पुरुष होहु करहु मन धीरा॥
ठाकुर जेहिक सूर भा कोई। कटक सूर पुनि आपुहि होई॥

जौ लग सत न जिउ सत बाँधा । तौ लहि देइ कहार न काँधा ।।
पेम समुद्र महँ बाँधा बेरा । यह सब समुद्र बूँद जेहि केरा ।।
ना हौं सरग को चाहौं राजू । ना मोंहि नरक सेंति किछु काजू ।।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा । जेइ मोंहि आनि पेम पथ लावा ।।
काठहि काह गाढ़ का ढीला । बूड़ न समुंद मगर नहिं लीला ।।
कान समुद धँसि लीन्हेंसि, भा पाछे सब कोइ ।
कोइ काहू न सँभारै, आपनि आपनि होइ ।।

[१५७]

कोई बोहित जस पवन उड़ाहीं । कोई चमकि बीजु बर जाहीं ।।
कोई भल जस धाव तुखारा । कोई जैस बैल गरिआरा ।।
कोई हरुव जनहुँ रथ हाँका । कोई गरुव भार तें थाका ।।
कोई रेंगहि जानहुँ चाँटी । कोई टूटि होहिं सिर माँटी ।।
कोई खाहिं पवन कर झोला । कोई करहिं पात जेउँ डोला ।।
कोई परहिं भँवर जल माहाँ । फिरत रहहिं कोइ देहिं न बाहाँ ।।
राजा कर अगुमन भा खेवा । खेवक आगें सुवा परेवा ।।
कोइ दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछिराति ।
जाकर साज जैस हुत, सो उतरा तेहि भाँति ।।१५७।।

शब्दार्थ—बीजु=बिजली। बर=जलना। तुखारा=घोड़ा। गरिआरा=सुस्त। हरुअ=हल्का। गरुव=भारी। थाका=थक गया। रेंगहि=धीरे-धीरे चलता है। झोला=झकोरा। अगुमन=आगे। खेवा=नाव। पछिराति=पिछली रात। हुत=था।

अर्थ—कवि नावों का वर्णन करता है—कोई नाव ऐसी चलती है जैसे हवा उड़ रही हो, कोई बिजली के समान चमक रही है, कोई ऐसे तेज चलती है जैसे तुखारी घोड़ा और कोई इतने धीरे चलती है जैसे सुस्त बैल। कोई ऐसी हलकी चलती है जैसे रथ चलाया जा रहा है। पर कुछ अधिक भार से थकी सी चलती हैं। कोई नाव चींटी की भांति धीरे-धीरे चलती है, कोई टूटकर नष्ट हो जाती है। कोई नाव हवा का झकोरा खाती है और कोई पत्ते के समान डोलती रहती है। कोई पानी की भँवर में पड़ जाती है और उसी में चक्कर लगाती रहती है और कोई उसकी सहायता नहीं करता। राजा की नाव सबसे आगे हो गई। नाव के अग्र भाग पर हीरामनि तोता है। कोई तो प्रातः पहुँचा और कोई पिछली रात, जिसकी जैसी तैयारी थी वह उसी प्रकार पार उतरा। भाव यह है कि मनुष्य अपने-अपने ही कर्मों के अनुसार संसार-सागर को पार करता है, दूसरा कोई सहायक नहीं होता। जो जैसा कर्म करता है, उसी के फलस्वरूप वह संसार से तरता है।

अलंकार—समासोक्ति।

[१५८]

सतएँ समुँद मानसर आए । सत जो कीन्ह साहस सिधि पाए ॥
देखि मानसर रूप सोहावा । हियँ हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार, रैनि मसि छूटी । भा भिनुसार, किरिन रवि फूटी ॥
'अस्तु अस्तु' साथी सब बोले । अँध जो अहे नैन बिधि खोले ॥
कँवल बिगस तहँ बिहँसी देही । भँवर दसन होइ होइ रस लेहीं ॥
हँसहिं हँस औ करहिं किरीरा । चुनहिं रतन मुकताहल हीरा ॥
जौं अस साधि आव तप जोगू । पूजै आस, मान रस भोगू ॥
भँवर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ ।
घुन जो हियाव न कै सका, झूर काठ तस खाइ ॥१५८॥

शब्दार्थ—पुरइनि=सं० पुष्करिणी, कमल का पत्ता । मसि=स्याही, अंधेरा । भिनुसार=प्रातःकाल । अस्तु अस्तु=है, है* । दसन=दर्शन, नेत्र । किरीरा=क्रीड़ा, खेल । मुकताहल=मुक्ताफल, मोती । मान रस=मानसरोवर का रस । मनसा=मन में संकल्प किया । हियाव=साहस । झूर=सूखा ।

अर्थ—अन्त में वे सातवें समुद्र मानस पर आ गये । जो तपस्या उन्होंने की उसके फलस्वरूप उन्होंने सिद्धि प्राप्त की । मानस के सुन्दर रूप को देखकर उनका हृदय प्रफुल्लित होकर कमल पत्र के समान खिल गया । अँधेरी दूर हुई, रात बीती, प्रातः हुआ और सूर्य की किरणें फूट पड़ीं—अर्थात् निराशा और दुःख का काल बीता, सुख और आशा का दिन आया । सब साथी लोग बोले, प्रसन्नता से बोले कि 'वह है', वह है'। जो अभी तक अंधे थे उनकी आँखें ब्रह्मा ने खोल दीं । भाव यह कि योगी लोग अज्ञानान्धकार को पार कर गये—उनकी ज्ञान-दृष्टि हो गई, उन्हें ईश्वर का प्रकाश दिखाई पड़ने लगा । उनके मुखरूपी कमल विकसित हो गये और नेत्र रूपी भौंरे के समान मानो उसमें बैठे हुए कमल का रस ले रहे हैं। मानसर में हंस हँसते हैं और क्रीड़ायें करते हैं और रत्न, मोती और हीरा चुनते हैं । कवि कहता है कि जो राजा रत्नसेन के समान इस प्रकार का तप और जोग साधकर आता है उसकी आशायें पूरी होती हैं और वह इसका भोग करता है । जिस भौंरे ने कमल से मिलने का दृढ़ संकल्प किया वही आकर कमल का रस प्राप्त करता है, पर घुन जिसमें कोई साहस नहीं होता वह सूखे काठ को ही खाता रहता है ।

टिप्पणी—जायसी ने मानसर समुद्र की कल्पना स्वयं की है । मानसरोवर कैलाश के पास है । कैलाश पर शंकर जी का निवास है । जायसी ने सिंहल को कैलाश (कविलास)

* छः समुद्र उतरने तक शिष्यों को प्रत्यक्ष दर्शन न मिला था, केवल गुरु के कहने से वे साधक बने थे । सातवें समुद्र में आकर उन्हें स्वयं दर्शन हुआ और उन्होंने कहा—हाँ, है-है । हमारे नेत्रों ने भी देख लिया ।

कहा है। इसलिए उन्होंने उसके समीप मानसर समुद्र की कल्पना कर डाली। आध्यात्मिक पक्ष में भी मानसर; योगाभ्यास (मन की साधना) का अंतिम स्थल है। मानसर से ही योगी परमेश्वर का साक्षात्कार करने लगता है। तभी तो जोगी बोल उठे—"अस्तु-अस्तु।" हंस का तात्पर्य जीवात्मा से लगाया जाता है। परमेश्वर के साक्षात्कार में उसका परमानंद का प्राप्त करना ही मोती और हीरा चुगना और क्रीड़ा करना है।

अलंकार—रूपक और समासोक्ति।

---

१६. सिंहलद्वीप-खंड

[१५९]

पूँछा राजैं कहु गुरु सुवा। न जनौं आज कहाँ दिन उवा॥
पवन बास सीतल लै आवा। कया डहत जनु चंदन लावा॥
कबहुं न अैस जुड़ान सरीरू। परा अगिनि महँ मलै समीरू॥
निकसत आव किरिन रबि रेखा। तिमिर गए जग निरमर देखा॥
उठे मेघ अस जानहुं आगें। चमकै बीजु गँगन पर लागें॥
तेहि ऊपर जस ससि परगासू। औ सो कचपचिन्ह भएउ गरासू॥
और नखत चहुँ दिसि उजिआरे। ठाँवहिं ठाँव दीप अस बारे॥
औरु दछिन दिसि निअरें, कंचन मेरु देखाव।
जस बसंत रितु आवैं, तस बास जग पाव॥१५९॥

शब्दार्थ—कया=काया, शरीर। डहत=दहत, जलते हुए। लावा=लगाया। निरमर=निर्मल। कचपचिन्ह=कृत्तिका नक्षत्र—एक कई तारों का समूह। गरासू=घेर लिया है। बारे=जलाये। नियरे=निकट। बास=सुगन्ध।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने तोते से कहा कि हे गुरु सुआ बताओ—न जाने कहाँ आज सूर्य उदय हुआ है अर्थात् पता नहीं कहाँ हम आज सौभाग्य से पहुँचे हैं। पवन शीतल सुगन्ध ला रहा है, ऐसा जान पड़ता है मानो जलती हुई देह पर चन्दन लगाया गया है। कभी भी शरीर को ऐसी ठंडक नहीं मिली। मानो अग्नि में मलयगिरि की हवा लग रही है। सूर्य की किरणों की रेखा निकल रही है। अंधेरा दूर हो गया है और सारा संसार निर्मल दिखाई पड़ रहा है। सामने उठते हुए बादल से दिखाई पड़ रहे हैं और आकाश पर बिजली चमकती प्रतीत होती है। उसके ऊपर चन्द्रमा का प्रकाश प्रकाशित है और उसके चारों

और कृत्तिका नक्षत्र ने घेर रक्खा है। और भी वहुत से प्रकाशित नक्षत्र हैं जैसे जगह-जगह पर दीपक जल रहे हों। दक्षिण दिशा के पास सोने का सुमेरु पर्वत दिखाई पड़ रहा है, संसार को ऐसी सुगंध मिल रही है जैसे वसन्त ऋतु आ रही हो।

टिप्पणी—योग मार्ग में सिद्धि प्राप्ति के पूर्व आनन्द का आविर्भाव होता है, अनहद नाद सुनाई पड़ता है, ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र दिखाई पड़ता है, सारे वातावरण में उल्लास और दैवी सुगन्ध आती है। कबीर ने इसी स्थिति का निरूपण इस प्रकार किया है—

"गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहर गम्भीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥"

उसी उल्लासमय स्थिति का निरूपण जायसी ने उक्त पद में किया है।

अलंकार—समासोक्ति।

[१६०]

तूँ राजा जस बिक्रम आदी। तूँ हरिचन्द बैन सत बादी॥
गोपिचन्द तूँ जीता जोगाँ। औ भरथरी न पूज बियोगाँ॥
गोरख सिद्धि दीन्हि तोहि हाथू। तारे गुरु मछिंदर नाथू॥
जीता प्रेम तूँ पुहुमि अकासू। दिस्टि परा सिंघल कबिलासू॥
वै जो मेघ गढ़ लाग अकासाँ। बिजरी कनै कोट चहुँ पासाँ॥
तेहि पर ससि जो कचपचिन्ह भरा। राजमँदिर सोनै नग जरा॥
और जो नखत कहसि चहुँ पासाँ। सब रानिन्ह के आहिं अवासाँ॥
गगन सरोवर, ससि कँवल, कुमुद तराईं पास।
तूँ रबि उवा जो भँवर होइ, पवन मिला लै बास॥ १६०॥

शब्दार्थ—विक्रम आदि=विक्रमादित्य। बैन=वचन। गोपिचन्द=राजा गोपीचन्द जो राज छोड़कर जोगी हो गये थे। भरथरी=राजा भर्तृहरि जो योगी हो गये थे। गोरख=गुरु गोरखनाथ। मछिन्दर=मत्स्येन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ के गुरु। कनै=कनक, सोना। जरा=जड़ा हुआ। अवासाँ=आवास, महल।

अर्थ—उपर्युक्त पद में सिंहल के विलक्षण रूप को देखकर राजा चकित हो गया था। उसने जो-जो स्थान देखे थे उन-उनका स्पष्टीकरण इस पद में हीरामनि के द्वारा किया गया है :—हीरामनि तोते ने कहा कि हे राजा! तुम बिलकुल राजा विक्रमादित्य के समान हो और वचनों में सत्यवादी हरिश्चन्द्र ही हो। तूने जोग में राजा गोपीचन्द को भी जीत लिया और तुम्हारे वियोग के सामने राजा भर्तृहरि भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। गुरु गोरखनाथ ने तेरे हाथ सिद्धि दी है और गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने तुझे तार दिया। तूने प्रेम के बल पर सारी पृथ्वी और आकाश को जीत लिया और उसी के

फलस्वरूप तुम्हें कैलाश रूपी सिंहल दिखाई पड़ रहा है। वे जो आकाश में बादल दिखाई पड़ रहे हैं वह राजा का गढ़ है और जो बिजली मालूम हो रही है वह चारों ओर खिंचा हुआ सोने का परकोटा है। उसके ऊपर जो चन्द्रमा और कृत्तिका नक्षत्र मालूम पड़ते हैं, वे राजमहल हैं जिनमें सोने और हीरे जड़े हैं, और जो तुम चारों ओर नक्षत्र कह रहे हो, वे सब रानियों के महल हैं।* आकाश मानसरोवर है, शशी कमल है और तारागण कुमुद हैं। जैसे सूर्य के निकलने पर भौंरा सुगन्ध लेकर आता है वैसे ही तुम्हारे आने पर पवन उस पद्मावती की गन्ध लेकर तुमसे मिलने आ रहा है।

अलंकार—साङ्ग रूपक।

[१६१]

सो गढ़ देखु गँगनु तें ऊँचा। नैन देख, कर नाहिं पहूँचा॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी। औ जमकात फिरै जम केरी॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चंद सुरुज और नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरैं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस टूटि भुइँ बहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छुवा। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चुवा॥
रावन चहा सौहँ होइ हेरा, उतरि गए दस माँथ।
संकर धरा लिलाट भुइँ, औरु को जोगी नाथ॥ १६१॥

शब्दार्थ—जमकात (यमकर्तरी)=यम की कटार। अँतरिख=अन्तरिक्ष। बाजा=पहुँचा। सबाई=सभी। तैस=ऐसा। जरि=जल कर। निआना=निदान, अन्त। बिलाना=नष्ट हो गया। बहुरा=लौटा। सौंह=सामने। नाथ=नाथ सम्प्रदाय का योगी।

---

* तुलसी रामायण में लंका को देखकर इसी प्रकार का प्रश्न और उत्तर राम और विभीषण के बीच हुआ है—

देखु विभीषन दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ वृष्टि जनि उपल कठोरा॥
कहत विभीषन सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न वारिद माला॥
लंका सिखर ऊपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥
छत्र मेघ डंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी॥
मंदोदरी स्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहुँ सुरभूपा॥

अर्थ—तोता कहता जाता है—उस सिंहलगढ़ को देखो जो कि आकाश से भी ऊँचा है। आँख तो देख सकती है पर हाथ वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। बिजली के समान चक्र चारों ओर फिरता है, यमराज का खाँडा फिरा करता है, पर ज्योंही वह चक्र से लड़ गया कि चक्र के मारने से यम का खाँडा दो टुकड़े हो गया। उस चक्र के डर से चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और तारे सभी आकाश में फिरते रहते हैं। हवा ने जाकर उसके समीप पहुँचना चाहा, पर उसने भी ऐसी मार मारी कि वह टूट कर भूमि पर बहने लगी। अग्नि भी उसके समक्ष जल उठी, पर अन्त में बुझ गई, उसका धुआँ उठा पर वहां तक न पहुँच सका, बीच में ही नष्ट हो गया। पानी उस तक पहुँचने के लिए मेघ होकर उठा पर वह उसको छू न सका, लौटा और रोने लगा, इसीलिए आँसू के रूप में ज़मीन पर टपकने लगा। रावण ने सामने होकर उसे देखना चाहा तो उसके दशों सिर कट गये। शंकर जी ने भी उसके सामने अपने मत्थे को ज़मीन पर टेक दिया तो और कोई जोगी-संन्यासी की क्या बात है।

टिप्पणी—इस पद में सिंहल की दुरूहता के ब्याज से हठयोग-साधना की कठिनता का संकेत है। गगन से ऊँचा गढ़=शून्य (आकाश) से ऊपर सहस्रार; नैन=भ्रूमध्य या आज्ञा-चक्र की अंतर्दृष्टि, बिजुरीचक्र=चक्रों की विद्युत् या प्राणधारा, कै मनसाधा=शीघ्रता से हठयोगी साधक की प्राणशक्ति विभक्त हो जाती है। किसी-न-किसी चक्र तक पहुँचकर साधना खण्डित रह जाती है।

अगिनि=सुषुम्णा की साधना। तात्पर्य यह कि हठयोग में प्रायः साधक सफल नहीं होता, असफल होकर रह जाता है।

[१६२]

तहाँ देखु पदुमावति रामा। भँवर न जाइ, न पंखी नामा॥
अब सिधि एक देउँ तोहि जोगू। पहिलें दरस होइ, तब भोगू॥
कंचन मेरु देखावसि जहाँ। महादेव कर मण्डप तहाँ॥
ओहिक खण्ड जस परबत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू॥
माघ मास, पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें॥
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू॥
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा॥

तुम्ह गवनहु मण्डप ओहि, हौं पदुमावति पास।
पूजै आइ बसंत जौं, पूजै मन कै आस॥१६२॥

शब्दार्थ—रामा=सुन्दरी। भँवर=प्रेमलुब्ध व्यक्ति। पंखी=पक्षी। सिरी पंचमी=श्री पंचमी या वसन्त पंचमी। फेरू=घुमाव, चक्कर। उघरहि=खुलेगा। बारू=द्वार। मिसु=बहाने। मेरावा=मिलाप।

अर्थ—तोता कहता है कि देखो वहाँ सुन्दरी पद्मावती है, उसके पास भौंरा या पक्षी का नाम भी नहीं जा सकता। अब मैं तुझे जोग की एक सिद्धि दे रहा हूं। पहले दर्शन

होगा फिर आनन्द प्राप्त होगा। जहाँ तुम सोने का सुमेरु पर्वत दिखा रहे हो वहीं पर शंकर जी का मन्दिर है। उसी के खण्ड मेरु पर्वत के समान हैं। उस सुमेरु पर चढ़ने में अनेक चक्कर करने पड़ते हैं। माघ मास के पिछले पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्ष में वसन्त पंचमी होगी। उस दिन शंकर जी के मन्दिर का दरवाज़ा खुलेगा और सारा संसार शंकर-पूजन के लिए जायेगा। पद्मावती भी पूजन के लिए आयेगी, उसी के बहाने तुम्हें दृष्टि-मिलाप मिलेगा, अर्थात् तुम दोनों परस्पर देखोगे। तुम उसी मन्दिर के लिए प्रस्थान करो और मैं पद्मावती के पास जाता हूँ। जब वह वसन्त पूजने आयेगी तभी तेरे मन की आशा पूरी होगी।

[१६३]

राजैं कहा दरस जौं पावौं। परबत काह, गँगन कहँ धावौं॥
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं, पाय का कहना॥
मोहि भाव ऊँचै सो ठाऊँ। ऊँचे लेऊँ प्रीतम के नाऊँ॥
पुरुषहि चाहिअ ऊँच हिआऊ। दिन दिन ऊँचे राखे पाऊँ॥
सदा ऊँच सेइअ पै बारू। ऊँचे सौं कीजै बेवहारू॥
ऊँचे चढ़े ऊँच खँड सूझा। ऊँचे पास ऊँचि बुधि बूझा॥
ऊँचे संग संग निति कीजै। ऊँचे काज जीव बलि दीजै॥
दिन दिन ऊँच होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़त परिअ जौं, ऊँच न छाड़िअ काउ॥१६३॥

शब्दार्थ—काह=क्या। लहना=पाना। पाय=पैर। हिआऊ=साहस। बारू=द्वार। बूझा=समझता है। परिअ-पाठान्तर—खसि परै=गिर पड़े।

अर्थ—राजा ने कहा यदि मैं पद्मावती का दर्शन पाऊँ तो पर्वत क्या आकाश पर भी दौड़ सकता हूँ। जिस पहाड़ पर उसका दर्शन मिलेगा उस पर पैर की कौन कहे सिर के बल चढ़ सकता हूँ। मुझे भी वह ऊँचा स्थान अच्छा लगता है और उच्चस्वर से ही प्रिय का नाम लेता हूँ। पुरुष का साहस बड़ा होना चाहिए। उसे दिन प्रति दिन ऊँचे पैर रखते जाना चाहिए। सदा उच्च व्यक्ति के द्वार की ही सेवा करनी चाहिए और ऊँचे व्यक्ति से ही व्यवहार रखना चाहिए। ऊँचा चढ़ने से उच्च स्थान ही दिखाई पड़ता है और उच्च व्यक्ति के साथ श्रेष्ठ बुद्धि समझ में आती है। बड़े व्यक्ति के साथ ही संग करना चाहिए और श्रेष्ठ कार्य के लिए अपने जीवन की बलि तक दे देनी चाहिए। जिसकी ऊँचे स्थान पर रुचि होती है वही दिन प्रति दिन ऊँचा चढ़ता जाता है। यदि उच्च स्थान पर चढ़ते समय गिर भी पड़े तो भी उच्च भावना को न छोड़ना चाहिए।

टिप्पणी—जायसी प्रियतम और प्रियतमा में कोई अंतर नहीं मानते थे। प्रायः रत्नसेन के द्वारा उन्होंने पद्मावती के लिए प्रीतम शब्द का प्रयोग किया है—आध्यात्मिक अर्थ में प्रभु या ईश्वर के अर्थ में तो इसकी संगति ठीक बैठ जाती है।

[१६४]

हीरामनि दै बचा कहानी। चला जहाँ पदुमावति रानी ।।
राजा चला सँवरि सो लता। परबत कहँ जो चला परबता ।।
का परबत चढ़ि देखै राजा। ऊँच मँडप सोनै सब साजा ।।
अंब्रित फर सब लाग अपूरी। औ तहँ लागि सजीवनी मूरी ।।
चौमुख मंडप चहूँ केवारा। बैठें देवता चहूँ दुआरा ।।
भीतर मंडप चारि खम्भ लागे। जिन्ह वै छुए पाप तिन्ह भागे ।।
सङ्ख घंट घन बाजहिं सोई। औ बहु होम जाप तहँ होई ।।
महादेव कर मंडप, जगत जातरा आउ।
जो हिंछा मन जेहि कें, सो तैसें फल पाउ ।। १६४ ।।

शब्दार्थ—बचा=वचन। कहानी=आदेश, व्यवस्था। लता=पद्मलता-पद्मावती। परबत=गढ़। परबता=तोता। अंब्रित=अमृत। फर=फल। अपूरी=परिपूर्ण। जातरा =यात्रा, तीर्थ यात्रा। हिंछा=इच्छा।

अर्थ—हीरामनि तोता वचन देकर तथा सभी व्यवस्था बना कर जहाँ रानी पद्मावती थी वहाँ के लिए चल पड़ा। ज्योंही तोते ने सिंहल को प्रस्थान किया, राजा भी उस पद्मावती को स्मरण करता हुआ चला। पर्वत पर चढ़कर राजा क्या देखता है कि शिव का मंडप है जिसमें सभी साज सोने के हैं। सभी अमृत फल वहाँ परिपूर्ण रूप से लगे हैं, साथ ही वहाँ संजीवनी मूल भी लगी है। महल के चार दरवाजे हैं जिनमें किवाड़ें लगी हैं और दरवाजों पर देवता लोग बैठे हैं। मंडप के भीतर चार खम्भे लगे हैं, जो उन खम्भों को छूता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। शंख और घंटे बादल की गरज के समान बजते रहते हैं और बहुत हवन, जप, यज्ञ आदि होते रहते हैं। महादेव जी के इस मन्दिर में सारा संसार तीर्थयात्रा के लिए आता है, जिसके मन में जैसी इच्छा होती है वह वैसा फल पाता है।

टिप्पणी—जायसी प्रत्येक स्थल पर आध्यात्मिक संकेत करते जाते हैं। स्पष्ट है, उक्त वर्णन ईश्वर के ही स्थान का द्योतन करता है। अमृत फल, संजीवन फल, संजीवन मूरि, चार द्वार (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), प्रत्येक पर देवताओं का निवास, संसार का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ—आदि इसीलिए प्रयुक्त हुए हैं।

१७. मंडप-गमन-खंड

[१६५]

राजा बाउर बिरह् वियोगी। चेला सहस बीस संग जोगी ।।
पदुमावति के दरसन आसा । दँडवत कीन्ह मँडप चहुँ पासा ।।
पुरुब बार होइ कैं सिर नावा । नावत सीस देव पहँ आवा ।।
नमो नमो नारायन देवा । का मोहि जोग, सकौं कर सेवा ।।
तूँ दयाल सब के उपराही। सेवा केरि आस तोहि नाहीं ।।
ना मोहि गुन, न जीभ रस बाता। तू दयाल, गुन निरगुन दाता ।।
पुरवौ मोरि दास कै आसा । हौं मारग जोवौं हरि स्वांसा ।।
तेहि विधि बिनै न जानौं, जेहि विधि अस्तुति तोरि।
करु सुदिस्टि औ किरिपा, हिछा पूजै मोरि ।। १६५ ।।

शब्दार्थ—बाउर=बावला, पागल। पुरुब=पूर्व। बार=द्वार। उपराहीं=ऊपर, श्रेष्ठ। निरगुन=बिना गुण वाला। पुरवौ=पूरा करो। हौं=मैं। जोवौं=देखता हूँ।

अर्थ—राजा रत्नसेन विरह से बावला हो रहा था। उसके साथ बीस हजार चेला जोगी थे। पद्मावती के दर्शन की आशा से मन्दिर के चारों ओर दण्डवत् परिक्रमा की। पूर्व दिशा वाले दरवाजे पर सिर नवाता हुआ देवता के पास आया और कहने लगा कि "हे नारायण हे देव ! आपको बारम्बार नमस्कार है, मैं किस योग्य हूँ, जो सेवा कर सकूँ। तू दयालु है और सबसे श्रेष्ठ है, तुझको तो किसी की सेवा की कोई आशा नहीं है। न मुझ में कोई गुण है और न जिह्वा में रस युक्त बात है, तुम दयालु हो, गुणी और निर्गुणी दोनों को देने वाले हो। मुझ दास की इच्छा पूरी करो, मैं हर श्वास में (प्रतिक्षण) उसी का मार्ग देख रहा हूँ। जिस प्रकार आपकी स्तुति करनी चाहिए वह विधि मैं नहीं जानता। मुझ पर ऐसी सुदृष्टि और कृपा कीजिए जिससे मेरी अभिलाषा पूरी हो।

[१६६]

कै अस्तुति जौं बहुत मनावा । सबद अकूट मँडप महँ आवा ।।
मानुस प्रेम भएउ बैकुंठी । नाहिं त काह, छार एक मूँठी ।।
पेमहि माहँ बिरह औ रसा । मैन के घर मधु अम्रित बसा ।।
निसत धाइ जौं मरै तो काहा । सत जौं करै बैसेइ होइ लाहा ।।
एक बार जौं मनु कै सेवा । सेवहि फल परसन होइ देवा ।।
सुनि कै सबद मँडप झनकारा । बैठा आइ पुरुब के बारा ।।
पिंड चढ़ाइ छार जेति आंटी । मांटी होउ अन्त जौं मांटी ।।

मांटी मोल न किछु लहै, औ मांटी सब मोल।
दिस्टि जो मांटी सों करै, मांटी होइ अमोल ॥१६६॥

शब्दार्थ—अकूट-पाठान्तर-अकूत=प्रा० अकुट्ट (प्रा० कुट्ट=काटना)=अखंड, व्यक्ति के मुख से निकला हुआ शब्द खण्डित या परिमित होता है, किन्तु आकाशवाणी अखंड होती है। कूट=भौतिक, अकूट=अभौतिक, दिव्य। छार=मिट्टी। मैन=मोम। बसा=बर्र, भिड़। निसत=बिना सत के। धाइ=दौड़ कर। बैसेइ=बैठे-बैठे ही। लाहा=लाभ। पिंड=शरीर। छार=भस्म। जेति=जितनी। आँटी=समाई।

अर्थ—जब राजा ने स्तुति करके बहुत मनाया तब मंडप में से अपने आप दिव्य शब्द आया कि "मनुष्य प्रेम से वैकुण्ठ-वासी हो जाता है, नहीं तो वह है ही क्या—एक मुट्ठी मिट्टी मात्र है। प्रेम में ही विरह और रस है, जैसे मोम के छत्ते में मधु और अमृत और बर्र दोनों हैं। बिना सत के मनुष्य दौड़कर मर गया तो क्या ? पर यदि सत से कार्य करे तो बैठे-बैठे ही लाभ हो जाता है। एक बार यदि मन लगाकर सेवा की जाय तो उस सेवा से देवता प्रसन्न हो जाता है।" इस शब्द को सुनकर मन्दिर झंकार से भर गया और राजा पूर्व के दरवाजे पर आकर बैठ गया। जितनी मिट्टी हाथ में समाई उसे लेकर उसने अपने शरीर पर लगा लिया, मन में सोचा कि आखिर शरीर मिट्टी ही तो है और अन्त में भी मिट्टी हो जायगा। मिट्टी का मूल्य तो कुछ नहीं होता पर मूल्यवान् सब वस्तुएँ मिट्टी ही हैं। जो व्यक्ति मिट्टी की ओर दृष्टि करता है अर्थात् संसार के सारे माया मोह को मिट्टी समझता है और अपने को भी मिट्टी में ही मिलाने का उद्देश्य रखता है उसकी यह मिट्टी (नर देह) अमूल्य बन जाती है।

टिप्पणी—जायसी जी मिट्टी का प्रसंग आते ही शरीर और मानव-जीवन की अनित्यता और निर्मूल्यता पर व्यंग्य करते हैं। 'माटी' शब्द में यमक अलंकार भी होगा।

[१६७]

बैठ सिंघ छाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा ॥
दिष्टि समाधि ओहि सौं लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी ॥
किंगरी गहे बजावै झूरै। भोर सांझ सिंगी निति पूरै ॥
कंथा जरै, आगि जनु लाई। बिरह धँधार जरत न बुझाई ॥
नैन रात निसि मारग जागें। चकित चकोर जानु ससि लागें ॥
कुंडल गहें सीस भुइं लावा। पाँवरि होउं जहां ओहि पावा ॥
जटा छोरि के बार बोहारौं। जेहि पँथ होइ सीस तहँ वारौं ॥
चारिहुं चक्र फिरै मन खोजत, डँड न रहै थिर मार।
होइ के भसम पवन सँग धावौं, जहां सो प्रान अधार ॥१६७॥

शब्दार्थ—छाला=चर्म। किंगरी=सारंगी, चिकारा। झूरै=प्रा० झूरइ, सं० स्मृ० का धात्वादेश=याद करता था। धँधार=ज्वाला। रात=लाल। पाँवरी=सं० पाद-पट्ट=पाँवड़ा। पावा=पैर। बार=द्वार। बोहारौं=झाड़ू दूं। डँड=पल। थिर मार =स्थिर होकर।

अर्थ—राजा शेर के चमड़े पर बैठकर तपस्या करने लगा और पद्मावती-पद्मावती जपने लगा। ध्यान की अवस्था में उसने अपनी दृष्टि उसी पर लगाई जिसके दर्शन के कारण वह बैरागी बना है। चिकारा लिए हुए उसी का स्मरण करता तथा प्रातः सायं सदा सिंगी पर स्वर किया करता। हृदयस्थित विरह की ज्वाला से उसकी गूदड़ी ऐसी जलती है जैसे आग लग गई हो। विरह की ज्वाला बुझाये नहीं बुझती। रात में उसी के रास्ते में जागते रहने के कारण उसके नेत्र लाल थे मानो चकोर पक्षी चन्द्रमा की ओर एकटक से देख रहा हो। अपने कुण्डलों पर हाथ रखे हुए राजा भूमि पर सिर लगाये हुए रहता है कि जहाँ उसके पैर हैं वहाँ मैं पाँवड़ा बनकर बिछ जाऊँगा। अपने सिर की जटा खोलकर उससे उसके दरवाजे पर झाड़ू दूँगा और जिस राह पर वह चलेगी उस पर अपने सिर को निछावर कर दूँगा। चारों दिशाओं में मेरा मन उसे खोजता फिरता है। एक पल भी स्थिर होकर नहीं ठहरता। मैं तो भस्म बनकर पवन के साथ वहाँ उड़कर जा सकता हूँ, जहाँ मेरे प्राणों का आधार पद्मावती है।

---

१८. पद्मावती-वियोग-खंड

[१६८]

पदुमावति तेहि जोग सँजोगाँ। परी पेम बस गहें बियोगाँ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केवाँछ जानु कोइ लावा॥
दहै चाँद औ चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गँभीरू॥
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी। तिल तिल भरि जुग जुग बर गाढ़ी॥
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तब रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसी बिथा रैनि सब जागै॥
कहाँ सो भँवर कँवल रस लेवा। आइ परहु होइ घिरिनि परेवा॥
सो धनि बिरह पतंग होइ, जरा चाह तेहि दीप।
कंत न आवहु भृङ्गि होइ, को चन्दन तन लीप॥१६८॥

शब्दार्थ—संजोगाँ=प्रभाव से। केवाँछ=सं०कपिकच्छु, कैंच। एक बेल की फली जिसके शरीर में स्पर्श होने से बड़ी खुजली होती है। चीरू=साड़ी। कलप=चारों युगों का

एक कल्प होता है । तिल-तिल=क्षण-क्षण । बर=बल एक रात्रि के एक-एकक्षण में युग-युग का बल था ।) मकु=शायद । बिहाई=बीते । बाहन=सवारी । ओनाई=झुके, ठहरे हुए । उरेहै=दीवार पर चित्र बनाना । घिरिनि परेवा=गिरहवाज कबूतर । धनि=स्त्री । भृङ्गि=वह कीड़ा जो पतंगे को अपने रङ्ग का बना लेता है । (देखिये पीछे—पद १२५/७)

अर्थ—कवि कहता है कि—राजा रत्नसेन के योग के प्रभाव से पद्मावती उसके प्रेमवश हो गई, उसे वियोग सताने लगा । रात्रि में उसे नींद नहीं लगती, शय्या ऐसी मालूम होती है जैसे उसमें किसी ने केंवाछ बिछा दिया हो । उसको चन्द्रमा, चन्दन और साड़ी, जो शीतल और सुखदायी होते हैं, जलाते हैं और गम्भीर विरह सारे शरीर को जलाता है । रात कल्प के समान बड़ी मालूम होती है । क्षण-क्षण का समय युग-युग के समान बड़ी कठिनाई से कटता है । जब रात नहीं कटती तो वीणा ले लेती है कि शायद सङ्गीत में रात कट जाय, पर वीणा का स्वर सुनकर चन्द्रमा का वाहन मृग स्वर पर मुग्ध होकर ठहर गया । इस प्रकार रात का बीतना और कठिन हो गया, क्योंकि चन्द्रमा का रथ ही रुक गया । ऐसा देख कर पद्मावती दीवार पर सिंह का चित्र बनाने लगी, जिससे सिंह से डर कर चन्द्रमा का वाहन मृग चल पड़े । इस प्रकार विरह की व्यथा में वह सारी रात जागा करती है । कभी वह कहती है कि कमल के रस को लेने वाले भौंरे तुम कहाँ हो, तुम इस प्रकार शीघ्र ही आओ जैसे गिरहबाज कबूतर अपनी कबूतरी पर ऊपर से टूट पड़ता है ।

जायसी कहते हैं कि वह स्त्री पद्मावती विरह से पतङ्ग बन कर रत्नसेन रूपी दीपक पर जलना चाहती है और कहती है कि हे प्रियतम ! तुम उस भृङ्गी कीड़े के समान क्यों नहीं आते जो पतंगे को अपने रङ्ग में बदल देता है । मैं विरह से जल रही हूँ, कौन आकर चन्दन के लेप द्वारा मुझे शान्ति देगा ।

टिप्पणी—महाकवि सूरदास जी ने भी इन उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया है—

१—दूर करहु बीना कर धरिवो,
मोह मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिवो ।
२—प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न अकास ।
वट चढ़ि तीय जो देखई, झुकत छाँड़ि निज साँस ॥
३—दीपक पीर न जानई, पावक परत पतंग ।
तनु तो तिहिं ज्वाला जरयो, चित न भयो रस भंग ॥

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक ।

[१६९]

परी बिरह बन जानहुँ घेरी । अगम असूझ जहाँ लगि हेरी ॥
चतुर दिसा चितवै जनु भूली । सो बन कवन जो मालति फूली ॥

कँवल भंवर ओही बन पावै । को मिलाइ तन तपनि बुझावै ॥
अंग अनल अस कँवल सरीरा । हिय भा पियर पेम की पीरा ॥
चहै दरस, रबि कीन्ह बिगासू । भँवर दिस्टि महँ कै सो अकासू ॥
पूँछै धाइ, बारि कहु बाता । तूँ जस कँवल करा रँग राता ॥
केसरि बरन हिया भा तोरा । मानहुँ मनहिं भएउ कछु फोरा ॥
पवनु न पावै संचरै, भँवर न तहाँ बईठ ।
भूलि कुरंगिनि कसि भई, मनहुँ सिंघ तुइ डीठ ॥१६९॥

शब्दार्थ—हेरी = देखते हैं । चतुर = चारों । चितवै = देखें । पियर = पीला । धाइ = धाय । बारि = बाला । फोरा = सं० स्फोटक, स्फुटन, फुटाव । संचरै = संचरण करना । बईठ = बैठा । कुरङ्गिनी = हिरनी । डीठ = देखा । तुइ = तुझे ।

अर्थ—पद्मावती विरह से इस अवस्था में है जैसे चारों ओर वन में घिरी है और जहाँ तक देखती है वन एकदम अगम और असूझ ही दिखाई पड़ता है । चारों दिशाओं में देख रही है जैसे भ्रम में पड़ी है । वह कहती है कि वह वन कहाँ है जहाँ मालती फूली है। अर्थात् जहाँ उसका प्रेमी मिला है और वह अपने प्रियतम के मिलन से प्रसन्न है और कमल (पद्मावती) अर्थात् मुझे भी उसी वन में भौंरा (रत्नसेन) पायेगा । कौन मुझे उससे मिला कर मेरे शरीर की जलन को बुझायेगा ? कमल (पद्मावती) का शरीर आग हो गया है और उसका हृदय प्रेम की पीड़ा से पीला हो गया है । कमल के अन्दर भी पीले रंग का छाता होता है । वह रवि रूपी रत्नसेन का दर्शन करना चाहती है जिससे उसमें विकास हो, इसलिए अपनी पुतलियों रूपी भौंरे को वह आकाश पर लगाये हुए है । उसकी यह दशा देखकर उसकी धाय ने उससे कहा कि हे लड़की ! तू बता कि तू तो कमल की कली के समान लाल थी । अब तेरा हृदय केसर के समान पीला हो गया है; ऐसा प्रतीत होता है कि तेरे मन में कुछ फोड़-फाड़ (कमल पक्ष में स्फोट या फुटाव) है । भावार्थ यह कि जब तक तू अनखिली कली थी तब तक तेरे ऊपर का रक्त वर्ण ही चमकता था, पर अब तेरे हृदय का प्रेम (पीला केसर) दिखाई पड़ रहा है । प्रतीत होता है कली फूट पड़ी है । जहाँ हवा का भी संचार नहीं है और भौंरा बैठ नहीं सकता, वहाँ भी तू भूली हुई सी उस हिरनी के समान क्यों हो गई है जिसने सिंह को देख लिया है ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

[१७०]

धाई सिंघ बरु खातेउ मारी । कै तसि रहति अही जसि बारी ॥
जोबन सुनेउँ कि नवल बसन्तू । तेहि बन परेउ हस्ति मैमन्तू ॥
अब जोबन बारी को राखा । कुंजर बिरह बिधांसै साखा ॥
मैं जाना जोबन रस भोगू । जोबन कठिन सँताप बियोगू ॥
जोबन गरुअ अपेल पहारू । सहि न जाइ जोबन कर भारू ॥

जोबन अस मैमंत न कोई । नवें हस्ति जौं आँकुस होई ॥
जोबन भर भादौं जस गंगा । लहरें देइ समाइ न अंगा ॥
परी अथाह, धाइ हौं, जोबन उदधि गँभीर ।
तेहि चितवौं चारिउं दिसि, को गहि लावै तीर ॥ १७० ॥

शब्दार्थ—बरु = चाहे । मैमन्तू = मदमत्त, मतवाला । बारी = बच्ची । बारी = वाटिका । बिधाँसै = विध्वंस करता है । अपेल = न ठेलने योग्य । चितवौं = देख रही हूँ ।

अर्थ—पद्मावती ने उत्तर दिया कि हे धाय ! चाहे सिंह, जिसका तू संकेत करती है, मुझे मार कर खा डालता या मैं तो वैसी ही अनजान रहती जैसी बचपन में थी । मैंने सुना था कि जवानी नव-वसन्त के समान मनुष्य के जीवन में आती है, पर अब तो उस वन में काम रूपी मतवाला हाथी घुस गया है । अब उस यौवन रूपी वाटिका की रक्षा कौन करे, क्योंकि विरह रूपी हाथी उसकी शाखाओं को नष्ट कर रहा है । मैंने तो समझा था कि जवानी रस और भोग आदि के लिये है, पर अब अनुभव कर रही हूँ कि जवानी तो वियोग का कठिन संताप सहने के लिये है । जवानी एक बड़ा भारी न ठेलने योग्य पहाड़ है और इसका भार संहा नहीं जा सकता । जवानी के समान मदमत्त कोई नहीं होता । यह यौवन रूपी हाथी तभी झुक सकता है जब इसके रोकने वाला अंकुश हो । भादों की भरी हुई गंगा के समान जवानी लहरें देती रहती है और अङ्गों में नहीं समाती । हे धाय ! मैं तो इस अथाह और गम्भीर यौवन-सागर के बीच पड़ गई हूँ इसलिये अब चारों दिशाओं में उसे देख रही हूँ जो मेरी बाँह पकड़ कर किनारे निकाल ले ।

अलंकार—साङ्ग रूपक और यमक (बारी = वाटिका, बाला)

[१७१]

पदुमावति तूँ सुबुधि सयानी । तोहिं सरि समुँद न पूजै रानी ॥
नदी समाहिं समुँद महँ आई । समुँद डोलि कहु कहाँ समाई ॥
अबहीं कँवल करी हिय तोरा । आइहि भँवर जो तो कहँ जोरा ॥
जोबन तुरैं हाथ गहि लीजै । जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै ॥
जोबन जो रे मतँग गज अहै । गहु गिआन जिमि आँकुस गहै ॥
अबहिं बारि तूँ पेम न खेला । का जानसि कस होइ दुहेला ॥
गँगन दिस्टि करु जाहि तराहीं । देखि कर आवै नाहीं ॥
जब लगि पीउ मिले तोहिं, साधु पेम कै पीर ।
जैसे सीप सेवाति कहँ, तपै समुँद मँझ नीर ॥ १७१ ॥

शब्दार्थ—सरि = बराबर । जोरा = मिलेगा । तुरैं = सं० तुरङ्ग, घोड़ा । मतँग = मातंग, मतवाला । अहै = है । बारि = लड़की । दुहेला = कठिन खेल । (देखिये ६८।२) । तराहीं = नीचे । साधु = साधना करो, सहो ।

अर्थ—धाय ने कहा कि हे पद्मावती ! तू सुबुद्धि और चतुर है, तेरे समान, हे रानी ! समुद्र भी नहीं हो सकता। नदियाँ आकर समुद्र में समा जाती हैं, भला बताओ कि समुद्र यदि चले तो वह कहां समायेगा। अभी तेरा हृदय कमल की कली के समान है, भौंरा आकर तुमसे अवश्य मिलेगा। यौवन रूपी घोड़े को अपने हाथी में करके रखो। जहाँ यह जाना चाहे, वहाँ इसे मत जाने दो। यदि जवानी मतवाले हाथ के समान है तो ज्ञान रूपी अंकुश को पकड़ो। अभी तू लड़की है, तूने प्रेम का खेल नहीं खेला है, तू क्या जाने कि प्रेम का खेल कितना कठिन होता है। दृष्टि को चाहे जितना आकाश में करो, पर वह नीचे ही जाती है। सूर्य को चाहे जितना देखो, वह हाथ नहीं आता। तात्पर्य यह कि तू उसे देख भर सकती है, पा नहीं सकती।

जब तक तुझे प्रियतम न मिल जाय, तू प्रेम के पीर की साधना इस प्रकार कर जैसे सीप समुद्र के बीच में रह कर स्वाति के लिए तपस्या करती है।

टिप्पणी—सूफी मत के अनुसार प्रिय-मिलन से पूर्व प्रेम की पीर की अवस्था अनिवार्य है, उसी का संकेत जायसी ने यहाँ किया है। सूफी-प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्ग का समकक्ष है इसीलिए इस पद में ज्ञान की भी अंतर्ध्वनि विद्यमान है।

अलंकार—रूपक, उपमा।



[१७२]

दहै धाइ जोवन ओ जीऊ। होइ न बिरह अगिनि महँ घीऊ॥
करवत सहौं होत दुइ आधा। सही न जाइ बिरह कै दाधा॥
बिरहा सुभर समुंद असँभारा। भँवर मेलि जिउ लहरन्हि मारा॥
बिरह नाग होइ सिर चढ़ि डसा। औ होइ अगिनि चँदन महँ बसा॥
जोबन पंखी, बिरह बिआधू। केहरि भयो कुरंगिनि खाधू॥
कनक बान जोबन कत कीन्हा। औ तन कठिन बिरह दुख दीन्हा॥
जोबन जलहिं बिरह मसि छुवा। फूलहिं भँवर, फरहिं भा सुवा॥
जोबन चाँद उवा जस, बिरह भएउ सँग राहु।
घटतहि घटत खीन भा, कहै न पारौं काहु॥ १७२॥

शब्दार्थ—दाधा=जलन। असँभारा=न सँभालने योग्य। भौंर=समुद्र की चक्करदार भँवर। मेलि=डाल कर। केहरि=सिंह। कुरङ्गिनि=हिरनी। खाधू=भोजन। बान=सोने को शुद्ध करने को उसे अग्नि में तपाया जाना (देखिये ८३।६)। मसि=स्याही, कालिमा। उवा=उदय हुआ। कहै न पारौं=कह नहीं सकती। काहु=किसी से।

अर्थ—पद्मावती कहती है कि हे धाय ! यौवन और जी जल रहे हैं, यह विरह नहीं है यह तो अग्नि में पड़ने वाला घी है। मैं काशी करवट भी सह सकती हूँ जिसमें पड़ कर मनुष्य के एक बारगी दो टुकड़े हो जाते हैं, पर मुझसे इस विरह की जलन नहीं सही जाती। विरह का समुद्र भरा हुआ है, सँभाला नहीं जाता, भँवरें डाल-डाल कर जीवों को

लहरों में मार रहा है। विरह साँप बन कर सिर पर चढ़ कर, मुझे डस रहा है और चन्दन में अग्नि बन कर बसा है क्योंकि चन्दन और भी जलन उत्पन्न करता है। यौवन पक्षी है और विरह व्याध है। यह विरह जवानी रूपी हिरनी को खाने वाला सिंह बना हुआ है। यौवन रूपी सोने को शुद्ध करने के लिए विरह-बान क्यों बनाया है—सोने को शुद्ध करने के लिए कंडे की आग में सोने को जलाकर बान पर चढ़ाया जाता है तभी वह शुद्ध होता है, इसी प्रकार विरह की अग्नि में तपा कर ही यौवन का प्रेम शोधा जाता है, और उसमें विरह का कठिन दुःख भर दिया है। यौवन के जल को विरह की स्याही छू कर काला कर देती है। यह विरह जवानी का निपात इसी प्रकार करता है जैसे भौंरा फूल को और तोता फल को काट डालता है। जैसे ही यौवन रूपी चन्द्रमा का उदय हुआ, वैसे ही विरह रूपी राहु भी उसी के संग लग गया और घटते-घटते एकदम क्षीण हो गया। इस विरह का वर्णन मैं किसी से कर नहीं सकती।

अलंकार—रूपक, अपह्नुति (होइ न बिरह अगिनि महँ घीऊ)।

[१७३]

नैन जो चक्र फिरै चहुँ ओराँ। बरचै धाइ, समाइ न कोराँ॥
कहेसि पेम जौं उपना बारी। बाँधु सत्त, मन डोल न भारी॥
जेहि जिय महँ सत होइ पहारू। परै पहार न बाँकै बारू॥
सती जो जरे पेम पिय लागी। जौं सत हिएँ तौ सीतल आगी॥
जोबन चांद जो चौदसि करा। बिरह कि चिनगि चाँद पुनि जरा॥
पवन बन्ध होइ जोगी जती। काम बन्ध होइ कामिनि सती॥
आउ बसन्त फूल फुलवारी। देवबार सब जैहहिं बारी॥
पुनि तुम्ह जाहु बसन्त लै, पूजि मनावहु देव।
जिउ पाइय जग जनमे, पिउ पाइय कै सेव॥ १७३॥

शब्दार्थ—चरचै=उंगली उठाना, वरजना। पाठान्तर-वरजै=रोके। कोराँ=सं० कोटि, कोना। उपना=उत्पन्न हुआ। पहारू=पहरेदार। बारू=बाल। जोबन चाँद=चौदहवीं कला पर पहुँचने पर चन्द्रमा घटने लगता है, इसी प्रकार पूर्ण यौवन प्राप्त होने पर विरह उसे फिर क्षीण करने लगता है। चिनगी=चिनगारी। बंध=बाँधता है। देवबार=देवद्वार।

अर्थ—कवि कहता है कि पद्मावती की आँखें चक्र की भाँति चारों ओर फिर रही थीं। धाय वर्जित करती थी पर वे अपने कोर में नहीं समाती थीं। तब धाय ने कहा कि हे बाला! यदि तुझमें प्रेम उत्पन्न हुआ है तो सत को बाँधो, मन को मत डोलाओ। जिस जी का सत पहरेदार होता है उसके लिए यदि पहाड़ भी पड़ जाय तो बाल बाँका नहीं हो सकता। सती प्रिय के प्रेम के लिए जलती है। यदि हृदय में सत है तो आग भी शीतल

हो जाती है। जवानी तो चौदहों कला वाला चाँद है जो कि विरह की चिनगारी से जल रहा है। जोगी और यति वही है जो साँस बाँध ले और सती स्त्री वह है जो कामदेव को बाँध रखे। वसन्त का त्यौहार आ रहा है। फुलवाड़ियों में फूल फूलेंगे और सभी लड़कियाँ देव-द्वार पर पूजन के लिए जायेंगी। तुम भी वसन्त के दिन जाओ और देवता का पूजन करके देवता को प्रसन्न करना। संसार में जन्म के द्वारा तो जीवन मिलता है पर प्रियतम तो सेवा से ही प्राप्त होता है।

[१७४]

जब लगि अवधि चाह सो आई। दिन जुग बर बिरहिनि कहँ जाई॥
नींद भूख ,अह निसि, गै दोऊ। हिएँ मॅझ जस कलपै कोऊ॥
रोवँहि रोवँ लागे जनु चाँटे। सोतहि सोत बेधे बिख कांटे॥
दगध कराह जरै सब जीऊ। बेगि न आउ मलैगिरि पीऊ॥
कवन देव कहँ जाइ परासौं। जेहि सुमेरु हिय लाइ गरासौं॥
गुपुत जो फल साँसहि परगटे। अब होइ सुभर चहहिं पुनि घटे॥
भए संजोग जौं रे अस मरना। भोगी भएँ भोग का करना॥
जोबन चंचल ढीठ है, करै निकाजहिं काज।
धनि कुलवन्ति जो कुल धरै, करि जोबन महँ लाज॥ १७४॥

शब्दार्थ—अह=दिन। कलपै=सं० क्लृप् (काटना, कुतरना) दुःख पावै। रोवँहि-रोवँ=रोम-रोम। चाँटे=चींटे। परासों=स्पर्श करूँ। सुमेरु=माला की बड़ी गुरिया जो ठीक छाती पर पहनी जाती है, सुमेरु। गरासौं=गले पर धारण करूँ। गुपुत जो फल=स्तन गुप्त फल है जो यौवन की वायु चलने पर प्रकट होते हैं तथा, लम्बी स्वास लेने पर उभर पड़ते हैं। सुभर=उमड़ कर। निकाजहिं=निकम्मा ही। संजोग=विवाह।

अर्थ—जब तक कि उस वसन्त पंचमी की अवधि पूरी हुई, विरहिणी को एक-एक दिन एक-एक युग के समान बीतता था। न दिन में भूख लगती थी और न रात में नींद, दोनों ही चले गए थे। अन्दर ही अन्दर जैसे कोई कलप रहा हो ऐसी उसकी अवस्था थी। मानो रोम-रोम में चींटे लग गए हों और प्रत्येक रोम के सोते-सोते (जड़) में विष के काँटे चुभ गए हों। जीव इस जलते हुए कड़ाहे में जल रहा है कि हे मलयगिरि के समान प्रियतम! जल्दी क्यों नहीं आते? किस देव को जाकर स्पर्श करूँ जिससे उस सुमेरु के समान प्रिय को हृदय से लगा सकूँ? जो फल (स्तन) गुप्त थे वे अब साँसों (उच्छ्वासों) में प्रकट हो रहे हैं और उमड़-उमड़ कर फिर घटना चाहते हैं। यदि विवाह के लिए इस प्रकार करना पड़ता तो कौन भोगी बन कर भोग करना चाहेगा! जवानी बड़ी चंचल और धृष्ट है और निकम्मे कार्य करती है। वह कुलवन्ती नारी धन्य है, जो जवानी में लाज रख कर कुल की मर्यादा को बचा सकती है।

१६. पदमावती-सुआ-भेंट-खंड

[१७५]

तेहि बियोग हीरामनि आवा। पदुमावति जानहुँ जिउ पावा॥
कण्ठ लागि सो हौसुर रोई। अधिक मोह जो मिलै बिछोई॥
आगि बुझी दुख हियँ जो गँभीरू। नैनन्ह आइ चुवा होइ नीरू॥
रही रोइ जब पदुमिनि रानी। हँसि पूँछहि सब सखी सयानी॥
मिले रहस चाहिअ भा दूना। कत रोइअ जौं मिलै बिछूना॥
तेहि क उतर पदुमावति कहा। बिछुरन दुक्ख हिएँ भरि रहा॥
मिला जो आइ हिएँ सुख भरा। वह दुख नैन नीर होइ ढरा॥
बिछुरंता जब भेंटिऐ, सो जानै जेहि नेहु।
सुक्ख सुहेला उग्गवइ, दुक्ख झरै जेउँ मेहु॥ १७५॥

शब्दार्थ—हौसुर-होइसुर=स्वर के साथ, जोर से। मोह=करुणा। बिछोई=बिछुड़ा हुआ। रहस=आनन्द। बिछूना=बिछुड़ा हुआ। सुहेला=सुहेल तारा, अगस्त्य तारा। उग्गवइ=उदय होता है।

अर्थ—उसी विरह की अवस्था में हीरामन तोता आया, पद्मावती ने ऐसा समझा मानो उसे फिर जान मिल गई। उसके कंठ लगकर वह पूरे स्वर से रोने लगी। कवि कहता है कि जब बिछुड़ा हुआ व्यक्ति मिलता है तो अधिक करुणा उत्पन्न होती है। हृदय में जो गम्भीर दुःख था उसकी आग बुझ गई और आँखों से आँसू टपकने लगा। जब पद्मिनी रानी रो रही थी तो सब चतुर सखियाँ कहने लगीं कि मिलने पर तो दूना आनन्द होना चाहिए, जब कोई बिछड़ा हुआ मिले तो क्या रोना चाहिए? उसका उत्तर पद्मावती ने दिया कि वियोग की अवस्था में हृदय में दुःख भरा रहता है। जब सुख से भरे हुए हृदय से मिलते हैं तो विरहावस्था का रुका हुआ दुःख आँखों से आँसू होकर टपकने लगता है। बिछड़ा हुआ जब कोई मिलता है तो उसके आनन्द को वही जानता है जिसके अन्दर प्रेम है। सुख रूपी अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने पर बादल के समान दुःख नष्ट होने लगता है। (अगस्त्य तारे के उदय होने पर वर्षा समाप्त हो जाती है)।

[१७६]

पुनि रानी हँसि कूसल पूँछा। कत गवनेहु पिंजर कै छूँछा॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू। छाज न पंखिहि पिंजर ठाटू॥
जौं भा पंख कहां थिर रहना। चाहे उड़ा पंखि जौं डहना॥
पिंजर महँ जो परेवा घेरा। आइ मँजारि कीन्ह तहँ फेरा॥
देवसेक आइ हाथ पै मेला। तेहि डर बनोबास कहँ खेला॥
तहां बिआध जाइ नर सांधा। छूट न पाव मीचु कर बांधा॥
ओइँ धरि बेचा बाँभन हाथां। जंबूदीप गएउँ तेहि साथां॥

तहाँ चित्र गढ़ चितउर, चित्रसेनि कर राज।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ, आपु लीन्ह सिव साज ।। १७६ ।।

शब्दार्थ—छाज=शोभा पाना। पिंजर ठाट्ठ=पिंजड़े का ढाँचा। देवसेक=एक दिवस। नर=नरसल जिसमें डोरी डाल कर खोंचे का फंदा बनाया जाता है। चित्र=विचित्र। सिव साज=योगी का वेश।

अर्थ—तब रानी पद्मावती ने तोते से उसका कुशल पूछा कि तू क्यों हमारे पिंजरे को छूछा कर के चला गया था। तोते ने कहा कि हे रानी! तुम युग-युग सुख और राजपाट करो। पक्षी को पिंजरे का ढाँचा नहीं सोहता। जिसके पंख हैं वह स्थिर कहाँ रह सकता है, जिस पक्षी के डैने हैं वह तो उड़ना ही चाहता है। तुम ने पिंजरे में मुझ जैसे पक्षी को घेर कर रखा था, तब बिल्ली आकर घेरा डालने लगी थी। मैंने सोचा कि किसी दिन यह अवश्य हाथ में डाल लेगी, इसी डर से मैं वनवास को चला गया। वहाँ एक व्याध ने नरसल की लग्गी लगाकर मुझे लासे में फँसा लिया, मृत्यु का बाँधा हुआ मैं छूट नहीं सका। उसने मुझे एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण के साथ मैं जम्बू द्वीप गया। वहाँ एक विचित्र गढ़ चित्तौड़ है जहाँ राजा चित्रसेन का राज्य है। उस राजा ने अपने पुत्र को राजतिलक दिया और आप योगी हो गया।

[१७७]

बैठ जो राज पिता के ठाऊँ। राजा रतनसेनि ओहि नाऊँ ।।
का बरनौं धनि देस दियारा। जहँ अस नग उपना उजियारा ।।
धनि माता धनि पिता बखाना। जेहि के बंस अंस अस आना ।।
लखन बतीसौ कुल निरमरा। बरनि न जाइ रूप औ करा ।।
ओइँ हौं लीन्ह अहा अस भागू। चाहै सोनहिं मिला सोहागू ।।
सो नग देखि इंछ भै मोरी। है यह रतन पदारथ जोरी ।।
है ससि जोग इहै पै भानू। तहाँ तुम्हार मैं कीन्ह बखानू ।।
कहाँ रतन रतनाकर, कञ्चन कहाँ सुमेरु।
दैय जौं जोरी दुहुँ लिखी, मिलै सो कवनेहु फेर ।। १७७ ।।

शब्दार्थ--ठाऊँ=जगह। दियारा=दीपक, चमक, पाठान्तर, मनियारा। अंस=पुत्र। बत्तीसों लखन=चक्रवर्ती राजाओं में महापुरुषों के ३२ लक्षण होते थे। इंछ=इच्छा, अभिलाषा। दैय=ईश्वर। फेर=चक्कर, प्रकार।

अर्थ—तोता कहता गया कि जो राजा पिता के स्थान पर बैठा, उसका नाम राजा रत्नसेन है। दीप के समान उस देश की शोभा का क्या वर्णन करूँ, जहाँ ऐसा उज्ज्वल हीरा उत्पन्न हुआ है। वह माता और पिता धन्य हैं जिनके वंश में ऐसा पुत्र अवतरा। उसने बत्तीसों शुभ लक्षणों से कुल को निर्मल किया। उसका सौंदर्य वर्णन

नहीं किया जा सकता। उसी ने, सौभाग्य वश, मुझे खरीद लिया। कदाचित् सोना और सोहागा मिलना चाहता है। उसी हीरे को देख कर मेरे हृदय में यह इच्छा पैदा हुई कि यह तो रत्न (रत्नसेन) तो पदार्थ या हीरा (पद्मावती) के योग्य है। उस चन्द्रमा (पद्मावती) के योग्य यह सूर्य (रत्नसेन) है। वहाँ मैंने तुम्हारे रूप का वर्णन किया। तोता कहता है कि कहाँ समुद्र में उत्पन्न होने वाला मोती और कहाँ सुमेरु पर्वत पर मिलने वाला सोना, पर यदि ईश्वर ने दोनों की जोड़ी लिखी है तो किसी न किसी प्रकार दोनों मिल ही जाते हैं। भाव यह कि विधाता ने चाहा तो तेरा मिलन रत्नसेन से असाध्य नहीं है।

अलंकार—दृष्टान्त।

[१७८]

सुनि कै बिरह चिनगि ओहि परी। रतन पाव जौं कञ्चन करी॥
कठिन पेम बिरहा दुःख भारी। राज छाँड़ि भा जोगि भिखारी॥
मालति लागि भँवर जस होई। होई बाउर निसरा बुधि खोई॥
कहेसि पतंग होइ धँसि लेऊँ। सिंघल दीप जाइ जिउ देऊँ॥
पुनि ओहि कोउ न छाड़ अकेला। सोरह सहस कुँवर भए चेला॥
और गनै को संग सहाई। महादेव मढ़ मेला जाई॥
सूरुज परस दरस की ताईं। चितवै चाँद चकोर कि नाईं॥
तुम्ह बारी रस जोग जेहि, कँवलहि जस अरघानि।
तस सूरुज परगासि कै, भँवर मिलाएउँ आनि॥ १७८॥

शब्दार्थ—चिनगि=चिनगारी। लागि=लिए। निसरा=निकला। धँसि=घुस कर। मेला=पहुँचा। अरघानि=महक।

अर्थ—तोते ने कहा कि तुम्हारा वर्णन सुनकर उसमें विरह की चिनगारी पड़ गई, जैसे रत्न सोने की कली से संयुक्त होता है। वैसे ही रत्नसेन ने तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा की। प्रेम के विरह का दुःख बड़ा कठिन है इसीलिए राज्य को छोड़कर वह राजा भिखारी हो गया। जैसे मालती के लिए भौंरा मतवाला होकर चलता है इसी प्रकार वह भी अपनी सुधि-बुधि खोकर घर से निकल पड़ा। उसने कहा कि उसके लिए पतंगा होकर घुसूँगा और सिंहल द्वीप जाकर जान दूँगा। फिर उसे कोई अकेला नहीं छोड़ता था इसलिए उसके साथ सोलह हजार राजकुमार चेला बन कर चले। और भी जो उसके साथ हैं उनकी गिनती कौन कर सकता है? सब महादेव के मन्दिर पर आकर पहुँच गये हैं। सूर्य के दर्शन और स्पर्श के लिए वह इस प्रकार देख रहा है जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है अर्थात् बड़ी अधीरता के साथ वह महादेव के गढ़ पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

तुम कुमारी हो और रस के योग्य हो। तुम में कमल के रस की सुगन्ध है। इसीलिए मैंने सूर्य का प्रकाश करके भौंरे को लाकर तुमसे मिला दिया है। अर्थात् बाला होने के नाते यौवन आने पर तुम्हें प्रेम रस उचित ही है, कमल खिलने पर उसमें सुगन्ध होती है। कमल

को जैसे उसके रस का भोक्ता भौंरा चाहिए वैसे ही रत्नसेन तेरा रस-भोक्ता है, इसी से मैं उसे तेरे समीप लाया हूँ।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[१७९]

हीरामनि नीजौं कही रस बाता। सुनि कै रतन पदारथ राता ॥
जस सूरुज देखत होइ ओपा। तस भा बिरह काम दल कोपा ॥
पै सुनि जोगी केर बखानू। पदुमावति मन भा अभिमानू ॥
कंचन जौं कसिग्रै कै ताता। तब जानिग्र दहुँ पीत कि राता ॥
कंचन करी न काँचहि लोभा। जौं नग होइ पाव तब सोभा ॥
नग कर मरम सो जरिया जाना। जरै जो अस नग हीर पखाना ॥
को अस हाथ सिंघ मुख घाला। को यह बात पिता सौं चाला ॥
सरग इन्द्र डरि काँपै, बासुकि डरै पतार।
कहाँ अैस वर प्रिथिमी, मोहि जोग संसार ॥१७९॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न, रत्नसेन। पदारथ=हीरा, पद्मावती। राता=लाल हुआ। ओपा=चमक, सूर्य की किरण पड़ने से हीरा चमक उठता है, उसमें से किरणें छूटने लगती हैं। पद्मावती का मन भी चंचल हो उठा। ताता=गर्म। जरिया=जड़िया। पखाना=पत्थर। घाला=डाला।

अर्थ—हीरामनि ने जब ऐसी प्रेम की बात की तो यह सुनकर रत्न रूपी रत्नसेन में पदार्थ रूपी पद्मावती अनुरक्त हो गई। जैसे सूर्य के दिखाई पड़ते ही प्रकाश होता है उसी प्रकार रत्नसेन के आगमन को सुनकर उसमें विरह जगा और उस पर काम का आक्रमण हो गया। पर जोगी की प्रशंसा सुनकर पद्मावती को भी अभिमान हो गया। सोचने लगी कि सोना जब गर्म करके कसौटी पर कसा जाता है तभी पता चलता है कि वह पीला है या लाल। कंचन की कली को काँच का कोई लोभ नहीं है, जब वह रत्न होगा तभी शोभा होगी। भाव यह कि रत्नसेन की परीक्षा के बाद ही निर्णय किया जा सकता है। यदि प्रेम की परीक्षा से वह पास होता है तभी मेरे ग्रहण करने योग्य है। हीरे का रहस्य तो जड़िया ही जानता है; तभी तो उस हीरे को बहुमूल्य नग के साथ में जड़ देता है। कौन सिंह के मुख में हाथ डाले, कौन यह बात मेरे पिता से चलावे। मेरे पिता से तो स्वर्ग में इन्द्र भी डरता है और पाताल में वासुकि भी, भला पृथ्वी में ऐसा अन्य कौनसा वर है जो मेरे योग्य है ?

[१८०]

तूँ रानी ससि कंचन करा। वह नग रतन सूर निरमरा ॥
बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई ॥

तभी तेरे तभी मेरे

आगि बुझाइ ढोइ जल काढ़ै । यह न बुझाइ आगि असि बाढ़ै ।।
बिरह की आगि सूर नहिं टिका । राति हुँ दिवस जरा औ धिका ।।
खिनहिं सरग, खिन जाइ पतारा । थिर न रहै तेहि आगि अपारा ।।
धनि सो जीव दगध इमि सहा । तैस जरै, नहिं दोसर कहा ।।
सुलुगि सुलुगि भीतर होइ स्यामा । परगट होइ न कहा दुख नामा ।।
काह कहौं मैं ओहि कहँ, जेइ दुख कीन्ह अमेंट ।
तेहि दिन आगि करौं यह बाहर, होइ जेही दिन भेंट ।।१८०।।

शब्दार्थ—करा=कली । निरमरा=निर्मल । बजागि=वज्राग्नि । ढोइ=ले जाना । काढ़ै=निकालै । टिका=सामने रुका । धिका=गर्म हुआ । दगध=जलन । अमेंट=अमिट । कीन्ह=सहा है ।

अर्थ—तोते ने कहा कि हे रानी ! तू चन्द्रमा है, वह रत्नसेन निर्मल सूर्य है । तू सोने की कली है और वह उसमें जड़ने योग्य रत्न है । विरह रूपी वज्राग्नि से क्या कोई बच सका है, जो ही अग्नि को छुएगा वही जल जायेगा । पानी निकाल कर और ढोकर उस अग्नि के चारों ओर जल से घेर दिया जाए तो अग्नि बुझ जाती है, पर यह विरह की अग्नि इस प्रकार बढ़ती है कि बुझाये नहीं बुझती । विरह की अग्नि के सम्मुख सूर्य भी नहीं टिक सका है और इसीलिए वह रात-दिन जलता रहता है और गर्म रहता है । कभी तो आकाश जाता है और कभी पाताल जाता है । वह स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि उसमें अपार अग्नि है । वह जीव धन्य है जो इसकी जलन को सहता है, वह इस प्रकार जलता है कि दूसरा कोई उसका वर्णन नहीं कर सकता । उस विरहाग्नि से सुलग-सुलग कर अन्दर-अन्दर काला हो जाता है पर प्रकट रूप से तो वह दुःख का नाम तक नहीं लेता ।

मैं उस राजा रत्नसेन के दुःख के सम्बन्ध में क्या कहूँ जिसने न मिटने वाले दुःखों को उठाया है । उसकी अग्नि को तो उसी दिन प्रकट दिखा दूंगा जिस दिन तेरी उससे मुलाकात होगी । भाव यह कि तू स्वयं उसे देखते ही उसके दुःख को समझ जायगी ।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा=विरह कि आगि सूर ···अपारा ।

नोट—इस पद के बाद भी एक पद पं० शुक्ल-सम्पादित ग्रन्थावली में है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त प्रामाणिक नहीं बताते । पद इस प्रकार है—

सुनि कै धनि, 'जारी अस कया' । मन भा मयन, हिये भै मया ।।
देखौं जाइ जरै कस भानू । कंचन जरे अधिक होइ बानू ।।
अब को मरै वह प्रेम बियोगी । हत्या मोंहि जेहि कारन जोगी ।।
सुनि कै रतन पदारथ राता । हीरामन सों कह यह बाता ।।
जौं वह जोग सँभारै छाला । पाइहि भुगुति, देहुँ जयमाला ।।
आव बसन्त कुसल जौं पावौं । पूजा मिस मंडप कहँ जावौं ।।
गुरु के बैन फूल हौं गाँथे । देखौं नैन, चढ़ावौं माथे ।।

कँवल भँवर तुम्ह बरना, मैं माना पुनि सोइ ।
चांद सूर कहँ चाहिए, जौं रे सूर वह होइ ।।

अर्थ—जब पद्मावती ने सुना कि रत्नसेन ने अपने शरीर को तपा दिया है तो उसके मन में काम उत्पन्न हुआ और उसके हृदय में दया का आविर्भाव हुआ। उसने कहा कि अब मैं जाकर देखूंगी कि वह सूर्य (रत्नसेन) किस प्रकार जल (तप) रहा है। स्वर्ण के जलने पर उसमें शुद्धि आती है और उसमें चमक आती है। अब यदि वह प्रेम का वियोगी विरह में ही मर जायगा तो मुझे हत्या लगेगी क्योंकि वह जोगी मेरे ही कारण मरेगा। यह सुनकर कि रत्नसेन (रत्न) पद्मावती (पदारथ) में आसक्त है वह हीरामनि से कहने लगी कि यदि वह योग और योगी-वेष को संभाले है तो उसे उसका भोग (प्राप्य) मिलेगा क्योंकि मैं उसे जयमाला दूंगी। बसन्त पंचमी आ रही है, यदि मैं कुशल से रही तो उस दिन पूजा के बहाने शिव-मंडप पर जाऊँगी। गुरु के वचन रूपी फूलों को गूंथ कर और उसे अपने नयनों से देखकर उसे जयमाला दूंगी।

तुमने मेरा और उसका वर्णन कमल और भ्रमर के रूप में किया है, मैंने इसे स्वीकार किया। चांद (पद्मावती) सूर्य (रत्नसेन) को अवश्य चाहिए यदि सचमुच वह सूर्य है अर्थात् यदि उसने तपस्या की है तो वह मुझे प्राप्त करने का अधिकारी है।

[१८१]

हीरामनि जौं कहीं रस बाता। पाएउ पान भएउ मुख राता ।।
चला सुआ, रानी तब कहा। भा जो परावा सो कैसें रहा ।।
जो निति चलै सँवारै पाँखा। आजु जो रहा, कालिह को राखा ।।
न जनौं आजु कहाँ दिन उवा। आएहु मिलै, चलेहु मिलि, सुवा ।।
मिलि कै बिछुरन मरन की आना। कत आएहु जौं चलेहु निदाना ।।
अनु रानी हौं रहतेउ राँधा। कैसें रहौं बचा कर बाँधा ।।
ताकरि दिस्टि अैस तुम्ह सेवा। जैस कूँज मन सहज परेवा ।।
बसै मीन जल धरती, अम्बा बिरिख अकास ।
जौं रे पिरीति दुहुन महँ, अन्त होहिं एक पास ।।१८१।।

शब्दार्थ—पाएउ पान=बिदा होने के पान का बीड़ा पाया। चलै=चलने के लिए। कालिह=कल। आना=क्षण। सं० आन7 प्रा० आण, श्वासोच्छ्वास। अनु=पीछे। राँधा=पास। बचा=वचन। कूँज=क्रौंच पक्षी (एक तरह का कबूतर)। अंबा=आम।

अर्थ—जब हीरामनि ने इस प्रकार की रसयुक्त बातें कहीं, इसके बाद उसने बिदाई का पान खाया और उसका मुख लाल हो गया। जब सुआ चला तो रानी ने कहा कि जो पराया हो गया है वह भक्त कैसे रह सकता है। जो नित्य ही चलने के लिए अपने पंखों को सँभालता है वह अधिक से अधिक आज रह जायगा, उसे कल कौन रख सकता है। न जाने कहाँ से आज कैसे सूर्योदय हुआ कि मिलने चले आये और मिलकर चल पड़े। मिलना

के बाद बिछुड़ना तो मृत्यु की घड़ी है, जब अन्त में तुम्हें जाना ही था तो क्यों आये थे। तोते ने उत्तर दिया कि हे रानी ! मैं तो तेरे पास ही सदा रहता, पर वचनबद्ध हूँ, इसलिए कैसे रह सकता हूँ। उस रत्नसेन की तुम्हारी सेवा में इस प्रकार दृष्टि है जैसे पक्षी का सहज प्रेम कुञ्ज में लगा रहता है। मछली धरती के जल में रहती है और आम वृक्ष की डाली पर आकाश में रहता है, पर जब दोनों की प्रीति एक दूसरे पर होती है तो किसी न किसी दिन दोनों एक दूसरे के पास मिल ही जाते हैं।

टिप्पणी—काव्य-परम्परा में मीन और आम की प्रीति का उल्लेख नहीं मिलता, पर अवधी भाषा-भाषी लोक-गाथाओं तथा लोक-गीतों में आम और मछली के संयोग का कथन बहुत मिलता है।

[१८२]

आवा सुवा बैठ जहँ जोगी। मारग नैन, बियोग बियोगी ॥
आइ पेम रस कहा सँदेसू। गोरख मिला, मिला उपदेसू ॥
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा। लीन्ह अदेस, आदि कहँ दीन्हा ॥
सबद, एक होइ कहा अकेला। गुरु जस भृङ्गि, फनिग जस चेला ॥
भृङ्गि ओहि पंखिहि पै लेई। एकहिं बार छुएँ जिउ देई ॥
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ, नै काया ॥
होइ अमर अस मरि कै जिया। भँवर कँवल मिलि कै मधु पिया ॥
आवै रितु बसंत जब, तब मधुकर तब बासु।
जोगी जोग जो इमि करहिं, सिद्धि समापति तासु ॥१८२॥

शब्दार्थ—गोरख = गुरु गोरखनाथ, यहाँ यह नाम गुरु मात्र का द्योतक है। मया = कृपा। अदेश = आदेश। आदि = आदिनाथ शिव, जो सब नाथों के आदि गुरु हैं। भृङ्गि = वह कीड़ा जो पतङ्गों को अपने रंग में बदल देता है। फनिग = पतङ्गा। इमि = इस प्रकार। समापति = पूर्ण।

अर्थ—पद्मावती के पास से चलकर सुआ वहाँ आया जहाँ जोगी रत्नसेन बैठा था। वह पद्मावती के वियोग से दुःखी उसके मार्ग पर आँखें लगाये हुए था। तोते ने आकर प्रेमरस युक्त सन्देश कहा। गुरु गोरखनाथ मिले और उन्होंने उपदेश किया है तोते ने कहा कि तुम पर गुरु की बड़ी कृपा हुई है क्योंकि उन्होंने तुम्हारे प्रणाम को स्वीकार किया है और उसे आदिनाथ को दे दिया है। उसने एक शब्द अकेले में कहा है कि गुरु तो भृङ्गी कीट के समान और शिष्य पतंगे के समान है। भृङ्गी वही है जो उस पतंगे को लेता है और एक बार के छूने में ही उसे नव-जीवन देता है जिससे उसका नया रूप हो जाता है। मर करके वह ऐसा जीता है कि अमर ही हो जाता है। फिर भौंरा कमल से मिलकर उसका मधुपान करता है। जब वसन्त ऋतु आती है तभी भौंरा गूँजता है और तभी सुगन्ध उड़ती है। इस प्रकार जो जोगी जोग करता है, उसी की सिद्धि पूरी होती है।

नोट—इस पद का सारा सन्देश ही संकेतात्मक है। तोते ने कहा कि पद्मावती ने तेरा प्रेम स्वीकार कर लिया है और उसे प्रेम तो हो गया है पर वह अभी परीक्षा लेगी। अतः तुम्हें गुरु के आदेश पर अक्षरशः चलना है। तुम्हारी तपस्या तब होगी जब तुम गुरु के आदेश पर भृङ्ग-कीटवत् एक भाव हो जाओगे। उसने संकेत से यह भी बता दिया कि वसन्त पञ्चमीं अवधि है और तभी वह आयेगी और देखेगी, यदि तुम्हारा जोग पूरा हुआ तो उसी दिन तुम्हारे जोग की सिद्धि होगी।

---

२०. बसन्त-खण्ड

[१८३]

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई॥
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप और छाहाँ॥
पदुमावति सब सखीं हँकारी। जावँत सिंघल दीप की बारी॥
आजु बसन्त नवल रितुराजा। पंचिमि होइ, जगत सब साजा॥
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा॥
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ॥
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते॥
अवधि आइ सो पूजी, जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव मढ़ गोहने, चहौं सो पूजा दीन्ह॥ १८३॥

शब्दार्थ—दैय=ईश्वर। सिसिर=शिशिर ऋतु। सिरी पंचमी=श्री पंचमी, माघ शुक्ल पंचमी, वसन्त पंचमी। हँकारी=बुलाया। जावँत=जितनी। बारी=कुमारियाँ। बनाफति=वनस्पति। परासन्ह=पलाश। सेंदुर=सिंदूर। निपाते=टूट गये (सं० निष्पत्र, पत्र-विहीन)। पालौ=पल्लव, नवीन पत्ते। उपने=उत्पन्न हुए। राते=लाल। गोहने सं० गोधान 7 गोहान (गाँव के पास की भूमि)=साथ की सखियाँ।

अर्थ—ईश्वर का नाम ले-लेकर शिशिर को व्यतीत किया। तब वसन्त-पंचमी की तिथि आई। नयी ऋतु में बड़ा उल्लास हुआ, ऐसी विह्वलता हो गयी कि धूप या छाँह एक क्षण भी नहीं अच्छी लगती। पद्मावती ने अपनी सभी सखियों को जो सिंहलद्वीप की कुमारियाँ थीं, बुलाया और कहा कि आज नवीन ऋतुराज वसन्त सुशोभित है, पंचमी तिथि है, सारा संसार तैयारी कर रहा है, वनस्पतियों ने भी नया शृंगार किया है, देखो कि पलाश ने अपने लाल फूलों के द्वारा अपने सिर में लाल सिंदूर लगाया हुआ है। अनेक प्रकार के फूल फूले हुए हैं, उनकी सुगन्ध फैल रही है और चारों ओर से भौंरे उसमें लोभ वश आकर लगे हुए हैं। दुःख रूपी पीले पत्ते झड़ कर नष्ट हो रहे हैं और सुख रूपी नवीन लाल-लाल

पल्लव उत्पन्न हुए हैं। जिस अवधि की मुझे प्रतीक्षा थी वह पूरी हुई। मन में अभिलाषा मैंने कर रखी है, तुम सब मेरे साथ देव मन्दिर पर चलो। मैं देवता का पूजन करना चाहती हूँ।

[१८४]

फिरी आन रितु बाजन बाजे। औ सिंगार सब बारिन्ह साजे ॥
कँवल करी पदुमावति रानी। होइ मालति जानहुँ बिगसानी ॥
तारा मँडर पहिर भल चोला। पहिरैं ससि जस नखत अमोला ॥
सखी कमोद सहस दस संगा। सबैं सुगन्ध चढ़ाए अंगा ॥
सब राजा रायन्ह कै बारीं। बरन बरन पहिरें सब सारीं ॥
सबैं सुरूप, पदुमिनि जाती। पान, फूल सेंदुर सब राती ॥
करहिं कुरेरैं सुरंग रँगीलीं। औ चोवा चंदन सब गीलीं ॥
चहुँ दिसि रही बासना, फुलवारी असि फूलि।
वह बसन्त सौं भूली, गा बसन्त ओहि भूलि ॥१८४॥

शब्दार्थ—आन=आज्ञा। तारामँडर=तारामंडल नामक वस्त्र जिसमें ताराकटी की छपाई होती थी। वर्णरत्नाकर में इसका उल्लेख मिलता है। रायन्ह=राय, राजा। कुरेरैं=कुलेलें। बासना=सुगन्ध।

अर्थ—[वसन्त पूजन की] राजा की आज्ञा की डौंडी चारों ओर फिर गई, ऋतु के बाजे बजने लगे। सभी कुमारियों ने अपने शृंगार किए। कमल की कली के समान रानी [पद्मावती] प्रसन्नता से ऐसी हँसी कि मालती के समान दिखाई पड़ने लगी। उसने तारामण्डल नामक वस्त्र का सुन्दर लहँगा पहना मानो चन्द्रमा ने अमूल्य नक्षत्रों का बाना पहना हो। उसके साथ दस हजार कुमुदिनी सदृश सखियां थीं जो सभी अपने अंगों में सुगन्धित द्रव्य लगाये हुए थीं। सभी राजाओं की लड़कियाँ थीं, रंग-रंग की साड़ियां पहने थीं। सभी सुन्दरियाँ थीं और पद्मिनी जाति की थीं। उनके मुँह में पान, शरीरों पर फूलों का शृंगार और माँग में सिंदूर था जिनसे वे लाल दिखाई पड़ती थीं। वे अच्छे रंग वाली रंगीली लड़कियाँ कुलेलें करती थीं और चन्दन और अङ्गराग आदि के लेप से वे गीली थीं। चारों ओर उनकी सुगन्ध फैली थी जैसे फुलवाड़ी फूल रही हो। पद्मावती वसन्त देखकर भूल गयी और वसन्त उसे देख कर भूल गया।

[१८५]

भै अहान पदुमावति चली। छत्तीस कुरी भै गोहने भली ॥
भै कोरी सँग पहिरि पटोरा। बाँभनि ठाउँ सहस अँग मोरा ॥
अगरवारिनि गज गवन करेई। बैसिनि पाव हंस गति देई ॥
चंदेलिनि ठवँकन्ह पगु ढारा। चली चौहानी, होइ झनकारा ॥
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि पेम मधु माँती ॥

बानिनि भल सेंदुर दै माँगा। कँथिनि चली समाइ न आँगा॥
पदुइनि पहिरि सुरंग तन चोला। औ बरइनि मुख सुरस तँबोला॥
चलीं पवनि सब गोहने, फूल डालि लै हाथ।
बिस्वनाथ की पूजा, पदुमावति के साथ॥ १८५॥

शब्दार्थ—अहान=आह्वान, शब्द, शोर। कुरी=कुल की। गोहने=साथ। कोरी=कुँदरी, राजकुमारी। पटोरा=रेशमी वस्त्र। मोरा=मोड़ा। अगवारिनि=अग्रवालिनें। बैसिनि=वैश्य क्षत्रियों की स्त्रियाँ। ठवँकन्ह=ठुमक कर। सोहाग=सौभाग्य। पटुइनि=पटहारों के घर की स्त्रियाँ। बरइनि=तंबोलिनें। तंबोला=पान। पवनि=पाने वाली, प्रजा।

अर्थ—पद्मावती जब चली तो एक प्रकार का शोर सा हो गया क्योंकि छत्तीसों कुलों की कुमारियाँ उसके साथ हो लीं। कुँवरानियाँ रेशमी वस्त्र पहन कर उसके साथ चलीं तथा ब्राह्मणियाँ अनेक जगहों पर अङ्ग मोड़ती चलीं। अग्रवालिनें हाथी की चाल से चल रही थीं और वैश्यों की कुमारियाँ हँस गति से मन्द-मन्द चलती थीं। चंदेल कुमारियाँ ठुमक-ठुमक कर पैर रखती थीं और चौहान कुमारियाँ पैरों में झंकार करती चलती थीं। सुनारों की स्त्रियाँ अपने सोहाग में शोभा पाती थीं तथा कलवारों की लड़कियाँ प्रेम की शराब में मस्त चल रही थीं। बनियों की स्त्रियाँ माँग में सिंदूर दिए थीं, और कायस्थों की स्त्रियाँ अपने गर्व में नहीं समाती थीं। पटहारिनें रङ्गीन लहँगा पहने थीं और तम्बोलिनें मुख में पान खाये हुए थीं। इस प्रकार सभी प्रकार की प्रजा की स्त्रियाँ फूल और डाली लिए हुए शंकर की पूजा के लिए पद्मावती के साथ चलीं।

[१८६]

कँवल सहाय चलीं फुलवारीं। फर फूलन्ह कै इंछा बारीं॥
आपु आपु महँ करहिं जोहारू। यह बसन्त सब कर तेवहारू॥
चही मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लेइ सब कोई॥
फागु खेलि पुनि दाहब होली। सेंतब खेह, उड़ाउब झोली॥
आजु साज पुनि देवस न दूजा। खेलि बसन्त लेहु दै पूजा॥
भा आएसु पदुमावति केरा। बहुरि न आइ करब हम फेरा॥
तस हम कहँ होइहि रखवारी। पुनि हम कहाँ, कहाँ यह बारी॥
पुनि रे चलब घर आपुन, पूजि बिसेसर देउ।
जेहिका होइ हो खेलना, आजु खेलि हँसि लेउ॥

शब्दार्थ—जोहारू=प्रणाम करना। मनोरा झूमक=होली, गीतों की एक किस्म जिसके प्रत्येक चरण के अन्त में 'मनोरा झूमक हो' लगा होता है। जैसे—

गोकुल सकल गुवालिनी, घर-घर खेलत फाग। मनोरा झूमक हो॥
जिनमें राधा लाड़िली, जिनको अधिक सुहाग॥ मनमोरा झूमक हो।
(सूरसागर पद सं० ३४८२)

दाहब=जलायेंगे। सैंतब=समेटेंगे। खेह=मिट्टी। केरा=का। बहुरि=फिर। बारी=वाटिका। बिसेसर=विश्वेश्वर, विश्वनाथ।

अर्थ—कमल रूपी पद्मावती के साथ फुलवाड़ी रूपी सभी सखियाँ चलीं। सभी कुमारियाँ फल-फूलों की अभिलाषायें किये थीं। वे आपस में एक-दूसरे से नमस्कार करती हैं और कहती हैं कि यह तो सबका त्यौहार वसन्त है। आज तो मनोरा झूमक गीत होने चाहिएँ। सभी लोग फल-फूल लेकर चलें। हम सब पहले फाग खेलेंगी फिर होली जलायेंगी और मिट्टी समेट कर उसकी होली उड़ायेंगी। आज का जैसा सुन्दर दिन दूसरा न आयेगा, देवता का पूजन करो और वसन्त खेलो। पद्मावती की आज्ञा हुई कि हम फिर यहाँ नहीं लौटेंगी, क्योंकि यहाँ से जाने पर तो हमारी रखवाली होने लगेगी, फिर हम कहाँ रहेंगे और कहाँ यह वाटिका होगी ? यहाँ से विश्वेश्वर शंकर जी की पूजा करके हम लोग घर चल देंगी, अतः जो खेलना चाहे आज हँस-खेल ले।

[१८७]

काहू गही आँब कै डारा। काहूँ बिरह जाँबु अति भारा॥
कोइ नारँग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर, बड़हर, कोइ न्यौंजी॥
कोइ दारिउँ कोइ दाख सो खीरी। कोइ सदाफर, तुरँज जँभीरी॥
कोई जैफर औ लौंग, सुपारी। कोइ कमरख, कोई गुवा छुहारी॥
कोइ बिजौर, कोइ नरियर जोरी। कोइ अँबिलि, कोइ महुव खजूरी॥
कोइ हरपा रेउरी कसौंदा। कोइ अँवरा, कोइ बेर करौंदा॥
काहुँ गही केरा की घौरी। काहूँ हाथ परी निंबकौरी॥
काहूँ पाई निअरें, काहूँ कहँ गए दूरी।
काहूँ खेल भएउ बिख, काहूँ अंब्रित मूरि॥ १८७॥

शब्दार्थ—आँब=आम का वृक्ष, कच्ची उम्र की (अप्राप्त यौवना)। झारा=जलाया। नारंग=नारंग, बिना रंग की। झार=झाड़ी, खाना। कटहर=कटहल, कठोर (फारसी लिपि में कट्टर=कठोर)। बड़हर=बड़हल का वृक्ष, बढ़ा हुआ। न्यौंजी=लीची, न्यून जी निराश चित्त। खीरी=खिरनी, सोखीरी—[फारसी लिपि] रूखी री। सदाफर=सदाफर वृक्ष, सदा फलने वाली। तुरंज=एक प्रकार का नींबू। तुरंज जंभीरी=तो रंज में जंभाई लेती थी। जैफर=जायफल, जी का फलना, प्रसन्न होना। लौंग सुपारी=लौंग और सुपारी। लोन+कस+पारी=लावण्य (सौंदर्य) के कस में पूरी उतरी हुई। कमरख=वृक्ष, कम+रख=कम परिग्रह वाली। गुवा छुहारी=सुपारी और छुहारा, गवा+चह+हारी=खो कर हारना चाहती थी। बिजौर=बिजौरा नींबू, बिना जोड़ी या पुरुष के। नरियल=नारियल, नर+यरी=पुरुष से यारी (मित्रता)। अंबिलि=इमली, अनमिली—पुरुष से अछूती। महुव खजूरी=महुआ और खजूर, महुव+वह+जोरी=अपनी जोड़ी के

लिए मधुप (मधु चखने वाले प्रियतम) को बुलाती थी। हरपा रेउरी=एक फल, हरपा=हरएक के साथ मिलने वाली। रेउरी=रेवड़, समूह। कसौंदा=एक फल, क+सौंदा=संधान करना, मिलना। अंवरा=आँवला, अनवरा (कुमारी)। बेर करौंदा=बेर और करौंदा, फारसी में क+रौंदा=वीर को रौंदने (मर्दन करने) वाली। केरा=केला, फारसी लिपि में कीरा=क्रीड़ा, काम केलि। घौरी=केले की घौर, फारसी लिपि में घूरी कूड़े कचरे की ढेर। निंबकौरी=नीम का फल, कड़वाहट।

अर्थ—भिन्न-भिन्न लड़कियाँ भिन्न-भिन्न पेड़ की डाली पकड़ कर फल तोड़ने लगीं—किसी ने आम की डाल पकड़ी और किसी ने विरह की जलाई काली जामुन की डाली को खूब झकझोरा। किसी ने नारंगी, किसी ने चिरौंजी, किसी ने कटहल, किसी ने बड़हल, किसी ने लीची, किसी ने अनार पकड़े। इसी प्रकार दाख, खिरनी, सदाफर, जंभीरी, नींबू, जायफर, लौंग, सुपारी, कमरख, गुवा, सुपारी, छुहारा, बिजौर, नारियल, इमली, महुआ, खजूर, हरपा रेउरी, कसौंदा, आँवला, बेर, करौंदा, केला की घौर और नीम की फली आदि फल सबने ले लिए। किसी को तो निकट ही पेड़ मिल गये किसी को दूर मिले। किसी को तो खेल अमृत हुआ और किसी को विष हुआ।

टिप्पणी—जायसी की पद्धति नाम गिनाने की बहुत है। पेड़ों का नाम गिनाने लगे तो जितना आया कह गये। ऐसी पदावली ग्रन्थावली में भरी पड़ी है।

जायसी को मुद्रालंकार बहुत ही प्रिय था। प्रायः बाटिका के श्लेष से उन्होंने भिन्न प्रकार की स्त्रियों का वर्णन किया है। इस पद में भी द्वितीय अर्थ विद्यमान है, के इस प्रकार होगा—

कोई कच्ची उम्र (अप्राप्त यौवन) में ही पति के द्वारा ग्रहण की गई थी और कोई ह से जामुन की भाँति जल कर काली हो गई थी। कोई बिना रंग की थी और कोई चिरौंजी (मेवा) खाती थी। कोई कठोर दिल की थी और किसी का जी बड़ा था। किसी के जी में न्यूनता या निराशा थी। किसी का दिल फट गया था, कोई दाख की भाँति सूख गई थी। कोई सदा फलने वाली थी, तो कोई रंज में जंभाई लेती रहती थी। कोई जी में प्रसन्न थी, कोई लावण्य में पूरी उतरी थी। किसी के पास वस्तुयें कम थीं और कोई अपना सब कुछ खो कर हारी थी। कोई बिना जोड़ी की थी और कोई पुरुष से यारी जोड़े हुए थी। कोई अनमिली (पति से) थी और कोई अपनी जोड़ी के लिए मधुप (प्रेमी) को बुला रही थी। कोई हरजाई थी और नर समूह से मिलती थी। कोई बिना वर (कुमारी) थी और कोई किसी वीर को रौंद रही थी। कोई क्रीड़ा के ढेर में लगी थी तो किसी के हाथ केवल कड़वाहट ही लगी। किसी ने अपना पति निकट ही पा लिया और किसी को दूर जाना पड़ा। किसी को जीवन का खेल विष सिद्ध हुआ और किसी को अमृत।

[१८८]

पुनि बीनहि सब फूल सहेली। जो चेहि आस पास रह बेलीं॥
कोइ केवरा, कोइ चंप नेवारी। कोइ केतुकि मालति फुलवारी॥

कोइ सदवरग, कुंद, औ करनाँ। कोइ चँबेलि, नागेसरि बरनाँ ।।
कोइ सो गुलाल, सुदरसन कूजा। कोइ सोनजरद पाव भलि पूजा ।।
कोइ बोलसिरि पुहुप बकौरी। कोइ रुपमँजरि, कोइ गुनगौरी ।।
कोइ सिंगारहार तिन्ह पाहाँ। कोइ सेवती, कदम की छाहाँ ।।
कोइ चंदन फूलन्ह जनु फूली। कोइ अजान बीरौ तर भूली ।।
कोई फूल पाव, कोइ पाती, हाथ जेहि क जहं आँट।
कोइ सिउं हार चीर अरुझानी, जहाँ छुवैं तहँ काँट ।। १८८ ।।

शब्दार्थ—बीनहिं=चुनना। केवरा=केवड़ा। कूजा=कुब्जक-सफेद जङ्गली गुलाब। बोलसिरि=मौलिश्री। बकौरी=बकावली।

अर्थ—फिर सब सहेलियाँ फूल चुनने लगीं, जो फूल जिसके समीप था उसी को वह तोड़ने लगी। केवड़ा, चंपा, नेवारी, केतकी, मालती, सदवरग, कुन्द, करना, चमेली, नागकेसर, गुलाब, सुदर्शन, सफेद जंगली गुलाब, सोनजरद, मौलिश्री, गुलबकावली, रूपमंजरी, गुनगौरी, हरसिंगार, सेवती, कदम्ब, चन्दन और अजानविरवा (अज्ञात वृक्ष) के नीचे सभी भूल गईं। किसी को फूल मिला और किसी को पत्ता, जिसको जो प्राप्त हो सका वही ले लिया। किसी का चीर और हार उलझ गया क्योंकि जहाँ छूते थे वहीं तो काँटा था।

[१८९]

फर फूलन्ह सब ढारि ओनाईं। झुण्ड बाँधि कै पंचमि गाईं ।।
बाजे ढोल दुंद औ भेरी। मन्दिर, तूर, झाँझ, चहुँ फेरी ।।
सङ्ख, सींग, डफ संगम बाजे। बंसकारि, महुवर सुर साजे ।।
औरु कहा जेत बाजन भले। भाँति भाँति सब बाजत चले ।।
रथन्ह चढ़ीं सब रूप सोहाईं। लै बसन्त मढ़ मँडप सिधाईं ।।
नवल बसंत, नवल वै बारीं। सेंदुर बुक्का होइ धमारी ।।
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरि होई। नाँच कोड भूला सब कोई ।।
सेंदुर खेह उठा तस, गगन भएउ सब रात।
राति सकल महि धरती, रात बिरिख बन पात ।। १८९ ।।

शब्दार्थ—ओनाई=झुकाया। झुंड बाँधि कै=एक सखी को बीच में कर और सब सखियाँ मंडल बना कर हाथों से ताल देती हुई नाचती और गाती हैं, इसे तालक रास भी कहते थे। मंदिर=एक प्रकार का मृदंग। महुवर=मधुकर, संपेरे की बीन। बंसकारी=वंशी। जेत=जितने। धमारी=होली का खेल। बुक्का=अभ्रक का चूर्ण। चाँचरी=सं० चर्चरी) हाथों में दो छोटे डंडे लेकर लड़के-लड़कियों की टोली का मंडली-नृत्य, वसंत में गाया जाने वाला राग। कोड़=खेल। रात=लाल।

अर्थ—फल-फूलों की सब डालियों को झुका लिया और पंचम स्वर से गाने लगीं। व ढोल, दुंदुभि, भेरी, मृदंग, झाँझ, शंख, सींग, डफ, वंशी, महुवर आदि जितने बाजे थे सब

साथ-साथ बजने लगे। रथों पर चढ़ कर सुशोभित होती हुई सब वसंत के मंडप पर चलीं। वसन्त भी नया है और कुमारियाँ भी नयी हैं। सिंदूर, अबीर और गुलाब से होली का खेल होने लगा। कभी वे धीरे-धीरे चलती हैं और कभी तेजी से। नाच, और खेलों में सभी भूल गयीं। गुलाब और सिंदूर इतने उड़े कि सारा आकाश लाल हो गया, सारी भूमि लाल हो गयी और वृक्ष के सब पत्ते लाल हो गये।

[१६०]

एहि विधि खेलत सिंघल रानी। महादेव मढ़ जाइ तुलानी॥
सकल देवता देखैं लागे। दिष्टि पाप सब तिन्हके भागे॥
ये कबिलास सुनी आछरीं। कहँ हुत आईं परमेसरीं॥
कोई कहै पदुमिनीं आईं। कोई कहै ससि नखत तराईं॥
कोई कहै फूल फुलवारीं। भूलै सबै देखि सब बारीं॥
एक सुरूप औ सेंदुर सारे। जानहुँ दिया सकल महि बारे॥
मुर्छि परे जाँवत जें जोहे। जानहुं मिरिग देवारी मोहे॥
कोई परा भँवर होइ, बास लीन्ह जनु चाँप।
कोई पतंग भा दीपक, होइ अधजर तन कांप॥ १६०॥

शब्दार्थ—तुलानी = पहुँची। सारे = ठीक करना, लगाना, सजाना। जोहे = देखा। मिरिग = हिरण। देवारी = दीपक (तुलना कीजिए, थकित नारि-नर प्रेम पियासे। मनहुं मृगी-मृग देखि दिया से—तुलसी॥ चाँप = चम्पा)।

अर्थ—इस प्रकार सिंहल की राजकुमारी खेलती हुई महादेव जी के गढ़ पर [पहु]ँची। सभी देवता उसे देखने लगे और देखने से उनकी दृष्टियों के सारे पाप भाग [गये।] कहने लगे कि ये स्वर्ग की अप्सरायें हैं या परमेश्वरियाँ हैं। कोई कहता है कि पद्मिनी [आई] और कोई कहता है कि चन्द्रमा तारागणों के साथ आया है। कोई कहता है कि [फुलवार]ी फूली है और सभी कुमारियों को देख कर भूल गये। एक तो उनका स्वरूप बड़ा सुन्दर था फिर उन्होंने सिंदूर लगा रखा था; ऐसा लगता था मानो सारी पृथ्वी में दीपक [प्र]काशित हो रहे हैं। जितने लोगों ने इन्हें देखा वे मूर्छित हो गये मानों मृग दीपकों को देख [क]र उन पर मोहित हो गये हों। कोई इस प्रकार बेसुध हो गया जैसे भौंरा ने चंपे [की] सुगंध ले ली हो और कोई पतंगा होकर दीपक पर पड़ा और अधजला होकर [काँपने] लगा।

[१६१]

पदुमावति गै देव दुआरू। भीतर मँडप कीन्ह पैसारू॥
देवहिं संसौ भा जिय केरा। भागौं केहि दिसि मँडप घेरा॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा। तिसरें आइ चढ़ाएन्हि पूजा॥
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा। चंदन अगर देव नहवावा॥

भरि सेंवुर आगें होइ खरी। परसि देव औ पाएन्ह परी॥
और सहेलीं सबै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुं बर नाहीं॥
हौं निरगुनि जेइँ कीन्ह न सेवा। गुनि निरगुनि दाता, तुम्ह देवा॥
बरसंजोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन इंछा पूजै, बेगि चढ़ावौं आनि॥ १९१॥

शब्दार्थ—पैसारू=प्रवेश। मेरहु=मिलाओ। मानि=मनौती करके। इंछा=इच्छा।

अर्थ—पद्मावती देवद्वार पर गयी और मंडप के भीतर प्रवेश किया। देवता को अपनी जान का संदेह हुआ, सोचने लगा किस दिशा से भागूँ क्योंकि चारों ओर से मंडप घिरा हुआ है। पद्मावती ने दो बार प्रणाम किया और तीसरी बार वह पूजा चढ़ाने लगी। फल-फूलों से उसने मंडप भरवा दिया, चंदन और अगर से उसने देवता को स्नान कराया। सिंदूर चढ़ा कर आगे खड़ी हुई और देवता को स्पर्श करके उसके पैरों में पड़ गयी। उसने कहा कि और सब सहेलियाँ विवाहित हो गयीं पर मुझे कोई वर ही नहीं मिलता। मैं गुणहीन हूँ, मैंने आपकी कोई सेवा न की, पर तुम तो दाता हो, गुणी और गुणहीन सबको देने वाले हो। आप मुझे योग्य वर से मिला दें। मैं आपको कलश मान जाती हूँ, जिस दिन मेरी इच्छा पूरी होगी उसी दिन आकर चढ़ा जाऊँगी।

[१९२]

इंछि बिनई जसि जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ि भै रानी॥
उतर को देइ, देव मरि गएऊ। सबद अकूट मंडप महँ भएऊ॥
काटि पवारा जैस परेवा। मर भा ईस, और को देवा॥
भए बिनु जिउ नावत औ ओझा। बिख भइ पूरि, काल भा गोझा॥
जो देखैं जनु बिसहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा॥
भल हम आइ मनावा देवा। गा जनु सोइ, को मानै सेवा॥
को इंछा पुरवै, दुख खोवा। जेहि मनि आए सो तनि तनि सोवा॥
जेहि धरि सखी उठावहिं, सीस बिकल तेहि डोल।
धर कोइ जीव न जानै, मुख रे बकत कुबोल॥ १९२॥

शब्दार्थ—अकूट=अभौतिक, दिव्य। पवारा=फेंक दिया। नावत=पुजारी, झाड़ फूंक करने वाले। पूरि=पूड़ी। गोझा=गुँझिया। बिसहर=विषधर साँप।

अर्थ—अभिलाषा करके रानी ने जैसा कि वह जान सकती थी विनय की। फिर हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई। पर उत्तर कौन दे? देवता ही मूर्च्छित हो गया। तब मंडप में आकाशवाणी हुई कि जैसे पक्षी को कोई काट कर फेंक देता है उसी प्रकार शंकर ही मूर्च्छित हो गया है और देवताओं की कौन कहे? सभी पुजारी और ओझा लोग भी जीव

विहीन हो गये, चढ़ाई हुई पूड़ियाँ विष हो गईं और गुंझियायें काल हो गईं। जिसे देखो वही मानो साँप से डसा गया है। यह देखकर पद्मावती हँस पड़ी। उसने कहा कि हमने देवता को अच्छा मनाया कि वह सो गया, कौन हमारी अभिलाषायें पूरी करे और हमारे दुःखों को दूर करे। कौन हमारी सेवा स्वीकार करे, जिस-जिसको मानकर हम आयी थीं वे सब तन-तन कर सो रहे हैं। सखियाँ जिसे ही पकड़-पकड़ कर उठाती हैं उसी का सिर व्याकुलता से डोलता है। किसी के धड़ में जीव नहीं मालूम होता था केवल मुख से अनाप-शनाप बकता था।

[१९३]

ततखन आइ सखी बिहँसानी। कौतुक एक न देखहु रानी॥
पुरुब बार कोइ जोइ जोगी छाए। न जनौं कौन देस सौं आए॥
जनु उन्ह जोग तंत अब खेला। सिद्ध होइ निसरे सब चेला॥
उन्ह महँ एक जो गुरू कहावा। जनु गुर दै काहूँ बौरावा॥
कुंवर बतीसौ लक्खन राता। दसएँ लक्खन कहै एक बाता॥
जानहुँ आहि गोपीचंद जोगी। कै सो भरथरि आहि बियोगी॥
वै पिंगला गए कजरी आरन। यह सिंघल दहुँ सो केहि कारन॥
यह मूरति, यह मुंद्रा, हम न देखा औधूत।
जानहुँ होहिं न जोगी, केहु राजा के पूत॥१९३॥

शब्दार्थ--तंत=तत्व। निसरे=निकले। दसएँ लक्खन=बहुत मुश्किल से। पिंगला=राजा भर्तृहरि की रानी। कजरी आरन (सं० अरण्य)=कदली वन। औधूत= अवधूत संन्यासी।

अर्थ—उसी समय एक विहँसती हुई सखी आई और कहा कि हे रानी! विचित्र बात तुम नहीं देख रही हो। गढ़ के पूर्व द्वार पर कुछ जोगी छाये हुए हैं, न जाने किस देश से आये हैं। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने योग के तत्वों को अच्छी प्रकार खेल रखा है और सिद्ध होकर सभी चेले बनकर निकले हैं। उनमें से जो गुरु कहा जाता है उसकी तो यह दशा है मानो किसी ने गुड़ देकर उसे पागल कर दिया है। उस कुंवर में राजकुमारों के बत्तीसों लक्षण प्रकाशित हैं और बहुत मुश्किल से एक बात करता है। मानो वह जोगी गोपीचन्द है या वह वियोगी भर्तृहरि है। भर्तृहरि जी तो पिंगला के कारण कदली वन गये थे। पता नहीं यह किस कारण से सिंहल आया है। हमने इस मूर्ति और इस मुद्रा का कोई साधु नहीं देखा था, ऐसा प्रतीत होता है कि यह जोगी नहीं कोई राजकुमार है।

[१९४]

सुनि सो बात रानी सिउँ चढ़ी। कहाँ सो जोगी देखौं मढ़ी।
लै संग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिहि आइ जनु अछरिन्ह घेरा॥
नैन कचोर पेम मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सौं ढरे॥

जोगी दिस्टि दिस्टि सो लीन्हा। नैन रूप नैनन्ह जिउ दीन्हा॥
जो मधु चहत परा तेहि पालें। सुधि न रही ओहि एक पियालें॥
परा माँति गोरख का चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला॥
किंगरी गहे जु हुत बैरागी। मरतिहुँ बार उहै धुनि लागी॥
जेहि धंधा जाकर मन लागै, सपनेहु सूझु सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहिं, करहिं पेम मन बंध॥ १६४॥

शब्दार्थ—सिउँ=शिविका, पालकी-पाठान्तर-रथ। कचोर=कटोरा। माँति=बेसुध। हुत=थे। धंधा=कार्य।

अर्थ—यह बात सुनकर रानी शिविका पर चढ़ी और कहा कि वह मढ़ी कहाँ है जहाँ जोगी हैं; मैं देखूँगी। सखियों को साथ लेकर उसने मन्दिर का चक्कर लगाया और जोगियों को चारों ओर इस प्रकार घेर लिया मानो जोगियों को अप्सराओं ने घेर लिया हो। नैन रूपी कटोरे प्रेम के मद से भरे थे। जोगियों की दृष्टि से दृष्टि मिली। जोगी रत्नसेन ने दृष्टि से दृष्टि मिलाई और आँखों से ही पद्मावती के रूप को लेकर बेसुध हो गया। जिस शराब को वह चाहता था उसी के पाले आ पड़ा और एक ही प्याले के पान से वह बेसुध हो गया। गोरखपंथी साधु संज्ञाहीन हो गया और उसके प्राण शरीर को छोड़ कर स्वर्ग को चले। चिकारा लिये हुए जो वैरागी बना था उसको मरते समय भी 'पद्मावती, पद्मावती' की वही धुन लगी हुई थी। जिसका मन जिस कार्य में लगा होता है वह स्वप्न में भी वही देखता है, इसी कारण तो प्रगट में तपस्वी लोग तप साधते हैं, किन्तु भीतर से वे प्रेम में अपने मन को बाँधते हैं।

[१६५]

पदुमावति जस सुना बखानू। सहसहुँ कराँ देखा तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिनु जागा। अधिकौ सूत, सिअर तन लागा॥
तब चंदन आखर हियँ लिखे। भीख लेइ तुइँ जोगि न सिखे॥
बार आइ तब गा तैं सोई। कैसें भुगुति परापति होई॥
अब जौं सूर अहै ससि राता। आइहि चढ़ि सो गँगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखी सौं कही। इहै ठाउँ हौं बारति अही॥
परगट होइ तौ होइ रस भंगू। जगत दिया कर होइ पतंगू॥
जासौं हौं चख हेरौं, सोइ ठाउँ जिउ देइ।
एहि दुख कबहु न निसरौं, को हत्या असि लेइ॥ १६५॥

शब्दार्थ--मेलेसि=लगाया। मकु=शायद। खिनु=क्षण भर के लिए। सूत=सो गया। सिअर=ठण्डा। बार=द्वार। परापति=प्राप्ति। बारति=रोकती। अही=थी।

अर्थ--पद्मावती ने तोते से जैसी प्रशंसा सुनी थी उसी प्रकार सहस्र किरणों वाले सूर्य के समान उसे पाया। उसने उसके शरीर पर चन्दन लगा दिया कि शायद एक क्षण के लिए वह जग जाय, पर वह तो ठण्डक पाकर और सो गया। तब उसने चन्दन के अक्षर से उसके हृदय पर यह लिख दिया कि--हे जोगी! तुमने भिक्षा लेने की युक्ति नहीं सीखी है। जब मैं तेरे द्वार पर आई तो तू सो गया। तुझे भिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है? अब यदि तू सूर्य है और मुझ चन्द्रमा में अनुरक्त है तो सातवें आसमान पर चढ़कर आना अर्थात् अब तो तुझे सप्तखण्ड धौराहर पर आना होगा। यह बात लिखकर उसने सखी से कहा कि इसी बात को मैं पहले बचा रही थी। यदि यह बात बाहर प्रकट हो जायेगी तो रंग में भंग होगा, जैसे ही यह जागेगा अवश्य ही दीपक में पतंगे की भाँति जल जायगा। जिससे मैं दृष्टि मिलाती हूँ वही उसी जगह जान देता है, इसी दुःख से मैं कभी नहीं निकलती कि कौन इस प्रकार की हत्या अपने सिर ले।

[१६६]

कीन्ह पयान सभन्ह रथ हाँका। परबत छाड़ि सिंघल गढ़ ताका।
भए बलि सबै देवता बली। हत्यारिनि हत्या लै चली॥
को अस हितू मुए गह बाहीं। जौं पै जिउ अपने तन नाहीं॥
जौं लगि जिउ आपन सब कोई। बिनु जिउ सबै निरापन होई॥
भाइ बन्धु औ लोग पियारा। बिनु जिय घरी न राखै पारा॥
बिनु जिय पिंड छार कर कूरा। छार मिलाव सोइ हितु पूरा॥
तेहि जिय बिनु अब मर भा राजा। को उठि बैठि गरब सौं गाजा॥
परी कया भुइँ रोवै, कहाँ रे जिय बलि भीवँ।
को उठाइ बैसारे, बाजु पियारे जीवँ॥१६६॥

शब्दार्थ--पयान = प्रयाण, प्रस्थान। सभन्ह = सबने। ताका = देखा, उस ओर बढ़ा निरापन = अपना नहीं, व्यर्थ। पारा = सकता। छार कर कूरा = मिट्टी का कूड़ा। भीवँ = भीम, भयंकर। बैसारे = बैठाये। बाजु = बिना।

अर्थ--सबने प्रस्थान किया और अपने-अपने रथ चलाये। पर्वत को छोड़कर सबने सिंहलगढ़ की राह ली। उस बलि से सब देवता बली हो गये (पद्मावती के दिव्य दर्शन से शिव तथा अन्य देवता मृतप्राय हो गये थे। अब उसके सौन्दर्य से रत्नसेन चेतनाशून्य हो गया। इस प्रकार जब उसके अध्यात्म रूप का आकर्षण कम हुआ और सौन्दर्य भौतिक रूप के धरातल पर उतर आया तो देवता पुनः जी उठे, मानो रत्नसेन की बलि पाकर देवताओं का बल लौट आया) और उधर पद्मावती हत्यारिन की भाँति हत्या लेकर चली। ऐसा कौन हितैषी है, जो अपने शरीर से जीव के निकल जाने पर बाँह पकड़ सकता है? जब तक जीव है, तभी तक अपने सब हैं, जीव के बिना अपना कोई नहीं है। भाई-बन्धु और प्यारे लोग कोई भी जीव के बिना एक घड़ी भी नहीं रख सकते। बिना जीव के शरीर

मिट्टी का कूड़ा मात्र है। जो इस शरीर को मिट्टी में मिला दे, अर्थात् जो इसे मिट्टी समझ कर उसके प्रति आसक्तिहीन हो जाय, वही पूरा हितकारी है। उस जीव के बिना अब राजा मर गया है, अब कौन उठकर गर्व से गरजेगा। उसकी काया भूमि पर पड़ी रो रही थी कि उसका वह जीव कहाँ चला गया जो ऐसी भयंकर वलि चढ़ा था। बिना प्यारे जीव के कौन उसे उठा कर बैठा सकता है ?

[१९७]

पदुमावति सो मंदिर पईठी। हँसत सिंघासन जाइ बईठी ॥
निसि सूती सुनि कथा बिहारी। भा बिहान औ सखी हँकारी ॥
देव पूजि जब आइउँ काली। सपन एक निसि देखिउँ आली ॥
जनु ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा। औ रबि उदौ पछिवँ दिसि लीन्हा ॥
पुनि चलि सुरुज चाँद पहँ आवा। चांद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा ॥
दिन औ राति जानु भए एका। राम आइ रावन गढ़ छेंका ॥
तस किछु कहा न जाइ निखेधा। अरजुन बान राहु गा बेधा ॥
जनहुँ लंक सब लूसी, हनूँ बिधाँसी बारि ।
जागि उठिउँ अस देखत, सखि सो कहहु विचारि ॥१९७॥

शब्दार्थ—बिहारी = विहार-सैर की। बिहान = प्रातः। आली = सखी। निखेधा = निषेध, विरोध। लूसी = लूटी। बिधाँसी = विध्वंस कर दिया। हनूँ = हनूमान्। बारि = वाटिका, बाला। राहु = रोहू मछली।

अर्थ—पद्मावती ने अपने महल में प्रवेश किया, और हँसती हुई सिंहासन पर जा बैठी। सैर की कहानी सुनकर रात में सो गई, सुबह हुई तो उसने अपनी सखी को बुलाया। उसने कहा कि जब मैं कल देवता की पूजा कर लौटी तो मैंने एक स्वप्न देखा। मानो पूर्व दिशा में चन्द्रमा उदय हुआ और पश्चिम में सूर्य। फिर सूर्य चल कर चन्द्रमा के पास आया और चन्द्र और सूर्य का मेल हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि दिन और रात एक हो गए। राम ने आकर रावण का गढ़ घेर लिया। पर कुछ राम-रावण जैसा विरोध उसे नहीं कहा जा सकता, पर ऐसा लगा कि अर्जुन के बाण से रोहू मछली बेधी गयी। मानो सारी लंका लुट गई और हनूमान् ने वाटिका (बाला) का विध्वंस कर डाला, ऐसा देखते ही मैं जाग उठी। अब तू विचार कर इसका रहस्य बता।

[१९८]

सखी सो बोली सपन बिचारू। काल्हि जो गइहु देव के बारू ॥
पूजि मनाइहु बहुत बिनाती। परसन आइ भएउ तुम्ह राती ॥
सुरुज पुरुख चाँद तुम्ह रानी। अस बर देव मिलावा आनी ॥
पछिवँ खण्ड कर राजा कोई। सो आवै बर तुम्ह कहँ होई ॥

पुनि कछु जूझि लागि तुम्ह रामा। रावन सौं होइहि संग्रामा ॥
चाँद सुरुज सिउँ होई बिम्राहू। बारि बिधाँसब बेधब राहू ॥
जस ऊखा कहँ अनिरुध मिला। मेंटि न जाइ लिखा पुरुबिला ॥
सुख सोहाग है तुम्ह कहँ, पान फूल रस भोग।
आजु कालिह भा चाहिअ, अस सपने क सँजोग ॥१६८॥

शब्दार्थ—परसन=प्रसन्न। रामा=राम, स्त्री। रावण=रावण, रमण करते वाला पति। बारी=वाटिका, वाला। बिधाँसव=संभोग के समय कुमारीपन का विध्वंस होना। पुरुविला=पूर्व जन्म का। संजोग=फल।

अर्थ—सखी ने स्वप्न-विचार कहना आरम्भ किया कि कल जो तुम देवद्वार पर गयी थीं और बहुत विनती करके तुमने देवता को मनाया था, वही देवता रात में तुमसे प्रसन्न हुआ है। सूर्य तो (रत्नसेन) है और चन्द्रमा तुम हो। देवता ने ऐसा वर आकर मिलाया है। यह पश्चिम देश का कोई राजा है वही तुम्हारा वर होकर आ रहा है। फिर तुम्हारे लिए उस राजा तथा तुम्हारे पिता के बीच राम-रावण का संग्राम होगा। फिर चाँद और सूर्य का विवाह होगा। फिर संभोग के रूप में तुम्हारी कुँवारीपन का जो विध्वंस होगा, वही अर्जुन का मछली भेदना और हनूमान् का वाटिका विध्वंस करना है। जिस प्रकार उषा को अनिरुद्ध मिले थे, उसी प्रकार तू रत्नसेन को मिलेगी। पूर्व जन्म का लिखा हुआ मिट नहीं सकता। जो तुझको सुख, सौभाग्य, पान, फूल, रस आदि का भोग लिखा है वह आजकल में होना चाहता है, यही इस स्वप्न का फल है।

---

२१. राजा रत्नसेन-सती-खंड

[१६६]

कै बसन्त पदुमावति गई। राजहिं तब बसन्त सुधि भई ॥
जौं जागा न बसन्त न बारी। ना सो खेल, न खेलनिहारी ॥
ना ओहि की वै रूप सहाईं। गै हेराइ, पुनि दिस्टि न आईं ॥
फूल झरें, सूखीं फुलवारी। दिस्टि परीं उकठीं सब झारीं ॥
केइँ यह बसत बसन्त उजारा। गा सो चाँद, अँथवा लै तारा ॥
अब तेहि बिन जग भा अंधकूपा। वह सुख छाँह, जरौं हौं धूपा ॥
बिरह दवा अस को रे, बुझावा। को प्रीतम सें करै मेरावा ॥
हिआ देखि सो चन्दन घेवरा, मिलि कै लिखा बिछोव।
हाथ मींजि सिर धुनै सो रोवै, जो निचिंत अस सोव ॥१६६॥

शब्दार्थ—हेराइ=खो जाना। उकठीं=सूख कर ऐंठ गईं। झारीं=झाड़ियां। अँथवा=अस्त हुआ। दवा=दावाग्नि। घेवरा=चन्दन लगाना।

अर्थ—वसन्त पूजन करके जब पद्मावती चली गई तब राजा को बसन्त की याद आई। जब वह जागा, तब न वसन्त का उत्सव था, न कुमारियाँ थीं, न वह खेल था, न खेलने वाली थीं और न उसकी वह रूपवती सहेलियाँ थीं। वे सब खो गयीं, फिर दिखाई न पड़ीं। फूल झड़ गये, फुलवाड़ी सूख गई, केवल सूखी हुई झाड़ियाँ दिखाई पड़ीं। रतनसेन सोचने लगा कि किसने इस बने हुए वसन्त को उजाड़ दिया है। वह चन्द्रमा सब तारागणों को लेकर अस्त हो गया। अब तो उसके बिना सारा संसार अन्धकूप है, वह तो सुख की छाया में है और मैं धूप में जल रहा हूँ। विरह की दावाग्नि को ऐसा कौन है जो बुझा सके? कौन उस प्रीतम से मिलाप करा सकता है? जब उसने वक्षस्थल पर चन्दन का लेप देखा कि जिसमें मिल कर वियोग होने की बात लिखी हुई थी, तो वह राजा रत्नसेन जो निश्चिन्त होकर सो रहा था, सिर धुन कर और हाथ मल कर रोने लगा।

अलंकार—रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

[२००]

जस बिछोव जल मीन दुहेला। जल हुति काढ़ि अगिनि महँ मेला॥
चंदन आँक दाग होइ परे। बुझहिं न ते आखर परजरे॥
जनहुँ सरागिनि होइ होइ लागे। सब बत दागि सिंघ बन दागे॥
जरे मिरिग बनखँड तेहि ज्वाला। औ ते जरे बैठ तहँ छाला॥
कत ते अंक लिखा जेहि सोवा। मकु आँकत नहिं करत बिछोवा॥
जस दुखंत कहँ साकुन्तला। माधौनलहि काम—कंदला॥
भए अंक नल जैस दमावती। नैना मूँदि छपी पदुमावती॥
आइ बसंता छपि रहा होइ फूलन्ह के भेस।
केहि विधि पावौं भँवर होइ, कौनु सो गुरु उपदेस॥२००॥

शब्दार्थ—दुहेला=कठिन खेल, दुःख। हुति=से। काढ़ि=निकाल कर। मेला=डाला। परजरे=प्रज्वलित हुए, जले।

सरागिनि *—शलाखें (विरह सरागिनि भूजै माँसू। गिरि-गिरि परै रकत की आँसू॥ १५४।७) बैल आदि पशुओं को गर्म लोहे की शलाखों से दागा जाता था। यहाँ दागने का ही अर्थ है इसीलिए शलाखों से ही इसका अभिप्राय है।

*. डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में इसका अर्थ शराग्नि (जलते हुए सरकंडे की अग्नि) कहा है (भूमिका पृष्ठ ३६)। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी डा० गुप्त के इस अर्थ से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने, इसलिए, इस शब्द में श्लेष माना है और इसके दोनों अर्थ १. शलाखें, २. सरपत की आग—स्वीकार किये हैं और (पद्मावत पृष्ठ १६१)। उन्होंने टिप्पणी में लिखा है कि "सरपत के जंगलजान बूझ कर जलाये जाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बाहरी घेरे से आग फैलकर सरपतों के भीतर

मिरिग=मृग, हिरण, (हिरण का रंग ऐसा लगता है जैसे ज्वाला की लपट से जला हुआ हो। मकु=यदि)। बिछोव=विरह । दुखंत=दुष्यत । साकुन्तला= शकुन्तला। माधौनलहि काम कन्दला=माधवानल और काम कंदला (सूफियों में इनकी प्रेम कहानी प्रचलित थी, आगे चलकर आलम कवि ने इसी नाम से एक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना भी की)। दमावति=दमयन्ती।

अर्थ—जैसे जल का वियोग मछली को दुखदायी होता है इसी प्रकार राजा को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसे जल (मिलन) से निकाल कर अग्नि (विरह) में डाल दिया हो। चंदन के जो अंक उसके वक्ष-स्थल पर लिखे गये थे ऐसे लगे जैसे जल जाने के पश्चात् दाग हों। वे अक्षर (दाग) अभी तक बुझे नहीं थे जलते ही रहे। ये दाग ऐसे लगते थे मानो जलती हुई लोहे की शलाखें वक्षस्थल पर लगी हैं और उन्हीं से दाग बने हैं। मेरे वक्षस्थल को दागने से पहले इन्हीं शलाखों ने सारे वन को दागा और वन के सिंहों को भी दाग दिया (सिंह से तात्पर्य चीते से है जिसके शरीर पर काले दाग होते हैं)। उस ज्वाला से वन और उसके सभी मृग जल गये और वे लोग भी जल गये जो साधु आदि वहाँ पर मृगछालाओं पर बैठकर तपस्या कर रहे थे। उसने मेरे हृदय पर चंदन के अंक क्यों लिखे जिनकी शीतलता से मैं और सो गया। यदि उसे इन अंकों को लिखना ही था तो उसे वियोग भी नहीं करना चाहिए था। जैसे दुष्यन्त को शकुन्तला, माधवानल को कामकन्दला और नल को दमयन्ती का बिछोह हुआ था, उसी प्रकार ये अंक मुझे विरह के कारण हुए। अब वह पद्मावती मेरी आँखों को बन्द कर अर्थात् मुझे मूर्छित करके छिप गयी है।

मेरी मनोकामना का वसन्त आया अर्थात् अपनी सखियाँ रूपी फुलवाड़ी के साथ पद्मावती आयी किन्तु वह वसन्त फूलों के वेश में छिप गया है। अर्थात् प्रत्येक पुष्प में उसकी शोभा समा गयी है। उसके प्राप्त करने का साधन अब तो मेरे लिए यही है कि मैं भौंरा होकर उस तक पहुँचूँ। कौन वह गुरु है, जो मुझे उपयुक्त उपदेश देकर उसे पाने की युक्ति बतायेगा।

के घने वन को दावाग्नि के रूप में पकड़ लेती है। वहीं सिंह-वन का जलना है। जायसी ने संक्षिप्त शैली में इसी ओर संकेत किया है।" (वही पृ० १६१)

डा० अग्रवाल का यह अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता। सिंहवन के जलने को इस कल्पना तक जायसी का अभिप्राय नहीं था। उनकी कल्पना तो अन्य पशुओं की भाँति सिंह तक को दागने तक पहुँचती है, और इस कल्पना का आधार उत्प्रेक्षा की संभावना मात्र है। 'सरागनि' शब्द अवधी प्रान्त में शलाख के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। जायसी ने इसे पद्मावत में तीन बार(१५४।७,,२००।३, ५४५।८) प्रयोग किया है, तीनों स्थलों पर इसका शलाखों का ही अर्थ है।

अलंकार—उपमा—जस बिछोव······मेला—
उत्प्रेक्षा—जनहु सरागिनि······छाला।
रूपकातिशयोक्ति और रूपक आइ बसंत भेस।

[२०१]

रोवै रतन माल जनु चूरा। जहँ होइ ठाढ़, होइ तहाँ कूरा॥
कहाँ बसंत सो कोकिल बैना। कहाँ कुसुम अलि बेधै नैना॥
कहाँ सो मूरति परी जो डीठी। काढ़ि लीन्ह जिउ हिएँ पईठी॥
कहाँ सो दरस परस जेहि लाहा। जौं सो बसंत करीलहि काहा॥
पात बिछोव रूख जौं फूला। सो महुवा रोवै अस भूला॥
टपकै महुव आँसु तस परई। होइ महुवा बसंत जेउँ झरई॥
मोर बसंत सो पदुमिनि बारी। जेहि बिनु भएउ बसंत उजारी॥
पावा नवल बसंत बन, बहु आरति बहु चोप।
अैस न जाना अंत होइ, पात झरहिं होइ कोप॥ २०१॥

शब्दार्थ—माल=माला, हार। रतन=माणिक्य। चूरा=चूता हुआ, टपकता हुआ, (रक्त के आंसू और माणिक्य की माला से गिरते माणिक्य के मनके सुन्दर उपमा प्रस्तुत करते हैं।) कूरा=स० कूट, ढेर। काढ़ि लीन्ह=निकाल लिया। कुसुम=यहाँ कुसुम से केतकी का अभिप्राय है जो वसन्त में खिलती है। केतकी के कांटे में भौंरा आकर बिंध जाता है, यहाँ रत्नसेन के नेत्र रूपी भ्रमर पद्मावती से बिंधे हैं (भेदे भंवर कंट केतकी ११३। १) पईठी=प्रवेश कर। लाहा=लाभ। आरति=दुःख। चोप=चाह। कोप=कोंपल।

अर्थ—रत्नसिंह रोने लगा, उसके आंखों के खून के आंसू ऐसे लगते थे मानो माणिक्य की माला में से माणिक्य टपक रहे हों। जहाँ ही वह खड़ा होता था वहीं आँसुओं रूपी माणिक्य का ढेर लग जाता था। वह रोने में कहता कि वह वसन्त तथा कोयल के शब्द अब कहाँ हैं? वे फूल (केतकी), अब कहाँ है जिन्होंने मेरे नेत्र रूपी भंवरे को वेध डाला है? वह मूर्ति जो दिखाई पड़ी थी अब कहाँ चली गई, उसने हृदय में प्रवेश करके मेरे प्राण को ही निकाल लिया। वह प्रियतम कहां है जिसके दर्शन और स्पर्श को ही हम लाभ समझते हैं। यदि वसन्त भी हो तो करील को क्या, अर्थात् जैसे वसन्त में भी करील के कांटेदार वृक्ष में कोई अन्तर नहीं होता उसी प्रकार अब वसन्त रूपी पद्मावती के आने से ही मुझे क्या लाभ हुआ? महुवा वृक्ष जैसे वसन्त के महीने में पत्तों से विहीन हो कर फूलता है और पत्तों के वियोग में रोता है, ऊपर से महुवा के फूल के रूप में वह सफेद-सफेद टप-टप आसू गिराता रहता है उसी प्रकार मेरा भी वसन्त हुआ, पदमावती आई, पर उसके चले जाने के कारण फूलने (हर्ष के अवसर को प्राप्त करने) पर भी मैं उसी प्रकार टप-टप आंसू गिरा रहा हूं जैसे कि महुआ झरा करता है। मेरा वसन्त तो वह पद्मिनी ही थी। उसके बिना तो मेरे जीवन का वसन्त ही उजड़ गया। नये वसन्त के आगमन में वन में बड़ी

तैयारी हुई थी, मैंने उसके आगमन की प्रतीक्षा में बड़ी उत्कंठा और बड़ी अभिलाषायें कर रक्खी थीं, पर ऐसा नहीं जानता था कि कोंपल फूटने के पश्चात् पत्ते झड़ जायेंगे और इस प्रकार उसका बुरा अन्त होगा।

अलंकार—रूपक-पिछले पद में कवि ने पदमावती को वसन्त के उपमान रूप में लिखा था (आइ वसन्ता छपि रहा)। उसी का विस्तार इस पद में कर दिया है। कोकिल, केतकी, करील और महुए के द्वारा रत्नसेन की विरह दशा का मनोरम चित्रण किया है। एक ही शब्द के कई पक्ष प्रस्तुत करने की शब्द-क्रीड़ा जायसी को बहुत ही भाती थी इसीलिए अन्तिम दोहे में वसन्त को रत्नसेन के हर्ष (मनोरथ-पूर्ति) के रूप में भी ले लिया है। वसन्त में पत्ते झड़ते हैं, रत्नसेन हर्ष में भी दुखी हुआ। इसी प्रकार यह रूपक भी अर्थ-सौरस्य को बढ़ाने वाला है।

नोट—अन्तिम दोहे के स्थान में किसी प्रति में निम्नलिखित दोहा है

मिलि, जो प्रीतम बिछुरही, सो जानहिं एह भेव।
प्रान रहै घट भीतर, कोइ अन्त न पावै भेव॥

[२०२]

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कत मैं आइ कीन्हि तोरि सेवा॥
आपनि नाउ चढ़ै जो देई। सो तौ पार उतारै खेई॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा। सुवा क सेंवर तूँ भा मोरा॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसें बूड़ै मँझधारा॥
पाहन सेवाँ काह पसीजा। जरम न पलुहै जौं निति भीजा॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा। सकति को भार लेइ सिर दूजा॥
काहे न पूजिअ सोइ निरासा। मुएँ जिअत मन जाकरि आसा॥
सिंघ तरेंडा जिन्ह गहा, पार भए तेहि साथ।
ते परि बूढ़े बार ही, भेंड पोंछि जिन्ह हाथ॥२०२॥

शब्दार्थ--मलिछ=म्लेच्छ। बिसवासी=विश्वासघाती। लागि=लिए। टेकेउँ=सहारा लिया था। सेंवर,=सं० शालमली, सेमल। जरम=जन्म, जीवन भर। पलुहै=पल्लवित होना। निरासा=जो किसी से आशा नहीं रखता। तरेंडा=तैरने वाला। पोंछि=दुम।

अर्थ–तब रत्नसेन मंडप के देव शंकर से कहने लगा कि ऐ म्लेच्छ, विश्वासघाती देव! मैंने आकर तुम्हारी सेवा क्यों की? जो स्वयं अपनी नाव चढ़ने को देता है, वह तो खेकर अवश्य ही पार उतारता है। अच्छे फल के लिए ही मैंने तेरे चरणों का सहारा लिया था। पर तू तो मेरे लिए तोते का सेमल हो गया। अर्थात् जैसे तोता सेमल के फल को देखकर बड़ी आशा लगाये रहता है पर जब पक जाने पर उसमें चोंच मारता है तो उसमें रुई मात्र निकलती है, वह निराश हो जाता है। उसी प्रकार आज मैं भी निराश

हुआ। जो कोई पत्थर पर चढ़कर पार जाना चाहेगा वह इसी प्रकार मँझधार में डूबेगा, जैसे आज मैं पत्थर के देव की पूजा करके डूब रहा हूँ। पत्थर की सेवा करने से भला वह क्या पसीजेगा, चाहे जीवन भर नित्य वह भीगे पर वह कभी भी हरा नहीं हो सकता। वह तो बावला है जो पत्थर की पूजा करता है, शक्ति के भार को क्या कोई दूसरा ले सकता है ? अर्थात् ईश्वर की शक्ति पत्थर के देवता में नहीं आ सकती। इसलिए उसी निराश प्रेमी की ही पूजा क्यों न करें, जिसकी आशा मरते हुए भी जीती रहती है। जो लोग तैरने वाले शक्तिशाली सिंह की पूँछ को पकड़ते हैं तो उसके साथ पार हो जाते हैं, पर जो भेड़ की दुम हाथ में लेते हैं वे किनारे पर ही डूब जाते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने भी मूर्ति-पूजा विरोधी भाव को व्यक्त कर दिया है। यद्यपि जायसी समन्वयवादी थे फिर भी मुसलमान होने के नाते मूर्ति-पूजा के प्रति विरोध की भावना तो थी ही, वही अवसर पाकर यहाँ जाने-अनजाने व्यंजित हो गयी है।

[२०३]

देव कहा सुनु बौरे राजा। देवहिं अगुमन मारा गाजा॥
जौं पहिलें अपुने सिर परई। सो का काहु कँ धरहरि करई॥
पदुमावति राजा कै बारी। आइ सखिन्ह सौं मँडप उघारी॥
जैसे चाँद गोहने सब तारा। परेउँ भुलाइ देखि ऊँजियारा॥
चमकै दसन बीज की नाईं। नैन चक्र जमकात भँवाई॥
हौं तेहि दीप पतंग होइ परा। जिउ जम गहा सरग लै धरा॥
बहुरि न जानौं दहुँ का भई। दहुँ कबिलास कि कहँ उपसई॥

अब हौं मरौं निसाँसी, हिएँ न आवै साँस।
रोगिआ की को चालै, बैदहिं जहाँ उपास॥२०३॥

शब्दार्थ—अगुमन=आगे ही। गाजा=वज्र। धरहरि=बीच-बिचाव, रक्षा। उघारी=मुँह खोले हुए। गोहने=साथ। जमकात=यम का खाँडा। बहुरि=फिर। दहुँ=पता नहीं। उपसई=गायब हो गयी। चालै=चलावै। उपास=उपवास, व्रत।

अर्थ—देवता ने राजा की बात सुन कर कहा कि ऐ बावले राजा सुनो, मुझ पर तो पहले ही वज्र पड़ गया था। जिसके सिर पर पहले ही विपत्ति पड़ जाय वह भला दूसरे की रक्षा कैसे कर सकता है ? राजा की लड़की पद्मावती जब सखियों के साथ मुँह खोले हुए आई। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे तारों के साथ चन्द्रमा ही आ गया हो। उसके मुख के प्रकाश को देख कर मैं तो भूल गया। उसके दांत बिजली की भाँति चमक रहे थे और आँखें चक्र और यमराज के खाँडे की भाँति घूम रही थीं। मैं उस दीपक पर पतंग होकर पड़ गया। यमराज ने मेरे जीव को लेकर स्वर्ग में रख दिया। फिर नहीं जानता कि

क्या हुआ । न जाने वह स्वर्ग गयी या कहाँ गायब हो गयी । अब मैं श्वासविहीन होकर मर रहा हूँ । दिल में साँस भी नहीं निकलती । ऐसी अवस्था में रोगी की कौन चलावे जब वैद्य ही उपवास कर रहा है अर्थात् जब मेरी ही ऐसी दुर्दशा थी तो तुम्हारी क्या करूँ ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

[२०४]

अनु हौं दोख देहुँ का काहू । संगी कया, मया नहीं ताहू ।।
हतेउ पियारा मींत बिछोई । साथ न लागि आपु गै सोई ।।
का मैं कीन्ह जो काया पोखी । दूखन मोहि, आपु निरदोखी ।।
फागु वसंत खेलि गै गोरी । मोहि तन लाइ आग दै होरी ।।
अब अस काह छार सिर मेलौं । छारैं होउँ फागु तस खेलौं ।।
कत तप कीन्ह छाड़ि कै राजू । आहर गएउ न भा सिध काजू ।।
पाएउँ नहिं होइ जोगी जती । अब सर चढ़ौं जरौं जसि सती ।।
आइ जो प्रीतम फिरि गएउ, मिला न आइ वसंत ।
अब तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमंत ।।२०४।।

शब्दार्थ—अनु=पीछे, फिर । कया=शरीर । मया=दया । ताहू=उसे भी । हतेउ=मारा । पोखी=पाला । दूखन=दोष । छार=मिट्टी । आहर=आहार-भोजन । सर=चिता । प्रीतम=प्रिय, जायसी ने प्रियतमा के लिए प्रीतम शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी किया है ।

अर्थ—राजा ने उत्तर दिया कि मैं फिर दूसरे को दोष क्यों दूँ । मेरे साथ के शरीर को ही मुझ पर कोई दया नहीं आई । इसने मुझे मार दिया । मेरा बिछुड़ा हुआ मित्र (प्रिय) आया था । उसके साथ यह शरीर न गया बल्कि उल्टे सो गया । मैंने इस शरीर को पाल कर क्या किया, दोषी मैं हूँ, हे देव, आप निर्दोष हैं । वह सुन्दरी वसन्त का फाग खेल कर चली गयी । मेरे शरीर में उसने होली की अग्नि लगा दी । अब ऐसी कौन सी मिट्टी सिर पर डालूँ कि मिट्टी हो जाऊँ । और मिट्टी बन कर उड़ूँ और इस प्रकार फाग खेलूँ । मैंने राज्य छोड़ कर सब व्यर्थ ही किया । मेरा भोजन भी छूटा और मैं अपने कार्य में सिद्धि भी न प्राप्त कर सका । मैं जोगी-जती होकर भी पद्मावती को न प्राप्त कर सका, इसलिए अब मैं चिता पर चढ़कर सती की भान्ति जलूँगा । मेरा प्रिय (पद्मावती) आकर लौट गया, उस वसन्त को मैं प्राप्त न कर सका, इसलिए अब मैं होली (विरह) इस शरीर में लगा कर इसे भस्म कर डालूँगा ।

टिप्पणी—सूफी सम्प्रदाय में विरह का महत्त्व अत्यधिक है । विरह ही मिलन का साधन है । यहाँ होली के रूपक में विरह ही का आवाहन रत्नसेन कर रहा है ।

अलंकार—समासोक्ति ।

चिता [२०५]

ककनू पंखि जैसे सर साजा । सर चढ़ि तबहिं जरा चह राजा ।।
सकल देवता आइ तुलाने । दहुँ कस होइ देव अस्थाने ।।
बिरह आगि बज्रागि असूझा । जरै सूर सूर न बुझाएँ बूझा ।।
तेहि के जरत जो उठै बजागी । तीनौ लोक जरहिं तेहि आगी ।।
अबहुँ की घरी चिनगि तेहिं छूटहिं । जरि पहार पाहन सब फूटहिं ।।
देवता सबै भसम भए जाहीं । छार समेटे पाउब नाहीं ।।
धरती सरग होइ सब ताता । है कोई एहि राख विधाता ।।
मुहमद चिनगी अनँग की, सुनि महि गँगन डेराइ ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जेहि सब आगि समाइ ।।२०५।।

शब्दार्थ—ककनू=एक पक्षी जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि आयु पूरी होने पर घोंसले में बैठकर गाने लगता है। जिससे आग लग जाती है और वह जल जाता है। यह पक्षी नर ही होता है मादा नहीं। जब वह जल जाता है तो उसकी राख से अंडा पैदा हो जाता है। अतः जन्म भर यह विरही रहता है और विरहाग्नि में हि जल जाता है। इस प्रकार के पक्षी से विरही रत्नसेन की उपमा उपयुक्त है। अनंग=कामदेव, प्रेम।

अर्थ—जिस प्रकार ककनू पक्षी मरने से पूर्व स्वयं अपनी चिता सजाता है उसी प्रकार राजा ने भी चिता सजा कर, उस पर चढ़ना चाहा। सभी देवता लोग आकर इकट्ठे हो गये, वे सोचने लगे कि देव-स्थान पर यह क्या होने जा रहा है। देव आकर देखते हैं कि विरह की अग्नि तो असूझ वज्राग्नि ही है। सूर्य (रत्नसेन) इसमें जलता है और यह आग बुझाये नहीं बुझती। उसके जलने पर वज्राग्नि उठेगी, उस अग्नि में तीनों लोक जल जायेंगे अभी घड़ी-भर में इसमें चिनगारी फूट जायेगी, तो सभी पहाड़ और पत्थर जल कर फूट जायेंगे। सभी देवता भस्म हो जायेंगे और तब मिट्टी भी समेटी न मिलेगी। पृथ्वी और स्वर्ग सभी जल उठेंगे। हे विधाता ! ऐसा कोई है जो इस समय इसकी रक्षा कर सके। जायसी कहते हैं कि प्रेम की चिनगारी को सुनकर सारी पृथ्वी और आकाश डरता है, तो वह विरही और उसका हृदय धन्य है जिसमें सारी अग्नि समायी रहती है।

[२०६]

हनिवँत वीर लंक जेइँ जारी । परबत ओहि रहा रखवारी ।।
बैठ तहाँ भा लंका ताका । छठएँ मास देइ उठि हाँका ।।
तेहि की आगि उहौ पुनि जरा । लंका छाड़ि पलंका परा ।।
जाइ तहाँ यह कहा संदेसू । पारबती औ जहाँ महेसू ।।
जोगी आहि वियोगी कोई । तुम्हरे मँडप आगि तेहिं बोई ।।
जरे लँगूर सो राते उहाँ । निकसि जो भागे भए करमुँहाँ ।।
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा । बज्जर अंग जरत उठि भागा ।।

रावन लंका मैं डही, ओइँ हम डाहन आइ।
कनै पहार होत है रावट, को राखै गहि पाइ ॥ २०६॥

शब्दार्थ—पलंका=लंका से मिलता-जुलता एक कल्पित द्वीप। (हौ किन चाँद हेरि जो पाऊँ, लंका छांड़ि पलंका धाऊं।—मुल्ला दाऊद कृत चन्दायन।) डही=जलाई। कनै=कनक, सोना। रावट*=(जरावट) जल जाना, अवधी बोल-चाल में रवटावरन= खूब काला, प्रयोग मिलता है।

अर्थ—वीर हनूमान् जिसने लंका जलाई थी वही उस पर्वत की रखवाली करता था। वहाँ बैठ कर वह लंका को देखा करता था और प्रति छठवें मास एक बार गर्जा करता था। भाव यह कि जिस प्रकार पहरेदार प्रतिक्षण आवाजें करते हैं उसी प्रकार वह छः-छः महीने पर गर्जा करता था। रत्नसेन की आग से वह हनूमान् भी जलने लगा। वह लंका छोड़ कर पलंका द्वीप में भाग गया वहाँ जाकर उसने शंकर और पार्वती से यह संदेश कहा कि कोई वियोगी जोगी आया है, उसने आकर तुम्हारे मंडप पर आग बो दी है। वहाँ जो लंगूर जल गये उनके मुँह लाल हो गए और जो निकल कर भागे, उनके मुँह काले हो गये। उसी वज्राग्नि से मैं भी जलने लगा। मेरा वज्र अंग जलने लगा तब में उठ कर भागा। रावण की लंका मैंने जलायी थी, पर वह जोगी तो हमें जलाने लगा। सोने का पहाड़ जल रहा है। कौन उसको रख सकता है।

टिप्पणी—जायसी ने हिन्दू कथाओं का यत्र-तत्र मनमाना प्रयोग किया है। हनूमान्; राम, रावण, शंकर, पार्वती आदि का जैसा चाहा है उपयोग कर दिया है। इसमें कोई वास्तविक तथ्य नहीं है, केवल कथा में चमत्कार का सर्जन करने के लिए एक इन्द्रजाल-सा ला खड़ा किया है। एक स्थान पर पहले उन्होंने लंका को सिंहल से भिन्न बताया था, पर इस पद में यही लंका हो गया, साथ में पलंका द्वीप की भी कल्पना कर डाली। हनूमान् ने इस लंका को जलाया भी था और उसी के पहरेदार भी बने हैं।

---

*. रावट शब्द की व्युत्पत्ति के लिए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस प्रकार लिखा है—

सं० राजावर्त्त 7 रायवट्ट 7 रावट्ट 7 रावट=लाजवर्द सोने का पहाड़ जल कर लाजवर्दी या काला हुआ जा रहा है। रावट क्लिष्ट पाठ था जिसे सरल करने लिए 'गए पहार सग औटि कै' यह पाठान्तर किया गया।—पद्मावत, पृष्ठ (१६७)।

२२. पार्वती-महेश खंड

[२०७]

ततखन पहुँचा आइ- महेसू। बाहन बैल कुस्टि कर भेसू॥
काँथरि कया हड़ावरि बाँधे। रुंडमाल औ हत्या काँधे॥
सेस नाग औ कंठ माला। तन बिभूति, हस्ती कर छाला॥
पहुँची रुद्र कँवल के गटा। ससि माथें औ सुरसरि जटा॥
चँवर घंट और डँवरू हाथा। गौरा पारवती धनि साथा॥
औ हनिवंत बीर संग आवा। धरे बेष जनु बंदर छावा॥
औतहिं कहेन्हि न लावहु आगी। ताकरि सपथ जरेहु जेहि आगी॥
कै तप करैं न पारेहु, कै रे नसैंएहु जोग।
जियत जीय कस काढ़हु, कहहु सो मोहिं बियोग॥ २०७॥

शब्दार्थ—ततखन=तत्क्षण-तुरन्त। कुस्टि=कोढ़ी। हड़ावरि=हड्डियों की माला। हत्या=मृत्यु, काल। विभूति=राख। गटा=गोल दाना। पहुँची=कलाई में पहनने की सुमिरनी जिसमें २१ या २७ दाने होते हैं। हनिवंत बीर=डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी रामायण के अध्ययन के फलस्वरूप लिखा है कि लोक में हनुमान्-पूजा के दो रूप हैं एक वीर या यक्ष के रूप में जिसमें बन्दर की मूर्ति नहीं होती। मिट्टी का थूहा पूजा जाता है। पूर्वी जिलों में इस रूप की पूजा बहुत प्रचलित है और वह प्राचीन यक्ष पूजा से सम्बन्धित है (जनपद भाग १, अंक २ में 'बीर-बरह्म' लेख)। हनुमान् जी का दूसरा रूप बन्दर का है जो रामायण में है। जायसी ने यहाँ हनुमान् के दोनों रूपों का सम्मिश्रण किया है। औतहिं=आते ही। लावहु=लगाओ। पारेहु=सके।

अर्थ—तुरन्त ही शंकर जी आ गये। वे बैल की सवारी पर थे और कोढ़ी का रूप धारण किए थे। उनके शरीर पर गूदड़ी थी और हड्डियों को शरीर पर बाँधे थे। सिरों की माला पहिने थे और काल को कंधे पर रक्खे थे। कंठ में शेषनाग की माला थी, शरीर में राख लिपटी थी और हाथी का चर्म लिपटा था। रुद्राक्ष की माला और कमल गट्टे की पहुँची पहने थे। उनके मत्थे पर चन्द्रमा और जटा में गंगा थी। चंवर, घंटा और डमरू हाथ में थे और उनके साथ उनकी स्त्री गौरा पार्वती थीं। वीर हनुमान् भी साथ में आ रहे थे। वे वानर के वेश में सुशोभित थे। आते ही शंकर ने कहा कि अग्नि न जलाओ, जिसकी विरहाग्नि में जल रहे हो उसी की सौगंध तुम्हें है, क्या तुम तपस्या कर नहीं सकते या तुम्हारा जोग नष्ट हो गया है। जीते जी तुम अपने जीव को क्यों निकाल रहे हो, मुझसे अपने वियोग को कहो।

[२०८]

कहेसि को मोहि बातन्ह बेलवांवा। हत्या केर न तोहिं डर आवा॥
जरैं देहु, दुख जरौं अपारा। निस्तरि परौं जरौं एक बारा॥

जस भर्तहरि लागि पिंगला। मो कहँ पदुमावति सिंघला॥
मैं पुनि तजा राज औ भोगू। सुनि सो नाउँ लीन्हा तप जोगू॥
यह मढ़ सेएउँ आइ निरासा। गै सो पूजि, मन पूजि न आसा॥
तेइँ यह जिउ दाधे पर दाधा। आधा निकसि रहा, घट आधा॥
जो अधजरत सो बेलँब न लावा। करत बेलंब बहुत दुख पावा॥
एतना बोल कहत मुख, उठी बिरह की आगि।
जौं महेस नहिं आइ बुझावत, सकल जगत हुति लागि॥२०८॥

शब्दार्थ—बातन्ह=बातों में। बेलवाँवा=विलम्ब करना, बहलाना। निस्तरि=छुटकारा पाकर। बेलँब=विलम्ब, देर। निरासा=जिसे किसी से आशा न हो। हुति=थी।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि तुम भी मुझे बातों में बहला रहे हो, क्या तुझे हत्या का डर नहीं है? मेरा शरीर तो अपने आप जल रहा है। और मैं अपार दुःख सह रहा हूँ, इसलिए यदि एक बार भी जल जाऊँ तो मुझे इस दुःख से छुटकारा मिल जायेगा। जिस प्रकार पिंगला के कारण भर्तृहरि अपना परिवार छोड़ गए उसी प्रकार मैं भी पद्मावती के लिए सिंहल आया हूँ। मैंने राज और भोग सारा छोड़ दिया है। उस पद्मावती का नाम सुनकर मैंने तप और जोग लिया है। मैंने उस आशा रहित (पद्मावती) के लिए इस मंडप की सेवा की, वह तो इस मन्दिर में पूजा कर गई पर मेरी आशा पूरी न हुई। उसने इस जले हुए दिल को और जला दिया। अब मेरा प्राण आधा तो निकल गया है, आधा ही शरीर में पड़ा है। मैं आधा जला हुआ हूँ, इस लिए देर नहीं करना चाहता, देर होने से मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। इतनी बात कहते ही उसके मुख से विरह की आग उठी, यदि शंकर जी उसे बुझा न देते तो सारे संसार में वह आग लग जाती।

[२०९]

पारवती मन उपना चाऊ। देखौं कुँवर केर सत भाऊ॥
वहु यह बीच, कि पेमहि पूजा। तन मन एक, कि मारग दूजा॥
भै सुरूप जानहुँ अपछरा। बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा॥
सुनहु कुँवर मोसौं एक बाता। जस रंग मोर न औरहि राता॥
औ विधि रूप दीन्ह है तोकाँ। उठा सो सबद जाइ सिब लोकाँ॥
तब हौं तो कहँ इंद्र पठाई। गै पदुमिनि तैं आछरि पाई॥
अब तजु जरन, मरन, तप जोगू। मो सौं मानु जनम भरि भोगू॥
हौं आछरि कबिलास की, जेहि सरि पूजि न कोइ।
मोहि तजि सँवरि जो होहि सरसि, कौन लाभु तोहि होइ॥२०९॥

शब्दार्थ—उपना=उत्पन्न हुआ। चाऊ=चाव, कौतूहल। आँचर=पल्ला। सिवलोकाँ=शिवलोक, कैलास, स्वर्ग। सरसि=सं० सदृशी, समान। आछरि=अप्सरा।

अर्थ—पार्वती के मन में एक जिज्ञासा हुई कि देखूँ इस राजकुमार में कितना सत्य

भाव है। पता नहीं यह प्रेम में पूर्ण है या बीच में ही है। इनके तन और मन एक ही हैं या दोनों के दो मार्ग हैं। उसने अपना स्वरूप ऐसा बनाया जैसे अप्सरा हो और मुस्कराकर उसने रत्नसेन का पल्ला पकड़ लिया। उसने कहा कि हे कुँवर ! मेरी एक बात सुनो। जैसा सुन्दर रंग मेरा है वैसा और किसी का नहीं है। ब्रह्मा ने तुम्हें भी सुन्दर रूप दिया है। जब तेरा शब्द उठा तो वह शिवलोक में पहुँचा, तब इन्द्र ने मुझे तेरे लिए भेजा है। पद्मावती तो गई पर तुमने तो उसकी जगह अप्सरा प्राप्त की है। अतः तुम अपना जलना, मरना, तप और जोग को छोड़ो और मेरे साथ जन्म भर भोग-विलास करो। मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ जिसके समान कोई नहीं है, मुझे छोड़कर यदि तुम उसके समान स्त्री को याद करते हो तो तुम्हें इसमें क्या लाभ है ?

[२१०]

भलेहि रंग तोहि आछरि राता। मोहि दोसरें सौं भाव न बाता ॥
मोहि ओहि सँवरि मुएँ अस लाहा। नैन सो देखसि पूँछसि काहा ॥
अबहीं तेहि जिउ देइ न पावा। तोहि असि आछरि ठाढ़ मनावा ॥
जौ जिउ देहुँ ओहि कि आसाँ। न जनौ काह होइ कबिलासाँ ॥
हौं कबिलास काह लै करऊँ। सोइ कबिलास लागि ओहि मरऊँ ॥
ओहि के बार जीवनहिं वारौं। सिर उतारि नेवछावरि डारौं ॥
ताकरि चाह कहै जो आई। दुओ जगत तेहि देउँ बड़ाई ॥
ओहि न मोरि कछु आसा, हौं ओहि आस करेउँ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ, जिउ न देउ का देउँ ॥ २१० ॥

शब्दार्थ—राता=लाल, सुन्दर। दोसरें=दूसरे। सँवरि=स्मरण करके। लाहा=लाभ। ठाढ़=खड़ी। बार=द्वार। चाह=खबर।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि हे अप्सरा, भले ही तेरा सुन्दर रंग हो, पर मुझे तो दूसरी औरत से बात करना भी नहीं रुचता। मुझे तो उसका स्मरण करके मरने से इतना लाभ है कि तुम आँखों से ही देख रही हो, पूछने की बात क्या है। अभी मैं उसके लिए जान दे भी न पाया हूं तो तुम्हारी जैसी अप्सरा खड़ी होकर मुझे मनाने लगी है। जब उसके लिए जान दूँगा, तब पता नहीं स्वर्ग में क्या हो जायगा ? मैं स्वर्ग लेकर क्या करूँगा, मेरे लिए तो वही स्वर्ग है, जिसके लिए मैं मर रहा हूं। उसके द्वार पर मैं अपने जीवन को वार दूँगा, सिर को उतार कर न्योछावर कर दूँगा। उसकी खबर जो आकर कहता है उसे मैं दोनों लोकों में बड़ा मानूँगा। उसे मुझसे कोई आशा नहीं है पर मैं उसी की आशा करता हूं। उस आशारहित प्रियतमा के लिए यदि मैं जान न दूँ तो क्या दूँ ?

नोट—जायसी ने सर्वत्र ही प्रियतमा को प्रीतम ही कहा है।

[२११]

गौरें हँसि महेस सों कहा। निस्चैं यहु बिरहानल दहा ॥
निस्चैं यह ओोहि कारन तपा। परिमल प्रेम न आछै छपा ॥
निस्चैं पेम पीर यह जागा। कसत कसौटी कंचन लागा ॥
बदन पियर जल डभकहिं नैंनां। परगट दुओ पेम के बैंनां ॥
यह ओोहि लागि जरम एहि सीझा। चहै न औरहि ओोहीं रीझा ॥
महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता ॥
एहू कहँ तसि मया करेहू। पुरवहु आस, कि हत्या लेहू ॥
हत्या दुइ जो चढ़ाएहु कांधें, अबहुँ न गे अपराध।
तीसरि लेहु कै मांथे, जौं रे लेइ कै साध ॥ २११ ॥

शब्दार्थ—परिमल=सुगंध। आछै=रहता है। डभकहिं=डबडबाते हैं। सीझा=सं० सिद्ध=निष्पन्न होना, पकना, अग्नि में जलना। रीझा=सं० ऋद्ध=प्रसन्न होना, आसक्त होना। पुरवहु=पूरा करो। हत्या दुई=दो हत्यायें।[१] साध=सं० श्रद्धा>प्रा० सद्धा=साध=इच्छा।

अर्थ—पार्वती ने हंस कर शंकर जी से कहा कि निश्चय ही यह विरहाग्नि में जल रहा है। यह निश्चय ही पद्मावती के कारण तप रहा है, प्रेम की सुगन्ध छिपी नहीं रहती। निश्चय ही प्रेम की पीड़ा में यह जल रहा है क्योंकि सोना कसौटी पर कसने पर ही प्रतीत होता है। उसका मुख पीला हो गया है और आँखों में आँसू डबडबाये हैं। दोनों में प्रेम के वचन प्रकट हैं। यह उस पद्मावती के लिए जन्म भर जल रहा है यह और किसी को नहीं चाहता, उसी पर अनुरक्त है। हे शंकर जी! तुम देवताओं के पिता हो, तुम्हारी शरण में आकर राम ने रावण को जीत लिया। उसी प्रकार इस पर भी कृपा कीजिए। इसकी आशा पूरी कीजिए, नहीं तो तुम्हें ही हत्या लगेगी। दो हत्यायें तो तुमने अपने कंधे ले रक्खी

१. शिव के कंधे पर की दो हत्याओं के लिए अनेक मत-भेद हैं। श्री सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार गंगा और चन्द्रमा शिव के कन्धों की दो हत्याएं हैं। कारण यह है कि पार्वती उन्हें अपने एकान्त प्रेम की बाधक आठ पहर की हत्या जैसी मानती हैं। श्री शिरेफ ने सती के मृत शरीर को कंधे पर रखने और मदन-दहन को दो हत्याएं माना है। श्री मुंशीराम शर्मा 'सोम' गणेश को मारना और गणेश को जीवित रखने के लिए हाथी को मारना दो हत्याएं मानते हैं। प्राचीन विश्वास के अनुसार ब्राह्मण, गाय या देवता को मारने से हत्या मानी जाती है। अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्त होकर उसके पीछे भागते हुए ब्रह्मा का मस्तक शिव ने काट लिया था और काम देव को अपने तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया था—ये दो हत्याएँ भी शिव को लगी थीं। क्षेमेन्द्र ने अपने देशोपदेश ग्रन्थ में शिव की ब्रह्महत्या का उल्लेख किया है—शक्रराज्यापहरणक्षमा विबुधवर्जिता। कुट्टिनी ब्रह्महत्येव भवस्यापि भयप्रदा।

हैं, अब तक तुम्हारे वे पाप दूर नहीं हुए हैं, अब यदि तुम्हारी इच्छा है तो इसकी भी तीसरी हत्या अपने सिर पर ले लो।

अलंकार---लोकोक्ति---'परिमल प्रेम न आछैं छपा'-सुगंध और प्रेम छिपाये नहीं छिपने।

[२१२]

सुनि कै महादेव कै भखा। सिद्ध पुरुष राजैं मन लखा॥
सिद्ध अंग नहिं बैठे माखी। सिद्ध पलक नहिं लागै आंखी॥
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ न भूख औ माया॥
जौं जग सिद्धि गोसाईं कीन्हा। परगट गुपुत रहै को चीन्हा॥
बैल चढ़ा कुस्टी के भेसू। गिरजापति सत आहि महेसू॥
चीन्है सोइ रहै तेहि खोजा। जस बिक्रम औ राजा भोजा॥
कै जियँ तन्त मन्त सो हेरा। गएउ हेराइ जबहि भा मेरा॥

बिनु गुरु पंथ न पाइअ, भूलै सोइ जो मेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सो भेंट॥ २१२॥

शब्दार्थ भखा = भाषा, वचन। राजैं = राजा ने। लखा = देखा। माखी = मक्खी। चीन्हा = पहिचाना। तंत-मंत = तन्त्र-मन्त्र। हेरा = खोजा। हेराइ = खो गया। मेरा = मेल।

अर्थ—महादेव की वाणी सुन कर राजा ने मन में विचार किया कि यह कोई सिद्ध पुरुष है। सिद्ध के अंग पर मक्खी नहीं बैठती, सिद्ध की पलकें नहीं गिरतीं, उसके साथ उसके शरीर की छाया नहीं होती, उसे न भूख लगती है और न उसे किसी प्रकार का माया-मोह होता है। जिसको परमेश्वर ने जगत् में सिद्ध किया है वह प्रकट भी रहता है और गुप्त भी अर्थात् शरीर से तो प्रकट रहता है पर सिद्धि में गुप्त रहता है। उसे भला कौन पहचान सकता है? अतः यह बैल पर चढ़ने वाला और कोढ़ी वेष वाला गिरिजापति शंकर ही है। राजा विक्रमादित्य और भोज की भाँति जो उसकी खोज करता है वही उसे पहचान सकता है। वह तंत्र-मन्त्र से जी लगा कर उसकी खोज करता है और जब उसका मेल हो जाता है तो स्वयं खो जाता है। बिना गुरु के मार्ग नहीं मिलता, जो इस बात को मिटाता है, वह भूलता है। जोगी तो तभी सिद्ध हो सकता है जब पहले उसका गोरखनाथ (गुरु) से मिलाप होता है।

टिप्पणी—यहाँ जायसी ने गोरख नाथ तथा उनके पन्थ के प्रति आस्था प्रकट की है। गोरख पंथी लोग सिद्धि की जो रूप-रेखा मानते हैं उसी का उल्लेख यहाँ है। सिद्धों के परम्परा-श्रुत लक्षणों का कथन हुआ है। गोरखनाथ ने साधना-मार्ग में एक सुधार किया था कि तंत्र-मंत्र के पचड़ों को हटाकर मन को वश में करना ही

अधिक आवश्यक है। इसका भी उल्लेख हुआ है और गुरु के प्रतीक के रूप में गोरखनाथ का उल्लेख उनके प्रति जायसी की श्रद्धा का द्योतक है।

[२१३]

ततखन रतनसेनि गहबरा। छाड़ि डफार पाउ लै परा॥
माता पितैं जनमि कत पाला। जौं पै फांद पेम गियँ घाला॥
धरती सरग मिले हुत दोऊ। कत निरार कै दीन्ह बिछोऊ॥
पदिक पदारथ कर हुँति खोवा। टूटहि रतन, रतन तस रोवा॥
गंगन मेघ जस बरिसहिं भले। पुहुमि अपूरि सलिल होइ चले॥
साएर उपटि, सिखर गा पाटी। जरै पानि पाहन हिय फाटी॥
पवन पानि होइ होइ सब गिरई। पेम के फांद कोउ जनि परई॥

तस रोवै जस जरै जिउ, जरै रकत औ माँसु॥
रोवँ रोवँ सब रोवहिं, सोत सोत भरि आँसु॥ २१३॥

शब्दार्थ—गहबरा=घबराया, व्याकुल हुआ। डफार=धाड़ मार कर रोना (जबहिं दसन डफारत खोला। दामिनिचमकि चमकि जनु बोला—मधुमालती)। पाउ= पाँव। गियँ=ग्रीवा, गर्दन। घाला=डाला। निरार=न्यारा, अलग। पदिक=पदक, हीरा, पदमावती। रतन=माणिक्य, रत्नसेन। पुहुमि=पृथ्वी। उपटि=उमड़ गया।

अर्थ—तुरन्त ही रत्नसेन उद्विग्न हो गया, उसने जोर से रो कर शंकर जी के पैर पकड़ लिये और कहा कि माता-पिता ने जन्म देकर क्यों मुझे पाला था जो प्रेम का फंदा ही गले में डालना था। पृथ्वी और आकाश दोनों मिले हुए हैं तो फिर क्यों इन्हें अलग-अलग करके इनका वियोग कर दिया। जैसे किसी के हाथ से तावीज युक्त पदार्थ खो जाय और रत्न टूट जाय, उसी प्रकार पद्मावती को मैंने खो दिया। रत्नसेन रोने लगा तो उसके रक्त के आँसू ऐसे टपकने लगे जैसे माणिक्य की मनकाएँ टपक रही हों। उसकी आँखों से आँसू इतने अधिक निकल रहे थे जैसे आकाश के बादलों से जल बरस रहा हो और सारी पृथ्वी जल से भर जाय। सागर में इतना जल हो गया कि वह उमड़ उठा और पहाड़ की चोटी पानी में डूब गई। विरह से पानी जल रहा था और पत्थर का दिल फट रहा था। हवा भी पानी होकर गिरने लगी। कवि कहता है कि प्रेम के फंदे में कोई न पड़े। जैसे-जैसे उसका दिल जलता, वह रोता जाता था। उसका रक्त और मांस जला जाता है, उसके रोम-रोम रो रहे थे और रोमों के सोते-सोते में आँसू भरे थे।

अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति।

विशेष—कवि ने अतिशयोक्ति में प्रलय-काल का स्फुट चित्र सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें कवि की विशिष्ट वर्णन-शैली है।

[२१४]

रोवत बूड़ि उठा संसारू । महादेव तब भएउ मयारू ॥
कहेसि न रोव, बहुत तैं रोवा । अब ईसर भा, दारिद खोवा ।
जो दुख सहै होइ सुख ओकाँ । दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकाँ ॥
अब तूँ सिद्ध भया सिधि पाई । दरपन कया छूटि गै काई ॥
कहौं बात अब होइ उपदेसी । लागु पंथ, भूले परदेसी ॥
जौं लहि चोर सेंध नहिं देई । राजा केर न मूँसै पेई ॥
चढ़ै तौ जाइ बार वह खूँदी । परै तौ सेंधि सीस सौं मूँदी ॥
कहौं तोहि सिंघल गढ़, है खँड सात चढ़ाउ ।
फिरा न कोई जिअत जिउ, सरग पँथ दै पाउ ॥ २१४ ॥

शब्दार्थ—मयारू=दयार्द्र । ईसर=ऐश्वर्यवान्, स्वामी । सेंध=सं० सन्धि; मुख्य द्वार के अतिरिक्त दीवाल में तोड़ा हुआ मार्ग । भा=उदय हुआ । ओकाँ=उसको । काई=मलिनता । मूँसै=चुराना । पेई=पेटी, रत्नपेटी (दामोदर व्यक्ति पण्डित रचित उक्ति व्यक्ति प्रकरण ग्रन्थ में उस समय की बोलचाल की अवधी भाषा की शिक्षा संस्कृत के माध्यम से की गई है । उसमें पेई शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (देखिए-- पद्मावत, डॉ० वा० दे० श०, पृष्ठ २०५) । बार=द्वार । खूँदी=कुचलना, टूटना ।

अर्थ—रत्नसेन के रोने से उसके आँसुओं के जल में सारा संसार डूब गया। तब शंकर जी दयार्द्र हो गये । शंकर ने कहा कि मत रो, तू बहुत रो चुका, अब तेरा ऐश्वर्य उदय हुआ है, दारिद्रय नष्ट हो गया । जो दुःख सहता है उसे सुख होता है, बिना दुःख के कोई सुख के स्थान शिवलोक को नहीं जाता । अब तू सिद्धि को पाकर सिद्ध हो गया । तेरे शरीर रूपी दर्पण की मलिनता छूट गई और वह निर्मल हो गया । अब मैं उपदेश देने वाला होकर तुमसे एक बात कहता हूँ, ऐ भूले हुए परदेशी ! तू ठीक रास्ते पर लग । जब तक चोर सेंध नहीं देता, वह राजा के धन को चुरा नहीं पाता । सेंध लगाना कठिन है क्योंकि यदि उस सेंध पर चोर चढ़ जाय तो वह सेंध का द्वार टूट जाता है और यदि गिर जाय तो सिर से सेंध ढक दी जाती है—भाव यह कि पद्मावती के लिए राजा के घर में तुझे सेंध लगानी है, पर है यह बड़ा कठिन काम । पर तू उस ओर प्रवृत्त अवश्य होना-- मैं तुझसे बता रहा हूँ कि सिंहलगढ़ में सात खण्डों की चढ़ाई है, उस स्वर्ग के मार्ग पर पैर रखने के बाद कोई जीते जी नहीं लौटता है । (सिंहलगढ़ के सात खण्डों वाले धौराहर का वर्णन पीछे जायसी दे चुके हैं, उसी का संकेत यहाँ भी है ।)

टिप्पणी—जौं लहि······मूँदी—यहाँ मध्यकाल में दुर्ग में सुरंग लगाने की क्रिया का वर्णन है । किले में सेंध (सुरंग) लगाने वाला व्यक्ति सदर दरवाजे से प्रवेश

न करके पीछे से सेंध लगाता था। इस प्रकार दरवाजे को बचा कर दुर्ग पर चढ़ा करता था। यदि चढ़ने में गिर पड़ता था तो उसे सुरंग में ही डाल कर उसे पाट दिया करते थे।

[२१५]

गढ़ तस बाँक, जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया॥
पाइअ नाहिं जूझि हठि कीन्हे। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बांकी॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद, चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर सुरंग कुण्ड अवगाहा। तेहि महँ पंथ कहौं तोहिं पाहाँ॥
चोर पैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जेउँ लाव जुआरी॥

जस मरजिया समुँद धँसि मारै, हाथ आव तब सीप।
ढूँढि लेहि ओहि सरग दुवारी, औ चढ़ु सिंघल दीप॥ २१५॥

शब्दार्थ—हठि कीन्हे=हठयोग द्वारा। आपुहि चीन्हे= आत्मज्ञान द्वारा। नौ पौरी= नव पौड़ियाँ—दरवाजे, शरीर के नव द्वार (दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुख, और दो मल-मूत्र मार्ग)। कोटवारा=कोतवाल, पञ्च प्राण (प्राण, समान, व्यान, उदान, अपान)। दसवँ दुवार=ब्रह्मरन्ध्र। बाँकी=टेढ़ा, विकट, मेरुदण्ड के पाँच चक्रों से आगे महारन्ध्र में प्रवेश करने के लिए सुषुम्णा को तिरछी होना पड़ता है। भेदी=भेदिया, जिसे षट् चक्र भेदन का रहस्य ज्ञात है। चाँटी=चींटी, जोगी लोगों का पिपीलिका मार्ग। सुरँग= सुरंग, दुर्ग में जाने के लिए एक गुप्त सुरंग हुआ करती थी, उसका निचला प्रवेश द्वार पानी से भरे कुण्ड में छिपा कर रखा जाता था। जायसी ने इस द्वार को सरगदुवारी कहा है क्योंकि यह मार्ग धवलगृह के स्वर्ग (अन्तःपुर) तक पहुँचता था। इस मार्ग से प्रवेश पाने की शिक्षा भी राजकुमारों को दी जाती थी, अन्यथा प्रवेश पाना असम्भव था, सुषुम्णा मार्ग। कुण्ड=मूलाधार चक्र का कुण्ड। पैंत=दाँव (सं० परिगत)। चोर, जुआरी और मरजिया—ये क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम साधक हैं।

अर्थ—वह सिंहलगढ़ उसी प्रकार टेढ़ा है जैसी तुम्हारी काया। परीक्षा कर ले तू उसी की छाया है। हठ करके मरने से वह प्राप्त नहीं होता, जिसने उसे प्राप्त किया है उसको पहले आत्मस्वरूप ने पहिचाना है। उस गढ़ में नव पौढ़ियाँ हैं जहाँ पाँच कोतवाल सदा टहलते हैं। उसका एक गुप्त दसवाँ द्वार नाक की सीध में है, उसकी चढ़ाई बड़ी कठिन है, रास्ता अत्यन्त टेढ़ा है। विरला ही भेद जानने वाला उस घाट पर जाता है, और भेद को पाकर उसे चींटी की भाँति बड़ी चेष्टा से चढ़ना पड़ता है। उस गढ़ के नीचे एक सुरंग और एक अथाह कुण्ड है, उसी में रास्ता है, मैं तुम्हें बता देता हूँ। जैसे चोर सँभल कर

सेंध में प्रवेश करता है और जैसे जुवारी बड़ी सतर्कता से जुए का दाँव फेंकता है, तथा जैसे गोताखोर बड़ी सावधानी से गोता लगाता है तब उसके हाथ मोती भरी सीप आती है, उसी प्रकार तू भी बड़ी सतर्कता से चलेगा तो उस स्वर्ग-द्वार को खोज लेगा और सिंहलगढ़ पर चढ़ जायेगा।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने स्पष्ट रीति से हठयौगिक क्रियाओं का वर्णन किया है। प्रथम पंक्ति में ही उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सिंहलगढ़ तेरे शरीर के सदृश है। हठयोग का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से ही है। शरीर में नवद्वार हैं, ब्रह्मरन्ध्र दसवाँ द्वार है। हठयोग के अनुसार यह गुप्त द्वार तब खुलता है जब योगी की साधना पूरी होती है। रीढ़ की हड्डी के मूल में मूलाधार चक्र है। यहाँ कुण्ड में कुण्डलिनी भी निवास करती है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सुषुम्णा का मार्ग है जिसमें से होकर कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड तक पहुँचती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि के द्वारा कुण्डलिनी जगायी जाती है और सुषुम्णा मार्ग (पिपीलिका मार्ग) द्वारा ऊपर चढ़ती है। इसी सुषुम्णा को ही सुरंग और मूलाधार को कुण्ड कहा गया है। इस प्रकार रत्नसेन को हठयोग का मार्ग बताया गया है।

अलङ्कार—समासोक्ति

[२१६]

दसवें दुवार तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो जाइ साँस मन बन्दी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तूँ मन नाँथु मारि कै स्वाँसा। जौं पै मरहि आपुहि करु नाँसा ॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता ॥
हौं हौं कहत मन्त सब कोई। जौं तूँ नाँहि आहि सब सोई ॥
जियतहिं जौ रे मरै एक बारा। पुनि कत मीचु को मारै पारा ॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला ॥
आपुहि मीचु जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ क दोसर कोइ ॥ २१६ ॥

शब्दार्थ—तारु=ताड़। लेखा=हिसाब, समान। लोकचार=लोकाचार। मन्त= मत्त मस्त।

अर्थ—दसवाँ द्वार ताड़ के वृक्ष के समान बहुत ऊँचा है। जो उसमें उलटी दृष्टि (अन्य दृश्य वस्तुओं से हटाकर) लगायेगा वही देख सकता है। वहाँ वही जा सकता है जो स्वांस और मन को दमन कर ले जैसे कि कृष्ण ने यमुना में प्रवेश कर कालियनाग का दमन कर लिया था। तू प्राणायाम के द्वारा अपने मन को वश में कर ले और आपे (अहंकार) को मार डाल। प्रकट रूप में तो तू लोकाचार की बातें करता रह, पर गुप्त रीति से उसी में लीन हो जा जिसमें तेरा मन अनुरक्त है। सभी लोग 'मैं' 'मैं' हुए मस्त कहते रहते हैं अर्थात्

लोग अपनेपन को नहीं खोते। जब तू अपने अहन्त्व को खो देगा तभी सब कुछ होगा। जो जीते जी एक बार मर जाय फिर उसे मृत्यु मार नहीं सकती। तब वह आपही गुरु और आप ही चेला हो जाता है और इस प्रकार वही अकेला (सोऽहम्) रह जाता है। पर सब में आप रूप हो जाता है। वह स्वयं ही मृत्यु और स्वयं ही जीवन हो जाता है। तब वह जो चाहता है कर लेता है। फिर उसके लिए दूसरा कोई है ही कौन ?

---

२३. राजा-गढ़-छेका-खण्ड

[२१७]

सिद्धि गोटिका राजैं पावा। औ भै सिद्धि गनेस मनावा॥
जब संकर सिधि दीन्ह गोटेका। परी हूल, जोगिन्ह गढ़ छेंका॥
सबै पदुमिनीं देखहिं चढ़ीं। सिंघल घेरि गईं उठि मढ़ीं॥
जस खरभरा चोर मति कीन्ही। तेहि विधि सेंधि चाह गढ़ दीन्ही॥
गुपुत जो रहै चोर सो साँचा। परगट होइ जीव नहिं बाँचा॥
पँवरि पँवरि गढ़ लाग केवारा। औ राजा सौं भई पुकारा॥
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेले। न जनैं कौन देस सौं खेले॥
भई रजाएसु देखहु, को भिखारि अस ढीठ।
जाइ बरजि तिन्ह आवहु, जन दुइ जाइ बसीठ॥ २१७॥

शब्दार्थ—सिद्धिगोटिका—बँधे हुए पारे की बनी हुई एक गुटिका होती है। कहते हैं उसको मुँह में रखने से मनुष्य उड़ सकता है। यह भयंकर बीमारियाँ दूर करती है, मृतप्राय व्यक्ति चेतन हो उठता है ('नाथ संप्रदाय', लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी)। हूल=कोलाहल। खरभरा=खलबली। रजाएसु=राजाज्ञा। बसीठ=दूत।

अर्थ—राजा ने शिवजी से सिद्धि गुटिका प्राप्त की। सिद्ध होकर उसने गणेश की स्तुति की। जब शंकर ने रत्नसेन को सिद्ध गुटिका दी, तो जोगियों ने गढ़ को घेर लिया और बड़ा कोलाहल हुआ। सभी पद्मिनी स्त्रियाँ अपने-अपने घरों के ऊपर चढ़कर देखने लगीं कि सिंहल घिर गया और उसके बाहर जोगियों की मढ़ियाँ (कुटियाँ) उठ गई हैं। जैसे चोर के चोरी के विचार पर खलबली मच जाती है उसी प्रकार जोगी गढ़ में सेंध लगाना चाहता है। सच्चा चोर तो वह है जो चुपके-चुपके काम कर ले, प्रकट हो जाने पर तो उसकी जान नहीं बच सकती। गढ़ की ड्योढ़ी-ड्योढ़ी पर किवाड़ लगे हैं, फिर राजा के यहाँ पुकार हो गई कि जोगियों ने आकर किले को घेर लिया है, न जाने किस देश से

खेलते हुए ये जोगी आये हैं। तुरन्त राजाज्ञा हुई कि देखो ऐसा कौन सा धृष्ट भिखारी है। दो दूत जाकर उन्हें रोक आवें।

[२१८]

उतरि बसिठ दुइ आइ जोहारे। कै तुम्ह जोगी, कै बनिजारे ॥
भई रजाएसु आगें खेलहु। यह गढ़ छाड़ि अनत होइ मेलहु ॥
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे। आएहु मरै हाथ जिउ लीन्हे ॥
इहाँ इन्द्र अस राजा तपा। जबहिं रिसाइ सूर डरि छपा ॥
हहु बनिजार तौ बनिज बेसाहहु। भरि बैपार लेहु जो चाहहु ॥
जोगी हहु तौ जुगुति सौं माँगहु। भुगुति लेहु, लै मारग लागहु ॥
इहाँ देवता अस गए हारी। तुम्ह पतिंग को आहि भिखारी ॥
तुम्ह जोगी बैरागी, कहत न मानहु कोहु ॥
मांगि लेहु कछु भिख्या, खेलि अनत कहुँ होहु ॥ २१८ ॥

शब्दार्थ—जोहारे=नमस्कार किया। बनजारे=व्यापारी। खेलहु=विचरण करो। अनत=अन्यत्र, और कहीं। बेसाहहु=खरीदो। भुगुति=भिक्षा। कोहु=क्रोध।

अर्थ—दोनों दूतों ने ऊपर से नीचे उतर कर जोगियों को नमस्कार करके कहा कि तुम जोगी हो या व्यापारी। राजा की आज्ञा हुई है कि तुम लोग आगे विचरण करो, इस गढ़ को छोड़कर अन्यत्र चले जाओ। किसकी सीख पर यहाँ घेरा डाले हो, क्या हाथ में जान लेकर जान देना चाहते हो? यहाँ इन्द्र के समान राजा प्रकाशमान है, जब वह क्रुद्ध हो जाता है तो सूर्य भी डर कर छिप जाता है। यदि तुम व्यापारी हो तो व्यापार का माल खरीद लो, जो कुछ चाहो वह व्यापार की वस्तु ले लो। यदि जोगी हो तो युक्ति से माँगो और भिक्षा लेकर अपने रास्ते पर लग जाओ। यहाँ पर तो देवता जैसे भी हार गये हैं, तुम पतंगे सरीखे भिखारी भला किस गणना में हो? तुम जोगी वैरागी हो, कहने में बुरा न मानो, कुछ भिक्षा माँग लो और अन्यत्र विचरण करो।

[२१९]

अनु हौं भीख जो आएउँ लेई। कस न लेउँ जौं राजा देई ॥
पदुमावति राजा कै बारी। हौं जोगी तेहि लागि भिखारी ॥
खप्पर लिए बार भा मांगौं। भुगुति देइ लै मारग लागौं ॥
सोई भुगुति परापति पूजा। कहाँ जाउँ अस बार न दूजा ॥
अब धर इहाँ जीउ ओहि ठाऊँ। भसम होउँ पैं तजौं न नाऊँ ॥
जस बिनु प्रान पिंड है छूँछा। धरम लागि कहिअहु जौं पूँछा ॥
तुम्ह बसीठ राजा की ओरा। साखि होहु एहि भीखि निहोरा ॥
जोगी बार आव सो, जेहि भिख्या कै आस।
जौं निरास दिढ़ आसन, कत गवनै केहु पास ॥ २१९ ॥

शब्दार्थ—ग्राएउँ लेई=लेने आया हूँ। बार भा=द्वार पर होकर। साखि=साक्षी। निहोरा=कृतज्ञता पूर्वक माँगता हूँ। निरास=ग्राशा से रहित।

ग्रर्थ—रत्नसेन ने कहा कि निश्चय ही मैं भीख लेने ग्राया हूँ, यदि राजा देगा तो क्यों नहीं लूँगा। पद्मावती राजा की सुपुत्री है उसी के लिए मैं भिखारी बना हूँ। ग्रापके दरवाजे पर खड़ा होकर खप्पर हाथ में लिये हुए माँग रहा हूँ, यह भिक्षा दिलवा दो, हम ग्रपना रास्ता ले लेंगे। यही भिक्षा हमारे पूजन की प्राप्ति है। कहाँ जाऊँ, ऐसी भिक्षा प्राप्त करने के लिए दूसरा ग्रौर कोई द्वार नहीं है। हमारे शरीर का धड़ तो यहाँ है पर जीव उस जगह (पद्मावती के पास) है। चाहे मैं भस्म हो जाऊँ पर उस पद्मावती का नाम नहीं छोड़ सकता। जैसे बिना प्राण के शरीर बिलकुल छूछा ग्रौर व्यर्थ है उसी प्रकार उसके बिना हम हैं। धर्म के नाम पर यदि राजा तुम से पूछे तो सच-सच ही उत्तर देना। तुम राजा की ग्रोर के दूत हो, मेरी इस कृतज्ञतापूर्वक भिक्षा के साक्षी बनो।

ग्रापके द्वार पर वही जोगी ग्राया है जिसे भिक्षा की ग्राशा है। पर जिसे किसी की ग्राशा नहीं है, वह ग्रपने ग्रासन पर दृढ़ है, वह क्यों किसी के पास जाय?

[२२०]

सुनि बसिठन्ह मन उपनी रीसा। जौ पीसत घुन जाइहि पीसा॥
जोगी ग्रैस कहै नहिं कोई। सो कहु बात जोग तोहि होई॥
वह बड़ राज इन्द्र कर पाटा। धरती परें सरग को चांटा॥
जौ यह बात होइ तहँ चली। छूटहिं हस्ति ग्रबहिं सिंघली॥
ग्रौ छूटहिं तहँ बज्र के गोटा। बिसरै भुगुति, होहु तुम्ह रोटा॥
जहँ लगि दिस्टि न जाइ पसारी। तहाँ पसारसि हाथ भिखारी॥
ग्रागू देखि पाव धरु नाथा। तहाँ न हेरु टूट जहँ माँथा॥
वह रानी जेहि जोग है, तेहि क राज ग्रौ पाट।
सुन्दरि जाइ राज घर, जोगिहि बन्दर काट॥ २२०॥

शब्दार्थ—बसिठन्ह=दूतों के। रीसा=क्रोध। जौ=यव। गोटा=गोला। रोटा=रावट=जल जाना। हेरा=देखना चाहिए। बंदर काट=कथा सरित्सागर में एक कहानी है कि माकंदिकापुरी में एक जोगी रहता था। वह एक वणिक्-कन्या पर मोहित हो गया। उसने लौटकर कन्या के पिता से कहा कि तेरी पुत्री कुलक्षणी है, इसके विवाह होते तेरा सर्वनाश हो जायगा। तुम्हारे लिए भला यही है कि एक लकड़ी के संदूक में बन्द करके उस पर एक दीपक जलाकर रात में नदी में बहा दो। वणिक् ने ऐसा ही किया। योगी ने ग्रपने शिष्यों से दीपक वाला बहता हुग्रा संदूक लाने को कहा। संयोग से एक राजकुमार नदी तट पर पहुँचा, उसने वह संदूक पकड़वाया ग्रौर उसमें सुन्दरी देखकर उससे विवाह कर लिया। उसने जंगल से एक बन्दर पकड़ा था, उसे ही उसने संदूक में बन्द करवाकर नदी में

उसी प्रकार छोड़ दिया । जोगी के शिष्यों ने संदूक को पकड़ा और मठ में लाये । योगी ने बन्द कमरे में उसे खोला । उसमें से बन्दर निकला और उसने जोगी को खूब काटा । इसी कथा के आधार में 'जोगी-बन्दर-काट' की कहावत चल निकली थी ।

अर्थ—यह बात सुनकर दूतों के मन में क्रोध उत्पन्न हुआ । उन्होंने कहा कि जौ के साथ घुन भी पीसा जावेगा । अर्थात् मालूम होता है जोगी रत्नसेन के साथ सारे जोगी मारे जायेंगे । जोगी को ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए, वही बात कहनी चाहिये जो योग्य हो । उसका तो इन्द्र का जैसा बड़ा राजपाट है, भला क्या धरती में पड़ी हुई चींटी कभी स्वर्ग जा सकती है अर्थात् तुम्हारा इसकी कन्या मांगना असंभावित कल्पना मात्र है । अगर तुम्हारी यह बात वहाँ तक पहुँच गयी तो सिंहल के मतवाले हाथी छूट पड़ेंगे । वज्र के गोले छूटेंगे, तुम्हारी भिक्षा भूल जायगी और तुम सब जल मरोगे । भला तुम भिखारी इतना हाथ फैला रहे हो जहाँ तक किसी की दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती । हे नाथ साधुओ, आगे देखकर पैर रक्खो, अर्थात् आगे का सोच-विचार कर काम करो, वहाँ की न सोचो जहां मस्तक टूट जाय । वह रानी पद्मावती जिसके योग्य है उसके पास यह सब राजपाट होता है । ऐसी रानी तो किसी राजा के घर जायेगी, तुम जैसे जोगी को बन्दर-काट ही मिलेगी ।

[२२१]

जौं जोगिहि सुठि बंदर काटा । एकै जोग, न दोसरि बाटा ।।
और साधना आवै साधें । जोग साधना आपुहिं दाधें ।।
सरि पहुँचाइ जोग करु साथा । दिस्टि चाहि होइ अगुमन हाथा ।।
तुम्हरे जौ हैं सिंघली हाथी । मोरें हस्ति गुरू बड़ साथी ।।
हस्ति नास्ति जेहि करत न बारा । परबत करै पाव कै छारा ।।
गढ़ कै गरब खेह मिलि गए । मंदिर उठहिं ढहहिं भै नए ।।
अंत जो चलना कोऊ न चीन्हा । जो आवै सो आपुन कीन्हा ।।
जोगिहि कोह न चाहिअ, तब न मोहिं रिसि लागि ।।
जोग तंत जेउँ पानी, काह करै तेहि आगि ।। २२१ ।।

शब्दार्थ—दाधे = जलाये हुए । अगुमन = आगे । हस्ति = हाथी और अस्तित्व, अध्यात्मपक्ष में हस्ति रूपी माया को गुरु के ज्ञान से नास्ति (व्यर्थ) कर देता है । बारा = देर । जेउँ = जैसे । चीन्हा = चिह्न, पहचाना ।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि यदि जोगी को बन्दर काटे तो भी जोगी के पास जोग के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है । अन्य साधनाएँ तो वाह्य साधन से पूरी होती हैं, पर जोग की साधना तो अपने को जलाना मात्र है । योगी जोग का साथ करने से बराबरी पर पहुंच जाता है । दृष्टि पहुँचने से कहीं आगे पर जोगी का हाथ पहुँच जाता है । तुम्हारे पास यदि सिंहल के मस्त हाथी हैं, तो हमारे हाथी हमारे बड़े साथी हमारे गुरु हैं । हाथियों को नष्ट करते उन्हें देर नहीं लगती, पर्वत को वे पांव की धूल कर सकते हैं । गढ़ का घमंड मिट्टी

में मिल जाता है। वड़े-बड़े मंदिर और नये महल जिनकी चर्चा तुम रानी की प्राप्ति के लिए आवश्यक कहते हो सब गिर पड़ेंगे। अन्त में चला जाना कोई नहीं पहचानता। अर्थात् यह कोई नहीं समझता कि अन्त में जब यहाँ से जाना होता है तो गढ़, राजपाट आदि के कोई चिह्न नहीं रह जाते। जो ही इस संसार में आता है गर्व से प्रत्येक वस्तु को अपनी ही समझ करके करता जाता है। जोगी को क्रोध न चाहिए, इसीलिए हमें आपके वचन पर क्रोध नहीं लगा। जोग तत्त्व तो पानी के समान है, उसका अग्नि क्या कर सकती है।

इस पद में रत्नसेन दूतों के प्रत्येक कथन का क्रमशः उत्तर देता है। प्रत्युत्तर इस प्रकार है—

प्रश्न	उत्तर
दूत	रत्नसेन
१. योगी को बन्दर काटता है (दोहा)—	बन्दर के काटने पर भी जोगी का मार्ग जोग ही है।
२. आगे देखकर पैर रखो (पंक्ति ७)—	योग साधना में आगे क्या देखना उसमें तो अपने को चलाना ही है।
३. राजा इंद्र के समान है (पंक्ति ३)—	योग का साथ करने से जोगी बराबरी पर पहुंच जाता है।
४. जहाँ तक दृष्टि नहीं जाती तुम हाथ— फैलाते हो (पंक्ति ६)	जोगी का हाथ बहुत दूर पहुंचता है। उसके लिए कुछ अगम नहीं।
५. सिंहली हाथी और गोले तुम्हें नष्ट कर देंगे (पंक्ति ४)	हाथियों से बढ़कर हमारे गुरु हैं। वे सब कुछ नष्ट कर देंगे।
६. रानी को प्राप्त करने के लिए राज— पाट चाहिये—(दोहे की प्रथम पं०)	राजपाट सब नश्वर हैं।

[२२१]

बसिठन्ह जाइ कही असि बाता। राजा सुनत कोह भा राता॥
ठाँवहि ठाँव कुँवर सब माँखे। केइ अब लहि जोगी जिउ राखे॥
अबहुँ बेगि कै करहु सँजोऊ। तस मारहु हत्या किन होऊ॥
मंत्रिन्ह कहा रहहु मन बूझे। पति न होइ जोगी सों जूझे॥
ओइँ मारँ तौ काह भिखारी। लाज होइ जौं मानिअ हारी॥
ना भल मुएँ, न मारे मोखू। दुहूँ बात लागँ तुम्ह दोखू॥
रहै देहु जौं गढ़ तर मेले। जोगी कत आछहिं बिन खेले॥
रहै देहु जौं गढ़ तर, जनि चालहु यह बात।
नितहिं जो पाहन भख करहिं, अस केहिके मुख दाँत॥२२२॥

शब्दार्थ—राता=लाल । माँखें=क्रुद्ध हुए । सँजोऊ=सामान, तैयारी । पति=प्रतिष्ठा । मानिअ=मानते हैं । मेले=पड़े । खेले=विचरण करे । भख करहि=खायेंगे ।

अर्थ—दूतों ने जाकर ऐसी ही बात राजा से कह दी । बात सुनकर राजा को बड़ा क्रोध लगा । जगह-जगह पर राजकुमार लोग क्रुद्ध होने लगे । अब इन जोगियों के प्राण कौन बचा सकता है । अभी तुरन्त तैयारियाँ करो और इन सब को मारो, चाहे भले ही हत्या हो । मन्त्रियों ने कहा कि मन में समझ कर काम करो, जोगी से लड़ाई करना कोई प्रतिष्ठा की बात नहीं है । उनको अगर तुमने मार दिया तो कोई बात नहीं, क्योंकि आखिर वे तो भिखारी ही हैं, पर यदि तुमने हार मान ली तो बड़े शर्म की बात हुई । न तो मरने में अच्छा है, और न मारने में कोई मोक्ष है । दोनों में तुम्हें ही दोष लगेगा । इसलिए इन्हें तो किले के नीचे ही पड़े रहने दो—जोगी हैं, बिना विचरण किये कैसे रह सकते हैं—अर्थात् कुछ दिन बाद अपने स्वभाव के अनुसार ही ये यहाँ से कहीं विचरण कर जायेंगे । इनसे कोई बात न चलाओ, गढ़ के नीचे पड़े रहने दो । किसके मुँह में दाँत हैं जो नित्य ही पत्थर को खाये—अर्थात् बिना कुछ खाये-पीये ये कितने दिन जीवित रहेंगे ?

[२२३]

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए । राजें कहा बहुत दिन लाए ।।
न जानौं सरग बात दहुं काहा । काहु न आइ कही फिरि चाहा ।।
पाँख न कया, पवन नहिं पाया । केहि विधि मिलौं होउ केहि छाया ।।
सँवरि रकत नैनन्ह भरि चुवा । रोइ हंकारा माँझी सुवा ।।
परे सो आँसु रकत के टूटी । अबहुँ सो राती बीर बहूटी ।।
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती । सुवा जो लीन्ह चोंच भै राती ।।
बाँधा कंठ परा जरि काँठा । विरह क जरा जाइ कहँ नाँठा ।।
मसि नैना, लिखनी बरुनि, रोइ रोइ लिखा अकथ्थ ।
आखर दहै, न केहुँ गहै सो, दीन्ह सुवा के हथ्थ ।। २३४ ।।

शब्दार्थ—सरग=कैलास, सिंहलगढ़ । चाहा=खबर । हँकारा=बुलाया । माँझी=खेने वाले, पथ-दर्शक । नाँठा=नाठना, नष्ट होना ।

अर्थ—वे दूत चले गये फिर न लौटे । राजा रत्नसेन ने कहा कि बहुत दिन बीत गये, पता नहीं स्वर्ग रूपी सिंहलगढ़ में क्या बात हो रही है ? किसी ने आकर वहाँ का कोई समाचार नहीं सुनाया । न तो मेरे शरीर में पंख हैं और न पैरों में हवा है, किस प्रकार छाया की भाँति पद्मावती से मिलूँ ? उसे स्मरण कर उसके आँखों से रक्त की बूँदें चूने लगीं, तब उसने रोकर अपने पथ-दर्शक तोते को बुलाया । उसकी आँखों से जो रक्त की बूँदें गिरी थीं वे ही आज तक वीर बहूटियाँ बन कर भूमि में लाल दिखाई पड़ रही हैं । उसी रक्त से उसने चिट्ठी लिख दी । उस चिट्ठी को जो तोते ने लिया तो लाल अक्षरों के प्रभाव से तोते की चोंच भी लाल हो गयी । उसने जो उस चिट्ठी को तोते के कंठ में बाँध दिया, तो कंठ जल

गया और उसमें कंठी पड़ गयी । विरह का जला हुआ दाग कभी नष्ट नहीं हो सकता। नेत्र के आँसू उसके स्याही बने और बरौनी लेखनी बने और रो-रोकर उसने अकथनीय बातें लिखीं। अक्षर उसके जल रहे थे, उसे कोई पकड़ नहीं सकता, ऐसी पत्री उसने तोते के हाथ दी।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति; कल्पना में ऊहा का उपयोग है।

[२२४]

औ मुख बचन सो कहेसु परेवा। पहले मारि बहुत कै सेवा।।
पुनि सँवराइ कहेसु अस दूजी। जौं बलि दीन्ह देवतन्ह पूजी।।
सो अबहीं तपसी बलि लागा। कब लगि कया सून मढ़ जागा।।
भलेंहि अैस हौं तुम बलि दीन्हा। जहँ तुहँ तहँ भावै बलि कीन्हा।।
जौं तुम्ह मया कीन्ह पगु धारा। दिस्टि देखाइ बान बिख मारा।।
जो अस जाकर आसामुखी। दुख महँ अैस न मारै दुखी।।
नैन भिखारि न माँगै सीखा। अगुमन दौरि लेहिं पै भीखा।।
नैनहिं नैन जो बेधिगै, नहिं निकसहिं वै बान।
हिएँ जो आखर तुम्ह लिखे, ते सुठि घटहिं परान।। २२४।।

शब्दार्थ—मुखबचन=जबानी। सँवराइ=स्मरण दिलाकर। आसामुखी=मुख का आसरा देखने वाला। सुठि=अच्छी तरह।

अर्थ—और फिर उस राजा (रत्नसेन) ने कहा कि हे तोते तू उससे जबानी भी कहना। पहिले मेरी ओर से उसके प्रति बहुत निवेदन करना, फिर स्मरण दिला कर उससे दूसरी बात कहना कि उसने तुम्हारे लिए देवताओं को पूज कर अनेक बलि दी है। पर अब तो वह तपस्वी अपनी ही बलि दे देगा क्योंकि कब तक सूने मढ़ में उसकी काया जाग सकती है। उससे यह भी कहना कि अच्छा होगा कि मैं इस प्रकार तुम्हारे लिए बलि दे दूँ। बात यह है कि जहाँ तुम हो वहीं मुझे बलिदान देना अच्छा लगता है। तुमने कृपा करके जो मन्दिर में पदार्पण किया, दर्शन देकर विष का बाण मार दिया है। जो आपके मुख का आसरा रखता है, उस दुःखी को उसके दुःख में और नहीं मारना चाहिये। तुम्हारे नैनों का भिखारी हूँ, कोई शिक्षा नहीं माँगता, आगे दौड़ कर भिक्षा लेना चाहता हूँ। आँखों में आँख बिंध जाने से जो बाण लगे हैं, वे किसी प्रकार नहीं निकलते। हृदय पर जो अक्षर तुमने लिखे थे वे प्राणों पर अच्छी तरह जम गये हैं।

[२२५]

ते बिष बान लिखौं कहँ ताईं। रकत जो चुवा भीजि दुनियाईं।।
जानु सो गारे रकत पसेऊ। सुखी न जान दुखी कर भेऊ।।
जेहि न पीर तेहि काकरि चिंता। प्रीतम निठुर होइ अस निंता।।
कासौं कहौं बिरह कै भाखा। जासौं कहौं होइ जरि राखा।।
बिरह अगिनि तन जरि बन जरे। नैन नीर साएर सब भरे।।

पाती लिखी सँवरि तुम्ह नामाँ। रकत लिखे आखर भे स्यामाँ ॥
अच्छर जरे न काहूं छुवा। तब दुख देखि चला लै सुवा ॥
अब सुठि मरौं छूंछि गै पाती, पेम पियारे हाथ।
भेंट होत दुख रोइ सुनावत, जीउ जात जौ साथ ॥२२५॥

शब्दार्थ—ताईं=तक। जानु=जानता है। गारे=निचोड़े। पसेऊ=प्रस्वेद, पसीना। भेऊ=भेद। काकरि=किसकी। निंता=नित्य। साएर=सागर। छूंछी=रिक्त, खाली।

अर्थ—उन विष के बाणों के विषय में कहां तक लिखूं। उससे इतना रक्त निकला कि सारी दुनिया उससे भीग गयी। इस दुःख को वही जान सकता है जो अपने रक्त को पसीने के रूप में निकालता है, सुखी व्यक्ति दुःखी व्यक्ति का भेद नहीं जान सकता। जिसको पीड़ा नहीं, उसे किसकी चिन्ता हो सकती है ? प्रियतमा तो सदा ही निष्ठुर होती है। मैं किससे विरह की भाषा कहूं, जिससे कहता हूं वही जल कर राख हो जाता है। विरहाग्नि से पहले शरीर जला फिर उसी से सारा बन जल उठा अर्थात् घर में रहते हुए शरीर जला फिर मैं योगी हो गया और वन में भी जलने लगा। आंखों के आँसुओं से सारे सागर भर गये। तुम्हें स्मरण करके मैंने पत्री लिखी है, रक्त से हमने लिखा है, पर विरहाग्नि की तपन से अक्षर काले हो गये हैं। अक्षर जल रहे थे इसलिए कोई उसे छू नहीं सकता था। तब मेरे दुःख को देख कर तोता पत्री लेकर तेरे पास चला आया। अब मैं भले ही मर जाऊँ, हाय प्रियतमा के हाथ में तो मेरी चिट्ठी खाली ही गयी है। यदि मेरे प्राण भी साथ जाते तो भेंट होने पर रो-रो कर अपना दुःख सुनाते।

[२२६]

कंचन तार बाँधि गियँ पाती। लै गा सुवा जहां धनि राती ॥
जैसे कँवल सुरुज कै आसा। नीर कंठ लहि मरै पियासा ॥
बिसरा भोग सेज सुख बासू। जहां भँवर सब तहां हुलासू ॥
तब लगि धीर सुना नहिं पीऊ। सुनतहिं घरी रहे नहिं जीऊ ॥
तब लगि सुख हियँ पेम न जामा। जहां पेम का सुख बिसरामा ॥
अगर चंदन सुठि दहै सरीरू। औ भा अगिनि कया कर चीरू ॥
कथा कहानी सुनि सुठि जरा। जानहुँ घीउ बैसंदर परा ॥
बिरह न आपु संभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ-पिउ करत रात दिन, पपिहा भइ मुख सूख ॥२२६॥

शब्दार्थ—गियँ=गर्दन। धनि=स्त्री (पद्मावती)। राती=अनुरक्त। लहि=पाकर भी। बिसरा=भूल गया। सुखवासू=अन्तःपुर का वह भाग जहां भोग-विलास की सामग्रियां रहती हैं। हुलासू=प्रसन्नता। धीर=धीरज। जामा=उत्पन्न हुआ। बिसरामा=विश्राम। घीउ=घी। बैसन्दर=वैश्वानर, अग्नि।

अर्थ—गले में सोने के तारों से पत्री को बांध कर तोता उसे वहाँ ले गया जहाँ रत्नसिंह में अनुरक्त पद्मावती थी। जिस प्रकार कमल सूर्य की आशा में कंठ तक जल पाकर भी प्यासा ही मरता है, उसी प्रकार सब सुख होते हुए भी वह रत्नसेन की आशा में अतृप्त थी। उसे भोग और शैया आदि का सुख भूल गया क्योंकि उसका तो सारा उल्लास वहीं है जहाँ उसका भ्रमर (रत्नसेन) है। धैर्य तो तभी तक होता है जब तक प्रिय का नाम नहीं सुना, सुनते ही जीव घड़ी भर भी नहीं रह सकता। सुख तभी तक है जब तक हृदय में प्रेम का अंकुर नही उत्पन्न हुआ। जहाँ प्रेम उत्पन्न हो गया वहाँ सुख और विश्राम क्या है ? अगर और चंदन से तो शरीर अधिक जल उठता है और शरीर का चीर तो अग्नि ही हो जाता है। मानो अग्नि में घी डाल दिया हो। इस प्रकार पद्मावती विरह से अपने को सँभाल नहीं सकती थी। उसके वस्त्र मैले थे और सिर के बाल तेल न डालने से सूखे पड़े थे, रात-दिन पी-पी पुकारती हुई पपीहा बनी हुई थी और उसका मुख सूखा था।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा।

[२२७]

ततखन गा हीरामनि आई। मरत पियास छाँहि जनु पाई॥
भल तुम्ह सुवा कीन्ह है फेरा। गाढ़ न जाइ पिरीतम केरा॥
बातन्ह जानहु, बिखम पहारू। हिरवै मिला न होइ निनारू॥
मरम पानि कर जान पियासा। जो जल महँ ताकहँ का आसा॥
का रानी पूँछहु यह बाता। जनि कोइ होइ प्रेम कर राता॥
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी। अहा जो महादेव मढ़ जोगी॥
तुम्ह बसंत लै तहाँ सिधाईं। देव पूजि पुनि ओपहँ आईं॥
दिस्टि बान तस मारेहु, घाइ रहा तेहि ठाउँ।
दोसरी बार न बोला, लै पदुमावति नाउँ॥ २२७॥

शब्दार्थ—फेरा=चक्कर, वापस आना। गाढ़=कठिन। निनारू=अलग। ओपहँ=उस पर। घाइ=घाव। ठाउँ=जगह। दोसरी=दूसरी।

अर्थ—उसी समय हीरामनि तोता वहां आ गया। उसे देख कर उसे ऐसा धीरज मिला जैसे प्यासे मरते व्यक्ति को छाया मिल जाय। पद्मावती ने कहा अच्छा हुआ कि तुमने यहाँ का चक्कर लगाया, क्योंकि प्रियतमा के कठिन वियोग के दिन बीतते नहीं। कहने के लिए तो उसके और मेरे बीच विषम पहाड़ ही मालूम होता है—पर मिला हुआ हृदय कभी अलग नहीं हो सकता। पानी का महत्व तो वही समझता है, जो प्यासा है, जो जल में ही है उसको भला पानी की क्या इच्छा ? तब तोता बोला कि रानी ! यह बात क्या पूछ रही हो, प्रेम का अनुरक्त, भगवान् करे, कोई न हो। वह जो महादेव जी के मठ पर जोगी तुम्हारे दर्शनों के लिए वियोगी बना है, उसके पास जब वसन्त के दिन तुम गई थीं और देवता की पूजा करने के बाद उसके पास भी गयी थीं। तुमने दृष्टि बाण जो उसके मारा था उससे वह वहीं पर

घायल हो गया था और वह बेचारा पद्मावती का नाम एक बार ही लेकर रह गया, दुबारा बोल भी न सका।

[२२८]

रोवँहि रोवँ बान वँ फूटे। सोतहि सोत रुहिर मकु छूटे ॥
नैनन्हि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा ॥
सूरज बूड़ि उठा परभाता। औ मँजीठ टेसू बन राता ॥
पुहुमि जो भीजि, भएउ सब गेरू। औ तहँ अहा सो रात पखेरू ॥
भएउ बसंत राती बनफती। औ राते सब जोगी जती ॥
राती सती अगिनि सब काया। गँगन मेघ राते तेहि छाया ॥
ईंगुर भा पहार तस भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा ॥
तहाँ चकोर कोकिला, तिन्ह हिय मया पईठि।
नैन रक्त भरि आए, तुम्ह फिरि कीन्ह न डीठि ॥२२८॥

शब्दार्थ—रोवँ=रोम। सोत स्रोत=रोम-छिद्र। रुहिर=रुधिर। मकु=मानो। चकोर कोकला···नैन रकत भरि आए—चकोर और कोयल की आँखें लाल होती हैं। रतनारा=लाल। राता=लाल। बनफती=वनस्पति (वृक्षों के नव पल्लव)।

अर्थ—तोता रत्नसेन के दर्द का वर्णन करता गया—वे बाण उसके रोम-रोम में फूट चले, मानो रोम-छिद्रों में खून की धारें पसीने के रूप में छूटने लगीं। उसके नेत्रों से रक्त की धारा बह निकली। उसकी गूदड़ी भीग कर लाल हो गयी, सूर्य प्रभात में उसी के खून में डूब कर लाल होकर निकला, मजीठ भी उसी में डूब कर लाल हो गया और टेसू का वन भी उसी से लाल हो कर फूला। पृथ्वी जो उस खून में भीगी तो गेरू मिट्टी हो गयी और वहाँ जो भी पक्षी थे सब लाल हो गये। बसन्त का महीना भी उसी के कारण लाल होकर उपस्थित हुआ, सारी वनस्पतियाँ लाल हुईं, सब जोगी भी और जती भी लाल होकर ही दिखाई पड़े। सती भी लाल हुई और उसके सारे शरीर में अग्नि प्रज्वलित हुई। आकाश के बादल भी उसी की छाया से लाल हो गये। पहाड़ भी भीग कर सिन्दूरी रंग का हो गया। इस प्रकार सारे संसार के अणु-अणु पर उसके विरह का प्रभाव पड़ा। पर तुम्हारे रोम में उसका कोई भी प्रभाव नहीं हुआ। वहाँ चकोर और कोकिलों के भी हृदय में दया ने प्रवेश किया, सब के नयनों में रक्त भर गया, पर तुमने तो उसकी ओर लौट कर देखा तक नहीं।

अलङ्कार—हेतूत्प्रेक्षा।

[२२९]

अैस बसन्त तुम्हहिं पै खेलहु। रकत पराएँ सेंदुर मेलहु ॥
तुम्ह तौ खेलि मँदिर कहँ आईं। ओहिक मरम जस जान गोसाईं ॥

कहेसि मरै को बारहि बारा। एकहिं बार होउँ जरि छारा ॥
सर रचि रहा आगि जौं लाई। महादेव गौरें सुधि पाई ॥
आइ बुझाइ दीन्ह पंथ तहाँ। मरन खेल कर आगम जहाँ ॥
उलटा पंथ पेम के बारा। चढ़ै सरग, जौं परै पतारा ॥
अब धँसि लीन्ह चहै तेहि आसा। पावै सांस, कि मरै निसांसा ॥
पाती लिखि सो पठाई, लिखा सबै दुख रोइ।
दहुँ जिउ रहै कि निसरै, काह रजाएसु होइ ॥ २२९ ॥

शब्दार्थ— अैस=इस प्रकार। पै=पर। पराएँ=दूसरे के। ओहिक=उसका। मरम=भेद, कष्ट। गोसाईं=ईश्वर। सर=चिता। बारा=द्वार। दहुँ=पता नहीं। सुधि=समाचार। धँसि=गड़ कर।

अर्थ—तोता कहता जा रहा है—इस प्रकार का वसन्त तो तुम्हीं खेलती हो कि दूसरे के रक्त से सिन्दूर लगाती हो। तुम तो खेल करके घर आ गयीं, पर उसको जो मर्मभेदी दुःख हुआ उसे तो ईश्वर ही जानता है। उसने कहा कि बार-बार कौन मरे, एक ही बार जल कर राख हो जाऊँगा। चिता बना कर ज्यों ही वह आग लगाने जा रहा था कि महादेव और पार्वती ने यह समाचार पाया। उन्होंने आकर उसे समझाया और वह मार्ग दिखाया जहाँ मृत्यु के खेल का आगम चल रहा था। प्रेम के दरवाजे पर जाने वाला वह उल्टा रास्ता है, उसमें मनुष्य तभी स्वर्ग पर चढ़ता है जो पाताल में जा पड़ता है। भाव यह कि शिव का बताया हुआ मार्ग उसने लिया है, योग मार्ग विषयों की ओर स्वभावतया जाते हुए मन को उलट कर अन्तर्मुखी होता है, इस मार्ग में उन्नति करने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। अब वह पाताल में उसी की आशा से घुस जाना चाहता है, या तो वह साँस ही पावेगा या साँस छोड़कर मर ही जायेगा।

उसने चिट्ठी लिखकर भेजी है और रो कर सारे दुःख लिखे हैं। पता नहीं उसके प्राण बचेंगे या निकल जायेंगे, बोलो आपकी क्या आज्ञा हो रही है।

[२३०]

कहि कै सुआ छोड़ि दई पाती। जानहु दिब्ब छुअत तसि ताती ॥
गीवँ जो बाँधे कंचन तागे। राते स्याम कंठ जरि लागे ॥
अगिनि स्वाँस सँग निकसै ताती। तरिवर जरहिं तहाँ का पाती ॥
जरि जरि हाड़ भए सब चूना। जहाँ माँसु का रकत बिहूना ॥
रोइ रोइ सुआ कही सब बाता। रकत के आँसुन्ह भा मुख राता ॥
देखु कंठ जरि लाग सो गेरा। सो कस जरै बिरह अस घेरा ॥
ओइ तोहि लागि कया असि जारी। तपत मीन, जल देइ न पारी ॥
तोहि कारन वह जोगी, भसम कीन्ह तन डाहि।
तूँ अस निठुर निछोही, बात न पूँछी ताहि ॥ २३० ॥

शब्दार्थ—सुअै=तोते ने। दिब्ब=दिव्य-परीक्षा (प्राचीन काल में निष्पाप की परीक्षा करने के लिये जलती हुई आग में हाथ डलवाया जाता था, या गर्म आग के गोले को हाथ से पकड़वाया जाता था, इस क्रिया को दिव्य या दिब्ब क्रिया कहते थे)। ताती=गर्म। गीवँ=गर्दन। तागे=डोरे। राते=लाल। बिहूना = विहीन। गेरा=गिरा दिया। ओइँ=उसने। तोहि लागि=तेरे लिये। पारी=फेंकना। डाहि=जला कर।

अर्थ—ऐसी बात कह कर तोते ने चिट्ठी पद्मावती के सम्मुख डाल दी। वह पत्री इतनी गर्म थी जैसे दिव्य परीक्षा में अग्नि हो। उसकी गर्दन में जो सोने के तार बँधे हुए थे, उससे कंठ जलकर लाल और काले पड़ गये। श्वास के साथ गर्म आग निकल रही थी, उससे पेड़ भी जल रहे थे, तो पत्तियों का तो कहना ही क्या है? सभी हड्डियाँ जल-जल कर चूना बन गई तो फिर रक्त विहीन मांस की कौन पूछे? तोते ने रो-रो कर सब बातें कहीं, रक्त के आँसुओं के कारण उसका मुख भी लाल हो गया। तोते ने कहा कि देखो कि पत्री की जलन से मेरा कंठ जलने लगा। इसीलिये मैंने इसे गिरा दिया तो फिर भला सोचो कि वह किस प्रकार जल रहा होगा, जिसको ऐसे विरह ने घेर रखा है। तेरे ही कारण उस जोगी ने अपने शरीर को इस प्रकार जलाया है जैसे मछली जलती है, क्या तू उसे जल नहीं दे सकती? तेरे कारण उसने जोगी होकर अपना शरीर जलाकर भस्म कर डाला है, पर तू ऐसी निष्ठुर और मोहरहित है कि उसकी बात तक नहीं पूछती।

[२३१]

कहेसि सुआ मोसों सुनु बाता। चहौं तो आजु मिलौं जस राता॥
पै सो मरमु न जानै मोरा। जानै प्रीति जो मरि कै जोरा॥
हौं जानति हौं अबहूँ कांचा। न जनहु प्रीति रंग थिर रांचा॥
न जनहु भएउ मलैगिरि बासा। न जनहु रबि होइ चढ़ा अकासा॥
न जनहु होइ भँवर कर रंगू। न जनहु दीपक होइ पतंगू॥
न जनहु करा भृंगि कै होई। न जनहु अवहिं जिअै मरि सोई॥
न जनहु पेम औटि एक भएऊ। न जनहु हिय महँ कै डर गएऊ॥
तेहि का कहिअ रहन खिन, जो है प्रीतम लागि।
जहँ वह सुनै लेइ धँसि, का पानी का आगि॥ २३१॥

शब्दार्थ—मरमु=मर्म, रहस्य। कांचा=कच्चा। रांचा=रंगना, अनुराग होना। न जनहु=न जाने। कर=का। करा=कला, दशा। औटि=औटना।

अर्थ—पद्मावती सुए की बात सुनकर बोली—हे तोते! तूने मुझसे ये बातें कीं, अब मेरी भी सुनो—यदि मैं चाहूँ तो जिस प्रकार वह मुझ पर अनुरक्त है उसी प्रकार उससे आज ही मिल जाऊँ, पर वह तो मेरे प्रेम का रहस्य ही नहीं जानता। प्रीति का भेद तो वही समझता है, जो मर करके प्रेम की गांठ जोड़ता है। मैं जानती हूं कि वह अभी प्रेम में कच्चा है, अभी उसमें प्रीति का रंग स्थिर नहीं हुआ है। न जाने अभी उसने प्रेम के मलय-

गिरि से अपने को सुवासित किया और न जाने वह सूर्य बन कर आकाश पर चढ़ा या नहीं। अभी तक उसमें भौंरे का सा रंग चढ़ा या नहीं और न जाने वह अभी तक प्रेम दीपक के लिये पतंगा हो सका या नहीं। न जाने उसमें भृंगी की कला आयी है या नहीं। न जाने वह अभी तक मर कर जीता है या नहीं। न जाने उसका प्रेम औट कर प्रियतम के साथ एक हुआ या नहीं? न जाने उसके हृदय का डर भी गया या नहीं।

जीवन का क्षण तो वही है जो प्रीतम के लिये हुआ हो। जहाँ भी प्रियतम को सुन पावे वहीं प्राप्त करने के लिये घुस जाय, चाहे आग हो चाहे पानी।

[२३२]

पुनि धनि कनक पानि मसि माँगी। उत्तर लिखत भीजि तन आँगी॥
तेहि कंचन कहँ चहिअ सोहागा। जो निरमल नग होइ सो लागा॥
हौं जो गई मढ़ मण्डप भोरी। तहवाँ तूँ न गाँठि गहि जोरी॥
भा बिसँभार देखि कै नैना। सखिन्ह लाज का बोलौं बैना॥
खेल मिसुइँ मैं चन्दन घाला। मकु जागसि तौ देउँ जैमाला॥
तबहुँ न जागा, गा तैं सोई। जागे भेंट, न सोएँ होई॥
अब जौं सूर होइ चढ़ै अकासा। जौं जिउ देइ तौ आवै पासा॥
तब लगि भुगुति न लै सका, रावन सिय एक साथ।
अब कौन भरोसे किछु कहौं, जीउ पराएँ हाथ॥ २३२॥

शब्दार्थ---पुनि=फिर। धनि=स्त्री (पद्मावती)। आँगि=अँगिया, चोली। विसँभार=बेसँभाल। मिसुइँ=बहाने। घाला=डाला। मकु=शायद। भुगुति= भिक्षा।

अर्थ—तब पद्मावती ने सोने के पानी की स्याही मँगाई। उत्तर लिखते हुए भावोद्रेक के कारण पसीना हो गया और उसकी चोली भीग गई। उसने पत्र में लिखा कि कंचन को सोहागा चाहिए, जो निर्मल नग होगा वही उसमें लग सकता है। अर्थात् एक तो तुम में सोहागे के साथ मिलकर एक जान होने की तपस्या चाहिए, दूसरे नग की सी निर्मलता। मैं भोली जब मण्डप में गई थी, तब तूने वहीं गाँठ क्यों नहीं जोड़ दी? तू तो मेरी आँखें देखकर ही बेसुध हो गया, सखियों की लाज से भला मैं क्या बोलती? खेल के बहाने मैंने तुम्हारे चन्दन लगा दिया कि शायद यदि तुम जग जाओ और मैं तुम्हें जयमाला पहिना दूँ। पर फिर भी तू न जगा और सो गया। मिलन तो जागने पर ही होता है, सोने पर नहीं। अब तो यदि तू सूर्य होकर आकाश के मार्ग से आवेगा और जान देगा तभी मेरे पास आ सकेगा।

जब रावण-सीता एक साथ थे अर्थात् जब मैं तुम्हारे पास थी, तब तो तू भिक्षा ले न सका। अब कौन से भरोसे पर मैं कुछ कहूँ, क्योंकि अब तो मेरा जीव दूसरे (पिता) के हाथ में है।

नोट—यहाँ पर 'रावण-सीय' की उपमा अप्रासंगिक है—पर रावण के सम्बन्ध में जितने प्रसंग ग्रन्थावली में हैं, सभी इसी प्रकार हैं। यहाँ तो केवल भिक्षा (भुगुति)

शब्द मात्र के लिए ऐसा कर दिया है। रावण सीता से भिक्षा मांग रहा था और इसी बहाने वह हर ले गया था। जोगी रत्नसेन भी भिक्षा ही मांगने आया था और पद्मावती भिक्षा देने वाली थी— इसी साम्य मात्र पर जायसी ने 'रावण-सीय' कह मारा।

[२३३]

अब जौं सूर गँगन चढ़ि धावहु। राहु होहु तौ ससि कहँ पावहु॥
बहुतन्ह ग्रैस जीउ पर खेला। तूँ जोगी केहि माहँ अकेला॥
बिक्रम धँसा पेम के बाराँ। सपनावति कहँ गएउ पताराँ॥
सुदैबच्छ मुगुधावति लागी। कंकन पूरि होइ गा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू॥
पेमावति कहँ सरसुर साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा॥
हौं रानी पदुमावति, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं सो तेहि कें, प्रथम जो आपुहि नास॥ २३३॥

शब्दार्थ—राहु=राहु जिसकी गर्दन कट गई थी। भाव यह कि गर्दन कटाओ। बाराँ=द्वार। लागी=लिए। गँगन=गगन, आकाश। पूरि=भर कर। सरसुर=देवताओं का तालाब, मानसरोवर।

अर्थ—अब तो यदि सूर्य बन कर आकाश में चढ़ो तथा राहु की भाँति गर्दन को कटाओ, तभी चन्द्रमा को पा सकते हो। अनेक लोग इसी प्रकार जीव पर खेल चुके हैं, तुम जोगी भक्त किस में हो ? प्रेम के द्वार पर विक्रमादित्य घुस गया था और स्वप्नावती के लिए पाताल गया था। सदावच्छ मुग्धावती के लिए आकाश में अपने स्वरों को आलाप कर वैरागी हो गया था। राजकुमार मृगावती के लिए जोगी बन कर कंचनपुर गया था। कुंवर मनोहर ने मधुमालती के वियोग में सुन्दर योग साधा था। इसी प्रकार सरसुर राजकुमार ने प्रेमावती के लिए साधना की थी। उषा के लिए अनिरुद्ध बन्धन में पड़ा था। मैं रानी पद्मावती सात खण्डों के ऊपर धौराहर पर निवास करती हूँ। मैं तो उसी के हाथ चढ़ सकती हूँ जो पहले अपना नाश करे।

नोट— इस पद में अनेक प्रेम-गाथाओं का उल्लेख है। इनमें कुछ लोक-कथाओं में प्रचलित है जैसे सुदैवच्छ और मुग्धावती। मधुमालती और मनोहर की कहानी मंझन रचित प्राप्त है। सरसुर और प्रेमावती की कहानी अज्ञात है, सम्भवतः जायसी के काल में सूफियों की दन्तकथाओं में रही हो।

[२३४)

हौं पुनि अहौं ग्रैसि तोहि राती। आधी भेंट प्रीतम कै पाती॥
तोहि जौं प्रीति निबाहै आंटा। भँवर न देखु केतु महँ काँटा॥

होहु पतंग अधर गहु दिया। लेहु समुंद धँसि होइ मरजिया॥
राति रंग जिमि दीपक बाती। नैन लाउ होइ सीप सेवाती॥
चात्रिक होहु पुकारु पिआसा। पिउ न पानि रहु स्वाति की आसा॥
सारस कै बिछुरी जिमि जोरी। रैनि होहु जस चकवा चकोरी॥
होहु चकोर दिस्टि ससि पाहाँ। औ रबि होहु कँवल दधि माहाँ॥
हहूँ अैसि हौं तो सौं, सकसि तौ प्रीति निबाहु।
राहु बेधि होइ अरजुन, जीति द्रौपदी ब्याहु॥ २३४॥

शब्दार्थ—राती=अनुरक्त। पाती=पत्री। निबाहै=निर्वाह करना। आँटा=पूरा पड़ना, सकना। केतु=केतकी फूल। अधर=होंठ। दिया=दीपक। मरजिया=गोताखोर। चक्क=चकई-पाठान्तर-चन्द। दधि=दह, तालाब-पाठान्तर-दल। हहूँ=मैं भी। राहु=रोहू मछली।

अर्थ—इस पद में भी पद्मावती का पत्र चल रहा है—मैं तुझमें इस प्रकार अनुरक्त हूँ कि तुम्हारी चिट्ठी इस प्रकार हुई जैसे अर्द्ध-मिलन हुआ (पाती आधा मिलन है)। यदि तू प्रेम का निर्वाह कर सके तो विघ्नों की परवाह न कर। देखो, भौंरा केतकी फूल के काँटों की परवाह नहीं करता। पतंगा बनो और उसी की भाँति होठों से दीपक की ज्वाला को पकड़ो। गोताखोर बन कर समुद्र में घुस जाओ। जैसे दीपक की बत्ती स्नेह के रंग में रंगी हुई होती है उसी प्रकार तू भी प्रेम में डूब जा और जलना स्वीकार कर। जैसे सीप स्वाति पर नयन लगाये रहती है उसी प्रकार तू भी लगा। चातक बन कर प्यासा बन कर पुकारो। जैसे चातक अन्य पानी नहीं पीता, केवल स्वाति की आशा करता है उसी प्रकार ही अपने स्नेह में दृढ़ बनो। सारस जैसे अपने जोड़े से अलग होकर दुःखी होता है तथा रात्रि में जैसे चकवी बिछुड़ कर दुःख पाती है और चकोरी जैसे चन्दा पर दृष्टि लगाती है और सूर्य तालाब के कमल पर प्रेम करता है, वैसे ही तू प्रेम में एकनिष्ठ बन। मैं भी तुम्हारे साथ इसी प्रकार की प्रीति मानती हूँ। यदि तू ऐसा कर सकता है तो प्रेम का निर्वाह कर और अर्जुन की भाँति मछली भेद कर द्रौपदी को ले जाओ। भाव यह कि प्राणों की बाजी लगा कर परीक्षा में पास होकर मुझे प्राप्त करो।

अलंकार—रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

[२३५]

राजा इहाँ तैस तपि झूरा। भा जरि बिरह छार कर कूरा॥
मौन गँवाएँ गएउ बिमोही। भा निरजिउ, जिउ दीन्हेसि ओही॥
गही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि गौ तारी॥
बुंदहि समुंद जैस होइ मेरा। गा हेराइ तस मिलै न हेरा॥
रंगहि पानि मिला जस होई। आपुहि खोइ रहा होइ सोई॥

सुवा आइ देखा भा नासू। नैन रकत भरि आए आंसू ॥
सदा जो प्रीतम गाढ़ करेई। वह न भूल, भूला जिउ देई ॥
मूरि सजीवनि आनि कै, ओ मुख मेला नीर।
गरुर पंख जस झारै, अंब्रित बरसा कीर ॥२३५॥

शब्दार्थ—झूरा=सूख कर कांटा हुआ। छार कर=राख का। कूरा=सं० कूट=ढेर। पिंगला-सुखमन=पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियां। सुन्नि=शून्य, ब्रह्मरंध्र को हठयोगी शून्य कहते है जहाँ समाधि की अवस्था में आत्मा परमात्मा से एकीकरण प्राप्त करती है। तारी=त्राटक, टकटकी; आज्ञा चक्र में जब कुंडलिनी पहुँचती है तो आत्मा परमात्मा में टकटकी लगाती है इसे ही हठयोगी त्राटक कहते हैं। मेरा=मेल। गा हेराइ=खो गया। हेरा=खोजने पर। नासू=नाश। गाढ़=संकट। मूरि=जड़ी। मेला=डाला। गरुर=गरुड। झारै=झलै। कीर=तोता।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने यहाँ पर ऐसी तपस्या की कि सूख कर कांटा हो गया, जल कर राख का ढेर हो गया। अपने मौन को छोड़ कर बकने लगा और उसने अपने प्राणों का मोह छोड़ दिया तथा वह उसके वियोग में जान देकर निर्जीव हो गया। रत्नसेन समाधि की अवस्था में पहुँच गया, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों के द्वारा प्राणायाम की स्थिति समाप्त हुई। शून्य में समाधिस्थ होकर त्राटक लग गया। आत्मा का परमात्मा से एकीकरण इस प्रकार हो गया जैसे बूंद समुद्र में मिल जाती है, वह इस प्रकार खो गया था (आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो गया था) कि खोजने पर न मिलता था। जैसे पानी रंग में मिला होता है या उसमें खोया होता है, इसी प्रकार समाधि की अवस्था में पद्मावती रूपी ब्रह्म में मिलकर स्वयं खो गया। तोते ने जब जाकर उसे देखा तो उसकी दशा देखकर उसकी आँखों में रक्त के आँसू भर आये। उसने देखा कि जो सदा ही प्रियतमा के लिए कठिन प्रयत्न करता है उसे वह भूल नहीं सकता, स्वयं ही अपने को भूलकर अपनी जान दे रहा है। यह देखकर संजीवनी जड़ी (पद्मावती की पत्री) लाके, उसने मुख में उसका पानी (रस) डाला। फिर अपने गरुड़ के ऐसे पंखों को फैलाकर पंखा झलने लगा तथा उसके मुख में संदेश रूपी अमृत की वर्षा की।

टिप्पणी—'गरुड़ पंख जस और अंब्रित' पौराणिक कथा है कि गरुड़ जी स्वर्ग से अमृत का घट अपने पंखों पर लादकर लाये थे। परिणाम स्वरूप उनके पंखों में अमृत की कुछ बूंदें समा गईं थी। इसलिए जब वे पंख फड़फड़ाते थे तो उसमें से अमृत की बूँदें झड़ा करतीं थीं।

अलंकार – उपमा—**रंगहि पानि······सोई।**

रूपकातिशयोक्ति—**मूरि सजीवन·········**

[२३६]

मुवा जियहि अस बास जो पावा। बहुरी साँस, पेट जिउ आवा॥
देखेसि जाग, सुअैं सिर नावा। पाती दै मुख बचन सुनावा॥
गुरु कर बचन स्रवन दुहुँ मेला। कीन्ह सुदिस्टि, बेगि चलु चेला॥
तोहिं अलि कीन्ह आपु भई केवा। हौं पठवा कै बीच परेवा॥
पवन स्वाँस तोसौं मन लाए। जोवै मारग दिस्टि बिछाए॥
जस तुम्ह कया कीन्ह अगिडाहू। सो सब गुरु कहँ भएउ अगाहू॥
तब उड़ंत छाला लिखि दीन्हा। बेगि आउ, चाहौं सिध कीन्हा॥
आवहु स्यामि सुलक्खने, जीव बसै तुम्ह नाउँ।
नैनन्ह भीतर पंथ है, हिरदै भीतर ठाउँ॥२३६॥

शब्दार्थ---बहुरी=लौटी। केवा=केतकी। पठवा=भेजा। जोवै=देखै। अगिडाहू=अग्निदाह। अगाहू=फा० आगाह, विदित।। उडंत छाला=कहा जाता है कि सिद्ध लोग तांत्रिक मृगछाला पर बैठकर आकाश मार्ग से स्वेच्छानुसार कहीं भी जा सकते थे। (देखिये ३६१।६)। सुलक्खने=सुन्दर लक्षणों वाला।

अर्थ—संजीवनी बूटी ऐसी थी कि उसकी महँक पाने से मरा हुआ आदमी भी जी उठता है। इसलिए रत्नसेन की स्वाँस लौटी और उसके पेट में जी फिर से आ गया। उसने जगकर देखा तो तोते ने सिर नवाया और पद्मावती का पत्र देकर कहने लगा कि गुरु के वचनों को दोनों कानों में डालकर हे शिष्य तुरन्त चलो, उस पद्मावती ने तुझ पर सुदृष्टि की है। तुझे उसने भौंरा बनाकर स्वयं केतकी बनी है और मुझ पक्षी को मध्यस्थ बनाकर भेजा है। प्राण और साँस को तुझ पर लगाये हुए वह मार्ग पर दृष्टि बिछाकर तुम्हें देख रही है। जिस प्रकार तुमने अपनी काया को अग्नि में जलाया है वह सब उस गुरु (पद्मावती) को विदित है। तुझको सारा संदेश उसने पत्र में लिख दिया है कि यदि सिद्धि चाहते हो तो तुरन्त उड़ाने वाली मृगछाला पर बैठकर आ जाओ। उसने कहा है कि हे सुलक्षणों से युक्त स्वामी तुम्हारे नाम ही में मेरा जीव बसता है, मेरे नयनों के भीतर तेरा ही रास्ता है और हृदय में तेरा ही स्थान है।

[२३७]

सुनि पदुमावति कै असि मया। भा बसंत, उपनी नै कया॥
सुवा क बोल पवन होइ लागा। उठा सोइ, हनिवंत अस जागा॥
चाँद मिलन कहँ दीन्हेउ आसा। सहसौ करा सूर परगासा॥
पाती लीन्ह, लै सीस चढ़ावा। दिस्टि चकोर चाँद जनु पावा॥
आस पिआसा जो जेहि केरा। जौं झिझकार, वाहि सौं हेरा॥
अब यह कवन पवन मैं पिया। भा तन पंख, पंखि मरि जिया॥
उठा फूलि हिरदै न समाना। कंथा टूक टूक बेहराना॥

जहाँ पिरीतम वैं बसहिं, यह जिउ बलि तेहि बाट।
जौं सो बोलावहिं पाउ सौं, हम तहँ चलहिं लिलाट ॥२३७॥

शब्दार्थ—बसन्त=वसन्त के मास में प्रकृति में नये पल्लव निकलते हैं, इस प्रकार यही वसन्त प्रतीक रूप में आलंकारिक प्रयोग है। मया=दया, सहानुभूति। उपनी=उत्पन्न हुई। नै=नवीन। झिझकार=झिड़की दे। हेरा=देखता है। कंथा=गूदड़ी। टूक-टूक=टुकड़े-टुकड़े। बेहराना = फट गया।

अर्थ—पद्मावती की इस प्रकार की कृपा को सुनकर राजा रत्नसेन वसन्त ऋतु की भांति प्रफुल्लित हो उठा, उसके शरीर में जैसे नये पल्लव निकले हों। तोते की बोली उसे जागरण देने वाली हवा के समान लगी, वह सोकर इस प्रकार उठा जैसे हनूमान् जग उठे हों। चन्द्र रूपी पद्मावती से मिलने की आशा उसे हो गयी इसलिए वह इस प्रकार जागा जैसे सहस्रों करों से सूर्य प्रकाशित हो। पत्री को लेकर उसने सिर चढ़ाया, उसकी दृष्टि में ऐसा आनन्द प्रकट हुआ मानो चकोर ने चन्द्रमा को पा लिया हो। जो जिसकी आशा का प्यासा होता है उसे यदि झिड़की भी दी जाय तो भी वह उसी की ओर देखता है। राजा सोचने लगा कि मैंने अब कौन-सी प्राणवायु पी ली कि मेरे शरीर में पंख से लग रहे हैं और पक्षी (जीव) मरकर जीवित सा प्रतीत हो रहा है। उसमें ऐसी प्रसन्नता हुई कि वह हृदय में समा न सका, प्रसन्नता की अधिकता के कारण उसकी गूदड़ी टुकड़े-टुकड़े होकर फट गयी। उसने कहा कि जहाँ प्रियतमा बसती है, यह मेरा जीव उसके रास्ते पर निछावर है, यदि वह मुझे पैरों से चलकर भी बुलावे तो मैं माथे के बल पहुँच सकता हूँ।

टिप्पणी—हनिवंत अस जागा—लोक-कथाओं में एक ऐसी दन्त कथा है कि हनूमान् जी छः मास तक सोते थे और उसके बाद उठ कर हाँक लगाते थे—पीछे भी जायसी ने ऐसा ही कथन किया है (देखिए पद सं० २०६)।

अलङ्कार—रूपक।

[२३८]

जो पँथ मिला महेसहि सेई। गएउ समुँद ओही धँसि लेई ॥
जहँ वह कुंड विषम अवगाहा। जाइ परा जनु पाई थाहा ॥
बाउर अंध प्रीति कर लागू। सौंहँ धँसें, कछु सूझ न आगू ॥
लीन्हेसि धँसि सुवाँस मन मारे। गुरू मंछिदरनाथ सँभारे ॥
चेला परे न छाड़हि पाछू। चेला मंछु, गुरू जस काछू ॥
जनु धँसि लीन्ह समुँद मरजिया। उघरे नैन बरे जनु दिया ॥
खोजि लीन्ह सो सरग दुवारी। बज्र सो मूँदे जाइ उघारी ॥
बाँक चढ़ाउ सुरंग गढ़, चढ़त गएउ होइ भोर।
भइ पुकार गढ़ ऊपर, चढ़े सेंधि दै चोर ॥ २३८ ॥

शब्दार्थ—सेई=सेवा करके। धँसि लेई=घुस कर लेने के लिए। कुंड=गढ़ की

सुरंग के नीचे एक कुंड था जिससे सुरंग छिपी रहती थी। (देखिए २१५।६) लागू=लगन। सौहँ=सामने। सुवाँस=श्वास, प्राण। मंछु=मछली। मछिंदरनाथ=गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ। काछ=कछुआ। बरे=जले।

अर्थ—शंकर जी की प्रार्थना करके जो ही मार्ग मिला उसी से घुस कर समुद्र में बढ़ गया। जब वह विषम अथाह कुंड में प्रविष्ट हो गया तो ऐसा उसमें मग्न हो गया मानो उसे थाह मिल गयी हो। प्रीति की लगन के कारण जो व्यक्ति बावला और अन्धा हो जाता है, वह सामने ही घुस जाता है उसे आगा-पीछा कुछ नहीं सूझता। घुस करके उसने मन और प्राण को वश में कर लिया। गुरु (मत्स्येन्द्रनाथ) को स्मरण करता हुआ वह चला जाता था। उसके पीछे उसी के चेले राजकुमार पीछा नहीं छोड़ते। गुरु रत्नसेन मानो कछुआ है और चेले मछली हैं और आगे बढ़ रहे हैं। वे इस प्रकार गढ़ में प्रविष्ट हुए जैसे गोताखोर समुद्र में घुस जाता है। उनके नेत्र ऐसे प्रकाशित थे मानो दीप जल रहे हों। उसने सिंहलगढ़ के स्वर्गद्वार को खोज लिया। जो दरवाजे वज्र से बन्द थे उन्हें खोल दिया। टेढ़ी चढ़ाई वाले गढ़ की सुरंगों पर चढ़ते-चढ़ते प्रातः काल हो गया। तब गढ़ के ऊपर पुकार हुई कि चोर सेंध लगाकर घुस आए हैं।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने गुरु गोरखनाथ के मत का संकेत किया है जिसमें हठयोग और राजयोग का समन्वय था। इसीलिए इसमें गोरख के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का भी संकेत है। इसमें हठयोग के संकेत विद्यमान हैं। कुंड-मूलाधार चक्र का कुंड है, उसमें से कुंडलिनी सीधे सुषुम्णा मार्ग से चढ़ती है। सुषुम्णा की जायसी ने सीढ़ियों से उपमा पीछे सिंघलगढ़ के वर्णन में दी है। कुंडलिनी के ऊपर चढ़ने पर विद्युत् जैसा प्रकाश होता है और त्रिकुटी पर पहुँचने पर वज्र के कपाट खुल जाते हैं। त्रिकुटी को जायसी ने स्वर्गद्वार भी कहा है। सुषुम्णा की बंक चढ़ाई का भी उल्लेख जायसी ने कई बार किया है।

अलङ्कार—समासोक्ति।

———

गन्धर्वसेन-मंत्री-खंड

[२३९]

राजैं सुना जोगि गढ़ चढ़े। पूँछे पास पंडित जो पढ़े ॥
जोगी जो गढ़ सेंधि दै आवहिं। कहहु सो सबद सिद्धि जेंहि पावहिं ॥
कहहिं बेद पढ़ि पण्डित बेदी। जोगी भँवर जस मालति भेदी ॥
जैसें चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस ये दुवौ जीव पर खेलहिं ॥
पंथ न चलहि बेद जस लिखे। सरग जाइ सूरी चढ़ि सिखे ॥
चोरहि होइ सूरी पर मोखू। देइ जो सूरी तेहि नहि दोखू ॥
चोर पुकारि भेद गढ़ मूँसा। खोलैं राज भण्डार मँजूसा ॥
जस भण्डार ये मूसहि, चढ़हिं रैनि दै सेंधि ।
तस चाही पुनि एन्ह कहँ, मारहु सूरी बेधि ॥ २३९ ॥

शब्दार्थ—सबद=शास्त्र-वचन, स्वर्गशास्त्र, स्मृति आदि की व्यवस्था। सिद्धि=निर्णय-पत्र, दंड का निर्णय। चोर पुकारि= साहसिक चोर ललकार कर के चोरी करते थे। सूरी=शूली। मूँसा=चुराया। मँजूसा=मँजूषा, पेटी।

अर्थ—राजा ने सुना कि जोगी लोग गढ़ पर चढ़ आये हैं, उसने विद्वान् पंडितों को बुलाकर पूछा कि यदि जोगी सेंध लगाकर गढ़ पर चढ़ आए तो व्यवस्था बतलाओ कि वे ऐसे शास्त्र से दंड का निर्णय पा सकें। पण्डित लोग वेद पढ़ कर बोले कि जैसे भौंरा मालती को भेद डालता है, उसी प्रकार ये जोगी भी पद्मावती को प्राप्त करेंगे। जिस प्रकार चोर सेंध में सिर डाल कर घुसते हैं उसी प्रकार ये दोनों जान पर खेल रहे हैं। वेद में बताये हुए मार्ग पर ये नहीं चलते। शूली पर चढ़कर स्वर्ग जाना ही इन्होंने सीखा है। चोर शूली पर चढ़कर पास से मुक्ति पाता है, अतः जो उसे शूली देता है उसे कोई दोष नहीं लगता। यह चोर हांक देकर गढ़ का भेद करता है उसमें चोरी करता है और राजभंडार की पिटारी खोलता है। अतः जिस प्रकर से ये राज्य कोष को चुरा रहे हैं और रात में सेंध लगा रहे हैं, उसी प्रकार इन्हें दण्ड भी मिलना चाहिए, अतः आप इन्हें शूली पर चढ़ा कर मार दो।

टिप्पणी—यहाँ जायसी ने अर्थशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार न्याय की हिन्दू-प्रणाली की ओर संकेत किया है। वेद शब्द से यहाँ धर्म शास्त्र, या स्मृति ग्रन्थ आदि का तात्पर्य समझना चाहिए।

[२४०]

रांध जो मन्त्री बोले सोई। अेस जो चोर सिद्ध पै कोई ॥
सिद्ध निसंक रैनि पै भवेंहीं। ताकहिं जहां तहां उपसवहीं ॥

सिद्ध डरहिं नहिं अपने जीवां। खरग देखि कै नावहिं गीवाँ ॥
सिद्ध जाहिं पै जिय बध जहाँ। औरहि मरन पंख अस कहाँ ॥
चढ़हिं जो कोपि गगन उपराहीं। थोरे साज मरहिं ते नाहीं ॥
जँबुक कह जौं चढ़िअै राजा। सिंघ साज कै चढ़िअ तौ छाजा ॥
सिद्ध अमर, काया जस पारा। छरहिं मरहि, बर जाइ न मारा ॥
छरहिं काज किरसुन कर छाजा, राजा छरहिं रिसाइ।
सिद्ध गिद्ध जस दिस्टि गंगन महँ, बिनु छर किछु न बसाइ ॥२४०॥

शब्दार्थ—राँध=पास। इसकी व्युत्पत्ति सं०-रन्ध्र=छिद्र या विवर से है। प्राचीन काल में एक घर से दूसरे घर तक बात करने के लिए घरों में छिद्र (खिड़की) किये जाते थे इसी से इसका अर्थ समीप हो गया। पदमावत में इस शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। पै=तो। भवँही=(सं० भ्रमण) घूमते हैं। ताकहि=देखते हैं। उपसवहीं=(सं० उपसर्पति,) जाते हैं। खरग=खड्ग, तलवार। गीवाँ=गर्दन। मरन पंख=मृत्यु के पंख—चींटी आदि जीवों के मृत्यु के समय पंख निकलते हैं। उपराहीं=ऊपर। जंबुक=गीदड़। छरहि=छल से ही। राजा=युधिष्ठिर, धर्मराज, जो छल नीति से घबराते थे। बर=बल से। बसाइ=बस चलना (विधि सन कछु न बसाइ—तुलसी)।

अर्थ—जो मन्त्री राजा के बहुत समीप रहने वाले थे, उन्होंने कहा कि इस प्रकार का चोर तो अवश्य ही कोई सिद्ध पुरुष होगा। सिद्ध ही तो निश्शंक रात्रि में घूमता है और वह जहाँ ही दृष्टि लगाता है वहीं पहुँच जाता है। सिद्ध अपने जीवन के लिए नहीं डरता, वह तो तलवार देख कर अपनी गर्दन झुका देता है। जहाँ पर जान की हत्या होती है वहाँ सिद्ध अवश्य जाते हैं, सिद्ध के अतिरिक्त और किसी में ऐसे मृत्यु के पंख कहाँ होते हैं? जब सिद्ध लोग क्रुद्ध होकर चढ़ते हैं तो आकाश के ऊपर पहुँच जाते हैं, ये लोग थोड़े सामान से मारे नहीं जा सकते। राजा की चढ़ाई, गीदड़ मारने की चढ़ाई नहीं चाहिए, वह शोभा तो तब होगी जब सिंह के शिकार के आयोजन की चढ़ाई की जाय। सिद्ध तो अमर होता है, उसका शरीर पारे के समान अकाट्य होता है। अतः उसे तो छल से ही मारा जा सकता है, बल प्रयोग उस पर व्यर्थ है। छल से ही कृष्ण के सारे कार्य सम्पन्न हुए थे यद्यपि छल से राजा युधिष्ठिर रोष प्रकट करता था। सिद्ध लोग गृद्ध पक्षियों की भाँति आकाश पर दृष्टि रखते हैं, बिना छल के उनसे कुछ नहीं हो सकता।

नोट—यहां भी दोहे के प्रथम और तृतीय चरण में जायसी ने चौपाई का प्रयोग किया है। दोहा बनाने की यह नवीन पद्धति पदमावत में अनेक स्थलों पर मिलती है।

[२४१]

आवहु करहु गुदर मिस साजू। चढ़हु बजाइ जहां लगि राजू ॥
होहु सँजोइल कुँवर जो भोगी। सब दर छेंकि धरहु अब जोगी ॥
चौबिस लाख छत्रपति साजे। छप्पन कोटि दर बाजन बाजे ॥

बाइस सहस सिंघली चाले । गिरि पहार पब्बैं सब हाले ॥
जगत बराबर दै सब चाँपा । डरा इन्द्र, बासुकि हिय काँपा ॥
पदुम कोटि रथ साजे आवहिं । गिरि होइ खेह गँगन कहँ धावहिं ॥
जनु भुइँचाल जगत महँ परा । कुरुम पीठि टूटिहि, हियँ डरा ॥
छत्रन्ह सरग छाइ गा, सूरज गएउ अलोपि ।
दिनहिं राति अस देखिअ, चढ़ा इन्द्र अस कोपि ॥ २४१ ॥

शब्दार्थ—गुदर=हाजिरी, सेना की कवायद जो राजा के सामने होती थी । मिसु=बहाना । बजाइ=घोषणा करके । सँजोइल=सावधान (होइ सँजोइल रोकहु घाटा-तुलसी) । दर=द्वार । छेंकि=घेर कर । दर=दल-सेना । पब्बै=पर्वत । हाले=हिल गये । चाँपा=दबाया । बासुकि=शेषनाग । खेह=धूल । कुरुम=कूर्म, कच्छप भगवान् । अलोपि=लुप्त । इन्द्र=राजा ।

अर्थ—मंत्रियों ने कहा— दरबार में हाजिरी के बहाने सभी सेना तैयार कर ली जाय और जहाँ तक राज है सर्वत्र से बुला ली जाय । जो राजकुमार भोगविलास में मग्न हैं वे भी सावधान हो जायँ और सभी द्वारों को घेरकर सब योगियों को पकड़ लिया जाय । इस पर कवि कहता है कि चौबीस लाख छत्रपति राजा तैयार हुए और छप्पन करोड़ दल में बाजे बजे । बाईस हजार सिंहली हाथी चले जिनके कारण सभी पर्वत हिल उठे । संसार को समतल कर डाला, पृथ्वी पर ऐसा दबाव उनके चलने से पड़ा कि इन्द्र डरने लगा और शेषनाग का हृदय काँप उठा । अगणित रथ सज उठे, जिनकी दरारों से पहाड़ मिट्टी हो-हो कर आकाश में उड़ने लगे । ऐसा मालूम हुआ कि संसार में भूकम्प आ गया, कच्छप भगवान् की पीठ टूटने लगी. वे हृदय में डरने से लगे । धूलि का छाता सा आकाश में छा गया और सूर्य लुप्त हो गया । राजा ऐसा कोप कर चढ़ा कि दिन ही में रात ऐसी दिखाई पड़ने लगी ।

अलङ्कार—सम्बन्धातिशयोक्ति ।

[२४२]

देखि कटक औ मैमँत हाथी । बोले रतनसेनि के साथी ॥
होत आव दर बहुत असूझा । अस जानत हैं होइहि जूझा ॥
राजा तूँ जोगी होई खेला । एहि दिवस कह हम भए चेला ॥
जहाँ गाढ़ ठाकुर कह होई । संग न छाड़ै सेवक सोई ॥
जो हम मरन देवस मन ताका । आजु आइ पूजी वह साका ॥
बरु जिउ जाइ, जाइ जनि बोला । राजा सत्त सुमेरु न डोला ॥
गुरु केर जौं आएसु पावहिं । हमहुँ सौहँ होइ चक्र चलावहिं ॥
आजु करहिं रन भारथ, सत्त बचा लै राखि ।
सत्त करैं सब कौतुक, सत्त भरै पुनि साखि ॥ २४२ ॥

शब्दार्थ—मैमंत=मदमत्त। दर=दल-सेना। जूझा=युद्ध। गाढ़=विपत्ति। ठाकुर =राजा। साका=समय, अवधि। बोला=वचन, प्रतिज्ञा। सत्त=सत्य।

अर्थ—सेना और मदमत्त हाथियों को देख कर रत्नसेन के साथी जोगी लोग बोले, अपार सेना बढ़ती चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध होगा। हे राजा! तू जोगी होकर विचरण कर रहा है और इसी कठिनाई के दिन के लिए ही हम सब तेरे चेले बनकर आये हैं। जहाँ स्वामी को कठिनाई पड़ती है, वहाँ सेवक लोग कभी साथ नहीं छोड़ते। हम लोगों ने जिस मृत्यु दिवस को सोच रक्खा था उसकी अवधि आज आकर पूरी हुई है। चाहे जान चली जाय, पर हमारी प्रतिज्ञा नहीं टल सकती। हे राजन्! सत्य का सुमेरु डोल नहीं सकता। यदि अब गुरु की आज्ञा हो जाय तो हम भी सम्मुख होकर अपने चक्र चलावें। अपने सत्य वचनों की रक्षा के लिये आज हम महाभारत करेंगे। सत्य ही यह सब खेल करता है, वही फिर अब साक्षी होगा।

[२४३]

गुरू कहा चेला सिध होहू। पेम बार होइ करिअ न कोहू॥
जा कह सीस नाइ कै दीजै। रंग न होइ ऊभ जौं कीजै॥
जेहि जियँ पेम पानि भा सोई। जेहि रँग मिलै तेहि रँग होई॥
जौं पै जाइ पेम सिउँ जूझा। कत तपि मरहिं सिद्ध जिन्ह बूझा॥
यह सत बहुत जो जूझि न करिअै। खरग देखि पानी होइ ढरिअै॥
पानिहि काह खरग कै धारा। लौटि पानि सोई जो मारा॥
पानी सेंति आगि का करई। जाइ बुझाइ पानी जौं परई॥
सीस दीन्ह मैं अगुमन, पेम पाय सिर मेलि।
अब सो प्रीति निबाहें, चलौं सिद्ध होइ खेलि॥ २४३॥

शब्दार्थ—बार=द्वार। कोहू=क्रोध। रंग=शोभा। ऊभ=सं० ऊर्ध्वित। प्रा० उब्भिय =ऊँचा। सिउँ=से। सेंति=से। अगुमन=आगे। मेलि=डालकर।

अर्थ—गुरु ने कहा कि हे शिष्यो! सिद्ध बनो। प्रेम के दरवाजे पर खड़े होकर क्रोध न करो। जिसके सामने एक बार सिर झुका दिया फिर यदि सिर को ऊपर उठाओगे तो शोभा न होगी। जिसके हृदय में प्रेम है वह तो पानी सरीखा है। जिस प्रकार पानी जिस रंग में मिलता है उसी रंग का हो जाता है, उसी प्रकार प्रेमी भी सब रंगों में मिल जाता है। यदि प्रेम-मार्ग में भी युद्ध हो सकता तो जान बूझ कर भी सिद्ध लोग तपस्या क्यों करते? हमारा सत तो यही बहुत है कि हम युद्ध न करें, तलवार देखकर उसके सामने पानी होकर ढुलक जायें। तलवार की धार पानी का क्या कर सकती है? जो पानी में तलवार मारता है वह स्वयं लौट जाता है। पानी से आग क्या कर सकती है? ज्यों ही वह पानी में पड़ेगी बुझ जायेगी।

राजा ने कहा कि प्रेम के पैरों पर मैंने पहले ही अपना सिर डाल रखा है। अब तो उसी

प्रीति का निर्वाह करना ही अच्छा है। अतः सिद्ध ही होकर विचरण करूँगा।

नोट—इस पद में जायसी ने अहिंसा अस्त्र का सुन्दर प्रतिपादन किया है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[२४४]

राजें छेंकि धरे सब जोगी। दुख ऊपर दुखु सहै बियोगी ॥
ना जियँ धरक धरत है कोई। ना जियँ मरन जियन कस होई ॥
नाग फाँस उन्ह मेली गीवां। हरख न बिसमौ एकौ जीवाँ ॥
जेइँ जिउ दीन्ह सो लेउ निरासा। बिसरै नाँहि जौ लहि तन स्वाँसा ॥
कर किंगरी तिन्ह तंत बजावा। नेहु गीत बैरागी गावा ॥
भलेंहि आनि गियँ मेली फाँसी। हिएँ न सोच, रोस रिसि नासी ॥
मैं गियँ फाँद ओही दिन मेला। जेहि दिन पेम पंथ होइ खेला ॥
परगट गुपुत सकल महि मंडल, पूरि रहा सब ठाऊं।
जहँ देखौं ओहि देखौं, दोसर नाँहि कहँ जाऊँ ॥ २४४ ॥

शब्दार्थ—धरक=धड़क। हरख न विसमौ=हर्ष न विस्मय। बिसरै=भूले। जौ लहि =जब तक। किंगरी=चिकारा, सारंगी। तन्त=तार। नेहु गीत=प्रेम का गीत। पूरि =पूर्ण, भरा।

अर्थ—जब राजा गंधर्वसेन ने घेर कर सब जोगियों को पकड़ लिया तो वियोगी रत्नसेन जो वियोग के दुःख में पहले ही था और भी दुःख सहने लगा। फिर भी उन जोगियों में से किसी के भी जी में किसी प्रकार की धड़कन (आशंका) न थी, वे नहीं जानते थे कि मरना और जीना क्या है, दोनों में क्या भेद है ? उन सबों ने नागफाँस में अपनी-अपनी गर्दनें स्वयं डाल दीं, उन्हें किसी प्रकार का हर्ष या विषाद न हुआ। जिसने जीवन दान ही कर दिया, वह तो आशा-विहीन है, वह तो जब तक शरीर में साँस होती है, अपने इष्ट मात्र को ही याद करता है, उसे भुला नहीं सकता। हाथ में छोटी सारंगी लिए हुए उसी का तार वह बजाता और उस पर प्रेम का गीत वह बैरागी रत्नसेन गाता रहा। उस गीत में वह गाता था कि अच्छा हुआ कि मैंने अपने गले में फाँसी का फँदा डाल लिया, हृदय में अब कोई सोच नहीं है, क्रोध को हमने पहले ही नष्ट कर रखा है, मैंने अपनी गर्दन फाँसी के फन्दे में उसी दिन डाल दी थी जिस दिन प्रेम पन्थ पर खेलने चला था। अब तो सारे मही-मंडल में वही पद्मावती (ब्रह्म) प्रगट या गुप्त रूप में व्याप्त दिखाई पड़ती है, मैं जहाँ देखता हूँ वही है और कोई दूसरा नहीं, अब मैं कहाँ जाऊं ?

टिप्पणी—*यहाँ सूफी मत के अनुसार प्रेम विह्वल, मतवाले योगी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। सूफी को सर्वत्र वही दिखाई पड़ता है, प्रेम का दीवाना संसार की परवाह नहीं करता।*

[२४५]

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा। कोटि अंतरपट बिच हुत दीन्हा॥
जौं चीन्हा तौ औरु न कोई। तन मन जिउ जोबन सब सोई॥
हौं हौं कहत धोख अँतराहीं। जौं भा सिद्ध कहाँ परिछाहीं॥
मारै गुरू, कि गुरू जियावा। औरु को मार, मरै सब आवा॥
सूरी मेलु, हस्ति कर पूरू। हौं नहिं जानौं, जानै गूरू॥
गुरु हस्ति पर चढ़ा सो पेखा। जगत जो नास्ति नास्ति सब देखा॥
अंध मीन जस जल महँ धावा। जल जीवन जल दिस्टि न आवा॥
गुरु मोर मोरें हित, दीन्हें तुरंगहि ठाठ।
भीतर करै डोलावै, बाहर नाचै काठ॥ २४५॥

शब्दार्थ—अहा=था। अन्तरपट=पर्दा। हुत=था। चीन्हा=पहचाना। अन्तराहीं=अन्तर पड़ गया। पाठान्तर-इतराहीं=गर्व करते हैं। हस्ति=हाथी, तात्पर्य ईश्वर (गुरु) ऊपर है और सब कुछ देख रहा है। हस्ति का दूसरे अर्थ-अस्ति=अस्तित्व-गुरु जगत् के अस्तित्व को ठीक रूप से जानता है। करै=कल, यन्त्र। ठाठ=ढाँचा पाठान्तर ढाठ—बदमाश घोड़े को काबू में करने का ढाठा (बन्धन)।

अर्थ—जब तक मैं गुरु था अर्थात् जब तक मुझ में अहन्त्व था तब तो उस (ब्रह्म) को न पहिचान सका। अपने और उसके बीच अनेक पर्दे डाले रहा। जब उसे पहिचान लिया तो मुझमें और उसमें कोई अन्तर न दिखाई पड़ा, वही मेरा तन, मन, जीव और यौवन है। मैं-मैं करता हुआ मैं धोखे के अन्तर में पड़ा था, जब सिद्ध हो गया तो परछाहीं कहाँ रही, अर्थात् दोनों में सर्वथा एकीकरण हो गया। जीव ब्रह्म की छाया है यह द्वैत भावना न रह गयी। अब मेरा गुरु (ब्रह्म) ही हमें मार सकता है, वही जिला सकता है, और मुझे कौन मार सकता है। अन्य सब लोग तो इस संसार में मरने को आते हैं। अतः वे कैसे किसी को मार सकते हैं। चाहे मुझे शूली दो, चाहे हाथी के हाथ (सूंड) में डाल दो। इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, इसका जानने वाला तो मेरा गुरु ही हाथी पर चढ़ा है, वही देख रहा है। संसार तो नश्वर है, और सब कुछ नश्वर ही दिखाई पड़ रहा है। मनुष्य तो अन्धी मछली के समान जल-रूपी जीवन में दौड़ता है, पर उसे जीवन का वास्तविक रूप रूपी जल दिखाई नहीं पड़ता।

मेरे गुरु (ब्रह्म) ने मेरे हित के लिए काठ के घोड़े का ढाँचा (शरीर) दे रखा है। भीतर से कल के डोलाने से काठ का घोड़ा नाचता है। काठ का घोड़ा एक प्रकार का तमाशा होता था। अन्दर से चलाने पर वह नाचता, कूदता, उछलता और जमता था। भाव यह है कि मनुष्य का शरीर उस काठ के घोड़े के सदृश है जिसका चलाने वाला कोई और है। मनुष्य के सारे कर्म, उपादान-मात्र हैं, उस परमेश्वर के इंगित मात्र पर संसार के सारे कर्म होते चलते हैं।

[२४६]

सो पदुमावति गुरु हौं चेला। जोग तंत जेहि कारन खेला ॥
तजि ओहि बार न जानौं दूजा। जेहि दिन मिले, जातरा पूजा ॥
जीउ काढ़ि भुइँ धरौं लिलाटू। ओहि कहँ देहुँ हिए महँ पाटू ॥
को मोहि लै सो छुवावै पाया। को अवतार देइ नइ काया ॥
जीउ चाहि सो अधिक पियारी। माँगै जीउ देउँ बलिहारी ॥
माँगै सीस, देउँ सिउँ गीवा। अधिक नवौं जौ मारै जीवा ॥
अपने जिय कर लोभ न मोही। पेम वार न होइ माँगौ ओही ॥
दरसन ओहि क दिया जस, हौं रे भिखारि पतंग।
जौ करवत सिर सारै, मरत न मोरौं अंग ॥ २४६ ॥

शब्दार्थ—जातरा=यात्रा, देवयात्रा। पूजा=पूरी हुई। काढ़ि=निकाल कर। पाटू=सिंहासन। पाया=पैर। चाहि=अपेक्षा। करवत=आरा। सारै=चलावै।

अर्थ—वह पद्मावती ही मेरा गुरु है, मैं उसका चेला हूँ। उसी के कारण हम जोग तन्त्र को खेल रहे हैं। उसके द्वार को छोड़कर और कुछ नहीं जानता। जिस दिन वह मिलेगी, उसी दिन मेरी यात्रा पूरी होगी। जीव निकाल कर दे सकता हूँ। उसके सामने जमीन पर मत्था टेक सकता हूँ और उसको हृदय का सिंहासन दे सकता हूँ। कौन है जो मुझे लेकर उस के पांवों को स्पर्श करा दे। कौन मेरे शरीर को नया अवतार दे दे ? वह मेरे जीव की अपेक्षा मुझे बहुत अधिक प्यारी है। अतः यदि वह जीव माँगे तो मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने जीव को उस पर निछावर कर सकता हूँ। यदि वह सिर माँगे तो प्रसन्नतापूर्वक गर्दन दे सकता हूँ, यदि जीव मारना चाहे तो अधिक झुक सकता हूँ, मुझे अपने जीवन का कोई भी लोभ नहीं है, मैं प्रेम के द्वार पर होकर उसी (पद्मावती) को माँग रहा हूं। उसका दर्शन मेरे लिए दीपक के सदृश है और मैं भिखारी पतंगे के सदृश हूँ। यदि वह मेरे शरीर पर आरा चलाना चाहे तो मरते हुए भी अङ्ग को नहीं मोड़ सकता ।

अलंकार—उपमा।

[२४७]

पदुमावति कँवला ससि जोती। हँसै फूल, रोवै तब मोंती ॥
बरजा पितै हँसी औ रोजू। लाई दूति, होई निति खोजू ॥
जबहिं सुरुज कहँ लागेउ राहू। तबहिं कँवल मन भएउ अगाहू ॥
बिरह अगस्ती बिसमौ भएऊ। सरवर हरख सूखि सब गएऊ ॥
परगट ढारि सकै नहिं आँसू। घटि घटि माँसु गुपुत होइ नासू ॥
जस दिन माँझ रैनि होइ आई। बिगसत कँवल गएउ कुँभिलाई ॥
राता बरन गएउ होइ सेता। भँवति भँवर रहि गई अचेता ॥

चितहि जो चित्र कीन्ह धनि, रोवँ रोवँ रंग समेंटि ।
सहस साल दुख आहि भरि, मुरुछि परी गा मेंटि ।। २४७ ।।

शब्दार्थ—बरजा=रोका । रोजू=रोना । खोजू=तलाश, चौकसी । अगस्ती=अगस्त्य तारा शरद् में उदय होता है जबकि पानी की बाढ़ कम हो जाती है (उदित अगस्त पंथ जल सोखा—तुलसी) । अगाहू=आगाह, सूचना । विसमौ=शोक । ढारि=गिराना। राता बरन=लाल वर्ण । भँवति भँवर=डोलते हुए भौंरे, चंचल पुतलियां । अचेता= स्थिर ।

अर्थ—पद्मावती कमल और शशि-ज्योति की भांति खिली हुई थी, पर रत्नसेन की कैद सुनकर उसकी दशा विचित्र हो गयी, कभी हँसती है तो कभी रोती है । हंसने पर फूल झड़ते हैं और रोने पर मोती । पिता ने उसकी ऐसी हालत देखकर उसे हंसने और रोने के लिए मना कर दिया । एक दूती लगा दी जो उसकी नित्य चौकसी रक्खे। पर ज्यों ही सूर्य को राहू लगा अर्थात् रत्नसेन को कैद में डाला गया त्यों ही कमल रूपी पद्मावती को पता लग गया । विरह रूपी अगस्त्य का शोक छा गया और हर्षोल्लास रूपी तालाब का जल सूख गया । पर प्रकट रूप से वह आँसू नहीं गिरा सकती थी, पर गुप्त रीति से उसके शरीर का मांस घट-घट कर नाश होने लगा । उसके चेहरे पर ऐसी कालिमा छा गई जैसे दिन में ही रात हो जाय । खिला हुआ कमल कुम्हला गया । उसके मुख का लाल वर्ण फीका होकर सफेद हो गया और उसके आँखों की चंचल पुतलियाँ जो घूमते हुए भँवर की भाँति थीं, स्थिर हो गयीं ।

अपने जिस रोम-रोम में पद्मावती ने प्रेम रंग को भर कर चित्त में रत्नसेन के चित्र को आँक रखा था उन्हीं हजारों रोम-छिद्रों से उसके भीतर दुःख भर गया, वह मूर्छित होकर गिर पड़ी और चित्र मिट गया । तात्पर्य यह कि पद्मावती मूर्छित होने पर श्वेत पड़ गई । पहले पद्मावती ने अपने मन में रत्नसेन का चित्र बनाने के लिए अपने रोम-रोम से रक्त समेटा, पर रोम-कूपों में छिद्र हो गये और उनसे दुःख प्रविष्ट हो गया और मन में बना हुआ लाल चित्र बिगड़ गया, इसीलिए उस पर सफेदी चढ़ गई ।

अलंकार—उपमा ।

[२४८]

पदुमावति सँग सखी सयानी । गुनि कै नखत पीर ससि जानी ।।
जानहिं मरम कँवल कर कोई । देखि बिथा बिरहिनि की रोई ।।
बिरहा कठिन काल कै कला । बिरह न सहिअ, काल बरु भला ।।
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा । बिरह काल मारे पर मारा ।।
बिरह आगि पर मेलै आगी । बिरह घाउ पर घाउ बजागी ।।
बिरह बान पर बान पसारा । बिरह रोग पर रोग सँचारा ।।
बिरह साल पर साल नवेला । बिरह काल पर काल दुहेला ।।

तन रावन होइ सिर चढ़ा, बिरह भएउ हनिवंत ।
जारै ऊपर जारै, तजै न कै भसमंत ॥ २४८ ॥

शब्दार्थ—गुनि कै=समझकर । नखत=नक्षत्र । कोई=कुमुदिनी । सहिग्र=सह लें । बरु=बल्कि । सँचारा=फैलाया । साल=शरीर में चुभा हुग्रा काँटा, दर्द । नवेला=नया । दुहेला=कठिन । जारे=जलाये हुए । भसमंत=भस्म ।

ग्रर्थ—पद्मावती के साथ जो चतुर सखी थी, वह समझ-बूझकर उसकी हालत समझ गई, क्योंकि तारा ही चन्द्रमा की पीड़ा जान सकता है । कुमुदिनी ही कमल का दुःख जान सकती है । वे इस विरहिणी की व्यथा देखकर रोने लगीं । विरह कठिन होता है उसकी कला तो काल के सदृश है, विरह नहीं सहा जाता, बल्कि मृत्यु ग्रच्छी । मृत्यु तो जान लेकर चल देती है पर विरह तो मरे हुए को भी मारता रहता है । विरह तो ग्राग पर ग्राग डालता रहता है । विरह तो घाव पर घाव की वज्राग्नि डालता है । विरह बाण पर बाण चलाता रहता है ग्रौर रोग पर रोग फैलाता रहता है । यह दर्द पर नये-नये दर्द उत्पन्न करता रहता है । विरह तो काल से भी कठिन काल है । पद्मावती का यौवन शरीर रावण रूप दारुण होकर सिर चढ़ा है ग्रौर विरह हनुमान् होकर उसे जला रहा है, जले हुए को ग्रौर जलाकर उसे राख बना रहा है ।

नोट—रावण सम्बन्धी ग्रटपटी उपमायें पीछे भी ग्रा चुकी हैं । रावण की लंका नगरी स्वर्ण की थी । रावण भयंकर था, ग्रौर उस नगरी को हनूमान् ने खूब जलाया ग्रौर राख कर डाला । यहाँ पर पद्मावती का यौवन से उमड़ा हुग्रा शरीर सोने की लंका के समान है, उसका दुःख उसके लिए भयानक है । जायसी ने रावण का प्रयोग भयंकरता को दिखाने के लिए ही सर्वत्र किया है ।

ग्रलंकार—'गुनि कै नखत पीर ससि जानि' ग्रौर 'जानहि मरम कँवल का कोई'—में वाक्यार्थोपमा ।
'विरहा ... ...मारा' में व्यतिरेक ।
'तन रावन... हनिवंत' में रूपक ।

[२४६]

कोइ कमोद परसहिं कर पाया । कोइ मलयागिरि छिरकहिं काया ॥
कोइ मुख सीतल नीर चुवावा । कोइ ग्रंचल सौं पौनु डोलावा ॥
कोइ मुख ग्रंब्रित ग्रानि निचोवा । जनु बिख दीन्ह, ग्रधिक धनि सोवा ॥
जोबहिं स्वांस खिनहिं खिन सखी । कब जिउ फिर पवन ग्रौ पंखी ॥
बिरह काल होइ हिए पईठा । जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा ॥
खिन एक मूँठि बाँध, खिन खोला । गही जीभ मुख जाइ न बोला ॥
खिनहिं बेझ कै बानन्हि मारा । कंपि कंपि नारि मरै बिकरारा ॥

कैसेहुँ बिरह न छाड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहूं दिसि रोवहिं, अंधियर धरति अकास ॥ २४९ ॥

शब्दार्थ—कमोद=कुमुदिनी। छिरकहिं=छिड़कती हैं। चुवावा=डालती थी। अंचल=पाठान्तर आँचर। आनि=लाकर। निचोवा=निचोड़ती थी। पवन औ पंखी=साँस और जीव हवा और पक्षी की भाँति है, जैसे हवा के साथ पक्षी लौटता है, वैसे ही साँस के साथ जीव। बिख=विष। धनि=स्त्री। जोवहिं=देखती हैं। बेझि कै=फँसा कर। बिकरारा=बेचैन। अँधियर=अँधेरा। धरति=पृथ्वी।

अर्थ---पद्मावती की विरहाग्नि की शान्ति के लिए सखियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के उपचार करने लगीं---

कोई सखी कुमुदिनी को लेकर पद्मावती के हाथों और पैरों में स्पर्श कराने लगी, कोई मलयगिरि चन्दन का लेप बना कर उसके शरीर पर छिड़कने लगी, कोई मुख में ठण्डा पानी डालने लगी, कोई अञ्चल से हवा करने लगी, कोई मुख में अमृत निचोड़ने लगी, पर वह तो उसे विष सा लगा और वह अधिक सो गई अर्थात् विशेष अचेत हो गई। सखियाँ क्षण-क्षण पर उसकी साँस देखती हैं और देखती हैं कि उसकी साँस और जीव कब लौटते हैं। विरह काल बनकर उसके हृदय में घुस गया था और उसके जीव को निकाल कर हाथ में लिए बैठा था। वह कभी तो मुट्ठी बन्द करता और कभी खोलता था। उसने उसकी जीभ पकड़ ली थी जिससे वह बोल न सकती थी। काल उसे फँसाकर बाण चलाता था जिससे बेचारी स्त्री (पद्मावती) काँप-काँप कर बेचैन होकर मरती थी। किसी प्रकार उसे विरह छोड़ता नहीं। चन्द्र-ग्रहण होना चाहता है, सारे तारागण चारों ओर रोते हैं। अभी पृथ्वी और आकाश में अंधेरा होना चाहता है। भाव यह कि पद्मावती के प्राण निकलने वाले हैं और सभी सखियाँ रो रही हैं।

अलंकार---रूपकातिशयोक्ति।

[२५०]

घरी चारि इमि गहन गरासी। पुनि बिधि जोति हिएँ परगासी ॥
निसँसि ऊभि भरि लीन्हेसि स्वाँसा। भई अधार, जियन कै आसा ॥
बिनवहिं सखी, छूट ससि राहू। तुम्हरी जोति जोति सब काहू ॥
तूँ ससि बदन जगत उजियारी। केइ हरि लीन्हि, कीन्हि अंधियारी ॥
तूँ गजगामिनि गरब गहीली। अब कस आस छाँड़ि सत ढीली ॥
तूँ हरि लंक हराए केहरी। अब कस हारें करसि हहे हरी ॥
तूँ कोकिल बैनी जग मोहा। केइँ व्याधा होइ गही निछोहा ॥
कँवल करी तूँ पदुमिनि, गै निसि भएउ बिहान।
अबहुँ न संपुट खोलहि, जौं रे उठा जग भान ॥२५०॥

शब्दार्थ--निसँसि=निश्वास लेकर, लम्बी साँस लेकर। ऊभि=ऊँची होकर। हरि=छीनकर। लंक=कमर। करी=कली। गै=गयी। बिहान=प्रात:।

अर्थ--इस प्रकार चार घड़ी तक यह ग्रहण से ग्रसी हुई रही अर्थात् मूर्छित रही, फिर ब्रह्मा ने उसके हृदय में ज्योति का प्रकाश किया। उसकी साँस रुक सी गई थी, वह मरी सी हो गयी थी, कुछ ऊँची होकर उसने साँस ली (मूर्छा के बाद होश आने पर छाती उठ जाती है,। तब सखियों को आशा हुई कि अब जी जायगी। सखियाँ विनती करने लगीं कि चन्द्रमा का ग्रहण दूर हो और कहने लगीं कि हे पद्मावती ! तुम्हारे ही प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं, हे शशिवदनी ! तू ही संसार को उजाला करने वाली है, किसने तुझे हर लिया और संसार में अँधेरा पैदा कर दिया। तू गजगामिनी और गर्व से गम्भीर थी, अब तुमने क्यों आशा छोड़ कर अपने सत को ढीला कर दिया। तूने सिंह की कमर को छीन कर उसे हरा दिया था, तो अब तू स्वयं क्यों हार कर हिम्मत छोड़ रही है। तू तो कोकिल-बैनी थी, तुमने सारे जग को अपनी वाणी से मोह लिया था। किस व्याध ने तुझे निष्ठुरता से पकड़ लिया है।

हे पद्मावती ! तू तो कमल की कली के सदृश है, अब रात बीत गयी, सवेरा हुआ है, अब भी तू संपुट न खोलेगी, जब कि संसार में सूर्य उदय होकर ऊपर उठा है। भाव यह कि तू तो रत्नसेन की प्रियतमा है, रत्नसेन रूपी सूर्य अब तुम्हारे दरवाजे पर आ गया है, अब तो तू अपनी व्यथा को छोड़ कर खिल।

अलंकार—रूपक।

[२५१]

भान नाउँ सुनि कंवल बिगासा। फिरि कै भंवर लीन्ह मधु बासा॥
सरद चंद मुख जानु उघेली। खंजन नैन उठे कै केली॥
बिरह न बोल आव मुख ताईं। मरि मरि बोल जीव बरियाईं॥
दबैं बिरह दारुन, हिय कांपा। खोलि न जाइ बिरह दुख झाँपा॥
उदधि समुंद जस तरंग देखावा। चखु कोटिन्ह मुख एक न आवा॥
यह सुठि लहरि लहरि पर धावा। भँवर परा, जिउ थाह न पावा॥
सखी आनि विष देहु तौ मरऊँ। जिउ नहि पेट ताहि डर डरऊं॥
खिनहिं उठै खिन बूड़ै, अस हिय कँवल सकेत।
हीरामनिहि बोलावहु, सखी गहन जिउ लेत॥२५१॥

शब्दार्थ—नाउँ=नाम। जानु=जानो-पाठान्तर-जबहिं। उघेली=खोला। केली=केलि, क्रीड़ा। ताईं=तक। बरियाईं=जबरदस्ती। दबैं=दबाता है। झाँपा=ढका हुआ। सकेत=संकट।

अर्थ--सूर्य (रत्नसेन) का नाम सुनते ही मानो कमल विकसित हो गया और भौरों ने फिर से मधु में वास किया अर्थात् उसका चेहरा खिल उठा, उसकी आँखों की पुतलियाँ

भौरों की भाँति घूम-घूम कर रत्नसेन के दर्शन की कल्पना का रस लेने लगीं जैसे शरद के चन्द्रमा ने मुख निकाला हो और खंजन रूपी आँखें खेलती हुई खुलीं। फिर भी विरह के कारण मुख तक बोली नहीं निकलती, उसका जीव मर-मर कर जबरदस्ती बोलने का प्रयत्न करता था। दारुण विरह से दबा हुआ हृदय काँपता था और विरह के दुःख से ढका हुआ खोला नहीं जाता था। जैसे महासागर में अनेक तरंगें उठती हैं इसी प्रकार उसके हृदय में अनेक भाव उमड़ते थे, आँखों में करोड़ों भाव दिखाई पड़ते थे, पर मुख पर एक भी नहीं आते थे। यह (आँख) एक-एक लहर (भाव) पर दौड़ती थी, पर इस प्रकार उसका थाह नहीं पाती जैसे पानी का भौंरा लहर-लहर पर दौड़ता है पर पार नहीं पाता। अन्त में वह बोली कि हे सखी ! लाकर मुझे विष दो जिससे मैं मर जाऊँ, ताकि पेट के भीतर जीव न रह जाय, पर डर तो यह है फिर मेरे शरीर में जीव तो है ही नहीं (वह तो रत्नसेन के पास है)-कि वह मरेगा कैसे ? इस समय मेरी दशा यह है कि जी घबड़ाता है, कभी डूबता है और कभी ऊपर आता है, ऐसा संकट पड़ा हुआ है, मेरे जीव पर ग्रहण सा लगा है, अतएव हीरामनि को बुला दो।

[२५२]

पुरइनि धाइ सुनत खिन धाई। हीरामनिहि बेगि ल आई॥
जनहुँ बैद ओषद लै आवा। रोगिअँ रोग मरत जिउ पावा॥
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह बैन कोकिल जिमि बोले॥
कँवलहि विरह बिथा जसि बाढ़ी। केसरि बरन पियर हिय गाढ़ी॥
कत कँवलहि भा पेम अँकूरू। जौं पै गहन लीन्ह दिन सूरू॥
पुरइनि छाँहं कँवल कै करी। सकल बिथा सो अस तुम्ह हरी॥
पुरुष गँभीर न बोलहिं काऊ। जौं बोलहिं तौं ओर निबाहू॥
एतना बोल कहत मुख, पुनि होइ गई अचेत।
पुनि जौं चेत सँभारै, बकत उहै मुख लेत॥२५२॥

शब्दार्थ—पुरइनि=धाय का नाम है। खिन=तत्क्षण। धाई=दौड़ी। पियर=पीला। गाढ़ी=गम्भीर। कत=क्यों। अँकूरू=अंकुर। सूरू=सूर्य। पुरइनि=कमल का पत्ता। हरी=दूर की। ओर=आखीर, अन्त।

अर्थ—पुरइनि नाम की धाय सुनते ही दौड़ कर गयी और हीरामनि को शीघ्र ही ले आयी। मानो वैद्य औषधि ले आया, रोगी रोग से मर रहा था उसे जीव प्राप्त हो गया। हीरामनि के आशीर्वाद को सुनते ही उस स्त्री (पदमावती) ने आँखें खोल दीं और कोकिल कंठ से उससे विरह की बातें कहने लगी कि - कमल को विरह की व्यथा इतनी बढ़ती है कि उसका हृदय केसर की भाँति पीला हो जाता है। कमल के भीतर पीले-पीले रेशे से होते हैं। भाव यह कि मैं तो रत्नसेन के विरह से पीली पड़ रही हूँ। कमल के भीतर प्रेम का

अंकुर ही क्यों हुआ, यदि दिन में भी सूर्य को ग्रहण लेकर छिपा रहना था, अर्थात् रत्नसेन के प्रति तुमने क्यों मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न किया। जब सिंहल आकर भी रत्नसेन को बन्दी ही होना था। कमल की कली को तो पुरइनि पत्ते की छाया होती है, अर्थात् मेरे रक्षक तो केवल तुम हो, मेरी सारी व्यथाओं को आज तक तुम्हीं ने दूर किया है। पुरुष गम्भीर होते हैं, कोई वचन नहीं देते पर यदि वचन देते हैं तो अन्त तक निर्वाह करते हैं, अर्थात् तुम पुरुष हो, तुमने मुझे रत्नसेन से मिलाने का वचन दे रखा है तो अब उसे पूरा करो। इतनी बात कहते ही वह फिर मूर्छित हो गई, फिर ज्यों ही उसको होश सँभला, मुख से वही बात लेती हुई बकने लगी।

नोट—पद्मावती के वचन में चार बातें हैं—१. उसके हृदय की पीड़ा। २. पिता गन्धर्व-सेन रूपी ग्रहण द्वारा सूर्य रूपी रत्नसेन के पकड़े जाने का दुःख। ३. हीरामनि के आगमन पर संतोष। ४. रत्नसेन की प्रीति की स्थिरता। प्रत्येक पंक्ति में उक्त बातें क्रमशः हैं।

[२५३]

औरु दगध का कहौं अपारा। सुनै सो जरै कठिन असि झारा॥
होइ हनिवंत बैठ है कोई। लंका डाहु लाग तन होई॥
लंका बुझी आगि जौं लागी। यह न बुझै तसि उपजि बजागी॥
जनहुँ अगिन के उठहिं पहारा। वै सब लागहिं अंग अँगारा॥
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत के आँसु माँसु सब रोवा॥
खिनु एक मारि माँसु अस भूँजा। खिनहिं जिआइ सिंघ अस गूँजा॥
एहि रे दगध हुँत उतिम मरीजै। दगध न सहिअ, जीउ बरु दीजै॥
जहँ लगि चंदन मलैगिरि, औ साएर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहिं, बुझै न आगि सरीर॥ २५३॥

शब्दार्थ—दगध=दाह, जलना। झारा=ज्वाला, लपट। सराग=शलाका। पिरोवा=गूँथा। मारि=बहुत सा। भूँजा=भूना। गूँजा=गर्जा। हुँत=से। मरीजै=मर जाना। जहँ लगि=जहाँ तक। साएर=सागर।

अर्थ—जायसी यहाँ पर पद्मावती के विरह की जलन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसकी अपार जलन का और क्या वर्णन करूं, उसकी ज्वाला इतनी थी कि सुनने वाला भी इस लपट से जल जाता था। कोई हनुमान् होकर उसके शरीर रूपी लंका में प्रवेश किए हुए है, उसका दाह कर रहा है। लंका तो बुझ भी गयी थी पर इसमें तो ऐसी वज्राग्नि लगी है कि बुझ नहीं सकती। जैसे अग्नि के पहाड़ उठ रहे हों, वे सब अंगारे से अंग में लगते हैं। उसका मांस कट-कट कर शलाकाओं में डल जाता था। सारा मांस रक्त की आंसुओं से रोता था—रक्त क्या निकलते थे, मानो माँस की आसुएँ टपक रही हैं। थोड़ी देर तक उसका बहुत सा मांस भूना जाता था पर दूसरे क्षण में फिर उसे जिया कर सिंह जैसी गर्जना होती थी। कवि कहता है कि इस प्रकार के जलने से तो मर जाना ही उत्तम

है, जलन नहीं सही जाती, बल्कि जीव दिया जाता है। संसार में जितना कि मलयगिरि चन्दन और सागरों में पानी है, सब मिलकर भी यदि आकर बुझावें तो भी शरीर की विरहाग्नि नहीं बुझ सकती।

नोट—बिरह की जलन का वर्णन सूफियों की पद्धति का Typical उदाहरण है। अंग-अंग का जलना, मांस को भूना जाना आदि करुणात्मक विरह सूफी मसनवियों का अनुगमन है।

अलंकार—अत्युक्ति।

[२५४]

हीरामनि जौं देखी नारी। प्रीति बेलि उपनी हियँ भारी।।
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। अरुझी पेम प्रीति की बेली।।
प्रीति बेलि जनि अरुझै कोई। अरुझें, मुए न छूटै सोई।।
प्रीति बेलि अैसै तनु डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा।।
प्रीति बेलि सँग विरह अपारा। सरग पतार जरै तेहि झारा।।
प्रीति बेलि केइँ अम्मर बोई। दिन दिन बाढ़ै, खीन न होई।।
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा। दोसरि बेलि न पसरै पावा।।
प्रीति बेलि अरुझाइ जौं, तब सो छाँह सुख साख।
मिलै जो प्रीतम आइ कै, दाख बेलि रस चाख।। २५४।।

शब्दार्थ—नारी=स्त्री, हाथ की नाड़ी। उपनी=उत्पन्न हुई। दुहेली=दुःखी। अरुझी=उलझी। जनि=मत। डाढ़ा=दहा। पलुहत=पल्लवित होना। साख=शाखा, डाली।

अर्थ—हीरामनि ने जब पद्मावती को देखा तो समझ लिया कि इसके हृदय में प्रेम की बड़ी बेल उत्पन्न हुई है। उसने कहा कि तुम दुखी क्यों न हो क्योंकि तुम तो प्रेम की बेल में उलझ गयी हो। प्रेम की बेल में कोई मत उलझे क्योंकि उसमें उलझने पर, मरने पर भी आदमी नहीं छूट पाता। प्रीति की बेल इस प्रकार शरीर को जलाती है कि पल्लवित होते हुए तो सुख होता है पर ज्योंही वह लता बढ़ जाती है, दुःख बढ़ जाता है। प्रीति की बेल के साथ ही अपार विरह भी होता है और उसकी ज्वाला से स्वर्ग और पाताल सभी जल जाते हैं। इस प्रीति की अमर बेलि को किसने बो दिया है कि यह दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है, क्षीण नहीं होती। जिस प्रकार अमर बेलि जब फैलती है अन्य लतायें या वृक्ष उसके नीचे नहीं फैल सकते, वह सबको मार कर हरी रहती है। उसी प्रकार यह प्रेम भी ऐसा ही है। इसकी स्थिति में और कोई सुख आदि नहीं रह सकते।

प्रीति बेल से उलझने पर तभी उसकी छाया और डालियों का सुख मिलता है जब प्रियतम आके मिलता है और उस द्राक्षालता के रस को चखता है।

अलंकार—साङ्ग रूपक।

[२५५]

पदुमावति उठि टेकै पाया। तुम्ह हुँत होइ प्रीतम कै छाया ॥
कहत लाज औ रहै न जीऊ। एक दिसि आगि दोहर दिसि सीऊ ॥
सूर उदैगिरि चढ़त भुलाना। गहने गहा, चाँद कुँभिलाना ॥
ओहटें होइ मरिउँ नहिं झूरी। यह सुठि मरौं जो निअरें दूरी ॥
घट महँ निकट, बिकट भा मेरू। मिलेहुँ न मिलै, परा तस फेरू ॥
दसइँ अवस्था असि मोहि भारी। दसएँ लखन होहु उपकारी ॥
दमनहि नल जस हंस मेरावा। तुम्ह हीरामनि नाउँ कहावा ॥
मूरि सजीवनि दूरि इमि, सालै सकतीबान।
प्रान मुकुत अब होत हैं, बेगि देखावहु भान ॥ २५५ ॥

शब्दार्थ—टेकै=सहारा। तुम्ह हुँत=तुमसे, तुम्हारे द्वारा। सीऊ=शीत, पाठान्तर-शिव। पीऊ=पति। गहने गहा=ग्रहण लगा, गन्धर्वसेन से पकड़ा गया। ओहटें=ओट में, दूर। झूरी=सूख कर। निअरें=निकट। मेरू=मेल। दसइँ अवस्था=मृत्यु। दसएँ लखन=धर्म का दसवाँ लक्षण सत्य। दमनहिं=दमयन्ती को। मेरावा=मिलाया। इमि=इस प्रकार। सालै=दर्द कर रहा है। सकतीबान=शक्तिबाण (लक्ष्मण को शक्ति-बाण लगा था, तो हनूमान् ने संजीवनी बूटी लाकर उनको जीवित किया था)। मुकुत=मुक्ति, छूटना।

अर्थ—पद्मावती ने उठकर हीरामनि के पैरों का सहारा लिया और कहा कि तुम्हारे द्वारा ही हमें अपने प्रियतम की छाया मिल सकती है। कहते हुए लज्जा लगती है पर प्राण नहीं बच रहे हैं। एक ओर तो विरह की अग्नि है और दूसरी ओर शीत है। सूर्य तो उदयाचल पर चढ़कर भूल गया, अर्थात् रत्नसेन तो सिंहल में आकर भूल गया, उस पर ग्रहण लगा अर्थात् गन्धर्वसेन के द्वारा पकड़ा गया है, पर चन्द्रमा कुम्हला गया है, अर्थात् मैं विरहाग्नि से जल रही हूँ। उस सूर्य रूपी रत्नसेन से दूर रह कर मैं जल-जल कर मरी नहीं। अब मैं निकट होकर भी दूर रह कर और अधिक मर रही हूँ। हृदय के निकट होने पर भी उससे मिलना (कठिन) हो रहा है, ऐसा फेर पड़ गया है कि मिलने पर भी वह नहीं मिलता। अर्थात् सिंहल में होकर भी वह मेरे पास तक नहीं आ सकता। इसी समय मेरी मृत्यु की कठिन अवस्था है। अब दसवाँ लक्षण सत्य ही उपकारी हो सकता है। जिस प्रकार हंस ने दमयन्ती को नल से मिला दिया था उसी प्रकार तुम मुझे रत्नसेन से मिलाओ। क्योंकि तुम्हारा नाम तो हीरामनि है—तात्पर्य यह कि मणि क्या नहीं प्राप्त करा सकती ?

मुझे विरह का शक्ति-बाण लगा है। मुझे दर्द हो रहा है और संजीवनी बूटी रत्नसेन-मिलन दूर है, इसलिए अब मेरे प्राण छूटने ही चाहते हैं, जल्दी से सूर्य (रत्नसेन) को ला कर दिखाओ।

नोट—छठी अर्द्धाली का पाठान्तर इस प्रकार है—

तुम्ह सो मोर खेवक गुरु देवा। उतरौं पार तेहि विधि खेवा ॥

अर्थात् तुम तो मेरे खेने वाले गुरुदेव हो, इस प्रकार से नाव चलाओ कि मैं पार जा सकूँ।

[२५६]

हीरामनि भुइँ धरा लिलाट्ट। तुम्ह रानी जुग जुग सुख पाट्ट॥
जेहि के हाथ जरी औ मूरी। सो जोगी नाहीं अब दूरी॥
पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै बिप्र मरावै जोगी॥
पौंरि पंथ कोटवार बईठा। पेम क लुबुधा सुरँग पईठा॥
चढ़त रैंनि गढ़ होइगा भोरू। आवत बार धरा कै चोरू॥
अब लै देइ गए ओहि सूरी। तेहि सो अगाह बिथा तुम पूरी॥
अब तुम्ह जीव कया वह जोगी। कया क रोग जीव पै रोगी॥
रूप तुम्हार जीव कै आपन, पिंड कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा तेहि खंड होइ, काल न पावै हेरि॥ २५६॥

शब्दार्थ—भुइँ=भूमि। लिलाट्ट=मत्था। पाट्ट=सिंहासन। जरी औ मूरी=जड़ और मूल। मरावै=मरवाता है। पौरि=पौड़ियाँ, ड्योढ़ियाँ। कोटवार=कोतवाल। लुबुधा=लोभी, प्रेमी। भोरू=प्रभात। बार=द्वार। देइ=देने। ओहि=उसको। सूरी=शूली। पिंड=शरीर। कमावा=अर्जित किया। फेरि=फिर। हेराइ=खोकर। तेहि खँड=उसी भाग में। हेरि=खोजना।

अर्थ—पद्मावती की बात सुनकर हीरामनि ने पहले अपने मत्थे को जमीन पर टेका और फिर कहा कि—हे रानी! तुम्हें युग-युग सुख और सिंहासन प्राप्त हो। जिसके हाथ तेरी संजीवनी जड़ी है वह जोगी रत्नसेन अब दूर नहीं है। तुम्हारे पिता राज्य-भोग करने वाले हैं, ब्राह्मणों को तो सम्मानित करते हैं और जोगियों को मरवाते हैं। गढ़ की पौड़ियों वाले रास्ते पर तो कोतवाल रक्षा करता बैठा रहता है। इसलिए उस प्रेमी रत्नसेन ने सुरंग से प्रवेश किया। पर सारी रात चढ़ते-चढ़ते प्रभात हो गया और दरवाजे के पास आते ही राजा के कर्मचारियों ने चोर समझकर उसे पकड़ लिया। अब उसको शूली देने के लिए ले गए हैं। इसीलिए तुम्हारे हृदय में अगाध व्यथा भर गई है। पर तुम यह समझो कि अब तो तुम्हीं उसका जीव हो और वह तो शरीर मात्र है। रोगी तो काया के रोग से जीवित रहता है। अर्थात् जब तक उसके रोग की अवधि रहती है, तभी तक रोगी का शरीर जीवित रहता है—वह रत्नसेन तो जीव से तुम्हारे भीतर आ गया है, शरीर भी अपनी अवधि तक रहेगा। उसने तो तुम्हारे रूप में अपने जीव को डाल कर फिर दूसरा शरीर प्राप्त कर लिया है, आप तो उसी भाग में रहता हुआ भी खो गया है, इसलिए काल भी उसे खोज नहीं सकता।

नोट—योगी लोग दूसरे के शरीर में अपनी आत्मा का प्रवेश कर लेते थे और अपने शरीर को छोड़ कर भी जीवित रहते थे। शङ्कराचार्य के सम्बन्ध में कथा है कि कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए उन्होंने अपने शरीर को छोड़ कर एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर लिया था।

[२५७]

हीरामनि जौं बात यह कही। सुरुज के गहन चाँद गै गही ॥
सुरुज के दुख जौं ससि होइ दुखी। सो कत दुख मानै करमुखी ॥
अब जौं जोगि मरै मोहि नेहा। ओहि मोहि साथ धरति गँगनेहा ॥
रहै तौ करौं जरम भरि सेवा। चलै तौ यह जिउ साथ परेवा ॥
कौनु सो करनी कहु गुरु सोई। पर काया परबेस जो होई ॥
पलटि सो पंथ कौन विधि खेला। चेला गुरू, गुरू भा चेला ॥
कौन खंड अस रहा लुकाई। आवै काल, हेरि फिरि जाई ॥
चेला सिद्धि सौ पावै, गुरू सों करै अछेद।
गुरू करै जौं किरिपा, कहै सो चेलहि भेद ॥ २५७ ॥

शब्दार्थ—करमुखी=काले मुख वाली (सूर्य ग्रहण अमावस्या के दिन पड़ता है। उस रात को चन्द्रमा नहीं दिखाई पड़ता। इस पर कवि ने कल्पना की है कि सूर्य ग्रहण से दुखी होकर चन्द्रमा काले मुख वाला हो जाता है)। गँगनेहा=गगन में। परबेस=प्रवेश। अछेद=अभेद, भेदभाव का त्याग। भेद=रहस्यानुभूति।

अर्थ—हीरामनि ने जब रत्नसेन की बातें कहीं तो सूर्य का ग्रहण चन्द्र को लग गया। अर्थात् रत्नसेन के दुःख को अनुभव करके पद्मावती परम दुखी हुई। सूर्य के दुख से चन्द्रमा दुखी होता है और स्वयं काले मुखों वाला हो जाता है, अतः वह दुखी हुई। वह कहने लगी—अब यदि जोगी मेरे प्रेम में मरता है तो मेरा उसका साथ पृथ्वी या आकाश दोनों जगह रहेगा। यदि पृथ्वी में रहेगा तो जीवन भर सेवा करूँगी, यदि इस संसार से चलेगा तो मेरा जीव भी पक्षी बनकर उसी से साथ उड़ जायेगा। पर हे गुरु ! बताओ कि वह कौन-सा कर्म है जिससे दूसरे के शरीर में आत्मा प्रवेश कर जाता है, वह (रत्नसेन) कौन से उलटे मार्ग पर चला कि चेला गुरु और गुरु चेला हो गया। तात्पर्य यह कि रत्नसेन के पहले योग-मार्ग में राजा चेला था और पद्मावती गुरु। अब राजा ने उस मार्ग को छोड़कर शूली पर चढ़ने का रास्ता लिया तो राजा सिद्ध (गुरु) बन गया और पद्मावती उसके लिए व्याकुल हो गयी। पहले रत्नसेन पद्मावती के लिए व्याकुल था, अब पद्मावती रत्नसेन के लिए। शरीर का वह कौन-सा भाग है जहाँ वह छिप जाता है कि काल (मृत्यु) उसे खोजता है, न पाने के कारण लौट जाता है। इस पर तोते ने उत्तर दिया कि योग मार्ग से चेला सिद्धि प्राप्त करता है और गुरु से उसका भेदभाव जाता रहता है। दोनों एक हो जाते हैं। बात यह है कि गुरु यदि कृपा कर दे तो चेले को सारा आध्यात्मिक रहस्य बता देता है

ओर वह सब कुछ कर लेता है ।

नोट—२५६ वें पद में हीरामनि ने रत्नसेन के पर-काय-प्रवेश और साधना की सिद्धि की चर्चा की थी, अतः पद्मावती की जिज्ञासा स्वाभाविक थी, उसी का स्पष्टीकरण इस पद में हुआ है ।

[२५८]

अनु रानी तुम्ह गुरू वहु चेला । मोहि पूँछहु कै सिद्ध नवेला ॥
तुम्ह चेला कह परसन भईं । दरसन देइ मँडप चलि गईं ॥
रूप गुरू कर चेलें डीठा । चित समाइ होइ चित्र पईठा ॥
जीउ काढ़ि लै तुम्ह उपसईं । वह भा कया, जीव तुम्ह भईं ॥
कया जो लाग धूप औ सीऊ । कया न जान, जान पै जीऊ ॥
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई । जो ओहि बिथा, सो तुम्ह कहँ आई ॥
तुम्ह ओहि घट, वह तुम्ह घट माहाँ । काल कहाँ पावै ओहि छाहाँ ॥
अस वह जोगी अमर भा, पर काया परबेस ।
आव,काल, तुम्हहिं तहँ देखै, बहुरै कै आदेस ॥ २५८ ॥

शब्दार्थ—अनु=फिर, आगे । नवेला=नया । डीठा=देखा । पईठा=प्रवेश किया । जीउ=जीव । काढ़ि=निकाल कर । उपसई=चली गई । सीऊ=शीत । भोग=सुख । घट=हृदय । छाँहा=छाया । बहुरै=लौटे । कै आदेश=प्रणाम करके ।

अर्थ—तोता पूर्वपद के ही क्रम में कह रहा है और पर-काया-प्रवेश को स्पष्ट कर रहा है—फिर रानी तुम तो गुरु हो और वह चेला है, तुम्हीं उसे एक नया सिद्ध कल्पित कर रही हो और अब मुझ से पूछती हो । तुम्हीं ने चेला का स्पर्श किया, दर्शन देने के लिए मंडप तक गयी थीं । गुरु का रूप चेले ने मंडप में देखा और उसका चित्र उसके अन्दर प्रवेश कर गया । तू तो उसका जीव निकाल कर चली गयी, वह तो शरीर मात्र रह गया, जीव तो तुम हो गयी । शरीर पर जो धूप या शीत लगती है, उसे शरीर तो नहीं जानता, उसका अनुभव करने वाला तो जीव ही है । इसलिए उसका दुःख तुम्हें मिल गया । तुम उसके हृदय में और वह तुम्हारे हृदय में समा गया, तो फिर काल उसकी छाया कैसे पा सकता है ? इस प्रकार वह योगी अमर हो गया है और उसने दूसरे के शरीर में प्रवेश कर लिया है, अब जब मौत उसे लेने आती है तो वह तुम्हें देखती है, क्योंकि उसका जीव जिसका वाहरी रूप तुम्हारा है, उसे भ्रम में डालता है, वह तुम्हें प्रणाम करके लौट जाता है ।

[२५९]

सुनि जोगी कै अम्मर करनी । नेवरी बिरह बिथा कै मरनी ॥
कँवल करी होइ बिगसा जीऊ । जनु रबि देखि छूटिगा सीऊ ॥
जो अस सिद्ध को मारै पारा । नेंबू रस नाँहि जेइ होइ छारा ॥
कहहु जाइ अब मोर सँदेसू । तजहु जोग अब, भएउ नरेसू ॥

जनि जानहु हौं तुम्ह सों दूरी। नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी ।।
तुम्ह पर सबद घटइ घट केरा। मोहि घट जीउ घटत नहीं बेरा ।।
तुम्ह कहँ पाट हिएँ महँ साजा। अब तुम्ह मोर दुहूँ जग राजा ।।
जौं रे जिअहिं मिलि केलि करहिं, मरहिं तौ एकहिं दोउ ।
तुम्ह पै जियँ जिनि होऊँ कछु, मोहि जियँ होउ सो होउ ।। २५६ ।।

शब्दार्थ—अम्मर=अमर। करनी=कृत्य। नेवरी=सं० निवृत्त, निपटी, छूटी। सीऊ=शीत। पारा=सका, पारे को शुद्ध करके नींबू के रस द्वारा उसका मारण किया जाता है जिससे पारद भस्म बनता है। जनि=मत। सूरी=शूली। सबद=शब्द, अनहदनाद पाठान्तर-परसेद=पसीना, (तुम्हारे पसीने पर मेरे प्राण चले जायेंगे)। घट=हृदय। घटइ =उपयुक्त होना, कम होना। बेरा=देर। पाट=सिंहासन। जिनि=न।

अर्थ—योगी रत्नसेन के अमर कृत्य को सुनकर पद्मावती विरह-व्यथा के मरण से छूट गयी। उसका जीव कमल की कली होकर विकसित हो गया, जैसे सूर्य को देखकर शीत छूट जाय। उसने कहा कि यदि रत्नसेन ऐसा सिद्ध है फिर तो उसे कौन मार सकता है। गन्धर्व-सेन वह नीबू का रस नहीं है जिससे रत्नसेन रूपी पारा भस्म हो जायगा। अब तुम जाकर उससे मेरा संदेश कह दो कि अब तुम जोग छोड़ो अब राजा हो गये। यह मत समझो कि तुम मुझ से दूर हो, मेरे नेत्रों में वह शूली गड़ी है। तुम्हारे हृदय का अनदह नाद घटेगा तो मेरे हृदय के जीव को घटते देर नहीं लगेगी। तात्पर्य यह है कि रत्नसेन के हृदय में जब अनहद-नाद की कमी होगी तो पद्मावती के शरीर में प्राण की हानि हो जायगी। तुम्हारे लिए मेरे हृदय में सिंहासन प्रस्तुत है, अब तो तुम मेरे दोनों लोकों के राजा हो। अब यदि मेरा जीव जीयेगा तो मिलकर क्रीड़ा करेगा और मरेगा तो दोनों साथ मरेंगे। ईश्वर करे तुम्हारे जीव को कुछ न हो, जो कुछ होना हो मेरे जीव के लिए हो।

२५. रत्नसेन-सूली खण्ड

[२६०]

बाँधि तपा आने जहँ सूरी । जुरे आइ सब सिंघलपूरी ।।
पहिलें गुरू देइ कहँ आना । देखि रूप सब कोउ पछिताना ।।
लोग कहहिं यह होइ न जोगी । राजकुँवर कोइ अहै बियोगी ।।
काहू लागि भएउ है तपा । हिएँ सो माल, करै मुख जपा ।।
जोगी केर करहु पैं खोजू । मकु यह होइ न राजा भोजू* ।।
जस मारइ कहँ बाजा तूरू । सूरी देखि हंसा मंसूरू ।।
चमके दसन भएउ उँजियारा । जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा ।।

सब पूँछहिं कहु जोगी, जाति जनम औ नावँ ।
जहाँ ठाँव रोवै कर, हँसा सो कौने भावँ ।। २६० ।।

शब्दार्थ—तपा=तपस्वी, जोगी । आने=लाये । सूरी=शूली । सिंहलपूरी=सिंघलपुर के रहने वाले । देइ=शूली देने के लिए । मकु=कदाचित् । मंसूरू=मंसूर नाम का सूफी जो अनलहक (सोऽहं) का उपदेश करता था और हँस-हँस कर शूली पर चढ़ा था । दसन=दशन, दाँत । बीजु=बिजली ।

अर्थ—सब जोगियों को बन्दी बनाकर वहां ले आये जहाँ शूली थी । सभी सिंहल के पुरवासी वहाँ पर एकत्र हो गये । सबसे पहले जोगियों के गुरु रत्नसेन को शूली देने के लिए लाये । उसके अपूर्व सौन्दर्य को देखकर सभी पुरवासी पछताने लगे । लोग आपस में कहने लगे यह तो जोगी नहीं है, कोई राजकुमार है और किसी के प्रेम में वियोगी हुआ है, किसी के लिए तपस्वी हुआ है, हृदय में माला रखता है और हाथों तथा मुख से नाम जप रहा है । इस जोगी का पता लगाना चाहिए कदाचित् यह राजा भोज हो । ज्योंही मारने के लिए तुरही बजी, रत्नसेन उस प्रकार हर्षित हुआ जैसे मंसूर शूली देखकर हर्षोत्फुल्ल हो गया था । उसके दाँत चमके जिससे प्रकाश हुआ जो जहाँ था उसे वहीं बिजली लगी । सभी लोग पूछने लगे कि जोगी बताओ तुम्हारी जाति क्या है, तुम कहाँ जन्मे और तुम्हारा नाम क्या है, जिस जगह रोना चाहिए वहाँ किस कारण हँसे हो ।

---

*भोजू—राजा भोज का जायसी ने अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है । डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसका अर्थ भोग करने वाला राजा लिया है । संस्कृत की दृष्टि से भुञ्ज धातु का अर्थ भोग के लिए होता है किन्तु जायसी का ऐसा तात्पर्य प्रतीत नहीं होता । आगे चलकर जिस प्रकार मंसूर का कथन है उसी प्रकार राजा भोज का भी उल्लेख प्रतीत होता है ।

[२६१]

का पूँछहु अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपा भिखारी ।।
जोगिहि जाति कौन हो राजा। गारि न कोह, मार नहिं लाजा ।।
निलज भिखारि लाज जेहिं खोई। तेहि के खोज परहु जनि कोई ।।
जाकर जीव मरै पर बसा। सूरी देखि सो कस नहिं हँसा ।।
आजु नेह सौं होइ निबेरा। आजु पुहुमि तजि गँगन बसेरा ।।
आजु कया पिंजर बँध टूटा। आजु परान-परेवा छूटा ।।
आजु नेह सों होइ निरारा। आजु पेम सँग चला पियारा ।।
आजु अवधि सिर पहुंची कै, सो चलेउँ मुख रात।
बेगि होहु मोहि मारहु, का पूँछहु अब बात ।। २६१ ।।

शब्दार्थ—गारि=गाली पर। कोह=क्रोध। मरै पर=मरने पर। बसा=स्थित है। निबेरा=छुट्टी। पुहुमि=पृथ्वी। निरारा=न्यारा, अलग। सिर पहुँची=पूरी हुई। रात=लाल। बेगि होहु=जल्दी करके।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि अब तुम हमारी जाति के विषय में क्या पूछ रहे हो? हम तो जोगी, तपस्वी, भिखारी हैं। हे राजा! भक्त जोगी की कौन सी जाति होगी। उसे न तो गाली सुनने पर क्रोध लगता है और न मार खाने पर लज्जा ही आती है। जो लज्जा को खोकर निर्लज्ज बनता है वही भिखारी होता है, उसकी खोज-बीन में कोई न पड़े। जिसका जीव मरने पर ही लगा है वह भला शूली देखकर क्यों न हँसेगा? आज प्रेम के कष्टों से छुट्टी मिली। आज पृथ्वी छोड़कर आकाश (स्वर्ग) में स्थान मिला। आज शरीर रूपी पिंजर का बन्धन छूट जायेगा। आज प्राण रूपी पक्षी छूट गया। आज प्रेम से मुक्त होकर जीव प्यारे के साथ चला। आज अवधि पूरी हो गई। अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक लाल मुख करके चल रहा हूँ, इसलिए जल्दी इसे और मुझे मार दो, अब बात क्या पूछ रहे हो।

नोट—अन्तिम दोहे में रत्नसेन की वही विह्वलता स्पष्ट है जो मंसूर को या सर टामस मोर को शूली पर चढ़ने के पूर्व हुई थी। भौतिक शरीर के त्याग के साथ ब्रह्म के अमर मिलन की उत्कण्ठा है।

[२६२]

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा। हम तोहिं करहिं केत कर भँवरा ।।
कहेसि ओहि सँवरौं हर फेरा। मुएँ जिअत आहौं जेहि केरा ।।
औ सँवरौं पदुमावति रामा। यह जिउ निवछावरि जेहि नामा ।।
रकत के बूँद कया जत अहहीं। पदुमावति पदुमावति कहहीं ।।
रहहुँ त बुंद बुंद महँ ठाऊँ। परहुँ तौ सोई लै लै नाऊँ ।।
रोवँ रोवँ तन तासौं ओधा। सोतहि सोत बेधि जिउ सोधा ।।
हाड़ हाड़ महं सबद सो होई। नस नस माँह उठै धुनि सोई ।।

खाइ बिरह गा ताकर, गूद माँस की खान।
हौं होइ साँचा धरि रहा, वह होइ रूप समान ॥ २६२ ॥

शब्दार्थ—संवरु=स्मरण करो। केत=केतकी। हरफेरी=हर बार। आहौं=हूं। रामा=स्त्री। जत=जितनी। अहहीं=हैं। ओधा (आबद्ध)=उलझा। (सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाय सिख ओधे। - तुलसी) सोधा=शुद्ध किया, यह कल्पना मोती शुद्ध करने की प्रक्रिया से ली गई है जिसमें चाँदी चलनी या झंझरी की भाँति हो जाती है। गूद=गूदा, मज्जामांस। सांचा=ढाँचा, ठठरी। समान=समाई।

अर्थ—मारने वालों ने कहा कि जिसे स्मरण करना चाहो उसे अब स्मरण कर लो। अब तुम्हें केतकी का भँवरा बनाने जा रहे हैं अर्थात् जैसे भौंरा केतकी के काँटे में बिंध कर मरता है उसी प्रकार हम तुम्हें शूली में बाँधकर मारेंगे। इस पर रत्नसेन ने उत्तर दिया कि मैं तो हर श्वास में उसी (पद्मावती) को स्मरण करता हूँ जिसका मरते हुए या जीते हुए सदा ही हूँ। मैं तो उस सुन्दरी पद्मावती का स्मरण करता हूं जिसके नाम पर मेरा यह जीवन निछावर है। जब तक इस शरीर में खून की एक बूंद भी है, मैं तो पद्मावती का ही नाम लूंगा। यदि मैं जीवित रहूंगा तो शरीर की एक-एक बूंद रक्त में उसका स्थान है, यदि मरूंगा तो भी उसी का नाम ले ले कर मरूंगा। मेरा तो रोम-रोम उसी से उलझा हुआ है, रोमों के छिद्र-छिद्र में बिंध कर जीव पवित्र हुआ है। शरीर की एक-एक हड्डी में उसी का शब्द निकलता और नस-नस में वही ध्वनि निकलती है। उसके विरह ने हमारे शरीर के मांस और गूदे के कोष को खा लिया है, मैं तो उसी का साँचा (ठठरी) मात्र रह गया हूं; रूप बनकर तो वही समाई हुई है।

नोट—इस पद के पश्चात् पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में तीन पद हैं जिन्हें डा० माताप्रसाद जी अप्रामाणिक सिद्ध करते हैं। पद इस प्रकार हैं—

जोगिहिं जबहिं गाढ़ अस परा। महादेव कर आसन टरा ॥
वै हँसि पारवती सों कहा। जानहुँ सूर गहन अस गहा ॥
आजु चढ़े गढ़ ऊपर तपा। राजै गहा सूर तब छपा ॥
जग देखैगा कौतुक आजू। कीन्ह तपा मारै कहँ साजू ॥
पारवती सुनि पाँयन्ह परी। चलि, महेस ! देखैं एंहि घरी ॥
भेंस भाँट भाँटिनि कर कीन्हा। औ हनुवन्त बीर संग लीन्हा ॥
आए गुपुत होइ देखन लागी। वह मूरति कस सती सभागी ॥

कटक असूझ देखि कै, राजा गरब करेइ।
दैउ क दसा न देखै, दहुँ का कहं जय देइ ॥

जब रत्नसेन पर संकट पड़ा तो महादेव का आसन डोल गया, उन्होंने हंसकर पार्वती से कहा कि मालूम होता है सूर्य को ग्रहण लगना चाहता है, सूर्यरूपी रत्नसेन छिप गया है।

आज सारा संसार खेल देखेगा क्योंकि तपस्वी को मारने की तैयारी की गई । यह सुनकर पार्वती ने शंकर से कहा कि शंकर जी इस घड़ी चलकर देखें। उन लोगों ने भांट भांटिनी का रूप धारण कर हनूमान् वीर को साथ लिया और गुप्तरूप में उस सत वाले भाग्यवान् राजा के दर्शन करने लगे। राजा अपनी असंख्य सेना देखकर घमंड करता था पर कौन जाने कि परमेश्वर किसको विजय देगा।

आसन लेइ रहा होइ तपा। 'पदमावति पदमावति' जपा ।।
मन समाधि तासौं धुनि लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी ।।
रहा समाइ रूप औ नाऊँ। और न सूझ बार जहँ जाऊँ ।।
औ महेस कहँ करौं अदेसू। जेइ यह पन्थ दीन्ह उपदेसू ।।
पारबती पुनि सत्य सराहा। औ फिरि मुख महेस कर चाहा ।।
हिय महेस जौं, कहै महेसी। कित सिर नावहिं ए परदेसी ? ।।
मरतहु लीन्ह तुम्हारहि नाऊँ। तुम्ह चित किए रहे एहि ठाऊँ ।।
मारत हो परदेसी, राखि लेहु एहि बीर।
कोइ काहू कर नाहीं, जो होइ चलै न तीर ।।

आसन लगाकर रत्नसेन 'पद्मावती पद्मावती' जपने लगा। समाधि में मग्न हो गया। क्योंकि उसी के दर्शन के लिए वैरागी बना था। अब तो मेरे हृदय में उसी का नाम और रूप समाया है और कुछ मुझे नहीं सूझता। शंकर जी के आदेश पर उन्हीं के बताये पथ पर चल रहा हूँ। पार्वती ने उस सत्य की सराहना की और शंकर से कहा कि फिर ये परदेशी क्यों किसी को सिर नवाये जब कि मरते हुए भी तुम्हारा ही नाम लेता है। इस परदेशी को लोग मार रहे हैं, तुम इस वीर की रक्षा करो। यदि कोई किसी की सहायता न करे तो इस संसार में कोई किसी का नहीं है।

लेई संदेश सुअटा गा तहाँ। सूरी देहिं रतन कहँ जहाँ ।।
देखि रतन हीरामन रोवा। राजा जिउ लोगन्ह हठि खोवा ।।
देखि रुदन हीरामन केरा। रोवहिं सब राजा मुख हेरा ।।
माँगहिं सब बिधना सों रोई। कै उपकार छोड़ावै कोई ।।
कहि सँदेस सब बिपति सुनाई। बिकल बहुत, किछु कहा न जाई ।।
काढ़ि प्रान बैठि लेइ हाथा। मरै तो मरौं जिओं एक साथा ।।
सुनि सँदेस राजा तब हँसा। प्रान प्रान घट घट महँ बसा ।।
सुअटा भाट दसौंधी, भए जिउ पर एक ठाँव।
चलि सो जाइ अब देख तहँ, जहँ बैठा रह राव ।।

तोता पद्मावती का संदेश लेकर वहां गया जहाँ रत्नसेन को लोग शूली दे रहे थे। तोता राजा को देखकर रोने लगा कि हठपूर्वक ही वह और अनेक लोगों की भांति प्राण खो रहा

है। उसका रोना सुनकर सभी लोग रोने लगे और ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि किसी प्रकार राजा रत्नसेन छूट जाय। तोते ने पद्मावती के दुःख सुनाये और उसका संदेश सुनाया कि वह हाथ में अपने प्राण लिए बैठी है और निश्चय कर रखा है कि रत्नसेन मरेगा तो मैं मरूंगी और जियेगा तो जीवित रहूंगी। संदेश सुनकर राजा हँसा। उसके हृदय में प्राण का संचार हुआ। फिर तोते और दसौंधी भाट के रूप में शंकर जी जान की बाजी लगा कर वहां को चले जहाँ राजा गंधर्वसेन बैठा था।

[२६३]

राजा रहा दिस्टि किए औंधी। सहि न सका तब भाँट दसौंधी॥
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी। पुरुष न आछहिं बैठि पेटारी॥
कान्ह कोप कै मारा कंसू। गूँग कि फुँक न बाजइ बंसू॥
गंध्रपसेनि जहाँ रिस बाढ़ा। जाइ भाँट आगें भा ठाढ़ा॥
ठाढ़ देखि सब राजा राऊ। बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ॥
गंध्रपसेनि तूँ राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा॥
जोगी पानि, आगि तुइँ राजा। आगिहि पानि जूझ नहिं छाजा॥
अगिनि बुझाइ पानि सौं, तूँ राजा मन बूझू।
तोरें बार खपर है लीन्हे, भिख्या देहु न जूझु॥ २६३॥

शब्दार्थ—औंधी=नीचे मुख। दसौंधी=भाटों का एक नाम—दशबुद्धि=पुराण, न्याय मीमांसा, वेदाङ्ग और छः वेदाङ्ग, इन दस विषयों में बुद्धि रखने वाला। मेलिकै=लेकर। आछहिं=शोभा देना। पेटारी=मंजूषा। बंसू=वंशी। ठाढ़ा=खड़ा हुआ। बरम्हाऊ=ब्राह्मण का आशीर्वाद। कहा=कहना। जूझ=युद्ध।

अर्थ—राजा गंधर्वसेन नीची दृष्टि किए हुए बैठा था, उसकी इस उदासीनता को दसौंधी भाट सह न सका। हाथ में कटार लेकर उसने कहा—पुरुष मंजूषा में बैठा हुआ शोभा नहीं पाता। कृष्ण ने क्रोध करके कंस को मार डाला था। क्या गूंगे की फूंक से वंशी नहीं बजती। भाव यह है कि भाट अपने आप कहने लगा कि चुप बैठे रहने से क्या होगा, हमारे अन्दर उसी प्रकार शक्ति है जैसे गूंगे में वंशी बजाने की होती है। मैं भी उत्साह करके बड़ा कार्य कर सकता हूँ। जहाँ गंधर्वसेन राजा क्रोध में भरा हुआ बैठा था वहीं जाकर वह खड़ा हो गया। उसके पास बहुत से राजा-राव खड़े थे। उन्हें देखकर भी इस ब्राह्मण ने बांए हाथ से आशीर्वाद दिया, वाँए हाथ से आशीर्वाद देने का अर्थ राजा के प्रति क्रोध और विरोध प्रकट करना हुआ—फिर उसने कहा कि हे गंधर्वसेन! तू तो बड़ा राजा है, मैं शंकर की मूर्ति के रूप में हूँ, तुम मेरा कहना मानो। जोगी तो पानी है, तू राजा अग्नि रूप है। अग्नि और जल का युद्ध नहीं सोहता। अग्नि तो पानी से बुझ जायगी, इसे तू अपने मन में समझ ले। इसलिए वह जोगी तेरे द्वार पर खप्पर लेकर भिक्षा मांग रहा है, उसे भिक्षा दे दो। भाव यह है कि योगी सत वाला है, अहिंसावादी है, उसमें त्याग, तपस्या और क्षमा का बल है। तू हिंसा और सैन्य बल

से उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसलिए अच्छा होगा यदि उसकी मांगी हुई भिक्षा पद्मावती उसे दे दो।

नोट—छठी पंक्ति—"गंध्रपसेनि तू राजा महा। हौं महेस मूरति सुन कहा॥" कई प्रतियों में नहीं है। इसके स्थान पर पंचम पंक्ति इस प्रकार है—बोला गंध्रपसेन रिसाई। कस जोगी वश भाट असाई।" असाई=बेढंगा।

[२६४]

जोगि न आहि, आहि सो भोजू। जानै भेद करै सो खोजू॥
भारथ होइ जूझ जों ओधा। होंहि सहाइ आइ सब जोधा॥
महादेव रन घंट बजावा। सुनि कै सबद ब्रह्मा चलि आवा॥
चढ़े अत्र लै किस्न मुरारी। इंद्रलोक सब लाग गोहारी॥
फनपति फन पतार सों काढ़ा। अस्टौ कुरीं नाग भा ठाढ़ा॥
तैंतिस कोटि देवता साजा। औ छयानवे मेघ दर गाजा॥
छप्पन कोटि बैसन्दर बरा। सवा लाख परबत फरहरा॥
नवौ नाथ चलि आवहिं, औ चौरासी सिद्ध।
आजु महा रन भारथ चले, गँगन गरुड़ औ गिद्ध। २६४॥

शब्दार्थ—भारथ=युद्ध (महाभारत)। ओधा=ठाना। अत्र=अस्त्र। गोहारी=सहायता। अस्टौ कुरी=आठों कुल। बैसंदर=वैश्वानर अग्नि। बरा=जला। नवौं नाथ=नाथ पन्थी साधुओं के नववर्ग।

अर्थ—भाट रूप में महेश कहते हैं कि वह जोगी नहीं है, राजा भोज है जो उसकी खोज करेगा, वही यह भेद जानेगा। यदि तुम युद्ध करने की ठानते हो तो समझ लो कि महाभारत (भयंकर युद्ध) होगा। सभी योद्धा आकर सहायता करेंगे। ऐसा कहकर महादेव जी ने रण का घंटा बजाया। उसे सुन कर ब्रह्मा आ गए। अस्त्र लिए हुए कृष्ण जी आ गये, सारा इन्द्रलोक भी सहायता के लिए दौड़ पड़ा। शेषनाग ने पाताल से अपना फन निकाला, आठों कुल के साँप उपस्थित हो गये। तें तीसों करोड़ देवताओं ने तैयारी कर ली। छियानवे करोड़ बादल गरजने लगे। छप्पन करोड़ प्रकार की अग्नि जल उठी। सवा लाख पहाड़ फड़क उठे। नाथ सम्प्रदाय के नवों वर्ग और सिद्धों के चौरासी वर्ग सब के सब आ पहुँचे। आज भयंकर युद्ध होगा क्योंकि आकाश में गरुड़ और गिद्ध मंडराने लगे।

नोट—जायसी ने इस पद में अपने सुने-सुनाये ज्ञान के आधार पर हिन्दुओं के सभी मत-मतान्तरों से सम्बन्धित देव एकत्रित कर दिए हैं।

(कहीं का पत्थर कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा।)

[२६५]

भै अग्यां को भाँट अभाऊ। बाएं हाथ देइ बरम्हाऊ॥
को जोगी अस नगरी मोरी। जो दै सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी॥

इंद्र डरै निति नावै माथा। किरसुन डरै सेस जेइँ नाथा॥
बरम्हा डरै चतुर मुख जासू। औ पातार डरै बलि बासू॥
धरति डरै औ मंदर मेरू। चन्द्र सूर औ गँगन कुबेरू॥
मेघ डरहिं बिजरी जहँ डीठी। कुरुम डरै धरनी जेहि पीठी॥
चहौं तो सब माँगौं धरि केसा। और को कीट पतंग नरेसा॥
बोला भाँट, नरेस सुनु, गरब न छाजा जीवँ।
कुंभकरन की खोपरी, बूड़त बाँचे भीवँ॥ २६५॥

शब्दार्थ--अभाऊ=आदर भाव न जाननेवाला, अशिष्ट। बरह्माऊ=आशीर्वाद। मेरू=सुमेरु पर्वत। कुरुम=कूर्म, कच्छप भगवान्। भीवँ=भीम। कुम्भकरन कीखोपरी=कहा जाता है कि एक बार भीम को अपने बल का बड़ा गर्व हुआ। वे चलते हुए ठोकर खाकर एक गढ्ढे में गिर पड़े उसमें डूबने लगे तो लोगों ने बड़ी कठिनाई से उन्हें बचाया। वह गड्ढा कुम्भ-कर्ण की खोपड़ी में जल भर जाने से बन गया था, यह जान कर भीम का गर्व दूर हो गया।

अर्थ—राजा की आज्ञा हुई कि यह कैसा अशिष्ट भाट है, बांए हाथ से आशीर्वाद दे रहा है? कौन ऐसा जोगी है जो मेरी नगरी में रह कर सेंध देकर गढ़ में चोरी करना चाहे? इन्द्र तो मुझसे डरता है और नित्य मुझे माथा नवाता है। जिस कृष्ण ने कालिय नाग को नाथा, वह तो मुझसे डरता है। जिसके चार मुख हैं, वह ब्रह्मा भी मुझसे डरता है, वामन, बलि और वासुकि भी डरते हैं। पृथ्वी डरती है, मंदराचल, सुमेरु, चन्द्र, सूर्य, आकाश और कुवेर सब डरते हैं। बादल जिसके अन्दर बिजली चमकती है, तथा कच्छप जिसकी पीठ पर पृथ्वी है, सभी डरते हैं। चाहूं तो इन सब को केश पकड़ कर सब कुछ माँग लूँ तो फिर राजा तो कीट-पतंगे हैं।

भाट बोला कि हे राजा! सुनो। मनुष्य को गर्व नहीं शोभा देता। कुम्भकर्ण जैसे महाबली की खोपड़ी में भीम जैसा वीर भी डूबते-डूबते बचा था।

नोट—पता नहीं, राजा गंधर्वसेन का वर्णन करते हुए जायसी की क्या कल्पना थी—रावण से भी बढ़ाने का प्रयत्न किया है।

[२६६]

रावन गरब बिरोधा रामू। औ ओहिं गरब भएउ सग्रामू॥
तेहि रावन अस को बरिबंडा। जेहि दस सीस, बीस भुअडंडा॥
सूरज जेहि कै तपै रसोई। बैसंदर निति धोती धोई॥
सूक सोंटिया, ससि मसिआरा। पवन करै निति बार बुहारा॥
मीचु लाइ कै पाटी बाँधा। रहा न दोसर ओहि सौं काँधा॥
जो अस बजर टरै नहिं टारा। सोउ मुआ, तपसी कर मारा॥
नाती पूत कोटि दस अहा। रोवन हार न एकौ रहा॥

श्रोछ जानि कै काहूँ, जनि कोइ गरब करेइ ।
श्रोछे पारइ दैय है, जीत पत्र जो देइ ॥ २६६ ॥

शब्दार्थ—बरिबंडा=बलवंत, बली । भुश्रडंडा=भुजदंडा-भुजाएँ । बैसंदर =वैश्वानर-अग्निदेव । सूक=शुक्राचार्य । सोंटिया=सोटा (छड़ी) बरदार, द्वारपाल-पाठान्तर-सुमंता=सलाहकार । मसिश्रारा=मशालची । बार=द्वार । बुहारा=झाड़ू देना । मीचु=मृत्यु । लाइ कै=लाकर । पाटी=चारपाई की पट्टी । दोसर=दूसरी । काँधा=कंधा लेने वाला, बराबरी करने वाला । श्रोछ=छोटा । पारइ=पार करता है । दैय=ईश्वर ।

श्रर्थ—भाट का ही कथन इस पद में भी है, इसमें वह गर्व की निर्मूलता सिद्ध कर रहा है—

रावण ने गर्व के कारण ही राम का विरोध किया श्रौर उसी घमण्ड के परिणाम स्वरूप ही राम-रावण-संग्राम हुश्रा । उस रावण के सदृश बली श्रौर कौन होगा, जिसके दश सिर श्रौर श्रौर बीस भुजायें थीं । सूर्य उसकी रसोई को गर्म करता था श्रौर श्रग्नि उसकी धोती धोता था । शुक्राचार्य उसके दरवान श्रौर चन्द्रमा उसका मशालची था । पवनदेव नित्य उसके दरवाजे पर झाड़ू देते थे । उसने मृत्यु को लाकर श्रपनी चारपाई में बाँध रक्खा था । कोई भी उसकी बराबरी के योग्य न था । इस प्रकार वज्र के समान श्रटल रावण भी तपस्वी (राम) के द्वारा मारा गया । उसके पुत्र-पौत्रादि दस करोड़ थे, पर एक भी रोने को न रहा । इसलिए किसी को छोटा समझ कर कोई गर्व न करे । छोटे को परमेश्वर पार करता है, जो कि विजय-पत्र का देने वाला है ।

व्यंजना यह है कि यद्यपि तू रावण के समान प्रतापी है । पर इस तपस्वी रत्नसेन से गर्ववश विरोध न ठान, इसके विरोध में तेरा नाश निश्चित है ।

[२६७]

श्रो जो भाँट उहाँ हुत श्रागें । बिनै उठा राजहिं रिसि लागें ॥
भाँट श्राहि ईसुर कै कला । राजा सब राखहिं श्ररगला ॥
भाँट मीचु श्रापुनि पै दीसा । तासौं कौन करै रस रीसा ॥
भएउ रजाएसु गंध्रपसेनी । काह मीचु कै चढ़ा निसेनी ॥
काह श्रवनि पाएँ श्रस मरसी । करसि बिटंड भरम नहिं करसी ॥
जाति करा कत श्रोगुन लावसि । बाएँ हाथ राज बरम्हावसि ॥
भाँट नाउँ का मारौं जीवाँ । श्रबहूँ बोल नाइ कै गीवाँ ॥
तुइँरे भाँट, यह जोगी, तोहि एहि कहाँ क संग ।
कहाँ छरै श्रस पावा, काह भएउ चित भंग ॥ २६७ ॥

शब्दार्थ—हुत=था । बिनै उठा=विनय करने लगा । श्राहि=है । ईसुर=ईश्वर । .रगला=रोक, प्रतिबन्ध । रस रीसा=रस का विरस होना, क्रोध । निसेनी=सीढ़ी ।

मरसी=मरते हो। बिटंड=वितंडावाद, उपद्रव। बरम्हावसि=आशीर्वाद देते हो। छरं=छल। चितभंग=अशान्ति, विक्षिप्तता।

अर्थ—और वहाँ राजा का जो दूसरा भाट आगे खड़ा था, राजा को क्रुद्ध देख कर बिनती करने लगा कि हे राजा! भाट तो ईश्वर का अंश है। भाट तो अपनी मृत्यु स्वयं देखता रहता है अर्थात् वह तो मरने के लिए सदा तैयार रहता है। ऐसे व्यक्ति से भला कौन क्रोध कर सकता है? तब राजा गंधर्वसेन की आज्ञा हुई कि हे भाट! मृत्यु की सीढ़ी पर क्यों चढ़ रहे हो। पृथ्वी में जन्म को पाकर इस प्रकार क्यों मर रहे हो? व्यर्थ में एक वितंडावाद मात्र ही कर रहे हो, तुझे भ्रम हो गया है। अपनी जाति की कला में क्यों अवगुण (दोष) उत्पन्न कर रहे हो? बायें हाथ से राजा को आशीर्वाद देते हो। तुम भाट हो, तुम्हारे जीव को क्या मारूँ। अब भी तू गर्दन झुका कर अर्थात् नम्र होकर बोल। तू तो भाट है और यह एक योगी है। तेरा इसके साथ कहाँ का साथ है। तू इस प्रकार कैसे छला गया है, तेरा चित्त कैसे अशान्त है?

[२६८]

जो सत पूँछहु गंध्रप राजा। सत पै कहौं परै किन गाजा॥
भाँटहि काह मीचु सों डरना। हाथ कटारि, पेट हनि मरना॥
जंबू दीप औ चितउर देसू। चित्रसेनि बड़ तहाँ नरेसू॥
रतनसेनि यहु ताकर बेटा। कुल चौहान जाइ नहिं मेंटा॥
खाँड़ै अचल सुमेर पहारू। टरै न जौं लागै संसारू॥
दान सुमेरू देत नहिं खाँगा। जो ओहि माँग न औरहि माँगा॥
दाहिन हाथ उठाए ताही। और को अस बरम्हावउँ जाही॥
नाउँ महापातर मोहि, तेहिक भिखारी ढीठ॥
जौं खरि बात कहें रिस लागै, खरि पै कहै बसीठ॥ २६८॥

शब्दार्थ—गाजा=वज्र। हनि=मार कर। खाँगा=कम हुआ। महापातर=महापात्र (भाटों की एक पदवी)। खरि=कटु सत्य। बसीठ=दूत।

अर्थ—भाट ने कहा कि हे राजा गन्धर्वसेन! यदि तुम सत्य पूछते हो तो मैं सत्य ही कहूँगा चाहे मुझ पर वज्र ही क्यों न गिरे। भाट को मृत्यु से क्या डर है? वह तो हाथ में तलवार रखता है और पेट में मार कर उसे मरना होता है, भाव यह कि सत्यवादिता के कारण भाट तो स्वयं अपनी मृत्यु का आवाहन करता है। भाट ने कहा कि जम्बू द्वीप में चित्तौड़ देश है। वहाँ का राजा चित्रसेन महान् राजा हुआ है। यह रत्नसेन नामक उसी का पुत्र है। इसका वंश चौहान है और इसे कोई मिटा नहीं सकता। तलवार चलाने में यह ऐसा अटल है जैसे सुमेरु पर्वत, चाहे संसार इसके विरुद्ध लग जाय पर यह टाले नहीं टल सकता। दानी ऐसा हैं कि सुमेरु पर्वत के समान दान देने में भी इसको कुछ कमी नहीं पड़ती। जो व्यक्ति इससे माँग लेता है वह औरों के सामने दुबारा नहीं माँगता, भाव यह कि

रत्नसेन उसे सदा के लिये अयाचक कर देता है। मैं अपना दाहिना हाथ उसी के लिये उठा चुका हूँ, अब और कौन उसके समान है जिसे मैं आशीर्वाद दूँ। मुझे महापात्र की पदवी उससे मिली है, मैं केवल उसी का धृष्ट भिखारी हूँ। यद्यपि खरी बात कहने पर सुनने वाले को क्रोध लगता है पर दूत तो सदा खरी बात ही कहेगा।

इस छन्द के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में पाँच पद और हैं जिन्हें डा० माताप्रसाद जी गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। पदों के देखने से प्रतीत होता है कि डा० गुप्त का निर्णय समीचीन है। प्रथम पद निम्नलिखित है। इसमें अनेक पुनरुक्तियाँ हुई हैं जैसे; अपना और रत्नसेन का परिचय—

ततखन पुनि महेस मन लाजा। भाँट करा होइ विनवा राजा॥
गन्ध्रवसेन तु राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा॥
जौ पै बात होइ भलि आगे। कहा कहिय, का भा रिसि लागे॥
राजकुँअर यह, होहि न जोगी। सुनि पदमावति भएउ बियोगी॥
जंबू दीप राज घर बेटा। जो है लिखा सो जाइ न मेटा॥
तुम्हरहि सुआ जाइ ओहि आना। औ जेहि कर बर कै तेहि माना॥
पुनि यह बात सुनि सिवलोका। करसि बियाह धरम है तोका॥
माँगै भीख खपर लेइ, मुए न छाँड़ै बार॥
बूझहु कनक कचोरी, भीखि देहु नहिं मार॥

द्वितीय पद में २६५ वें पद की बातें दुबारा कही गयी हैं। उस पद में गन्धर्वसेन ने कहा है कि इन्द्र, कृष्ण, ब्रह्मा, बलि, बासुकि, धरती, मंदर, मेरु, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, मेघ, कूर्म आदि सभी उससे डरते हैं फिर उसके सामने कीट पतङ्ग ऐसे राजा क्या हैं—इस पद में भी वह कहता है कि सुर-नर, मुनि, गन्धर्व और देवता सब उसकी सेवा करते हैं तो फिर किस में सामर्थ्य है जो उसकी बराबरी करे। पद इस प्रकार हैं—

ओहट होहु रे भाँट भिखारी। का तू मोंहि देहि असि गारी॥
को मोंहि जोग जगत होइ पारा। जा सहुँ हेरौं जाइ पतारा॥
जोगी जती आव जो कोई। सुनतहि आसमान भा सोई॥
भीख लेहिं फिरि माँगहिं आगे। ए सब रैनि रहे गढ़ लागे॥
जस हींछा, चाहौं तिन्ह दीन्हा। नाहिं बेधि सूरी जिउ लीन्हा॥
जेहि अस साध होइ जिउ खोवा। सो पतङ्ग दीपक अस रोवा॥
सुर नर मुनि सब गन्ध्रब देवा। तेहि को गनै? करहिं निति सेवा॥
मोंसों को सरवरि करै? सुन रे झूठे भाँट।
छार होइ जो चालौं, निज हस्तिन कर ठाँट॥

तृतीय, चतुर्थ और पंचम पदों में अंगद और हनुमान् की अनावश्यक अवतारणा और योगियों के युद्ध का वर्णन है। मूल के छन्दों में रत्नसेन की ओर से अहिंसात्मक सत्याग्रह

प्रस्तुत किया गया है और आत्म-बलिदान का सिद्धान्त दिखाया गया है। इन छन्दों का युद्ध-वर्णन उस सूफी सिद्धान्त का निराकरण करता है। अतः इन पदों को प्रक्षिप्त मानना ही उचित है। पद इस प्रकार है—

जोगी घिरि मेले सब पाछे। उरए माल आए रन काछे॥
मन्त्रिन्ह कहा सुनहु हो राजा। देखहु अब जोगिन्ह कर काजा॥
हम जो कहा तुम करहु न जूझू। होत आव दर जगत असूझू॥
खिन एक महँ झुरमुट होइ बीता। दर महँ चढ़ि जो रहै सो जीता॥
कै धीरज राजा तब कोपा। अङ्गद आइ पाँव रन रोपा॥
हस्ति पाँच जो अगमन धाए। तिन्ह अङ्गद धरि सूंड फिराए॥
दीन्ह उड़ाइ सरग कहँ गए। लौटि न फिरे, तहँहि के भए॥
देखत रहे अचंभौ जोगी, हस्ती बहुरि न आय।
जोगिन्ह कर अस जूझव, भूमि न लागत पाय॥

स्पष्ट है जोगियों का घेरना, अंगद का पाँव रोपना, हाथियों को सूँड पकड़कर उछालना आदि एक खिलवाड़ ही है। यद्यपि यह सब जायसी की पद्धति से विपरीत नहीं है।

कहहिं बात जोगी अब आए। खिनक माँह चाहत हैं भाए॥
जो लहि धावहिं अस कै खेलहु। हस्तिन केर जूह सब पेलहु॥
जस गज पेलि होहिं रन आगे। तस बगमेल करहु सँग लागे॥
हस्ति क जूह आय अगसारी। हनुवँत तबै लँगूर पसारी॥
जैसे सेन बीच रन आई। सबै लपेटि लँगूल चलाई॥
बहुतक टूटि भए नवखण्डा। बहुतक जाइ परे बरम्हण्डा॥
बहुतक भँवत सोइ अँतरीखा। रहे जो लाख भए ते लीखा॥
बहुतक परे समुद मँह, परत न पावा खोज।
जहाँ गरब तहँ पीरा, जहाँ हँसी तहँ रोज॥

पुनि आगे का देखै राजा। ईसर केर घण्ट रन बाजा॥
सुना संख जो विस्नु पूरा। आगे हनुमंत केर लँगूरा॥
लीन्हें फिरहिं लोक बरम्हण्डा। सरग पतार लाइ मृदमण्डा॥
बलि, वासुकि औ इंद्र नरिंदू। राहु नखत, सूरुज औ चन्दू॥
जांवत दानव राच्छस पुरे। आठों वज्र आइ रन जुरे॥
जेहि कर गरब करत हुत राजा। सो सब फिरि बैरी होइ साजा॥
जहवां महादेव रन खड़ा। सीस नाइ पायन्ह परा॥
केहि कारन रिसि कीजिए, हौं सेवक औ चेर॥
जेहि चाहिय तेहि दीजिय, बारि गोसाइं केर॥

इस प्रकार के युद्ध के अनावश्यक नाटक के पश्चात् फिर भाट दूत कार्य आरम्भ करता है—पुनि महेस अब कीन्ह बसीठी। पहिले करुइ, सोइ अब मीठी ॥—तात्पर्य यह कि ये पाँच पद कथावस्तु की दृष्टि से अनावश्यक हैं, इसीलिये प्रामाणिक प्रतियों में इनका स्थान न पाकर डा० माताप्रसाद जी ने अपनी ग्रन्थावली में इन छन्दों को रखा ही नहीं है। २६९वें पद में प्रथम अर्धाली कुछ भिन्न है, क्योंकि इसमें भाट २६८वें पद के सिलसिले में ही कह रहा है, पर प्रक्षिप्त ५ पदों के आ जाने पर बीच में युद्ध का प्रसङ्ग था। अतः उसमें भाट को दुबारा बोलना था।

[२६९]

सोइ बिनती सिउँ करौं बसीठी। पहिलें करुइ, अंत होइ मीठी ॥
तूँ गंध्रप राजा जग पूजा। गुन चौदह, सिख देइ को दूजा ॥
हीरामनि जो तुम्हार परेवा। गा चितउर औ कीन्हेसि सेवा ॥
तेहि बोलइ पूँछहु वह देसू। वहुँ जोगी, का तहँ क नरेसू ॥
हमरें कहत रहै नहिं मानू। जो वह कहै सोइ परवानू ॥
जहाँ बारि, तहँ आव बरोकाँ। करं बियाह धरम सुठि तोकाँ ॥
जौं पहिलें मन मान त काँधिअ। परखिअ रतन गाँठ तब बाँधिअ ॥
रतन छिपाएँ ना छिपं, पारखि होइ सो परीख।
घालि कसौटी दोजिए, कनक कचोरी भीख ॥ २६९ ॥

शब्दार्थ—सिउँ=संग, साथ-साथ। करुइ=कड़वी। सिख=सीख, शिक्षा। परवानू=प्रमाण, ठीक। बारि=बाला। बरोकाँ=वररक्षा, (हिन्दुओं में वर-रक्षा की पद्धति है। कन्या पक्ष के लोग वर की रक्षा के लिए वररक्षा सगाई की रस्म होती है। मुसलमानों में वर की ओर से कन्या की मंगनी होती है। जायसी में संस्कारवश मुस्लिम-पद्धति का संकेत है कि जहाँ कन्या होती है वहीं वर-पक्ष वाले उसकी प्राप्ति के लिए प्रस्ताव करते हैं। पीछे पद-संख्या १२०।९ में भी इसी प्रकार का संकेत है)। काँधिअ=स्वीकार करो। परीख=परखता है। कनक कचोरी=सोने की कटोरी, वररक्षा में सोने की कटोरी में चावल भर कर उसको देने की पद्धति थी, अब कनक कटोरी के स्थान में थाल चला करता है।

अर्थ—भाट ने कहा कि साथ ही साथ मैं दूत की वह विनती करता हूँ, जो पहले तो कड़वी प्रतीत होती है, पर बाद में मीठी प्रतीत होती है। तू संसार में पूज्यमान राजा गन्धर्वसेन है, तुझ में चौदहों गुण हैं, दूसरा कौन तुम्हें सीख दे सकता है? हीरामनि तुम्हारा ही तोता है। वह चित्तौड़ गया था और रत्नसेन की सेवा की थी। उसे बुला कर चित्तौड़ देश के सम्बन्ध में पूछ-ताछ कर लो कि रत्नसेन योगी है या राजा है। मेरे कहने पर न मान बैठो, वह तोता जो कहे उसे ही ठीक मानो। फिर यह बात भी ठीक है, जहाँ कन्या होती है वहीं वररक्षा का आयोजन होता है, इसलिए तू विवाह कर दे, इसमें तुझे धर्म होगा।

यदि तेरा मन मान जाय, तब स्वीकार करो, पहले रत्न को परखो, फिर उसे गाँठ बाँधो। रत्न छिपाये से नहीं छिपता, पारखी उसे परख ही लेता है। कसौटी पर डाल कर पहले उसे कसो फिर जब सन्तुष्टि हो जाय तो उसे भिक्षा में सोने की कचौरी रूपी पद्मावती हो दे दो।

[२७०]

हीरामनि जौं राजैं सुना। रोस बुझान, हिएँ महँ गुना॥
अग्याँ भई बुलावहु सोई। पण्डित हुँतें धोख नहिं होई॥
एक कहत सहसक दस धाए। हीरामनिहि बेगि लै आए॥
खोला आगे आनि मँजूसा। मिला निकसि बहु दिन कर रूसा॥
अस्तुति करत मिला बहु भाँती। राजैं सुना भई हियँ साँती॥
जानहुँ जरत अगिनि जल परा। होइ फुलवारि, रहस हिय भरा॥
राजैं मिलि पूँछी हँसि बाता। कस तन पीत, भएउ मुख राता॥
चतुर बेद तुम्ह पंडित, पढ़े सास्तर बेद।
कहाँ चढ़े जोगी गढ़, आनि कीन्ह गढ़ भेद॥ २७०॥

शब्दार्थ—रोस=क्रोध। हुँतें=से। मंजूसा=पिंजरा। रूसा=रुष्ट। साँती=शान्ति। रहस=आनन्द।

अर्थ—जब राजा ने हीरामनि का नाम सुना तो उसका क्रोध दूर हो गया, उसने अपने मन में विचार किया। राजा की आज्ञा हुई कि हीरामनि को बुलाओ, क्योंकि पंडित से तो कभी धोका नहीं हो सकता। एक का नाम लेते ही हजारों आदमी दौड़ पड़े और हीरामनि को तुरन्त ले आये। लाकर राजा के सामने उसका पिंजरा खोल दिया। बहुत दिन का रुष्ट तोता निकल कर राजा से मिला। स्तुति करते हुए अच्छी प्रकार राजा से मिला। राजा ने उसके आशीर्वाद सुने तो उसे शान्ति मिली। मानो जलते हुए पर जल-वृष्टि हो जाय, उसका हृदय फुलवाड़ी के समान खिल कर आनन्दित हो गया। राजा ने मिलकर हंसीपूर्वक कहा कि तुम्हारा शरीर पीला, मुख लाल क्यों हो रहा है? तुम तो चारों वेद के पंडित हो, वेद-शास्त्र पढ़े हुए हो, बताओ कि ये जोगी लोग गढ़ पर कैसे चढ़े और क्यों इन्होंने हमारे किले में सेंध लगाई है?

[२७१]

हीरामनि रसना रस खोला। दई असीस औ अस्तुति बोला॥
इंद्र राज राजेसुर महा। सौंहें रिसि, किछु जाइ न कहा॥
पै जेहि बात होइ भल आगें। सेवक निडर कहै रिस लागें॥
सुवा सुफल अंब्रित पै खोजा। होइ न बिक्रम राजा भोजा॥
हौं सेवक तुम्ह आदि गोसाईं। सेवा करौं जियौं जब ताईं॥
जेइँ जिउ दीन्ह देखावा देसू। सो पै जिय महँ बसै नरेसू॥
जो ओहि सँवरै एकै तुँही। सोई पंखि जगत रतमुँही॥

नैन बैन औ सरवन बुद्धि, सबै तोर परसाद।
सेवा मोर इहै निति, बोलौं आसिरबाद ।। २७१ ।।

शब्दार्थ—राजेसुर=राजेश्वर। सौंहैं=सामने। बिक्रम=विक्रमादित्य। (इसकी मूल की अन्तरकथा नागमती सुआखंड में आ चुकी है जिसमें राजा ने अमृत फल को फेंकवा दिया था, क्योंकि उस पर अकस्मात् साँप का दंश लग गया था और उससे एक कुत्ता मर गया था। पर दूसरे फेंके हुए फल को खाकर बूढ़ा माली जवान हो गया था)। आदि=आरम्भ से, जन्म से। रतमुँही=लाल मुँह वाली। सरवन=श्रवण, कान।

अर्थ—हीरामनि ने अपनी रसयुक्त जीभ खोली और आशीर्वाद देकर राजा की प्रशंसा करने लगा। हे राजा! तुम बड़े राजेश्वर इन्द्र सदृश हो। तुम्हारे चेहरे पर क्रोध है इस डर से कुछ कहा नहीं जाता है। पर जिस बात से भविष्य में भलाई हो, उस बात को सेवक बेडर होकर कहता है। तोता तो अमृत फल ही खोज कर लाएगा, पर तू राजा विक्रमादित्य या भोज की भांति भूल न कर—अर्थात् जो अमृत सरिस बात मैं बताऊँगा वह भली है तू उसे भ्रमवश अनिष्टकर न समझ ले, जैसे कि विक्रम और भोज ने समझा था। मैं सेवक हूँ और तुम मेरे आरम्भ के मालिक हो। जब तक जिऊँगा आपकी सेवा करूँगा। जिसने जीवन दिया और देशों को दिखाया, हे राजा! वही परमेश्वर मेरे हृदय में बसा है। इस संसार में जो उस परमात्मा को "एक तू ही" कहता हुआ जीता है, वही पक्षी लाल मुख वाला (सुर्खरू) है। हे राजा! परमेश्वर ने मुझे जो नेत्र, वाणी, बुद्धि आदि दिये हैं, वह सब तेरी कृपा के फल के रूप में हैं। अतः मेरी तो आपके प्रति यही सेवा है कि मैं प्रतिदिन आशीर्वाद करूँ।

[२७२]

जो अस सेवक चह पति बसा। तेहिकि जीभ अंब्रित पै बसा ।।
तेहि सेवक के करमहि दोसू। सेव करत ठाकुर होइ रोसू ।।
औ जेहि दोख निदोखहि लागा। सेवक डरहि, जीव लै भागा ।।
जौं पंखी कहवाँ थिर रहना। ताकै जहाँ जाइ जौं डहना ।।
सपत दीप देखेउँ फिरि राजा। जंबू दीप जाइ पुनि बाजा ।।
तहँ चितउर गढ़ देखेउँ ऊँचा। ऊँच राज सरि तोहि पहूँचा ।।
रतनसेनि यहु तहाँ नरेसू। आएउँ लै जोगी कर भेसू ।।
सुवा सुफल पै आनै, है तेहि गुनमुख रात।
कया पोत अस तातें, सँवरौं बिक्रम बात ।। २७२ ।।

शब्दार्थ—तेहिकि=उसकी। कहवाँ=कहाँ। ताकै=देखता है। डहना=डैना, पंख। बाजा=सं० व्रज, प्रा० बज्ज=पहुँचा। सरि=बराबर। गुन=कारण। सँवरौं=याद करता हूँ।

अर्थ—जो सेवक अपने मालिक की ऐसी शुभ दशा चाहता है, उसकी जिह्वा पर

अमृत रहता है। पर उस सेवक के कर्म का ही दोष है, यदि सेवा करते हुए उसके स्वामी को क्रोध हो जाय। और फिर जहाँ निर्दोष को भी दोष लग जाय वहाँ तो बेचारा सेवक डरता है और अपना जीव लेकर भाग निकलता है। जो पक्षी है वह स्थिर कैसे रह सकता है, जब उसके पंख हैं तो जिधर ही देखता है चला जाता है। उसका भाव यह है, जब आपकी कुदृष्टि मिली तो मैं आपके यहाँ से किसी ओर चला गया था। हे राजा! मैंने सातों द्वीप घूम कर देख लिये और अन्त में जम्बू द्वीप पर जा पहुँचा। वहाँ मैंने ऊँचे चित्तौड़गढ़ को देखा, राज्य ऐसा ही ऊँचा है कि आपकी बराबरी का है। यह रत्नसेन वहीं का राजा है, इसे मैं जोगी का भेष बनवा कर ले आया। मैं इसको इसी प्रकार ले आया हूँ, जैसे विक्रमादित्य का हीरामनि तोता उसके लिए अमृत फल ले आया था। इस बात को महसूस कर कि श्रेष्ठ फल रूप रत्नसेन को ले आया हूँ, मेरा मुख लाल है, पर यह स्मरण करके कि जैसे विक्रमादित्य ने फल की परीक्षा में दैवात् उस पर पड़े हुए सर्प-विष के कारण विष-फल समझ कर तोते को मरवा डाला, मुझे भय लग रहा है और मेरा शरीर पीला हो गया है।

अलंकार—उपमा।

[२७३]

पहिलें भएउ भाँट सत भाखी। पुनि बोला हीरामनि साखी॥
राजहि भा निस्चौ मन माना। बाँधा रतन छोरि कै आना॥
कुल पूँछा चौहान कुलीना। रतन न बाँधे होइ मलीना॥
हीरा दसन पान रँग पाके। बिहँसत सबन्ह बीज बर ताके॥
मुंद्रा स्रवन मैन सो चाँपे। राजबैन उघरे सब झाँपे॥
आना काटर एक तुखारू। कहा सो फेरै, भा असवारू॥
फेरेउ तुरै, छतीसौ कुरी। सबहिं सराहा सिंघलपुरी॥

कुँअर बतीसौं लक्खना, सहस कराँ जस भान।
काह कसौटी कसिए, कंचन बारह बानि॥ २७३॥

शब्दार्थ—निस्चौ=निश्चय। बीज=बिजली। ताके=देखा। मैन=मोम। चाँपे=दबाये हुए। राजबैन=राजवाणी। उघरे=स्पष्ट हुए। झाँपे=ढके हुए। काटर=कट्टर। तुखारू=घोड़ा। तुरै=घोड़ा। छत्तीसौ कुरी=छत्तीस कुल के क्षत्रिय। बारहबानि=विशुद्ध सोना (इस शब्द का पीछे कई बार इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है)।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि पहले तो भाट ने राजा के सम्मुख सत्य वचन कहे थे, फिर हीरामनि उसकी बातों का साक्षी हुआ। ऐसा देखकर राजा को निश्चय हो गया, उसका मन मान गया। बधे हुये रत्नसेन को छुड़वाकर बुलवाया। रत्नसेन से पूछा तो मालूम हुआ कि वह चौहान बंश कुलीन राजपूत है। बांधने से रत्न मलीन नहीं होता, भाव यह कि जोगी

बनने और बन्दी बनाये जाने से रत्नसेन की श्री कम न हुई थी। उसके हीरे के समान दांत पान के रंग में पके थे। अर्थात् पान खाने से दांतों के बीच-बीच में पान का रंग था और बीच में सफेद दाँत चमक रहे थे। उसके मुस्कराने पर बिजली के समान सभी दाँतों को सब ने देखा। कान में मोम से चिपकाई हुई मुद्रा पहिने था। राजा की आज्ञा से उसके सभी ढके हुए राजचिह्न प्रकट किये गये। लोगों ने एक कट्टर घोड़ा ला दिया और कहा कि सवार होकर उसे फेर दो। उसने चढ़कर घोड़े को ऐसा फिराया कि छत्तीसों कुलों के सिंहलद्वीप के क्षत्रिय उसकी प्रशंसा करने लगे। राजकुमार रत्नसिंह बत्तीसों लक्षणों से युक्त था, सूर्य के सदृश सहस्रों किरणों से प्रकाशित था, ऐसे विशुद्ध बारहबानी सोने को भला कोई कसौटी पर क्या कसेगा ?

अलंकार——श्लेष, दृष्टान्त, उपमा।

[२०६]

देखि सुरुज बर कँवल सँजोगू। अस्तु अस्तु बोला सब लोगू॥
मिला सुबंस अंस उजियारा। भा बरोक और तिलक सँवारा॥
अनिरुध कहँ जो लिखी जैमारा। को मेटै, बानासुर हारा॥
आजु मिलै अनिरुध को ऊखा। देव अनन्द, दैतन्ह सिर दूखा॥
सरग सूर, भुइँ सरवर केवा। बन खँड भँवर होइ रस लेवा॥
पछिवँ क बार पुरुब की बारी। लिखी जो जोरी होइ न न्यारी॥
मानुस साज लाख मन साजा। साजा बिधि सोई पै बाजा॥
गए जो बाजन बाजते, जिन्हहि मारन रन माहँ।
फिरि बाजन तेइ बाजे, मंगलचार ओनाहँ॥ २७४॥

शब्दार्थ—अस्तु-अस्तु=हो, हो। बरोक=वररक्षा। जैमारा=जयमाला। ऊखा=उषा। सरग=स्वर्ग, आकाश। सूर=सूर्य। कँवर=कमल। पछिवँ=पश्चिम। बार=वर। बाजा=हुआ। ओनाहँ=उन्हीं के।

अर्थ—यह देखकर कि कमल (पद्मावती) के संयोग के लिए सूर्य (रत्नसेन) वर उचित है, सभी लोगों ने कहा कि "अवश्य हो, अवश्य हो।" सुन्दर वंश का उज्ज्वल अंश मिल गया। वररक्षा हुई और तिलक की तैयारी की गई। जब अनिरुद्ध को जयमाला लिखी थी तो उसे कौन मेट सकता था, आखिर बाणासुर को हारना ही पड़ा (उषा बाणासुर की कन्या और अनिरुद्ध की प्रेमिका थी, बाणासुर की हार के बाद उषा और अनिरुद्ध का विवाह हुआ था)। आज पद्मावती और रत्नसेन का ऐसा मेल हुआ कि जैसे उषा और अनिरुद्ध मिले थे। इस अवसर पर देवताओं को आनन्द हुआ और दैत्यों (दुष्टजनों) के सिर में पीड़ा हुई। कवि कहता है कि सूर्य आकाश में होता है और कमल भूमि पर तालाब में

होता है, पर प्रेम के कारण दोनों का संयोग होता है, इसी प्रकार भौंरा बनकर प्रेमी रस लेने पहुंच जाता है। पश्चिम का वर (रत्नसेन) और पूर्व की बाला (पद्मावती) थी, पर जब इनकी जोड़ी भाग्य में लिखी थी, तो उसे अलग कौन कर सकता था ? मनुष्य अनेक प्रकार की कल्पनायें मन में करता है, पर होता तो वही है जो परमेश्वर को मंजूर होता है। जो बाजे रण में रत्नसेन को मारने के हेतु बजते हुए गए थे वे ही उन्हीं के मंगलाचार में फिर बज उठे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, दृष्टान्त, विरोध।

नोट—शुक्ल जी की प्रति में एक छन्द और है पर इसे डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके प्रक्षिप्त मानने का कारण यह है कि इस छन्द में वररक्षा, तिलक आदि के दुबारा उल्लेख हुए हैं। पद इस प्रकार है—

बोल गोसाईं कर मैं माना। काह सो जुगुति उतर कहँ आना॥
मंसा बोल, हरष जिउ बाढ़ा। औ बरोक भा टीका काढ़ा॥
दुवौ मिले मनावा भला। सुपुरुष आपु-आपु कहँ चला॥
लीन्ह उतारि जाहि हित जोगू। जो तप करै सो पावै भोगू॥
वह मन चित जो एकै अहा। मारै लीन्ह न दूसर कहा॥
जो अस कोई जिउ पर छेवा। देवता आइ करहिं निति सेवा॥
दिन दस जीवन जो दुख देखा। भा जुग-जुग सुख जाइ न लेखा॥

रत्नसेन सँग बरनौ, पद्मावती क बियाह।
मन्दिर वेगि सँवारा, मादर तूर उछाह॥

शब्दार्थ—छेवा=दुःख झेला। मादर=मृदङ्ग। तूर=तुरही। उछाह=उत्साह, आनन्द।

अर्थ—राजा ने कहा कि मैंने आपके कथन को स्वीकार किया, अब कौन-सी युक्ति शेष है और इसका उत्तर क्या हो सकता है ? राजा के मन में उत्साह हुआ और हृदय में हर्ष हुआ। वररक्षा की रस्म हुई और राजा ने रत्नसेन का तिलक किया। दोनों गले मिले और एक-दूसरे का मान मनाया। इस प्रकार दोनों सुपुरुष अपने-अपने कार्य में चले गये। कवि कहता है जिसके लिए रत्नसेन ने योग किया था, उसे उसने प्राप्त ही कर लिया, जो तपस्या करते हैं उन्हें उसका सुन्दर फल सुख के रूप में अवश्य मिलता है। जो व्यक्ति इस प्रकार प्राणों की बाजी लगा कर दुःख भोगता है, देवता भी उसकी सेवा करते हैं। थोड़े ही दिन तक उसे दुःख मिलता है फिर बाद में तो सम्पूर्ण जीवन उसे सुख ही सुख मिलता है।

अब मैं रत्नसेन के साथ पद्मावती के विवाह का वर्णन करता हूँ। महल तुरन्त ही सजाया गया, मृदङ्ग, तुरही आदि वाद्य बजने लगे और उत्साह सम्पन्न हो गया।

२६. रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खण्ड

[२७५]

लगन धरी औ रचा बिआहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू॥
बाजन बाजे कोटि पचासा। भा आनंद सगरौ कबिलासा॥
जेहि दिन कहँ निति देव मनावा। सोइ देवस पदमावति पावा॥
चांद सूरुज मनि माथें भागू। औ गावहिं सब नखत सोहागू॥
रचि रचि मानिक माड़ौ छावहिं। औ भुइँ रात बिछाउ बिछावहिं॥
चंदन खांभ रचे चहुँ पाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती॥
घर घर बंदन रचे दुआरा। जाँवत नगर गीत झनकारा॥

हाट बाट सिंघल सब, जहँ देखिअ तहँ रात।
धनि रानी पदुमावति, जा करि ऐसि बरात॥ २७५॥

शब्दार्थ—सगरौ=सारा। कबिलासा=कैलाश, सिंहल द्वीप। सोहागू=विवाह के गीत। माड़ौ=विवाह-मण्डप। रात=लाल। बिछाउ=बिस्तर। खांभ=खम्भे। जाँवत=सारे।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि लग्न रक्खी गयी और विवाह रचा गया। सिंहल के निमन्त्रण सबको भेजे गये। करोड़ों बाजे बजने लगे, सारे सिंहल द्वीप में अत्यन्त आनन्द छा गया। जिस दिन के लिए नित्य देवताओं को मनाया करती थी, उसी दिन को अब पद्मावती पा गयी। उस चांद और सूर्य (पद्मावती और रत्नसेन) के मत्थे पर सौभाग्य का मणि चमक उठा और सभी नक्षत्र अर्थात् सखियाँ सौभाग्य के गीत गाने लगीं। माणिक्यों द्वारा विवाह-मण्डप तैयार किया गया। पृथ्वी पर लाल विस्तर बिछाये गये। चन्दन के अनेक प्रकार के सुन्दर खम्भे बनाये गये। माणिक्य के दीपक दिन-रात जलने लग गये। घर-घर में दरवाजों पर बन्दनवार लग गये, सारे नगर में गीतों की झनकार सुनाई पड़ने लगी। सिंहल का ठाट-बाट सब जगह जहाँ देखो लाल ही लाल दिखाई पड़ने लगा। वह रानी पद्मावती धन्य है जिसकी ऐसी सुन्दर बरात है।

[२७६]

रतनसेन कहँ कापर आए। हीरा मोंति पदारथ लाए॥
कुअँर सहस सँग आइ सभागे। बिनौ करहिं राजा सौं लागे॥
जेहि लगि तुम्ह साधा तप जोगू। लेहु राज मानहु सुख भोगू॥
मंजन करहु, भभूति उतारहु। कै अस्नान चतुरसम सारहु॥
काढ़हु मुंद्रा फटिक अभाऊ। पहिरहु कुंडल कनक जराऊ॥

छोरहु जटा, चिरलाएल लेहू । झारहु केस, मटुक सिर बेहू ।।
काढ़हु कंथा, चिरकुट लावा । पहिरहु राता दगल सोहावा ।।
पांवरि तजहु, देहु पग पैरी, आवा बाँक तोखार ।
बाँधहु मौर, छत्र सिर तानहु, बेगि होहु असवार ।। २७६ ।।

शब्दार्थ—कापर=कपड़े । लाए=लगाये हुए, जड़े हुए । मंजन(मज्जन)= स्नान । चतुरसम सारहु=चंदन, केसर, अगर और कस्तूरी के समभाग को लेकर सब के मिश्रण से बनाई हुई सुगंधि[1] । मुंद्रा=जोगियों के कान में पहनी जाने वाली मुद्रा । फटिक= स्फटिक । काढहु=निकालो । अभाऊ=अशोभन । जराऊ=जड़ाऊ । फुलायल=सं० पुष्प-तैल>फुल्लएल> फुलएल,>फुलाएल, फुलेल, इत्र । चिरकुट=फटा पुराना । राता= लाल । दगल =रुईदार अंगरखा । पांवरि=खड़ाऊँ । पैरी=जूता, पनही । तोखार= घोड़ा ।

अर्थ--रत्नसेन के लिए कपड़े आये जिनमें हीरा मोती आदि अमूल्य रत्न जड़े हुए थे । उसके साथ हजार सौभाग्यशाली राजकुमार भी तैयार हुए । उन लोगों ने आकर राजा रत्नसेन से कहना आरम्भ किया कि जिस के लिए तुमने जप, तप और जोग साधा था वह अब प्राप्त है, अब राज्य लो और सुख भोग करो । अब स्नान करिए और भभूत उतारिए तथा स्नान के उपरान्त केसर, चन्दन, अगर और कस्तूरी की सुगंधि को शरीर में मलवाइए। यह स्फटिक की अशोभन मुद्रा कान से निकालिये, और उसके स्थान पर जड़ाऊ सोने के कुण्डल पहनिये । अपनी जटाओं को खोलिए, उसमें इत्र-फुलेल डलवाइये और केशों को झार कर उस पर मुकुट धारण कीजिए । यह फटी-पुरानी कंथा को छोड़िये और लाल रंग का रुईदार अंगरखा पहनिये । खड़ाऊं को छोड़िये, उसके स्थान पर पैरों में पनही पहनिए। बाँका तोखारी घोड़ा आ गया है, मौर धारण कर सिर का छत्र तानिए और तुरन्त घोड़े पर चढ़िए।

[२७७]

साजा राजा, बाजन बाजे । मदन सहाय दुहूँ दिसि गाजे ।।
औ राता रथ सोने का साजा । भए बरात गोहन सब राजा ।।

---

१. बीथी सींची चतुरसम चौके चारु पुराई—रामचरितमानस बालकांड । जायसी से दो शताब्दी पूर्व वर्ण रत्नाकर ग्रन्थ में चतु:सम का कथन मिलता है । उससे भी पूर्व हेमचन्द के अभिधान चिन्तामणि में चतु:सम का प्रयोग मिलता है । यथा-चन्दनागुरु-कस्तूरीकुंकुमस्तु चतु:समम् ।

२. आईन अकबरी में एक ऐसे अंगरखे का उल्लेख मिलता है जो कबा से अधिक लम्बा-चौड़ा और अधिक रुई वाला होता था । (आईन २१)

काढ़हु दगल सुहावन राता—चित्रावली २२०।२

बाजत गाजत भा असवारू। सब सिंघल नै करहिं जोहारू ।।
चहुँ ओर मसियर नखत तराईं। सूरज चढ़ा चांद की ताईं ।।
सब दिन तपा जैस हिय माहाँ। तैस रात पाई सुख छाहाँ ।।
ऊपर रात छत्र तस छावा। इंद्रलोक सब सेवाँ आवा ।।
आजु इंद्र आछरि सौं मिला। सब कबिलास होइ सोहिला ।।
धरती सरग चहूँ दिसि, पूरि रहे मसियार।
बाजत आवै राज मँदिर कहँ, होइ मंगलाचार ।। २७७ ।।

शब्दार्थ--मदन=कामदेव। राता रथ=दूल्हे का रथ ऊपर से लाल वस्त्र से मढ़ा जाता था। इस प्रकार के रथ को पांडु-कम्बली रथ कहते थे। अब तक दूल्हे की पालकी लाल वस्त्र से मढ़ी जाती है। गोहन=साथ में। नै=झुक कर। जोहारू=स्वागत। मसियार=मशाल। ताईं=तक। आछरि=अप्सरा। सोहिला=मांगलिक गीत। मंगलाचार=विवाह कृत्य।

अर्थ--राजा रत्नसेन सज गया। बाजे बजने लगे। दोनों ओर कामोद्दीपक बाजे बजने लगे। एक सोने का लाल रथ सज गया, साथ में सब राजा लोग बराती बने। बाजते गाजते वह घोड़े पर चढ़ा। सिंहल के सभी लोग झुक कर उसका अभिवादन करने लगे। चारों ओर मशालें इस प्रकार जल रही थीं जैसे तारागण हों। सूर्य ने चाँद तक चढ़ाई कर दी है। जैसे उसने सब दिन उसके लिए तपस्या की है उसी प्रकार आज रात की छाया में उसे सुख प्राप्त हो रहा है। उसके ऊपर लाल छत्र इस प्रकार शोभा पा रहा है। सारा इन्द्र लोक आकर उसकी सेवा में छाया हुआ है। आज इन्द्र अप्सरा से मिला है। सारे स्वर्ग (सिंहल) में सोहले गीत हो रहे थे।

मशालें पृथ्वी और आकाश में चारों ओर जलती दिखाई पड़ रही थीं। बाजे बाजते हुए राजमहल की ओर बढ़ रहे थे और विवाह के मांगलिक कार्य हो रहे थे।

[२७८]

पदुमावति धौराहर चढ़ी। दहुँ कस रबि जाकहँ ससि गढ़ी ।।
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा। इन्ह महँ कौनु सो जोगी अहा ।।
केइँ सो जोग लै ओर निबाहा। भएउ सूर, चढ़ि चांद बियाहा ।।
कौनु सिद्ध सो अैस अकेला। जेइँ सिर लाइ पेम सौं खेला ।।
कासौं पितै बचा असि हारो। उतर न दीन्ह, दीन्हि तेहि बारी ।।
काकहँ दैय अैसि जै दीन्हा। जेइँ जैमार जोती रन लीन्हा ।।
धन्नि पुरुख अस नवै न नाएँ। औ सुपुरुष होइ देस पराएँ ।।
को बरिबंड बीर अस, मोहि देखै कर चाउ।
पुनि जाइहि जनवासे, सखी रे बेगि देखाउ ।। २७८ ।।

शब्दार्थ—दहुँ=पता नहीं। रवि=सूर्य—रत्नसेन। ससि=चन्द्रमा—पद्मावती। गढ़ी=बनाई गयी है। पितैं=पिता ने। बचा=वचन। नरिबण्ड=श्रेष्ठ वीर। चाउ=रुचि। जनवासे=जनवासा, बरातियों के ठहरने की जगह।

अर्थ—पद्मावती महल के ऊपर चढ़ गयी। उसने सोचा कि पता नहीं वह सूर्य रूपी रत्नसेन कैसा है जिसके लिए चन्द्रमा जैसी मेरी रचना ब्रह्मा ने की है। बारात को देख कर उसने सखियों से कहा कि इनमें से वह जोगी कौन था जिसने योगाभ्यास का पूर्ण निर्वाह किया और सूर्य बनकर चन्द्रमा से विवाह करने आया। वह कौन सा अकेला सिद्ध है, जिसने सिर देकर प्रेम का खेल खेला है। जिससे मेरे पिता वचन हार गये, वे उसका उत्तर न दे सके, वरन् अपनी कन्या ही दे डाली। जिसको परमेश्वर ने ऐसी विजय दी है कि उसने रण को जीत कर जयमाला प्राप्त की है। ऐसा पुरुष धन्य है जो झुकाये से नहीं झुकता और दूसरे देश में भी अपना पुरुषार्थ दिखाता है। वह श्रेष्ठ वीर कहाँ है? मुझे उसके दर्शनों की रुचि है। हे सखी! जल्द दिखाओ, नहीं तो वह जनवासे में चला जायेगा।

नोट—इस पद्य में जायसी ने स्त्री-सुलभ जिज्ञासा का परिचय दिखाया है। अवधी-प्रान्त में कन्या को कोठे पर से वर को दिखाने की प्रथा भी है।

[२७९]

सखी देखावहिं चमकहिं बाहू। तूँ जस चाँद, सुरुज तोर नाहू॥
छपा न रहै सुरुज परगासू। देखि कँवल मन भएउ हुलासू॥
वह उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार, सो तेहि परछाहीं॥
जस रबि दीख, उठै परभाता। उठा छत्र देखिअ तस राता॥
आव माँझ भा दूलह सोई। औरु बराति रंग सब कोई॥
ससरसौं करां रूप बिधि गढ़ा। सोने के रथ आवै चढ़ा॥
मनि माथे, दरसन उजियारा। सौंह निरखि नहिं जाइ निहारा॥

रूपवंत जस दरपन, धनि तूँ जाकर कंत।
चाहिअ जैस मनोहर, मिला सो मन भावंत॥ २७९॥

शब्दार्थ—बाहू=भुजायें। नाहू=पति। छपा=छिपा। परगासू=प्रकाश। हुलासू=उल्लास, प्रसन्नता। उपराहीं=ऊपर-चढ़कर। राता=लालिमा। करां=किरणें। सौंह=सामने। निरखि=देखना। निहारा=देखना। धनि=पत्नी। कंत=पति। मनभावंत=मनभावना, मनोहर।

अर्थ—सखियाँ पद्मावती को जब दिखाने लगीं तो उनकी भुजायें उठ-उठ कर चमकने लगीं। उन्होंने कहा कि हे पद्मावती तू जिस प्रकार चन्द्रमा के सदृश है उसी प्रकार तेरा पति भी सूर्य सरीखा है। सूर्य का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता। उसे देख कर कमल

रूपी पद्मावती के मन में बड़ा हर्ष हुआ। उसका प्रकाश संसार के सभी प्रकाशों से अधिक था। संसार का सारा प्रकाश तो उस प्रकाश की परछाँही मात्र है। जिस प्रकार सूर्य को देखकर प्रभात की लालिमा पहले ही छा जाती है उसी प्रकार उसका छत्र लाल रंग का दिखाई पड़ता था। बरात के बीच में दूल्हा आ रहा था, अन्य सब बराती उसके साथ आगे-पीछे थे। ब्रह्मा ने उसके रूप को सहस्र किरणों से तैयार किया है, ऐसा राजा रत्नसेन सोने के रथ पर चढ़ा हुआ आ रहा था। उसके मस्तक पर मणि सुशोभित थी, उसका मुख इतना प्रकाशमान हो रहा था कि सामने दृष्टि करके उसको देखा नहीं जा सकता।

सखियों ने कहा कि हे पद्मावती! तू जिस पति की पत्नी बनने जा रही है वह दर्पण के समान निर्मल रूप वाला है। जैसा मनभावना और मनोहर वर तू चाहती थी, वैसा ही मिल रहा है।

अलंकार—पूर्णोपमा, रूपक।

[२८०]

देखा चाँद सुरज जस साजा। अस्टौ भाउ मदन तन गाजा॥
हुलसे नैन दरस मद माँते। हुलसे अधर रंग रस राते॥
हुलसा बदन ओप रबि आई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई॥
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा, बलय कर फूटे॥
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं साजू॥
आजु कटक जोरा हठि कामू। आजु बिरह सो होई संग्रामू॥
आजु चाँद घर आवै सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू॥
अंग अंग सब हुलसे, केउ कतहुँ न समाइ।
ठाँवहि ठाँव बिमोहा, गइ मुरुछा गति आइ॥ २८०॥

शब्दार्थ—अस्टौ भाउ=आठों अनुभाव[1] (स्तम्भ, कम्प, स्वरभंग, वैवर्ण्य, आँसू, स्वेद, रोमांच और मूर्च्छा)। ओप=चमक। हिया=छाती। कंचुकी=चोली। कसनी=अँगिया। बलय=चूड़ी। लंक=कटि, लंका। रावन=रावण, रमण करने वाला, प्रिय। दर=दल[2]। कामू=कामदेव।

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अष्ट भावों को विकल्प से, नेत्र, अधर, मुख, हृदय, कुच, भुजा, कटि और काममंदिर में जगा हुआ काम भाव भी माना है।

[पद्मावत, पृष्ठ २६६]

यह ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि सम्पूर्ण पद में इन्हीं अंगों तथा उनमें उद्दीप्त काम भाव का वर्णन भी है।

२. राम-लखन दल का अर्थ डा० अग्रवाल ने सुलक्षिणी स्त्रियों का समूह भी किया है। इस अर्थ से श्लेष का चमत्कार तो प्राप्त होता है, पर पद के संदर्भ में वह ठीक नहीं जँचता।

अर्थ—जब चन्द्रमा रूपी पद्मावती ने सूर्य रूपी रत्नसेन की सजावट देखी तो आठले अनुभावों के साथ कामदेव उसके ऊपर गरजने लगा। उसके नेत्र दर्शन रूपी मद से मतवाले होकर उल्लसित हो गये। प्रसन्नता से होठों में प्रेमाधिक्य से ललाई अधिक चढ़ गई। मुखमें प्रसन्नता से सूर्य की चमक आ गयी, छाती उल्लसित होकर कंचुकी में नहीं समाती। उरोज उठ गये और अँगिया की डोरियाँ टूट गयीं, भुजायें फूल उठीं और कंकरण तथा चूड़ियाँ टूट गयीं। उसकी कमर भी ऐसी हुलसी जैसे रावरण के राज में लंका हुई थी। उधर राम-लक्ष्मरण के समान रत्नसेन दल साज कर इस लंका रूपी लङ्क पर आ रहा है। आज तो कामदेव ने अपनी सारी सेना हठपूर्वक इकट्ठी कर ली है, अब विरह के साथ संग्राम होगा। आज चन्द्रमा के घर सूर्य आयेगा और सभी शृंगार चूर-चूर हो जायेगा। भाव यह कि प्रियतम के समक्ष होने पर शृंगार का अहंकार नष्ट हो जायगा और संभोग में वे सब अव्यवस्थित भी हो जायेंगे। उसके प्रत्येक अंग प्रफुल्लित हो उठे, कोई अंग कहीं नहीं समाता, जगह-जिगह मोह व्याप्त हो गया, अतः उसे मूर्छा आ गयी।

[२८१]

सखी सँभारि पियावहिं पानी। राजकुँवरि काहे कुँभिलानी॥
हम तो तोहि देखावा पीऊ। तूँ मुरझानि, कैस भा जीऊ॥
सुनहु सखी सब कहहिं बियाहू। मो कहँ जैस चाँद कहँ राहू॥
तुम्ह जानहु आवै पिय साजा। यह धम धम सब मो कहँ बाजा॥
जेत बराती औ असवारा। आए मोर सब चालनिहारा॥
सोइ आगम देखत हौं झँखी। आपन रहन न देखौं सखी॥
होइ बियाह पुनि होइहि गवना। गौनब तहाँ बहुरि नहिं अवना॥
अब सो मिलन कत सखी सहेलिनि, परा बिछोवा टूटि।
तैसि गाँठि पिय जोरब, जरम न होइहि छूटि॥ २८१॥

शब्दार्थ—जेत=जितने। चालनिहारा=ले जाने वाले। आगम=आने वाला दिन। झखी=पछताना, दुखी होना। रहन=रहना। बहुरि=फिर। बिछोवा=वियोग। जरम=जीवन भर।

अर्थ—सखियां पद्मावती को सँभाल कर पानी पिला रही थीं। उन्होंने कहा कि हे राजकुमारी! तुम क्यों कुम्हला गयीं, हमने तो तुम्हें तुम्हारे प्रियतम को दिखाया और तू मुरझा गयी, बताओ अब तुम्हारा जी कैसा है। पद्मावती ने उत्तर दिया कि हे सखी! सब लोग कहते हैं कि मेरा विवाह हो रहा है पर यह तो मेरे लिए इसी प्रकार है कि जैसे चन्द्रमा को राहु का ग्रहण लगे। तुम समझती हो कि मेरा पति सज कर आ रहा है, पर यह सारे बाजे जो धमाधम बज रहे हैं, सब मेरे लिए ही हैं। जितने बराती और सवार आये हैं, ये सब मुझे ही ले जाने वाले हैं। मैं दुःख के साथ वही भविष्य देख रही हूँ, अब मैं सिंहल

में अपना रहना नहीं देखती। अब ब्याह होगा। फिर गौना होगा। फिर मैं ससुराल चली जाऊँगी। और फिर लौट नहीं सकूँगी। सखियों और सहेलियों से मिलन कहाँ हो सकता है, अब तो वियोग टूट पड़ा है, विवाह के समय पति ऐसी गाँठ जोड़ेगा कि जीवन भर वह छूट न सकेगी।

नोट—ससुराल जाने के पीछे जायसी का आध्यात्मिक संकेत छिपा है। प्रिय के पास से तात्पर्य संसार को छोड़ कर परमेश्वर में लीन होने से है। परमेश्वर में लीन होने पर संसार के माया-मोह छूट जाते हैं और फिर परमेश्वर से अभिन्नता मिल जाती है।

[२८२]

आइ बजावत पैठि बराता। पान, फूल सेंदुर, सब राता॥
जहँ सोने कै चित्तरसारी। बैठि बरात जानु फुलवारी॥
माँझ सिंघासन पाट सँवारा। दूलह आनि तहाँ बैसारा॥
कनक खंभ लागे चहुँ पाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती॥
भएउ अचल ध्रुव जोगि पँखेरू। फूलि बैठ थिर जैस सुमेरू॥
आज दैयँ हौं कीन्ह सभागा। जत दुख कीन्ह नीक सब लागा॥
आजु सूर ससिअर घर आवा। चाँद सुरुज दुहुँ होइ मेरावा॥
आजु इन्द्र होइ आएउँ, सैं बरात कबिलास।
आजु मिलै मोहि आछरि, पूजै मन कै आस॥ २८२॥

शब्दार्थ—पैठि=घुस गई। चित्तरसारी[1]=चित्रशाला, राज मंदिर का वह सुसज्जित भाग जिसकी दीवारों पर चित्र बने होते थे। बैसारा=बैठाया।

अर्थ—बरात बाजा बजाती हुई आ गयी। सभी लोग पान, फूल और तिलक आदि के स्वागत से लाल हो रहे थे। जहां सुनहली चित्रशाला थी वहाँ पर बरात ऐसी बैठी जैसे फुलवारी ही आ गयी हो। सबके बीचों बीच सुनहला सिंहासन था, वहाँ पर दूल्हे को लाकर बैठा दिया। मंडप में चारों ओर सोने के खम्भों की पंक्तियाँ थीं और मणि के दीप दिन-रात जल रहे थे। पक्षी के समान विचरण करने वाला जोगी अचल हो गया। प्रसन्नतापूर्वक ऐसा स्थिर होकर बैठा जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है। वह सोचने लगा कि आज परमेश्वर ने हमें सौभाग्यशाली बनाया है। जितना दुःख मैंने तपस्या करके सहा, आज वह सब अच्छा लग

१. उसमान रचित चित्रावली से प्रतीत होता है कि राजमहल से लगी हुई वाटिका में एक चित्रशाला (चित्तसारी) होती थी जिसमें अतिथि ठहराये जाते थे—

चित्रावलि की है चितसारी। काटी मोहि विचित्र संवारी॥ ८१।३

जायसी के वर्णन से भी मालूम होता है कि चित्तसारी राजभवन के भीतर की वाटिका में ही थी, और वहीं राजा रत्नसेन को जनवासा दिया गया था।

रहा है। आज सूर्य चन्द्रमा के घर आया है और चन्द्र और सूर्य का मेल हुआ है। आज मैं बरात के साथ इन्द्र बन कर स्वर्गलोक में आया हूँ। आज मुझे अप्सरा प्राप्त होगी, मेरे मन की अभिलाषा पूर्ण होगी।

[२८३]

होइ लाग जेंवनार सुसारा। कनक पत्र पसरे पनवारा॥
सोन थार मनि मानिक जरे। राए रंक सब आगें धरे॥
रतन जराऊ खोरा खोरी। जन जन आगें सौ सौ जोरी॥
गडुअन्ह हीर पदारथ लागे। देखि बिमोहे पुरुख सभागे॥
जानहु नखत करहिं उजियारा। छपि गा दीपक औ मसियारा॥
भै मिलि चाँद सुरुज कै करा। भा उदोत तैसै निरमरा॥
जेहि मानुस कहँ जोति न होती। तेति भै जोति देखि वह जोती॥
पाँति पाँति सब बैठे, भाँति भाँति जेंवनार।
कनक पत्र तर धोती, कनक पत्रपनबार॥ २८३॥

शब्दार्थ—सुसारा=रसोई की सामग्री[1]। जेंवनार=भोजन। कनक पत्र=राजाओं की पत्तलों पर सोने को पीट कर उसके पत्तल मढ़े जाते थे। पसरे=फैले। पनवारा[2]=पत्तल। जरे=जड़े। राए=राजा। रंक=गरीब। खोरा-खोरी=कटोरा और कटोरी। गडुअन्ह=लोटे। मसियारा=मशाल। करा=कला। उदोत=उदय। निरमरा=निर्मल। कनक पत्र तर धोती=एक विशेष प्रकार का वस्त्र था, सूती कपड़े पर सोने के वर्कों को सजा कर बनाया करते थे। प्राय: भोजन के समय उच्च वर्ग के लोग इसी वस्त्र की धोती पहनते थे।

अर्थ—भोजन (जेंवनार) की सामग्रियाँ आने लगीं। सोने के पत्तों के पत्तल फैल गये। मणि-माणिक्य से जड़ी हुई सोने की थालियाँ थीं। जो गरीब और अमीर सब के सामने रक्खी गयीं। साथ ही रत्नजटित कटोरे और कटोरियाँ प्रत्येक के सामने सैंकड़ों-सैंकड़ों

१. श्री लक्ष्मीकान्त ने इसका अर्थ स्वादिष्ट किया है किन्तु यह अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। जायसी ने इस शब्द का उपयोग एक बार और भोजन की सामग्री के लिए ही किया है—

तस सुसार रस मेरवहु, जेहि रे प्रीति रस होई ॥५४०९

गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है—

भरि भरि बसहं अपार कहारा। पठई जनक अनेक सुसारा॥ बालकांड। ३३३.

२. तुलसी—सादर लगे परन पनवारे। कनक कीलमनि पान संवारे॥ बालकांड ३२२

सूर—ग्वारनि के पनवारे चुनि-चुनि उदर भरी जै सीथिन—सूरसागर पद ११०८

इकट्ठे किये गए। लोटों में भी हीरे और रत्न जड़े हुए थे जिन्हें देखकर सभी भाग्यवान् पुरुष भी मोहित हो गये। मानो नक्षत्र प्रकाश कर रहे हों, जिसके आगे दीपक और मशालों की ज्योति छिप गयीं। चन्द्रमा और सूर्य की कला मिल कर एक हो गई, और निर्मल ज्योति प्रकाशित हुई। जिस मनुष्य में कोई ज्योति नहीं, उसमें वह ज्योति देखकर ज्योति उत्पन्न हो गई। सभी लोग पंक्ति-पंक्ति में बैठ गये, भाँति-भाँति के भोजन थे। जायसी शोभा वर्णन करते हुए कहते हैं कि खाने वाले लोग कनक पत्र की सुनहली धोती पहने बैठे थे और उनके सामने स्वर्ण पत्रों के ही बने हुए पत्तल बिछे थे। इसलिए दोनों एक समान लग कर शोभा को द्विगुणित कर रहे थे।

[२८४]

पहिलें भात परोसै आने। जनहु कपूर सुवास बसाने।।
झालर मांड आए घिउ पोए। ऊजर देखि पाप गए धोए।।
लुचुई पूरि सोहारीं परीं। एक ताती औ सुठि कोंवरी।।
पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे, न कबहूँ खाए।।
खँडरा खंडि खँडोई खँडी। परी एकोतर सै, कठहंडी।।
पुनि सँधान आए बहु साँधे। दूध दही के मोरंडा बाँधे।।
पुनि जाउरि पछियाउरि आई। दूध वही का कहौं मिठाई।।
जेवन अधिक सुबासिक, मुख महँ परत बिलाइ।
सहस सवाद सो पावै, एक कवर जौं खाइ।। २८४ ।।

शब्दार्थ—भात=चावल। सुवास बसाने=सुगन्धि से सुवासित। झालर=चावलों का मांड जमा लेते हैं, फिर उसे घी में तला जाता है। माँड=एक प्रकार की रोटी, धुले गेहूँ के आटे में घी मिला कर, नमक, दूध और पानी डालकर बड़ी परात में खूब माँड़ा जाता है, फिर उसकी छोटी-छोटी लोइयाँ लेकर घी वाले हाथों से खूब बढ़ाते हैं। इनको मिट्टी के तवे पर सेंकते हैं। पोए=चुपड़े हुए। लुचुई=खूब भिगोए हुए मैंदे की दो लोई लेकर बीच में घी डाल कर बेलन से खूब चौड़ी और पतली करते हैं, फिर घी से सेक कर रख लेते हैं। इसे दोहथी भी कहते हैं। सोहारी=पूड़ी। ताती=गर्म। सुठि=सुन्दर। कोंवरी=कोमल। परकार=प्रकार। खँडरा=मूँग, चना, उड़द, अरहर आदि दालों को मिला कर पीसते हैं, फिर गोल बेसन सी बनाकर चाकू से टुकड़े काटते हैं। इन टुकड़ों को घी में तल डालते हैं। इनको चासनी में डालकर मीठा बना लेते हैं। खंडोई=चासनी सं० खण्डवती। एकोतर सै=एक सौ एक। कठहंडी=काठ की हंडी। सँधान=अचार। साँधे=सुगन्धित। मोरंडा=दूध का छेना या दही को कपड़े में निचोड़ कर मोर के अंडे के समान रसगुल्ले बनाकर चाशनी में डाला जाता है। इन्हें ही मोरंडे कहते हैं। जाउरि=

खीर। पछियाउरि=सबसे पीछे दी जाने वाली मीठी तश्तरी। बिलाइ=गल जाना। कवर=ग्रास।

अर्थ—सबसे पहले चावल परसे गये। वे ऐसे सुगन्धित थे जैसे कपूर से सुवासित हों। घी डले हुए झालर और माँडे आये। वे ऐसे उज्ज्वल थे, उन्हें देखकर पाप दूर होता था। लुचुई, पूड़ी बिलकुल गर्म और मुलायम रक्खी गयीं। फिर बावन प्रकार के भोजन रक्खे गये, वे ऐसे थे जो न किसी ने कभी देखे थे न खाये थे। चाशनी में डाले हुए खँडरा, अनेक कठहंडियों में रक्खे गये। फिर सुगन्धित अनेक आचार रखे गये। दूध-दही के छेने के रसगुल्ले भी आये। फिर सबसे पीछे खायी जाने वाली खीर आयी। दूध, दही और मिठाई का क्या वर्णन करें। भोजन बड़े सुगन्धित थे और ऐसे स्वादिष्ट और मुलायम थे कि मुँह में पड़ते ही गल जाते थे। यदि कोई उसका एक ग्रास भी किसी को मिले तो मानो उसे हजार स्वाद प्राप्त हो गये।

इस पद के पश्चात् शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में तीन पद ऐसे हैं जो कई प्रतियों में नहीं मिलते। डा० माताप्रसाद गुप्त इन तीनों पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत कारण इस प्रकार है। प्रथम पद में कहा गया है कि भोजन के समय बीन नहीं बजा, इसलिए रत्नसेन ने भोजन नहीं किया। दूसरे पद में भोजन न करने का कारण पूछा गया है और रत्नसेन ने नाद की महिमा कही है। तीसरे पद में रत्नसेन का समाधान किया गया है कि नाद—श्रवण से उन्माद होता है। जैसे कि मद-पान से होता है। यह बात अप्रासंगिक है, बाजे पहले भी बजे हैं। २७४, २७५, २७६, २७७, २८१, और २८२ छन्दों में बाजे बजे हैं। जब और सब जगहों में नाद का निषेध नहीं, और जगह उन्माद नहीं उत्पन्न हुआ तो भोजन के समय ही ऐसा क्यों होता? फिर प्रथम पद में रत्नसेन को मनाने के लिए 'पंडित-विद्वान्' का उल्लेख है। 'विद्वान्' शब्द का ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। फिर ये पंडित और विद्वान् विद्वत्ता की कौन कहे, मूर्खता की बातें करते हैं क्योंकि दूल्हे को मनाने के लिए कहते हैं कि "तुम्हें भूख नहीं है, नहीं तो इतने स्वादिष्ट भोजन की कौन कहे तुम तो रूखा-सूखा भी खाते, तुम इतनी चतुराई क्या छाँट रहे हो।" भाव यह कि तीनों पदों की बातें अयुक्त और अप्रासंगिक हैं, उनका प्रक्षिप्त मानना ही समीचीन है। पद इस प्रकार हैं—

जेंवन आवा बीन न बाजा। बिनु बाजन नहिं जेंवै राजा॥
सब कुँवरन्ह पुनि खैंचा हाथू। ठाकुर जेंव तौ जेवैं साथू॥
विनय करहि पंडित विद्वाना। काहे न जेंवहि जजमाना॥
यह कबिलास इन्द्र कर बासू। जहाँ न अन्न न माछरि माँसू॥
पान-फूल आसी सब कोई। तुम्ह कारन यह कीन्ह रसोई॥
भूख, तौ जनु अमृत है सूखा। धूप तौ सीअर नीबी रूखा॥

नींद तो भुइँ जनु सेज सपेती। छाटहुँ का चतुराई एती॥
कौन काज केहि कारन, बिकल भएउ जजमान।
होइ रजायसु सोई, वेगि देंहि हम आन॥

तुम पंडित जानहु सब भेदू। पहिले नाद भएउ तब वेदू।
आदि पिता जो विधि अवतारा। नाद सँग जिउ ज्ञान सँचारा।
सो तुम बरजि नीक का कीन्हा। जेंवन संग भोग विधि दीन्हा॥
नैन, रसन, नासिक, दुइ स्रवना। इन चारहु संग जेंवै अबना॥
नासिक सबै बासना पाई। स्रवनहिं काह करत पहुनाई॥
तेहि कर होइ नाद सों पोखा। तब चारिहु कर होइ संतोषा॥
औ सो सुनहिं सबद एक, जाहि परा किछु सूझि।
पंडित! नाद सुनै कहँ, बरजेहु तुम का बूझि॥

राजा उत्तर सुनहु अब सोई। महि डोलै जो वेद न होई॥
नाद, वेद, मद पैं जो चारी। काया महँ ते लेहु विचारी॥
नाद, हिये मद उपनै काया। जहँ मद तहाँ पेड़ नहिं छाया॥
होइ उनमद जूझा सोइ करै। जो न वेद आँकुस सिर धरै॥
जोगी होइ नाद, सो सुना। जेहि सुनि काय जरै चौगुना॥
कया जो परम तंत मन लावा। घूम माति सुनि और न भावा॥
गए जो धरमपंथ होइ राजा। तिनकर पुनि जो सुनै तौ छाजा॥
जस मद पिये घूम कोइ, नाद सुनै पै घूम।
तेहिते बरजे नीक है, चढ़ै रहसि कै दूम॥

[२८५]

भै जेंवनार, फिरा खंडवानी। फिरा अरगजा कुंकुह बानी॥
फिरे पान, बहुरा सब कोई। लाग बियाहचार सब होई॥
माँडौ सोने क गँगन सँवारा। बंदनवार लाग सब तारा॥
साजा पाट छत्र कै छाहाँ। रतन चौक पूरा तेहि माँहाँ॥
कंचन कलस नीर भरि धरा। इंद्र पास आनी अपछरा॥
गाँठि दुलह दुलहिनि कै जोरी। दुऔ जगत जो जाइ न छोरी॥
बेद भनहिं पंडित तेहि ठाऊँ। कन्या तुला रासि लै नाऊँ॥
चाँद सुरुज दुइ निरमल, दुवौ सँजोग अनूप।
सुरुज चाँद सौं भूला, चाँद सुरुज के रूप॥२८५॥

शब्दार्थ—खँडवानी=शरबत। कुंकुह=कुंकुम। बानी=रंगबाला-पाठान्तर-पानी।

बहुरा=लौटे। बियाहचार=विवाह कार्य। माँडौ=विवाह मंडप। तारा=तारागण-पाठान्तर-बारा=द्वार।

अर्थ—भोजन के उपरान्त शर्बत चला जिसमें अर्गजा और कुंकुम आदि के सुगन्धित चूर्ण पड़े थे। सबको पान दिये गए। सभी लोग जनवासे को लौट गये। तब विवाह कार्य होने लगे। विवाह मंडप में सुनहली चाँदनी तनी हुई थी जिसमें प्रत्येक दरवाजे पर बन्दनवार लगी हुई थी। सोने का कलश जल से भर कर रखा गया था। इन्द्र रूपी रत्नसेन के पास अप्सरा रूपी पद्मावती लायी गई। दूल्हे और दूलहिन की गाँठ जोड़ी गयी यह गाँठ ऐसी जुड़ी कि दोनों लोकों में छूट नहीं सकती। पंडित वहीं पर वेद-पाठ कर रहे थे और उसी के बीच पद्मावती और रत्नसेन की जन्म-राशि क्रमशः कन्या और तुला का नाम भी लेते जाते थे। चाँद के सदृश पद्मावती और सूर्य-सदृश रत्नसेन दोनों ही बड़े निर्मल थे, दोनों का संयोग अनुपम हुआ। दोनों के प्रेम वहीं पर इस स्थिति में पहुँच गये कि पद्मावती रत्नसेन के रूप में भूल गयी और रत्नसेन पद्मावती के रूप में।

[२८६]

दुहूँ नाऊँ होइ गोत उचारा। करहिं पदुमिनी मंगलचारा॥
चाँद के हाथ दीन्हि जैमाला। चाँद आनि सूरुज गियँ घाला॥
सूरुज लीन्हि, चाँद पहिराई। हार नखत तरइन्ह सिउँ पाई॥
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा। जोबन जरम कंत कहँ दीन्हा॥
कंत लीन्ह दीन्हा धनि हाथाँ। जोरी गाँठि दुहूँ एक साथाँ॥
चाँद सुरुज दुहूँ भाँवरि लेहीं। नखत मांति नेवछावरी देहीं॥
फिरहिं दुवौ सत फेर को टेकै। सातौ फेर गाँठि सो एकै॥
भै भाँवरि, नेवछावरि, राजचार सब कीन्ह।
दाइज कहौं कहाँ लगि, लिखि न जाइ तत दीन्ह॥ २८६॥

शब्दार्थ—गियँ=गले में। घाला=डाला। सिउँ=संग। धनि=दुलहिन। जरम=जीवन भर। दाइज=दहेज।

अर्थ—वर और वधू दोनों के गोत्रों का उच्चारण होता है। घर में पद्मिनी नारियाँ मंगलाचार करती हैं। चन्द्र रूपी पद्मावती के हाथ में जयमाला दी गई। उसने उसे लाकर सूर्य रूपी रत्नसेन के गले में डाल दिया। रत्नसेन ने पद्मावती की पहनाई हुई माला धारण की। हार के रत्न ऐसे लग रहे थे मानों तारागणों के साथ वे शोभित हो रहे थे। तब पद्मावती ने अंजलि में जल भर लिया और अपना यौवन और जीवन अपने पति को समर्पित कर दिया। पति ने भी वधू का हाथ लिया और अपना हाथ उसे दिया और दोनों ने एक ही साथ ही मुट्ठी बन्द कर दी। इसके बाद पद्मावती और रत्नसेन भाँवरे लेने लगे। नक्षत्र रूपी सखियाँ न्यौछावर में मोती लुटाने लगीं। दोनों ने सात भावरें लीं, सात भाँवरें

वे फिरे, पर दोनों एक ही गाँठ में बँधे घूमते रहे। भाँवरें हुईं, न्योछावर हुई और राजा ने सभी कार्य सम्पन्न किये। दहेज को मैं कहाँ तक कहूँ, इतना राजा गन्धर्वसेन ने दिया कि उसको लिखा नहीं जा सकता।

[२८७]

रतनसेनि जौं दाइज पावा। गंध्रपसेनि आइ कँठ लावा॥
मानुस चित आन कछु निंता। करै गोसाइँ न मन महँ चिंता॥
अब तुम्ह सिंघलदीप गोसाईं। हम सेवक आहहिं सेवकाईं॥
जस तुम्हार चितउर गढ़ देसू। तस तुम्ह इहाँ हमार नरेसू॥
जंबूदीप दूरि का काजू। सिंघलदीप करहु नित राजू॥
रतनसेनि बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभि नहीं मोरी॥
तुम्ह गोसाईं जेइँ छार छड़ाई। कै मानुस असि दीन्हि बड़ाई॥
जौ तुम्ह दीन्ह तौ पावा, जियन जरम सुख भोग॥
नाहि तौ खेह पाय की हौं, न जानौ केहि जोग॥ २८७॥

शब्दार्थ—कंठ लावा=कहा-पाठान्तर-सिर नावा। चिन्त=चिन्ता करता है। निन्ता=नित्य। गोसाईं=स्वामी। छार=मिट्टी, राख।

अर्थ—जब रत्नसेन ने दहेज प्राप्त कर लिए तो गन्धर्वसेन ने आकर विनयपूर्वक कहा कि मनुष्य नित्य कुछ न कुछ चिन्ता किया करता है, पर ईश्वर वह कर देता है जिसे मनुष्य ने मन में कभी सोचा भी न हो। अब तुम सिंहलद्वीप के राजा हो गए, हम तो आपके सेवक हैं, सेवा करेंगे। जिस प्रकार से चित्तौड़गढ़ तुम्हारा देश है, उसी प्रकार तुम यहाँ पर हमारे भी राजा हो गये। अब दूर देश वाले जम्बू द्वीप (भारत) जाने से क्या काम, सिंहलद्वीप में ही राज्य करो। यह बात सुनकर रत्नसेन ने हाथ जोड़ कर विनय की कि हे राजा आपकी स्तुति करने योग्य मेरी जिह्वा नहीं है। हे स्वामी! तुम्हीं ने मेरी राख छुड़ाई अर्थात् मुझे जोगी से गृहस्थ बनाया, मनुष्य बना कर ऐसा बड़प्पन दिया। जब तुमने दिया तभी तो हमने जीवन का सुख-भोग पाया, नहीं तो मैं पैर की धूल ही था, पता नही मैं किस योग्य सिद्ध होता।

[२८८]

धौराहर पर दीन्हेउ बासू। सत खंड जहँवा कबिलासू॥
सखी सहस दुइ सेवाँ आईं। जनहुँ चाँद सँग नखत तराईं॥
होइ मँडर ससि की चहुँ पासाँ। ससि सूरहि लै चढ़ी अकासाँ॥
मिलीं जाइ ससि की चहुँ पाहाँ। सूर न चाँपै पावै छाँहाँ॥
चलहि सूर दिन अथवै जहाँ। ससि निरमल तैं पावसि तहाँ॥

गंध्रपसेनि धौराहर कीन्हा । दीन्ह न राजहि जोगिहि दीन्हा ॥
अब जोगी गुर पाए सोई । उतरा जोग, भसम गा धोई ॥
सात खँड धौराहर, सातहुँ रँग नग लागु ।
देखत गा कबिलासहि, दिस्टि पाप सब भागु ॥ २८९ ॥

शब्दार्थ—मंडर=मंडल । अथवै=अस्त हो । चाँपै=दबाना ।

अर्थ—राजा ने वरवधू को धौरहरे पर निवास दिया । वह स्वर्ग सदृश था, उसमें सात खंड थे । दो हज़ार सखियाँ सेवा में थीं, वे ऐसी थीं जैसे चन्द्रमा के साथ नक्षत्र और तारागण हों । मंडलाकार होकर वे सब शशी रूपी पद्मावती के चारों ओर रहती थीं । जब पद्मावती (चन्द्र) रत्न (सूर्य) को लेकर आकाश के समान ऊँचे धौरहरे पर चढ़ गयीं तब सब सखियाँ पद्मावती के चारों ओर लग गयीं । जिससे कि सूर्य रूपी रत्नसेन पद्मावती को (दिन में) दबा न सके । सखियों ने कहा कि हे सूर्य (रत्नसेन) चलो जहाँ दिन अस्त हो जायगा, वहीं निर्मल शशी को तू पावेगा । यहाँ सखियों के बीच पद्मावती की उपमा नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा से दी गई है । सूर्य यदि दिन में चन्द्रमा से मिले तो चन्द्रमा कान्तिहीन रहेगा । रात्रि में क्षितिज के जिस बिन्दु पर सूर्य अस्त होता है उसी स्थान पर उसे निर्मल चन्द्र मिल जाता है । इसीलिए जब पद्मावती रत्नसेन को धौराहर पर ले गई तो सखियों ने उसे घेर लिया और दिन में रत्नसेन से मिलने न दिया । कवि कहता है कि राजा गन्धर्वसेन ने धौराहर बनवाया और उसे राजा को न देकर जोगी (रत्नसेन) को दे दिया । अब जोगी ने उस गुरु (पद्मावती) को पाया है कि उसका जोगाभ्यास समाप्त हो गया और उसकी राख धो उठी । इस धौराहर में सात खंड हैं और सातों खंडों में रत्न जड़े हैं, उसे देखते ही दृष्टि के सारे पाप भाग कर स्वर्ग चले जाते हैं ।

टिप्पणी—*जायसी ने सिंहलगढ़ में हठयोग का रूपक प्रायः सर्वत्र रखा है । यहाँ भी योगपरक अर्थ हो सकता है । सूर्य मूलाधार चक्र में स्थित होता है, चन्द्र त्रिकुटी पर स्थित आज्ञाचक्र में होता है । तारे निर्मल अन्तःकरणरूपी आकाश की क्षुद्र वृत्तियाँ हैं । शशी और सूर्य के आकाश में मिलन से तात्पर्य सहस्रार स्थित चंद्र और मूलाधार स्थित सूर्य का मिलन है । मूलाधार के सूर्य का विष सूख जाता है और चन्द्र का अमृत ही व्याप्त हो जाता है । दिन के अन्त में सूर्य का तेज जाता रहता है और चन्द्र निर्मल दृष्टिगत होता है । योग के लिए अन्तः करण की विशुद्धता अनिवार्य है इसीलिए तारे (विशुद्ध वृत्तियाँ) तो चन्द्र को घेरे रहती हैं कि सूर्य का विष उसे घेर न सके । धौराहर के सात खंड और सात रंग सात चक्र के द्योतक हैं और प्रत्येक चक्र का रंग रत्न के रंग से ध्वनित है ।*

[२८९]

सात खंड सातौ कबिलासा । का बरनौं जस उत्तिम वासा ॥
हीरा ईंटि कपूर गिलावा । मलयागिरि चंदन सब लावा ॥

बिसुकर्मैं सें हाथ संवारी। सात खंड सातौ चौपारी ।।
चूना कीन्ह अवटि गज मोंती। मोंतिहु चाहि अधिक सो जोती ।।
अति निरमर नहिं जाइ बिसेखा। जस दरपन महँ दरसन देखा ।।
भुँइ गच जानहु समुंद हिलोरा। कनक खंभ जनु रचेउ हिंडोरा ।।
रतन पदारथ होइ उजियारा। भूले दीपक औ मसियारा ।।

तहँ आछरि पदुमावति, रतनसेनि के पास।
सातौ सरग हाथ जनु आए, औ सातौ कबिलास ।। २८९ ।।

शब्दार्थ—बासा=निवास स्थल। गिलावा=गारा । अवटि=गलाकर। चाहि=अधिक। निरमर=निर्मल। गच=पक्का फर्श। समुंद हिलोरा=पठान स्थापत्य में ईंटों और पत्थर का ऐसा काम बनाया जाता था कि समुद्र की लहरें सी फर्श में दिखाई पड़ती थीं। हिंडोरा=खम्भों के शीर्ष भाग के पास से हाथी के सूंड की तरह घुमावदार तोरण लगाते थे जो कि खम्भों के बीच झूले की भाँति दिखाई पड़ते थे । मसियारा =मशाल।

अर्थ—उस धौराहर (महल) के सात खण्ड सात स्वर्गों के सदृश थे। ऐसे सुन्दर निवास स्थल का क्या वर्णन करूँ ? हीरे की उसमें ईंटे लगी थीं और कपूर का गारा दिया था। मलयगिरि चन्दन उसमें लगाये गये थे। विश्वकर्मा ने स्वयं अपने हाथ उसे सँवारा था। उसके सात खंड थे और साथ चौपालें थीं। गज-मुक्ताओं को गलाकर चूना तैयार किया गया था, और उस चूने में मोती से भी अधिक सफेदी थी। ऐसा स्वच्छ भवन था कि उसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। जैसे दर्पण में स्वरूप दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार उसकी दीवारों में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता था। भूमि पर फर्श ऐसा सुन्दर चित्रित था मानों समुद्र की लहरे हों। सोने के खम्भे पर के घुमावदार तोरण ऐसे लगते थे, मानों हिंडोले पड़े हों। रत्न और मणियों का ऐसा प्रकाश था कि दीपक और मशाले गायब हो गयी थीं। वहाँ पर रत्नसेन के पास अप्सरा सी पद्मावती थी, मानों उसके हाथ सातों स्वर्ग तथा उसके सभी ऐश्वर्य थे।

[२९०]

पुनि तहँ रतनसेनि पगु धारा। जहँ नव रतन सेज सोवनारा ।।
पुतरीं गढ़ि गढ़ि खंभन्ह काढ़ी। जनु सजीव सेवां सब ठाढ़ी ।।
काहू हाथ चंदन कै खोरी। कोई सेंदुर की गहे सिंधोरी ।।
कोइ केसरि कुंकुहँ लै रही। लावै अंग रहसि जनु चही ।।
कोई गहें कुंकुमा चोवा। दरसन आस ठाढ़ि मुख जोवा ।।
कोइ बीरा, कोइ लीन्हे बीरी। कोई परिमल अति सुगन्ध समीरी ।।
काहू हाथ कस्तुरी मेदू। भाँतिन्ह भाँति लाग तस भेदू ।।

पाँतिन्ह पाँति चहूं दिसि पूरी, सब सोंधे कर हाट।
मांझ रचा इन्द्रासन, पदुमावति कहँ पाट ।। २६० ।।

शब्दार्थ—सोवनारा=शयनागार। पुतरी=काठ की मूर्तियां । खोरी=कटोरी। सिधोरी=सिन्दूरदानी। कुंकुह=कुमकुम। चोवा=अगर की लकड़ी से टपकाया हुआ सुगन्धित द्रव्य। बीरी=मिस्सी रखकर बनाई हुई बटिका। परिमल=इत्र । समीरी=समीर से आने वाली। सुमात्रा के पूर्वी टापुओं को समीर या जेरवाद कहते थे। वहाँ से कलंवक नामक सुगन्धि आती थी। मेदू=मुश्क। सोंधे=सुगन्ध।

अर्थ—फिर रत्नसेन ने वहाँ प्रवेश किया जहां शयनागार में नवरत्नों की बनी हुई शय्या थी। पलंग के खम्भों में ऐसी पुतरियां कढ़ी हुई थीं मानों वे सजीव दासियां हैं और सेवा में खड़ी थीं। किसी के हाथ में चन्दन की कटोरी थी और किसी के हाथ में सिंदूरदानी है। कोई केसर और कुंकुम लिये थी, मानों अंग में लगाना ही चाहती है। कोई कुंकुम और चोवा लिए थीं और दर्शन की आशा में मुख देखती खड़ी थीं। कोई पान का बीड़ा और कोई दाँत रँगने की बीरी लिए खड़ी थी, कोई अत्यन्त सुगन्धित समीरी इत्र लिए थी। किसी के हाथ मुश्क कस्तूरी थी। इस प्रकार वे अनेक भाँति की बनी हुई थीं। चारों ओर पंक्ति-पंक्ति में जैसे सुगन्धियों का बाजार लगा हो, उसके बीच पदमावती का इन्द्रासन सरीखा सिंहासन था।

---

२७. पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड

[२६१]

सात खण्ड ऊपर कबिलासू। तहँ सोवनारि सेज सुखबासू ।।
चारि खंभ चारिहुँ दिसि धरे। हीरा रतन पदारथ जरे ।।
मानिक दिया बरै औ मोंती। होइ अँजोर रैनि तेहि जोती ।।
ऊपर रात चँदोवा छावा। औ भुइँ सुरँग बिछाउ बिछावा ।।
तेहि महँ पलंग सेज सो डासी। का कहँ अैसि रची सुखबासी ।।
दुहुँ दिसि गेंडुआ औ गलसुई। कांचे पाट भरी धुनि रूई ।।
फूलन्ह भरी अैस केहि जोगू। को तेहि पौंढ़ि मान सुख भोगू ।।
अति सुकुमारी सेज सो साजी, छुवै न पावै कोइ।
देखत न वै खिनुहि खिन, पाँव धरत कस होइ ।। २६१ ।।

शब्दार्थ—सोवनारि=सोने के लिए पाठान्तर-नारि-सेज। सुखबासू=राजमहल के

सातवें खण्ड में राजा-रानी के रहने का स्थान, महासुख का स्थान* । चँदोवा=चाँदनी । सुरँग=रंगीन । गेडुआ=गोल तकिया । गलसुई=गाल के नीचे रखने वाला छोटा चपटा तकिया । काँचे पाट=गोटा पट्टा ।

अर्थ—सात खण्ड ऊपर स्वर्ग सदृश महल है । वहाँ सुखद सोने वाली शय्या थी । उसके चारों ओर चार खम्भे थे, जिनमें हीरे, रत्न और मणियाँ जड़ी थीं । माणिक्य और मोती के दीपक जल रहे थे, जिनकी ज्योति से प्रकाश हो रहा था । उसके ऊपर लाल रंग का चँदोवा लगा था और भूमि में सुन्दर रंगीन बिछौने बिछे थे । उसी में पलंग बिछा हुआ था, जिस पर सेज लगी थी । जायसी कहते हैं कि किसके लिए ऐसी सुखवासी रची गई है ? दोनों ओर तकिये और गलसुइयाँ लगी थीं, उनमें कच्चे रेशम की धुनी हुई रुई भरी थी । फूलों से भरी हुई ऐसी सेज किसके योग्य होगी जो इस पर सोकर सुख भोग करेगा ? यह सेज अत्यन्त कोमल थी, इसको कोई छूने नहीं पाता था, उसमें कोमलता इतनी थी कि देखने मात्र पर वह क्षण-क्षण झुक जाती थी तो फिर उस पर पाँव रखने पर उसकी क्या दशा होगी ।

अलङ्कार—अतिशयोक्ति ।

[२९२]

सूरुज तपत सेज सो पाई । गाँठि छोरि ससि सखी छपाई ॥
अहे कुँवर हमरे अस चारू । आज कुँवरि कर करब सिंगारू ॥
हरदि उतारि चढ़ाएव रंगू । तब निसि चाँद सुरुज सौं संगू ॥
जनु चात्रिक मुख हुति गौ स्वाती । राजहि चकचौहट तेहि भाँती ॥
जोगि छरा जनु अछरिन्ह साथा । जोग हाथ हुति भएउ बेहाथा ॥
वै चतुरा गुरु लै उपसईं । मन्त्र अमोल छीनि लै गईं ॥
बैठेउ खोइ जरी औ बूटी । लाभ न आव, मूर भौ टूटी ॥

खाइ रहा ठग लाडू, तंत मंत बुधि खोइ ।
भा धौराहर बनखँड, ना हँसि आव न रोइ ॥ २९२ ॥

शब्दार्थ—चारू=चाल । चात्रिक=चातक । हुति गौ=से गया । चकचौहट=बेचैन होकर चारों ओर देखना । छरा=छला । अछरिन्ह=अप्सराओं । हुति=से ।

---

*कविलास और सुखवास समानार्थक से हैं । इनका मूल शैवागम है । सहस्रार में शिव-पार्वती का स्थान कैलास (कविलास) है, वहीं महाशून्य या महा सुख का स्थान सुखवास है—

तिन्ह पावा उत्तम कविलासू । जहाँ न मीचु सदा सुखवासू । १४६।६ ।

उसमान—ना वह मन्दिर ना कविलासू । ना वह किला न वह सुखवासू ॥—चित्रावली ॥

उपसई=दूर गईं। ठग लाडू=ठग लोग जिस विष से भरे हुए लड्डू को खिला कर पथिकों को बेहोश करते और उनका धन लूटते थे।

अर्थ—सूर्य रूपी राजा रत्नसेन ने तपस्या करके वह शय्या प्राप्त की। पर सखियों ने वर-वधू की गाँठ छोड़ कर पद्मावती को छिपा दिया और कहा कि हे राजकुमार! हमारे यहाँ एक चाल है, जिसके अनुसार हम आज राजकुमारी का शृङ्गार करेंगी। विवाह के अवसर पर लगी हुई हल्दी को उसके शरीर पर से उतार कर उस पर नया रंग चढ़ायेंगी। तब रात्रि में राजा-रानी का साथ होगा। यह बात सुनकर राजा की ऐसी दशा हुई जैसे चातक के मुख से स्वाति नक्षत्र की पानी की बूँद निकल गई हो। वह बेचैन होकर चारों ओर देखने लगा। जोगी जैसे अप्सराओं के द्वारा छल लिया गया हो और उसके हाथ से जोग निकल गया हो। वे चतुर सखियां गुरु (पद्मावती) को लेकर दूर चली गईं और रत्नसेन के हाथ से अमूल्य मन्त्र ले गईं। जड़ी-बूटी खोकर वह बैठ गया, लाभ तो मिला नहीं, मूलधन भी जाता रहा। जिस प्रकार ठगों के लड्डू खाकर पथिक बेहोश हो जाते हैं, उसी प्रकार रत्नसेन भी अपने तन्त्र-मन्त्र को खोकर रह गया। उसके लिए धौराहर जंगल हो गया। न उससे हँसा जाता था न रोया।

नोट—दिन में वर-वधू के न मिलने देने की परम्परा है। पीछे पद सं० २८८ में इस ओर संकेत किया था कि राजा-रानी का मिलन रात्रि में ही होगा—'चलहि सूर दिन अथवै जहाँ। ससि निरमल तैं पावसि तहाँ॥'' इसी भाव को इस पद में पल्लवित किया है। सखियों ने गांठ छोड़ कर पद्मावती को छिपा दिया और कहा हम उसका दिनभर शृङ्गार करेंगी, वह तो रात्रि में ही राजा से मिल सकेगी।

[२९३]

अस तप करत गएउ दिन भारी। चारि पहर बीते जुग चारी॥
परी साँझ, पुनि सखी सो आईं। चाँद सो रहै न उईं तराईं॥
पूछेन्हि गुरू कहाँ रे चेला। बिनु ससियर कस सूर अकेला॥
धातु कमाइ सिखे तैं जोगी। अब कस जस निरधातु बियोगी॥
कहाँ सो खोए बीरौ लोना। जेहि तें होइ रूप औ सोना॥
कस हरतार पार नहिं पावा। गंधक कहाँ कुरकुटा खावा॥
कहाँ छपाए चाँद हमारा। जेहि बिनु जगत रैनि अँधिआरा॥

नैन कौड़िया हिय समुँद, गुरू सो तेहि महँ जोति।
मन मरजिया न होइ परै, हाथ न आवै मोंति॥ २९३॥

शब्दार्थ—उईं=उदय हुईं। ससियर=चन्द्रमा। निरधातु=धातु रहित, निस्सार। बीरौ=बिरवा, पौदा। लोना=एक अमलोनी नामक घास जिसे रसायनी धातु सिद्ध करने

में प्रयोग करते हैं। हरतार=एक जड़ी। कुरकुटा* =ठंडा भात। कौड़िया=कौड़िल्ला पक्षी जो मछली पकड़ने के लिए समुद्र पर मंडराता है। मरजिया=गोताखोर।

अर्थ—इस प्रकार तपते हुए दिन बड़ी कठिनाई से व्यतीत हुआ। राजा को दिन के चार पहर ऐसे व्यतीत हुए, जैसे चार युग बीते हों। सायंकाल होने पर फिर वही सखियाँ आईं। चन्द्रमा तो उदय न हुआ, तारागण ही निकले, अर्थात् पद्मावती तो आई नहीं, सखियाँ ही आईं। सखियों ने रत्नसेन से कहा कि हे चेला! तेरा गुरु (पद्मावती) कहाँ है, बिना चन्द्र के सूर्य कैसे है? हे जोगी! तुमने जो धातु सिद्ध करना सीखा है, अब वियोगी बन कर निस्सार कैसे बन रहे हो? तुमने वह अमलोनी बिरवा कहां खो दिया, जिससे चांदी और सोना बन सकता था। क्या तुझे हरताल नामक जड़ी और पारा न मिल सके; वह गन्धक कहाँ है, जो कण रूप में बिखरे हुए पारे को खा जाती है तो सोना बन जाता है। यहाँ कवि ने श्लेष से पद्मावती का वर्णन सोना और चाँदी बनाने वाली धातु-प्रक्रिया द्वारा किया है। अमलोनी (अम्लान) बिरवा सौन्दर्य की लता पद्मावती है, रूप का अर्थ तेज और सोना का शयन है। सखियाँ कहती हैं कि पद्मावती को तूने कहाँ खो दिया, उससे मिलने पर तेरे मुख पर शोभा आती और सुख का सोना मिलता। तूने उस रजोधर्म वाली (हरतार) का पार नहीं पाया। वह गन्धवती (गन्धक) पद्मिनी कहाँ है जिसके लिए तूने तपस्या में ठंडा भात (कुरकुटा) खाया है! भाव यह कि तुमने हमारे चांद (पद्मावती) को कहाँ छिपा दिया, जिसके बिना संसार में रात की अँधेरी छा गई है। नेत्र कोड़िल्ला पक्षी है। हृदय समुद्र है, गुरु पद्मावती उसमें प्रकाश है। जब तक मन गोताखोर होकर उसमें नहीं पड़ेगा, उसे मोती कैसे प्राप्त हो सकता है? भाव यह कि तेरे नयन कौड़िल्ले पक्षी की भाँति मछली पर बार-बार टूटते हैं पर पद्मावती पानी की सतह पर चलने वाली मछली नहीं है! वह तो सागर की गहराई में रहने वाला मोती है। उसे प्राप्त करने के लिए पुनः मरजीवे की भाँति जीवन को खतरे में डालना पड़ेगा, तभी वह प्राप्त हो सकेगी।

टिप्पणी—इस पद की चौथी पंक्ति से छठी पंक्ति तक दो अर्थ हैं। सखियों ने संकेत के द्वारा कथन किया है अतएव एक अर्थ धातु-विद्या परक है और दूसरा पद्मावती सम्बन्धी। दोनों अर्थों को समझने के लिए उसके शब्दों का विशेष अर्थ ज्ञातव्य है।

धातु-विद्या-परक अर्थ

धातु-कमाना—रांगे से चाँदी और ताँबे से सोना बनाना। अनेक रससिद्ध जोगी और रसायनी निकृष्ट धातुओं से मूल्यवान् धातुएँ बना लेते थे। इसी कार्य को धातु-कमाना कहते थे।

जोगी—सिद्ध या नाथ जोगी जो रसायन की प्रक्रिया से ताँबे से सोना बनाते और पारे का संस्कार करके सिद्ध गुटिका बनाते थे।

***बूड़ कुरकुटा पै भखु चाहा। जोगिहिं तात भात दहुँ काहा ॥१३२।७॥**

निरधातु—खान से निकले पारे में सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ मिली होती हैं जब उसे इन धातुओं से अलग कर दिया जाता है तो वह निरधातु या नपुंसक हो जाता है।

बीरौ लोना—अमलोनी बूटी जिसका स्वाद नमकीन होता है।

हरताल—हरताल के द्वारा रांगे को चाँदी बनाने का प्रयोग होता था।

पार—पारा, तांबे से सोना बनाने के लिये पारे की आवश्यकता होती थी।

गंधक कहाँ कुरकुटा खावा—पारे में गन्धक डालने से गन्धक पारे को खा जाती है, और पारे के कण अलग नहीं रह जाते। इस प्रकार पारा उड़ नहीं सकता बंधा रहता है। गंधक पार्वती के रज और पारा शिव के वीर्य का प्रतीक है। इस प्रकार गंधक और पारे के योग में रज-वीर्य रूप धातुओं का योग कहा जाता है।

भाव यह कि हे जोगी तूने तो धातुविद्या सीखी है तो आज तेरा पारा धातुओं से हीन क्यों हो रहा है ! तू ने अमलोनी बूटी को कहाँ खो दिया जिसकी सहायता से तू चाँदी और सोना बनाता। क्या हरताल और पारा तेरे पास नहीं है और गन्धक कहाँ है जो पारे के कणों को खा कर बाँध लेती है।

पद्मावती-पक्ष का अर्थ

शब्दार्थ—धातु-कमाना=धातु, शुक्र, वीर्य को साधना, जिससे मन वश में होता है। जोगी=योगी, ऊर्ध्वरेता, साधक। निरधातु=निर्वीर्य, सत्त्वहीन, अधोरेता। बीरौलोना= सौन्दर्य की लता, पद्मावती। रूप=शोभा। सोना=शयन, सुख। हरताल=हरित या रजोधर्म युक्त। पार=पारा, शुक्र। गन्धक=गन्धवती, पद्मिनी स्त्री। कुरकुटा=ठंडा रूखा भात।

अर्थ—हे जोगी तूने योग साध कर शुक्र को वश में करके मन को जीतने की विधि सीखी है। तो अब क्यों धातुहीन होकर चंचल हो रहा है ? तेरी वह सौन्दर्य की लता पद्मावती कहाँ खो गई जो तेरे मुख पर श्री लाती और सोने का सुख देती। उस रजोधर्मयुक्त वाली पद्मावती को शुक्र (पारा) क्यों नहीं मिला। वह गन्धवती पद्मावती कहाँ है, जिसके लिए तूने ठंडे भात को खा कर तपस्या की थी।

नोट—इस पद के बाद भी एक पद शुक्ल सम्पादित ग्रंथावली में है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त बताते हैं। यह पद इस प्रकार है—

का पूछहु तुम धातु निछोही। जो गुरु कीन्ह अंतर पट ओही।
सिधि गुटिका अब मों संग कहा। भएउ राँग, सत हिए न रहा॥
सो न रूप जासों मुख खोलौं। गएउ भरोस तहाँ का बोलौं ?
जहाँ लोना बिरवा कै जाती। कहि कै सँदेस आन को पाती ?
कै जो पार हरतार करीजै। गँधक देखि अबहिं जिउ दीजै॥

तुम्ह जोरा कै सूर मयंकू । पुनि बिछोहि सो लीन्ह कलंकू ।।
जो एहि घरी मिलावै मोहीं । सीस देउँ बलिहारी ओही ।।
होइ अबरक इंगुर भया, फेरि अगिनि महँ दीन्ह ।।
काया पीतर होई कनक, जो तुम चाहहु कीन्ह ।।

अर्थ—रत्नसेन कहता है, ओ निर्मोही अब तुम धातु की क्या बात करती हो। तुमने उस गुरु (पद्मावती) को पर्दे के अन्दर कर दिया है। अब मेरे पास सिद्धि गुटिका नहीं है, अब तो बस मैं रांगा ही रह गया हूं, हृदय में सत नहीं है। वह रूप (चाँदी) है नहीं तो क्या मुख खोलूँ, अब तो सारा विश्वास जाता रहा। जहाँ वह सौन्दर्य की बूटी पद्मावती है वहाँ कौन सन्देशा पहुँचावे और उसकी पत्री लावे ? यदि उस रजोधर्मयुक्त पद्मावती के साथ मेरा संभोग हो सकता और उस गन्धवती पद्मिनी का दर्शन मिलता तो मैं अभी प्राण देने को प्रस्तुत हूं। तुमने एक बार सूर्य और चन्द्र (रत्नसेन-पद्मावती) का मेल कराया और फिर मिलन के बाद बिछोह करा कर कलंक लिया है। अतः अब यदि पुनः पीतल को सोना करना चाहती हो, तो मिलन करा दो, मैं अपने सिर को भी निछावर कर सकता हूं।

अगले २९४वें पद में इस पद की अधिकांश बातें आ गई हैं। इसलिए इसे प्रक्षिप्त माना गया है।

[२९४]

का बसाइ जौं गुरु अस बूझा । चकाबूह अभिमनु जो जूझा ।।
बिख जो देहि अंब्रित देखराई । तेहि रे निछोहिंहि को पतिआई ।।
मरै सो जान होइ तन सूना । पीर न जानै पीर बिहूना ।।
पार न पाव जो गन्धक पिया । सो हरतार कहौ किमि जिया ।।
सिद्धि गोटिका जापहँ नाहीं । कौनु धातु पूँछहु तेहि पाहीं ।।
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं । होइ सार तब बर के बोलौं ।।
अभरक कै तन एँगुर कीन्हा । सो तुम फेरि अगिनि महँ दीन्हा ।।
मिलि जौ पिरीतम बिछुरै, काया अगिनि जराइ ।
कै सौ मिलै तन तपति बुझै, कै मोहि मुएँ बुझाइ ।।२९४।।

शब्दार्थ—पतिआई=विश्वास करना। पार न पाव=१. पारा नहीं मिलता अर्थात् गंधक से मिलने पर पारा अदृश्य हो जाता है। २. पार नहीं पाता, तृप्त नहीं होता। गंधक पिया=१. गंधक जो पारे को पी जाती है। २. गंधयुक्त पद्मिनी का पान जिसने किया। हरतार=१. हरताल जड़ी जिसकी आवश्यकता रसायन में पड़ती है। २. तार (व्यवस्था) को हर लेना। सिद्धिगोटिका=१. बद्ध पारद की गोली। २. पद्मावती। बाजु=बिना। रांग=राँगा नामक निकृष्ट धातु। एँगुर=रस सिंदूर। अभ्रक, पारा और

गन्धक को एक साथ घोट कर रस सिंदूर (ईंगुर) बनाया जाता है। किन्तु यदि इस ईंगुर को फिर से अग्नि पर रख दिया जाय तो गन्धक और पारा अलग हो जाते हैं।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि यदि पद्मावती ऐसा कहती है, तो इसमें मेरा क्या वश है, मैं अभिमन्यु की भाँति चक्रव्यूह में मर जाऊँगा। (२९३वें पद के दोहे की ओर संकेत इसमें है, जिसमें कहा गया था कि पुनः मरजीवे की भाँति प्रयत्न करना होगा)। जिसने अमृत दिखला कर विष दिखलाया, उस निठुर का कौन विश्वास करेगा ? जो मरता है और जिसका शरीर शून्य हो जाता है, वही मरण के कष्ट को जान सकता है, जिसमें पीड़ा है ही नहीं, वह दूसरे की पीड़ा क्या जाने ? जिस पारे को गन्धक पी जाती है वह मिल नहीं सकता। बिना पारे के हरताल की भी क्या आवश्यकता अर्थात् जिसने पद्मिनी का रूप पिया है, वह कभी पार नहीं हो सकता (उसे तृप्ति नहीं हो सकती)। यदि उसने उस तार को हर लिया तो वह कैसे जी सकता है ? अब मेरे पास सिद्धि गुटिका तो है नहीं तो फिर मुझसे किस धातु की बात करती हो। अब उस सिद्धि गुटिका (पद्मावती) के बिना मैं राँगे के समान निस्सार हो रहा हूँ। जब तत्व हो तभी तो बोलूँ। अभ्रक रूपी उस पद्मावती के साथ इस शरीर को मिला कर मैंने ईंगुर कर लिया था पर तुमने फिर उसे अग्नि में डाल दिया और उस अभ्रक (पद्मावती) को मुझ से अलग कर दिया। मिल करके प्रियतमा से वियोग हो गया। अब शरीर विरह से जल रहा है। अब या तो उससे मिल कर अपने शरीर की जलन को बुझाऊंगा या मर कर शान्ति पाऊँगा।

[२९५]

सुनि कै बात सखी सब हँसी। जनहुँ रैनि तरईं परगसीं।।
अब सो चाँद गँगन महँ छपा। लालि किहें कत पावसि तपा।।
हमहुँ न जानहिं दहुँ सो कहाँ। करब खोज औ बिनउब तहाँ।।
औ अस कहब आहि परदेसी। करु माया, हत्या जनि लेसी।।
पीर तुम्हार सुनत भा छोहू। दैय मनाव, होउ अब ओहू।।
तूँ जोगी तप करु मन जथा। जोगिहि कवनि राज कै कथा।।
वह रानी जहवाँ सुख राजू। बारह अभरन करै सो साजू।।

जोगी विढ़ आसन करु, अस्थिर धरु मन ठाउँ।
जौ न सुने तौ अब सुनु, बारह अभरन नाउँ।।२९५।।

शब्दार्थ—लालि=लाली या लालसा। तपा=तपस्वी। दहुँ=पता नहीं। बिनउब=विनय करूंगी। लेसी=लो। अभरन=आभरण, गहने।

अर्थ—राजा की बातें सुन कर सखियाँ हंसने लगीं। उनके दाँत ऐसे लगे, मानो रात में तारागण चमक उठे हों। उन्होंने कहा कि अब तो चन्द्रमा आकाश में छिपा हुआ है,

हे तपस्वी ! तप करके लाल होने से या केवल लालसा करने से उसे न पा सकोगे। हम भी नहीं जानतीं कि वह कहाँ है, हम उसकी खोज करेंगी और मिलने पर विनय करेंगी कि वह बेचारा परदेशी है, दया करो, उसकी हत्या न लो। तुम्हारा दुःख देख कर हमें बड़ी दया आती है। ईश्वर को मनावो कि उसे भी इसी प्रकार दया लगे। तू तो जोगी है, तपस्या करने में मन लगाओ, जोगी को राज्य भोग की कथा से क्या ? उसी प्रकार वह रानी है, सुख-भोग में रत रहने वाली है, वह बारहों आभरणों से अपने को सजा रही है।

हे जोगी ! दृढ़ चित्त होकर अब उन बारह आभरणों का नाम सुनो, जिसे तुमने शायद कभी न सुना हो।

अग्रिम पदों में बारह आभरण और सोलह शृङ्गारों का वर्णन जायसी ने किया है। इस वर्णन में उन्हें कुछ भ्रम हो गया। आभरण वास्तव में गहने को कहते हैं। बारह आभरण हैं—नूपुर, किंकिणी, वलय, अंगूठी, कंकण, अंगद, हार, कंठश्री, बेसर, खूंट, टीका और शीशफूल। पर जायसी ने आभरण को शृङ्गार समझ लिया, इसीलिए आभरणों और शृङ्गारों का बेमेल वर्णन किया है। वास्तव में हिन्दू परम्पराओं का उनका ज्ञान सुना-सुनाया ही था।

[२९६]

प्रथमहि मंजन होइ सरीरू। पुनि पहिरै तन चंदन चीरू॥
साजि माँग पुनि सेंदुर सारा। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारा॥
पुनि अंजन दुहुँ नैन करेई। पुनि कानन्ह कुण्डल पहिरेई॥
पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राता मुख खाइ तँमोला॥
गियँ अभरन पहिरैं जहँ ताईं। और पहिरै कर कँगन कलाईं॥
कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। औ पायल पायन्ह भल चूरा॥
बारह अभरन एइ बखाने। ते पहिरै बरहौ असथाने॥

पुनि सोरह सिंगार जस, चारिहुँ जोग कुलीन।
दीरघ चारि चारि लघु, चारि सुभर चहुँ खीन॥२९६॥

शब्दार्थ—मंजन=स्नान। चीरू=साड़ी। सारा=लगाया। राता=लाल। गियँ=गला। ताईं=तक। चूरा=कड़ा। कुलीन=उत्तम। सुभर=भरे हुए। खीन=पतले।

अर्थ—सखियाँ बारह आभरणों का वर्णन करती हैं—

पहले तो स्नान किया जाता है, फिर शरीर में चन्दनी रंग की साड़ी पहनी जाती है। फिर माँग को सजाकर उसमें सिन्दूर लगाया जाता है। फिर ललाट में टीका लगाया जाता है। उसके बाद दोनों आँखों में अंजन डाले जाते हैं, फिर कानों में कुण्डल पहने जाते हैं। इसके पश्चात् नाक में अनमोल फूल पहनकर, पान को खाकर मुख को लाल किया जाता है।

गले में हार आदि आभूषण डाले जाते हैं, हाथ और कलाई में कंगन आदि पहने जाते हैं: कमर में किंकिणी पहनी जाती है और पैरों में पायल और कड़े पहने जाते हैं। फिर सोलह शृङ्गार किये जाते हैं, जो चार-चार के सुन्दर विभागों में बँटे हैं। इनमें चार बड़े, चार छोटे, चार भरे और चार पतले हैं। चार बड़े—केश, उंगली, नेत्र, ग्रीवा। चार छोटे—दाँत, कुच, ललाट, नाभि। चार भरे हुए—कपोल, नितंब, जंघाएं, कलाई। चार पतले—नाक, कटि, पेट, अधर।

नोट—सोलह शृङ्गार का वर्गीकरण भी भ्रमपूर्ण है। वास्तव में वर्गीकरण आभरणों का था। आभरणों के चार भेद थे—१. आवेध्य (छेद कर पहने जाने वाले जैसे वेसर और कर्ण फूल), २. बंधनीय (बाँधने वाले वलय, अंगद), ३. क्षेप्य (जैसे कड़े और अँगूठी), ४. आरोप्य (जैसे हार)।

[२९७]

पदुमावति जो सँवरै लीन्ही। पूनिव राति दैयँ अस कीन्हो॥
कै मंजन तब किएहु अन्हानू। पहिरे चीर, गएउ छपि भानू॥
रचि: पत्रावलि माँग सेंदुरा। भरि मोतिन्ह औ मानिक पूरा॥
चन्दन चित्र भए बहु भाँती। मेघ घटा जानहुँ बग पाँती॥
सिरै जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट लै तारा॥
तिलक लिलाट धरा तस डीठा। जनहुँ दुइज पर नखत बईठा॥
मनि कुण्डल खुँटिला औ खूँटी। जानहुँ परी कचपची टूटी॥
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भौ, बरनि न आवै भाउ।
माँग क दरपन गँगन भा, तौ ससि तार देखाउ॥२९७॥

शब्दार्थ—सँवरै लीन्हीं = शृङ्गार किया। दैयँ = ईश्वर। मंजन = दन्त मञ्जन। अन्हानू = स्नान। पत्रावलि = पत्रभंग, रचना, पत्ते के समान सिर के बाल और माँग सँवारना। तिलक = टीका, बिन्दी। खुँटिला = कर्ण फूल। खूँटी = कान की कील। कचपची = छः सात छोटे तारों का समूह जिसे कृत्तिका नक्षत्र कहते हैं।

अर्थ—जब पद्मावती ने शृङ्गार किया तो ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी जैसे पूर्णमासी की रात्रि में चन्द्रमा। मंजन करके उसने स्नान किया, तब उसने साड़ी पहनी, उसके रूप के प्रकाश के आगे सूर्य भी छिप गया। उसने बालों में कंघी की और बालों को सीधा कर उसमें माँग सँवारी, फिर माँग में सिन्दूर लगाया। माँग को मोती और माणिक्य से पूर दिया। चन्दन मिश्रित वस्त्र पहिने, मानो बादलों की घटा में बगुलों की पंक्ति शोभित है। सिर में जो उसने रत्नों की मांग बैठाई ऐसा प्रतीत होता था मानों आकाश से तारा टूट रहा हो। उसके माथे पर टीका, बिन्दी ऐसी लगती थी मानों दूज के चाँद पर तारा बैठा हो। मणि के कुण्डल, कर्णफूल और कान की कील ऐसे लगते थे जैसे कृत्तिका नक्षत्र टूट पड़ा हो।

जब वह जड़ाऊ गहनों को पहन कर खड़ी हो गई तो उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। आकाश उसकी माँग का दर्पण (प्रतिबिम्ब) प्रतीत हो रहा था, जिसमें चन्द्रमा और तारे दिखाई पड़ रहे थे।

[२९८]

बाँक नैन और अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा॥
जब जब हेरु, फेरु चखु मोरी। लुरै सरद महँ खंजन जोरी॥
भौहें धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साँधि बान जनु मारे॥
कनक फूल नासिक अति सोभा। ससि मुख आइ सूक जनु लोभा॥
सुरँग अधर औ लीन्ह तँबोरा। सोहै पान फूल कर जोरा॥
कुसुम गेंद, अस सुरँग कपोला। तेहि पर अलक भुअंगिनि डोला॥
तिल कपोल अलि पदुम बईठा। बेधा सोइ जो वह तिल डीठा॥
देखि सिंगार अनूप विधि, बिरह चला तब भागि।
कालकूट एइ ओनए, सब मोरें जिय लागि॥२९८॥

शब्दार्थ—हेरु=देखना। चखु=आँखें। लुरै=झुके। धनुक=धनुष। कनक फूल=सोने की लौंग, पाठान्तर-करन फूल=करना नामक सफेद फूल जिसकी नकल पर नाक का फूल बनाया जाता था। साँधि=संधान कर। तंबोरा=ताम्बूल, पान। कालकूट=विष। ओनए=झुके हुए।

अर्थ—कवि पद्मावती के वदन-सौंदर्य का वर्णन कर रहा है—

उसकी तिरछी आँखों में काजल की रेखा ऐसी सुशोभित थी मानों शरद् ऋतु में खंजन पक्षी दिखाई पड़ रहे हों। जब-जब वह अपनी आँखों को मोड-मोड़ कर देखती है, ऐसा प्रतीत होता है मानों शरद् ऋतु में दो खंजनों के जोड़े इधर उधर उड़ रहे हैं। उसकी धनुषाकार भौंहों से धनुष हार गये। ऐसा लगता है जैसे वह आँखों से चला-चला कर बाण मार रही है। नासिका पर सोने की लौंग सुशोभित है मानो शशि-मुख पर शुक लुभा कर आया हुआ है। सुन्दर लाल होंठ हैं और उन पर उसने पान खा रक्खा है मानों पान और फूल (पान और अधर) का जोड़ा शोभित है। फूलों की गेंद के समान उसके सुन्दर कपोल हैं, जिस पर बाल रूपी सर्पिणी डोल रही है। कपोल पर एक तिल है मानों कमल पर भौंरा बैठा है। जो कोई उस तिल को देख लेता है वही बिंध जाता है।

उसके अनुपम शृंगार को देखकर बिरह भाग चला। उसने सोचा मेरे ही लिए ये सब विष झुके हुए हैं।

[२९९]

का बरनौं अभरन उर हारा। ससि पहिरें नखतन्ह कै मारा॥
चीर चारु औ चंदन चोला। हीर हार नग लाग अमोला॥

तिन्ह झाँपी रोमावलि कारी। नागिनि रूप डसै हत्यारी ॥
कुच कंचुकी सिरीफल उभै। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभै ॥
बाँहन्ह बाँहू टाड सलोनी। डोलत बाँह भाउ गति लोनी ॥
नीबी कँवल करी जनु बांधी। बिसा लंक जानहु दुइ आधी ॥
छुद्रघंटि कटि कंचन तागा। चलै तो उठै छतीसौ रागा ॥
चूरा पायल अनवट बिछिया, पायन्ह परे बियोग।
हिए लाइ टुक हम कहं समदहु, तुम्ह जानहु अउ भोगु ॥२९९॥

शब्दार्थ—मारा=माला। चारु=सुन्दर। झाँपी=ढक लिया। रोमावलि=रोम की पंक्ति जो नाभि से सीने तक चलती है, जिसका उल्लेख जायसी ने पहले भी किया है। सिरीफल=श्रीफल-बेल। उभै=उठे हुए। हुलसहिं=उल्लसित होते हैं। टाड=बाँह पर पहना जाने वाला एक गहना। नीबी=वह गाँठ जिसमें स्त्रियाँ लहँगे की गाँठ बाँधती हैं। बिसा=भिड़, ततैया या बर्रे। चूरा=कड़ा। अनवट=अँगूठे का एक गहना। बिछिया=पैर की उंगली का गहना। टुक=जरा सा। समदहु=मिलो।

अर्थ—कवि कहता है कि मैं आभूषणों का क्या वर्णन करूँ। हृदय पर हार है मानों चन्द्र ने नक्षत्रों की माला पहन रखी हो। सुन्दर साड़ी और चन्दनी वस्त्र का चोला पहन रखा है जिनमें हीरे और अन्य अमूल्य रत्न टंके हुए हैं। इन्होंने उसके हृदय की उस रोमावली को ढंक लिया है जो नागिन के समान प्राण लेती है। चोली में उसके श्रीफल के सदृश उरोज उठे हुए हैं। ऐसा मालूम होता है कि हुलस कर ये पति के हृदय में चुभ जाना चाहते हैं। बाँहों में सुन्दर टाड शोभा पा रही है, अपनी गति से जब बाँहें चलती हैं तो अत्यन्त सुन्दर लगती हैं। कमर में लहँगे की डोर कमल नाल के समान बन्धी है, कमर भिड़ की कमर के समान इतनी पतली है जैसे उसके दो भाग कर दिये गये हैं। सोने के तागों में घुंघुरुओं की करधनी है, जब चलती है तो घुंघुरू बजते हैं और प्रतीत होता है कि छत्तीसों रागों की ध्वनि बज रही है। उसके पैर में कड़ा, पायल, अनवट, बिछिया हैं, उन सब से स्वर निकलता है। कवि कहता है कि पद्मावती के अंग गहनों के स्वरों से मानों कह रहे हैं कि थोड़ी देर के लिए हमें हृदय लगा कर पति से मिलो तब जानोगे कि जीवन का सुख क्या है ? इसमें जायसी ने संभोग मुद्रा की ओर संकेत किया है।

[३००]

अस बारह सोरह धनि साजे। छाज न औरहि, औहि पै छाजै ॥
बिनवहि सखीं गहरु नहीं कीजै। जेइँ जिउ दीन्ह ताहि जिउ दीजै ॥
सँवरि सेज धनि मन भौ संका। ठाढ़ि तिवानि टेकि कै लंका ॥
अनचिन्ह पिउ, काँपे मन माहाँ। का मैं कहब गहब जब बाँहाँ ॥
बारि बएस गौ प्रीति न जानी। तरुनी भइ मैंमंत भुलानी ॥

जोबन गरब कछु मैं नहिं चेता । नेहु न जानिउँ स्याम कि सेता ।।
अब जौं कंत पूँछिहि सेइ बाता । कस मुँह होइहि पीत कि राता ।।
हौं सो बारि औ दुलहिनि, पिउ सो तरुन औ तेज ।
नहिं जानों कस होइहि, चढ़त कंत की सेज ।। ३०० ।।

शब्दार्थ—धनि=स्त्री । छाज=शोभा पाना । गहरु=देर । सँवरि=स्मरण करके । तिवानि=सोच में । लंका=कमर । अनचिन्ह=अपरिचित । बारि=कुमारी । बएस=उम्र । गौ=गयी । मैमंत=मस्त ।

अर्थ—कवि कहता है कि इस प्रकार वह स्त्री (पद्मावती) बारह आभरणों और सोलह शृङ्गारों से सज गई । ये सारे शृङ्गार जितना उस पर सुशोभित हो रहे हैं उतना और किसी पर सुशोभित नहीं हो सकते । सखियाँ उससे विनती करने लगीं कि अब देर न करो । जिस रत्नसेन ने तुम्हारे लिए जान की बाजी लगा दी उसे अब अपना हृदय दो । पद्मावती सेज को स्मरण कर के सशंकित हो गयी और कमर पर हाथ रख कर के सोच में पड़ कर खड़ी रह गयी । अपरिचित पति को सोच कर मन में काँपने लगी और सोचने लगी जब प्रियतम बाँह पकड़ेंगे तो क्या कहूँगी ? मेरी कुमारी अवस्था बीत गयी, मैंने प्रेम की रीति नहीं जानी, अब युवति होकर मस्ती में भूल गयी हूँ । जवानी के गर्व में मुझे कुछ चेत नहीं है, मैं नहीं समझती कि प्रेम का क्या स्वरूप है काला या सफेद ? अब जो मेरे प्रियतम मुझ से वही बात पूछेंगे तो पता नहीं मेरा मुख लज्जा और भय से लाल होगा या पीला । मैं तो एक बाला और नयी दुलहिन हूँ और मेरा पति पूर्ण युवक और तेजस्वी है। मेरी समझ में नहीं आता कि पति की सेज पर चढ़ते हुए मुझ पर क्या बीतेगी ?

नोट—स्त्री-मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण जायसी ने प्रस्तुत किया है ।

[३०१]

सुनि धनि डर हिरदैं तब ताईं । जौ लगि रहसि मिला नहीं साईं ।।
कवन सो करी जो भँवर न राई । डारि न टूटै फर गरुआई ।।
माता पिता बियाही सोई । जरम निबाह पियहि सो होई ।।
भरि जमबार चहै जहँ रहा । जाइ न मेंटा ताकर कहा ।।
ताकहँ बिलँबु न कीजै बारी । जो पिय आएसु सोइ पियारी ।।
चलहु बेगि आएसु भा जैसें । कंत बोलावै रहिए कैसें ।।
मान न करु, थोरा करु लाडू । मान करत रिस मानै चाडू ।।
साजन लेइ पठाइया, आएसु जेहि क अमेंट ।
तन मन जोबन साजि सब, देइ चलिअ लै भेंट ।। ३०१ ।।

शब्दार्थ—ताईं=तक। रहसि=एकान्त में। साईं=पति। राई=अनुरक्त हुई। फर=फल। गरुआई=भार। जरम=जीवन भर। जमबार=यमराज का द्वार, पाठान्तर-जीवन। लाडू=प्यार। चाडू=गहरी चाह वाला, प्रियतम।

अर्थ—पद्मावती की मनोदशा को समझ कर उसकी सखी बोली कि हे पद्मावती! सुनो। हृदय में डर तभी तक होता है, जब तक एकान्त में पति से मिलन नहीं होता। ऐसी कौन-सी कमल की कली है जिस पर भौंरा अनुरक्त नहीं हुआ। फल के भार से कभी डाल नहीं टूटती अर्थात् प्रेमाधिक्य में किसी प्रकार का डर नहीं है। माता-पिता ने जिसके साथ विवाह कर दिया उसी पति के साथ सारे जीवन निर्वाह करना होगा। जम के द्वार जाने तक अर्थात् जीवन भर जहाँ वह रहना चाहेगा वहीं रहना होगा, उसका कथन किसी प्रकार मेटा नहीं जा सकता। इसलिए देर मत करो। जो स्त्री पति की आज्ञा में रहती है वही उसकी प्यारी होती है। अतएव जिस प्रकार आज्ञा हुई है शीघ्र चलो। पति बुला रहा है तो फिर किस प्रकार रुक सकती हो। मान न करो, थोड़ा प्यार करो, मान करने पर गहरी चाह वाला भी रुष्ट हो जाता है। पति ने बुला भेजा है उसकी आज्ञा मेटी नहीं जा सकती, यौवन रूप की भेंट लेकर उससे मिलो।

[३०२]

पदुमिनि गँवन हंस गौ दूरी। हस्ती लाजि मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देखि छबि बीजु लजाना॥
खंजन छपा देखि कै नैना। कोकिल छपा सुनत मधु बैना॥
गीवँ देखि कै छपा मँजूरू। लंक देखि कै छपा सदूरू॥
भौंह धनुक जो छपा अकाराँ। बेनी बासुकि छपा पताराँ॥
खरग छपा नासिका बिसेखी। अंब्रित छपा अधर रस पेखी॥
भुजन छपानि कँवल पौनारी। जंघ छपा केदली होइ बारी॥

आछँरि रूप छपानी, जबहिं चली धनि साजि।
जावँत गरब गहीलि हुतिं, सबै छपीं मन लाजि॥३०२॥

शब्दार्थ—गौ=गया। मेल=डाल लिया। दसन=दाँत। गीवँ=गर्दन। मँजूरू=मयूर। सदूरू=शार्दूल, सिंह। धनुक=धनुष। अकारां=आकार। बेनी=चोटी। बासुकि=शेषनाग। खरग=खड्ग, तलवार। पेखी=देखकर। पौनारी=पद्मनाल। केदली=केला। बारी=बगीचा। जावँत=जितनी। गरब गहीलि=गर्व धारण करने वाली।

अर्थ—इस पद में कवि पद्मावती के अङ्ग-अङ्ग की हेतूत्प्रेक्षा के द्वारा सुन्दरता वर्णन करता है—

पद्मावती की चाल देखकर लज्जा के मारे हंस दूर (मानसरोवर में) भाग गया और हाथी ने लज्जा के मारे अपने मस्तक पर धूल डाल ली। मुख को देखकर चन्द्रमा घटने लगा और छिप गया। दाँतों की चमक देखकर बिजली शरमा गई। आँखों को देखकर खंजन पक्षी छिप गये। मीठे वचन सुनकर कोकिल छिप गई। गले की शोभा देखकर मोर छिप गया और कटि के पतलेपन को देखकर सिंह छिप गया। भौंह के आकार को देख कर धनुष छिप गया और चोटी को देखकर शेषनाग पाताल में जा छिपा। नाक की शोभा से लज्जित होकर तलवार म्यान में छिप गई और होंठों के रस को देखकर अमृत छिप गया। भुजाओं को देखकर कमल की नाल पानी में छिप गई और जंघाओं को देखकर केला बाग में छिप गया। जब पद्मावती सज कर चली तो अप्सरायें उसके सौन्दर्य को देखकर छिप गईं। जितनी अपने रूप की गर्वीली थीं सब की सब मन में लजा कर छिप गईं।

[३०३]

मिली तराईं सखी सयानी। लिए सो चाँद सुरुज पहँ आनी॥
पारस रूप चाँद देखराई। देखत सुरुज गएउ मुरुछाई॥
सोरह कराँ दिस्टि ससि कीन्ही। सहसौ करा सुरुज कै लीन्ही॥
भा रवि अस्त, तराइन हँसें। सुरुज न रहा, चाँद परगसें॥
जोगी आहि, न भोगी होई। खाइ कुरकुटा गा परि सोई॥
पदुमावति निरमलि जसि गंगा। तोहि जो कित जोगी भिखमंगा॥
अबहुँ जगावहिं चेला जागू। आवा गुरू, पाय उठि लागू॥

बोलहिं सबद सहेलीं, कान लागि गहि माँथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा, उठु रे चेला नाथ॥३०३॥

शब्दार्थ—तराईं=तारा गण। आनी=लाईं। परगसे=प्रकाशित होने पर। आहि=है। कुरकुटा=ठण्डा भात। ठाढ़ भा=खड़ा है। नाथ=नाथपंथी जोगी।

अर्थ—तारागणों के सदृश सखियाँ पद्मावती से मिलीं और उस चन्द्र (पद्मावती) को सूर्य (रत्नसेन) के पास ले आईं। उस पारस रूप चन्द्रमा के देखते ही सूर्य (रत्नसेन) मूर्छित हो गया। जब चन्द्र (पद्मावती) ने अपनी सोलहों कलाओं की दृष्टि की तो सूर्य की हजारों कलाओं को छीन लिया। सूर्य अस्त हो गया, तारागण हँस पड़े (रत्नसेन को मूर्छित देखकर सखियाँ हँस पड़ीं)। सूर्य नहीं रह गया, चन्द्रमा (पद्मावती) का प्रकाश फैल गया। सखियाँ कहने लगीं यह तो जोगी है, भोगी नहीं है, ठंडा भात खाकर सो गया है। फिर पद्मावती के प्रति कहने लगीं कि पद्मावती तो गंगा जैसी निर्मल है, तेरे योग्य यह भिखारी जोगी कैसे हो सकता है? अब वे जगाने लगीं और कहा कि जगो, देखो तेरा

गुरु आया है, तू उसके चरण लग। सब सहेलियाँ उसके मत्थे को पकड़ कर और कान में लग कर शब्द बोल रही हैं कि हे जोगी ! देख तेरा गुरु गोरखनाथ आया है, तू शीघ्र उठ।

[३०४]

गोरख सबद सुद्ध भा राजा। रामा सुनि रावन होइ गाजा॥
गही बांह धनि सेजवां आनी। आंचर ओट रही छपि रानी॥
सकुचै डरै मुरै मन नारी। गहु न बांह रे जोगि भिखारी॥
ओहट होहि, जोगि तोरि चेरी। आवै बास कुरकुटा फेरी॥
देखि भभूति छूति मोहि लागा। कांपै चांद, राहु सौं भागा॥
जोगी तोरि तपसी कै काया। लागी चहै अंग मोहि छाया॥
बार भिखारि न मांगसि भीखा। मांगै आइ सरग चढ़ि सीखा॥

जोगि भिखारी कोई, मंदिर न पैसै पार।
मांगि लेहि किछु भिख्या, जाइ ठाढ़ होहि बार॥३०४॥

शब्दार्थ—सुद्ध=चैतन्य। गही=पकड़ी। मुरै=मुड़ै। बार=द्वार। पैसे=प्रवेश। पार=सकना।

अर्थ—गोरख शब्द को सुन कर राजा रत्नसेन चैतन्य हो गया जैसे राम के नाम को सुन कर रावण जग कर गर्ज उठे। उसने पद्मावती की बाँह पकड़ ली और सेज पर ले गया। रानी ने अपने आँचल की ओट में अपना मुँह ढक लिया। वह सकुचाने लगी, वह नारी स्वभाव से मुड़ने लगी। फिर उसने कहा कि हे भिखारी मेरी बांह न पकड़ो ! हे जोगी ! तू सामने से हट जा, तू तो जोगी है और मैं तेरी सेविका। तेरे शरीर से तो कुत्सित अन्न की महँक आ रही है। तेरे शरीर की श्मशान की भभूत देख कर मुझे छूत लगती है। इस प्रकार वह चन्द्रमा रूपी पद्मावती उस राहु रूपी रत्नसेन से डरने लगी। उसने फिर कहा कि हे जोगी ! तेरा शरीर तो तपस्वी का शरीर है। तेरी छाया मेरे शरीर को छूना चाहती है। तू तो भिखारी है, द्वार पर भिक्षा क्यों नहीं माँगता ? तुम तो स्वर्ग चढ़ कर माँगना सीख रहे हो। कोई जोगी और भिखारी घर में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः कुछ भिक्षा माँगो और जा कर द्वार पर खड़े हो।

[३०५]

अनु तुम्ह कारन प्रेम पियारी। राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी॥
नेह तुम्हार जो हिए समाना। चितउर माँह न सुमिरेउ आना॥
जस मालति कह भँवर वियोगी। चढ़ा बियोग चलेउँ होइ जोगी॥
भएउँ भिखारि नारि तुम्ह लागी। दीप पतँग होइ अँगएउँ आगी॥
भँवर खोजि जस पावै केवा। तुम्ह काँटे मैं जिव पर छेवा॥

एक बार मरि मिलै जौं आई। दोसरि बार मरै कत जाई ॥
कत तेहिं मीचु जो मरि कै जिया। भा अम्मर मिलि कै मधु पिया ॥
भँवर जो पावैं कँवल कहँ, बहु आरति बहु आस।
भँवर होइ नेवछावरि, कँवल देइ हँसि बास ॥३०५॥

शब्दार्थ—अनु=फिर। अंगएउँ=सहा। केवा=कमल। छेवा=खेला। कत=कहाँ। मीचु=मृत्यु। आरति=कातरता। बास=सुगन्ध।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया, हे प्राण प्यारी हम तो तुम्हारे कारण ही राज्य को छोड़ कर भिखारी बने हैं। ज्योंही तेरा प्रेम मेरे हृदय में प्रविष्ट हुआ कि मुझे चित्तौड़ में और कुछ भी स्मरण न हुआ। जिस प्रकार भौंरा मालती के लिए चल पड़ता है उसी प्रकार मैं भी वियोगी होकर चल पड़ा। हे नारी! मैं तो तुम्हारे लिए भिखारी बना था। दीपक के पतंगे की भाँति विरह की अग्नि को सहता रहा हूँ। जिस प्रकार भौंरा कमल को खोज लेता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे कांटों पर जान देने वाला हूँ। एक बार मर कर जो अपनी प्यारी से मिल जाय, उसे दुबारा मरने की क्या आवश्यकता। (इस पंक्ति में अध्यात्म की झलक है।) जो मर कर जीता है उसे मृत्यु कहाँ है? उसने तो मिल कर अमरत्व पा लिया है। जो भौंरा अनेक दुःख, कातरता और आशाओं के बाद कमल को पाता है और अपने को उस पर न्योछावर करता है, उसे कमल भी प्रसन्नतापूर्वक अपनी सुगन्ध देता है। भाव यह कि इतनी कठिनाइयाँ मैंने सहीं, अब तुम अपना प्रेम मुझे दे दो।

[३०६]

अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होहिं नहिं राजा ॥
हौं रानी, तूँ जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी ॥
जोगी सबै छंद अस खेला। तूँ भिखारि केहि माहँ अकेला ॥
पवन बाँधि उपसवहिं अकासा। मनसहिं जहाँ जाहिं तेहिं पासाँ ॥
तैं तेहि भाँति सिस्टि यह छरी। एहि भेस रावन सिय हरी ॥
भँवरहि मींचु नियर जब आवा। चंपा बास लेइ कहँ धावा ॥
दीपक जोति देखि उजियारी। आई पतंग होई परा भिखारी ॥
रैनि जो देखिअ चंद मुख, मकु तन होइ अनूप ॥
तहू जोगि तस भूला, भै राजा के रूप ॥३०६॥

अर्थ—छाजा=शोभा पाना। चिन्हारी=पहचान। छंद=कपट। उपसवहिं=जाते हैं। मनसहिं=मन से सोचते हैं। सिष्टि=सृष्टि। छरी=छला है। मकु=सम्भवतः। तहूँ=तू भी।

अर्थ—पद्मावती ने उत्तर दिया कि अपने मुख से अपनी बड़ाई शोभा नहीं देती। जोगी कहीं भी राजा नहीं हो सकता। मैं तो रानी हूं और तू जोगी और भिखारी है, भला जोगी और भोगी की क्या पहचान ? सभी जोगी इसी प्रकार कपट का खेल खेलते हैं तो तू भिखारी किस में है। वे लोग प्रणायाम के द्वारा गगन में पहुंचते हैं, जहाँ जाने की सोचते हैं वहीं पहुँच जाते हैं। उसी भांति तुमने भी संसार को छल लिया। इसी वेष में रावण ने भी सीता को हर लिया था। भौंरा जब मृत्यु के समीप आता है तो चम्पा की सुगन्ध लेने के लिए आता है। दीपक (पद्मावती) की उज्ज्वल ज्योति देखकर पतंगा बनकर भिखारी हो गया। यह कल्पना करके कि शायद वह (पद्मावती) ऐसी ही अनुपम है, जैसा कि रात में देखा हुआ चन्द्रमा है। जोगी तू भी राजा के रूप में भूल गया। अर्थात् सचमुच तो तू एक जोगी है। पर छल करने के लिए राजा के रूप में वेष बदल रहा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[३०७]

अनु धनि तूँ ससिअर निसि माहाँ। हौं दिनअर तेहि की तूँ छाहाँ।
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरज कि जोति चाँद निरमरा॥
भँवर बास चंपा नहिं लेई। मालति जहाँ तहाँ जिउ देई॥
तुम्ह निति भएउ पतंग कै करा। सिंहल दीप आइ उड़ि परा॥
सेएउँ महादेव कर बारू। तजा अन्न, भा पवन अधारू॥
तुम्ह सों प्रीति गाँठि हौं जोरी। कटै न काटे, छुटै न छोरी॥
सीय भीख रावन कहँ दीन्हो। तूँ असि निठुर अँतरपट कीन्हीं॥

रंग तुम्हारे रातेउँ, चढ़ेउँ गँगन होइ सूर।
जहँ ससि सीतल कहँ तपनि, मन इंछा धनि पूर॥

शब्दार्थ—अनु=फिर। ससिअर=चन्द्र। दिनअर=सूर्य। निति=लिए। करा=कला। निरमरा=निर्मल। बास=सुगन्ध। बारू=द्वार। रातेउँ=लाल हुआ। धनि=स्त्री (पद्मावती)।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि हे पद्मावती तू रात्रि का चन्द्रमा है और मैं सूर्य, जिसकी तू छाया है। चन्द्रमा में ज्योति और कला कहाँ होती है। सूर्य की ही ज्योति तो निर्मल चन्द्र है। भौंरा चम्पा की सुगन्ध नहीं लेता, जहाँ मालती होती है वहीं जान देता है। तुम्हारे लिए ही मैं पतंगा बनकर सिंहलदीप में उड़कर आ गया, और महादेव के द्वार की सेवा की। मैंने अन्न छोड़ दिया, हवा ही मेरा एकमात्र जीवनाधार बनी। मैंने तुम से प्रीति की गाँठ जोड़ ली, यह प्रीति की गाँठ काटे से कट नहीं सकती और

छुड़ाने से छुट नहीं सकती। सीता ने रावण को भी भिक्षा दे दी थी, पर तुम तो ऐसी निष्ठुर हो कि कपड़े की श्रोट में हो रही हो। मैं तुम्हारे प्रेम के रंग में ही लाल हो गया और सूर्य बनकर आकाश पर चढ़ गया हूँ, जहाँ शीतल चन्द्रमा है वहाँ गर्मी कैसे रह सकती है, हे पद्मावती ! तू मेरी इच्छा को पूरी कर।

[३०८]

जोगि भिखारि करसि बहु बाता। कहेसि रंग, देखौं नहिं राता ॥
कापर रंगे रंग नहिं होई। हिएँ औटि उपनै रंग सोई ॥
चाँद के रंग सुरुज जौं राता। देखिअ जगत साँझ परभाता ॥
दगध बिरह निति होइ अँगारू। ओहि की आँच धिकै संसारू ॥
जौं मँजीठ औटैं औ पचा। सो रँग जरम न डोलै रँचा ॥
जरै बिरह जेउँ दीपक बाती। भीतर जरै, उपर होइ राती ॥
जरै परास कोइला के भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू ॥
पान सुपारी खैर दुहुँ, मेरैं करैं चकचून ॥
तब लगि रंग न राचै, जब लगि होइ न चून ॥ ३०८ ॥

शब्दार्थ—कापर=कपड़ा। औटि=उबाल कर। उपनै=उत्पन्न हो। दगध=जलन। अँगारू=अंगारा। धिकै=गर्म हो। मँजीठ=लाल रंग का फल। जरम=जन्म भर। रँचा=तनिक भी। जेउँ=ज्यों। मेरैं=मिलावें। चकचून=चकनाचूर। राचै=चढ़े।

अर्थ—पद्मावती बोली कि तू जोगी भिखारी बड़ी बातें कर रहा है, तूने अपने प्रेम के रंग का उल्लेख किया, पर मैं तो तुझे अनुराग में लाल नहीं देख रही हूँ। कपड़ा रँगने से रँगा हुआ नहीं माना जाता। हृदय को जब अच्छी प्रकार तपाया जाता है तब कहीं रंग उत्पन्न होता है। सूर्य जब चाँद के प्रेम-रंग में लाल होता है तो उसका स्वरूप सायं या प्रातः दिखाई पड़ता है। वह विरह में जल कर अंगारा बन जाता है और उसकी आँच से सारा संसार गर्म हो जाता है। यदि मजीठ को खूब औटाया और पकाया जाय, तभी उसका पक्का रंग बनता है और वह जन्म-भर तनिक भी नहीं जाता। प्रेमी इस प्रकार प्रेम में जलता है जैसे दीपक की बत्ती, जो कि अन्दर-अन्दर तो जलती है, पर ऊपर लाल दिखाई पड़ती है। पलाश कोयले के स्वरूप में जलता है तभी वह लाल होकर टेसू नाम से फूल उठता है। पान, सुपारी और खैर (कत्था) को मिलायें और कितना ही चकनाचूर करें पर जब तक उसमें चूना नहीं पड़ेगा उसमें रंग बिलकुल न आयेगा।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक।

[३०६]

धनिग्रा का सुरंग का चूना। जेहि तन नेह दगध तेहि दूना ॥
हौं तुम्ह नेहँ पियर भा पानू। पेंड़ी हुत सुनि रासि बखानू ॥
सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह, तन कीन्ह गड़ौना ॥
करभेंज किंगरी लै बैरागी। नेवती भएउँ बिरह की ग्रागी ॥
फेरि फेरि तन कीन्ह भुंजौना। ग्रौटि रकत रँग हिरदै ग्रौना ॥
सूखि सुपारी भा मन मारा। सिर सरौत जनु करवत सारा ॥
हाड़ चून भै, बिरह जो दहा। सो पै जान दगध इमि सहा ॥
कै जानै सो बापुरा, जेहि दुख ग्रैस सरीर।
रकत पियासे जे हहिं, का जानहिं पर पीर ॥३०६॥

शब्दार्थ--धनिग्रा=स्त्री (पद्मावती)। पियर=पीला। पेंड़ी=ग्रच्छा पान पेड़ी का होता है—पान की पुरानी जड़ से ही निकली हुई बेल को पेड़ी कहते हैं। सुनिरासि=पका हुग्रा पीला पान। बड़ौना=बड़ाई, एक ग्रच्छी जाति का पान। गड़ौना=पुराना पान जो जमीन में गाड़ कर सुरक्षित रक्खा जाता है। करभँज=भजन करना, एक प्रकार का पान। नेवती=निमन्त्रित, वह पान जो वर्षा के ग्रारम्भ में तोड़ा जाता है ग्रौर देर तक नहीं ठहरता। भुंजौना=भूनी हुई वस्तु; ग्राग में भून कर पकाया हुग्रा पान। ग्रौना=ग्राना। करवत सारा=ग्रारा चलाया। बापुरा=बेचारा।

ग्रर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती ! तू रंग ग्रौर चूने की क्या बात करती है ? जिसके शरीर में प्रेम है उसके शरीर में जलन दूनी होती है। मैं तुम्हारे प्रेम में पान की भाँति पीला पड़ गया हूँ। पेड़ी वाले सोनरास जैसा पक गया हूँ। संसार में तुम्हारी बड़ाई सुनकर मैंने योग धारण किया ग्रौर ग्रपने शरीर को गड़े हुए पान की भाँति संसार से विमुख कर दिया। एकतारा लेकर बैरागी बना ग्रौर भजन में निरत हुग्रा ग्रौर विरह की ग्रग्नि का ग्रामन्त्रण स्वीकार किया। फिर-फिर मैंने ग्रपने शरीर को भून डाला, जिससे खून ग्रौट कर हृदय में ग्रा गया. मैं सुपारी की भाँति सूख गया ग्रौर ग्रपने मन को मार दिया ग्रौर हठ योग द्वारा सिर पर सरौता चलवा कर ग्रपने को कटवाया। विरह से जल कर मेरी हड्डियाँ चकनाचूर होकर चूना बन गईं। मेरे दुःख को वही जान सकता है जिसने इसी प्रकार जलन सही है या जो बेचारा शरीर में ऐसे ही दुःख को झेल रहा है। वे लोग, जो खून के प्यासे हैं, दूसरे की पीड़ा को क्या जान सकते हैं ?

ग्रलंकार—मुद्रा, इसमें विभिन्न प्रकार के पानों का नाम भी गिनाया गया है।

[३१०]

जोगिन्ह बहुतै छंद ग्रोराहीं। बुंद सेवातिहि जैस पराहीं ॥
परै समुन्द्र खार जल ग्रोहीं। परै सीप मुँह मोती होहीं ॥

परै पुहमी पर होइ कचूरू। परै केदली महँ होइ कपूरू ॥
परै मेरु पर अम्म्रित होई। परै नाग मुख बिख होइ सोई ॥
जोगी भँवर न थिर ये दोऊ। केहि आपन भए कहै सो कोऊ ॥
एक ठाँउ वै थिर न रहाहीं। भखु लै खेलि अनत कहँ जाहीं ॥
होइ गिरिही पुनि होंहि उदासी। अंत काल दुनहूँ बिसवासी ॥
तासौं नेह जो दिढ़ करै, थिर आछहि सहदेस।
जोगी भँवर भिखारी, इन्ह तें दूरि अदेस ॥३१०॥

शब्दार्थ—ओराहीं=खतम होना, चुक जाना। पराहीं=पड़ना। पुहमी=पृथ्वी। कचूरू=हल्दी की तरह का एक पौधा। केदली=केला। भखु (भक्ष्य)=भोजन। अनत=अन्यत्र। गिरिही=गृही। उदासी=संन्यासी। बिसवासी=विश्वासघाती। आछहि=रहते हैं। सहदेस=समान देश में रहने वाला। अदेस=प्रणाम (नाथ सम्प्रदाय में प्रणाम के लिए अदेश कहा जाता है।)

अर्थ—पद्मावती ने कहा, जोगियों के पास इतनी चालें हैं कि सभी कपट उनमें समाप्त हो जाते हैं। उनके छल-छन्दों के प्रभाव इस प्रकार भिन्न-भिन्न हैं जैसे स्वाति नक्षत्र के बूँद की। स्वाति का जल समुद्र में पड़ता है तो खारा जल हो जाता है पर जब वह सीप में पड़ता है तो मोती हो जाता है। पृथ्वी में पड़ता है तो हल्दी की तरह का एक पौधा बन जाता है और जब केले में पड़ता है तो कपूर हो जाता है। सुमेरु पर्वत पर गिरने पर अमृत हो जाता है, साँप के मुख में पड़ने पर विष हो जाता है। जोगी और भौंरे दोनों स्थिर नहीं रहते। कौन कहता है कि ये किसी के अपने हुए। एक स्थल पर ये स्थिर नहीं रहते, भोजन लेकर विचर कर अन्यत्र चले जाते हैं। कभी गृहस्थ होते हैं और कभी संन्यासी। अन्त में दोनों ही विश्वासघाती हैं। प्रेम तो उससे करना चाहिए, जो प्रेम करने वाला और स्थिर रूप से एक ही स्थल पर साथ-साथ रहने वाला हो। मैं तो योगी, भौंरा और भिखारी को दूर ही से प्रणाम करती हूँ।

[३११]

थल थल नग न होइ जेहि जोती। जल जल सीप न उपनै मोती[1] ॥
बन बन बिरिख चँदन नहिं होई। तन तन बिरह न उपजै सोई ॥
जेहि उपना सो औटि मरि गएऊ। जरम निनार न कबहूँ भएऊ ॥
जल अम्बुज, रवि रहै अकासा। प्रीति तो जानहुँ एकहि पासा ॥
जोगी भँवर जो थिर न रहाहीं। जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं ॥

१. शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥

मैं तुइ पाए आपन जीऊ। छांड़ि सेवातिहि जाइ न पीऊ॥
भँवर मालती मिलै जौं आई। सो तजि आन फूल कत जाई॥

चंपा प्रीति जो बेलि है, दिन दिन आगरि बास।
गरि गुरि आपु हेराइ जौ, मुएहु न छांड़ै पास॥ ३११॥

शब्दार्थ—उपनै=उत्पन्न हो। निनार=अलग। आगरि=अधिक। बास=महक। गरि=गल कर। गुरि=बोलचाल में समान स्वर विन्यास का निरर्थक शब्द बोला जाता है जैसे पानी वानी, इसी प्रकार गरि गुरि। हेराइ=नष्ट हो।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि वे नग प्रत्येक स्थल पर नहीं मिलते जिनमें ज्योति होती है और प्रत्येक जल की सीप से मोती उत्पन्न नहीं होता, प्रत्येक वन में तो चन्दन-वृक्ष नहीं होता इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में विरह उत्पन्न नहीं होता। जिसमें विरह उत्पन्न होता है वह उसी की तपन से मर जाता है और जीवन भर उससे बच नहीं सकता। कमल जल में होता है और सूर्य आकाश में, पर प्रीति के सम्बन्ध से दोनों पास ही होते हैं। जोगी और भौंरा स्थिर नहीं रहते क्योंकि जिसे वे खोजते हैं उसे पाते ही नहीं। मैंने अपने प्राण-सरिस तुझे पा लिया है। जैसे पपीहा स्वाति को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार अब मैं तुझे छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकता। भौंरा भी जब मालती को पा जाता है तो वह उसे छोड़ कर और फूल के पास नहीं जाता। चम्पा रूपी प्रीति की लता में दिन पर दिन सुगन्ध बढ़ती जाती है, चाहे भौंरा गल कर नष्ट ही क्यों न हो जाय, पर मर कर भी वह मालती को नहीं छोड़ता।

नोट—पंडित शुक्ल की प्रति में अन्तिम दोहे का पाठान्तर इस प्रकार है—

चंपा प्रीति न भौंरहि, दिन दिन आगरि बास।
भौंर जो जो पावै मालती, मुएहु न छांड़ै पास॥

प्रसंग की दृष्टि से यह पाठ अधिक उपयुक्त लगता है। इसके अनुसार अर्थ इस प्रकार है—

चम्पा फूल में भौंरे को प्रीति नहीं होती यद्यपि उसकी सुगन्ध दिन पर दिन बढ़ती जाती है। भौंरा तो जब मालती को पा जाता है तो मरने पर भी उसे नहीं छोड़ता। रत्नसेन अपने प्रेम की एकनिष्ठता की ओर संकेत कर रहा है।

[३१२]

असें राजकुँवर नहिं मानौं। खेलु सारि पाँसा तौ जानौं॥
कच्चे बारह बार फिरासी। पक्के तौ फिरि थिर न रहासी॥
रहै न आठ अठारह भाखा। सोरह सतरह रहै सो राखा॥
सतएँ ढरै सो खेलनिहारा। ढारु इग्यारह जासि न मारा॥

तूं लीन्हे मन आछसि दुवा। औ जुग सारि चहसि पुनि छुवा॥
हौं नव नेह रचौ तोहि पाहाँ। बसौं दाँउ तोरे हिय माहाँ॥
पुनि चौपर खेलौं कै हिया। जो तिरहेल रहै सो तिया॥
जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि, अंत तंत तेहि नित।
तेहि मिलि बिछुरन को सहै, बरु बिनु मिलें निचिंत॥ ३१२॥

शब्दार्थः—इस पद के तीन अर्थ हैं चौपड़, काम-क्रीड़ा और योग मार्ग सम्बन्धी इसीलिए प्रत्येक शब्द के तीन अर्थ दिये जा रहे हैं—

सारि=१. गोट २. चित्तरसारी, ३. सार (फारसी लिपि में सार पढ़ा जाता है), तत्व, सत।

पांसा=१. पांसा का खेल, २. पास, साथ, ३. पांस या खाद की भांति निस्सार

कच्चे बारह फिरासी=१. १+५+६ का दांव जिसमें एक गोट केवल बारह घर चलती है और जुग छः घर तथा २+५+५ जिसमें जुग गोटें बारह घर और तीसरी १ घर चलती है। २. काम-क्रीड़ा में, कच्चा द्वार द्वार घुमाये। ३. योगमार्ग में अनुभवहीन द्वार-द्वार भटकता है।

पक्के=१. ६+६+१ का पौ बारह जिसमें जुग गोटें बारह घर और तीसरी १ घर चलती है। २. काम-क्रीड़ा में परिपक्व, ३. साधना मार्ग में, अनुभवी।

आठ-अठारह=१. चौपड़ खेल में खिलाड़ी झूठ बोलते हैं। आठ को अठारह कहते हैं। २. आठ और अठारह वर्ष की उम्र, ३. आठ-चक्र या अष्टांग योग साधन और संसार की अठारह चिन्ताएँ।

सोरह=१. ५+५+६ का दांव, २. सोलह शृंगार, ३. पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएँ और एक मन।

सतरह=१. ५+६+६ का दांव, २. सत (उद्दीपन रहित) रहना ३. सत (सत्य बल) की रक्षा करना।

सतएँ=१. १+१+५ का दांव, २. सात प्रकार के आलिंगन (वृक्षारूढ़, लतावेष्टित, जघनोपरिगूढ़, तिलतंडुल, क्षीरनीरक, ललाटिका, विद्धक)। ३. सत्यबल।

ग्यारह=१. १+५+५ का दांव, २. ३. दस इन्द्रियां और एक मन।

दुवा=१. दाँव जिसमें तीनों पांसों की दो बिन्दियां ऊपर रहें, २+२+२, २. दूसरी स्त्री ३. द्वैतभाव।

जुगसारि=१. दो गोटें जिन्हें जुग कहते हैं, जुग बांधना, २. दो कुच. ३. मन और शुक्र का वश में करना।

नव नेहि=१. २+२+५ और १+२+६ के दांव, २. नवोढा का स्नेह, ३. नवचक्रों का प्रेम।

दसौ दाँउ=१. २+२+६ का दांव, २. पांच प्रकार के नखक्षत (अर्धचन्द्र, मंडल, मयूरपद, दशप्लुत, उत्पलपत्र; पांच दशनक्षत (तिलक, प्रवाल, विन्दुक, खण्डाभ्र, कोल ।)

चौपर=१. चौपड़ २. चार प्रकार की सुरति (पद्मासन, नागरकरेणु, विदारित, स्कंधपाद) ३. चतुष्पट, चारों किवाड़ खुले हुए ।

तिरहेल=१. तीन बाजी, २. तीन प्रकार की केशाकर्षण क्रीड़ा (समहस्त, भुजंगबलि, कामावतंस), ३. इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा की साधना ।

तिया=तीनों पाँसों का एक ही प्रकार से पड़ना—१+१+१, २+२+२, ५+५+५, ६+६+६, २. स्त्री, ३. त्रिक साधना ।

मिलि बिछुरन=१. जुग बंधना और जुग फूटना, २. मिलन और वियोग, ३. अध्यात्म मिलन और वियोग ।

तंत=१. लालसा (खेलने की इच्छा) २. अभिलाषा, ३. कामना ।

चौपड़ परक अर्थ—पद्मावती ने कहा कि ऐ राजकुमार ! मैं इस प्रकार नहीं मानूंगी, अब तुम चौपड़ का खेल खेलो तो तुम्हें समझूं । बारह पांसे कच्चे हैं, उनके पड़ने पर तू केवल बारह घर चल सकेगा । यदि पक्के बारह पड़ेंगे तो स्थिर नहीं रह सकते । आठ-अठारह की बात नहीं चलती । सोलह-सत्रह का पांसा पड़े तभी ठीक है इससे खिलाड़ी बच जाता है । यदि सात पांसे पड़ें तो खेलाड़ी हारता है । जो ग्यारह गोटें ढारता है उसकी गोटें मारी नहीं जातीं तुम मन में दुवा का दाँव लिये हो और दो गोटें चलना चाहते हो । मैं तो तेरे लिए नौ का दाँव चाहती हूँ पर तेरे मन में दस का दाँव है । मैं साहस करके तुझसे चौपड़ खेलूंगी । जो तीन बाजी खेले वही तीन-तीन का दांव लेने वाला होगा । जुग बांधने के बाद जुग से फूटना दुःख कारक है, उससे खेल में अन्त तक उसी की इच्छा बनी रहती है । इस जुग के फूटने से तो यही अच्छा है कि जुग मिलाया ही न जाय ।

शृंगार परक अर्थ—पद्मावती ने कहा कि हे राजकुमार मैं इस प्रकार नहीं मानूंगी । अब तुम चित्रसारी में काम क्रीड़ा करो तब समझूं । यदि तुम इस कार्य में कच्चे होगे तो द्वार पर ही घूमते रहोगे और यदि पक्के होगे तो मन को रोक नहीं सकते (काम-क्रीड़ा में रत हो जाओगे) । अब आठ वर्ष का बाल्यपन नहीं है, अठारह वर्ष की युवावस्था की बात है । अब मैं देखती हूँ कि सोलह शृंगारों से युक्त नायिका के साथ कौन अपने सत (उद्दीपन) को रोक सकता है । सात प्रकार के आलिंगनों में जिसका उद्दीपन स्खलित होता है वही काम-क्रीड़ा का सच्चा खिलाड़ी है । जब तू दशों इन्द्रियों और मन को विषय के सांचे में ढाल देगा तो मार नहीं खायेगा । प्रतीत होता है कि तुम अपने मन में किसी और स्त्री को रखे हुए हो और फिर तुम मेरे दोनों कुचों को छूना चाहते हो । मैं तेरे साथ नवोढा मुग्धा का प्रेम करना चाहती हूं । अर्थात् मैं तो सलज्जा हूं पर तू तो प्रौढ़ नायक की भांति दसों दांव (पांच नख-क्षत और

पांच दशन-क्षत) अपने हृदय में रखे हुए है। फिर मैं तो तेरे साथ चारों प्रकार की सुरत-केलि करने का दिल रखती हूँ क्योंकि स्त्री तो वही है जो तीनों प्रकार की केशाकर्षण क्रीड़ा में पूरी उतरे।

जिस पति के मिलन के पश्चात् वियोग में जलन होती है उसके साथ मिलने की अभिलाषा अन्त तक बनी रहती है। उससे मिलकर वियोग का दुःख कौन सहे। इससे अच्छा तो मिले ही नहीं जिससे जी तो निश्चित रहे।

योग परक अर्थ—पद्मावती ने कहा कि हे राजकुमार, मैं इस प्रकार नहीं मानूंगी। यदि तू योग के मार्ग में खेले, तब समझूंगी कि तुझमें कुछ सार है या कि तू निस्सार ही है। यदि तू साधना में कच्चा होगा तो द्वार-द्वार भटकता ही फिरेगा और यदि तू साधना में अनुभवी होगा तो तू एक ही जगह स्थिर नहीं रहेगा समाधि की ओर बढ़ता ही जायेगा। तू अपने अष्ट चक्रों या अष्टांग योग की साधना में तो नहीं रहता व्यर्थ ही जगत् के अठारह धंधों की बात चलाता है। पाँच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच तन्मात्राएं और मन इन सोलहों में सत वही रख सकता है जो उसकी रक्षा में तत्पर रहता है। जो इनमें अपने सत से विचलित होता है वह खेल में हार जाता है। यदि तू दस इन्द्रियों और मन को साध लेगा तो अमर हो जायेगा। अभी तेरे मन में द्वैतभाव विद्यमान है फिर भी दो सार वस्तुओं मन और शुक्र को छूना चाहता है। मैं तो तेरे नवचक्रों के लिए प्रेम उत्पन्न करना चाहती हूँ पर तेरे हृदय में तो दसों इन्द्रिय-द्वारों के लिए आसक्ति भरी है। फिर तुम साहस करके चारों दरवाजों को उभार कर पूरे फक्कड़ बन कर जोग के पथ पर खेलो। जो इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा की साधना में पूरा उतरता है वही त्रिक साधना का साधक है।

योग मार्ग की सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् उससे भ्रष्ट होने में महान् कष्ट होता है और साधक को सिद्धि प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है। इस सिद्धि प्राप्ति और अप्राप्ति से अच्छा तो यह है कि आदमी उस मार्ग में ही न पड़े और निश्चित रहे।

नोट—यद्यपि शब्दार्थ में सभी शब्दों के अर्थ दिये गये हैं किन्तु चोपड़ परक अर्थ को समझने के लिए चोपड़ खेल के नियम जानना आवश्यक है। वे संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं:—

चोपड़ के खेल में तीन पांसे और चार रंगों की १६ गोटें होती हैं। प्रत्येक पाँसा प्रायः हाथी दांत का बना होता है। यह चोपहल होता है और एक पहल में एक बिन्दी (इक्का) दूसरे पहल में दो बिन्दी (दुआ), तीसरे में पांच बिन्दी (पंजा) और चौथे पहल में छः बिन्दियां (छक्का) होती हैं। इन तीनों पासों को खेलते समय हाथ में लेकर ढरकाते हैं। ढाल देने पर जो बिन्दियां तीनों पाँसों के ऊपरी पहल पर दिखाई पड़ती हैं, उन्हीं का जोड़

दांव कहा जाता है। सबसे छोटा दांव तीन काने (१+१+१) कहलाता है। सबसे बड़ा दांव अठारह (६+६+६) है। तीन और अठारह के बीच के दांव इस प्रकार हैं—

४ (१+१+२), ५ (१+२+२), ६ (२+२+२), ७ (१+१+५), ८ (१+२+५) तथा (१+१+६), ९ (२+२+५) और (१+२+६), १० (२+२+६), ११ (१+५+५), १२ तीन प्रकार के होते हैं दो कच्चे बारह और १ पक्का बारह या पौ बारह कच्चे बारह के। (१+५+६) में एक गोटी केवल १२ घर चल सकती है और जुग छः पर (२+५+५) दूसरी प्रकार का कच्चा बारह है जिसमें जुग की गोटें दस घर और २ घर चलती हैं। पौ बारह दांव (६+६+१) कहलाता है जिसमें जुग गोटें १२ घर और तीसरा एक घर चलती है।

१३ (२+६+५) और (१+६+६), १४ (२+६+६), १५ (५+५+५), १६ (५+५+६), १७ (५+६+६), १८ (६+६+६)।

चौपड़ के कपड़े में चार फड़ें होती हैं। हर एक फड़ पर तीन लाइनों में घर होते हैं। प्रत्येक पंक्ति में आठ घर होते हैं। इस प्रकार एक फड़ में २४ और कुल चौपड़ में ९६ घर होते हैं। चारों फड़ों के बीच में एक बड़ा घर होता है जिसे कोठा कहते हैं। इसी कोठे में चारों फड़ों की गोटें बैंठती या 'पुगती' हैं। इन्हें पक्की गोटें कहते हैं। चार रंग की सोलह गोटों में प्रत्येक रंग की चार-चार गोटें होती हैं। काली-पीली गोटों का जोड़ा और लाल-हरी गोटों का जोड़ा माना जाता है। जब चार व्यक्ति खेलते हैं तो काली-पीली वाले आमने-सामने बैंठते हैं और एक दूसरे के 'गुइयां' होते हैं। इसी प्रकार लाल-हरी गोटों के भी 'गुइयां' होते हैं। 'गुइयां' एक दूसरे की गोटों को नहीं मारते बल्कि एक की चार गोटें पहले पुग जाने पर गुइयां अपना दांव साथी को दे देता है। तब वह दुपांसिया हो जाता है। चौपड़ का खेल दो प्रकार का होता है—सादा जिसमें चार व्यक्ति खेलते हैं और रंगबाजी जिसमें दो व्यक्ति (प्रायः पति-पत्नी) खेलते हैं। रंगबाजी का खेल कठिन होता है। उसमें नियम अधिक होते हैं। जायसी ने रंगबाजी के खेल का ही वर्णन किया है।

[३१३]

बोलौं बचन नारि सुनु सांचा। पुरुष क बोल सपत औ बाचा।
यह मन तोहि अस लावा नारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥
पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौं खेलि पैंत जिउ लावौं॥
मारि सारि सहि हौं अस रांचा। तेहि बिच कोठा बोल न बांचा॥
पाकि गहे पै आस करीता। हौ जोतेहुँ हारा तुम्ह जीता॥
मिलि कै जुग नहि होउँ निनारा। कहां बीच दुतिया देनिहारा॥
अब जिउ जरम जरम तोहि पासा। किएउँ जाग, आएउँ कबिलासा॥
जाकर जीउ बसै जेहि सेतें, तेहि पुनि ताकरि टेक।
कनक सोहाग न बिछुरै, अवटि मिलै जौ एक॥३१३॥

शब्दार्थ—रत्नसेन के उत्तर में पूर्व पद की भाँति तीन अर्थ—चौपड़, शृङ्गार और योग सम्बन्धी हैं अतः शब्दों के तीन-तीन अर्थ दिये जाते हैं—

नारि=१. बाला, २. स्त्री, ३. सुषुम्णा नाड़ी।

पुरुष=१.–२. पुरुष, ३. आत्म पुरुष, आत्मा या शिवत्व से ही मिलकर सुषुम्णा नाड़ी सफल है।

सपत=१. शपथ, २. पति युक्त, ३. प्रतिष्ठा युक्त।

बाचा=१. वचन, प्रतिज्ञा, २. विवाह में पति के साथ वचनबद्ध होने वाली, ३. बची।

पासा=१. पाँसा, २. पास, ३. सांनिध्य।

सारी=१. गोट, २. कुच, ३. सारा।

पौ परि बारह=१. पौ बारह, २. पाँव पड़ कर बार-बार, ३. पौ=उजाला, ज्योति, बारहिबार=बारम्बार।

सिरसौं खेलि=१. खेल में सिरे का स्थान, जहाँ से खेल आरम्भ होता है, २. चुम्बनादि कीड़ाएँ ३. सिर देकर।

पैंत=१. पद या घर-अन्तिम घर, २. पादान्त, अधोभाग, ३. गुरुचरण।

मारि-सारि=१. गोट की मार, २. मार (फारसी लिपि में)=काम+सारि=शाला=रतिगृह, ३. हठयोग में तन, प्राण और रेतस् की सिद्धि का सार (तत्व)

सहि=१. सहना, २. सखी, ३. सुरति जो हठयोग में सखि कही जाती है।

कोठा=१. बीच का बड़ा घर जहाँ गोटें 'पुगती' हैं। २. बीच का सभा मंडप, ३. त्रिकुटी महल जहाँ अनहद नाद सुनाई पड़ता है।

बोल न बाँचा=१. कोई दाँव नहीं बचता, २. बोल=निर्णय, फैसला, न बाँचा नहीं पहुँचता, ३. बाहरी बोल नहीं सुनाई पड़ता।

पाकि गहे=१. पकी हुई गोटें, २. परिपक्व अवस्था, ३. एक बार मन सिद्ध हो जाने पर भी पकड़े जाने (योग-भ्रष्ट हो जाने) का भय।

हौं बीतेहु हारा—१. जब तक कोठे में एक रंग की गोटें पक कर उठ नहीं जातीं तब तक दूसरे रंग की गोटें कोठे में आ नहीं सकतीं। ठीक पांसा न आने पर पकी हुई गोटें भी कच्ची कर दी जाती हैं और खेलाड़ी जीती हुई बाजी हार जाता है। २. भोगविलास में जीत करके भी हार जाना, ३. प्राण-शुक्र के जीत लेने पर भी मन की एकाग्रता के बिना जोगी हार जाता है।

जुग=१. एक रंग की दो गोटों का एक साथ घर में बैठना और 'पुगना'; जुग कभी मारा नहीं जाता, २. जोड़ा, ३. इड़ा-पिंगला का जोड़ा।

दुतिया=१. दुआ और तिया के दाँव जो अच्छे दाँव हैं, दुआ में (५+५+१), (६+६+१) और तिया में (५+५+५), (६+६+६) पांसे पड़ते हैं। २. द्वैत भाव, बिलगाव, ३. द्वैत भाव।

जोग=१. चौपड़ का जुग, २. जोड़ा ३. योग।

अवटि=१. औटकर, तपकर, २. अभिलाषा करके, ३. आवर्तित होकर, झूमकर।

कनक=१. सोना, २. स्वर्ण (पद्मावती), ३. सुवर्ण सुन्दरवर्ण वाला ओज।

सोहागा=१. सोहागा, २. सौभाग्य, सुहाग, ३. शुक्र।

चौपड़-परक अर्थ—रत्नसेन ने पद्मावती के गूढ़ वचनों का उत्तर ठीक उसी प्रकार दिया। उसने कहा कि हे नारी, मैं सत्य वचन कह रहा हूँ सुनो। पुरुष का कथन ही शपथ और प्रतिज्ञा के समान है (पद्मावती ने कहा था कि मैं ऐसे नहीं मानूँगी। इसलिए रत्नसेन शपथ के द्वारा अपनी बात में दृढ़ता ला रहा है)। मेरा मन तुझ में इस प्रकार लगा है कि दिन भर तेरे साथ पांसा फेंकूँ और रात भर गोट चलूँ। मैं तो मनाता हूँ कि मेरे पौबारह दाँव पड़ते जांय और सिरे से खेल आरम्भ करके मैं आखीर के घर तक पहुँच जाऊँ। मैं तो खेल में गोटों की मार भी सह लूँगा और बीच के कोठे में पहुँचने के लिए मेरे पास दाँव न रहेगा। दाँव का खेल कठिन होता है अतः कुछ गोटों के पुग जाने के बाद भी हाथ में पांसा लेकर दूसरी गोटों के लिए दाँव की आशा लगानी होगी और यदि ठीक दाँव न आया तो पकी गोटें भी कच्ची हो जायेंगी। मैं जीती हुई बाजी भी हार जाऊँगा और तुम जीत जाओगी। मैं अपने जुग को कभी फूटने न दूँगा यदि तुम दुआ और तिया दाँव फेंकने वाली होगी तभी जुग अलग हो सकता है। अब मेरा मन तो तेरे साथ जन्म-जन्म पांसा खेलने का है। अब तो मैंने जोग करके इस कविलास (अन्तःपुर) को प्राप्त ही कर लिया है।

जिसका जीव जिसमें बसता है उसे उसी का सहारा लगा रहता है। उन दोनों का बिलगाव इस प्रकार नहीं हो सकता जैसे सोना और सोहागा जब तप कर एक हो जाते हैं तो अलग नहीं हो सकते। (पद्मावती ने मिल कर बिछुड़ने की आशंका प्रकट की थी, उसका उत्तर रत्नसेन ने दिया कि अब बिछोह सम्भव नहीं है।)

शृङ्गार-परक अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे कामिनी! मैं सत्य भाषण करता हूँ सुनो। पुरुष के बोल से ही स्त्री विवाह में उसके साथ वचनबद्ध होती है। अब तो यह मन तुझ में इतना अनुरक्त है कि दिन में तो तेरे पास ही हूँ, रात भर तेरे ही कुचों के ही सहारे रहूंगा। मैं तेरे पाँव पड़कर बारबार मनाता हूँ और सिर से चुम्बनादि की क्रीड़ा आरम्भ कर पैरों तक पहुंचता हूँ। चित्रसारी में इतना रम गया हूँ कि सभा-मंडप में फैसले के लिए भी नहीं पहुँच पाता। आयु की परिपक्वावस्था हो गई है फिर भी भोग की आशा बनी हुई है। इस भोग कार्य में जीत कर भी मैं हारा ही रहता हूं। तुम ही जीतती हो। तुम्हारे साथ जुड़ कर अब मैं अलग नहीं होना चाहता। हम दोनों के बीच में बिलगाव उत्पन्न करने वाला

कौन है ? अब तो मेरा मन सारे जीवन तेरे ही वश में है, मैं तो तेरे साथ मिलने के लिए ही इस कविलास में आया हूं ।

जिसका मन जिसके पास रहता है उसी के आश्रय पर ही वह रहता है। कंचन रूपी पद्मावती अपने सौभाग्य (रत्नसेन के मिलन) से विमुक्त नहीं हो सकती क्योंकि दोनों अभिलाषा करके एक दूसरे से मिलकर एक हो गये हैं ।

योग-परक अर्थ—हे सुषुम्णा नाड़ी सुनो, मैं तुम से सत्य कहता हूं । आत्मपुरुष के साथ अनहदनाद में तल्लीन होने से ही तुम्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और तुम बच सकोगी। यह मन तुम में इतना रम गया है कि दिन-रात तेरा ही स्मरण करता है । मैं बार-बार यही मनाता हूं कि मेरे भीतर कुछ प्रकाश हो । मैं योग-कार्य में सिर देकर मन को गुरु-चरणों में रत करता हूं । इन्द्रियों को मार कर सुरति में इस प्रकार रमा हूं कि त्रिकुटी पर अनहद नाद ही सुनाई पड़ता है । शुक्र और स्वाँस के सिद्ध हो जाने पर भी मैं हारा हूं । हे सुषुम्णा, तुम से एक बार मिल कर मैं अलग कभी न हूंगा, अब दोनों को कौन अलग कर सकता है ? अब तो आजीवन तेरे ही सांनिध्य में रहूंगा । मैंने योग धारण कर लिया है और कैलाश पर शिव के समीप आ गया हूं ।

जिसका जी जिसके पास रहता है, उसको उसी का आश्रय होता है । ब्रह्मांडस्थित ओज से शुक्र मिल गया है । अब ऊर्ध्वरेता बन कर मैं स्खलित नहीं हो सकता ।

[३१४]

बिहँसी धनि सुनि कै सत बाता । निस्चै तूँ मोरे रँग राता ।।
निस्चै भँवर कँवल रस रसा । जो जेहि मन सो तेहि मन बसा ।।
जब होरामनि भएउ संदेसी । तोहि निति मँडप गइउँ परवेसी ।।
तार रूप देखेउँ सुठि लोना । जनु जोगी तू मेलेसि टोना ।।
सिद्ध गोटिका दिस्टि कमाई । पारैं मेलि रूप बैसाई ।।
भुगुति देइ कहँ मैं तुहि डीठा । कँवल नयन होइ भँवर बईठा ।।
नैन पुहुप, तूँ अलि भा सोभी । रहा बेधि, उड़ि सकेसि न लोभी ।।
जाकरि आस होइ असि जा कहँ, तेहि पुनि ताकरि आस ।
भँवर जो डाढ़ा कँवल कहँ, कस न पाव रस बास ।।३१४।।

शब्दार्थ—निस्चैं = निश्चय ही । राता = अनुरक्त । रसा = रसना, चखना । संदेसी = सन्देशा ले जाने वाला । निति = निमित्त । पारैं = पारा । मेलि = डाल कर । रूप = रूपा, चाँदी । बैसाई = बैठाया, जमाया । भुगुति = भिक्षा ।

अर्थ—पद्मावती रत्नसेन के सत्य वचन को सुन कर प्रसन्न हो गई और बोली कि निश्चय ही तू मेरे रंग में अनुरक्त है। निश्चय ही भौंरा (रत्नसेन) कमल (पद्मावती) के रस में निमग्न है । सच है, जिसका मन जिस पर होता है, वह उसी में तल्लीन रहता है । जब हीरामनि ने तेरा सन्देश मुझ से सुनाया था, तो मैं तुम्हारे लिए ही शिव मन्दिर पर

गई थी। मैंने तेरा सुन्दर रूप देखा था, उसे देख कर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो हे जोगी! तुमने टोना (जादू) कर दिया हो। तुमने सिद्ध गुटिका द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त की है और पारे में मिला कर रूपा को जमा रक्खा है (गोरखपंथी साधु पारे के मिश्रण से रांगे से चाँदी बनाते हैं)। भावार्थ यह है कि तुमने अपनी साधना से अपने रूप को मेरे भीतर प्रविष्ट करा दिया। मैंने तुझे भिक्षा (रूप-दर्शन) देने के लिए तुझे देखा, तेरे कमल रूपी नेत्रों में तो भौंरे रूपी पुतली बैठ चुकी थी, अर्थात् तू मूर्छित था। तेरे पुष्प रूपी नेत्रों में अलिरूपी पुतलियाँ मात्र ही शोभायमान हो रही थीं। लोभी भौंरे रूपी पुतलियाँ बिंध गयी थीं, उड़ नहीं सकती थीं, अर्थात् आँखों की गति बन्द थी अथवा मेरे कमल नेत्रों के लिए तुम भंवर बन गए और उन्हीं में अनुरूप हो कर उससे सदा के लिए बिंध गये। जब एक व्यक्ति को दूसरे से ऐसी आशा होती है तो उस दूसरे को भी उसके प्रति वैसी ही इच्छा हो जाती है। जो भौंरा कमल के लिए इस प्रकार जलता है, वह भला उसके रस और सुगन्ध को क्यों न प्राप्त करे?

[३१५]

कवनि मोहनी दहुँ हुति तोही। जो तोहि बिथा सो उपनी मोहीं॥
बिनु जल मीन तपी तस जीऊ। चात्रिक भइउ, कहत पिउ पिऊ॥
जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पँथ जोवत भइउँ सीप सेवाती॥
डारि डारि जेउँ कोइल भई। भइउँ चकोरि, नींद निसि गई॥
मोरें पेम पेम तोहि भएऊ। राता हेम अगिनि जो तएऊ॥
हीरा दिपै जौं सुरुज उदोती। नाहिं त कित पाहन कहँ जोती॥
रबि परगासें कँवल बिगासा। नाहिं त कित मधुकर, कित बासा॥
तासों कवन अँतरपट, जो अस प्रीतम पीउ।
नेवछावरि गइ आप हौं, मन तन जोबन जीउ॥३१५॥

शब्दार्थ—हुति=थी। चात्रिक=पपीहा। जोवत=देखते हुए। अँतरपट=दुराव-छिपाव।

अर्थ—पद्मावती ही कह रही है—पता नहीं तुम्हारे भीतर कौन-सी मोहिनी शक्ति थी, कि जो विरह की पीड़ा तुम्हें थी, वही मुझ में भी उत्पन्न हो गई। मैं हृदय में इस प्रकार दुःखी हुई, जैसे मछली बिना जल के होती है। पपीहे के समान 'पी-पी' कहने लगी। विरह में इस प्रकार जली, जैसे दीपक की बत्ती जलती है। तेरी प्रतीक्षा मैंने इस प्रकार की जैसे सीप स्वाति की करती है। जैसे डाल-डाल पर कोयल कूकती है, इसी प्रकार मैं भी बेचैन होकर इधर-उधर पुकारती फिरने लगी। जैसे चकोरी रात भर एकटक चाँद को देखती है, सोती नहीं, उसी प्रकार सारी रात मुझे भी नींद नहीं आती थी। मुझ में तेरा प्रेम ही प्रेम हो गया। जैसे सोना तपाने पर लाल हो जाता है, उसी प्रकार विरह में मैं तप उठी। सूर्य के उदय होने पर ही हीरे में चमक आती है, नहीं तो कहाँ पत्थर और कहाँ ज्योति।

सूर्य के प्रकाश पर ही तो कमल खिलता है, नहीं तो कहाँ भौंरा और कहाँ सुगन्ध। भाव यह कि मेरे सौन्दर्य का मूल्य तभी है, जब तुम्हारा प्रेम प्राप्त हुआ।

वह कहती है कि अब तुमसे कौन दुराव है? क्योंकि तुम ही मेरे प्रियतम हो। अब तो मैं तुम्हारे ऊपर ही बलिहारी जाती हूँ और अपना तन-मन और यौवन और जीव सभी समर्पित करती हूँ।

टिप्पणी---इस पद के बाद पं० शुक्ल-सम्पादित ग्रन्थावली में ३ पद और भी हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त इन पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं। प्रक्षिप्त होने के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि ये पद सभी प्रतियों में नहीं हैं। तथा प्रथम पद में पद्मावती रत्नसेन से प्रश्न करती है कि उसने सिंहल और उसके विषय कैसे जाने और ऐसे दुर्गम प्रेम-मार्ग को महादेव जी ने उसे कहाँ दिखाया? दूसरे पद में रत्नसेन इन प्रश्नों का उत्तर देता है कि सुए ने सब कुछ बताया। प्रेम-मार्ग सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर है ही नहीं। तीसरे पद में रत्नसेन के उत्तर से पद्मावती सन्तुष्ट होकर उसके प्रति अनुराग कथन करती है।

डा० गुप्त का कथन है कि "कहने की आवश्यकता नहीं कि पद्मावती के प्रश्नों का जो उत्तर रत्नसेन ने यहाँ दिया है, वह हीरामनि ने पद्मावती को अपनी पहली ही भेंट में बहुत पूर्व दिया था (छन्द १७७, १७८)। सारी कथा हो जाने के बाद रत्नसेन से पद्मावती का यह प्रश्न करना वैसा ही लगता है जैसे सारी रामायण हो जाने के बाद भरत राम से कह रहे हों कि उनका वनवास क्यों हुआ?"

पद इस प्रकार हैं—

हँसि पदमावति मानी बाता। निहचय तू मोरे रंग राता।
तू राजा दुहुँ कुल उजियारा। अस कै चरिचऊँ मरम तुम्हारा॥
पै तू जंबू दीप बसेरा। किमि जानेसि कस सिंघल मोरा॥
किमि जानेसि सो मानसर केवा। सुनि सो भौंर भा, जिउ पर छेवा॥
ना तुइ सुनी न कबहूँ दीठी। जैस चित्र होइ चितहि पईठी॥
जौ लहि अगिनि करै नहिं भेदू। तौ लहि औटि चुवै नहिं मेदू॥
कहँ संकर तोहि ऐस लखावा। मिला अलख अस पेम चखावा॥
जेहि कर सत्य सँघाती, तेहि कर डर सोइ मेट।
सो सत कहु कैसे भा, दुवौ भाँति जो भेंट॥
सत्य कहौं सुनु पदमावती। जहँ सत पुरुख तहाँ सुरसती॥
पाएउं सुवा, कही वह बाता। भा निहचय देखत मुख राता॥
रूप तुम्हार सुनेउं अस नीका। ना जेहि चढ़ा काहु कहँ टीका॥
चित्र किएउँ पुनि लेइ लेइ नाऊँ। नैनहि लागि हिये भा ठाऊँ॥

हौं भा सांच सुनत ओहि घड़ी। तुम होइ रूप चित्त आइ चढ़ी ॥
हौं भा काठ मूर्ति मन मारे। चहै जो कर सब हाथ तुम्हारे ॥
तुम्ह जो डोलाइहु तबहीं डोला। मौन सांस जौ दीन्ह तो बोला ॥
को सोवै को जागे, अस हौं गएऊँ बिमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि ॥
बिहँसी धनि सुनि कै सत भाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ ॥
रहा जो भौंर कँवल के आसा। कस न भोग मनै रस बासा ॥
जस तस कहा कुँवर तू मोही। तस मन मोर लाग पुनि तोही ॥
जब हुँत कहि गा पंखि सन्देसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी ॥
तब हुत तुम बिनु रहै न जीऊ। चातकि भइउँ कहत पिउ पीऊ ॥
भइउ चकोरि सो पंथि निहारी। समुद सीप जस नैन पसारी ॥
भइउ बिरह दहि कोइल कारी। डार डार जिमि कूकि पुकारी ॥
कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता तासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु ॥

[३१६]

कहि सत भाउ भएउ कँठलागू। जनु कंचन मों मिला सोहागू ॥
चौरासी आसन बर जोगी। खट रस बिंदक चतुर सो भोगी ॥
कुसुम माल असि मालति पाई। जनु चंपा गहि डार ओनाई ॥
करी बेधि जनु भँवर भुलाना। हना राहु अर्जुन के बाना ॥
कंचन करी चढ़ी नग जोती। बरमा सौं बेधा जनु मोंती ॥
नारँग जानु कीर नख देई। अधर आंबु रस जानहुँ लेई ॥
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा। कुंदहि कुरलहि जनु सर हंसा ॥
रही बसाइ बासना, चोवा चंदन मेद।
जो असि पदुमिनि रावै, सो जानै यह भेद ॥ ३१६ ॥

शब्दार्थ—सतभाउ=मनका सच्चा भाव, मिलन से पूर्व पति-पत्नी का प्रशंसापरक प्रेम-संलाप। कँठलागू=कंठालिंगन। बिंदक=जानने वाला, खटरस बिंदक से तात्पर्य विविध अंगों के चुम्बनों से है। ओनाई=झुकाई। करी=कली। बरमा=छेदने का औजार। नारँग=नारंगी। कौतुक-केलि=काम क्रीड़ा। कुंदहिं=उछल कूद करते हैं। कुरलहिं=आनन्द मनाते हुए शोर करते हैं; भोगपक्ष में सीत्कार की ध्वनि करना। बसाइ=सुगन्धित है। बासना=सुगन्ध। मेद=कस्तूरी। रावै=रमण करना, रमण से रति के विभिन्न अंग—चुंबन, आलिंगन, नख-विन्यास, अधर-पान, सीत्कार और सुरति—पाठान्तर—रानी।

अर्थ—अपने हृदय के सच्चे भाव को उक्त प्रकार से कहने के बाद दोनों का आलिङ्गन हुआ। यह मेल इस प्रकार हुआ जैसे सोने में सोहागा मिलता है। वह राजा रत्नसेन श्रेष्ठ जोगी था; साथ ही रतिशास्त्र के चौरासी आसनों, छः रसों में चतुर भोगी भी था। उसने मालती फूल की माला के समान पद्मावती को पाकर अपना हृदय-हार बना लिया, मानो चम्पा की डाल को पकड़ कर झुका लिया हो। मानो भौंरा पुष्प-कली को भेद कर उसी में मस्त होकर भूल गया। अर्जुन के बाण से मछली बेधी गयी। अर्थात् अब तो राजा अपने लक्ष्य में सफल हो गया। राजा और रानी के मेल की जायसी और उपमा देते हैं—मानो सोने की कली में हीरे की ज्योति लगी है और मोती में बरमा से छेद कर दिया हो। संभोग शृंगार में पद्मावती के उरोजों पर नखक्षत हो गये। उनको दृष्टि में रख कर कवि कहता है कि मानो तोते ने नारंगी पर चोंच चला दी है। अधरामृत का रस भी राजा ले रहा है। कौतुक में काम-क्रीड़ायें होने लगीं, सभी दुःखों की समाप्ति हो गयी, दोनों इस प्रकार रति में सीत्कार और हर्षध्वनि करने लगे जैसे तालाब में हंस के जोड़े हँसते, कूदते और कुरलते हैं।

चोवा, चन्दन और कस्तूरी की सुगन्ध चारों ओर फैल रही है, जो ऐसी पद्मिनी रानी के साथ रमण करता है वही उसकी काम-क्रीड़ा का रहस्य जान सकता है।

पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली के इस पद के बाद वाले छन्द को डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। इसमें उक्त पद की पुनरुक्तियां हैं।

पद इस प्रकार है—

रतनसेन सो कंत सुजानू। खट-रस पंडित सोरह बानू॥
तस होइ मिले पुरुष औ गोरी। जैसी बिछुरी सारस जोरी॥
रचि सारी दूनौ एक पासा। होइ जुग-जुग आवहिं कविलासा॥
पिय धनि गही, दीन्ह गलबाहीं। धनि बिछुरी लागी उर माहीं॥
ते छकि रस नव केलि करेहीं। चोका लाइ अधर-रस लेहीं॥
धनि नौ सात, सात औ पाँचा। पुरुष दस ते रह किमि बाँचा॥
लीन्ह विधाँसि बिरह धनि साजा। औ सब रचन जीत हुत राजा॥
जनहुँ औटि कै मिलि गये, तस दूनौ भए एक।
कंचन कसत कसौटी, हाथ न कोऊ टेक॥

शब्दार्थ—सारि=पाँसासारी। नौ सात=सोलह शृंगार। सात औ पाँचा=बारह आभरण। दस=दश उँगलियाँ। बाँचा=बचना। विधाँसि=विध्वंस।

[३१७]

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बांधे किमि छूटै॥
किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेहि नहिं सो न सुनारी॥

किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू ॥
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कंठ लागी ॥
गोदि गेंद कै जानहुँ लई। गेंवहुँ चाहि धनि कोंवरि भई ॥
दारिव, दाख, बेल रस चाखा। पिउ के खेल धनि जीवन राखा ॥
बैन सोहावनि कोकिल बोली। भएउ बसंत करी मुख खोली ॥
पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी, बोली चात्रिक भाँति।
परी सो बूँद सीप जनु मोंती, हिएँ परी सुख साँति ॥ ३१७ ॥

शब्दार्थ—चिहूटै=चिमट कर लगे। किरिरा=काम क्रीड़ा आलिंगन, चुम्बन, सुरति आदि। मनुहारी=मन की चाह, तृप्ति। स्वामि=स्वामी, पति। मोखू=मोक्ष, छुट-कारा। चाहि=अधिक। कोंवरि=कोमल। दारिवँ=दाड़िम, दाँत। दाख=अधर। बेल=कुच करी मुख खोली=प्रथम समागम में योनि का विवृत होना। बूँद=वीर्य।

अर्थ—चतुर नारी पद्मावती का दिल और अधिक रत्नसेन में चिमट कर लग गया, जहाँ प्रेम होता है वहाँ भला कैसे छूट सकता है। काम-क्रीड़ा ही से शान्ति मिलती है, जिसमें क्रीड़ा नहीं वह सुन्दर स्त्री नहीं है। क्रीड़ा से ही पति को सन्तुष्टि होती है. और क्रीड़ा करने से ही स्त्री को छुटकारा मिलता है। जिसने क्रीड़ा की वही सौभाग्य से सुहा-गिन हुई और चन्दन के समान पति के कण्ठ में शोभा पाती है। रत्नसेन ने पद्मावती को गेंद के समान गोद में ले-लिया, वह तो गेंद से भी अधिक कोमल थी। दाड़िम, दाख और बेल आदि के मीठे रसों को खाकर स्त्री ने पति के लिए ही अपने जीवन को रख रखा है। इस समय वह कोकिल के समान मीठे वचन बोली, प्रिय समागम से इसमें वसन्त हुआ और कली ने अपने सम्पुट खोल दिये। भाव यह कि प्रथम सुरति-कार्य सम्पन्न हुआ। उसकी जीभ 'पी पी' करते हुए इस प्रकार सूख गयी, जैसे पपीहे की रट-रट कर सूख जाती है। प्रियतम के बिन्दु प्राप्त करने से उसे इस प्रकार शान्ति प्राप्त हुई, जैसे सीप में स्वाति की बूँद पड़ने से मोती बन जाता है।

टिप्पणी—जायसी ने सुरति का विस्तृत वर्णन किया है जो कि अश्लीलत्व को स्पर्श किये हुए है। यह सूफी काव्यों का प्रभाव था, सभी मसनवियों में इससे भी स्पष्ट अश्लील वर्णन प्राप्त होते हैं। जायसी ने कम से कम इतना किया है कि वर्णन अलंकारों से आच्छादित है।

[३१८]

कहौं जूझि जस रावन रामा। सेज बिधंसि बिरह संग्रामा ॥
लीन्ह लंक, कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मैमंत बिधंसा। बिचला बिरह जीव लै नंसा ॥
लूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मंग, भंग भे केसा।

कंचुकि चूर, चूर भै ताने। टूटे हार, मोंति छहराने॥
बारी टाड सलोनी टूटीं। बाँहू कँगन कलाइँ फूटी॥
चन्दन अंग छूट तस भेंटी। बेसरि टूटि, तिलक गा मेंटी॥
पुहुप सिंगार सँवारि जौं, जोबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हिय लाइ कै, मरगज कीन्हें कंत॥३१८॥

शब्दार्थ—जूझि=युद्ध, काम-क्रीड़ा। विधंसि=विध्वंस हुई। लंका=लंक, कमर। कंचनगढ़=सोने का गढ़, आभूषणों से रक्षित शरीर। मैमंत=मस्त। नंसा=नष्ट किया था। मंग=माँग। बारी=कान की बालियाँ। टाड=गले का आभूषण। बाँहू=भुजबंद। बेसरि=नाक का आभूषण। अरगज=सुगन्धित लेप। मरगज=मला दला हुआ, रति-मर्दित।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि अब मैं रत्नसेन और पद्मावती के रतियुद्ध का वर्णन करता हूँ—मानो राम-रावण की लड़ाई हो। इस युद्ध में सेज विध्वंस हो गयी और विरह से युद्ध संग्राम हो रहा है कि संयोग की अवस्था है। लंका रूपी कटि को राजा ने ले लिया और कंचनगढ़ रूपी आभूषण छीना-झपटी में टूट गए। जो शृङ्गार पद्मावती ने कर रखा था वह सब लुट गया। मस्त यौवन विध्वंस हो गया। वह विरह जिसने जीव को नष्ट कर रखा था विचलित हो गया। अंग-अंग के भेष सब टूट गये, माँग छूट गयी, बाल खुल गये। चोली और उसकी बन्दें सब टूट गयीं, हार टूट गये और उसके सारे मोती बिखर गए। कान की सुन्दर बालियाँ और टाड टूट गए, बाँह के कंगन और चूड़ियाँ टूट गईं। इस प्रकार गाढ़ आलिङ्गन किया कि शरीर में लगा हुआ चन्दन छूट गया, वेसर टूट गयी और मत्थे की टीका-बिन्दी बिखर-सी गयी। यौवन रूपी जो नया वसन्त फूलों के शृङ्गार से सजा था उसको जैसे अरगजा को हृदय में लगा कर रत्नसेन ने मल-दल डाला।

[३१९]

बिनति करे पदुमावति बाला। सो धनि सुराही पीउ पियाला॥
पिउ आएसु माँथे पर लेऊँ। जौं माँगै नै नै सिर देऊँ॥
पै पिय बचन एक सुनु मोरा। चाखि पियहु मधु थोरइ थोरा॥
पेम सुरा सोई पै पिया। लखै न कोइ कि काहूँ दिया॥
चुवा दाख मधु सो एक बारा। दोसरि बार होहु बिसँभारा॥
एक बार जो पी कै रहा। सुख जेंवन, सुख भोजन कहा॥
पान फूल रस रंग करीजै। अधर अधर सों चाखन कीजै॥
जो तुम्ह चाहहु सो करहु, नहि जानहुँ भल मंद।
जो भावै सो होइ मोहि, तुम्हहि पै चहौं अनंद॥३१९॥

शब्दार्थ—नै नै=झुक झुक कर। दोसरि=दूसरी। बिसँभारा=सँभालने में अशक्त।। जेंवन=भोजन, पाठान्तर-जीवन।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि अब तो वह स्त्री (पद्मावती) सुराही रूप है और रत्नसेन प्याला रूप। अर्थात् जैसे सुराही में से निकाल-निकाल कर प्याला पिया जाता है, उसी प्रकार रत्नसेन रस भोग में निरत हो गया। इस पर पद्मावती विनय करने लगी। आज्ञा तो मैं शिरोधार्य करूँगी और जो आप मांगेंगे उसे नम्रतापूर्वक झुक-झुक कर दूँगी। पर हे प्रिय ! मेरी एक बात सुनिए, आप अमृत को थोड़ा थोड़ा ही चखिये। प्रेम की शराब तो वही पीता है कि जिसे कोई देखें न कि उसे किसने दिया। दाख का मधु तो एक बार पीने के लिए होता है, दूसरी बार पियोगे तो बेसुध हो जाओगे। जो एक बार ही पी कर अपने को रोक लेता है उसी को सुख-भोजन कहा जाता है। अब पान फूल से रस रंग कीजिए और अधरामृत पान धीरे-धीरे करिए। जो तुम चाहोगे उसे ही करूँगी, यह न विचार करूँगी कि वह अच्छा है, या बुरा; जो तुम्हें अच्छा लगेगा वही मुझे भी प्रिय हो जायेगा, मैं तो तुम्हारा आनन्द चाहती हूँ।

[३२०]

सुनु धनि पेम सुरा के पिएँ। मरन जियन डर रहै न हिएँ।।
जहँ मद तहाँ कहाँ संभारा। कै सो खुमरिहा, कै मँतवारा।।
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ जाई परि सोई।।
जा कहँ होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु, ओही चाहा।।
अरथ दरब सब देइ बहाई। कह सब जाउ, न जाउ पियाई।।
रातिहुँ देवस रहै रस भीजा। लाभ न देख, न देखै छीजा।।
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमरिहा सीतल नीरू।।
एक बार भरि देह पियाला, बार बार को माँग।
मुहमद किमि न पुकारै, अैस दाँउ जेहि खाँग।। ३२०।।

शब्दार्थ—खुमरिहा=खुमारी वाला-शराब के नशे के उतरने की अवस्था को खुमारी कहते हैं इसमें भी पूरी चैतन्यता नहीं होती। लाहा=लाभ। छीजा=हानि। पलुह=प्रसन्न होना। खाँग=कम होना।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती सुनो। प्रेम-रूपी शराब के पीने पर हृदय में जीने मरने का डर नहीं रह जाता। जहां मस्ती है वहां संभालने का अवसर कहां है, उस अवस्था में या तो खुमारी रहेगी या मस्ती। उसको तो वही जान सकता है जो उसे पियेगा। पीने वाला पीने से कभी तृप्त नहीं होता और पीकर सो जाता है। जिसे एक बार उसके पीने का लाभ प्राप्त हो गया वह उस सुरा के बिना रह नहीं सकता और उसे ही चाहता रहता है। उसके पीछे अपना सब द्रव्य और धन बहा देता है और कहता है कि चाहे सब

चला जाय, पीना न जाय। रात दिन उसी के रस में तर रहता है। न तो इसमें वह लाभ देखता है और न हानि। प्रातः होते ही उसके शरीर में प्रसन्नता छा जाती है, शराब और नींद की खुमारी मिटाने के लिए वह ठंडे जल का प्रयोग करता है।

इसलिए एक बार ही प्रेम का प्याला भर दो, बार-बार कौन माँगे। जायसी कहते हैं कि जिसे ऐसे दाँव में भी पूरा न पड़ा वह फिर क्यों न पुकारता रहेगा।

नोट—अश्लील प्रसंग के भीतर भी जायसी ने इस पद में अपने रहस्यात्मक प्रेम की अभिव्यंजना कर ही दी। यहाँ प्रेम प्याले की मस्ती के पीछे सूफी प्रेम की आध्यात्मिकता की झलक प्रत्यक्ष है।

[३२१]

भएउ बिहान उठा रबि साईं। ससि पहँ आई नखत तराईं॥
सब निसि सेज मिले ससि सूरू। हार चीर बलया भे चूरू॥
सो धनि पान, चून भै चोली। रंग रँगोलि निरंग भो भोली॥
जागत रैनि भएउ भिनुसारा। हिय न सँभार सोवति बेकरारा॥
अलक भुअंगिनि हिरदै परी। नारँग ज्यों नागिनि बिख भरी॥
लरैं मुरैं हिय हार लपेटी। सूरसरि जनि कालिंदी भेंटी॥
जनु पयाग अरइल बिच मिली। बेनी भइ सो रोमावली॥
नाभी लाभी पुन्य की, कासी कुंड कहाउ।
देवता मरहिं कलपि सिर आपुहि, दोख न लावहिं काउ॥ ३२१॥

शब्दार्थ--रवि=सूर्य (रत्नसेन)। ससी=पद्मावती। तराईं=सखियाँ। बलया=चूड़ियाँ। निरंग=बिना रंग की, तेजहीन। भिनुसारा=प्रातः। अलक=बाल। लरैं मुरैं=मुड़ी और उलझी हुई। अरइल=यमुना के किनारे का गाँव। कलपि=काट कर।

अर्थ—प्रातःकाल होने पर रत्नसेन उठा और सखियाँ पद्मावती के पास आयीं। उन्होंने आकर देखा कि सारी रात सूर्य और चन्द्र (रत्नसेन और पद्मावती) मिले रहे। इससे हार चीर और चूड़ियाँ चूर-चूर हो गयीं। वह स्त्री पद्मावती पान के पत्ते की भाँति पीली हो गयी और उसकी चोली चूर्ण हो गयी। वह रंग-रंगरेलियाँ करने वाली भोली (मुग्धा) पद्मावती—तेजहीन सी (फीकी) पड़ गयी। सारी रात जगते हुए सबेरा हो गया, वह अपने को संभाल न सकी, और बेसुध होकर सोने लगी। उसके हृदय पर बालों की चोटी सर्पिणी के समान पड़ी हुई है। मानों नारंगी (स्तनों) के पास विष से भरी सर्पिणी पड़ी है। हृदय के मोती-हीरों के हार से लिपट कर वेणी उलझ गयी है, मानों गंगा यमुना से मिल रही है। उसके दोनों कुच मानों प्रयाग और अरैल हैं और उसी के बीच गंगा यमुना मिल रही हैं, जो रोमावली नाभि से कुच तक अदृश्य रूप में आ रही है वह मानो सरस्वती है, इस प्रकार

पूरी त्रिवेणी बनी है। नाभि को पुण्य लाभ हुआ है। अतः उसे काशी कुण्ड कहते हैं, देवता भी उस पर अपने सिर काट कर मरते हैं, पर किसी को दोष नहीं लगता।

अलंकार—रूपक, उपमा।

[३२२]

बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा, उठु पदुमिनि रानी॥
सुनत सूर जनु कँवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधुबासा॥
जनहु माँति बसियानी बसी। अति बिसँभार फूल जनु अरसी॥
नैन कँवल जानहुँ धनि फूले। चितवनि मिरिग सोवत जनु भूले॥
भै ससि खीनि गहन असि गही। बिथुरे नखत, सेज भरि रही॥
तन न सँभार केस औ चोली। चित अचेत मन बाउर भोली॥
कँवल माँझ जनु केसरि डीठी। जोबन हुत सो गँवाइ बईठी॥
बेलि जो राखी इन्द्र कहँ, पवनहुँ बास न दीन्ह।
लागेउ आइ भँवर तहँ, करी बेधि रस लीन्ह॥३२२॥

शब्दार्थ—माँति=मतवाली। बसियानी=बासी हुई, सुस्त। अरसी=अलसी, अलसायी हुई। बिथुरे=बिखरे। नखत=आभूषण। इन्द्र=राजा।

अर्थ—हँस कर सखियाँ पद्मावती को जगाने लगीं। यह कहने लगीं कि रत्नसेन तो उठ गया है। हे रानी! तू भी उठ। सूर्य (रत्नसेन) का नाम सुनते ही पद्मावती ऐसी खिल उठी जैसे कमल। उसकी आँख रूपी खिले हुए कमल में मधुकर रूपी पुतलियाँ मानो मधु के लिए लगी हुई हैं। नींद के बाद वह मस्ती की सुस्ती में थी। अलसायी हुई पद्मावती अलसी के फूल के समान अत्यन्त बेसम्भाल हो रही थी। अर्थात् वह अस्त-व्यस्त थी और चोली के फट जाने से उसके स्तन के अग्रभाग अलसी के श्यामल पुष्प की भांति लग रहे थे। उसके कमल रूपी नेत्र फूले हुए थे, उसकी चितवन रूपी मृग मानो सुप्तावस्था में भूल गये थे। ग्रहण लगने पर जैसे चन्द्रमा क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार पद्मावती निष्प्रभ थी। नक्षत्र रूपी उसके हार के मोती बिखरे थे जिससे सारी सेज भरी थी। उसका शरीर अपनी सँभाल में न था, केश और चोली खुले हुए थे। भोली पद्मावती का मन अचेत था। उसके चेहरे पर ऐसा पीलापन था जैसे कमल के ऊपर केसर छा गई हो। जो उसका यौवन था उसे वह गँवा चुकी थी। जिस यौवनलता को इन्द्र के लिए उसने बचा रक्खा था और पवन भी उसकी बास नहीं ले पाया था, वहाँ भौंरा (रत्नसेन) आकर लग गया और कली को बेध कर उसने सारा रस ले लिया।

[३२३]

हँसि हँसि पूँछहिं सखी सरेखी। जानहुँ कुमुद चंद मुख देखी॥
रानी तुम्ह ऐसी सुकुमारा। फूल बास तनु जीउ तुम्हारा॥

सहि न सकहु हिरदैं पर हारू। कैसे सहिहु कंत कर भारू ।।
मुखा कवँल बिगसत दिन राती। सो कुँभिलान सहिहु केहि भाँती ।।
अधर जो कोंवल सहत न पानू। कैसें सहा लागि मुख भानू ।।
लङ्क जो पैंग देत मुरि जाई। कैसें रही जो रावन राई ।।
चन्दन चोंप पवन अस पीऊ। भइउ चतुर सम, कस भा जीऊ ।।
सब अरगज भा मरगज, लोचन पीत सरोज।
सत्य कहहु पदुमावति, सखीं परीं सब खोज ।।३२३।।

शब्दार्थ—सरेखी=चतुर। रावन=रमण करने वाला, रावण। अरगज=चन्दनादि का लेप। चतुरसम=चंदन, केसर, कस्तूरी, अगर की बनाई हुई सुगन्धि अर्थात् पद्मावती। इसका पाठ डा० माताप्रसाद की प्रति में चित्र सम है, किन्तु उन्होंने भी इसे चतुरसम ही स्वीकार किया है। (देखिये डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की पद्मावत परिशिष्ट पृ० ७२४) । मरगज=मला-दला हुआ। खोज=खोज्बीन, पूछताछ।

अर्थ—चतुर सखियाँ हँस-हँस कर पूछने लगीं। वे सब इस प्रकार प्रफुल्लित थीं जैसे कुमुदिनियाँ चन्द्रमा का मुख देखकर खिली होती हैं। उन्होंने कहा कि हे रानी! तुम तो अत्यन्त ही सुकुमारी हो, तुम्हारा शरीर फूल के समान और जीव सुगन्ध के समान है। तुम तो हृदय पर हार के बोझ को भी नहीं सह सकती हो। फिर तुमने अपने पति का भार कैसे सह लिया। तेरा कमल रूपी मुख दिन-रात विकसित रहता है। वह इस समय कुम्हलाया हुआ है। तुम्हारे होठ इतने कोमल हैं कि वे पान तक को नहीं सह सकते थे तो तूने सूर्य (रत्नसेन) के मुख में उन्हें लगा कर कैसे सहा। तुम्हारी कटि इतनी नाजुक है कि चलने में पग रखने से मुड़ जाती है वह कैसे रह सकी, जब वह रमण करने वाले रत्नसेन के हाथ लगी। तू चन्दन लेप के समान है और तेरा पति पवन के समान। तू तो चतुरसम सुगन्ध सी है, तेरे लिए वह दौड़ा होगा, बताओ तब तेरे साथ कैसी बीती? तेरे चन्दनादि के सुगन्धित लेप मले-दले जा चुके हैं, तेरी आँखें पीले कमल की भाँति निस्तेज हैं। हे पद्मावती! सब सच-सच कहना, ऐसा कहकर सब सखियाँ पूछताछ करती हुई उसके पीछे पड़ गईं।

[३२४]

कहौं सखी आपन सति भाऊ। हौं जो कहति कस रावन राऊ ।।
जहाँ पुहुप अलि बेखत संगू। जिउ डेराइ काँपत सब अंगू ।।
आजु मरम मैं पावा सोई। जस पियार पिउ और न कोई ।।
तब लगि डर हा मिला न पीऊ। भान कि दिस्टि छूटि गा सीऊ ।।
जत खन भान कीन्ह परगासू। कँवल करी मन कीन्ह बिगासू ।।

हिएँ छोह उपना ओ सीऊ। पिउ न रिसाइ लेउ बरु जीऊ ॥
हुत जो अपार बिरह दुख दोखा। जनहुँ अगस्ति उदधि जल सोखा ॥
हौंहूँ रंग बहु जानति, लहरें जेति समुंद।
पै पिय की चतुराई, सकिउँ न एको बुंद ॥ ३२४ ॥

शब्दार्थ—सतिभाऊ=सत्यभाव। रावन=रमण करने वाला। सीऊ=शीत। जत खन=जिस क्षण। उपना=उत्पन्न हुआ। हौंहूँ=मैं भी। जेति=जितनी। रंग=चतुराई; काम-क्रीड़ा।

अर्थ—पद्मावती कहने लगी कि हे सखि ! मैं अपना सत्यभाव कहती हूँ। मैं कहती हूं कि वह रमण करने वाला राजा कैसा होगा। जहाँ भी मैं पुष्प के साथ भौंरे को देखती थी हृदय डर उठता और शरीर काँप उठता था। पर प्रेम के रहस्य को तो मैंने अब समझा है कि पति से प्यारा कोई नहीं होता। मेरे हृदय में तभी तक डर था, जब तक वह प्रियतम नहीं मिला। अब उसके मिलने पर भय इस प्रकार दूर हुआ—जैसे सूर्य की दृष्टि पड़ते ही शीत उड़ जाता है। ज्योंही सूर्य का प्रकाश होता है, कमल की कली विकसित हो जाती है। हृदय में प्रेम और शीतलता उत्पन्न हो गयी। मैं तो यह कहती हूं, पति क्रुद्ध न हो चाहे जान भले ही ले ले। प्रियतम के मिलने पर जो अपार विरह, दुःख और दोष थे वे सब इस प्रकार समाप्त हो गये मानो अगस्त्य ऋषि ने समुद्र को ही सोख लिया हो। मैं भी समुद्र की तमाम लहरों की भाँति अनेक रंग जानती हूँ। पर प्रियतम की चतुराई कहीं अधिक हैं उनके सामने एक बूँद भी अपना रंग न दिखा सकी। अर्थात् मैं सर्वथा ही उनके वश में हो गयी।

[३२५]

कै सिंगार तापहँ कहँ जाऊँ। ओहि कहँ देखौं ठाँवहि ठाऊँ ॥
जौं जिउ महँ तौ उहै पियारा। तन महँ सोइ न होइ निरारा ॥
नैनन्ह माँह तौ उहै समाना। देखउँ जहाँ न देखउँ आना ॥
आपुन रस आपुहि पै लेई। अधर सहें लागें रस देई ॥
हिया थार कुच कंचन लाडू। अगुमन भेंट दीन्ह होइ चाडू ॥
हुलसी लंक लंक सो लसी। रावन रहसि कसौटी कसीं ॥
जोबन सबै मिला ओहि जाई। हौं रे बीच हुति गई हेराई ॥
जस किछु दीजै धरै कहँ, आपन लीजै सँभारि।
तस सिंगार सब लीन्हेसि, मोहि कीन्हेसि ठठियारि ॥ ३२५ ॥

शब्दार्थ—निरारा=अलग। आना=अन्य, दूसरा। सहें-पाठान्तर सैं-सोइ-रसहि-सहस, सम, सैं। लाड़=लड्डू। अगुमन=पहले। चाडू=चाह, इच्छा। हुलसी=खिली।

लंक=कमर, लंका। रावन=रावण, रमण करने वाला प्रियतम। हेराई=खो जाना। दीजे-लीजै-पाठान्तर-दीन्ह-लीन्ह। ठठियारि=जिसके यहाँ थाती रखी जाय, छूछी।

अर्थ—पद्मावती ही कह रही है कि—अब मैं शृङ्गार करके उसके पास कैसे जाऊँ ? अब मैं उसी को जगह-जगह देख रही हूँ। यहां आकर जायसी ने रहस्यात्मक भाव प्रकट कर दिये। प्रियतम को परमेश्वर के स्वरूप में देखने का प्रयास है। जीव में उसी का प्यार बसा है, शरीर में भी वही है, वह अब अलग नहीं हो सकता। आँखों में भी वही समाया हुआ है। जहाँ कहीं भी देखती हूं और कोई नहीं दिखाई पड़ता। अपने रस को वह स्वयं प्राप्त कर रहा है। होठों को अधरों की चोट सहनी पड़ती है और अमृत रस उत्पन्न करने लगते हैं। उसने हृदय रूपी थाल में कुच रूपी लड्डुओं को चाह के रूप में प्रथम भेंट में दिया। कमर उल्लसित हो उठी। जैसे रावण की लंका खिली हुई थी। रावण रूपी उस रमण करने वाले राजा रत्नसेन ने प्रसन्न होकर कसौटी पर कस कर परीक्षा की—अर्थात् अंग में भर कर उसकी परीक्षा की। सारा यौवन स्वतः उससे जाकर मिल गया और मैं तो उसमें खो गयी। जिस प्रकार उसने यौवन को मुझे धरोहर के रूप में दे रखा था उसे उसने सम्भाल लिया। उसने मेरे सारे शृङ्गार को लेकर मुझे तो केवल थाती रखने वाली कर दिया, थाती (शृङ्गार) जिसका था उसको देकर छूछी रह गयी।

[३२६]

अनु री छबीली तोहि छबि लागी। नेत्र गुलाब कंत संग जागी॥
चंप सुदरसना भा तोहि सोई। सोन जरद जसि केसरि होई॥
पंठ भंवर कुच नारंग बारी। लागे नख, उछरे रंग ढारी॥
अधर अधर सों भीज तँबोरी। अलकाउरि मुरि मुरि गौ मोरी॥
रायमुनी तूँ औ रतमुँही। अलि मुख लागि भई फुलचुही॥
जैस सिंगार हार सो मिली। मालति अैसि सदा रहि खिली॥
पुनि सिंगार करि अरसि नेवारी। कदम सेवती पियहि पियारी॥
कुंद करी जहँवा लगि बिगसैं, रितु बसंत औ फागु।
फूलहु फरहु सदा सखि औ, सुख सुफल सोहागु॥ ३२६॥

शब्दार्थ—अनु=फिर। चंप=चंपा। सुदरसन=सुन्दर रूप, एक फूल विशेष। सोनजर्द=पीली, सोनजर्द या हारसिंगार फूल। तंबोरी=पान। अलकाउरि=अलकावली केश। रायमुनी=एक छोटी चिड़िया। रतमुँही=लाल मुख वाली। अरसि=क्षोभ। नेवारी=निवारण कर, निवारी फूल। कदम=चरण।

अर्थ—पदमावती के वचनों को सुनकर सखियों ने कहा कि हे सुन्दरी! अब तुम्हें एक नयी छवि मिल गई है। पति के साथ रात भर जगते रहने के कारण तेरे नेत्र गुलाब के सदृश लाल हो गये हैं। चंप के समान तेरी उज्ज्वल कान्ति पीली पड़ गयीं है। हे सुन्दरी!

तेरे कुच रूपी नारंगियों पर नखक्षत पड़े हैं। उनके लाल रंग खिले हुए हैं। होठ होठों की रगड़ खाकर पान सदृश हो गये हैं और केश मुड़-मुड़ गये हैं। तू तो रायमुनी चिड़िया की भाँति लाल मुँह वाली है। पर भ्रमर (रतनसेन) के मुख से लगकर फुलचुही चिड़िया के समान श्याम मुख वाली बन गयी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो तुम सदा खिली रहने वाली हो। अब तुम फिर से शृङ्गार करो, अपना क्षोभ छोड़ो। अपने पति के चरणों की सेवा करती हुई उसकी प्यारी बनो। जहाँ ही कुन्दकली होती है, वहीं वसन्त ऋतु के आने पर वह खिलती है और फाग होता है। अतः हे सखी ! अब तुम खूब फूलो और सुख करो, तेरा सुहाग सफल हो।

अलंकार—इस पद की अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के साथ ही साथ सिंगारहार, मालती, अलसी, नेवारी, कदम्ब, सेवती कुन्दकली फूलों का नाम भी वसन्त ऋतु के साथ उपस्थित कर दिया है। यह **मुद्रा अलंकार** का सुन्दर उदाहरण है।

[३२७]

कहि यह बात सखी सब धाईं। चंपावति कहँ जाइ सुनाई ॥
आजु निरँग पदुमावति बारी। जीउ न जानहुँ पवन अधारी ॥
तरकि तरकि गौ चन्दन चोला। धरकि धरकि डर उठै न बोला ॥
अही जो करी करा रस पूरी। चूर चूर होइ गई सो चूरी ॥
देखहु जाइ जैसि कुँभिलानी। सुनि सोहाग रानी बिहँसानी ॥
लै सँग सबै पदुमिनी नारी। आइ जहाँ पदुमावति बारी ॥
आइ रूप सबहीं सो देखा। सोन बरन होइ रही सो रेखा ॥
कुसुम फूल जस मरदिअ, निरँग दीखु सब अंग :
चंपावति भै वारने, चूँबि केस औ मंग ॥ ३२७ ॥

शब्दार्थ—निरंग=रंग (आभा) विहीन। तरकि=फट जाना। वारनै=बलिहारी गई। चूँबि=चूम कर। मंग=माँग।

अर्थ—सखियाँ पद्मावती से ये बातें करने के बाद दौड़ कर पद्मावती की माँ चम्पावती के पास गयीं और जाकर उससे कहा कि आज पद्मावती रंग-विहीन हो गयी है, उसमें जीव नहीं रह गया है, केवल स्वाँसों का ही आधार रह गया है। उसकी चन्दनी वस्त्र का चोला फट गया है। उसका हृदय धड़क रहा है, वह बोल नहीं सकती। जो कमल की कली थी और कला युक्त तथा रस पूर्ण थी, वह चूर-चूर हो गई, उसकी चूड़ियाँ भी चूर हो गयीं। अब तुम जाकर देखो कि वह कैसी कुम्हलाई हुई है। उनके इस वर्णन का लक्ष्यार्थ रानी ने समझा, और पद्मावती के सोहाग को समझ कर रानी चम्पावती हँस पड़ी। वह सभी पद्मिनी नारियों को साथ लेकर जहाँ सुन्दरी पद्मावती थी, आयी। आ करके उसने उसका रूप देखा, तो वह पीली होकर रेखा के समान शरमाई हुई हो गयी थी। उसने देखा जैसे

फूल मले जाने पर रंग विहीन हो जाता है, उसी प्रकार पद्मावती भी संभोग के उपरान्त निष्प्रभ हो गयी थी। उसको ऐसा देख कर चम्पावती ने उसकी बलैयाँ लीं और उसके केशों और माँग को चूम लिया।

[३२८]

सब रनिवास बैठ चहु पासा। ससि मंडर जनु बैठ अकासा ॥
बोली सबहिं बारि कुँभिलानी। करहु सँभार, देहु खँडवानी ॥
कोंवलि करी कँवल रँग भीनी। अति सुकमारि, लंक कै खीनी ॥
चाँद जैस धनि बैठि तरासी। सहस करा होइ सुरज गरासी ॥
तेहि की झार गहन अस गही। भै निरंग, मुख जोति न रही ॥
दरब उबारहु अरघ करेहू। औ लै वारि सन्यासिहि देहू ॥
भरि कै थार नखत गज मोंती। वारने कीन्ह चाँद कै जोती ॥
कीन्ह अरगजा मरदन, औ सखि दीन्ह अन्हान।
पुनि भै चाँद जो चौदसि, रूप गएउ छपि भान ॥ ३२८॥

शब्दार्थ—मंडर=मंडल। बारि=बाला, लता। खंडवानी=शरबत। तरासी=दुःखी की गयी। झार=ज्वाला। वारि=वारना, चारों ओर घुमा कर दान करना।

अर्थ—सारा रनिवास पद्मावती के चारों ओर बैठ गया। मानो आकाश में चन्द्रमा का मंडल लगा हुआ है। सब की सब स्त्रियों ने कहा कि बाला पद्मावती कुम्हलाई हुई है, उसे सम्भालो और पीने को शरबत दो। यह तो कमल की कोमल कली है, अपने स्वाभाविक रंग से युक्त है। अत्यन्त सुकुमारी है और इसकी कटि बहुत पतली है। चन्द्रमा के समान यह बेचारी दुखाई गयी है, क्योंकि सहस्र किरणों वाले प्रचंड सूर्य ने इसे ग्रस रखा था। उसकी ज्वाला से इसकी ऐसी दशा हो गई, मानो इसे ग्रहण लगा हो। इसीलिए द्रव्य निकालो, देवताओं को अर्घ्यदान करो और इसकी बलैया लेकर साधुओं को दान दो। तब रानी चम्पावती ने थाल भर गज-मुक्ताओं को पद्मावती के चारों ओर घुमा कर निछावर किया। सखियों ने चन्दन के लेप को उसके शरीर पर खूब मला और फिर स्नान कराया। इसके पश्चात् फिर वह चतुर्दशी के चन्द्र की भांति कान्ति युक्त हो गई, जिसे देख कर सूर्य (रत्नसेन) छिप गया।

[३२९]

पदुवन्ह चीर आनि सब छोरे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे ॥
फुँदिआ और कसनिआ राती। छाएल पंडु आए गुजराती ॥
चँदनौटा खीरोदक फारी। बाँस पोर झिलमिल की सारी ॥
चिकवा चीर मेघौना लोने। मोंति लाग औ छापे सोने ॥
सुरँग चीर भल सिंघल दीपी। कीन्ह छाप जो धन्नि वै छीपी ॥

पेमचा डोरिश्रा श्रौ बीदरी। स्याम, सेत, पियरी श्रौ हरी ॥
सातहुँ रँग सो चित्र चितेरी। भरि कै डीठि जाँहि नहिं हेरी ॥
पुनि श्रभरन बहु काढ़ा, श्रनबन भाँति जराउ।
फेरि फेरि निति पहिरहि, जैस जैस मन भाउ ॥३२९॥

शब्दार्थ—पट्टुवन्ह=रेशमी। चीर=साड़ी। लहरि-पटोरी=रेशमी लहरिया लहँगा। फुंदिश्रा=नीबी (इजारबन्द) के फुलरे। कसनिश्रा=श्रँगिया। छाएल=गुजराती छाप का छपा वस्त्र। पंडु=पीले। चँदनौटा=चन्दनपट्ट, चन्दन के रंग का वस्त्र। खीरोदक =दूध के समान सफेद, एक वस्त्र विशेष। फारी = फिरिया श्रोढ़नी। बाँस पोर=ढाके की मलमल जिसका एक थान बांस की नली में श्रा जाता था।

"रक्खा नली में बांस की जो थान कपड़े का नया।
श्राश्चर्य अम्बारी सहित हाथी उसी से ढक गया॥"—भारत-भारती।

चिकवा = एक रेशमी कपड़ा। मेघौना=मेघ वर्ण का, नीला। पेमचा=एक प्रकार का रेशमी कपड़ा, जिसमें कमल के फूल छपे रहते हैं। श्रनबन=श्रनेक। जराउ=जड़ाऊ।

श्रर्थ—श्रनेक प्रकार के रेशमी वस्त्र लाये गए श्रौर पहले के पहने हुए सभी वस्त्र उतारे गये। उसकी साड़ी श्रौर कंचुकी लहरिया रेशम की बनी थी। नीवी के फुलरे श्रौर उसके ऊपर श्वेत श्रोढ़नी थी, जो कि ढाके की महीन मलमल की बनी थी। चिकवा की चीर भी जो कि नीले रंग की थी, उसमें मोती टँके थे श्रौर सोने के छापे पड़े थे। ऐसी रंगीन सिंहलदीपी चीर थी, उस पर बड़े सुन्दर छापे थे, वे छापने वाले धन्य हैं। बीदर नगर के बने हुए पेमचा, डोरिया के कपड़े थे, जो काले, सफेद, हरे श्रौर पीले रंग के थे। सातों रंग के चित्र उसमें चित्रित थे। दृष्टि भर कर उसे देखा ही नहीं जाता। फिर श्रनेक गहने निकाले गए, जो जड़ाऊ थे। पद्मावती श्रपने मन के मुताबिक बदल-बदल कर चुन-चुन कर पहनने लगी।

---

२८. रत्नसेन-साथी-खण्ड

[३३०]

रत्नसेनि गौ श्रपनी सभा। बैठे पाट जहाँ श्रठखँभा।
श्राइ मिले चितउर के साथी। सबहीं बिहँसि श्राइ दिये हाथी ॥
राजा कर भल मानहिं भाई। जेइ हम कहँ यह भुम्मि देखाई ॥
जौं हम कहँ श्रानत न नरेसू। तब हम कहाँ, कहाँ यह देसू ॥
धनि राजा तोर राज बिसेखा। जेहि की रजाउरि सब किछु देखा ॥

भोग बेलास सबै किछु पावा। कहाँ जीभ तसि अस्तुति आवा॥
सहँ तुम्ह आइ अंतरपट साजा। दरसन कहँ न तपावहु राजा॥
नैन सिराने, भूख गइ, देखि तोर मुख आजु।
नौ औतार भये सब काहूँ, औ नौ भा सब साजु॥३३०॥

शब्दार्थ—अठखँभा = आईन। अकबरीमें उल्लेख मिलता है कि आठखम्भों पर बना हुआ एक विशेष मण्डप होता था जिसमें राजा का सिंहासन रखा जाता था। इन आठ खम्भों को मिलाकर उनके ऊपर सत्रह चँदोवे भी रखे जाते थे। आनत=ले आता। रजाउरि= राज्यत्व। अंतरपट=परदे के भीतर। सिराने=ठंडे हुए।

अर्थ—राजा रत्नसेन अपने चित्तौड़ से आये हुए राजकुमारों की सभा में गया और सिंहासन पर बैठा, वहाँ आठ खम्भे लगे हुए थे। यहाँ उसे सभी चित्तौड़ के साथी आ मिले। सबने प्रसन्न होकर उसे नमस्कार किया। वे आपस में कहने लगे कि हम तो राजा रत्नसेन का भला मनाते हैं, जिसने आकर हमें इस सिंहल द्वीप की भूमि दिखाई है। यदि यह राजा हमें न ले आता, तो हम कहाँ थे और यह देश कहाँ था। हे राजा! तेरा श्रेष्ठ राज्यत्व धन्य है, जिसके शासन में हमने सब कुछ देख लिया। सभी प्रकार के सुख हमने भोगे। हमारी वाणी में वह शक्ति कहाँ कि वह तुम्हारी प्रशंसा कर सके। पर तुम तो यहाँ आकर भीतर ही घुस गए। हे राजा! इस प्रकार दर्शनों के लिए हमें न दुखाओ।

आज तुम्हारे मुख को फिर देख कर हमारे नेत्र ठंडे पड़ गये और भूख मिट गई, सब का जैसे नया जन्म हुआ और सब नये साज तैयार हुए।

[३३१]

हँसि कै राज रजाएसु दीन्हा। मैं दरसन कारन अस कीन्हा॥
अपने जोग लागि हौं खेला। भा गुरु आपु, कीन्ह तुम्ह चेला॥
यहिक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्ह कै जोग बिसेखेहु॥
जौं तुम्ह तप साधा मोहि लागी। अब जनि हिएँ होहु बैरागी॥
जो जेहि लागि सहै तप जोगू। सो तेहि के सँग मानै भोगू॥
सोरह सहस पदुमिनीं माँगीं। सबहीं दीन्ह, न काहूँ खाँगीं॥
सब क धौरहर सोने साजा। सब अपने अपने घर राजा॥
हस्ति घोर औ कापर, सबहि दीन्ह नौ साजु।
भै गिरहस्त लखपती, घर घर मानहि राजु॥३३१॥

शब्दार्थ—लागि=लिए। खाँगी=कम हुई। धौरहर=धवल गृह, महल। कापर= कपड़े। नौ=नया। गिरहस्त=गृहस्थ।

अर्थ—हँस कर राजा ने कहा कि मैंने पद्मावती के दर्शनों के लिए ही ऐसा किया है। अपने जोग के लिए ही मैंने यह यात्रा की है, मैं स्वयं गुरु बना और तुम सब को चेला

बनाया है । तुम लोगों ने यहाँ पर मेरा पुरुषार्थ देख लिया । गुरु को पहिचान कर योग को प्राप्त किया । जब तुमने मेरे लिए तपस्या की है, तो अब तुम लोग भी संन्यासी मत रहो । जो किसी के लिए तपस्या और योगाभ्यास के कष्ट सहता है, वह उसके साथ-साथ सुखों का भी भोग करता है । मैंने राजा से सोलह हजार पद्मिनी नारियाँ माँग रखी हैं और राजा ने सब की सब दे दी है, किसी को कमी न पड़ेगी । सब के लिए सजे हुए महल भी मिले हैं, सभी अपने-अपने महल में राजा के समान रहेंगे । हाथी, घोड़ा, कपड़े सभी नवीन सजा कर दिये हैं । अब तुम सब लखपति गृहस्थ बन गये हो, घर-घर में राज्य का सुख भोगो ।

——

२१. षट्-ऋतु-वर्णन-खण्ड

[३३२]

पदुमावति सब सखीं बोलाईं । चीर पटोर हार पहिराईं ॥
सीस सबन्हि के सेंदुर पूरा । सीस पूरि सब अंग सेंदूरा ॥
चंदन अगर चतुरसम भरीं । नए चार जानहुं अवतरीं ॥
जनहु कँवल सँग फूलीं कुईं । कै सो चाँद सँग तरईं उईं ॥
धनि पदुमावति, धनि तोर नाहूँ । जेहि पहिरत पहिरा सब काहूँ ॥
बारह अभरन, सोरह सिंगारा । तोहि सोहइ यह ससि संसारा ॥
ससि सो कलंकी राहुहि पूजा । तोहि निकलंक, न होइ सरि दूजा ॥
काहूँ बीन गहा कर, काहूँ नाद म्रिदंग ।
सब दिन अनँद गँवावा, रहस कोड एक संग ॥ ३३२ ॥

शब्दार्थ—चतुरसम=चन्दन, केशर, कस्तूरी और कपूर से बना हुआ लेप । चार=चाल, प्रकार । सरि=समान । रहस=रास-नृत्य । कोड़=खेल ।

अर्थ—पद्मावती ने सब सखियों को बुलाया और रेशमी वस्त्र और हार आदि आभूषण पहनाये । सब के सिर में सिन्दूर भरा हुआ था । सिर के भरे होने से सारा अंग लाल दिखाई पड़ता था । सभी चंदन, अगर तथा केशर, कस्तूरी, कपूर और चन्दन मिश्रित लेप से भरी थीं । ऐसी मालूम होती थीं, मानो इन्होंने नये प्रकार का अवतार ग्रहण किया है । मानो कमल (पद्मावती) के साथ कुमुदिनियाँ (सखियाँ) खिली हुई हैं या चन्द्रमा के साथ तारागण उदय हुए हैं । सखियाँ प्रसन्न होकर कहने लगीं, हे पद्मावती ! तू धन्य है और तेरा पति भी धन्य है, जिसके आभूषण पहिनने पर हम सब ने सुन्दर आभूषण और और वस्त्र पहने । बारह आभरण और सोलह श्रृङ्गार तेरे ऊपर शोभा पा रहे हैं । संसार

में तू चन्द्रमा के सदृश लग रही है। पर शशी तो कलंकी है और उसे राहु-ग्रहण है, पर तू तो निष्कलङ्क है, अतः तेरे समान कोई दूसरा नहीं है।

सखियों में से किसी ने वीणा उठाई और किसी ने मृदंग। सारे दिन को इन सब ने रास, नृत्य, खेल के द्वारा आनन्द से बिता दिया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक।

[३३३]

भै निसि, धनि जसि ससि परगसी। राजैं देखि पुहुमि फिरि बसी॥
भै कातिकी सरद ससि उवा। बहुरि गँगन रबि चाहै छुवा॥
पुनि धनि धनुक भौंहँ कर फेरी। काम कटाख टँकोर सो हेरी॥
जानहुँ नहिं कि पैंज पिय खाँचौ। पिता सपथ हौं आजु न बाँचौं॥
काल्हि न होइ, रहे सह रामा। आजु करौ रावन संग्रामा॥
सेन सिंगार महूँ है सजा। गज गति चाल, अँचर गति धुजा॥
नैन समुन्द्र खरग नासिका। सरवरि जूझि को मो सौं टिका॥
हौं रानी पदुमावति, मैं जीता सुख भोग।
तूँ सरबरि करु तासौं, जस जोगी जेहि जोग॥३३३॥

शब्दार्थ—पुहुमि=पृथ्वी। हेरी=देखा। पैंज=प्रतिज्ञा। खाँचौं=खचित है, खींची है। बाँचौं=बचना। सह=साथ। रामा=राम, रमण करने वाली स्त्री। रावन=रावण, रमण करने वाला। महूँ=मैंने भी। सरवरि=बराबरी।

अर्थ—रात्रि हुई और सुन्दरी पद्मावती इस प्रकार शोभित हुई, जैसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है। राजा ने देखा कि पृथ्वी फिर शोभायमान हो कर बस रही है। आकाश में कार्तिक मास का शरत्कालीन स्वच्छ चन्द्रमा उदय हुआ है और अपने प्रकाश से वह सूर्य को छूना चाहता है। अर्थात् पद्मावती अपने सौन्दर्य से रत्नसेन को मात करना चाहती है। पद्मावती अपने भौंह रूपी धनुष अपने हाथ में घुमा रही है और कामोद्दीपक कटाक्ष रूपी टंकोर के साथ देख रही है। पद्मावती ने कहा कि हे प्रिय! आज मैं नहीं समझती कि तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ खिची है? आज मुझे अपने पिता की शपथ है, रति-युद्ध में बचाव न करूंगी अर्थात् आज मैं बेधड़क और खुल कर युद्ध करने को प्रस्तुत हूँ। यह कल नहीं है, जब तुम मेरे साथ सुख से रहे, आज तुम मेरे साथ संग्राम करो। मैंने भी शृङ्गार रूपी सेना सजा ली है। मेरी हाथी की-सी चाल ही इस सेना का हाथी है और आँचल उसकी ध्वजा है। आँखें ही समुद्र और नासिका ही तलवार है। आज कौन युद्ध में मेरी समता कर सकता है? मैं रानी पद्मावती हूँ, मैंने सारे सुख और भोगों को जीत रखा है। तू भला मेरी बराबरी क्या करे, तू तो उसकी बराबरी कर सकता है, जो तेरे समान ही जोगी हो।

अलंकार—रूपक।

[३३४]

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ॥
उहाँ त समुंह रिपुन दर माहाँ। इहाँ त काम कटक तुव पाहाँ॥
उहाँ त कोपि बैरिदर मंडौं। इहाँ त अधर अमिअ रस खंडौं॥
उहाँ त खरग नरिंदन्ह मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार सँघारौं॥
उहाँ त गज पेलौं होइ केहरि। इहाँ त कामिनि करसि हहेहरि॥
उहाँ त लूसौं कटक खँधारू। इहाँ त जितौं तुम्हार सिंगारू॥
उहाँ त कुंभस्थल गज नावौं। इहाँ त कुच कलसन्ह कर लावौं॥
परा बीचु धरहरिया, पेम राज कै टेक।
मानहिं भोग छहूँ रितु, मिलि दूनौं होइ एक॥३३४॥

शब्दार्थ—समुंह=समक्ष। दर=दल। बैरिदल=शत्रु दल। मंडौं= मर्दित करूँ, नष्ट करूँ। हहेहरि=हा हरि हा हरि करना। नरिंदन्ह=राजा। लूसौं=नष्ट करूँ। खंधारू=स्कंधावार, तम्बू, छावनी। धरहरिया=नीच विचार रखने वाला। नावौं= झुकाऊँ।

अर्थ—पद्मावती की ललकार सुन कर रत्नसेन बोल उठा—मैं जैसा जोगी हूँ, सभी संसार जानता है। मैंने वीर और श्रृङ्गार दोनों रसों को जीत रखा है। वीर युद्ध में तो सामने शत्रु का दल होता था, वहाँ श्रृङ्गार में काम देव की सेना के रूप में तुम्हारे पास बारह आभरण और सोलह श्रृङ्गार हैं। वहाँ पर क्रुद्ध होकर मैं शत्रु दल को नष्ट करता हूँ, यहाँ पर अधरों के अमृत रूपी रस को लूटूंगा। वहाँ पर अपनी तलवार से राजाओं को मारता हूँ, यहाँ पर तुम्हारे वियोग को नष्ट करूँगा। वहाँ पर तो सिंह बन कर हाथियों को भगाता हूँ, यहां पर तुम्हारी काम-वासना को परास्त करूँगा। वहाँ तो सेना और छावनी को लूटता हूँ, यहाँ तुम्हारे सोलह श्रृङ्गारों को जीतूंगा। वहाँ तो हाथियों के कुम्भस्थलों को झुकाता हूँ, यहाँ तुम्हारे कुचों पर हाथ चलाऊँगा।

कवि जायसी कहते हैं कि दोनों के बीच में राजा की टेक लेकर धरहरिया बना हुआ है। दोनों एक होकर छहों ऋतुओं में भोग-विलासमग्न हैं।

अलंकार—सांग रूपक।

[३३५]

प्रथम बसंत नवल रितु आई। सुरितु चैत बैसाख सोहाई॥
चंदन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा॥
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरिका कबिलासू॥
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कंत मिले सुखवासी॥
पिउ सँजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी॥

होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी ।।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होंहि सब चूरू ।।
जेहि घर कंता रितु भली, आउ बसंता नित्तु।
सुख बहरावहि देवहरै, दुक्ख न जानहिं कित्तु ।।३३५।।

शब्दार्थ—सौर=चादर, रुई भरी रजाई को भी सौर कहते हैं। सुपेती=श्वेत। धमारी=उछल-कूद। चाँचरि=चर्चरी, एक प्रकार का हल्ला-गुल्ला युक्त होली का गीत। नित्त=नित्य। बहरावहि=बहलावे। देवहरै=देवधर, मन्दिर। कित्तु=कुछ।

अर्थ—सबसे पहले नवीन वसन्त-ऋतु आई। इस सुन्दर ऋतु में चैत-बैसाख के महीने हैं। पद्मावती ने चन्दनी चीर अपने शरीर पर धारण किये और प्रसन्नता पूर्वक माँग भर कर सिंदूर लगाया। फूलों का हार पहना, जिनकी सुगन्ध ऐसी थी, मानो स्वर्ग के मलयगिरि का छिड़काव हो। सफेद चद्दर डाल कर फूलों की सेज तैयार की गई। वे पति-पत्नी धन्य हैं, जिन्हें इस प्रकार का सुख-वास मिलता है। पति का बाला की यौवन रूपी वाटिका के साथ संयोग हुआ है। भौंरा (रत्नसेन) पुष्प (पद्मावती) के साथ आनन्द क्रीड़ा करने लगा। फाग होने लगा, चर्चरी की उछल-कूद होने लगी, विरह को इस प्रकार जला डाला, जैसे इस मास में होली जलाते हैं। पत्नी तो शीतल चन्द्रमा की भाँति और पति सूर्य की भाँति प्रकाशित है, अतः नक्षत्र रूपी सभी शृङ्गार चूर हो गये। कवि कहता है जिस घर में पति है, उसमें सुन्दर वसन्त ऋतु नित्य ही आती है। घर में सुख और मन बहलाव होता है। दुःख का पता ही नहीं चलेगा।

नोट—प्रकृत वर्णन के साथ कवि ने वसन्त-ऋतु का भी पूर्ण वर्णन किया है। पुष्पों का खिलना, मलय-पवन, भौरों की उछल-कूद, फाग, होली जलना आदि सभी का उल्लेख प्राप्त है।

[३३६]

रितु ग्रीखम कै तपनि न तहाँ। जेठ असाढ़ कंत घर जहाँ ।।
पहिरें सुरंग चीर धनि झीना। परिमल मेद रहै तन भीना ।।
पदुमावति तन सियर सुबासा। नैहर राज कंत कर पासा ।।
अधर तँबोर कपूर भिवँसेना। चंदन चरचि लाव नित बेना ।।
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा। अगर पोति, सुख नेति ओधारा ।।
सेत बिछावन सौर सुपेती। भोग करहिं निसि दिन सुख सेंती ।।
भा अनंद सिंघल सब कहूँ। भागिवंत सुखिया रितु छहूँ ।।
दारिवँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं आँव सहार।
हरिअर तन सुवटा कर, जो अस चाखनहार ।।३३६।।

शब्दार्थ—झीना=पतला। मेद=कस्तूरी। परिमल=सुगन्ध। नैहर=पीहर।

भिवसेना=भीमसेनी कपूर। बेना=खस। ओबरि=शयनागार। नेति=नेत नामक एक रेशमी वस्त्र। ओधारा=पर्दे। सेंती=से। दारिवँ=दाड़िम, अनार। बेरसहिं=बिलसहिं-आनन्द करते हैं। आँव=आम। सहार=कलमी आम, पाठान्तर छोहार, बेरस हिया उर भार, आम सदाफर डार।

अर्थ—जिस घर में जेठ और आषाढ़ की ग्रीष्म-ऋतु में पति विद्यमान है, वहाँ तपनि (गर्मी) नहीं होती। पत्नी ने सुन्दर रंगीन और महीन कपड़ों का चीर पहना है। कस्तूरी की सुगन्ध उसके सारे शरीर में समाई हुई है। उसका अंग शीतल और सुवासित है। एक तो पीहर का राज्य दूसरे पास में पति। होठों पर भीमसेनी कपूर मिश्रित पान है और उसने चन्दन और खस शरीर में लगा रक्खा है। ठण्डा कमरा है, वहाँ शयनागार बनाया गया है। अगर से पोतकर उसमें सुखदायक पर्दे डाले गये हैं। बिस्तर पर श्वेत बिछावन बिछी है, वहाँ पर पति-पत्नी रात-दिन सुख भोग करते हैं। सिंहल में सबको अत्यन्त आनन्द हुआ। यहाँ छहों ऋतुएँ भी भाग्यवान् हो रही हैं। दाड़िम और दाख में रस आ गया है, आम का वृक्ष फलों के भार से सुशोभित है। हरे-हरे शरीर वाला तोता इन फलों को चखने वाला शोभित है। भाव यह कि पद्मावती प्रेम रस से युक्त है, उसके दशों और होठों में तथा अन्य अङ्गों में काम-रस भरा है, रत्नसेन धन्य है जिसे उसके साथ रमण करने का सुयोग प्राप्त है।

[३३७]

रितु पावस बिरसै, पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा॥
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी॥
चमकै बिज्जु, बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रँग राती पिय सँग निसि जागै। गरजै चमकि चौंकि कंठ लागै॥
सीतल बुंद, ऊँच चौबारा। हरियर सब देखिअ संसारा॥
मलै समीर बास सुख बासी। बेइलि फूल सेज सुख डासी॥
हरियर भुम्मि, कुसुम्भी चोला। ओ पिय संगम रचा हिंडोला॥
पौन झरक्के हिय हरख, लागै सियरि बतास॥
धनि जानै यह पौनु है, पौनु सो अपनी आस॥३३७॥

शब्दार्थ—बिरसै=बिलसै, सुशोभित। निसरी=निकली। जेऊँ=जिमि। कुसुम्भी=कुसुम्भ (एक पीला रंग का फूल) रंग का। चोला=पहिनावा। झरक्कै=झकोरै। सियरि=ठंडी। बतास=हवा। चौबारा=चारों ओर खुला हुआ ऊपरी मंडप।

अर्थ—पावस (वर्षा) ऋतु पति के संग के कारण अत्यन्त आनन्ददायक है। सावन-भादों के दो महीने इस ऋतु के अन्तर्गत हैं। कोयल बोल रही है, बगलों की पंक्तियाँ छूटी

हुई हैं। स्त्रियाँ इस प्रकार निकल रही हैं जैसे बीर-बहूटियाँ हों। बिजली चमकती है तो बरसता हुआ पानी ऐसा प्रतीत होता है मानो सोना बरस रहा है। मेंढक और मोरों का शब्द अत्यन्त प्रिय लगता है। पद्मावती प्रेम के रंग में रंगी हुई पति के साथ रात में जगती है। जब बादल गरजता या चमकता है तो वह चौंक कर पति के कण्ठ से लिपट जाती है। ऊँचे चौबारे पर ठंडी-ठंडी बूँदें पड़ती हैं। सारा संसार हरा-हरा ही दीख पड़ता है। मलय पवन चल रहा है, मुख में सुगन्ध है। लताओं और पुष्पों की सेज बिछी है। हरी-हरी भूमि है, कुसुम्भ रंग के पहिनावे को पहने हुए पति के साथ हिंडोले पर पद्मावती विराजमान है। हवा का झकोरा लगता है, ठंडी हवा चलती है और हृदय में हर्ष उत्पन्न होता है। इस हर्ष का कारण पद्मावती समझती है कि ठण्डी हवा है, पर यह पवन की शीतलता तो अपनी (पति-पत्नी) की आशा पर है। अर्थात् विह्वलता पवन के कारण नहीं वरन् प्रिय-समागम के कारण है जो उसके साथ ही विद्यमान है।

[३३८]

आइ सरद रितु अधिक पियारी। नौ कुवार कातिक उजियारी ॥
पदुमावति भै पूनिवँ कला। चौदह चाँद उए सिंघला ॥
सोरह करा सिंगार बनावा। नखतन्ह भरे सुरुज ससि पावा ॥
भा निरमर सब धरनि अकासू। सेज सँवारि कीन्ह फुल डासू ॥
सेत बिछावन औ उजियारी। हँसि हँसि मिलहिं पुरुख ओ नारी ॥
सोने फूल पिरिथिमी फूली। पिउ धनि सों, धनि पिउ सौं भूली ॥
चखु अंजन दै खँजन देखावा। होइ सारस जोरी पिउ पावा ॥
एहि रितु कन्ता पास जेहि, सुख तिन्ह के हिय माँह।
धनि हँसि लागै पिय गले, धनि गल पिय कै बाँह ॥ ३३८ ॥

शब्दार्थ—नौ कुवार=आश्विन महीने में दसहरे से पहिले नव दिनों का नवरात्र होता है उसमें दुर्गा का पूजन आदि होता है और लोग संयम से दिन बिताते हैं। चौदह चाँद= मुसलमान लोग द्वितीया के चाँद से गिनना आरम्भ करते हैं अतः पूर्णमासी को चौदहवाँ दिन ही मानते हैं। उए=उदय हुए। फुल डासू=फूल बिछाए। निरमर=निर्मल। पिरिथिमी= पृथ्वी। सोने फूल=सोहन-फली नामक एक घास जो इस मास में बहुत मिलती है।

अर्थ—फिर शरद की अत्यन्त प्यारी ऋतु आई। इसमें नवरात्र युक्त आश्विन और कार्तिक के दो मास होते हैं। पद्मावती तो शरत् कालीन पूर्णिमा की कला की भाँति खिल उठी मानो सिंहल पर चतुर्दशी का चाँद निकला है। उसने अपने सोलह श्रृंगार किए मानो शशि ने नक्षत्रों से भरे हुए सूर्य को पा लिया है—भाव यह कि उसके आभूषण नक्षत्रों और सूर्य की भाँति चमक रहे हैं। सारी पृथ्वी और आकाश निर्मल है, शय्या को खूब सँवार कर उस पर फूल बिछा रक्खे हैं। सफेद बिस्तर है और शरत् की चाँदनी है, पति और पत्नी

हँस-हँस कर मिल रहे हैं। पृथ्वी में सोनफूली बहुत फूली है मानो पृथ्वी प्रसन्न होकर खिल उठी है। पति और पत्नी आपस में मिलकर अपने-अपने को भूल गये हैं। पद्मावती ने आँखों में अंजन लगा रखा है। उसके कारण उसकी आँखें खंजन के सदृश दीख रही हैं, अपने पति के साथ वह ऐसी लग रही है, जैसे सारस की जोड़ी हो। इस ऋतु में जिस स्त्री के पास उसका पति है उसके हृदय में अजीब सुख है, पत्नी तो हँसकर पति के गले में लिपटती है और पति की बाँहें पत्नी के गले में लिपट जाती हैं।

[३३९]

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहूँक अंग एक मिलि लागा॥
मन सौं मन, तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय, बिच हार न रहा॥
जानहुँ चंदन लागेउ अङ्गा। चंदन रहै न पावै संगा॥
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी॥
जूझै दुहुं जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जोउ लै भागा॥
दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं॥

हंसा केलि करहिं जेउँ सरवर, कुंदहि कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारै ठाढ़ भा, जस चकई क बिछोउ॥ ३३९॥

शब्दार्थ—सीऊ=शीत। दुहूँक=दोनों का। उन्ह लेखें=उनके विचार में। सिस्टि=सृष्टि। जुड़ानी=शीतल हुई, सुखी हुई। जूझैं=काम-क्रीड़ा का युद्ध कर रहे हैं। बिच हुत=बीच में होकर। कुंदहि=उछल-कूद और किलोल करते हैं।

सिसिर—शिशिर ऋतु, शिशिर ऋतु माघ, फाल्गुन के महीने होते हैं। पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में इस पद में शिशिर के स्थान पर हेमन्त ही है। पर डा० गुप्त लिखते हैं कि पाठ की दृष्टि से इस पद में सिसिर ही होना चाहिए, कवि से भूल हो जाना असम्भव नहीं माना जा सकता। प्रतीत होता है पं० शुक्ल ने जान बूझकर ठीक ऋतु का नाम लिखा है। पर ऐसा परिवर्तन अग्राह्य है।

अर्थ—शिशिर ऋतु आयी जिसमें अगहन और पूस के महीने हैं, जिसके घर पति होता है उसके घर शीत नहीं आता। पति और पत्नी के बीच में शीत ऐसा मिलकर विलीन हो जाता है जैसे सोने में सोहागा। दोनों के अंग मिलकर एक से हो गये हैं। मन से मन और शरीर से शरीर पकड़े गये हैं। हृदय से हृदय इतने मिल गए कि उनके बीच में हार को भी स्थान नहीं प्राप्त हो सकता; मोती के हार पिसकर जैसे चन्दन हो गए, पर वह चन्दन भी रगड़ के कारण साथ नहीं रह पाता। राजा और रानी सुख भोग कर रहे हैं, उनकी समझ में सारी सृष्टि सुखमग्न है। जवानी में उन्मत्त दोनों काम-क्रीड़ा के युद्ध में रत हैं। इन दोनों

के घर्ष में शीत बीच में पड़ गया अतः वह तो अपना जीव लेकर भाग चला। दो हृदय मिलकर एक हो रहे हैं। इस प्रकार मिल रहे हैं फिर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। दोनों इब प्रकार काम-केलि कर रहे हैं जैसे हंसों का जोड़ा तालाब में उछल-कूद करता है और कलोलें भरता है। शीत दूर से खड़ा हुआ इस प्रकार पुकार रहा है जैसे चकवा और चकवी बिछुड़ जाने पर चिल्लाते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा। शीत के सम्बन्ध में बड़ी मनोहारी कल्पना इस पद में जायसी ने प्रस्तुत की है।

[३४०]

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ फागुन सुख सीउ सियाला ।।
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती ।।
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहूँ दुख कर खोजू ।।
जहँ धनि पुरुख सीउ नहीं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा ।।
जाइ इंद्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा ।।
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा ।।
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा ।।

भएउ इंद्र कर आएसु, प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता, कबहु काहु कै होइ ।। ३४० ।।

शब्दार्थ—हेवंत=हेमन्त। जैसा ऊपर लिखा गया है कवि की भूल से शिशिर के स्थान पर हेमन्त लिखा गया है। पाला=बर्फ-पाठान्तर—पिएउ पियाला-शराब पी रखी है। सौर=चादर युक्तगद्दा। दगल=रुई से भरा हुआ कुर्ता। प्रस्थावा=प्रस्थान, जाना, चाल।

अर्थ—हेमन्त ऋतु आई, साथ में पति है अतः पाला आ नहीं सकता। माघ-फाल्गुन के महीने की ठंडक सुखदायी हो रही है। दिन रात शय्या पर सौर सुपेती बिछी रहती है, रुईदार अनेक प्रकार के रंग-बिरंगी छींट के वस्त्र पहनते हैं। सिंहलद्वीप के घर-घर में सुख भोग हो रहा है। कहीं भी दुःख खोजने से नहीं मिल सकता। जहाँ पर पति-पत्नी दोनों हैं वहाँ शीत नहीं लगता। शीत इस प्रकार भागा जैसे कौवा बाण को देखकर भाग गया हो। जाकर उसने इन्द्र को पुकार कर कहा कि मुझे तो पद्मावती ने देश निकाला दे दिया। इस ऋतु में तो मैं सदा साथ में सोया करता था, अब तो दर्शनों का भी बिछोह हो गया है। अब तो हँस कर चन्द्रमा (पद्मावती) सूर्य (रतनसेन) से मिल रहा है। जो भी शीत था वह दोनों के बीच में पड़कर नष्ट हो गया।

इन्द्र की आज्ञा हुई कि यह तो संसार की चाल ही है कि कभी प्रभुता (ऐश्वर्य) किसा एक के पास होती है और कभी दूसरे के पास। भाव यह कि शीत रूपी कौए की शिकायत मान्य नहीं।

नोट—जायसी को राम-कथा का सुना-सुनाया अपरिपक्व ज्ञान था। यहाँ कौवे में इन्द्र के पुत्र जयन्त की ध्वनि है पर वास्तविक कथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे पिछले पदों में राम और रावण के उल्लेख अटकल पच्चू हुए हैं उसी प्रसार इन्द्र-सुत का भी।

---

३०. नागमती-वियोग खण्ड

[३४१]

नागमती चितउर पंथ हेरा। पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा॥
नागरि नारि काहुँ बस परा। तेइँ बिमोहि मोसौं चितु हरा॥
सुवा काल होइ लै गा पीऊ। पिउ नहिं लेत, लेत बरु जीऊ॥
भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि राजा छरा॥
करन बान लीन्हेउ करि छंदू। भर्थरि भएउ छल मिला अनंदू॥
मानत भोग गोपीचंद भोगी। लै उपसवा जलंधर जोगी।
लै कान्हहि भा अकरुर अलोपी। कठिन बिछोउ, जिअै किमि गोपी॥
सारस जोरी किमि हरी, मारि गएउ किन खग्गि।
झुरि झुरि पाँजरि धनि भई, बिरह कै लागी अग्गि॥३४१॥

शब्दार्थ—हेरा=देखा। फेरा=वापसी। नागरि=चतुर, नायिका। नरायन बावन=भगवान् वामन। करा=कला। करन=राजा कर्ण (राजा इन्द्र ने एक बार ब्राह्मण वेश धारण कर राजा कर्ण से उनका कवच माँग लिया था)। भर्थरि ... अनन्दू—पाठान्तर—भारथ भएउ झिलमिल आनंदू (डा० वा० श० अग्रवाल की पद्मावत पृष्ठ ३४१)=जिससे अर्जुन को आनन्द मिला (इन्द्र ने जो कवच मांगा था उससे अर्जुन को सुख हुआ था)। गोपीचन्द—बंगाल के राजा माणिकचन्द और रानी मैनावती के पुत्र राजा गोपीचन्द थे। माता मैनावती ने गोपीचन्द को गुरु जालन्धरनाथ (हाड़ीपा) से दीक्षा दिला कर योगी बनवा दिया। गोपीचन्द के अनेक गीत प्रचलित हैं।

जालन्धर जोगी—गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु-भाई थे। ये जाति के हाड़ी (हलालखोर) थे। इसीलिये इन्हें हाड़ीपा कहते थे। ये बड़े ही सिद्ध थे और कापालिक शाखा के प्रवर्तक थे।

उपसवा=चला । अकरुर=अक्रूर । खगि= खड्ग, तलवार । झुरि=सूख कर। माँजरि=पंजरविशेष, हड्डी का ढाँचा मात्र।

अर्थ—जब राजा रत्नसेन चित्तौड़ से चला गया और बहुत दिन न आया तो रानी नागमती उसके लौटने वाले चित्तौड़ के रास्ते को देखने लगी। वह अपने आप कहने लगी कि मेरे पतिदेव यहाँ से गये पर आज तक वापस न आये। मालूम होता है किसी चतुर नायिका ने उसे अपने वश में कर लिया है। उसी ने मोहित कर मेरी ओर से उसके चित्त को चुरा लिया है। वह हीरामनि तोता मेरा काल बन कर मुझसे मेरा पति हर ले गया, अच्छा होता कि वह मेरा पति न लेकर उसके बदले में मेरा जीव ही ले जाता। वह तो भगवान् वामन की छल-विद्या वाला था, उसने मुझ सुखिया को ऐसे ही छल लिया जैसे राज्य करते हुए बलि को वामन ने छला था। इन्द्र ने धोके से राजा कर्ण से उन बाणों को ले लिया, जो कर्ण की मृत्यु के कारण बने। राजा भर्तृहरि को आनन्द ने मिलकर छला था। राजा गोपीचन्द सुख से जीवन व्यतीत कर रहा था पर जालन्धर योगी उसे लेकर चला गया। अक्रूर कृष्ण को लेकर गायब हो गया और गोपियों को उनका दारुण विरह सहना पड़ा। भाव यह है कि मैं निस्सहाय अब पति के वियोग में कैसे जीवित रहूँ।

सारस के जोड़े को क्यों अलग कर दिया ? किसने तुझे कटार मार दिया। जायसी जी कहते हैं कि सूख-सूख कर बेचारी नागमती इतनी कृशकाय हो गयी कि उसके शरीर में केवल हड्डियों का ढाँचा ही शेष रहा, उसमें विरह की आग लगी हुई है।

[३४२]

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ ॥
अधिक काम दगधं सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा ॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज, भीजि तन चोली ॥
सखि हिय हेरि हार मैंन मारी। हहरि परान तजै अब नारी ॥
खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनहि जाइ सब, होइ निरासा ॥
पौनु डोलावहिं, सींचहिं चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला ॥
प्रान पयान होत केइँ राखा। को मिलाव चात्रिक कै भाखा।
आह जो मारी बिरह की, आगि उठी तेहि हांक।
हंस जो रहा सरीर महँ, पांख जरे तन थाक ॥३४२॥

शब्दार्थ—रामा=स्त्री । हेरि=देख कर । मैंन=मदन, कामदेव-पाठान्तर—हियँमारी, भा भारी, हरि मारी। हहरि=हाथ छोड़ कर। पहरक=एक पहर। **समुझि**=होश में आकर। चात्रिक=चातक। हांक=प्रज्वलित हो जाना। हंस=जीव।

अर्थ—नागमती की दशा का कवि वर्णन करता है कि पति वियोग में उसका जीव

इतना बावला हो गया है कि वह पपीहा की भाँति 'पी-पी' पुकारती रहती है। कामोद्दीपन से वह स्त्री जल रही है, वह तोता तो उसके प्राणों को हर ले गया और उसके पति का नाम तक ले गया (क्योंकि हिन्दू नारी अपने पति का नाम भी नहीं ले सकती)। विरह का बाण उसे ऐसा तेज लगा कि वह डोल भी न सकी. खून पसीज आया और शरीर की चोली खून से डूब गयी। सखियों ने यह देख कर कि यह काम से मारी गई है, हार गईं। नागमती अब हाय-हाय करके प्राण छोड़ देगी। उसकी मूर्छा की दशा ऐसी भयंकर है कि कभी तो क्षण भर के लिये उसके पेट में साँस आती है और दूसरे क्षण साँस चली जाती है। सभी निराश हो जाते हैं सखियाँ पंखा झलती हैं, उसके वस्त्रों पर पानी छिड़कती हैं। पहर भर में वह होश में आकर बोलती है। उसके प्राण निकलना चाहते हैं। कौन इनकी रक्षा करे ? कौन चातक की बोली पूरी करे—उसके पिय से मिलावे। विरह से भरी हुई जो आह उसने निकाली उसमे उसी की विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उस आग से शरीर के भीतर जो जीव रूपी हंस था उसके पंख जल गये और शरीर थक गया।

[३४३]

पाट महादेइ हिए न हारू। समुझि जीउ, चित चेतु सँभारू॥
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियासु बाँधु जिय थीती॥
धरती जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा॥
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली॥
जनि अस जीउ करसि तू नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं सँभारी॥
दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा॥
मिलहिं जो बिछुरै साजना, गहि गहि भेंट गहंत।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं, अद्रा ते पलुहंत॥३४३॥

शब्दार्थ—पाट महादेइ = पट्ट महादेवी, पटरानी। परावा = दूसरा। टेकु = सँभालो। थीती = स्थिति, स्थिरता। नंसा = नाश, बिगड़ा। मिरगिसिरा = जेठ के महीने में मृगशिरा नाम का नक्षत्र लगता है जब गर्मी अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है। अद्रा = (आर्द्रा) आषाढ़ मास का पहला नक्षत्र जिसमें वर्षा आरम्भ होती है। साजना = पति। पलुहत = पल्लवित होना।

अर्थ—सखी नागमती को सांत्वना दे रही है—हे महारानी जी ! आप जी में हार न मानिये। हृदय में समझ-बूझ कर आप अपने चित्त और चेतना को सँभालिये। भौंरा कमल के साथ पराया हो जाता है पर मालती के प्रेम का स्मरण करके फिर उसके पास आता है। इसी प्रकार भले ही तेरा पति किसी नायिका के प्रेम में पड़ गया हो पर वह

तुम्हारे प्रेम का स्मरण कर अवश्य लौटेगा। जिस प्रकार पपीहे को स्वाति से प्रेम होता है उसी प्रकार अपनी प्यास को सँभालो और मन को स्थिर रखो। पृथ्वी को आकाश से प्रेम होता है तभी तो आकाश को गया हुआ जल पलट कर वर्षा ऋतु में उसी में भर जाता है। हे सुन्दरी ! वसन्त ऋतु फिर आयेगा, वही भौंरा, वही रस फिर होगा अर्थात् मिलन के दिन फिर आयेंगे और फिर तू सुख भोग करेगी। हे नागमती ! तू अपने जीव को इस प्रकार न सुखा, यह जलाया हुआ तेरा शरीर रूपी वृक्ष प्रिय संयोग से फिर हरा हो कर सँभल जायगा। दस दिन जल के सूख जाने से क्या बिगड़ता है, हंस लोग उस तालाव से उड़ जाते हैं, बाद में पानी भर जाने पर वही तालाब होता है और वे ही हंस लौटकर आ जाते हैं। जो प्रिय बिछुड़ जाता है, फिर मिलता है और उसे पकड़-पकड़ कर फिर-फिर भेंटते हैं। जो मृगशिरा की गर्मी को सहते हैं वे ही तो आर्द्रा के जल को पाकर पल्लवित होते हैं। तात्पर्य यह कि यह संसार का नियम ही है कि दुःख के बाद सुख होता है, अतः प्रिय-मिलाप की आशा रखो और दुख दूर करो।

अलङ्कार—दृष्टान्त।

[३४४]

चढ़ा असाढ़, गँगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा ।।
धूम, स्याम, धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए ।।
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसैं घन घोरा ।।
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई ।।
ओनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु, मदन हौं घेरी ।।
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ, घट रहै न जीऊ ।।
पुख नक्षत्र, सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह, मँदिर को छावा ।।
जिन घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह गर्व।
कंत पियारा बाहिरें, हम सुख भूला सर्व ।।३४४।।

शब्दार्थ—बाजा=आ पहुँचा। गाजा=गरजा। दुंद=द्वन्द्व, दुःख। धौरे=धवल, सफेद। खरग=खड्ग। बीज=बिजली। ओनै=झुकी हुई। फेरी=ओर। बेझ=वेध, तीर मारना। पुख=पुष्य नक्षत्र, जो आर्द्रा और पुनर्वसु नक्षत्र के पश्चात् सावन कृष्ण पक्ष में लगता है इसे अवधी प्रान्तों में चिरैया कहते हैं। गारौ=गौरव, अभिमान।

अर्थ—यहाँ से जायसी बारहमासा वर्णन करते हैं। लोक गीतों में विरह की अवस्था में बारह मासों में विरहिणी की दशा का वर्णन करने की पद्धति है, इसमें प्रत्येक ऋतु का प्रभाव विरहिणी पर प्रदर्शित किया जाता है। बारह मासे का आरम्भ लोक गीतों में वर्षा ऋतु से ही होता है। जायसी ने उसी पद्धति का अनुसरण किया है—

आषाढ़ मास लगा, आकाश में बादल गरजने लगे। विरह के दुःखों ने भी अपना सारा दल सजा लिया। धूमिल, काले और सफेद रंग के बादल आकाश में दौड़ने लगे। बगलों की पंक्ति ऐसी लगती है मानो सफेद ध्वजा फहर रही है। बिजली चारों ओर चमकती है मानो तलवारें चमक रही हैं। पानी की बूँदें गिर रही हैं मानो बाण चल रहे हैं। इस प्रकार सेना का पूरा रूपक है।

आर्द्रा नक्षत्र के लगते ही बिजली पृथ्वी तक चमक कर आने लगी, नागमती कहती है कि इस समय पति के बिना कौन मुझे आदर दे सकता है? चारों ओर बादलों की घटायें झुकी हुई हैं। हे प्रियतम! मुझे बचाओ, कामदेव की सेनाओं ने मुझे घेर रक्खा है। मेंडक, मोर, कोयल और पपीहे तीर चलाकर वेध रहे हैं, हृदय में जीव न रहने पायेगा। पुष्य नक्षत्र भी चढ़ आया, मैं बिना पति के घर में हूँ, मेरी रक्षा कौन करे?

आज जिनके घर में उनके पति हैं, उन्हें गौरव और गर्व है और मेरा प्रियतम मुझसे बाहर है, इसलिए मेरे सभी सुख भूले हुए हैं।

[३४५]

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ, हौं बिरह झुरानी॥
लागु पुनर्वसु पीउ न देखा। भै बाउरि, कहँ कंत सरेखा॥
रकत क आँसु परे भुइँ टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी॥
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुइँ, कुसुम्भि तन चोला॥
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलावै देइ झँकोरा॥
बाट असूझ अथाह गँभीरा। जिउ बाउर, भा भवँ भँभीरा॥
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी॥
परबत समुँद अगम बिच, बन बेहड़ घन ढङ्ख।
किमि करि भेंटौं कंत तोहि, ना मोहि पाँव न पङ्ख॥३४५॥

शब्दार्थ—बरिस=बरसता है। भरनि=भरणी नाम का नक्षत्र। पुनर्वसु=एक नक्षत्र, यह नक्षत्र आषाढ़ शुक्ल पक्ष में लगता है पर जायसी ने भ्रम वश कुछ गलत कर दिया और पुष्य को भूल से पुनर्वसु के पूर्व वर्णन कर दिया। सरेखा=चतुर, आश्लेषा नाम का एक नक्षत्र। रेंगि=कीड़ों का चलना। भवँ=चक्कर लगाना। भँभीरा=एक पतिंगा जो बरसात में सन्ध्या समय पानी के किनारे घास पर उड़ता दिखलाई पड़ता है, यह भन-भन की आवाज करता है इसीलिए भँभीरा कहा जाता है। ताकी=देखते हैं। मोर नाव=मेरी नाव। बेहड़=बीहड़, अगम। ढंख=वृक्ष और झाड़ झंखाड़ आदि से युक्त।

अर्थ—सावन में पानी अधिक बरसने लगा। भरणी नक्षत्र में सारे जलाशय पानी से भर गये, पर मैं विरह से और भी सूख गई। पुनर्वसु नक्षत्र भी लग गया। पर मैंने अपने पति का दर्शन भी न पाया। मैं तो बावली हो गई हूँ। हे चतुर प्रियतम! कहाँ हो—अब तो आश्लेषा

नक्षत्र भी आ गया है। खून के आँसू भूमि पर टूट कर गिर रहे हैं, वे लाल-लाल जमीन पर इस प्रकार लगते हैं मानो बीर बहूटियाँ चल रही हों। सखियों ने अपने पति के साथ हिंडोला डाल रक्खा है। भूमि हरी है और उन्होंने कुसुम्भ (लाल) रंग के वस्त्र धारण किये हैं। मेरा हृदय ही इस प्रकार डोल रहा है, जैसे झूला; और विरह उसे झकोरे दे-देकर झुला रहा है। रास्ते असूझ, अथाह और कठिन हो गये हैं। मेरा हृदय बावला होकर इस प्रकार चक्कर खा रहा है जैसे भंभीरा नाम का पतंगा आकाश में चक्कर लगाता है। जहाँ तक देखो सारा संसार पानी में डूब गया है, मेरी नाव तो मेरे खेवैया—पति के बिना थक गई है।

मेरे और प्रियतम के बीच में बड़ा अन्तर है—अनेक पर्वत, अगम समुद्र, बीहड़ वन और जंगल बीच में हैं। हे प्रियतम! मैं तुमसे कैसे मिलूं? न तो तुझ तक पहुँचने के लिए मेरे पैरों में शक्ति है और न मेरे पंख हैं कि मैं उड़ कर तुझ तक पहुँच जाऊँ।

[३४६]

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी॥
मँदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा॥
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमकि बीज, घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी॥
पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी॥
धनि सूखी भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ न सींचसि नाहाँ॥
जल थल भरे अपूरि सब, गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ, दे बूड़त पिय टेक॥३४६॥

शब्दार्थ—दूभर=कठिन। भरौं=काटूं। मँदिल=(मन्दिर) घर। धै=पकड़कर। गरासा=खाया। तरासा=डराता है। मघा और पुरबा=नक्षत्रों के नाम, ये दोनों नक्षत्र भाद्रपद के कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में लगा करते हैं। आकजवास=अर्क या मंदार और जवास नामक कटीली झाड़ी जो वर्षा में झुलस जाती है (अर्क-जवास पात बिन भयऊ—तुलसी)

अर्थ—सारा भादों का महीना बड़ा कठिन है। ये अँधेरी रातें कैसे काटूं। मेरा घर सूना है, मेरे पति अन्यत्र बसे हैं। शय्या नागिन हो गई है—पास जाने पर पकड़कर काट खाती है। शय्या की एक पट्टी पकड़े हुए अकेली पड़ी रहती हूँ, आँखें फाड़ कर हृदय फाड़ कर मर रही हूं। बिजली चमकती है, बादल गरज कर डराता है। विरह काल होकर जीव को ग्रस रहा है। मघा का नक्षत्र है, झकोरों के साथ वर्षा हो रही है, मेरी आँखों से आँसू की धारा इस प्रकार अविरल बह रही है जैसे घरों के खपरैलों पर से अटूट धार में पानी गिर रहा है। पुरवा का नक्षत्र लगा। सारी पृथ्वी जल से भर गई। मैं तो आक

और जवास की भाँति जल कर सूख गई हूँ। जायसी कहते हैं कि कैसा विरोधाभास है कि भरे हुए भादों के महीने में नारी नागमती सूखती रही, अब भी उसका पति आकर उसे नहीं सींचता। जल-थल सब पूरी तरह से भर गये। आकाश और पृथ्वी वर्षा द्वारा मिलकर एक हो गये हैं और नागमती अथाह जवानी में डूब रही है और सहारा देने के लिए पति को पुकार रही है।

[३४७]

लाग कुआर, नीर जग घटा। अबहुँ आउ, पिउ परभुमि लटा ॥
तोहि देखे, पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त, फेरि करु माया ॥
उए अगस्ति, हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा ॥
चित्रा मित मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा ॥
स्वाति बुंद चातिक मुख परे। सीप समुन्द्र मोंति लै भरे ॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरुरहिं, खँजन देखाए ॥
भएउ अवगास, कास बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले ॥
बिरह हस्ति तन सालै, खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु, गाजहु होई सदूर ॥ ३४७ ॥

शब्दार्थ—परभुमि=दूसरी भूमि (विदेश)। लटा=(लपटा) अनुरक्त। पलुहै=पल्लवित होती है। उतरा चित्त=चित्त से हरा हुआ, उत्तरा और चित्रा नामक दो नक्षत्र जो क्रमशः लगा करते हैं। माया=प्रेम। तुरै=घोड़ा। हस्ति=हाथी, हथिया (हस्त) नक्षत्र। पलानि=जीन कस कर। चित्रा=एक नक्षत्र। अवगास=अवकाश, स्थान, पाठान्तर-विकास। सदूर=शार्दूल, सिंह।

अर्थ—आश्विन का महीना लगा, जलाशयों में पानी कम होने लगा। विदेश में अनुरक्त होने वाले पति अब भी तो आओ। तुम्हें देख कर हमारा हृदय पल्लवित होने लगेगा। तेरा चित्त हमारी ओर से उतरा हुआ है, फिर से हमसे प्रेम करिए। श्लेष से अर्थ यह है कि उत्तरा से चित्रा नक्षत्र हो गया। अगस्त्य तारा उदय हो गया है, रास्ते साफ हो गए हैं—राजा के हाथी गरज रहे हैं क्योंकि मार्ग में वे चलने लगे हैं। राजा घोड़े पर जीन कस कर रण के लिए चल पड़ा। चित्रा का मित्र चन्द्रमा मीन राशि में आ गया। व्यंजना है कि हे मेरे चित्त के मित्र अब मीन राशि में तो, घर आ जाओ। कोयल भी पुकारती हुई अपने प्रिय को पा गयी तभी से वह चुप है। स्वाति नक्षत्र के पानी की प्रिय बूँद पपीहा के मुख में पड़ चुकी, सीपों में स्वाती जल पड़ा जिससे उनमें मोती बन गये। तालाब में हंस लौट कर आ गये। सारसों के जोड़े कुलेलें कर रहे हैं, खंजन पक्षी दिखाई पड़ने लगे। वन में कांस बढ़ीं और फूल उठीं, तात्पर्य यह कि सारी प्रकृति में हर्ष और संयोग का सुख है—पर मेरा पति न लौटा, विदेश में भूल गया है। विरह रूपी हाथी शरीर को कष्ट दे रहा है, वह खा-खा

शरीर को चूर कर रहा है। हे प्रिय ! शीघ्र ही सिंह बन कर आकर गरजो और विरह रूपी हाथी का विध्वंस करो।

अलंकार—श्लेष, रूपक।

[३४८]

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहैं जारी ॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुं जरै सब धरति अकासू ॥
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद, मोहिं होइ राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिंन कंत पियारा ॥
अबहूँ निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावहिं अँग मोरी। हौं झूरौं, बिछुरी जेहि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा ॥
सखि मानहिं तेवहार सब, गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलों कंत बिनु, तेहिं, रही छार सिर मेलि ॥३४८॥

शब्दार्थ—अगिडाहू=आग जलना। झूमक=गीत का नाम। झूरौं=पछता रही हूँ। छार=मिट्टी। मुनिवरा पूजा=कार्तिक पूर्णिमा को सौभाग्यवती स्त्रियां सप्तऋषियों का पूजन करती हैं।

अर्थ—कातिक के महीने में शरद के चन्द्रमा का उजेला फैला है। सारा संसार शीतल है—केवल मैं विरह में जल रही हूं। चन्द्रमा अपनी पूर्ण कलाओं के साथ प्रकाशित है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सारी पृथ्वी और आकाश जल रहा है। शरीर, मन और शय्या सब अग्नि से जल रहे हैं। सब के लिए तो यह शीतल चाँद है, पर मेरे लिए तो यह राहु हो रहा है। मुझे तो चारों ओर अंधेरा प्रतीत होता है क्योंकि मेरे घर में मेरा प्रिय पति नहीं है। हे निष्ठुर पति, इस बार अब भी तो आ जाओ, संसार में दीवाली का आनन्द-पर्व हो रहा है। सखियाँ अंग मोड-मोड़ कर झूमक गीत गा रही हैं और मैं दुख मना रही हूं, क्योंकि मुझे वियोग हो रहा है। जिसके घर में पति है वहाँ मुनिवरों (सप्त-ऋषियों) की पूजा हो रही है—अर्थात् ब्राह्मण भोजन आदि से आनन्दित हो रहे हैं पर मुझे तो विरह रूपी सौत दूना दुःख दे रही है। सारी सखियाँ त्यौहार मना रही हैं, गा-गाकर दीवाली का खेल खेल रही हैं। मैं पति के बिना क्या खेलूँ, इसलिए मैं तो अपने सिर धूल डाल रही हूं।

[३४९]

अगहन देवस घटा, निशि बाढ़ी। दूभर दुख, सो जाइ किमि काढ़ी।
अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै बिरह ज्यों दीपक बाती ॥

काँपा हिया जनावा सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचा सब काहूँ। मोर रूप रँग लै गा नाहूँ ॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई ॥
सियरि अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा ॥
यह दुख दगध न जाने कंतू। जोबन जरम करै भसमंतू ॥
पिय सौं कहेहु सँदेसरा, ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहैं जरि गई, तेहिक धुआँ हम लाग ॥ ३४९ ॥

शब्दार्थ—देवस=दिन। जनावा=प्रकट हुआ। सीऊ=शीत। बहुरा=लौटा। सियरि=ठंडक।

अर्थ--अगहन का महीना आया, दिन घटने लगा और रात बढ़ने लगी। यह कठिन दुःख किस प्रकार निकाला जाय। अब तो नारी (नागमती) के लिए विरह के कारण दिन भी रात के समान हो गया है। वह विरह से इस प्रकार जल रही है, जैसे दीपक की बत्ती जलती रहती है। ठंडक मालूम पड़ने लगी, हृदय काँपने लगा। यह शीत तो तभी जा सकता है, जब साथ में पति हो। घर-घर में स्त्रियाँ नये-नये रंग-बिरंगे वस्त्र पहन रही हैं, मेरे रंग रूप को तो मेरा पति ले गया है। वह निर्मोही जाकर फिर न लौटा, अब भी यदि वह लौट आये, तो मेरे शरीर का रंग लौट सकता है। ठंडक की अग्नि विरहिणियों को जला रही है। सुलग-सुलग कर जला-जला कर राख कर रही है। मेरा पति मेरे इस दुःख और जलन को नहीं जानता, जवानी जीवन को भस्म कर रही है। इसलिए ऐ भौंरे और कौए तुम उड़ कर मेरे पति के पास जाओ और उससे यह संदेशा कहो। वह स्त्री (नागमती) तो विरह से जल कर मर गई और उसका धुँवा हमें लगा है, इसीलिए हम काले हो गये हैं।

अलंकार—विरोधाभास और हेतूत्प्रेक्षा।

[३५०]

पूस जाड़ थर थर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा ॥
बिरह बाढ़ि, भा दारुन सीऊ। कँपि कँपि मरौं, लेहि हरि जीऊ ॥
कंत कहाँ हौं लागौं हियरे। पंथ अपार, सूझ नहिं नियरें ॥
सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी ॥
चकई निसि बिछुरै, दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला ॥
रैनि अकेली साथ नहिं सखी। कैसें जिओं बिछोही पँखी ॥
बिरह सँचान भँवै तन चाँड़ा। जीयत खाइ मुएँ नहि छाँड़ा ॥
रकत ढरा माँसू गरा, हाड़ भए सब सङ्ख।
धनि सारस होइ ररि मुई, आइ समेटहु पङ्ख ॥ ३५० ॥

शब्दार्थ—लंक दिसि=दक्षिण दिशा। सौर सुपेती=सफेद रुईदार बिस्तर या रजाई, चद्दर। जूड़ी=ठंडी। हिवंचल=हिमालय। सँचान=बाज। चाँड़ा=चंड, भयंकर। ररि=रट-रट कर। सारस की जोड़ी=सारस के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक के मरने पर दूसरा रट-रट कर मर जाता है।

अर्थ—पूस में जाड़ा पड़ रहा है, शरीर थर-थर कांप रहा है। सूर्य भी मानो ठंडक पा रहा है, अतः दक्षिण में रह कर आग सेंक रहा है। विरह बढ़ गया और शीत दारुण हो गया है। मैं कांप-कांप कर मर रही हूँ और शीत मेरी जान ले रहा है। हे पति! कहाँ हो, मैं तेरे दिल से लगूँ। सारा रास्ता अपार है, निकट भी नहीं दिखाई पड़ रहा है। शय्या पर का सफेद रूईदार बिस्तर या लिहाफ बिल्कुल ठंडा हो गया है। ऐसा मालूम होता है, मानो बर्फ में डूबा हुआ है। चकई तो रात को अपने पति से बिछुड़ जाती है, पर दिन में तो मिल ही जाती है, पर मैं तो रात और दिन दोनों में कोयल की भाँति चिल्लाती रहती हूँ। रात में मैं अकेली हूं, साथ में कोई सहेली भी नहीं है, मैं बिछुड़ी हुई चिड़िया के समान कैसे जिऊँ। विरह रूपी बाज भयंकर रूप से घूम रहा है, शरीर पर दृष्टि लगाये है, यह जीते हुए भी खाता है और मरने पर भी नहीं छोड़ता।

शरीर का रक्त बह गया, मांस गल गया, हड्डियाँ सब शंख के समान सफेद-सफेद दिखाई पड़ने लगीं। नागमती सारस की जोड़ी की भाँति रट-रट कर मर गई। हे पति! उसके मरने पर आओ और उसके पंख मात्र को समेट लो।

[३५१]

लागेउ माँह, परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला॥
पहल पहल तन रुई जो झाँपै। हहलि हहलि अधिको हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ॥
एहि मास उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर, मोर जोबन फूलू॥
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू॥
टूटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला॥
केहिक सिंगार, को पहिर पटोरा। गियँ नहिं हार, रही होइ डोरा॥
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई, तन तिनुवर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल॥ ३५१॥

शब्दार्थ—माँह=माघ का महीना। पहल-पहल=धुनी हुई रुई के दगले। हहलि=हहरना। माहाँ=माघ में। रस मूलू=रस का मूल, माघ में ही बसन्त का आरम्भ होता है इसीलिए वसन्त पंचमी माघ में ही होती है, काम। माँहुट=माघ की झड़ी। पटोरा=रेशम। हरुई=हल्की। झोला=माघ में चलने वाली ठंडी हवा जिससे गेहूं आदि के पौधे

झुलस जाते हैं। तिनुवर = तिनके का ढेर। झोल = भस्म, राख 'झोलू बुताना' अवधी का मुहावरा है।

अर्थ—माघ का महीना लगा, पाला पड़ने लगा। जाड़े के समय में विरह मौत बन रहा है। इस काल में जो रुई के दगलों से शरीर को छिपा रखे वही रह सकता है। नहीं तो हृदय हाय-हाय करके काँपता है, हे नाथ! अब तुम सूर्य होकर आओ और गर्मी पहुँचाओ, बिना तुम्हारे इस माघ में जाड़ा नहीं छूट सकता। इस महीने में उस रस का मूल उत्पन्न होता है जो वसन्त में फूल रूप में प्रकट होता है। व्यंजना से मुझ में काम उत्पन्न हो गया है। तू तो मेरे जीवन-रूपी फूल का रस लेने वाला भौंरा है। आंखों से आंसू इस प्रकार चू रहे हैं, जैसे माघ की झड़ी लगती है। इस जल के कारण शरीर के कपड़े बाण के समान लगते हैं, क्योंकि गीले होकर ठंडक पहुंचाते हैं। बूँदें पड़ती हैं, जैसे ओले पड़ रहे हों। विरह पवन होकर झकोरे मारता है। इस समय किसका शृङ्गार, कौन रेशमी वस्त्र पहने, गले में हार नहीं है, मैं उस हार का डोरा मात्र हो गयी हूं। हे पति! तुम्हारे बिना मैं सूखकर हल्की हो गयी हूँ, शरीर रूपी वृक्ष हिल रहा है, तिस पर विरह जला कर इसकी राख उड़ाना चाहता है।

[३५२]

फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा॥
तरिवर झरै झरै बन ढाँखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा॥
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू॥
फाग करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी॥
जौं पै पियहि जरत अस भावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा॥
रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागौं कंत छार जेउँ तोरें॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं, कंत धरैं जहँ पाउ॥ ३५२॥

शब्दार्थ—फागुन पवन = फागुन की फुगनहटा वायु जो अत्यन्त ही ठंडी होती है, प्रायः जाड़े के अन्त में तीन दिन चलती है और पेड़ों की पत्तियों को गिरा देती है। फगुनाहटा के बाद ही कलियाँ नया फुटाव लेती हैं। झोरा = झकझोर कर पत्तों को गिरा देना। ढाँखा = पलाश वृक्ष। अनपत्त पत्तों से रहित। बनाफति = वनस्पति। चाँचरि = शृङ्गार परक स्वाँग जिसमें नृत्य और गीत का आधिक्य होता है। मकु = काश। छार = राख-पाठान्तर थार = थाल; डा० वासुदेव शरण अग्रवाल 'थार' को ही शुद्ध पाठ मानते हैं क्योंकि हृदय की उपमा जायसी ने अन्यत्र भी थाल से दी है। किन्तु यहाँ पर अपने जलने और राख बनने की कल्पना है। अतः राख

बन कर ही पति के अंग से मिलने की कामना अधिक समीचीन है। इस प्रकार 'छार' पाठ ही उपयुक्त है।

अर्थ—फागुन के महीने में हवा झकझोर कर बहने लगी, शीत चौगुना हो गया, किस प्रकार सहा जाय? मेरा शरीर भी वैसा ही पीला हो गया, जैसे इस मास में पेड़ों के पत्ते पीले हो गये हैं। विरह पवन होकर झकझोर रहा है, इससे रहा नहीं जाता। जङ्गल में पलाश तथा अन्य पेड़ों के पत्ते झड़ रहे हैं, पेड़ की डालियां पत्ते से विहीन हो गयीं, पर साथ ही उनमें फल-फूल भी आने लगे। सारी वनस्पतियों में आनन्द आने लगा, पर मुझे तो उदासी दूनी हो गई। सब लोग फाग खेलते हैं और चाँचरि नाम का स्वांग करते हैं, पर मेरे दिल में तो मानों होली जलाई गई है। यदि मेरे पति को मेरा जलना ही अच्छा लगता है, तो जलते और मरते हुए मुझे किसी प्रकार का क्षोभ या दुःख नहीं। रात-दिन मेरे मन में यही बात है कि हे पतिदेव! राख बन कर तेरे हृदय से लगूँ।

इस शरीर को जला कर राख बना दूँ और कहूँ कि हवा उसे उड़ा कर उस रास्ते पर डाल दे कि जहाँ पर मेरा पति अपना पैर रखे।

नोट—अन्तिम चौपाई और दोहे में कैसी हृदयविदारक त्याग की भावना है। विरह का ऐसा पुनीत भाव कहाँ मिलेगा? एक स्थल पर मीरा ने अपना यही भाव व्यक्त किया है—

अगर चंदन की चिता रचाऊँ। उसमें आग लगा जा॥
जल-जल भई राख की ढेरी। अपने अंग लगा जा॥
जोगी मत जा, मत जा, मत जा।

[३५३]

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी॥
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौ बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीज मंजीठ, टेसू बन राता॥
मौरे आँब फरैं अब लागे। अबहुँ सँवरि, घर आउ सभागे॥
सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरे सँवरि मालती॥
मो कहँ फूल भए जस काँटे। दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे॥
भर जोवन एहु नारँग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा॥
घिरिनि परेवा आव जस, आइ परहु पिय टूटि।
नारि पराएँ हाथ है, तुम्ह बिनु पाव न छूटि॥३५३॥

शब्दार्थ धमारी=होली का एक राग-धमार तथा धमार नामक उत्सव। पंचम=कोकिल का पंचम स्वर। पंचसर=कामदेव—जिसके पाँच फूलों के बाण होते हैं। सगरौ=सारे। नारंग=नारंगी, स्तन। घिरिनि परेवा=गिरहबाज कबूतर, जो कि

अपने जोड़े को छोड़ कर क्षणभर के लिए ऊपर उड़ जाता है, पर ज्योंही स्मरण आता है, बड़ी तेजी से टूट पड़ता है और पास आ जाता है—सूरदास ने लिखा है—प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न अकास ।। सोवा=सुआ, तोता ।

अर्थ—चैत के महीने में वसन्त और धमार के गीत हो रहे हैं, पर मेरी दृष्टि में तो सारा संसार ही उजड़ा हुआ है। कोकिल का पंचम स्वर मुझ में कामोद्दीपन कर रहा है, कोयल की आँखें लाल हैं मानो उसकी आँखें भी विरह के कारण लाल हैं, वह रक्त के आँसू बन में गिरा रही है। ऐसा प्रतीत होता है सारा वन जो नव-पल्लवों से लाल हो रहा है, वह उन बाणों की चोट से है, जो खून बनकर प्रकट है। सभी पेड़ों के पत्ते खून में डूब गये हैं। मंजीठ का फल खून से भीग कर ही लाल हुआ है और टेसू का वन भी इसीलिए लाल हुआ है। आम में बौर लगे हैं, उनमें फल भी लगने लगे। ऐ भाग्यवान् पति ! अब भी तो मुझे स्मरण करके घर वापस आओ। वनस्पतियाँ हजार रङ्गों में फूली हुई हैं। भौंरा मालती को स्मरण करता हुआ घूम रहा है। मुझे तो फूल ऐसे लग रहे हैं, जैसे काँटे हों। फूल दिखाई पड़ते हैं, तो प्रतीत होता है कि सारे शरीर में चीटियाँ लग गई हों। जवानी से भरी हुई यह नारङ्गी की शाखा रूपी शरीर है, अर्थात् नारङ्गी के समान उरोज यौवन का उभार ले रहे हैं, उसे तोता रूपी विरह खा रहा है उसकी किसी प्रकार अब रक्षा नहीं की जा सकती।

हे पति ! तुम इस प्रकार शीघ्र आओ, जैसे गिरहबाज कबूतर ऊपर से टूट कर अपने जोड़े के पास पहुँच जाता है। आप सोचिये तो कि तुम्हारी पत्नी दूसरे (विरह) के हाथ पड़ गई है और तुम्हारे बिना वह छूट नहीं पाती।

[३५४]

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चँदन भौ आगी ।।
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौंहँ रथ हाँका ।।
जरत बजागिनि होउ पिय छाहाँ। आइ बुझाउ, अँगारन्ह माहाँ ।।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि सों करु फुलवारी ।।
लागिउँ जरैं, जरै जस भारू। बहुरि जो भूँजसि, तजौं न बारू ।।
सरवर हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ होइ बिहराई ।।
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका ।।
कँवल जो बिगसा मानसर, छारहिं मिलै सुखाइ।
अबहूँ बेलि फिरि पलुहै, जौं पिय सींचहु आइ ।।३५४।।

शब्दार्थ—हिवंचल-ताका=हिमालय की ओर देखा, उत्तरायण हुआ। बिरह बजागि=वियोग की वज्राग्नि। सौंह=मेरे सामने। भारू=भाड़। बहुरि=फिर, भुना हुआ यव अन्न। भूँजसि=भूनोगे। बारू=द्वार, बालू। बिहराई=अलग होना, तालाब का

पानी जब सूखता है तो मिट्टी में दरारें फूट जाती हैं। दवँगरा=जोर की वर्षा। मेर-बहु=मिला दो। छार=राख—कमल पहली वर्षा से जल जाता है, उसकी जड़ें पानी में पड़ी रहती हैं और शरद् ऋतु में पनप आती हैं।

अर्थ - वैशाख का महीना लगा, गर्मी बढ़ गई, और चन्दनी चीर का चोला आग हो गया। जलता हुआ सूर्य उत्तरायण हो गया और विरह की वज्राग्नि मेरी ओर होकर रथ चला कर आ रही है। इस विरह की वज्राग्नि में जलते हुए मुझे, हे पति! अपनी छाया दो और आकर अङ्गारों को बुझाओ। तेरे दर्शन से मेरी नाड़ियाँ शीतल हो जायँगी, आकर इस आग को फुलवाड़ी बना दो। भाव यह कि तुम्हारे आते ही सारे अङ्गारे मेरे लिए फूल हो जायेंगे। अब मैं भाड़ की भाँति जलने लग गई हूँ, यदि अब और मुझे भूलोगे, तो भी मैं द्वार नहीं छोड़ सकती अथवा यदि तुम मुझे जौ की भाँति भून डालोगे तो भी मैं बालू नहीं छोड़ूंगी [जौ के भूनने पश्चात् उसमें बालू लगी रहती है, जिसे साफ करके ही खाया जाता है]। जिस प्रकार तालाबों का पानी इस समय घट रहा है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी दबता जा रहा है और जैसे तालाबों की मिट्टी पानी के सूख जाने पर टुकड़े-टुकड़े होकर फटी जा रही है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी फटा जा रहा है। इस फटते हुए हृदय को हे पति! सहारा दो। अपनी दृष्टिरूपी जलवृष्टि से इन फटी हुई दरारों को मिलाकर एक कर दो। जो कमल मानसरोवर में खिला था, वह सूख कर मिट्टी में मिल रहा है—अर्थात् मेरे मन की सारी प्रसन्नता इस समय नष्ट हो चुकी है। पर अब भी मेरे हृदय—कमल की बेल पल्लवित हो सकती है, अतः हे पति! तुम से आकर सींच दो।

[३५५]

जेठ जरै जग, बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा॥
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा॥
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी॥
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मंदी॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुख बाँधी॥
अधजर भई, मांसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा॥
मांसु खाइ अब हाँड़न्ह लागा। अबहूँ आउ, आवत सुनि भागा॥
परबत समुंद मेघ ससि दिनअर, सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिअै, जरै जो अस पिय लागि॥ ३५५॥

शब्दार्थ—लुवारा=लू। धिकै=गर्म हो जाना। चारिहु पवन=पुरवाहि, पछिवाँ, उतरहा, दखिनहा। मंदी=धीमी, आंच मंदी होने पर भी तीव्र समझी जाती है। लंका डाहि पलंका=लंका और पलंका द्वीप—इलौरा की गुफाओं में लंका और पलंका दोनों की गुफाएँ

बनी हैं। यहां पलंका का अर्थ पलंग है। दिनअर=दिनकर। मुहम्मद=मलिक मुहम्मद जायसी।

अर्थ—जेठ के महीने में लू चल रही है, सारा संसार जल रहा है। बबंडर उठते हैं और पहाड़ जलने लगते हैं। विरह हनूमान् होकर गरज रहा है और लंका रूपी शरीर को जलाने लगा। चारों ओर से हवा चल कर उस आग को प्रज्वलित करती जा रही है। लंका रूपी शरीर को जलाने के बाद पलंगों में भी आग लग रही है। जल जाने के कारण ही यमुना नदी काली हो गयी हैं। विरह की अग्नि धीरे-धीरे जल रही है। आग उठती है, आँधी चलती है; आँखों से दिखाई नहीं पड़ता और मैं दु:ख से बँधी मर रही हूं। अधजली हो गई हूँ, शरीर का सारा माँस सूख गया। विरह रूपी कौआ भूखा होकर शरीर को खा रहा है। सारे मांस को खा चुका, तो अब हड्डियों में लग रहा है, हे पति! अब भी आ जाओ, तुम्हारे आते ही यह विरह—कौआ भाग जायगा।

जायसी कहते हैं कि विरह की आग को पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्रमा और सूर्य नहीं सह सकते। जायसी कहते हैं कि उस सती की तारीफ करनी चाहिए, जो पति के लिए इस प्रकार जल रही है।

[३५६]

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भै मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी॥
तन तिनुवर भा, झूरौं खरी। मैं बिरहा, आगरि सिर परीं॥
साँठि नाँहि लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा॥
बंध नाँहि, औ कंध न कोई। बाक न आव, कहौं केहि रोई॥
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाँहि उठि सकै न थूनी॥
बरिसहिं नैन, चुअहिं घर माहाँ। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाहाँ॥
को रे कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा॥
अबहूं दिस्टि मया करु, छान्हिन तजु घर आउ।
मंदिल उजार होत है, नव कै आनि बसाउ॥ ३५६॥

शब्दार्थ—जेठ असाढ़ी=जेठ-आषाढ़ के कठिनतम गर्मी के दिन। छाजनि=छप्पर। तिनुवर= तिनकों का ठाट। झूरौं=सूख रही हूँ। आगरि=अग्रिम, ओरी—अगले ठाट के बाहरी सिरे पर बंधी हुई पंक्ति। साँठि=पूँजी, सेंठा, सरकंडे का बंधन। मूँज=एक घास जिसका बन्धन बनाया जाता है। बंध=बंधु। कंध=सहारा। बाक=बात। ररि=रट कर। टेक बिहूनी=सहारे के बिना। थंभ=सहारा। थूनी=वह लकड़ी का खम्भा जिस पर छप्पर ठहरता है। छाजन=छप्पर, गाँवों में जेठ-आसाढ़ में घरों के छप्पर फिर से तैयार किये जाते हैं।

अर्थ—अब जेठ-आसाढ़ की गर्मी तपने लगी है, मुझे तो यह छप्पर दुःखदायी हो रहा है। शरीर तिनकों का छप्पर हो रहा है और मैं खड़ी सूख रही हूँ। विरह तो आगे-आगे सिर पर पड़ रहा है। जब पूँजी समाप्त हो जाती है तो कौन बात पूछता है। बिना प्राण-पति के यह शरीर तो मूँज की घास के समान बिलकुल ही नीरस हो रहा है। न मेरा कोई बन्धु है और न कोई आश्रय-दाता, आवाज नहीं निकलती, किसके सामने अपना दुःख रोऊँ। रट-रट कर मैं आश्रय-विहीना दुबली हो गयी हूं। कोई खम्भा नहीं है कि जिस पर थूनी वाली लकड़ी खड़ी हो सके। आँखों से आँसू रूप जल बरसने लगा—घर चूने लगा। हे पति! तुम्हारे बिना न तो मेरे पास छप्पर है न छाँह। कौन मेरा नया टाट (छप्पर) बनावे। हे कंत! तुम्हारे बिना मेरा छप्पर न बनेगा। हे पति! अब भी दया करो। अन्य छप्परों (स्त्रियों) को छोड़ कर अपने घर आओ। घर उजड़ रहा है, आकर इसे नया बना कर बसा दो।

इस पद का दूसरा अर्थ शुद्ध छप्पर सम्बन्धी हो सकता है। जायसी को मुद्रा और श्लेष अति प्रिय थे अतः इस पद का छप्पर वाला अर्थ भी मनोरंजक है। अर्थ इस प्रकार है—

अब जेठ-असाढ़ की तपन होने लगी है, मेरे लिए पुरानी छाजन कष्टकर है। इसका तान सारा सिमिट गया है। गर्मी की हवा से फूस का फैलाव सिमिट जाता है। मैं उसके नीचे खड़ी सूख रही हूँ। उसकी ओरी (अर्गला) टूट गयी है और उसके बन्धन टूटने से द्वार खोलते ही सिर पर आ गिरती है। इसमें सरकंडे नहीं लगे हैं, बाँस के बँधे हुए बत्ते की कौन चलाये। टाट के बीच के बंधन टूट चुके हैं और छप्पर को सम्भालने वाले कंधे भी एक नहीं रह गये हैं। बांक नामक छोटी आड़ी लकड़ी भी नहीं है। मैं किस से रोकर अपनी कथा सुनाऊँ। यह दुपलिया छान अपनी जगह से हटकर सहारे को छोड़ चुकी है। इसमें थंभ भी नहीं रह गया है। सहारे की थूनी भी टूट चुकी है। धुंवा निकलने के लिए जो धमाले बने थे वे अब पानी बरसने पर टपकते हैं। हे कन्त, तुम्हारे बिना मेरी छाजन 'छाया नहीं' करती। बाँस कहाँ है जिससे टाट नया बनाया जा सके। हे प्रिय तुम्हारे बिना छाजन नहीं रह सकती।

अब भी कृपा कीजिए और विजन छोड़िए, यह उजड़ा राज मन्दिर आ कर बसा दो।

[३५७]

रोइ गँवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा ॥
तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई ॥
सो न आउ पिउ रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो नारी ॥
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनु सो घरी करै पिउ फेरा ॥

दहि कोइल भै कन्त सनेहा। तोला माँस रहा नहिं देहा॥
रकत न रहा, बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा॥
पाव लागि चेरी धनि हाहा। चूरा नेहु, जोरु रे नाहा॥
बरिस देवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झाँखि।
मानुस घर घर पूँछि कै, पूँछै निसरीं पाँखि॥ ३५७॥

शब्दार्थ—बारहमासा=लोक गीतों में बारहमासा मिलता है, साहित्य में इसका प्रयोग नहीं मिलता। पृथ्वीराज रासो और सन्देश रासक में षट् ऋतु वर्णन तो है पर बारहमासा नहीं। बरु=बल्कि। सिराई=बीतता। सोहाग=सौभाग्य, सोहागा जिससे सोना जोड़ा जाता है। सोन=वह नहीं, सोना। रूप=सौन्दर्य, चाँदी। सो नारी=वह स्त्री, सोनारिन। गरा=गल गया। ढरा=गिरा। झाँखि=पछता कर। निसरी=निकल कर। पाँखि=पक्षी।

अर्थ—बेचारी नागमती ने रो रो कर बारह मास बिता दिये। उसकी एक-एक साँस में हजारों दुःख भरे थे। क्षण-क्षण वर्ष-वर्ष के समान प्रतीत होता है, पहर-पहर युग-युग के समान होता है। अतः समय कटता ही नहीं। वह स्वरूपवान् प्रिय नहीं आता जिससे कि वह स्त्री अपना सौभाग्य प्राप्त करती। श्लेष से सोने में चाँदी मिलने से उसमें खोट आ जाती है जिसको शुद्ध करने के लिए सोहागा मिलाया जाता है। भाव यह कि मैं विरह से चाँदी रूप हो गई हूँ पर मेरा पति नहीं आता कि सुहाग प्राप्त कर पुनः सुखी हो जाऊँ। सारा रास्ता देखते हुए वह सूख जाती और सायंकाल हो जाता। कहती है कि हे प्रिय! वह घड़ी कौन सी होगी जब तुम वापस आओगे। प्रिय के स्नेह में जल कर वह कोयला हो गयी। शरीर में एक तोला भी माँस नहीं रह गया। शरीर में रक्त नहीं रह गया। सारा शरीर जल गया। आँखों से रत्ती-रत्ती खून बह गया। वह कहती है कि हे प्रिय, तुम्हारे पैरों में लग कर यह दासी हा-हा करके प्रार्थना करती है, चूड़े के स्नेह को तो जोड़ो।

सारा वर्ष रो-रोकर वह स्त्री (नागमती) पछता-पछता कर और दुःखी हो होकर हृदय में हार गई। मनुष्यों के घर-घर में पूछ कर जब निराशा हुई तो पक्षियों से पूछने के लिए निकल पड़ी।

अलंकार—श्लेष।

[३५८]

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिल्हवाँसू॥
कै खर बान कसै पिय लागा। जौं घर आवै अबहूँ कागा॥

हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तहँ पठवौं कौनु परेवा ॥
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जौं चित रोख न दोसर नाऊँ ॥
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा। करे मेराउ सोइ गौरवा ॥
कोइलि भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे वही ॥
पियरि तिलोरि आव जलहंसा। बिरहा पैठि हिएँ कत नंसा ॥
जेहि पङ्खी कहँ अढ़वौं, कहि सो विरह कै बात।
सोई पङ्खी जाइ डहि, तरिवर होइ निपात ॥१५८॥

शब्दार्थ—पुछारि=पूछने वाली, मोर। चिल्हवाँसू=चिड़िया फंसाने का फंदा। खर बान कसं=तेज बाण मारता है, खरबान नामक पक्षी। हारिल=हारी हुई, एक पक्षी। धौरी=सफेद, एक पक्षी। पंडुक=पीला, एक पक्षी पुड़की। चितरोख=एक पक्षी। बया=लौट कर आ, एक पक्षी। लवा=लगने वाला, एक पक्षी। मेराउ=मिलन। गौरवा=गौरवपूर्ण, एक पक्षी। महरि=एक पक्षी, जिसकी आवाज निकलती है 'ले दही'। पियरि=पीली चिड़िया। तिलोरि=तेलिया मैना। कत=क्यों। नंसा=नष्ट करता है। कत नंसा=कटनांस पक्षी, नीलकंठ। अढ़वौं=भेजूँ। डहि=जल जाना।

अर्थ—नागमती ने अपने पति के लिये पूछ-ताछ करने के लिए मोरनी होकर वनवास लिया पर शत्रु सवति ने उसे चिह्लवास के फन्दे में डाल दिया—भाव यह है कि मोरनी जंगल में रहती है पर फन्दे में पड़ कर दुःखी होती है, इसी प्रकार नागमती अपने पति के लिए चिल्ला-चिल्ला कर वन में पति की पूछताछ कर रही है—सौत (पद्मावती) के कारण ही उसे यह कष्ट भोगना पड़ रहा है। वह कहती है कि अब तो बाणों को तेज करके मेरा पति मुझ पर छोड़ रहा है—अर्थात् विरह की पीड़ा हो रही है। हे कौवे! तू उड़ कर बता कि क्या अब भी मेरा पति घर आयेगा? मैं हारिल पक्षी बन गई हूं। अर्थात् रास्ते चलते-चलते थक गई हूं, अब किस पक्षी को उनके पास भेजूँ? हे धौरी पंडुक! मेरे पति का स्थान बतलाओ। अर्थात् मैं श्वेत और पीली पड़ी हुई हूँ। मुझे तो एक पति का ही ठाँव है। जब तक चित्त में रोष है, अर्थात् जब तक शक्ति है, दूसरा नाम नहीं ले सकती हूँ। हे बया पक्षी! तुम भी जाओ और गले लगने वाले को ला। जो जोड़ा करवाता है वही गौरवा पक्षी है, अर्थात् जो मेरी भेंट उस प्रियतम से कराते, वही गौरवपूर्ण पक्षी है। उसको पुकारते-पुकारते कोयल के समान मैं काली हो गई। महरि की भाँति मैं भी 'रे दही' अर्थात् 'मैं जली' की भाँति पुकार रही हूँ। पियरी और तिलोरी मैना और जल-हंस आते हैं। कटनांस (नीलकंठ) पक्षी बैठ कर उड़ गया, अर्थात् मेरा जी (हंस) जल रहा है। विरह हमारे दिल में घुस कर हमें क्यों नष्ट कर रहा है?

नागमती कहती है कि मैं जिस पक्षी को ही संदेश भेजने के लिए प्रेरित करती हूँ कि वह विरह की बात जाकर कहे वही पक्षी जल जाता है और पेड़ पत्तों से रहित हो

जाता है। भाव यह है कि मुख से विरह का संदेशा जलती हुई लपट-सी निकलता है जिससे पक्षी और पत्ते झुलस उठते हैं।

इस पद में श्लेष के साथ अनेक पक्षियों की भी नामावली प्रस्तुत की गई है। अतः इसमें मुद्रा अलंकार है। अन्तिम पंक्ति में सम्भावनातिशयोक्ति अलंकार भी है।

[३५९]

कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई॥
पँ करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचिन्ह कै रासी॥
बुंद बुंद महँ जानहुँ जीऊ। कुंजा गुँजि करहिं पिउ पीऊ॥
तेहि दुख डहे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते॥
राते बिम्ब भए तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता॥
ना पावस ओहि देसरें, ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, केहि सुनि आवहि कंत॥६६९॥

शब्दार्थ—घुँघुची=गुंजा, रत्ती। राती=लाल। सिराव=ठंडा करे। कुंजा=कुंज भी, क्रौञ्च पक्षी। गुंज करहि=गूँजता है। परवर=परवल। गोहूं=गेहूं।

अर्थ—बेचारी नागमती कोयल के समान कुहुक-कुहुक कर रोती रही, उसकी आँखों से रक्त के आँसू गिरे। उनसे बन में गुंजा के बीज बोये गए। वह काले मुख वाली हो गई, आँखें और शरीर लाल हो गए। कौन विरह से गर्म शरीर को ठंडा करे? वन में जहाँ-जहाँ ही वह खड़ी होकर रक्त के आँसू गिराती है वहीं-वहीं रत्तियों का ढेर लग जाता है। मानो उसके आंसुओं की बूँद-बूँद में जीव है, और प्रत्येक कुंज से 'पी-पी' की रट निकल रही है। उसके दुःख से पलाश के पेड़ जल गए, वे पत्तों से रहित हो गए। उसकी आँख से निकले हुए खून के आँसू प्रभात में पूर्व दिशा की ललाई में प्रकट हुए। बिम्बा फल भी उसी के खून से लाल हो गये। परवल का फल भी पक कर पीला पड़ गया और गेहूँ का दाना भी फट गया। जहाँ-जहाँ देखती है वहाँ-वहाँ ललाई चढ़ जाती है, जहां वह रत्नसेन है, उसकी बात कोई नहीं कहता।

नागमती कहती है कि मालूम होता है कि जिस देश में मेरा पति रत्नसेन है उस देश में न तो वर्षा ऋतु होती है और न हेमन्त-वसन्त। न वहाँ कोयल है और न पपीहा, जिनके शब्दों को सुन कर उसके हृदय में भी प्रेम-भाव उत्पन्न हो और वह घर आवे।

नोट—ऋतु का उद्दीपक प्रभाव विरहियों पर व्यञ्जित किया गया है।

३१. नागमती-सन्देश-खंड

[३६०]

फिरि फिरि रोई, न कोई डोला । आधी राति विहंगम बोला ।।
तैं फिरि फिरि दाधे सब पाँखी । केहि दुख रैन न लावसि आँखी ।।
नागमती कारन कै रोई । का सोवै जौं कंत बिछोई ।।
मन चित हुतें न बिसरैं भोरें । नैन कजल चखु रहै न मोरें ।।
कहिसि जाति हौं सिंघल दीपा । तेहि सेवाति कहँ नैना सीपा ।।
जोगी होइ निसरा सो नाहू । तब हुत कहा सँदेस न काहू ।।
निति पूछौं सब जोगी जंगम । कोइ निजु बात न कहै बिहंगम ।।
चारिउ चक्र उजारि भे, सकसि सँदेसा टेकु ।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहि डँड एकु ।।३६०।।

शब्दार्थ—दाधे=जलाया । लावसि=लगाती हो । कारन=करुणा करके । हुँतै=से । चखु=आँख । तब हुत=तब से । चक्र=दिशाएँ । जोगी=नाथसम्प्रदाय के योगी । जंगम=लिंगायत शैव साधु । डँड=दण्ड, प्रहर ।

अर्थ—बेचारी नागमती घूम-घूम कर रोती रही । कोई भी उसकी बात सुनने के लिए नहीं चला । जब आधी रात हुई तो एक पक्षी उससे बोला—तुमने घूम-घूम कर सभी पक्षियों को जला डाला, किस दुख के कारण तू रात में भी आंख नहीं लगाती ? उसकी सहानुभूतिपूर्ण बातें सुनकर नागमती करुणा करके रोने लगी । उसने कहा कि जो अपने पति से बिछुड़ी हुई हो, वह भला क्या सो सकती है ? वह मन और चित्त से किसी प्रकार नहीं भूलता । आंसुओं के कारण आंख में काजल नहीं रह पाता । जाते समय उसने कहा था कि मैं सिंहल द्वीप जा रहा हूँ तब से रत्नसेन रूपी स्वाति के लिए मेरे नैन सीप हो रहे हैं । और जब से मेरा पति जोगी होकर निकल गया तब से आज तक किसी ने मेरा संदेशा उस तक नहीं पहुँचाया । नित्य सारे जोगी और जंगमों से पूछती हूँ, पर हे पक्षी ! कोई भी मेरी बात नहीं कहता । मेरे लिए तो चारों दिशायें उजड़ गई हैं । क्या तुम मेरा संदेशा ले सकते हो ? यदि ऐसी बात है तो मैं तुमसे अपना विरह-निवेदन करूँगी, तुम एक क्षण के लिए बैठ कर सुन लो ।

[३६१]

तासौं दुख कहिए, हो बीरा । जेहि सुनि कै लागै पर पीरा ।।
को होइ भीवँ अँगवै परगाहा । को सिंघल पहुँचावै चाहा ।।
जहाँ सो कंत गए होइ जोगी । हौं किंगरी भै झुरौं बियोगी ।।
ओहूँ सिंगी पूरै, गुरु भेंटा । हौं भै भस्म, न आइ समेटा ।।

कथा जो कहै आइ पिय केरी। पाँवरि होउँ, जनम भरि चेरी॥
ओहि के गुन सँवरत भै माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला॥
बिरह गुरुइ, खप्पर कै हिया। पवन अधार रहा होइ जिया॥
हाड़ भए झुरि किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै, कहेसु बिथा एहि भाँति॥३६१॥

शब्दार्थ—बीरा = भाई। भीवँ = भीम। दंगवै[1] = राजा डंगव। परगाहा = दूसरे की कठिनाई। चाहा = खबर। पांवरि = जूती। बहुरा = लौटा।

अर्थ—नागमती कह रही है कि हे भाई! दुःख तो उसी से कहना चाहिए जिस सुन कर दूसरे का दुःख महसूस हो। कौन भीम बन कर राजा डङ्गव का दुःख अपने ऊपर ले सकता है और कौन मेरी खबर सिंहल तक पहुँचा सकता है, जहां मेरा पति जोगी होकर चला गया है। मैं यहाँ पर सारंगी बन कर वियोग में सूख रही हूँ। उसने भी शृङ्गी ले रखी है और गुरु से मिल रहा है, पर मैं भस्म हो गई हूँ, वह आकर इसे समेटता भी नहीं। जो लौटकर मेरे पति की कथा कहे, उसकी मैं जूती होकर जीवन भर सेवा करूँगी। मैं तो उसके (रत्नसेन के) गुणों को स्मरण करते-करते माला ही बन गई हूँ, पर वह अब तक न लौटा। वह उड़ती मृगछाला पर बैठ कर उड़ गया है। कठोर विरह से खप्पर के समान हृदय हो गया है। केवल साँसों के आधार पर जीव शेष है। हड्डियां सूख कर किंगरी (सारंगी) हो गईं। नसें सब उसकी तांतें (तारें) हो गईं। रोम-रोम और सारे शरीर में उसकी धुन उठ रही है। तुम इस प्रकार मेरे दुख को उससे कह देना।

---

१. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'दंगवै' पाठ स्वीकार किया है (पद्मावत पृष्ठ ३६४) डा० माताप्रसाद जी ने 'अंगवै' पाठ माना है। प्रमाणिकता की दृष्टि से 'दंगवै' अधिक शुद्ध है। (देखिये डा० अग्रवाल की टिप्पणी २' पृष्ठ ३६४)। 'दँगवै' शब्द पद्मावत में तीन स्थानों पर और भी प्रयुक्त हुआ है—'अहुठों वज्र दँगवै' ५०८—९ और 'अहुठों वज्र जुटे सम्मुख होइ एक दँगवै लागि' ५२६—८। 'पाछे घालि दँगवै राजा' ६२९—६। अर्थ के लिए डा० अग्रवाल 'दँगवै' की व्युत्पत्ति। दुर्गपति = गढ़पति राजा से मानी है और भीम का अर्थ गुजरात के चालुक्य राजा भीम से माना है, जिसने मुहम्मद गौरी को हराया था। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। जायसी का 'दंगवै' से तात्पर्य राजा 'डंगव' से है जिसकी कथा महाभारत से सम्बद्ध है। अवधी भाषा में लिखी हुई एक 'डंगवपर्व' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई थी। पुस्तक की एक प्रतिलिपि उपलब्ध है। उसके लेखक थे तिरहुति ग्राम के कवि बलवीर। आरम्भ में ही लिखा है—

"तिरहुति महाविलास सुग्रामा। कवि बलबीर बसहिं तेहि ठामा॥
तिन सुत सों चर्चा अस कीन्हा। नृप डंगव किमि अश्विनि लीन्हा॥

डंगवपर्व कथा का सार इस प्रकार है—

नोट—इस पद के बाद एक पद पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में है। इसे डा० माताप्रसाद जी प्रक्षिप्त मानते हैं। कारण उन्होंने लिखे हैं कि एक तो सभी हस्तलिखित प्रतियों में से तीन में यह पद नहीं मिलता। दूसरे, इस पद में एक असंगति है कि पद्मावती के प्रति शत्रुतापूर्ण कथन भी है और प्रीति-पूर्ण भी-क्योंकि अन्तिम दोहे में कहती है कि 'सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।" और ऊपर अपनी प्रीति और न्याय दिखाते हुए कहा था—

अबहुं मया करु, करु जिउ फेरा। मोंहि जियाउ कंत देई मेरा॥
मोंहि भोग सों काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी॥

तीसरे, इस पद में "चंन और मेरा" के प्रयोग हैं जो कि ग्रन्थावली में अन्यत्र नहीं मिलते। पद्मावती से यह संदेश पक्षी ने कहा भी नहीं और न पक्षी उससे मिला ही है। और न जब पद्मावती और नागमती मिलती हैं तब इसकी कोई चर्चा होती है। पद इस प्रकार है :—

इन्द्र की सभा में एक बार ऋषि दुर्वासा पहुँचे। वहाँ मेनका का नृत्य हो रहा था। ऋषि ने नृत्य में रुचि न ली। इस पर क्रुद्ध होकर मेनका ने उन्हें पशु कह दिया। इस पर दुर्वासा आगबबूला हो गए। उन्होंने उसे शाप दिया—

"दिन पशु होइ राति निज रूपा। महि मंडल भरमउ भवकूपा॥

इस पर मेनका ने बहुत अनुनय-विनय किया, तब ऋषि ने कहा—

"अहुँठि वज्र संगम जेहि काला। दूर शाप तब होइ सुबाला॥

फलतः मेनका अश्विनी (घोड़ी) बनकर राजा डंगव के पास रहने लगी। रात में उसे अपना रूप प्राप्त हो जाता था। द्वारिकाधीश कृष्ण ने राजा डंगव से घोड़ी माँगी। उन्होंने इनकार कर दिया। इस पर कृष्ण ने युद्ध की घोषणा कर दी। डंगव भीम के पास गये और शरण माँगी। भीम ने डंगव को शरण दी और कृष्ण से युद्ध करने को तैयार हो गये। पांडव और कौरव एक ओर और कृष्ण तथा देवतागण दूसरी ओर हुए। भयंकर युद्ध हुआ। जब युद्ध में कृष्ण हारने लगे तो उन्होंने सुदर्शन और शंकर ने त्रिशूल छोड़ा। अपने सुदर्शन को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए हनूमान् को उसी पर चढ़ा लिया। हनूमान् का शरीर वज्र था। इस प्रकार तीन वज्र—सुदर्शन, हनूमान् और शंकर का त्रिशूल—चले। भीम ने अपने अर्धांग (वज्र का वक्षस्थल) पर इन्हें रोका। इस प्रकार ३॥ (अहुंठ) वज्रों का संगम हुआ। मेनका को शाप से मुक्ति हुई, वह सुरपुर को गई और युद्ध समाप्त हो गया।

यही संदर्भ पदमावत के सभी प्रसंगों में है। डंगवपर्व की यह कथा अवधी प्रान्त में बड़ी लोकप्रिय है। जायसी इसी को जानते थे, गुजरात के चालुक्य वंशी भीम राजा का तो उन्होंने नाम भी न सुना होगा।

पद्मावती सौं कहेहु विहंगम। कंत लोभाई रही करि संगम ॥
तू घर घरनि भई पिउ हरता। मोंहि तन दीन्हेसि जप श्रौर वरता ॥
रावट कनक सो तो कहँ भएऊ। रावट लंक मोंहि कै गएऊ ॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिए दुंद दुख पूरा ॥
हमहुँ बिश्राही संग श्रोहि पीऊ। श्रापुहि पाइ जानु पर जीऊ ॥
श्रबहुं मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा ॥
मोहि भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी ॥
सवति न होहि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
श्रानि मिलाव एक बेर, तोर पाँव मोर माथ ॥

[३६२]

रतनसेनि कै माइ सुरसती। गोपीचँद जसि मैनावती।
श्राँधरि बूढ़ि सुतहि दुख रोवा। जोबन रतन कहाँ भुँइ टोवा ॥
जोबन श्रहा लीन्ह सो काढ़ी। भै बिनु टेक करै को ठाढ़ी ॥
बिनु जोबन भौ श्रास पराई। कहाँ सपूत खाँभ होइ श्राई ॥
नैनन्ह दिस्टि त दिया बराहीं। घर श्रँधियार पूत जौं नाहीं ॥
को रे चलाव सरवन के ठाऊँ। टेक देहि श्रोहि टेकौं पाऊँ ॥
तुम्ह सरवन होइ काँवरि सजी। डारि लाइ सो काहे तजी ॥
सरवन सरवन कै ररि मुई सो, काँवरि डारहि लागि।
तुम्ह बिनु पानि न लावै, दसरथ लावै श्रागि ॥३६२॥

शब्दार्थ—टोवा=टटोलना। श्रहा=था। काढ़ी=निकाल लिया। टेक=सहारा सरवन=श्रवण कुमार जिसकी कथा माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'सरवन' शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति लिखी है। 'श्रवण कुमार' शब्द 'श्रमण कुमार' से बना है। बौद्धों के साम जातक में भी यही कथा है। श्रमण बौद्ध भिक्षु को कहते हैं। वाल्मीकि रामायण में मुनिपुत्र नाम है। मालूम होता है कि वाल्मीकि वाली कथा का ही रूपान्तर बौद्धों ने किया। वौद्ध भिक्षु प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व भिक्षा मांगते थे। श्रब भी बहुत से भिखारी करताल बजा कर श्रवण कुमार के गीत गाते श्रौर भीख माँगते हैं। इस प्रकार प्रचार में वौद्धों का श्रवण शब्द ही 'सरवन' बन गया। कांवरि=बंहगी, जिस में श्रपने श्रंधे माता-पिता को बिठाकर श्रवण कुमार उन्हें ले जाया करता था।

श्रर्थ—रत्नसेन की माँ सरस्वती ऐसी दुखी हुई जैसे कि राजा गोपीचन्द के जोगी होने पर उसकी माँ मैनावती दुखी हुई थी। बेटे के दुःख से ही रोते-रोते वह श्रन्धी श्रौर बूढ़ी हो गई। वह रोकर कहने लगी कि रत्नसेन तू ही मेरी जवानी था, तेरे जाने से मैं श्रन्धी बूढ़ी हूँ, मैं तूझे जमीन में कहाँ टटोलती फिरूं। मेरी युवावस्था तो तुमने निकाल ली

अब मैं सहारे से रहित हूं, कौन मुझे खड़ा कर सकता है। जवानी से रहित होने के कारण अब तो मुझे दूसरों की ही आशा है, मेरा वह सपूत कहां है जो खंभा होकर आ सकता है। आंखों में दृष्टि है तो मानों दीपक जल रहा है, पर यदि घर में पुत्र नहीं है तो अंधेरा छाया रहता है। कौन मुझे मेरे श्रवणकुमार (रत्नसेन) के स्थान पर पहुंचावे। जो मुझे सहारा देगा मैं उसका पैर पकड़ूंगी। हे बेटे ! तुमने तो श्रवणकुमार के समान बंहगी सजा ली थी और उसे डाली में लटका कर अब क्यों छोड़ गये। भाव यह कि पहले तुम श्रवणकुमार की भाँति मातृ-भक्त थे तो अब क्यों भूल गये। इस प्रकार उसकी काँवरि के लिए श्रवण का नाम रट-रट कर वह मरने लगी, तुम्हारे बिना हम पानी नहीं पा रहे हैं, दशरथ रूपी विरह आग लगा रहा है।

[३६३]

लै सो सँदेस बिहगम चला। उठी आगि बिनसा सिंघला ।।
बिरह बजागि बीच को ठेघा। धूम जो उठे स्याम भए मेघा ।।
भरि गा गँगन लूकि तसि छूटी। होइ सब नखत गिरहिं भुइँ टूटी ।।
जहँ जहँ पुहुमी जरी भा रेहू। बिरह के दगध होइ जनि केहू ।।
राहु केतु, जरि लंका जरी। औ उड़ि चिनगि चाँद महँ परी ।।
जाइ बिहगम समुँद डफारा। जरे माँछ पानी भा खारा ।।
दाधे बन तरिवर, जल सीपा। जाइ नियर भा सिंघल दीपा ।।
समुँद तीर एक तरिवर, जाइ बैठ तेहि रूख।
जब लगि कह न सँदेसरा, ना ओहि प्यास न भूख ।।३६३ ।।

शब्दार्थ—बिनसा=नष्ट हुआ। ठेघा=पकड़ सकता है। पुहुमी=पृथ्वी। रेहू=रेह नामक मिट्टी जिससे धोबी कपड़े धोता है। डफारा=चिल्लाया। मांछ=मछली।

अर्थ—जैसे ही नागमती का संदेश लेकर पक्षी चला वैसे ही एक विरह की अग्नि लगी जिससे सारा सिंहलद्वीप नष्ट होने लगा। विरह की वज्राग्नि लगी उसको बीच में पड़ कर कौन पकड़ सकता है ? उस अग्नि से जो धुआं निकला उसी से तो सारे बादल काले हो गये। सारा आकाश भर गया, उसमें से तारे टूटने लगे। सारे नक्षत्र टूट-टूट कर भूमि में गिरने लगे। जहां-जहां पृथ्वी जल उठी वहां वहां मिट्टी रेह हो गई। विरह से कोई न जले तो अच्छा। राहु और केतु भी इसी से जल उठे, लंका भी इसी से जली और उसकी एक चिनगारी उड़कर चन्द्रमा में पहुँची, इसीलिए उसमें काला धब्बा दिखाई पड़ता है। पक्षी जाकर समुद्र में चिल्ला उठा, उसकी चिल्लाहट सुनकर विरहाग्नि की लपट से सारी मछ-लियां झुलस गईं और समुद्र का पानी खारा हो गया। वन के सारे वृक्ष जल गये, पानी की सीपें जल गयीं। फिर पक्षी सिंहलद्वीप के निकट पहुंच गया। समुद्र के किनारे एक वृक्ष था, उसी

पर जाकर वह बैठ गया। जब तक वह संदेशा नहीं कह देता, न तो उसे भूख थी और न प्यास।

[३६४]

रतनसेनि बन करत अहेरा। कीन्ह ओहि तरुवर तर फेरा॥
सीतल बिरिछ समुंद के तीरा। अति उतंग औ छाँह गँभीरा॥
तुरै बाँधि कै बैठु अकेला। औरु जो साथ करैं सब खेला॥
देखेसि फरी जो तरुवर साखा। बैठि सुनहिं पाँखिन्ह कै भाखा॥
उन्ह महँ ओहि बिहंगम अहा। नागमती जासौं दुख कहा॥
पूँछहिं सबै बिहंगम नामा। अहो मीत काहे तुम्ह स्यामा॥
कहेसि मीत मासक दुइ भए। जंबू दीप तहाँ हम गए॥
नगर एक हम देखा, गढ़ चितउर ओहि नाउँ।
सो दुख कहौं कहाँ लगि, हम दाधे तेहि ठाउँ॥३६४॥

शब्दार्थ—उतंग = (उत्तुङ्ग) ऊंचा। तुरै = (तुरग) घोड़ा। मासक = महीना।

अर्थ—रत्नसेन वन में शिकार के लिए निकला था। वह उस वृक्ष के नीचे घूम पड़ा। पेड़ की छाया बड़ी शीतल थी, समुद्र का किनारा था, वृक्ष बहुत ऊँचा था और छाया गम्भीर थी। घोड़ा बाँध कर वह अकेला बैठ गया। उसके साथ और जो साथी थे वे सब खेल करने में लग गये। रत्नसेन ने देखा कि पेड़ की जो डाली फली है उस पर बैठकर सभी पक्षी बात सुन रहे हैं। उनमें से एक पक्षी था जिससे नागमती ने अपना दुःख कहा था। सभी पक्षी उससे पूछ रहे थे कि हे मित्र तुम काले क्यों हो गए हो? उस पक्षी ने उत्तर दिया—मित्रो, दो मास के लगभग हो रहे हैं, मैं जम्बूद्वीप गया था। वहाँ पर मैंने एक चित्तौड़ नाम का शहर देखा। वहाँ पर हम इस प्रकार जल गये कि उस दुख का वर्णन कहाँ तक करूँ?

[३६५]

जोगी होइ निसरा जो राजा। सून नगर जानहुँ धुंध बाजा॥
नागमती है ताकरि रानी। जरि बिरहैं, भै कोइलि बानी॥
अब लगि जरि होइहि भै छारा। कहि न जाइ बिरहा कै झारा॥
हिया फाट वह जबहिं कुहूकी। परे आँसु होइ होइ सब लूकी॥
चहुँ खँड छिटकि परी वह आगी। धरती जरत गँगन कहँ लागी॥
बिरह दवा अस को रे बुझावा। चहै लागि जरि हियरे धावा॥
हौं पुनि तहाँ डहा दव लागा। तन भा स्याम, जीव लै भागा॥
का तुम्ह हँसहु गरब कै, करहु समुंद महँ केलि।
मति ओहि बिरहे बसि परहु, दहैं अगिनि जल मेलि॥ ३६५॥

शब्दार्थ—निसरा=निकला। धुंध बाजा=अन्धकार छा गया। बानी=वर्ण (रंग) वाली। झारा=लपट। लूकी=लपट। दवा=दावाग्नि।

अर्थ—वह राजा रत्नसेन योगी होकर निकल गया। सारा नगर सूना हो गया। मानो चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार छा गया हो। नागमती उसकी रानी है, वह जलकर कोयल के समान रंगवाली हो गयी। अब तक जल कर राख हो गयी होगी। विरह की जलन का वर्णन नहीं किया जा सकता। जब वह विरह से कुहकती है तो श्रोता का हृदय फट जाता है। आँसू लपटें हो होकर गिरते हैं। वह आग छिटक कर चारों ओर जा गिरी, पृथ्वी जलने लगी, आकाश में भी आग लग गयी। विरह की दावाग्नि को ऐसा कौन है जो बुझा दे ? हृदय की लगी हुई आग चारों ओर दौड़ने लगी। मैं भी वहाँ दावाग्नि में लग कर जल उठा। इसी से मेरा शरीर काला हो गया। मैं तो अपनी जान बचा कर किसी प्रकार भाग निकला। तुम यहाँ गर्व करके आनन्द कर रहे हो, समुद्र में विविध प्रकार के खेल खेल रहे हो, कि समुद्र में आग नहीं पहुंच सकती। ऐसा न हो कि कहीं तुम भी भूल से उस बिरह की आग में न पड़ जाओ कि जल में भी घुस कर वह तुम्हें जला दे।

[३६६]

सुनि चितउर राजैं मन गुना। बिधि सँदेश मैं कासौं सुना॥
को तरिवर अस पँखी भेसा। नागमती कर कहै संदेसा॥
को तूं मींत मन चित्त बसेरू। देव कि दानौ पौन पखेरू॥
रुद्र ब्रह्म हरि बाचा तोही। सो निजु अंत बात कहु मोही॥
कहाँ सो नागमती तुइं देखी। कहेसु बिरह जस मरन बिसेखी॥
हौं राजा सोई भा जोगी। जेहि कारन वह असि बियोगी॥
जस तूं पंखि होहुं दिन भरऊँ। चहौं कबहुं जाइ उड़ि परऊँ॥
पंखि आँखि तेहि मारग, लागी दुनहुं रहाहिं।
कोइ न संदेसी आवहिं, तेहि क सँदेस कहाहिं॥ ३६६॥

शब्दार्थ—बसेरू=बसने वाला। बाचा=शपथ। अन्त=अन्तिम बात, अन्तःकरण की बात। हरि=विष्णु-पाठान्तर शिवं* हौंहुं=मैं भी। भरऊँ=बिता रहा हूं।

अर्थ—चित्तौड़ का नाम सुन कर राजा ने मन में विचार किया कि हे भगवान्, यह सन्देश मैं किससे सुन रहा हूं। इस वृक्ष पर पक्षी के वेश में कौन है जो नागमती का सन्देश कह रहा है। हे मित्र ! मेरे चित्त में बसने वाले तुम कौन हो, देवता, राक्षस, पवन या पक्षी क्या हो ? तुझे शंकर विष्णु और ब्रह्मा की सौगन्ध है, तुम अपने अन्तःकरण की

* देखिये डा० वासुदेव शरण की पदमावत पृ० ३६८।

बात मुझ से कहो। तुमने नागमती को कहां देखा। विरह में जिसके मरण का तुमने ऐसा वर्णन किया है। मैं ही वह राजा हूं जो जोगी हो गया और जिसके कारण वह विरहिणी है। हे पक्षी ! जैसे तू दुःखी है उसी प्रकार मैं भी दुःख से ही दिन काट रहा हूं और चाहता हूँ कि कब उड़ कर उसके पास जा पड़ूं। हे पक्षी, मेरी दोनों आँखें उसी रास्ते पर लगी रहती हैं, कोई सन्देश कहने वाला आकर उसका सन्देश नहीं कहता।

[३६७]

पूँछसि काह सँदेस बियोगू। जोगी भया न जानसि जोगू॥
दहिने संख न सिंगी पूरे। बाएँ पूरि बादि दिन झूरे॥
तेलि बैल जस बाएँ फिरै। परा भौंर महँ सौंह न तिरै॥
तुरी औ नाव दाहिन रथ हाँका। बाएँ फिरै कोंहार क चाका॥
तोहि असि नाहीं पंख भुलाना। उड़ै सो आदि जगत महँ जाना॥
एक दीप का आबउँ तोरे। सब संसार पाव तर मोरे॥
दहिने फिरै [सो] अस उँजियारा। जस जग चाँद सुरुज औ तारा॥
मुहमद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला, बोलु पपीहा पाँखि॥ ३६७॥

शब्दार्थ—मया = दया, मोह। दहिने = यहाँ दाहिने और बाँये शब्दों में श्लेष है। उस समय में वाम मार्ग का प्रचलन था। उसी के विरोध में जायसी दाहिने या प्रेम मार्ग की प्रशंसा करते हैं। सिद्ध और नाथों के मार्ग तथा शैवों का निर्गुण योग मार्ग तथा शाक्त मार्ग वाम मार्ग थे। पूरे = बजाता है। झूरै = चिन्ता करना। बादि = व्यर्थ-पाठान्तर-रैन = रात। झूरे = सूखे। भौंर = चक्कर। सौंह = सामने। तिरै = पार हो। तुरी = घोड़ी। कोंहार = कुम्हार।

अर्थ—जोगी लोग वामपक्षी होते हैं—उनके वामपक्ष पर ही कवि इस पद में विचार कर रहा है।

पक्षी ने कहा कि तुम नागमती के विरह का क्या सन्देश पूछ रहे हो ? तू जोगी हो गया पर जोग नहीं जानता। वह दाहिनी ओर शंख नहीं रखता—शृङ्गी बजाता है—और बाईं ओर बजा कर सारा दिन (काल) व्यर्थ में सुखाता है—अर्थात् तपस्या करता है। जैसे तेली का बैल सदा बाईं ओर ही मुड़ता रहता है, उसी प्रकार योगी भी योग के चक्कर में बाम मार्ग लेता हुआ घूमता रहता है, सामने होकर वह पार नहीं कर सकता। घोड़ी, नाव और रथ सब दाहिने को चलते हैं पर कुम्हार का चाक बायें चलता है। हम पक्षी तुम जैसे भूलने वाले तो नहीं हैं, हम तो उड़ते रहते हैं और आरम्भ से ही संसार में उड़ना जानते हैं। क्या तुम्हारे एक ही द्वीप में आया हूँ, सारा संसार ही मेरे पैरों तले है। पक्षी तो दाहिने चलता है और इस प्रकार प्रकाशमान है जैसे संसार में चाँद, सूर्य और तारे।

मलिक मोहम्मद जायसी ने भी वाम मार्ग को ठीक न समझ कर अपनी बाईं आँख और बायां कान छोड़ दिया। जब से दाहिने मार्ग से चलने लगा, तभी से पपीहा पक्षी के बोल 'पीउ-पीउ' को कह रहा है। अर्थात् दाहिने मार्ग वाला ही प्रेम कर सकता है और विरह को जानता है, वाम-मार्ग वाला योगी तो हृदयहीन है, वह विरह क्या जाने।

नोट—मलिक मुहम्मद जायसी बाईं आँख से काने और बायें कान से बहरे थे। इस पद में वे वाम-पक्ष का खण्डन कर रहे थे, तो उसी के सिलसिले में अपनी अंग-हीनता का गुण भी कह गये।

[३६८]

हौं ध्रुव अचल सो दाहिन लावा। फिरि सुमेरु चितउर गढ़ आवा॥
देखेउँ तोरे मँदिल घमोई। माता तोरि आँधरि भै रोई॥
जस सरवन बिनु अंधी अंधा। तस ररि मुई, तोहि चित बँधा॥
कहेसि मरौं, अब काँवरि रेंई। सरवन नाहिं, पानि को देई॥
गई पिआस लागि तेहि साथाँ। पानि दिहें दसरथ के हाथाँ॥
पानि न पियँ, आगि पै चाहा। तोहि अस पूत जरम अस लाहा॥
भागीरथी होइ करु फेरा। जाइ सँवारु मरन कै बेरा॥
तूँ सपूत मनि ताकरि, अस परदेस न लेहि।
अब ताईं मुई होइहि, मुएहुँ जाइ गति देहि॥ ३६८॥

शब्दार्थ—दाहिन लावा=दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की। मँदिल=मंदिर। घमोई=कांटेदार पौदा, सत्यानासी। ररि=रट कर। रेंई=लटका कर। जरम=जन्म, जीवन। लाहा=लाभ। ताईं=तक।

अर्थ—मैंने अचल ध्रुव के दाहिनी ओर से चक्कर किया, फिर सुमेरु के समान चित्तौड़गढ़ पर आया। मैंने देखा कि तेरे महल पर घमोइ जैसे झाड़-झंखाड़ उठे हैं और तेरी माँ रो-रोकर अन्धी हो गयी है। जैसे श्रवण के बिना उसके अन्धी-अन्धे—माता-पिता रो-रो कर मर गये, उसी प्रकार तेरी मां भी तुम्हारे ऊपर ही चित बांधे थी। उसने कहा कि अब मैं मरूँगी, श्रवणकुमार के समान मेरा बेटा नहीं है जो कांवरि (बहंगी) में हमें लटका कर पानी देगा। मेरी प्यास तो उसी के साथ चली गई, दशरथ के हाथ का पानी होगा ? वह पानी नहीं पीती, आग पीना चाहती है। तुम जैसे पुत्र को पाकर उसे अपने जीवन में ऐसा ही लाभ है। अब तो तू राजा भगीरथ बन कर फेरा कर और उसकी मृत्यु की वेला में जाकर उसे सम्भाल। तुम तो सपूत हो, उसकी मणि इस प्रकार परदेश में रह कर न ले, अब तक तो वह बेचारी मर भी गई होगी, अब तू जा कर मरने के बाद की उसकी गति कर।

[३६९]

नागमती दुख बिरह अपारा। धरती सरग जरै तेहि भारा॥
नगर कोट घर बाहिर सूना। नौजि होइ घर पुरुख बिहूना॥
तूँ कांवरू परा बस लोना। भूला जोग, छरा जनु टोना॥
ओहि तोहि कारन मरि भै बारा। रही नाग होइ पवन अधारा॥
कह चील्हन पिय पहँ लै खाहू। माँसु न, कया जो रूचै काहू॥
बिरह मँजूर, नाग वह नारी। तूँ मंजार करु बेगि गोहारी॥
माँसु गरा, पाँजर होइ परी। जोगी अबहुँ पहुँचु लै जरी॥
देखि बिरह दुख ताकर, मैं सो तजा बनबास॥
आएँउ भागि समुँद टट, तबहुं न छाँड़े पास॥ ३६९॥

शब्दार्थ—नौजि=कभी नहीं (अवधी बोलचाल में 'न' के लिए नौजि का प्रयोग मिलता है), ईश्वर न करे। कांवरू=कामरूप (आसाम) जहां का जादू-टोना प्रसिद्ध है। छरा=छला। लोना=लोना नाम की चमारी जो टोना करने में मशहूर थी।* मँजूर=मयूर। मँजार=(मार्जार) बिल्ली। गोहारी=सहायता। जरी=जड़ी। टट=तट।

अर्थ—नागमती के विरह का दुःख तो अपार है, उसकी ज्वाला से तो सारी पृथ्वी और स्वर्ग जलता है। नगर, कोट, घर-बाहर सभी सूना हो गया है। वह घर कभी न हो जिसमें पति ही नहीं है। तू तो कामरूप के जादू और लोना नामक जादूगरनी के वश में हो गया है, तेरा योग भूल गया, जैसे टोने ने तुझे छल लिया है। वह स्त्री तो तेरे कारण मर रही है। नाग बन कर केवल पवन के आधार पर जी रही है। वह चीलों से कहती है कि पति के पास ले जाकर मेरे मांस को खाओ। पर उसके शरीर में तो मांस ही नहीं है, अतः किसी को वह नहीं पसन्द आती। विरह मोर हो रहा है और वह नागमती नाग हो रही है, तू बिल्ली बन कर शीघ्र ही उसकी सहायता कर। उसके शरीर का सारा मांस जल गया है, उसमें केवल अस्थि-पंजर रह गया है, इस लिए हे जोगी! अब भी जड़ी लेकर पहुंच जाओ। उसके इस दुःख को देख कर मैंने उस वन का बसना ही छोड़ दिया। भागकर मैं समुद्र के किनारे आया, फिर भी वह आग मेरा पीछा नहीं छोड़ती।

[३७०]

अस परजरा बिरह कर कठा। मेघ स्याम भै धुआं जो उठा॥
दाधे राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चांद जरि आधा॥

* यहि का गुरु चमारिनि लोना। सिखा कामरू पाढ़ित टोना—पद संख्या ४४८/६।
जस कांवरू चमारी लोना। को न छरा पाढ़ित औ टोना॥ पद संख्या ५८५/२।

औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरनि महं परहीं ।।
जगी सो धरती ठाँवहि ठाँवाँ। ढंक परास जरे तेहि ठावाँ ।।
बिरह साँस तस निकसै झारा। धिकि धिकि परबत होहिं अंगारा ।।
भंवर पतंग जरे औ नागा। कोइलि, भुंजइल औ सब कागा ।।
बन पंछी सब जिउ लै उड़े। जल पंछी जरि जल महँ बुड़े ।।
हँहूँ जरत तहँ निकसा, समुंद बुझाएउँ आइ।
समुंदो जरा खार भा पानी, धूम रहा जग छाइ ।। ३७० ।।

शब्दार्थ—परजरा=जला। झारा=लपट काठा=काठ, लकड़ी। धिकि=गम होकर। भुंजइल=एक काली चिड़िया।

अर्थ—उसके विरह की लकड़ी इस प्रकार जली कि उसके जलने में जितना धुआँ हुआ उससे बादल काले हो गये। राहु और केतु जल गये, सूर्य भी उसी के कारण जलता है और चन्द्रमा तो जल कर आधा हो गया। सारे नक्षत्र तथा तारागण भी उसी से जलते हैं, तारे टूट-टूट कर पृथ्वी में पड़ते हैं। पृथ्वी जगह-जगह जल गयी। ढाक और पलाश उसमें जल उठे। उसकी विरह की साँस में से ऐसी लपट निकलती है कि पहाड़ (ज्वालामुखी) गर्म हो-हो कर अंगारे हो गये। भौंरे, पतंगे और साँप भी जल-जल कर काले हो गये। कोयल, भुंजइल और कौए आदि काले पक्षी भी जल कर ही काले हुए हैं। वनों के सारे पक्षी अपनी जान लेकर उड़ चले, जल के पक्षी जलने लगे तो पानी में डूब गए।

मैं भी जलता हुआ वहाँ से निकल भागा और समुद्र में आकर मैंने अपनी आग बुझाई। पर समुद्र भी तो जल उठा और इसीलिए उसका पानी खारा हो गया और उसी का धुआँ सारे संसार में छाया हुआ है।

[३७१]

राजें कहा, रे सरग सँदेसी। उतरि आउ, मोहि मिलु, सहदेसी ।।
पावँ टेकि तोहि लावौ हियरे। प्रेम सँदेस कहौ होइ नियरे ।।
कहा बिहंगम जो बनबासी। कित गिरिही तें होइ उदासी ।।
जेहि तरिवर तर तुम अस कोऊ। कोकिल काग बराबरि दोऊ ।।
धरती महँ बिख चारा परा। हारिल जानि पुहुमि परिहरा ।।
फिरौं बियोगी डारहि डारा। करौं चलै कहँ पंख सँवारा ।।
जियन की घरी घटत निति जाहीं। साँसहि जिऊ है, देवसन्ह नाहीं ।।
जौं लहि फेरि मुकुति है, परौं न पिंजर माँह।
जाउँ बेगि थरि आपनि, है जहाँ बिंझ बनाँह ।। ३७१ ।।

शब्दार्थ—सरग सँदेसी=स्वर्ग (आकाश) से सन्देशा देने वाले। सहदेसी=एक देश में रहने वाले। पारा=पड़ा हुआ। पाठान्तर=परा-बिखरा हुआ। परिहरा=छोड़ दिया

(हारिल पक्षी कभी भूमि पर नहीं आता)। थरि=स्थल (घर)। बनाँह=वन में; पाठान्तर-निबाह।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे स्वर्ग से सन्देश देने वाले मेरे देशवासी पक्षी! नीचे उतर आओ। तेरे पैर को पकड़ कर हृदय से लगाऊंगा, तू प्रेम के सन्देश को निकट होकर कह। पक्षी ने कहा कि मैं तो वन में रहने वाला पक्षी हूं और पक्षी गृहस्थ से उदासीन कैसे हो सकता है, पर जिस पेड़ के नीचे तुम जैसा कोई व्यक्ति है उसके लिए तो कोयल और कौआ बराबर है। भाव यह है कि तुम तो धोखा देने वाले व्यक्ति हो—नागमती के साथ छल कर यहाँ आये और दूसरी स्त्री पद्मावती के प्रेम पाश में बँधे। तुम अच्छे और बुरे की पहचान नहीं जानते, अतः विश्वास के योग्य नहीं हो।

पृथ्वी में तो विष का चारा डाला हुआ है, तभी तो हारिल पक्षी पृथ्वी को छोड़कर ऊपर ही रहता है। इसीलिए मैं भी वियोगी हूँ और डाल ही डाल पर फिरता रहता हूं, अब मैं अपने पंखों को सम्भाल कर चलना चाहता हूं। जीवन की घड़ी तो नित्य ही घटती जा रही है, जीव स्वांसों में है दिनों में नहीं, अर्थात् जीवन क्षणिक मात्र ही है। जब तक मेरे पास मुक्ति है (अर्थात् छूटा हूं) मैं पिंजरे में न पड़ूँगा, मैं शीघ्र ही अपने स्थान को जो कि वन के बीच में है, जाऊँगा। व्यंजना से पक्षी कहता है कि मनुष्य को अपने ही स्थल पर रहना चाहिए, अन्यत्र बन्दी न होना चाहिए, इस प्रकार हे रत्नसेन! तू भी पद्मावती के पिंजरे से मुक्त होकर अपने घर को जा।

[३७२]

कहि सो सँदेस बिहंगम चला। आगि लाइ सगरिउ सिंघला॥
घरी एक राजैं गोहरावा। भा अलोप, पुनि दिस्टि न आवा॥
पंखी नाउं न देखौं पाँखी। राजा रोइ फिरा कै साँखी॥
जस हेरत यह पंखि हेराना। दिनेक हमहुँ अस करब पयाना॥
जौं लगि प्रान पिंड एक ठाऊँ। एक बेर चितउर गढ़ जाऊँ॥
आवा भँवर मँदिल जहँ केवा। जीउ साथ लै गएउ परेवा॥
तन सिंघल, मन चितउर बसा। जिउ बिसँभर जनु नागिनि डसा॥
जेति नारि हँसि पूँछैं, अमिअ बचन जिमि निंत।
रस उतरा सो चढ़ा बिख, ना ओहि चित न मिंत॥ ३७२॥

शब्दार्थ—गोहरावा=बुलाया। अलोप=लुप्त। साँखी=शंका, क्षोभ। हेरत=खोजते हुए। हेराना=खो गया। केवा=कमल। बिसँभर=बेसम्भाल। हँसि पूँछै पाठान्तर-समुझावैं।

अर्थ—पक्षी तो सन्देशा कह कर चला गया, उसने सारे सिंहल में मानो आग लगा दी। एक घड़ी तक तो राजा उसे पुकारता रहा, पर वह तो लुप्त हो गया और दिखाई न पड़ा।

न तो पक्षी का नाम-निशान रहा न उसके पंख दिखाई पड़ते थे, तब तो राजा क्षुब्ध होकर रोता हुआ लौटा। वह अपने आप कहने लगा कि जैसे खोजते हुए यह पक्षी खो गया, उसी प्रकार एक दिन मैं भी प्रस्थान करूँगा। जब तक शरीर और प्राण एक जगह हैं, एक बार चित्तौड़ अवश्य ही जाऊँगा। अब वह भौंरा रूपी रत्नसेन कमल रूपी पद्मावती के पास आया। उसका प्राण तो पक्षी लेकर उड़ गया है। उसका शरीर तो सिंहल में है पर मन चित्तौड़ में बसा है। उसका जीव बेसँभाल हो गया, मानो सर्पिणी ने उसे डस लिया हो। जितना ही वह बाला (पद्मावती) रोज की भांति अमृत वचनों से पूछती थी उतना ही उसका रस उतरता जाता था और उस पर तो विष चढ़ता जाता था। अब तो न उसका चित्त है और न मित्र, अर्थात् अब तो वह सारी सुध-बुध भूल गया है।

[३७३]

बरिस एक तेहि सिंघल रहे। भोग बेरास कीन्ह जस चहे॥
भा उदास जिउ सुना सँदेसू। सँवरि चला मन चितउर देसू॥
कँवल उदासी देखा भँवरा। थिर न रहै मालति मन सँवरा॥
जोगी औ मन पौन परावा। कत ये रहै जौं चित्त उँचावा॥
जौं जिय काढ़ि देह इन्ह कोई। जोगी भँवर न आपन होई॥
तजा कँवल मालति हियँ घाली। अब कत थिर आछै अलि आली॥
गंध्रपसेनि आए सुनि बारा। कस जिउ भएउ उदास तुम्हारा॥
मैं तुम्हहीं जिउ लावा, दै नैनन्ह महँ बास।
जौं तुम्ह होहु उदासी, तौ यह काकर कबिलास॥ ३७३॥

शब्दार्थ—बरास=विलास। सँवरा=स्मरण करके। परावा=पक्षी। उँचावा=उचट जाने पर। काढ़ि=निकाल कर।

अर्थ—एक वर्ष भर सिंहल में रहते हो गये थे और इच्छानुसार भोग विलास किया था। अब सन्देश सुनकर राजा का मन उदास हो गया और मन अब स्मरण करके चित्तौड़ देश में ही पहुँच गया। कमल (पद्मावती) ने भौंरे (रत्नसेन) को उदास देखा और समझ लिया कि अब तो मालती (नागमती) को स्मरण कर रहा है, अतः स्थिर नहीं रह सकता। जोगी, मन, पवन और पक्षी को ज्यों ही मन में उचाट हो जाता है, फिर वे वहाँ रह नहीं सकते। चाहे कोई अपना जीव भी निकाल कर दे दे तो भी जोगी और भौंरा अपने नहीं हो सकते। इसने तो कमल को छोड़कर अपने हृदय को मालती (नागमती) में डाल दिया है, इसलिए हे सखी! अब यह स्थिर कैसे रह सकता है। यह समाचार सुनकर राजा गन्धर्वसेन द्वार पर आया और बोला कि तुम्हारा चित्त उदास क्यों हो रहा है। मैंने तो तुम को अपने नेत्रों में स्थान देकर तुम में ही जी लगा रखा है, यदि अब तुम उदास होगे तो वह स्वर्ग का सुख किसके लिए होगा?

३२. रत्नसेन-बिदाई-खंड

[३७४]

रतनसेन बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभ कहँ मोरी॥
सहस जीभ जौं होइ गोसाईं। कहि न जाइ अस्तुति जहँ ताईं॥
काँचु करा तुम्ह कंचन कीन्हा। तब भा रतन जोति तुम्ह दीन्हा॥
गाँग जो निरमल नीर कुलीना। नार मिलें जल होइ न मलीना॥
तस हौं अहा मलीनी करा। मिलेउँ आइ तुम्ह, भा निरमरा॥
मान समुंद मिला होइ सोती। पाप हरा, निरमल भै जोती॥
तुम्ह मनि आएउँ सिंघल पुरी। तुम्हतें चढ़ेउँ राज औ कुरी॥

सात समुंद तुम राजा, सरि न पाव कोइ घाट।
सबै आइ सिर नावहिं, जहाँ तुम्हारइ पाट॥ ३७४॥

शब्दार्थ—ताईं=तक। काँचु=कांच, शीशा। गाँग=गंगा (पद्मावती)। नार=नाला (रत्नसेन)। करा=कला, गुण। निरमरा=निर्मल। मान समुंद=प्रतिष्ठा का समुद्र। कुरी=कुलीनता। सरि=बराबर। पाट=सिंहासन।

अर्थ—रत्नसेन ने राजा गन्धर्वसेन से हाथ जोड़कर कहा कि आपकी प्रशंसा करने योग्य मेरी जिह्वा नहीं है। हे स्वामी! यदि मेरे सहस्र जिह्वा भी हों तो भी तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर सकता। तुमने तो मुझ काँच को स्वर्ण कर दिया, मैं तो रत्न तभी हुआ जब तुमने ज्योति (पद्मावती) दी अर्थात् जब तुमने पद्मावती का विवाह किया तभी मैं कृतकृत्य हुआ। गंगा जल जो निर्मल और पवित्र होता है, नाले के मिलने से मलिन नहीं होता। उसी प्रकार मैं मलीन गुणों वाला था पर तुम से मिलकर मैं भी निर्मल हो गया। मान रूपी समुद्र में सोता होकर मिल गया, मेरा पाप दूर हो गया और मेरी ज्योति निर्मल हो गयी। मैं तो मणि के समान पद्मावती के लिए तुम्हारी सिंहलपुरी में आया था पर तुमने तो राज्य और कुल की प्रतिष्ठा भी दी।

हे राजा! सात समुद्रों में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। सभी राजा लोग आ-आकर तुम्हारे सिंहासन के आगे सिर झुकाते हैं।

[३७५]

अवसि बिनति एक करौं गोसाईं । तब लगि कया जिऔं जब ताईं ।।
आवा आजु हमार परेवा । पाती आनि दीन्ह पति देवा ।।
राज काज औ भुइँ उपराहीं । सतुरु भाई अस कोइ हित नाहीं ।।
आपनि आपनि करहिं सो लीका । एकहिं मारि एक चह टीका ।
भएउ अमावस नखतन्ह राजू । हम कै चाँद चलावहु आजू ।।
राज हमार जहाँ चलि आवा । लिखि पठएन्हि अब होइ परावा ।।
उहाँ नियर ढोली सुलितानू । होइहि भोर उठिहि जौं भानू ।।

तुम्ह चिरंजिवहु जौं लहि महि गँगन, औं जौं लहि हम आउ ।
सीस हमार तहाँ निति, जहाँ तुम्हारइ पाउ ।।३७५।।

शब्दार्थ—उपराहीं=ऊपर । सतुरु=शत्रु । लीका=स्थापना (सिक्का जमाना) । ढीली=दिल्ली । भोर=प्रातः, ढीलापन । लहि=लेकर । आउ=आयु । निति=नित्य ।

अर्थ—रत्नसेन कह रहा है कि हे राजा ! आप मेरी एक विनती अवश्य सुनें । जब तक जीव होता है, तभी तक शरीर का अस्तित्व है । भाव यह है कि जब तक यह शरीर है आपका इस पर अधिकार है । आज मेरा पक्षी आया और उसने मुझे पत्र दिया । राज के लिए और पृथ्वी के ऊपर (पृथ्वी के लिए) भाई शत्रु हो जाते हैं, कोई हितैषी नहीं रह जाता है । अब मेरे यहाँ आने से मेरे भाई लोग अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे हैं, एक को मार कर दूसरा अपना राज तिलक चाहता है । अमावास्या में नक्षत्रों का राज्य है—अर्थात् मेरी अनुपस्थिति में वे लोग मनमानी करना चाहते हैं, इसलिए आज आप मुझे चन्द्रमा बना कर वहाँ भेजिए । जहाँ मेरा राज्य था, वहाँ पर पत्र में लिखा है, कि औरों का राज्य हो रहा है । हमारे राज्य के निकट ही दिल्ली का सुलतान है, तनिक भी ढिलाई हुई कि प्रातःकाल के सूर्य की भाँति दिल्ली का बादशाह चढ़ बैठेगा । (यहां अमावास्या, चन्द्र और सूर्य के रूपक प्रस्तुत किये गए हैं । रत्नसेन की अनुपस्थिति में चित्तौड़ में अमावस्या हो गई है, रत्नसेन के पहुँचने पर चन्द्रोदय हो जायगा । किन्तु यदि यह न जायेगा तो वहाँ सूर्यदय हो जायगा, अर्थात् दिल्ली का बादशाह चित्तौड़ पर चढ़ आयेगा । कवि ने आगे भी रत्नसेन को चन्द्र और दिल्ली सुलतान को सूर्य कहा है ।)

आप जब तक आकाश और पृथ्वी हैं, मेरी भी आयु लेकर कुशल से रहें । जहां आप का पाँव है, वहाँ मेरा शीश सदा ही रहेगा ।

[३७६]

राजसभा सब उठी सँवारी । अनु बिनती राखिअ पति भारी ।।
भाइन्ह माहँ होइ जनि फूटी । घर के भेद लंक असि टूटी ।

बीरौ लाइ न सूखै दीजै। पावै पानि दिस्टि सो कीजै ॥
अनु राखा तुम्ह दीपक लेसी। पै न रहै पाहुन परदेसी ॥
जाकर राज जहाँ चलि आवा। उहै देस पै ताकहँ भावा ॥
हम दुहुँ नैन घालि कै राखहिं। असि भाख यहि जीभ न भाखहिं ॥
देहु देवस सैं कुसल सिधावहिं। दोरघ आउ होइ पुनि आवहिं ॥

सबहिं विचार परा अस, भा गवने कर साज।
सिद्ध गनेस मनावहु, बिधि पुरवै सब काज ॥३७६॥

शब्दार्थ—बीरौ=बिरवा, पौदा। घालि=डाल कर। देवस=दिन, शुभ दिन। लेसी=जलाना।

अर्थ—राज सभा के सभी लोग समर्थन में उठे और सबने राजा से विनती की, कि हे राजन् ! भाइयों में जब फूट होती है, तो 'घर का भेदी लंका ढावे' वाली बात चरितार्थ हो जाती है। जिस पौदे को लगाते हैं, उसे सूखने नहीं देते, उसे पानी देकर देख-भाल करते हैं। तुमने दीपक जला कर (सभी प्रकार के सुखों को देकर) रखा है पर अब यह पाहुना परदेशी (रत्नसेन) नहीं रह सकता। जिसका राज्य जहाँ होता है, उसे वही देश अच्छा लगता है। हमने इसको अपनी दोनों आंखों में डाल कर रखा है, ऐसी बात यह जीभ नहीं कह पाती। पर अब तो आप इनके प्रस्थान का शुभ दिन दे दीजिए, दीर्घ आयु होगी फिर आयेंगे।

सब लोगों में विचार किया गया, और पद्मावती के गौने की तैयारियां होने लगीं। सिद्ध और गणेश को मनाने लगे कि ब्रह्मा सब काम पूरा करें।

[३७७]

बिनौ करै पदमावति नारी। हौं पिय कँवल सो कुंद नेवारी ॥
मोहि असि कहाँ सो मालति बेली। कदम सेवती चाँप चँवेली ॥
औ सिंगार हार जस ताका। पुहुप करी अस हिरदै लागा ॥
हौं सो बसंत करौं निति पूजा। कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा ॥
बकचुन बिनवौं अवसि बिमोही। सुनि बिकाउ तजि जाही जूही ॥
नागेसरि जौं है मन तोरें। पूजि न सकै बोल सरि मोरें ॥
होइ सतबरग लीन्ह मैं सरना। आगें कंत करहु, जो करना ॥

केत नारि समुझावै, भँवर न काँटे बेध।
कहै मरौं पै चितउर, करौं जग्गि अस्वमेध ॥३७७॥

शब्दार्थ—बिनौ=विनय। कदम-सेवती=कदम्ब और सेवती के फूल, पैरों की सेवा करती हुई। चांप=चम्पा। सिंगार हार=हारसिंगार का पुष्प, गहनों के शृङ्गार।

बकचुन=हाथ जोड़ कर, फूलों का गुच्छा। नागेसरि नागकेसर=नागमती। सरि= बराबर। बोलसरि=मौलिश्री। सतबरग=सदवर्ग फूल। केत=केतकी। असुमेघ= अश्वमेध यज्ञ।

अर्थ—पद्मावती राजा रत्नसेन से विनती करने लगी कि हे प्रिय! मैं कमल हूँ तो वह नागमती कुन्द और नेवारी के समान ही है। मेरे समान वह मालती (नागमती) कहाँ हो सकती है। यहां पर तो चम्पा और चमेली जैसी दासियाँ आपके चरणों की सेवा में तत्पर हैं। यहाँ के आभूषणों—हार आदि शृङ्गार को देखिए, फूल की कली के समान हृदय में लगे हुए हैं। मैं सदा वसन्त बन कर आपकी नित्य पूजा करती हूँ। कुसुम, गुलाल, सुदर्शन और कूजा आदि फूल (सभी सखियाँ) मेरे पास हैं। मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करती हूँ। मैं तो आप पर मोहित हूँ। मुझ बावली को छोड़कर जूही पर क्यों जा रहे हो? आपके मन में नागकेसर रूपी नागमती बसी है, पर वह मेरी बराबरी नहीं कर सकती। मैंने सदवर्ग फूल बन कर आपकी शरण ली है। अब आगे जो आप की इच्छा हो, कीजिए।

केतकी रूपी पद्मावती बहुत समझाती है। भौंरा रूपी रत्नसेन उसके कांटे में नहीं बंधता। वह तो कहता है कि मैं तो चित्तौड़ में ही मरूँगा और वहीं पर अश्वमेध यज्ञ करूँगा।

अलंकार—इस पद में सभी फूलों के नाम गिनाये गए हैं, अतः मुद्रालंकार है।

[३७८]

गवनचार पदुमावति सुना। उठा धक्कि जिय औ सिर धुना।
गहबर नैन आए भरि आँसू। छांड़ब यह सिंघल कबिलासू॥
छांड़िउं नैहर, चलिउं बिछोई। एहि रे दिवस मैं होतहि रोई॥
छांड़िउं आपन सखी सहेली। दूर गवन तजि चलिउं अकेली॥
जहाँ न रहन भएउ निज चालू। होतहि कस न भएउ तहँ कालू॥
नैहर आएँ का सुख देखा। जनु होइ गा सपने कर लेखा॥
राखत बारि न पिता निछोहा। कत बियाहि कै दीन्ह बिछोहा॥

हिएँ आइ दुख बाजा, जिउ जानहु गा छेंकि।
मन तिवानि कै रोवै, हरि भंडार कर टेकि॥३७८॥

शब्दार्थ—गवनचार=गवन की—विदाई की तैयारी। गहबर=विषम अवस्था में पड़ी हुई। बाजा=पड़ा। छेंकि=घिर। तिवानि=चिन्ता। हरि भंडार=सिंह का पेट या कटि, कमर।

अर्थ—जब पद्मावती ने गौने के समाचार को सुन लिया, तो उसका हृदय धड़क उठा। उसने अपना सिर पीट डाला। उसके गीले नेत्रों में आँसू भर गये। उसने सोचा कि

अब तो स्वर्ग सदृश यह सिंहल छूट जायेगा, अब तो इस पीहर को छोड़कर चलना पड़ेगा। इसी दिन के लिए मैं रोई थी। मेरी सखी-सहेलियाँ सब छूट जायेंगी, इन सबको छोड़ कर मुझे अकेली जाना होगा। वहाँ पर अपने रहन-सहन से न रहना होगा। पैदा होते ही मेरी मृत्यु क्यों नहीं हो गई। इस पीहर में रह कर अभी तक हमने कौन-सा सुख देख लिया है, सब कुछ स्वप्न हो गया। निष्ठुर पिता भले ही बचपन में रक्षा न करता, ब्याह करके उसने वियोग का दुःख क्यों दिया ? हृदय पर दुःख आ पड़ा है, हृदय मानो दुःखों से घिर गया है, मन में चिन्ता करके और कटि पर हाथ का सहारा ले-लेकर वह रोती रही है।

[३७९]

पुनि पदुमावति सखीं बोलाईं। सुनिकै गवन मिलै सब आईं ॥
मिलहु, सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ फिरि आवन नाहीं ॥
सात समुन्द्र पार वह देसू। कत रे मिलन, कत आव सँदेसू ॥
अगम पंथ परदेस सिधारी। न जनहु कुसल कि बिथा हमारी ॥
पितै निछोह किएहु हिय माहाँ। तहाँ को हमहिं राख गहि बाहाँ ॥
हम तुम्ह एक मिले सँग खेला। अंत बिछोउ आनि केइ मेला ॥
तुम्ह अस हितू सँघाति पियारी। जियत जीय नहिं करौं निनारी ॥

कंत चलाई का करौं, आयसु जाइ न मेंटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं, लेहु सहेलिहु भेंटि ॥३७९॥

शब्दार्थ—संघाति=साथ की सहचरी। निनारी=अलग। कंत चलाई=प्रिय की कही हुई बात, चलाई बोलचाल में मुहावरा बन गया है जैसे—'इनकी भली चलाई।'

अर्थ—फिर पद्मावती ने अपनी सखियों को बुलाया। सखियों ने यह सुन कर कि पद्मावती का गौना होने वाला है, उससे मिलने आईं। पद्मावती ने कहा कि हे सखियो ! मुझ से मिल लो क्योंकि हम तो वहाँ जा रहे हैं, जहाँ जाकर फिर लौटना न होगा। वह देश तो सात समुद्र पार है। मिलना कैसे होगा ? और संदेशा कैसे आयेगा ? मैं तो परदेश के अगम रास्ते पर प्रस्थान कर रही हूँ, तुम न जान सकोगी कि मैं कुशल से हूँ या नहीं, मेरे पिता ने अपने हृदय में कठोरता धारण कर रखी है, यहाँ कौन है जो हमें बांह पकड़ कर रख ले। हम तुम एक साथ मिल कर खेलती थीं। अन्त में वियोग आ पड़ा है। तुम हमारी इतनी हितैषी, संगिनी और प्यारी हो कि मैं जीते-जी तुम्हें अलग नहीं करना चाहती। पर मेरे पति ने आज्ञा दे दी, वह आज्ञा मिटाई नहीं जा सकती। फिर हम लोग मिल सकें या न मिल सकें, इसलिए ऐ सहेलियो ! भेंट कर लो।

[३८०]

धनि रोवत सब रोवहिं सखी। हम तुम्ह देखि आपु कहँ झखीं॥
तुम्ह असी जहँ रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहिं पराईं॥
आदि पिता जो अहा हमारा। ओह नहिं यह दिन हिएँ बिचारा॥
छोह न कीन्ह निछोहैं ओहूँ। गा हम बेंचि लागि एक गोहूँ॥
मकु गोहूँ कर हिय बेहराना। पै सो पिता नहिं हिएँ छोहाना॥
औ हम देखी सखी सरेखी। एहि नैहर पाहुन के लेखी॥
तब तेइँ नैहर नाहिं पै चाहा। जेहि ससुरारि अधिक होइ लाहा॥

चलने कहँ हम औतरी औ, चलन सिखा हम आइ।
अब सो चलन चलावै, को राखै गहि पाइ॥३८०॥

शब्दार्थ—झखीं=पछतायीं। आदि पिता=मध्यकाल में प्रथा थी कि लोग अपनी कन्याओं को राज महलों को दे देते थे। राजा-रानी उन कन्याओं के माता पिता माने जाते थे और वे राजकुमारी की सखी-सहेलियां समझी जाती थीं। गोहूँ=गेहूँ, यहा पाप के कारण का संकेत हैं—मुसलमान धर्म के अनुसार खुदा ने हौवा को मना किया था कि वह गेहूँ न खाये, पर उसने खा लिया। इसलिए खुदा ने आदम और हौवा को बहिश्त से निकाल दिया। बेहराना=फट गया। छोहाना=प्रीति लगी। सरेखी=चतुर। नैहर=पिता का घर (यहां नैहर से इस लोक और ससुराल से परलोक की ओर भी संकेत है)। लेखी=समझी।

अर्थ—बहबाला (पद्मावती) रो रही थी। सब सखियां भी रोने लगीं और कहने लगीं कि हम तुम्हें देख कर अपने सम्बन्ध में पछता रही हैं। जब तुम्हारी जैसी स्त्री की ही ऐसी दशा है अर्थात् यहाँ नहीं रहने पाई, फिर हम क्या हैं जो पराई हैं। जो हमारा आदि पिता है, उसने इस दिन के विषय में कुछ नहीं विचारा अर्थात् उसने तुम्हारी सखी बनने के लिए मुझे यहां पैदा किया था, यह नहीं सोचा था कि जब तुम ससुराल चली जाओगी, तब हमारा क्या होगा? वह कृपा नहीं करता, बड़ा निर्दयी है। एक गेहूं के लिए हम लोगों को बेच गया। भाव यह कि एक खाने के कारण वह हमें अपने घर (पीहर) से निकाल देता है। उस गेहूं का हृदय बल्कि फट गया, पर उस पिता के हृदय में दया न उत्पन्न हुई। इस पर पद्मावती ने कहा कि मैंने देखा है कि बहुत-सी चतुर सखियां इस पीहर को मेहमानी के समान समझती हैं। वे ही इस पीहर को नहीं चाहतीं जो समझती हैं कि ससुराल में ही अधिक लाभ होगा। हम लोग तो चलने के लिए ही उत्पन्न हुई हैं और हमने चलना ही आकर सीखा है। वही लोक व्यवहार अर्थात् चलना ही हमारे जीवन को चला रहा है। कौन हमारे पैर पकड़ कर हमें रोक ले?

[३८१]

तुम्ह बारी, पिय चहुँ चक राजा। गरब किरोध ओहि सब छाजा ।।
सब फर फूल ओहि कै साखा। चहै सो चूरै, चहै सो राखा ।।
आएसु लिहें रहेहु निति हाथा। सेवा करेहु लाइ भुइँ माँथा ।।
बर पीपर सिर ऊभ जो कीन्हा। पाकरि तेहि ते खीन फर दीन्हा ।।
बँवरि जो पौंड़ि सीस भुइँ लावा। बड़ फर सुभर ओहि पै पावा ।।
आँब जो फरि कै नवै तराहीं। तब अँब्रित भा सब उपराहीं ।।
सोइ पियारी पियहि पिरीती। रहै जो सेवा आएसु जीती ।।
पोथा काढ़ि गवन दिन देखहु, कवन देवस वहुँ चाल।
दिसासूर औ चक्र जोगिनी, सौहँ न चलिअै काल ।।३८१।।

शब्दार्थ—बारी=बाला, किशोरी। चूरै=चूर करै। ऊभ=ऊँचा। खीन=(क्षीण) छोटा। फर=फल। बँवरि=लता। पौंड़ि=लोट कर। तराहीं=नीचे। उपराहीं=ऊपर। दिसासूर=दिशाशूल। सौंह=सामने। काल=जिस दिशा में काल होता है उस दिशा में नहीं चलते। इसका विवरण जायसी ने अगले पद में दिया है।

अर्थ—सखी पद्मावती को उत्तर देती है कि तुम किशोरी हो और राजा रत्नसेन चक्रवर्ती राजा है। अतः गर्व और क्रोध उसी को शोभा देता है, तुमको नहीं। तुम प्रतिदिन उसकी आज्ञा को स्वीकार करना और मस्तक को नवाकर उसकी सेवा करना। बरगद, पीपल और पाकर के पेड़ ऊँचे होते हैं, अपना मस्तक ऊँचा रखते हैं, इसीलिए परमेश्वर ने उनको बड़ा छोटा फल दे रक्खा है; पर लता जो जमीन पर लेट कर नम्र बनी रहती है उसे बड़ा सुन्दर फल दिया है। आम जो फल कर झुक जाता है, इसीलिए अमृत के समान मीठा और सबसे बढ़ कर होता है। वही स्त्री पति की प्यारी होती है जो सारी उम्र उसकी सेवा में रत रहती है।

इसलिए पत्री निकलवाकर देखो गवन का कौन सा दिन शुभ है, दिशाशूल और चक्रजोगिनी यदि सामने हो तो नहीं चलना चाहिए।

[३८२]

आवित सूक पछिउँ दिसि राहू। बिहफै दखिन लंक दिसि डाहू ।।
सोम सनीचर पुरुब न चालू। मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू ।।
अवसि चला चाहै जौं कोई। ओखद कहौं, रोग जहँ सोई ।।
मंगर चलत मेलु मुख धना। चलिअ सोम देखिअ दरपना ।।
सूकहि चलत मेलु मुख राई। बिहफै दखिन चलत गुर खाई ।।

आदित हीं तँबोर मुख मंडिअ । बावभिरंग सनीचर खंडिअ ।।
बुद्धहिं दधि कै चलिअ भोजना । ओखद यहै, और नहिं खोजना ।।
अब सुनु चक्र जोगिनी, ते पुनि थिर न रहाहिं ।
तीसौ देवस चन्द्रमा, आठौ दिसा फिराहिं ।। ३८२ ।।

शब्दार्थ—आदित=आदित्यवार, इतवार । राहू=राह, ज्योतिष में राहु अशुभ ग्रह है । यहाँ दिशाशूल के लिए प्रयुक्त है । ज्योतिष् के अनुसार राहु का पृथक् विचार है । बिहफै =बृहस्पतिवार । डाहू=जलना । ओखद=औषधि, उपाय । धना=धनिया । तँबोर=पान । बावभिरंग=काली मिर्च के रंग का एक प्रकार का दाना जो दस्तावर होता है । ओखद= उपाय । चन्द्रमा=चन्द्रमा सम्मुख और दाहिने रहने पर यात्रा में शुभ होता है ।

अर्थ—इस पद में शकुन विचार है—सखी कहती है कि इतवार और शुक्रवार को पश्चिम की राह न जाना चाहिए । बृहस्पति को लंका की दिशा अर्थात् दक्षिण खतरनाक है । सोमवार और शनिवार को पूर्व की ओर न चलना चाहिए । मंगल और बुध को उत्तर जाने पर काल रहता है, पर यदि किसी को इन दिनों में चलना आवश्यक ही हो तो दोष को दूर करने का उपाय भी बतला रही हूँ । यदि मंगल को दिशाशूल में जाना हो तो मुख में धनिया रख लो, यदि सोमवार को चलना हो, दर्पण देखो । शुक्रवार के दिन चलते हुए मुख में राई रखनी चाहिए । बृहस्पति के दिन जब आदमी दक्षिण को प्रस्थान करे तो मुख में गुड़ रख ले । रविवार को मुख में पान सुशोभित करे और शनिवार को बावभरंग चबा ले । बुधवार के दिन दही खाकर चले, यही उपाय है और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । अब चक्रजोगिनी की दशा सुनो । ये स्थिर नहीं रहतीं । ये सारे महीने आठों दिशाओं में चन्द्रमा के साथ फिरती हैं ।

[३८३]

बारह ओनइस चारि सताइस । जोगिनि पच्छिउँ दिसा गनाइस ।।
नव सोरह चौबिस औ एका । पुरुब दखिन गौनै कै टेका ।।
तीन एगारह छबिस अठारह । जोगिनि दक्खिन दिसा बिचारह ।।
दुइ पचीस सत्रह औ दसा । दक्खिन पछिउँ कोन बिच बसा ।।
तेइस तीस आठ पन्द्रहा । जोगिनि होइ पुरब सामुँहा ।।
बीस अठारह तेरह पाँचा । उत्तर पछिउँ कोन तेहि बाँचा ।।
चौदह बाइस ओनतिस सात । जोगिनि उतर दिसा कहँ जात ।।
एकइस औ छ चौदह जोगिनि, उत्तर पुरुब के कोन ।
यह गनि चक्र जोगिनी बाँचहु, जौं चाहौ सिधि होन ।। ३८३ ।।

शब्दार्थ—ओनइस=उन्नीस । बाँचहु=बचो ।

अर्थ—बारह, उन्नीस, चार और सत्ताईसवीं तिथि को योगिनी पश्चिम दिशा में रहती है। नव, सोलह, चौबीस और एक को पूर्व और दक्षिण में रहती है, यह गमन के अनुकूल होती है। तीन, ग्यारह, छब्बीस और अठारह तिथियों को योगिनी दक्षिण दिशा में होती है। दो, पच्चीस, सत्रह और दश तारीखों को जोगिनी दक्षिण-पश्चिम के कोने में होती है। तेईस, तीस, आठ और पन्द्रह तिथियों को जोगिनी पूर्व की ओर होती है। बीस, अठारह, तेरह और पंचमी तिथियों को उत्तर और पश्चिम के कोने में होती है। चौदह, उनतीस, बाईस और सात तिथियों को जोगिनी उत्तर दिशा को चली जाती है। इक्कीस, छः, चौदह तिथियों में जोगिनी उत्तर और पूर्व के कोने में होती है। इस प्रकार की गणना करके योगिनी के चक्र से बचो, यदि सिद्धि चाहते हो।

नोट—इस पद के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में चार पद हैं जिनको डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। उन्होंने कारण बताते हुए लिखा है कि ये पद सभी हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलते। ३८२ और ३८३ छन्दों में यात्रा विचार सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख है, उन्हीं का विस्तार इन पदों में मिलता है। ३८३ छन्द के अन्त में ऐसा प्रतीत होता है कि दिशाशूल और जोगिनी चक्र की बात समाप्त कर दी है, क्योंकि लिखा है :—

"यह गनि चक्र जोगिनी बाँचहु, जो चाहहु सिधि होन।"

पर आगे के पदों में फिर वही कथन है, अनेक पुनरुक्तियां भी हैं। अतः गुप्त जी इन्हें प्रक्षिप्त कहते हैं। पद ये हैं :—

परिवा नवमी पुरुब न भाए। दूइज दसमी उतर अदाए॥
तीज एकादसि अगनिउ मारै। चौथि दुवादसि नैऋत वारै॥
पाँचइँ तेरसि दखिन रमेसरी। छठि चौदसि पच्छिउँ परमेसरी॥
सतमी पूनिउँ बायव आछी। अठइँ अमावस ईसन लाछी॥
तिथि नछत्र पुनि बार कहीजै। सुदिन साथ प्रस्थान धरीजै॥
सगुन दुघरिया लगन साधना। भद्रा औ दिकसूल बाँचना॥
चक्र जोगिनी गनै जो जानै। पर बर जोति लच्छि घर आनै॥

सुख समाधि आनन्द घर, कीन्ह पयाना पीउ।
थरथराइ तन काँपै, धरकि धरकि उठि जीउ॥

शब्दार्थ—अदाए=वाम, बुरा। रमेसरी=लक्ष्मी। परमेसरी=देवी। अगनिउ, नैऋत, ईसन, बायब=आग्नेय, नैऋत्य, ईशान और वायव्य कोने।

मेष सिंह धन पूरुब बसै। बिरिख, मकर कन्या जम-दिसै॥
मिथुन तुला औ कुंभ पछाहाँ। करक, मीन, बिरछिक उतराहाँ॥

गवन करै कहँ उगरै कोई। सनमुख सोम लाभ बहु होई ।।
दहिन चन्द्रमा सुख सरबदा। बाएं चन्द त दुख आपदा ।।
अदित होइ उत्तर कहँ कालू। सोम काल बायब नहिं चालू ।।
भौम काल पनिछउँ बुध निरृता। गुरु दक्खिन और सुक अगनइता ।।
पूरब काल सनीचर बसै। पीठि काल देइ चलै त हँसै ।।

धन नछत्र औ चन्द्रमा, औ तारा बन सोइ।
समय एक दिन गवनै, लछमी केतिक होइ ।।

मेष, सिह, धन, बिरिख (वृष), मकर, कन्या, मिथुन, तुला, कुम्भ, करक (कर्क), मीन, वृश्चिक (बिरछिक) राशियाँ हैं।

उगरै=निकले। सोम=चन्द्रमा। सरबदा=सर्वदा, हमेशा। अदित=इतवार। वायव=वायव्य (पूर्व और उत्तर का कोना)। निरृता=नैरृत्य (पूर्व और दक्षिण का कोना)। अगनइता=आग्नेय (पश्चिम और दक्षिण का कोना)।

पहिले चाँद पुरुब दिसि तारा। दूजे बसइ इसान विचारा ।।
तीजे उतर और चौथे बायब। पचएँ पच्छिउँ दिसा गनाइब ।।
छठएँ, नैरृत, दक्खिन सतएँ। बसै जाइ अगनिउँ सो अठएँ ।।
नवएँ चन्द्र सौ पृथिवी बासा। दसएँ चन्द जो रहै अकासा ।।
ग्यरहें चंद पुरुब फिरि जाई। बहु कलेस सों दिवस बिहाई ।।
असुनि, भरनि, रेवती भली। मृगसिर, मूल, पुनरवसु बली ।।
पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अनुराधा। जौ सुख चाहे पूजै साधा ।।

तिथि नक्षत्र औ बार एक, अस्ट सात खंड भाग।
आदि अंत बुध सो एहि, दुख सुख अंकम लाग ।।

असुनि=अश्विनी, भरणि=भरणी, रेवती, मृगसिर, मूल, पुनर्बसु, पुष्य, ज्येष्ठा, अनुराधा आदि नक्षत्र हैं।

परिवा छट्ठि, एकादसि नंदा। दुइजि, सत्तमी द्वादसि मंदा ।।
तोज अष्टमी तेरसि जया। चौथि चतुरदसि नवमी खया ।।
पूरन पुनिउँ दसमी पाँचै। सुक्रै नंदै, बुध भए नाचै ।।
अदित सौं हस्त सिधि लहिए। बीफै पुष्य स्रवन ससि कहिए ।।
भरनि रेवती बुध अनुराधा। भए अमावस रोहिनि साधा ।।
राहु चन्द्र भू संपति आए। चंद गहन तब लाग सजाए ।।
सनि रिकता कुज आज्ञा लीजै। सिद्धि जोग गुरु परिवा कीजै ।।

छठे नछत्र होइ रवि, ओहि अमावास होइ।
बीचहिं परिवा जो मिलै, सुरुज गहन तब होइ ॥

नंदा=आनन्ददायिनी । मंदा=अशुभ । जया=जय देने वाली। खया=खाने वाली। सनि रिकता=शनिवार रिक्ता तिथि या खाली दिन। कुज=मंगल।

[३८४]

चलहु चलहु भा पिय कर चालू । घरी न देख लेत जिय कालू ॥
समदि लोग धनि चढ़ी बेवाना । जो दिन डरी सो आइ तुलाना ॥
रोवहिं मातु पिता औ भाई । कोइ न टेक जौं कंत चलाई ॥
रोवै सब नैहर सिंघला । लै बजाइ के राजा चला ॥
तजा राज रावन का कोऊ । छाँड़ी लंक भभीखन लेऊ ॥
फिरी सखी भेंटत तजि भीरा । अंत कंत सो भएउ किरीरा ॥
कोउ काहू कर नाहिं नियाना । मया मोह बाँधा अरुझाना ॥

कंचन कया सो नारि की, रहा न तोला माँसु।
कंत कसौटी घालि कै, चूरा गढ़ै कि हाँसु ॥ ३८४ ॥

शब्दार्थ—समदि=बिदाई के समय मिल कर। बेवाना=विमान। तुलाना=पहुँचा। टेक=पकड़ना। किरीरा=क्रीड़ा (काम क्रीड़ा)। नियाना=निदाना-अन्त में। चूरा=कड़ा। हाँसु=हँसली, गले में पहना जाने वाला एक गहना, हँसी-खुशी। सोनारि=वह नारी, सुनारी। कसौटी=कसौटी, आलिंगन।

अर्थ—लोग कहने लगे—चलो चलो ! प्रियतम (रत्नसेन) का प्रस्थान हो गया। काल (मृत्यु) घड़ी नहीं देखता जीव ले लेता है—भाव यह कि विलम्ब उचित नहीं। पद्मावती विदाई के समय सब लोगों से मिल कर विमान पर चढ़ गई। जिस दिन के लिए वह डरा करती थी वह दिन आज आ पहुँचा। माता-पिता और भाई सब रो रहे हैं, जब पति लेकर चलता है तो कोई नहीं पकड़ सकता। उसके पीहर सिंहल के सभी लोग रो रहे हैं पर राजा (रत्नसेन) बाजा-बजा कर ले चला। रावण के राज्य के समान पितृगृह के सुख को पद्मावती ने छोड़ दिया। पद्मावती कहती है कि हमने तो लंका छोड़ी, अब विभीषण राज्य ले—अर्थात् जो चाहे यहाँ रह कर सुख करे। फिर सखियों की भीड़ को छोड़ा यह (पद्मावती) दूसरी ओर लौटी, क्योंकि उसे तो अन्त में प्रियतम से ही प्रणय-क्रीड़ा करनी है। अन्त में कोई किसी का नहीं है, माया मोह तो एक उलझन और बंधन मात्र है। यहाँ भाव यह कि संसार के माया-मोह को छोड़ कर परमेश्वर की ओर झुकना ही उचित है—संसार तो व्यर्थ में बन्धन है।

उस पद्मावती का शरीर तो सोने का है। उसमें तोला भर माँस नहीं है, अब तो उसका प्रियतम रत्नसेन अपने प्रेम रूपी कसौटी पर उसे कस कर चाहे उसका (कंचन का) चूड़ा बनाये और चाहे हंसली—अर्थात् अपने प्रेम का दान करके चाहे उसे चूड़ामणि करे और चाहे कण्ठहार।

अलंकार—श्लेष।

(३८५)

जौं पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चले साथ गुन श्रौगुन वोऊ॥
श्रौ संग चला गवन जेत साजा। उहै देइ पारै अस राजा॥
डांडी सहस चली सँग चेरीं। सबै पदुमिनी सिंघल केरीं॥
भल पटवन्ह खरबार सँवारे। लाख चारि एक भरे पेटारे॥
रतन पदारथ मानिक मोती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती॥
परिखि सो रतन पारिखन्ह कहा। एक एक नग सिस्टिहि बर लहा॥
सहस पाँति तुरियन्ह कै चली। श्रौ सै पाँति हस्ति सिंघली॥

लिखै लाख जो लेखा, कहै न पारहि जोरि।
अरबुद खरबुद नील संख, श्रो खँड पदुम करोरि॥३५॥

शब्दार्थ—पटवन्ह=रेशमी वस्त्र। खरबार—पाठान्तर—जराव=जड़ाऊ। पारहि=सकता। अरबुद=अरब। खरबुद=दश अरब। पदुम=पद्म।

अर्थ—सब लोग कुछ दूर तक पद्मावती को पहुँचाकर वापस लौटे। अब तो उसके साथ केवल गुण और अवगुण चले गए। उसके साथ जितने साज राजा दे सकता था सब चले। हजारों डोलियों में उसकी चेरियाँ चलीं, सब की सब सिंहल की पद्मिनी नारियां थीं। सुन्दर-सुन्दर रेशमी और जड़ाऊ वस्त्र चार लाख पेटारों में भरे थे। रत्न, जवाहरात, माणिक्य, मोती आदि सब कोष से निकाल कर उसके साथ जोतवा दिए गए। उन रत्नों को परख कर पारखी लोगों ने कहा कि एक-एक नग सृष्टि के बराबर मूल्यवान् है। घोड़ों की एक हजार पंक्तियां चलीं और सिंहल के हाथियों की भी सौ पंक्तियाँ चलीं। यदि लाख व्यक्ति भी उस दहेज का हिसाब करने बैठें तो नहीं कर सकते। अरब, दश अरब, नील, शंख, नील, पद्म, करोड़ और संख्या से भी अधिक का दहेज था।

(३८६)

देखि गवन राजा गरबाना। दिस्टि माहँ कोइ श्रौर न श्राना॥
जौं मैं होब समुँद के पारा। को मोरि जोरि जगत संसारा॥

दरब ते गरब, लोभ बिख मूरी। दत्त न रहै, सत्त होइ दूरी ॥
दत्त सत्त एइ दूनौ भाई। दत्त न रहै, सत्त पुनि जाई ॥
जहाँ लोभ तहँ पाप सँघाती। संचि कै भरै आन कै थाती ॥
सिद्धन्ह दरब आगि कै थापा। कोई जरा, जारि कोई तापा ॥
काहू चांद, काहू भा राहू। काहू अंब्रित, बिख भा काहू ॥

तस फूला मन राजा, लोभ पाप अंध कूप।
आइ समुंद्र ठाढ़ भा, होइ दानी के रूप ॥३८६॥

शब्दार्थ—बिखमूरी=विष की मूल। दत्त=दान। सत्त=सत्य। संघाती=साथ में। संचि=इकट्ठा करके। थाती=धन, धरोहर। दानी=दान लेने वाला।

अर्थ—गमन के समय के दहेज को देख कर राजा रत्नसेन को बड़ा गर्व हुआ। उसकी दृष्टि में उसके समान अब संसार में कोई नहीं है। जब मैं समुद्र पार हो जाऊँगा तो संसार में कौन मेरे समान हो सकता है। कवि कहता है कि धन के होने पर विष की मूल गर्व भी हो जाता है क्योंकि अहंकार के कारण उसका विनाश हो जाता है। जहां लोभ होता है वहीं साथ में पाप होता है। धन तो पराया है, दूसरे की थाती के समान मनुष्य तो उसका रखवाली करने वाला मात्र है, निरर्थक वह उसकी रक्षा में श्रम करता है। सिद्ध लोग इसीलिये कहते हैं कि धन भी आग के समान ही है, कोई तो इसमें जल जाता है और कोई इससे लाभ उठा कर अपनी ठंडक भगाता है—अर्थात् कुछ लोग तो उसकी रक्षा करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं पर कुछ अन्य लोग उसका उपयोग करते हैं। किसी के लिए तो धन चन्द्रमा के समान शीतल और किसी के लिए राहु के समान दग्धकारी है। किसी के लिये अमृत और किसी के लिए विष।

धन के गर्व में राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, लोभ-पाप रूपी अन्ध-कूप में जा गिरा। इसी समय समुद्र दान लेने वाला बन कर उसके सामने आकर उपस्थित हो गया।

---

३३. देश-यात्रा-खंड

(३८७)

बोहित भरे, चला लै रानी। दान माँगि सत देखै दानी ॥
लोभ न कीजै, दीजै दानू। दानहि पुन्य होइ कल्यानू ॥
दरबहि दान देइ बिधि कहा। दान मोख होइ, दोख न रहा ॥
दान आहि सब दरब क चूरू। दान लाभ होइ बांचै मूरू ॥
दान करै रछया मँझ नीरां। दान खेइ लै लावै तीरां ॥

दान करन दै दुइ जग तरा । रावन संचि अगिनि महँ जरा ॥
दान मेरु बढ़ि लाग अकारां । सैंति कुबेर बूड़ तेहि भारां ॥
चालीस अंस दरब जहँ, एक अँस तहँ मोर ।
नाहिं तो जरै कि बूड़ै, कै निसि मूसहिं चोर ॥३८७॥

शब्दार्थ—बोहित=जहाज । दरब क चूरू=धन का तत्व । बांचै=बचै । मूरू=मूलधन । रछ्या=रक्षा । लावै=लगावे । करन=राजा कर्ण । संचि=संचय करके । अकारां=आकार में । सैंति=इकट्ठा करके । चालीस अंस=मुस्लिम धर्म के अनुसार धन का चालीसवाँ अंश जकात में देना चाहिए । मूसहिं=चुरा लें ।

अर्थ—जब राजा रत्नसेन रानी पद्मावती को लेकर अपने जहाज रत्नों से भर कर चला तब समुद्र राजा से दान मांग कर उसके सत्य की परीक्षा करने लगा । समुद्र ने कहा कि हे राजा लोभ न कीजिये, दान दीजिये । दान से पुण्य होता है और कल्याण होता है । ब्रह्मा ने यही कहा कि द्रव्य से दान देना चाहिये । दान से मोक्ष होता है और दोष नष्ट होते हैं । दान ही सब सम्पत्तियों का तत्त्व है । दान से लाभ होता है और मूलधन की रक्षा होती है । दान ही जल के भीतर रक्षा करता है, दान ही खे कर पार करता है । राजा कर्ण दान करके दोनों लोक तर गया । रावण ने धन को एकत्र किया तो वह अग्नि में जल गया । दान मेरु की भांति आकार में बढ़ने लगता है । कुबेर ने धन का संग्रह मात्र किया तो उसी के भार से डूब गया (धन-संग्रह के कारण ही रावण ने उसका सारा धन छीन लिया)।

धन में चालीसवां अंश मेरा है, उसे मुझे दे दो नहीं तो या तो नष्ट हो जायेगा या डूब जायेगा या कोई चोर रात में चुरा ले जायगा ।

[३८८]

सुनि सो दान राजै रिस मानी । केइँ बौराएसु बौरे दानी ॥
सोई पुरुष दरब जेहि सैंती । दरबहिं ते सुनु बातैं एती ॥
दरब त धरम करम औ राजा । दरब त सुद्धि बुद्धि बल गाजा ॥
दरब त गरबि करै जो चाहा । दरब त धरती सरग बेसाहा ॥
दरब त हाथ आव कबिलासू । दरब त आछरि छांड़ न पासू ॥
दरब त निरगुन होई गुनवंता । दरब त कुबुज होइ रुपवन्ता ॥
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा । अस मनि दरब देइ को पारा ॥
कहा समुँद रे लोभी, बैरी दरब न झाँपु ।
भएउ न काहू आपन, मूँदि पेटारे सांपु ॥३८८॥

शब्दार्थ—दानी=दान माँगने वाला । सैंती=इकट्ठा किया है । बेसाहा=खरीदना ।

आछरि=अप्सरा। कुबुज=कुबड़ा। दिपै=प्रकाशित है। लिलारा=मत्था। पारा=सकना। झाँपु=छिपाओ।

अर्थ—समुद्र से इस दान की बात को सुनकर राजा को क्रोध लग गया। उसने कहा कि ऐ भोले भिक्षुक, तुझको किसने पागल कर दिया है। पुरुष वही है जिसने धन एकत्रित कर रखा है। धन से ही इतनी सब बातें होती हैं। धन है तभी सब धर्म, कर्म और राज्यत्व है। धन है तो बुद्धि शुद्ध है, बल है और आदमी गर्ज सकता है। धन है तभी आदमी धरती और स्वर्ग खरीद सकता है। धन है तो स्वर्ग भी हाथ आ जायेगा, अप्सरायें साथ नहीं छोड़तीं। धन हो तो निर्गुणी भी गुणी हो जाता है, धन से कुबड़ा और कुरूप भी रूपवान् हो जाता है। धन ही से पृथ्वी में मस्तक चमकता रहता है, ऐसे मणि रूपी धन को कौन दे सकता है।

यह सुनकर समुद्र ने कहा कि हे लोभी! इस वस्तु रूपी धन को छिपा के मत रख, यह किसी का सगा न हुआ, यह तो पेटारे में ढका हुआ साँप है।

इस पद में भर्तृहरिशतक के इस पद्य का ही भाव है:—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति॥

[३८९]

आधे समुँद आए सो नाहीं। उठी बाउ आँधी उपराहीं॥
लहरैं उठी समुँद उलथाना। भूला पंथ, सरग नियराना॥
अदिन आइ जौं पहुँचै काऊ। पाहन उड़ाइ बहै सो बाऊ॥
बोहित बहे लंक दिसि ताके। मारग छाँड़ि, कुमारग हाँके॥
जौं लै भार निबाहि न पारा। सो का गरब करै कनहारा॥
दरब भार सँग काहु न उठा। जेइ सैंता तेहि सौं पुनि रूठा॥
गहि पखान लै पंखि न उड़ा। मोर मोर जेइँ कीन्ह सो बुड़ा॥

दरब जो जानहिं आपन, भूलहिं गरब मनाहँ।
जौ रे उठाइ न लै सके, बोरि चले जल माहँ॥३८९॥

शब्दार्थ—बाउ=वायु। उपराहीं=ऊपर उठी। उलथना=उलटना, क्षुब्ध होना। पारा=सका। कनहारा=कर्णधार। मनाहँ=मन में।

अर्थ—समुद्र के आधे भाग में भी नहीं पहुँचे थे कि हवा चलने लगी और जोर की आँधी आयी। लहरें उठने लगीं, सागर क्षुब्ध हो गया, रास्ता भूल गया जहाज़ उछल कर

आकाश के समीप पहुँचने लग गये। जब कभी दुर्दिन आ जाता है तो हवा पत्थर को भी उड़ा लेती है। जहाज़ लंका की दिशा में बह चले। रास्ता छोड़कर बुरे रास्ते पर चल निकले। यदि भार को लेकर निर्वाह नहीं कर सकता तो कर्णधार क्या घमण्ड करता है? धन के बोझ से कोई नहीं उठ सकता। जो ही धन का संचय करता है उसी से ईश्वर रूठ जाता है। पक्षी यदि पत्थर को पकड़ेगा तो उड़ नहीं सकता, जो 'मेरा-मेरा' करता है वह नष्ट हो जाता है। जो लोग धन को अपना समझते हैं वे व्यर्थ में गर्व करते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। जो उठा के नहीं चल सकता है, अवश्य ही वह जल में डूबेगा।

[३९०]

केवट एक भभीखन केरा। आवा मंछ कर करत अहेरा।
लंका कर राकस अति कारा। आवे चला मेघ अँधियारा॥
पाँच मुंड दस बाहैं ताही। डहि भौ स्याम लंक जब डाही॥
धुवाँ उठै मुख स्वाँस सँघाता। निकसै आगि कहै जब बाता॥
फेकरे मुंड चँवर जनु लाए। निकसि दाँत मुँह बाहिर आए॥
देह रीछ कै रीछ डेराई। देखत दिस्टि धाइ जनु खाई॥
राते नैन निडेरें आवा। देखि भयावनु सब डर खावा॥

धरती पाय सरग सर, जानहुँ सहसराबाहु।
चाँद सुरुज नखतन्ह महँ, अस दीखा जस राहु॥३९०॥

शब्दार्थ—संघाता=साथ। फेकरे=नंगे (देशज शब्द)। मुंड=सिर। राते=लाल। निडेरें=निडर। सहसराबाहु=सहस्रबाहु-अर्जुन। महँ=में।

अर्थ—विभीषण का एक मांझी मछलियों का आखेट करता हुआ आ रहा था। वह लंका का राक्षस अत्यन्त काला था। इस प्रकार आ रहा है जैसे काला बादल हो। उसके पांच सिर और दस भुजायें थीं, जब लंका जली थी तभी जल कर वह काला हो गया था। मुख से सांस निकलती है तो धुँआ उड़ जाता है। जब बात कहता है तब तो मुख से आग की चिनगारियाँ ही निकल जाती हैं। सिर खुला था, उस पर बाल इस प्रकार बिखरे थे मानो चँवर हैं, बड़े-बड़े दाँत निकल कर बाहर दिखाई पड़ते हैं। उसका शरीर रीछ की तरह था, उसे देख कर तो रीछ भी डर जायेगा। उसकी आँखों को देखने पर तो मालूम होता था कि यह खा ही जायेगा। लाल-लाल आँखें निकाले निडर चला आ रहा था। उस भयानक राक्षस को देख कर सभी भयभीत हो गये। उसका पैर तो पृथ्वी पर

था और सिर आकाश में था, मानो सहस्रबाहु हो। चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों में जैसे राहु हो इस प्रकार वह दिखाई पड़ रहा था।

नोट—इस पद में मध्यकालीन मल्लाहों की उन मन गढ़ंत कहानियों का कथन हुआ है जिन्हें मल्लाह समुद्र-यात्रा की भयंकरता मिटाने के लिए गढ़ लिया करते थे।

[३९१]

बोहित बहे न मानहिं खेवा। राकस देखि हँसा जस देवा।
बहुते दिनन्ह बार भै दूजी। अजगर केरि आइ भख पूजी॥
इहै पदुमिनी भभीखन पावा। जानहुँ आज अजोध्या छावा॥
जानहुँ रावन पाई सीता। लंका बसी रमाएन बीता॥
मंछ देखि जैसें बग आवा। टोइ टोइ भुइँ पाउ उठावा॥
आइ नियर भै कीन्ह जोहारू। पूँछा खेम कुसल बेवहारू॥
जो बिस्वास घातिका देवा। बड़ बिस्वास करै कै सेवा॥

कहाँ मीत तुम्ह भूलेहु, औ जावेहु केहि घाट।
हौं तुम्हार अस सेवक, लाइ देउँ तेहि बाट॥३९१॥

शब्दार्थ—खेवा=खेया जाना। देवा= राक्षस (फारसी)। भख=भोजन। बार=दिन। टोइ=टटोलकर। विस्वास घातिका—विश्वास घात करने वाला।

अर्थ—सब जहाज बह चले, खेना उनके बहाव को न रोक सका। ऐसा देखकर वह राक्षस हँस पड़ा। उसने अपने आप कहा—बहुत दिनों के बाद दूसरा दिन आया है। आज अजगर की भूख पूरी होगी। यह पद्मिनी विभीषण को मिल जायगी, मानो उसे अयोध्या का राज्य मिल गया हो। अथवा मानो रावण को सीता मिल गई हो, लंका फिर से जैसे बस जायगी और रामायण की बात समाप्त हो गयी हो। भाव यह कि जिस सीता के लिये राम-रावण का युद्ध हुआ, लंका उजड़ी, वैसा ही पद्मावती के मिल जाने पर लंका का ऐश्वर्य फिर से जग उठेगा। जिस प्रकार बगला मछली को देखकर निकट आता है और टटोल-टटोल कर उसे उठाता है उसी प्रकार यह राक्षस रत्नसेन के बेड़े के पास आया। निकट आकर उसने राजा को प्रणाम किया और क्षेम-कुशल पूछा। जो राक्षस बड़ा ही विश्वासघाती होता है वह बड़े विश्वास और श्रद्धा को दिखाकर सेवा करता है। उसने कहा कि हे मित्र! तुम कहाँ भूल गये? किस घाट पर जा रहे हो? मैं तुम्हारा ऐसा सेवक हूँ कि तुम्हें तुम्हारे रास्ते पर पहुंचा दूँगा।

नोट—अजगर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह परिश्रम नहीं करता, अनायास ही उसे भोजन मिल जाता है—"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।"—मलूकदास।

[३९२]

गाढ़ परें जिउ बाउर होई। जो भलि बात कहै भल सोई ॥
राजै राकस नियर बोलावा। आग कीन्ह, पंथ जनु पावा ॥
बहु पसाउ राकस कहँ बोला। बेगि टेकु पुहुमी सब डोला ॥
तू खेवक खेवकन्ह उपराहीं। बोहित तीर लाउ गहि बाँहीं ॥
तोहि ते तीर घाट जौं पावौ। नवगिरिहीं टोडर पहिरावौं ॥
कुंडल स्रवन देउं नग लाई। महरा कै सौंपौं महराई ॥
तस राकस तोरि पुरवौं आसा। रकसाइंधि कै रहै न बासा ॥

राजै बीरा दीन्हेउ, जानै नाहि बिसवास।
बगु अपने भख कारन, भएउ मंछ कर दास ॥३९२॥

शब्द—गाढ़=कठिनाई। पसाउ=प्रसाद, प्रसन्नता, विश्वास। टेकु=सहारा दो। पुहुमी=पृथ्वी। खेवक=माँझी। नवगिरिहीं=स्त्रियों द्वारा कलाई पर पहना जाने वाला गहना जिसमें नवग्रहों के प्रतीक ९ रत्न जड़े होते हैं,—१. सूर्य का माणिक्य, २. चन्द्रमा का मुक्ता, ३. मंगल का मूंगा, ४. बुध का पन्ना, ५. बृहस्पति का पुखराज, ६. शुक्र का हीरा, ७. शनि का नीलम, ८. राहु का गोमेद, ९. केतु का वैदूर्य। टोडर=तोड़ा नामक हाथ का गहना। स्रवन=कान। महरा=मल्लाहों का सरदार। रकसाइँधि=राक्षस की गंध। बासा=महँक। बगु=बगला।

अर्थ—विपत्ति पड़ने पर मनुष्य का चित्त पागल हो जाता है। उस समय जो कोई हित की बात कहे वही अच्छा लगता है। राजा ने राक्षस को अपने निकट बुलाया और उसे अपने आगे रख लिया, मानो अब रास्ता ही मिल गया है। बड़े विश्वास के साथ वह राक्षस से बोला कि शीघ्र ही तुम सहारा दो, हमें तो सारी पृथ्वी डोलती दिखाई पड़ती है। तू सभी मांझियों से बढ़कर है। किसी प्रकार जहाजों को सहारा देकर किनारे ले चलो। यदि तुम्हारे सहारे मैं घाट को पा जाऊँगा तो नवगिरही और तोड़ा तुझे पहना दूंगा। हीरे जड़े हुए कुण्डलों को तेरे कान में पहना दूंगा और तुझे सब मांझियों का सरदार बना दूंगा। हे राक्षस! तेरी ऐसी आशा पूरी करूंगा कि तेरे शरीर में राक्षस की गंध तक न रह जाएगी। राजा ने उसे बीड़ा दे दिया। उसके विश्वासघात को तो जानता न था, उधर वह राक्षस इस प्रकार मिल गया जैसे बगला अपने पेट भरने के लिए मछलियों का सेवक हो जाना पसन्द कर लेता है।

[३९३]

राकस कहा गोसाइँ बिनाती। भल सेवक राकस कै जाती।
जहिया लंक डही श्री रामा। सेव न छाँड़ि भएउँ डहि स्यामा ॥

अबहूँ सेव करहिं सँग लागे। मानुस भूलि होहिं तिन्ह आगे॥
सेत बंध जहँ राघौ बाँधा। तहँ लै चढ़ौं भारु मैं काँधा॥
पै जब तुरित दान कछु पावौं। तुरित खेइ ओहि बाँध चढ़ावौं॥
तुरित जो दान पान हँसि दिया। थोरा दान बहुत पुनि किया॥
सेव कराइ जो दीजै दानू। दान नाहिं, सेवा बर जानू॥
दिया बुझा सतु ना रहा, हुत निरमल जेहि रूप।
बहुँ आँधी उड़ि आइ कै, मारि किया अँध कूप॥३९३॥

शब्दार्थ—जहिया=जिस दिन। पानि=हाथ। तुरित=तुरन्त। राघौ=राघव, श्री रामचन्द्र जी। दान-पान=पान के साथ अर्थात् बीड़ा देते समय कार्य करने से पहले किया हुआ दान ही सच्चा दान है।

अर्थ—राक्षस ने राजा से नम्रतापूर्वक कहा कि हम तो आप के सेवक हैं, राक्षस की जाति अच्छी सेवक होती है। जिस दिन श्री रामचन्द्र जी ने लंका जलायी थी उस दिन भी मैंने सेवा नहीं छोड़ी थी, इसी से जल कर काला हो गया। अब भी हम साथ-साथ सेवा करते हैं। जब मनुष्य समुद्र में रास्ता भूल जाते हैं तो हम उनके आगे होकर रास्ता दिखाते हैं। जहाँ रामचन्द्र जी ने सेतुबन्ध बाँधा था, वहाँ अपने कन्धे पर भार लेकर चढ़ जाऊँगा। पर यदि तुरन्त दान पा जाऊँ तो खे कर उस सेतुबन्ध पर बेड़े को चढ़ा दूँ। जो दान प्रसन्नतापूर्वक तुरन्त दिया जाता है वह थोड़ा भी हो तो बहुत होता है। सेवा करा कर यदि दान दीजिए तो उसे दान न समझ कर सेवा के बदले की मजदूरी समझनी चाहिए।

जब राक्षस ने इतना कहा तब जो राजा अब तक निर्मल रूप था उसके दान का दीपक बुझ गया, और इसमें कोई सत न रह गया, इसी समय आंधी आई और अंधेरा हो गया। जोरों की आंधी ने चारों ओर अन्ध-कूप मचा दिया।

[३९४]

जहाँ समुंद मँझधार भँडारू। फिरै पानि पातार दुधारू॥
फिरि फिरि पानि ओहि ठाँ भरई। बहुरि न निकसै जो तहँ परई॥
ओहि ठाँव महिरावन पुरी। हलका तर जमकातरि छुरी॥
ओहि ठाँव महिरावन मारा। परे हाड़ जनु परे पहारा॥
परी रीरि जहँ ताकरि पीठी। सेतबंध अस आवै डीठी॥
राकस आनि तहाँ कै छरै। बोहित भंवर चक्र महँ परै॥
फिरै लाग बोहित अस आई। जनु कुम्हार धरि चाक फिराई॥
राजै कहा रे राकस बौरे, जानि बूझि बौरासि।
सेतबंध जहँ देखिअ आगें, कस न तहाँ लै जासि॥३९४॥

शब्दार्थ—भँडारू=भंडार, गहरा दह । ठाँ=जगह। महिरावण=रावण का एक पुत्र जो पाताल में रहता था और जिसे हनुमान् जी ने मारा था। बहुरि=फिर । हलका=लहरें । तर=नीचे। रीरि=रीढ़ की हड्डी । जमकातरि=यम की कटारी या तलवार । छरैं=छले ।

अर्थ—जहाँ समुद्र में बहुत गहरा दह था, जिसका पानी पाताल के द्वार तक पहुँचता था, वहाँ वह राक्षस ले गया। उस जगह पानी चक्कर काट-काट कर आता-जाता था, उस जगह जो पड़ जाता फिर वह न निकल सकता था। उसी जगह महि-रावण राक्षस की पुरी थी, पानी की लहरों के नीचे उसी पुरी की तलवारें घूम रही थीं। यहीं पर महिरावण मारा गया था, उसकी हड्डियाँ अब भी पड़ी हुई हैं जैसे पहाड़ हों। उसके पीठ की रीढ़ की हड्डी पड़ी हुई थी ऐसा प्रतीत होता है मानो सेतुबन्ध हो। राक्षस ने इस भयंकर स्थान में लाकर छल किया। जहाज इस भँवर के चक्र में पड़ गए। जहाज इस प्रकार चक्कर लगाने लगे जैसे कुम्हार का चाक घूम रहा हो।

राजा ने कहा कि हे पागल राक्षस ! क्या तू जान-बूझकर पागल हो रहा है, सामने ही सेतुबन्ध दिखाई पड़ रहा है, वहाँ तू क्यों नहीं ले जाता।

[३६५]

सुनि बाउर राकस तब हँसा । जानहुँ टूटि सरग भुइँ खसा ॥
को बाउर, तुहुँ बौरे देखा । सो बाउर, भख लागि सरेखा ॥
बाउर पंखि जो रह घरि माँटी । जीभ चढ़ाइ भखै निति चाँटी ॥
बाउर तुहुं जो भखै कह आने । तबहुँ न समझहुँ, पंथ भुलाने ॥
महिरावन कै रीरि जो परी । कहाँ सो सेतबन्ध बुधि हरी ॥
यह सो आहि महिरावन पूरी । जहँवाँ सरग नियर, घर दूरी ॥
अब पछिताहु दरब जस जोरा । करहु सरग चढ़ि हाथ मरोरा ॥

जबहिं जियत महिरावन, लेत जगत कर भार ।
जो रे मुवा लेइ गया न हाड़ो, अस होइ परा पहार ॥३६५॥

शब्दार्थ—खसा=गिरा। सरेखा=चतुर । पंखि=दीमक। जीभ चढ़ाइ=जीभ से चाट-कर। घरि=घर। आने=लाया हूँ ।

अर्थ—राजा से 'पागल' शब्द सुन कर राक्षस हँस पड़ा। मानो स्वर्ग ऊपर से जमीन पर गिर पड़ा हो। उसने कहा कि 'कौन बावला है,' तुम किसे बावला देख रहे हो, बावला भी अपने भोजन के लिए चतुर होता है। बावली तो वह कीड़ी दीमक है जो मिट्टी के सहारे रहती है—उसे नित्य चींटियाँ खा जाती हैं। व्यंजना से तात्पर्य यह है कि जो मिट्टी के बने इस शरीर के भरोसे निश्चिन्त रहते हैं उन्हें काल खा जाता है जैसे दीमक मिट्टी खा कर मिट्टी के सहारे

मिट्टी के घर में रहती है पर काल रूप चींटी उसे खा जाती है। पागल तो तुम हो, जिसको खाने के लिए में लाया हूँ, इतने पर भी तुम नहीं समझते कि तुम्हारा रास्ता भूला हुआ है। सामने तो महिरावण की हड्डी दिखाई पड़ती हैं, सेतुबन्ध भला कहाँ है? तुम्हारी तो बुद्धि ही हरी गयी है। यह तो महिरावण की पुरी है, जहाँ से स्वर्ग (मृत्यु) निकट है, घर दूर है। अब तुम उसी प्रकार पछताओ, जैसा कि तुमने धन एकत्रित किया है और स्वर्गवासी होकर हाथ मलो।

जब तक महिरावण जीवित था, उसने सारे जगत् का भार अपने ऊपर उठाया। जब वह मर गया, तो अपनी हड्डी को भी न ले जा सका और वह पहाड़ बन कर पड़ी हुई है।

[३९६]

बोहित भँवै, भँवै जस पानी। नाचै राकस आस तुलानी॥
बूड़हिं हस्ति, घोर, मानवा। चहुँ दिस आइ जुरे मँसुखवा॥
तेतखन राजपंखि एक आवा। सिखर टूट तस डहन डोलावा॥
परा दिस्टि वह राकस खोटा। ताकेसि जैस हस्ति बड़ मोंटा॥
आइ ओहि राकस पर टूटा। गहि लै उड़ा, भँवर जल छूटा॥
बोहित टूक टूक सब भए। अैस न जाने दहुं कहँ गए॥
भए राजा रानी दुइ पाटा। दूनौ बहे, भए दुइ बाटा॥
काया जीउ मिलाइ कै, कीन्हेसि अनँद उछाहुँ।
लवटि बिछोउ दीन्ह तस, कोउ न जानै काहुँ॥ ३९६॥

शब्दार्थ—भँवै=चक्कर लगाते हैं। तुलानी=समाप्त हुई। मानवा=मानव, मनुष्य। घोर=घोड़े। मंसुखवा=मांस खाने वाला राक्षस। तेतखन=उसी समय। राजपंखि=गरुड़-जिसके विषय में नाविकों में चर्चा थी कि वह बड़े से बड़े जहाज को पंजे में दबोच कर ले जाता है। महा भारत (आदिपर्व) में ऐसी कथा मिलती है जिसमें गरुड़जी आपस में लड़ते हुए हाथी और कछुओं को पंजे में उठा ले गये थे और उनका जलपान कर डाला था। मध्यकालीन कवियों में इस प्रकार की अनेक दंत-कथाएँ प्रचलित थीं। डहन=डैना।

पाटा=पटरे। लवटि=लौट कर।

अर्थ—जहाज उस भँवर में इस प्रकार चक्कर लगाने लगे, जैसा कि वहाँ पानी घूम रहा था। राक्षस प्रसन्नता से नाचने लगा। सब की आशायें समाप्त हो गयीं। हाथी, घोड़े और मनुष्य सब डूबने लगे। चारों ओर मांस खाने वाले राक्षस इकट्ठे हो गये। इसी समय एक राजपक्षी (गरुड़) आया। उसके डैने ऐसे चल रहे थे, मानो पहाड़ टूट रहे हैं। उसकी दृष्टि में वही खोटा राक्षस पड़ गया। उसने देखा कि वह हाथी की भाँति मोटा है।

आ करके वह पक्षी इसी राक्षस के ऊपर टूट पड़ा, उसे पकड़ कर उड़ चला, इससे पानी के भँवर से मुक्ति मिली। सारे जहाज टुकड़े-टुकड़े हो गए। ऐसा नहीं मालूम पड़ा, कि सब कहाँ चले गये। राजा और रानी दो अलग-अलग पटरों (तख्तों) पर हो गये, दोनों बह चले और दो रास्ते हो गये।

एक बार तो राजा और रानी इस प्रकार मिल कर एक हो गये थे जैसे शरीर और जीव और इन्होंने बड़े आनन्द उल्लास पाये, पर लौट कर अब इनको वियोग मिल गया। कोई भविष्य की बात कुछ नहीं जान सकता।

३४. लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड

[३९७]

मुरुछि परी पदुमावति रानी। कहँ जिउ कहँ पिउ अैस न जानी॥
जानु चित्र मूरति गहि लाई। पाटा परी बही तसि जाई॥
जनम न पौन सहै सुकुमारा। तेहि सो परा दुख समुँद अपारा॥
लखिमिनि मान समुँद कै बेटी। ता कहँ लच्छि भई जेइँ भेंटी॥
खेलत अही सहेलिन्ह सेंती। पाटा जाइ लगा तेहि रेती॥
कहेसि सहेलिहु देखहु पाटा। मूरति एक लागि एहि घाटा॥
जौं देखेन्हि, तिरिया है साँसा। फूल मुएउ, पै मुई न बासा॥
रग जो राती पेम के, जानहुँ बीर बहूटि।
आइ बही दधि समुँद महँ, पै रंग गएउ न छूटि॥ ३९७॥

शब्दार्थ—पाटा=लकड़ी का पट्टा। लखिमिनि=लक्ष्मी। मान-पाठान्तर नावँ=नाम। अही=थी। सेंती=साथ। रग=नस। राती=लाल।

अर्थ—रानी पद्मावती मूर्छित हो गई, वह नहीं जानती थी कि कहाँ जीव और कहाँ पीव, अर्थात् उसका और उसके पति का अभिन्न सम्बन्ध था, अतः अलग होते ही वह मूर्छित हो गयी। वह लकड़ी के फट्टे पर इस प्रकार बही जा रही थी, जैसे चित्र या मूर्ति फट्टे पर बही जा रही हो। इस सुकुमारी ने जीवन में हवा भी तो न सही थी, उसके ऊपर इतना अपार दुःख का समुद्र पड़ गया, फिर उसे कैसे सह्य होता? समुद्र की बेटी लक्ष्मी है, उससे जिसकी भेंट हो जाती है, वह धनवान् हो जाता है। वह अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। इतने में पद्मावती का फट्टा रेत से जा लगा। लक्ष्मी ने कहा कि हे सखियो! इस फट्टे को देखो, इस घाट पर एक मूर्ति आई है। सखियों ने देखा कि स्त्री में अभी साँस शेष है, फूल तो मरा है, पर अभी उसकी महक शेष है। उसकी रग-रग लाल थी, उनमें प्रेम की ललाई थी और वे बीर बहूटी सी लग रही थीं, दधि-सागर में वह बह कर आ गई, उसके प्रेम का रंग रगों से नहीं छूटा है।

[३९८]

लखिमिनि लखन बतीसौ लखी। कहेसि न मरै सभाँरहु सखी ॥
कागर पुतरी जैंस सरीरा। पवन उड़ाइ परी मँझ नीरा ॥
उड़हिं झकोर लहरि जल भीजी। तबहु रूप रँग नाहीं छीजी ॥
आपु सीस लै बैठी कोरा। पवन डोलावहिं सखि चहुँ ओरा ॥
पहरक समुझि परा तन जीऊ। माँगेसि पानि बोलि कै पीऊ ॥
पानि पियाइ सखी मुँह धोईं। पदुमिनि जानु कँवल सँग कोईं ॥
तब लखिमिनि दुख पूँछ पिरौही। तिरिया समुझि बात कहु मोही ॥

देखि रूप तोर आगर, लागि रहा चित मोर।
केहि नगरी कै नागरि, काह नाउँ धनि तोर ॥ ३९८ ॥

शब्दार्थ—लखन=लक्षण। कागर=कागज, कपड़ा। छीजी=कम होना। कोरा=गोद। पहरक=एक पहर। कोईं=कुमुदिनी। पिरौही=पीड़ा। पाठान्तर=परौहो, मरौही। आगर=श्रेष्ठ। धनि=स्त्री।

अर्थ—लक्ष्मी ने पद्मावती के बत्तीसों लक्षणों को देखा और कहा कि हे सखियो ! यह मरने न पावे, इसे सँभालो। इसका शरीर कागज की पुतली के समान हल्का है, हवा से उड़ कर यह पानी में गिर पड़ी है। लहरों के झकोरों के जल से यह भीग गयी है, फिर भी इसका रूप-रंग कम नहीं हुआ है। वह स्वयं अपनी गोद में पद्मावती को लेकर बैठ गई, सखियाँ चारों ओर हवा डोलाने लगीं। एक पहर में उसमें जीव समझ पड़ा, पति को पुकार कर उसने पानी माँगा। सखी ने पानी पिला कर उसका मुख धो दिया। उस समय पद्मावती ऐसी लगी, मानो कमल कुमुदिनियों के बीच सुशोभित है। तब लक्ष्मी ने उसका दुःख-दर्द पूछा, कि हे स्त्री ! समझ-बूझ कर मुझ से बात कर। तेरा सुन्दर रूप देख कर मेरा चित्त तुझ में लगा हुआ है, तू किस नगरी की नागरिका है और तेरा क्या नाम है ?

[३९९]

नैन पसारि चेत धनि चेती। देखै काह समुँद कै रेती ॥
आपन कोउ न देखेसि तहाँ। पूँछेसि को हम को तुम कहाँ ॥
अहीं जो सखीं कँवल सँग कोईं। सो नाहीं मोहिं कहाँ बिछोईं ॥
कहाँ जगत मनि पीउ पियारा। जौं सुमेरु बिधि गरुअ सँवारा ॥
ताकरि गरुई प्रीति अपारा। चढ़ी हिएँ जस चढ़ पहारा ॥
रहै न गरुई प्रीति सो झाँपी। कैसे जियौं भार दुख चाँपी ॥
कँवल करी कइ चूरी नाहाँ। दीन्ह बहाइ उदधि जल माहाँ ॥

आवा पौन बिछोउ का, पात परा बेकरार।
तरिवर तजै जो चूरि कै, लागै केहि की डार॥ ३९९॥

शब्दार्थ—पसारि=खोल कर। चेत=चैतन्य होकर। बिछोईं=अलग कर दिया। गरुअ=भारी। चाँपी=दबी हुई। नाहाँ=पति। बेकरार=असहाय, बेबस।

अर्थ—पद्मावती ने आँखें खोलीं, उसे चेतना प्राप्त हुई। तब क्या देखती है कि समुद्र की रेत है। वहां पर अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता, उसने पूछा कि हम कौन हैं और तुम कौन हो और हम कहाँ हैं? कमल के साथ रहने वाली कुमुदिनियों के समान जो मेरी सखियाँ थीं वे अब नही हैं, मैं कहाँ बिछुड़ गयी हूँ। वह मेरा संसार का मणि मेरा प्यारा प्रियतम कहाँ है? उसको ब्रह्मा ने सुमेरु पर्वत की भांति गम्भीर बनाया है, उसकी गम्भीर प्रीति भी है, मैं उसके हृदय पर चढ़ी थी मानो पहाड़ पर चढ़ी होऊँ। वह गम्भीर प्रीति छिपाई नहीं जा सकती। इस दुःख के भार को दबा कर अब मैं कैसे जिऊँ? स्वामी ने कमल को कली को चूर करके सागर के जल में बहा दिया। विरह की हवा आई और पत्ता बेबस होकर वृक्ष से गिर पड़ा। जब पेड़ ही पत्ते को चूर करके उसे छोड़ दे तो फिर पत्ता किसकी डाल से लग सकता है? अर्थात् जब मेरे पति ही ने मुझे छोड़ दिया तो अब मैं किसके सहारे जी सकती हूं?

[४००]

कहेन्हि न जानहिं हम तोर पोऊ। हम तोहि पावा अहा न जीऊ॥
पाटा परी आइ तूं बही। अैसि न जानहिं दहुँ का अही॥
तब सो सुधि पदुमावती भई। सूर बिछोह मुरछि मरि गई॥
बिन सिर रकत सुराही ढारी। जनहुँ बकत सिर काटि पबारी॥
खिनहिं चेत खिन होइ बेकरारा। भा चँदन बँदन सब छारा॥
बाउर होइ परी सो पाटा। देहु बहाइ कत जेहि घाटा॥
को मोहि आगि देइ रचि होरी। जियत जो बिछुरी सारस जोरी॥

जेहि सर मारि बिछोहि गा, देहि ओहि सर आगि।
लोग कहैं यह सर चढ़ो, हौं सो चढ़ौं पिय लागि॥४००॥

शब्दार्थ—अहा=था। दहुं=पता नहीं। सूर=सूर्य (रत्नसेन)। बकत=सिर के धड़ से अलग होने पर सिर एक प्रकार की हिचकी लेता है, उसी बोली को अवधी में बकतना कहते हैं। पबारी=फेंका। चन्दन=सिन्दूर। छारा=मिट्टी, नष्ट। सर=शर, बाण। सर=सिर। सर=चिता।

अर्थ—लक्ष्मी तथा उसकी सखियों ने कहा कि हम लोग तेरे पति को नहीं जानतीं।

हमने तो तुम्हें जब पाया तब तुम में जीव न था, तू लकड़ी के पट्टे पर बही आ रही थी। हम लोग नहीं जानते कि तू कौन थी। तब तक पद्मावती को सब कुछ याद आ गया, वह रत्नसेन के वियोग को स्मरण कर मूर्छित हो गयी जैसे बिना सिर के रक्त की सुराही ढाली गयी हो। इस प्रकार हिचकियां लेने लगी, मानो उसका सिर धड़ से अलग काट कर फेंक दिया गया है। क्षण में तो उसे चैतन्य होता है और क्षण भर बाद ही बेहाल हो जाती है, उसके सिंदूर आदि शृंगार सब नष्ट हो रहे हैं। बावली होकर वह फिर उसी फट्टे पर लेट गयी और कहा कि मुझे फिर उसी घाट पर बहा दो जहाँ मेरा पति है। कौन मेरी होली रचा कर उसमें आग लगा सकता है, क्योंकि मैं इस प्रकार बिछुड़ गयी हूं जैसे सारस की जोड़ी अलग-अलग होकर दुःख अनुभव करती है।

जिस सिर में बाण मार कर विरह का दुःख उत्पन्न कर दिया है उसे अब अग्नि में डाल दो। लोग कहेंगे कि यह बड़ी सिर-चढ़ी है पर मैं अपने प्रियतम के लिए सौ बार प्रसन्नतापूर्वक चिता पर चढ़ कर जल सकती हूं।

अन्तिम दोहे में—यमक अलंकार है।

[४०१]

कया उदधि चितवौं पिय पाहाँ। देखौं रतन सो हिरदै माहाँ॥
जानु आहि दरपन मोर हिया। तेहि महँ दरस देखावै पिया॥
नैन नियर, पहुँचत सुठि दूरी। अब तेहि लागि मरौं सुठि झूरी॥
पिउ हिरदै महँ भेंट न होई। की रे मिलाव, कहौं केहि रोई॥
साँस पास नित आवै जाई। सो न सँदेस कहै मोहि आई॥
नैन कौडिया भै मँड़राहीं। थिरकि मारि लै आवहिं नाहीं॥
मन भँवरा ओहि कँवल बसेरी। होइ मरजिया न आनहि हेरी॥

साथी आथि निआथि भै, सकेसि न साथ निबाहि।
जौं जिउ जारें पिउ मिलै, फिटु रे जोय जरि जाहि॥४०१॥

शब्दार्थ—कया=काया, शरीर। चितवौं=देखती हूं। सुठि=सुन्दर। झूरी=सूख कर, दुखी होकर। थिरकि=नाचता है। मारि=बहुत। मरजिया=गोता खोर। आथि=सार, पूँजी। निआथि=निर्धनता।

अर्थ—पद्मावती ही प्रलाप कर रही है—इस शरीर रूपी सागर में अपने पति की ओर देखती हूँ तो हृदय में रत्नसेन रूपी रत्न दिखाई पड़ता है मानो मेरा हृदय दर्पण है और उसी में मेरे पति का दर्शन हो रहा है। आँखों के लिए तो वह निकट ही है पर पहुँचने में अत्यन्त दूर है, अब मैं उसी के लिए अत्यन्त दुःखी हो-हो कर मरूँगी। हृदय में

ही मेरा पति है, पर मिल नहीं सकता। कौन मिला सकता है, किससे रोकर अपना दुःख सुनाऊँ ? सांस तो उसके पास नित्य आती जाती है, पर मुझसे उनका संदेश नहीं कहती। आँख रूपी कौड़िया पक्षी ऊपर मँडराते हैं, बहुत नाचते हैं पर झपट्टा मार कर उस प्रियतम की काया रूपी समुद्र से बाहर नहीं ले आते। मेरा मन रूपी भँवरा उसी कमल में बसेरा लेता है, पर गोताखोर होकर उस रत्न को खोज कर नहीं लाता।

साथी तो वह है जो धन और निर्धनता दोनों में रहे, पर हे जीव तू साथ का निर्वाह न कर सका। यदि जीव के जलाने पर प्रिय मिल जाय तो यह हृदय फट जाय और जीव नष्ट हो जाय, मैं प्रसन्नता से मरने को प्रस्तुत हूं।

नोट—इस पद में भी जायसी ने आध्यात्मिक रहस्य की झलक दी है। आत्मा रूप परमात्मा मनुष्य के हृदय में रहता है, फिर भी कोई उसे प्राप्त नहीं कर पाता। निकट होते हुए भी वह अत्यन्त दूर है। नेत्रों में उसकी छवि बसी होती है, मन उसी में रमा होता है पर उससे मिलना नहीं होता।

अलंकार—समासोक्ति।

[४०२]

सती होइ कहँ सीस उघारी। घन महँ बिज्जु घाय जस मारी ॥
सेंदुर जरै आगि जनु लाई। सिर की आगि सँभारि न जाई ॥
छूटि माँगि सब भाँति पुरोई। बारहिं बार गरहिं जनु रोई ॥
टूटहिं मोंति बिछोहा भरे। सावन बुंद गरहिं जनु ढरे ॥
भहर भहर करि जोबन करा। जानहुँ कनक अगिनि महँ परा ॥
अगिनि माँग, पै देइ न कोई। पाहन पवन पानि सुनि होई ॥
कनै लंक टूटी दुख जरी। बिनु रावन केहि बार होइ खरी ॥

रोवत पंखि बिमोहे, जनु कोकिला अरंभ।
जाकरि कनक लता यह बिछुरी, कहाँ सो प्रीतम खंभ ॥४०२॥

शब्दार्थ—घाय=घाव-चोट। गरहिं=बूँद-बूँद गिरना। भहर-भहर=जगमगाता हुआ। करा=कला, प्रकाश। कनै=कनक, सोना। लंक=कमर और लंका। बर=बल। खरी=खड़ी।

अर्थ—पद्मावती ने सती होने के लिए अपने सिर को खोल दिया तो काले बालों के बीच में सिंदूर की रेखा ऐसी लगी जैसे बादलों के बीच बिजली की चोट पड़ी हो। लाल रंग का सिन्दूर ऐसा प्रतीत होता था मानो आग लगी है। यह सिर की आग है इसे कोई संभाल नहीं सकता। माँग छूटी जिसमें मोती पिरोये थे, बाल-बाल से मोती के दाने गिरने लगे; मानो बाल रो रहे हैं और उनसे आँसू की बूंदें गिर रही हैं। यौवन का प्रकाश

जगमगाने लगा मानो सोना अग्नि में पड़ा है। पद्मावती अग्नि माँगने लगी पर उसे कोई अग्नि नहीं देता, उसकी बात को सुन कर या तो वे पत्थर के समान जड़ हो जाती हैं, या हवा की तरह उड़ जाती हैं, या संकोच से पानी-पानी हो जाती हैं। सुनहली कमर रूपी लंका दुःख से जल कर टूट गई। रावण रूपी रत्नसेन के बिना किसके बल पर वह खड़ी हो।

उसे रोते हुए देख कर पक्षी भी मूर्छित हो गये, उसका रोना ऐसा था जैसे कोयल ने निरन्तर कूकना आरम्भ कर दिया हो। कवि कहता है कि जिस प्रियतम रूपी खंभे से लिपटने वाली यह कनक-लता बिछुड़ गयी है वह कहाँ है?

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा और रूपक के चमत्कार इस पद में द्रष्टव्य हैं।

[४०३]

लखिमिनि लागि बुझावै जीऊ। ना मरु भगिनि जिअै तोर हीऊ॥
पिउ पानी, होइ पौन अधारी। जस हौं तुहू समुंद्र कै बारी॥
मैं तोहि लागि लेब खटबाटू। खोजब पितैं जहाँ लगि घाटू॥
हौं जेहि मिलौं तासु बड़ भागू। राज पाट औ होइ सोहागू॥
कै बुझाउ लै मँदिल सिधारी। भई सुसार जेंवै नहिं नारी॥
जेहि रे कंत कर होइ बिछोवा। का तेहिं भूख नींद का सोवा॥
जिउ हमार पिउ लेबे अहा। दरसन देउ लेउ जब चहा॥

लखिमिनि जाइ समुंद पहँ बिनई, ते सब बातें चालि।
कहा समुंद्र अहे घट मोरें, आनि मिलावौं कालि॥४०३॥

शब्दार्थ—लागि बुझावै=समझाने लगी। खटबाटू=(खटपटी) रूठना (स्त्रियां कभी-कभी रूठ कर घर के सारे काम छोड़ कर खाट पर पड़ी रहती हैं कि तब तक न। उठेंगी जब तक उनकी बात न मानी जायगी—इस रूठने को खटपाटी लेना कहते हैं) सुसार=पाठान्तर-जेवनार=रसोई।

अर्थ—लक्ष्मी पद्मावती को समझाने-बुझाने लगी और कहने लगी कि हे बहन! रो-रो के मत मरो, तेरा पति जीता होगा। पानी पियो और हवा का सहारा लो। अर्थात् साँस को न छोड़ो। जैसी मैं समुद्र की बेटी हूँ उसी प्रकार तुम भी अब अपने को समुद्र का ही लड़की समझो। मैं तुम्हारे लिए रूठ जाऊंगी जिससे मेरे पिता समुद्र के जितने घाट हैं सबकी खोज करवायेंगे। मैं जिसे मिल जाती हूं उसका बड़ा भाग्य हो जाता है, राज-पाट और सौभाग्य उसे प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर पद्मावती को लेकर वह मन्दिर (घर) में चली गई। वहां पर अच्छे भोजन तैयार थे, पर पद्मावती भोजन नहीं करती। कवि कहता है कि जिसे अपने पति का वियोग है उसे क्या

भूख लग सकती है और वह क्या सो सकती है ? पद्मावती ने कहा, मेरा जी तो मेरे पति ने ले रखा है, यदि तुम चाहती हो कि मैं भोजन करूं तो पति का दर्शन करवाओ।

लक्ष्मी ने समुद्र के पास जाकर सारी बातें बता कर बड़ी विनती की, तब समुद्र ने कहा कि रत्नसेन हमारे हृदय के भीतर ही है, कल ला के मिला दूंगा।

[४०४]

राजा जाइ तहाँ बहि लागा। जहाँ न कोई सँदेसी कागा ॥
तहाँ एक परबत हा डूँगा। जहवाँ सब कपूर औ मूँगा ॥
तेहि चढ़ि हेरा कोइ न साथा। दरब सँति कछु लाग न हाथा ॥
अहा जो रावन रैनि बसेरा। गा हेराइ, कोइ मिलै न हेरा ॥
धाह मेलि कै राजा रोवा। केइँ चितउर कर राज बिछोवा ॥
कहाँ मोर सब दरब भँडारू। कहाँ मोर सब कटक खँधारू ॥
कहाँ मोर तुरग बालका बली। कहाँ मोर हस्ती सिंगली ॥

कहँ रानी पदुमावति, जीउ बसत तेहि पाँह।
मोर मोर कै खोएउँ, भूलेउँ गरब मनाँह ॥४०४॥

शब्दार्थ—डूंगा=टीला। पाठान्तर-ढूंगा=डूंगा। हेरा=देखा। धाह=पुकारा। खंधारु=स्कंधावार, तम्बू। बालका=बलख बुखारा वाले। मनाँह=मन में।

अर्थ—राजा बह कर वहां जा लगा जहां संदेश ले जाने के लिये कोई कौवा भी न था। वहां एक पहाड़ का टीला था जहां कपूर और मूंगा ही थे। उस पर चढ़ कर उसने चारों ओर देखा पर कोई साथी न दिखाई पड़ा। धन एकत्र करके भी कुछ हाथ न लगा। जहां रावण का रात्रि का निवास स्थान था, वहां वह रास्ता भूल गया। खोजने पर भी कुछ भी नहीं मिला। राजा बड़े जोर से चिल्लाकर रोने लगा कि किसने उसको चित्तौड़ के राज्य से अलग कर दिया। मेरा सब धन और कोष आदि अब कहां हैं। मेरी सारी सेना और तम्बू आदि कहां है ? मेरे बलख बुखारे वाले बड़े घोड़े कहां हैं ? मेरे सिंहल वाले हाथी कहां गये ? मेरी रानी पद्मावती कहां है जिसके पास ही मेरा जीव है ? मैंने तो मेरा-मेरा कह कर अपना सब खो दिया, मन में बड़ा घमंड रखे हुए रह गया।

[४०५]

चंपा भँवरा कर जो मेरावा। माँगै राजा बेगि न पावा ॥
पदुमिनि चाह जहाँ सुनि पावौं। परौं आगि औ पानि धँसावौं ॥
ढूँढौं परबत मेरु पहारा। चढ़ौं सरग औ परौं पतारा ॥
कहँ अस गुरु पावौं उपदेसी। अगम पंथ को होइ सँदेसी ॥

परेउँ आइ तेहि समुँद अथाहा । जहवाँ वार पार, नहिं थाहा ॥
सीता हरन राम संग्रामा । हनिवँत मिला मिलो तब रामा ॥
मोहि न कोइ, केई बिनवौं रोई । को बर बाँधि गवेंसी होई ॥

भँवर जो पावा कँवल कहँ, मन चिंता बहु केलि ।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ, चूरि गएउ सब बेलि ॥ ४०५ ॥

शब्दार्थ—मेरावा=मेल । चाह=खबर । धँसावो=घुस जाऊँ । हनिवँत=हनुमान् । रामा=सीता । गवेंसी=गवेषणा (खोज) करने वाला । केलि=खेल, आनन्द, क्रीड़ा । बेलि=लता ।

अर्थ—चम्पा और भँवरे के मेल को राजा माँगता था, पर वह उसे शीघ्र नहीं मिलता अर्थात् वह पद्मावती से मिलना चाहता था पर यह शीघ्र सम्भव न था । वह अपने आप कहता था कि यदि पद्मावती की खबर पा जाऊँ तो अग्नि में पड़ सकता हूँ और पानी में प्रवेश कर सकता हूँ, सुमेरु पर्वत पर टूट पड़ सकता हूँ, स्वर्ग पर चढ़ूँगा और पाताल में कूदूँगा । ऐसा उपदेश करने वाला गुरु कहाँ पाऊँ जो अगम पन्थ में संदेशा लावे । आज तो मैं ऐसे अथाह समुद्र में पड़ा हूँ कि जिसका कोई वार-पार ही नहीं दिखाई पड़ता । सीता के हरण पर ही तो राम-रावण का संग्राम हुआ था, सीता तो तभी मिली थी जब राम को हनुमान् मिले थे । मेरे पास तो कोई नहीं है, किसके पास रोकर विनती करूँ, कौन जाकर उसकी खोज करेगा ? जब भंवरे को कमल मिला तो अनेक प्रकार के आनन्दों की ही चिन्ता रही । इतने में कोई हाथी आया और उसने कमल की सारी बेल को चूर-चूर कर दिया अर्थात् पद्मावती के संयोग की अवस्था में मैं आनन्द मनाता था, इतने में दुर्भाग्य ने आकर सब कुछ नष्ट कर दिया ।

[४०६]

कासुँ पुकारौं, का पहँ जाऊँ । गाढ़ें मीत होइ एहि ठाऊँ ॥
को यह समुँद मँथै बर बाढ़ा । को मथि रतन पदारथ काढ़ा ॥
कहाँ सो ब्रह्मा बिस्नु महेसू । कहाँ सो मेरु, कहाँ सो सेसू ॥
को अस साज मेरावै आनी । बासुकि बँध, सुमेरु मथानी ॥
को दधि मथै, समुँद जस मँथा । करनी सार न कथनी कथा ॥
जौं लगि मथै न कोइ दै जीऊ । सूधी अँगुरी न निकसै घीऊ ॥
लै नग मोर समुँद भा बटा । गाढ परै तौ पै परगटा ॥

लीलि रहा अब ढील होइ, पेट पदारथ मेलि ।
को उजियार करै जग, झाँपा चाँद उघेलि ॥

शब्दार्थ—गाढ़े=कठिनाई । नग=रत्न । बटा=राही । करनी=कर्म, कार्य । कथनी=कहना, बातें ।

अर्थ—रत्नसेन कह रहा है कि मैं किसे पुकारूं और किसके पास जाऊं ? विपत्ति पड़ने पर कोई मित्र यहां पर नहीं है । कौन इस बढ़े हुए समुद्र का मंथन करे और मथ कर उसमें से रत्न निकाले ? समुद्र मंथन के लिए वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहाँ मिलेंगे ? सुमेरु पहाड़, शेषनाग आदि कहाँ मिलेंगे । जिन सबने मिलकर समुद्र मन्थन किया था ? कौन सारे समुद्र को दही की भाँति मथेगा ? कार्य ही सार वस्तु है। बातें कुछ नहीं हैं । जब तक जान देकर कोई समुद्र मन्थन नहीं करेगा कोई काम नहीं हो सकता, सीधी उंगली से तो घी भी नहीं निकलता । समुद्र मेरा हीरा (पद्मावती) ले कर चल पड़ा है, बहुत दबाव पड़े तभी वह प्रकट कर सकता है । वह सागर मगर की भांति अपने पेट के भीतर इनको निगलकर ढीला पड़ा है । कौन है जो छिपे हुए चन्द्रमा को निकालकर प्रकाश करवा सकता है ?

अलंकार—दृष्टान्त, रूपक ।

[४०७]

ऐ गोसाइं तू सिरजनहारू । तूं सिरिजा यहु समुंद अपारू ।।
तूं जल ऊपर धरती राखे । जगत भार लै भार न भाखे ।।
तूं यह गगन अंतरिख थाँभा । जहाँ न टेक, न थून्ही, खाँभा ।।
चांद सुरुज औ नखतन्ह पाँती । तोरे डर धार्वाह दिन राती ।।
पानी पवन अगिनि औ माँटी । सब की पीठि तोरि है साँटी ।।
सो अमुरुख बाउर औ अंधा । तोहि छाँड़ि औरहि चित्त बंधा ।।
घट घट जगत तोरि है डीठी । मोहिं आपनि कछु सूझ न पीठी ।।
पौन हुतें भा पानी, पानि हुतें भैं आगि ।
आगि हुतें भैं माँटी, गोरख धंधं लागि ।।४०७।।

शब्दार्थ—सिरजनहारू=सृष्टिकर्ता । थाँभा=टिकाया । थूही=छप्पर को टेकने वाली लकड़ी की बल्ली । साँटी=छड़ी, शासन । अमुरुख=मूर्ख । हुतें=से । गोरखधंधा =प्रपंचात्मक, संसार ।

अर्थ—रत्नसेन कहने लगा कि हे ईश्वर ! तू ही विश्व का कर्ता है, तू ने ही इस अपार सागर को भी बनाया है । तुम्हीं ने जल के ऊपर पृथ्वी बना रक्खी है, संसार का भार लेते हुए भी भार को कुछ नहीं समझते । तू ने इस आकाश को टेक रखा है, जहाँ पर और कोई भी टेकने का आधार नहीं है । चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्रों की पंक्तियां सब तेरे ही डर से दिन रात दौड़ लगाती रहती हैं । जल, पवन, अग्नि, पृथ्वी सब की पीठ पर तेरी ही छड़ी है और सभी तेरे शासन के अन्दर हैं । इसलिए वह तो मूर्ख, बावला और अन्धा है, जो तुझको छोड़ कर अन्यत्र अपना चित्त लगाए है । संसार के प्रत्येक जीव

पर तेरी दृष्टि है, पर तुझे तो अपनी पीठ भी दिखाई नहीं पड़ती। तुमने पवन से पानी बनाया, फिर पानी से अग्नि, फिर आग से पृथ्वी बनाई और इसी प्रकार सारे प्रपंचात्मक संसार की रचना कर डाली।

[४०८]

तूँ जिउ तन मेरवसि दै आऊ। तुँही बिछोवसि, करसि मेराऊ ।।
चौदह भुवन सो तोरें हाथा। जहँ लगि बिछुरे औ एक साथा ।।
सब कर मरम भेद तोहि पाहाँ। रोम जमावसि टूटै तहाँ ।।
जानसि सबै अवस्था मोरी। जस बिछुरी सारस कै जोरी ।।
एक मुए सँग मरै सो दूजी। रहा न जाइ, आइ सब पूजी ।।
झूरत तपत दगधि का मरऊँ। कलपौं सीस बेगि निस्तरऊँ ।।
मरौं सो लै पदुमावति नाऊँ। तूँ करतार करसि एक ठाऊँ ।।
दुख जो पिरीतम भेंटि कै, सुख जो न सोवै कोइ।
इहै ठाउँ मन डरपै, मिलि न बिछोवा होइ ।।४०८।।

शब्दार्थ—मेरवसि=मिलाता है। आऊ=आयु। बिछोवसि=वियोग कराता है। झूरत=सूखना, दुःख पाना। कलपौं=काटूँ।

अर्थ—रत्नसेन ईश्वर के सम्बन्ध में कहता जा रहा है—हे ईश्वर! तुम ही आयु देकर शरीर में जीव का मेल कराते हो, तुम ही वियोग और मिलाप के कराने वाले हो। चौदहों भुवन तुम्हारे ही हाथ में हैं। जितने भी जीव मिले या बिछुड़े हुए हैं, सब का रहस्य जानने वाले तुम ही हो। एक रोम भी जहाँ टूटता है, तुम वहां नया उत्पन्न कर देते हो। तुम मेरी सारी हालत जानते हो। जैसे सारस की जोड़ी बिछुड़ती है तो सारस को दुःख होता है, वैसी ही दशा मेरी अब है। एक की मृत्यु के साथ दूसरा भी मर जाता है, इसलिए बिछुड़ने पर अब रहा नहीं जाता, मेरी आयु अब समाप्त हो गयी है। दुःख पाते हुए, जलते हुए मरूँगा, इसलिए अपने सिर को काट डालूँगा, ताकि शीघ्र ही निस्तार हो जाय। पद्मावती का नाम लेकर मर जाऊँगा। हे ईश्वर! तुम हम दोनों को मरने के उपरान्त एक कर दो। मैंने अपनी प्रियतमा (पद्मावती) से अनेक कष्ट सहने के पश्चात् भेंट तो की, पर सुख से सो न सका, इसलिए इस जगह मरते हुए भी मुझे शंका है कि कहीं मरने के उपरान्त भी मैं मिल कर बिछुड़ न जाऊँ।

[४०९]

कहि कै उठा समुँद महँ आवा। काढ़ि कटार गरे लै लावा ।।
कहा समुँद्र पाप अब घटा। बाँभन रूप आइ परगटा ।।
तिलक दुवावस मस्तक दीन्हे। हाथ कनक बैसाखी लीन्हे ।।
मुँद्रा कान, जनेऊ काँधे। कनक पत्र धोती तर बाँधे ।।

पायन्ह कनक जराऊ पाऊँ। दीन्ह असीस आइ तेहि ठाऊँ ॥
कहु रे कुँवर मोसों एक बाता। काहे लागि करसि अपघाता ॥
परिहँसि मरसि कि कौनेहु लाजा। आपन जीउ देसि केहि काजा ॥
जनि कटार कँठ लावसि, समुझि देखु जिउ आपु।
सकति हँकारि जीव जो काढ़ै, महा दोख औ पापु ॥४०९॥

शब्दार्थ—काढ़ि=निकाल कर। गरे=गले। दुआदस तिलक=बारह तिलक, शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में १२ तिलक वैष्णव लोग लगाया करते हैं। बैसाखी=लाठी। कनक पत्र=स्वर्ण पत्रों के योग से बना हुआ वस्त्र जिसका उल्लेख पीछे कई बार हो चुका है। तर=नीचे। अपघाता=आत्मघात। परिहँसि=ईर्ष्या। जनि=मत। लावसि=लगावो। सकति=शक्ति। हँकारि=बुलाकर-स्वेच्छा से।

अर्थ—ऐसा कह कर रत्नसेन उठा और समुद्र के किनारे आ गया, कटार निकाल कर उसने अपनी गर्दन पर रखी। ऐसा देख कर समुद्र ने अपने आप कहा कि अब तो पाप की घटना होनी चाह रही है और ऐसा सोचकर ब्राह्मण रूप धारण कर सामने आकर प्रकट हो गया। उसके मस्तक पर लम्बा तिलक था और हाथ में सोने का डण्डा था। कान में शीशे की मुद्रा और कन्धे पर यज्ञोपवीत तथा नीचे कनक पत्र वस्त्र की धोती बांधे हुए था, पैरों में सुनहली पादुका पहने था। इस वेष में उसने वहाँ पर आकर आशीर्वाद दिया। समुद्र ने पूछा—हे राजकुमार! तुम मुझको एक बात बताओ, क्यों तुम आत्मघात कर रहे हो। किसी की ईर्ष्या से मर रहे हो, या तुम्हें कोई लज्जा की बात हो गई है, तुम अपना जीव किस कार्य के लिए दे रहे हो। कटार को गर्दन पर मत लगाओ, पहले अपने जी से सोच कर देख समझ लो। शक्ति के रहते हुए जो स्वेच्छा से अपना जीव देता है, उसे बड़ा दोष और पाप लगता है।

[४१०]

को तुम्ह उतर वेइ हो पाँड़े। सो बोलै जाकर जिय भाँड़े ॥
जम्बू दीप केर हौं राजा। सो मैं कीन्ह जो करत न छाजा ॥
सिंघल दीप राज घर बारी। सो मैं जाइ बियाही नारी ॥
लाख बोहित तेइँ दाइज भरे। नग अमोल औ सब निरमरे ॥
रतन पदारथ मानिक मोंती। हती न काहु के संपति ओती ॥
बहल, घोर, हस्ती सिंघली। औ सँग कुँवर लाख दुइ बली ॥
तेहि गोहने सिंघल पदुमिनी। एक सों एक चाहि रूपमनी ॥
पदुमावति संसार रूपमनि, कहँ लगि कहौं दुहेल।
एत सब आइ समुँद महँ खोएउँ, हौं का जियौं अकेल ॥४१०॥

शब्दार्थ—पाँडे=पंडित जी। भाँड़े=घट में, हृदय में। केर=का। छाजा=शोभा पाना। बारी=बाला (स्त्री)। बोहित=जहाज। ओती=उतनी। गोहने=साथ। बाहि=बढ़कर। दुहेल=दुःख।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पंडित जी! कौन तुम्हें उत्तर दे, वही बोल सकता है, जिसका हृदय उसके शरीर में हो। मैं जम्बू द्वीप का राजा हूं, मैंने वह काम किया, जो राजा को शोभा नहीं देता। सिंहल द्वीप के राज घराने की लड़की से जाकर मैंने विवाह किया। राजा ने एक लाख जहाज दहेज में दिए, अनेक रत्न और अमूल्य तथा निर्मल मोती, जवाहरात, माणिक्य आदि इतने दिए, जितने कि किसी के पास हो नहीं सकते। बहल घोड़े, हाथी और साथ में दो लाख राजकुमार जिनके साथ सिंहल की पद्मिनियाँ भी जो कि एक से एक बढ़ कर सुन्दरियाँ थीं। और मेरी पद्मावती तो सारे संसार भर से अधिक सुन्दरी थी, कहाँ तक अपने दुःख का वर्णन करूं। यह सब मैंने आकर समुद्र में खो दिया, अतः अब मैं अकेला क्या जिऊं।

[४११]

हँसा समुंद, होइ उठा अँजोरा। जग जो बूड़ सब कहि-कहि मोरा।
तोर होत तोहि परत न बेरा। बूझि बिचारि तुंही केहि केरा॥
हाथ मरोरि धुनै सिर मांखी। पै तोहि हिएं न उघरी आंखी॥
बहुतन्ह अस रोइ सिर मारा। हाथ न रहा झूठ संसारा॥
जौं पै जगत होति थिर माया। सैंतत सिद्ध न पावत राया॥
बड़ेन्ह जौं न सैंत औ गाड़ा। देखा भार चूंवि कै छाड़ा॥
पानी कै पानी महँ गई। जौं तू बचा कुसल सब भई॥
जाकर दीन्ह कया जिउ, लीन्ह चाह जब भाव।
धन लछिमी सब ताकरि, लेइ तौ का पछिताव॥४११॥

शब्दार्थ=अँजोरा=उजेला। बेरा=बेड़ा। सैंतत=इकट्ठा करता। राया=राजा। सैंत=इकट्ठा किया। चूंवि=चूम कर, छू कर।

अर्थ—समुद्र हँस पड़ा, उसके हँसने से प्रकाश हो उठा। उसने कहा कि संसार में लोग जिसे अपना कहते हैं, वह सभी डूब जाता है। यदि वह सब तेरा होता तो बेड़ा न डूबता, तुम्हीं समझ-बूझ कर विचार करो, भला कौन चीज किसकी है? तू हाथ मल कर सिर धुन रहा है, पर तेरे हृदय की आंख अभी तक न खुली। इसी प्रकार और बहुत से लोगों ने रो-रो कर सिर पीट डाला, पर उनके हाथ कुछ न रह सका—क्योंकि संसार तो झूठा है। यदि संसार में माया स्थिर होती, तो हे राजा! क्या तू संचित करते हुए सिद्ध पद न पा जाता? बड़े लोगों ने न तो धन को एकत्रित किया और न उसे गाड़ रक्खा, क्योंकि उन्होंने देखा कि धन तो भार स्वरूप है, इसीलिए उन्होंने इसे चूम कर ही छोड़

दिया। तेरी सम्पत्ति तो पानी की ही थी और पानी में ही चली गयी, यह बड़े कुशल की बात हुई कि तू बच गया।

जिस ईश्वर का दिया हुआ यह शरीर और जीव है, वह उसे जब लेना चाहता है ले लेता है। यह धन और लक्ष्मी सब उसी के हैं, यदि वह इन्हें ले ले, तो इसमें पश्चात्ताप की कौन सी बात है?

[४१२]

अनु पाँडे फुरि कही कहानी। जौं पावौं पदुमावति रानी।
तपि कै पाव, उमरि कर फूला। पुनि तेहि खोइ सोइ पँथ भूला॥
पुरुख न आपन नारि सराहा। मुए गए सँवरा पै चाहा॥
कहँ असि नारि जगत महँ होई। कहँ अस जिवन मिलन सुख सोई॥
कहँ अस रहस भोग अब करना। अैसे जियन चाहि भल मरना॥
जहँ अस बरै समुँद नग दिया। तहँ किमि जीव आछै मरजिया॥
जस एइँ समुँद दीन्ह दुख मोकाँ। दै हत्या झगरौं सिवलोकाँ॥

का मैं एहिक नसावा, का एइँ सँवरा दाउ।
जाइ सरग पर होइहि, एकर मोर नियाउ॥४१२॥

शब्दार्थ—अनु=फिर। फुरि=सच। उमर=उदुम्बर या गूलर—गूलर में फल होते हैं अतः अलभ्य वस्तु (पद्मावती)। रहस=रास, आनन्द। चाहि=अपेक्षा, से। एहिक=इसका। नसावा=बिगाड़ा। सँवरा=याद किया। दाउ=दांव, बदला लेने का अवसर। एकर=इसका। नियाउ=न्याय।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने जवाब दिया कि हे पांडे जी! तुमने बात ठीक ही कही है, यदि मैं अपनी पद्मावती रानी को पा जाऊँ—अर्थात् यदि पद्मावती अकेली मुझे मिल जाय, तो मैं तेरी सारी बातें ठीक मान लूँ—धन-संपत्ति के नष्ट होने की परवाह न करूँ। मैंने बड़ी तपस्या करके अपनी उम्र भर के परिश्रम के परिणामस्वरूप उस पद्मावती रूपी फूल को पाया था, फिर मैंने उसे खो दिया और सो कर पथ-भ्रष्ट हो गया। पुरुष अपनी पत्नी की बड़ाई नहीं करता, पर मर जाने पर या चले जाने पर वह उसे स्मरण करता है। पद्मावती जैसी स्त्री संसार में कहां हो सकती है, फिर इस प्रकार का जीवन के मिलन का सुख कहाँ हो सकता है? ऐसे आनन्द और भोग को हम कहाँ कर सकते हैं; तो फिर ऐसे जीवन की अपेक्षा तो मरना ही अच्छा है। जहाँ इस समुद्र में ऐसा दीपक सा रत्न जल रहा है, अर्थात् जिसके भीतर पद्मावती डूबी है, वहां फिर गोताखोर (रत्नसेन) क्यों जीव रखेगा, अर्थात् मैं क्यों न गोताखोर बन कर मरूँ और उसे पाऊँ। जिस प्रकार इस समुद्र ने मुझे दुःख दिया, उसी प्रकार मैं भी इस पर हत्या का दोष डाल कर ईश्वर के

यहाँ न्याय के लिए झगड़ा करूँगा। मैंने भला इसका क्या बिगाड़ा था, इसने कौन से वैर का बदला निकालने का अवसर निकाला है, अब तो स्वर्ग में ही जाकर इसका और मेरा न्याय होगा।

[४१३]

जौं तूँ मुवा, कस रोवसि खरा। न मुवा मरै न रोवै मरा॥
जौं मर भया औ छाँड़ेसि माया। बहुरि न करै मरन कै दाया॥
जौं मर भया न बूड़ै नीरा। बहत जाइ लागै पै तीरा॥
तहूँ एक बाउर मैं भेंटा। जैस राम, दसरथ कर बेटा॥
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा। एहि समुँद्र महँ फिरि फिरि रोवा॥
पुनि जौं राम खोइ भा मरा। तब एक अंत भएउ मिलि तरा॥
तस मर होहि मूँदु अब आँखी। लावौं तीर, टेकु बैसाखी॥

बाउर अंध पेम कर लुबुधा, सुनत ओहि भा बाट।
निमिखि एक मह लेइ गा, पदुमावति जेहि घाट॥४१३॥

शब्दार्थ—मुवा=मरा, यहाँ जायसी ने योग के मार्ग में सिद्धि प्राप्त व्यक्ति के लिए संकेत से इस शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा व्यक्ति संसार की दृष्टि में अपने आपको मृत बना लेता है पर वह सच्चे अर्थ में जीवित रहता है। खरा=खड़ा होकर। दाया=दाँव, आयोजन। मेहरी=पत्नी। बिछोवा=विरह। लुबुधा=लालच में पड़ा हुआ। निमिखि=पल।

अर्थ—समुद्र कहने लगा कि यदि तू मर चुका तो खड़ा हुआ क्यों रो रहा है, क्योंकि न तो मृत व्यक्ति फिर मरता है और न वह रोता है। यदि तू मर गया और तूने संसार के माया-मोह को छोड़ दिया है, तो फिर मरने का आयोजन न करना। यदि तू मरा हुआ हो गया तो पानी में डूबेगा नहीं, बहते चले जाओगे और कहीं किनारे पर लग जाओगे। तू भी मुझे एक पागल ही मिला है, जैसे कि दशरथ का बेटा राम था। उसे भी अपनी पत्नी का विरह हो गया, और वह भी इसी समुद्र में फिर-फिर कर रो रहा था। फिर जब राम अपने को खो कर जीवन-मृत हो गया, तब उसके दुःख का अन्त हो गया और वह फिर से मिल कर तर गया। उसी प्रकार तू भी जीवन-मृत हो जा, इस समय तो तू अपनी आँखें बन्द कर ले, मेरी लाठी को पकड़, मैं तुम्हें एक किनारे पहुँचाऊँगा। राजा बावला और प्रेम के लालच में लीन था, उसकी बातें सुनते ही उसी के बताये रास्ते पर हो गया और वह समुद्र एक पल में ही उसे उस घाट पर ले गया, जहाँ पद्मावती थी।

[४१४]

पदुमावतिहि सोग तस बीता। जस असोग बीरो तर सीता॥
कनक लता दुइ नारँग फरी। तेहि के भार उठि सकै न खरी॥

तेहि चढ़ि अलक भुअंगिनि डसा। सिर पर रहै हिएँ परगसा ॥
रही म्रिनाल टेकि दूख दाधी। आधा कँवल भई, ससि आधी ॥
नलिनि खंड दुइ तस करिहाऊँ। रोमावलि बिछोउ कर भाऊँ ॥
रहै टूटि जस कंचन तागू। कहँ पिउ मिलै, जो देइ सोहागू ॥
पान न खंडै करै उपवासू। सूख फूल, तन रहा सुबासू ॥

गँगन धरति जल पूरि चखु, बूड़त होइ निसाँसु।
पिउ पिउ चात्रिक ज्यों ररै, मरै सेवाति पियासु ॥४१४॥

शब्दार्थ—सोग=शोक, दुःख। बीरौ=बिरवा, वृक्ष। नारँग=नारंगी। अलक=बाल। भुअंगिनि=नागिनी। म्रिनाल=मृणाल, कमल-नाल। करिहाऊँ=सं० कटिभाग, कमर। पान=पत्ता। खंडै=तोड़ती। पूरि=भर गया। ररै=रटै।

अर्थ—पद्मावती के विरह का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि पद्मावती का दुःख इस प्रकार बीत रहा था जैसे अशोक के वृक्ष के नीचे सीता की दशा थी। उसका शरीर स्वर्ण की लता के समान दुबला-पतला था, उसमें उसके स्तन ऐसे लगते थे जैसे लता में दो नारंगियाँ फली हैं और उन्हीं के भार से वह उठ खड़ी नहीं हो सकती। फिर उसे वेणी रूपी नागिनी चढ़ कर डस रही थी, सिर तक चढ़ी थी और हृदय में भी प्रकट हुई थी, उस की लट सिर से हृदय तक फैली थी। कमल की नाल पकड़ कर दुःख से जली हुई वह बैठी थी, आधे कमल या आधे चन्द्रमा के समान वह हो रही थी। उसकी कमर इतनी पतली और नाजुक लग रही थी जैसे कमल की नाल तोड़ देने पर अपने रेशे से जुड़ी रहती है। उसकी रोमावलियाँ विरह के भाव को स्पष्ट कर रही थीं। वह ऐसी पड़ी थी जैसे सोने का तागा टूट कर पड़ा हो, पति कहाँ मिले जो सोहाग (सौभाग्य) दे। पत्ता भी नहीं तोड़ती थी, व्रत कर रही थी, सूखे फूल के समान उसके शरीर में कुछ महक मात्र ही रह गयी थी। उसकी आँखों से जल इतना गिर रहा था कि आकाश और धरती जल से भर गये थे। उसमें वह डूब रही थी और उसकी सांस समाप्त हो रही थी, चातक की भांति पी-पी रट रही थी, स्वाति की प्यास से मर रही थी।

[४१५]

लखमिनि चंचल नारि परेवा। जेहि सत देखु छरै कै सेवा ॥
रतनसेनि आवा जेहि घाटा। अगुमन जाइ बैठ तेहि बाटा ॥
औ भै पदुमावति के रूपा। कीन्हेसि छाँह, जरै जनि धूपा ॥
देखि सो कँवल भँवर मन धावा। साँस लीन्ह, पै बास न पावा ॥
निरखत आई लखमिनी डीठी। रतनसेनि तब दीन्ही पीठी ॥

जौं भलि होति लछमिनी नारी। तजि महेस कत होत भिखारी ॥
पुनि फिरि धनि आगे भै रोई। पुरुख पीठि कस देखि बिछोई ॥

हौं पदुमावति रानी, रतनसेनि तूं पीउ।
आनि समुंद महँ छांड़े, अब रे देब मैं जीउ ॥४१५॥

शब्दार्थ—नारि परेवा=कबूतरी। छरै=छलती है। अगुमन=पहले ही। जनि=न। निरखत=देखते हुए। लक्ष्मी=यहाँ शिव के भिखारीपन के विपरीत लक्ष्मी का लक्ष्यार्थ है। इसका अर्थ उस सर्वलक्षणा सती से भी लिया जा सकता है जिसने सीता का वेष बना कर राम को छलना चाहा था, और फिर शिव ने उसे सदा के लिए तज दिया था। धनि=स्त्री।

अर्थ—लक्ष्मी चंचल स्त्री होती है, कबूतरी के समान उड़ कर एक जगह से दूसरी जगह पहुँचने वाली होती है। जिसमें सत्य देखती है, सेवा करके उसे छलती है। रत्नसेन जिस घाट पर आया था आगे से उसी के रास्ते में जाकर बैठ गयी। वह पद्मावती के रूप की हो गई, ऐसी छाया कर दी कि धूप की जलन निकल गयी। उस कमल को देखकर भौंरे रूपी रत्नसेन का मन दौड़ पड़ा, उसने सांस लिया पर उसे पद्मिनी की सुगन्ध उसमें न मिली। लक्ष्मी उसे देखती हुई दिखाई पड़ी पर उसने उसकी ओर पीठ कर ली। उसने कहा कि यदि लक्ष्मी नारी ही अच्छी होती तो उसे छोड़ कर शंकर जी भिखारी क्यों हो जाते ? फिर वह स्त्री (लक्ष्मी) आगे होकर रोने लगी कि हे पुरुष, मुझ बिछोही को तुम पीठ क्यों दे रहे हो ? मैं रानी पद्मावती हूँ और तू मेरा पति रत्नसेन है, तूने लाकर मुझे समुद्र में छोड़ दिया, अब तो तू मुझे जीवन-दान कर।

[४१६]

अनु हौं सोइ भँवर औ भोजू। लेत फिरौं मालति कर खोजू ॥
मालति नारि, भँवर अस पीऊ। कहँ तोहि बास रहै थिर जीऊ ॥
तूं को नारि करसि अस रोई। फूल सोइ पै बास न होई ॥
हौं ओहि बास जीव बलि देऊँ। और फूल कै बास न लेऊँ ॥
भँवर जो सब फूलन्ह कर फेरा। बास न लेइ मालतिहि हेरा ॥
जहां पाव मालति कर बासू। वारने जीउ देइ होइ दासू ॥
कब वह बास पौन पहुँचावै। नव तन होइ पेट जिउ आवै ॥

भँवर मालतिहि पै चहै, कांट न आवै डीठि।
सौंहे भाल छाय हिय, पै फिरि देइ न पीठि ॥४१६॥

शब्दार्थ—हेरा=खोजता है। वारने=निछावर करता है। सौंहें=सामने। भाल=भाला, कांटा।

अर्थ—फिर राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया— मैं तो उसी राजा भोज और भौंरे के समान हूं, और मालती का खोज करता हुआ फिर रहा हूं। मेरी स्त्री पद्मावती मालती की भांति है और उसका पीउ मैं भौंरे की भांति, फिर तेरी महक से मेरा जीव कैसे स्थिर हो सकता है। तू कौन-सी स्त्री है जो इस प्रकार रुदन कर रही है, फूल तो वही है पर इसमें वह महक नहीं है। मैं तो उसी की सुगन्ध पर अपने जीव को बलि देता हूँ और किसी फूल की सुगन्ध को नहीं लेता। भौंरा जो सब फूलों का चक्कर लगाता है और फूलों की सुगन्ध नहीं लेता, वह तो केवल मालती को खोजता है। जहाँ मालती की महक पाता है वहाँ सेवक होकर अपने जीव को निछावर कर देता है। हवा कब उस सुगन्ध को हम तक पहुँचावेगी कि मेरा नया शरीर होगा और मेरे पेट में जान आ जायेगी। भौंरा तो मालती ही को चाहता है, उसे उसका कांटा नहीं दिखाई पड़ता, उसके सामने ही मालती के कांटे का भाला छाया रहता है, उसे वह अपने सीने पर लेता है पर फिर कर पीठ नहीं देता।

नोट—इस दोहे में प्रेमी को भौंरा और प्रेमिका को मालती बताकर आदर्श प्रम का वर्णन किया गया है।

[४१७]

तब हँसि बोली राजा आऊ। देखेउ पुरख तोर सति भाऊ॥
निस्चै भँवर मालतिहि आसा। लै गै पदुमावति के पासा॥
पीउ पानि कँवला जसि तपा। निकसा सूर समुँद महँ छपा॥
मैं पावा सो समुँद के घाटा। राजकुँवर मनि दिपै लिलाटा॥
बसन दिपहिं जस हीरा जोती। नैन कचोर भरै जनु मोंती॥
भुजा लंक उर केहरि जीता। मूरति कान्ह देख गोपीता॥
जस नल तपत दामनहि पूँछा। तस बिनु प्रान पिंड है छूँछा॥
जस तूँ पदिक पदारथ, तैस रतन तोहि जोग।
मिला भँवर मालति कहँ, करहु दोउ रस भोग॥ ४१७॥

शब्दार्थ—आऊ=आओ। छपा=छिपा हुआ। दिपै=चमकै। कचोर=कटोरा। दामनहिं=दमयन्ती। पाठान्तर-पदुमावति। पदिक=मणि (रत्नसेन)। पदारथ=हीरा (पद्मावती)।

अर्थ—तब लक्ष्मी बोली, हे राजा! आओ। हे पुरुष! मै तो तेरा सत्य भाव देख रही थी। निश्चय भौंरे (रत्नसेन) को मालती (पद्मावती) की आशा है। ऐसा कह कर वह राजा को पद्मावती के पास ले गयी। उसने कहा कि तपे हुए कमल की भाँति अब तुम पानी पियो, अब समुद्र में छिपा हुआ सूर्य (पद्मावती) प्रकट हो गया है। मैंने इसे समुद्र के घाट

पर पाया था । इस राजकुमारी का ललाट मणि की भाँति चमक रहा था । इसके दाँत ऐसे चमकते थे जैसे हीरे की ज्योति, और नैन रूपी कटोरे में मोती रूपी आँसू भरे थे। फिर भुजा, कमर और हृदय में सिंह को जीतने वाले राजा रत्नसेन को पद्मावती ने इस प्रकार देखा जैसे गोपियाँ कृष्ण को देखती थीं । जैसे तपे हुए नल ने दमयन्ती को पूछा था। उसी प्रकार उसका शरीर बिना प्राण के बिलकुल खाली था । लक्ष्मी ने पद्मावती से कहा कि जिस प्रकार तू उत्तम हीरा है और उसी प्रकार रत्नसेन भी रत्न है और तेरे योग्य है। अब तो भौंरा मालती से मिल गया । अब तुम दोनों रस-भोग करो ।

[४१८]

पदिक पदारथ खीन जो होती । सुनतहि रतन चढ़ी मुख जोती ॥
जानहुँ सुरुज कीन्ह परगासू । दिन बहुरा, भा कँवल बिगासू ॥
कँवल बिहँसि सुरुज मुख दरसा । सुरुज कँवल दिस्टि सों परसा ॥
लोचन कँवल सिरीमुख सूरू । भए अतियन्त दुहुँन रसमूरू ॥
मालति देखि भँवर गा भूली । भँवर देखि मालति मन फूली ॥
डीठा दरसन, भए एक पासा । वह ओहि के, वह ओहि के बासा ॥
कंचन डाहि दीन्ह जनु जीऊ । उगवा सुरुज, छूटि गा सीऊ ॥
पाय परी धनि पिय के, नैनन्ह सों रज मेंटि ।
अचरज भएउ सबहिं कहँ, ससि कँवलहि भै भेंटि ॥ ४१८ ॥

शब्दार्थ—बहुरा=लौटा । सिरीमुख=मुख श्री । एक पासा=समीप । डाहि=जलाकर । उगवा=निकला । सीऊ=शीत । रज मेंटि=मिट्टी धोकर ।

अर्थ—पदिक-पदार्थ रूपी पद्मावती की ज्योति क्षीण थी, रत्नसेन का नाम सुन कर उसके मुख पर ज्योति चढ़ गयी । मानो सूर्य ने प्रकाश किया हो इसलिए दिन फिर लौटा और कमल (पद्मावती) खिल उठा । कमल-लोचन प्रफुल्लित हो उठे, मुखश्री सूर्य के समान हो उठी । दोनों ही अत्यन्त रस युक्त हो गये । मालती (पद्मावती) को देख कर भौंरा (रत्नसेन) भूल गया और भौंरे को देख कर मालती का मन प्रफुल्लित हो उठा । दोनों ने दर्शन किये और दोनों के नेत्र एक पास हो गये, दोनों एक दूसरे के पास ही हो गये । सोने को जलाकर जैसे जीव दे दिया हो, सूर्योदय हुआ सारा शीत जाता रहा । स्त्री (पद्मावती) पति के पैरों पर आ गिर पड़ी और आँसुओं से पैर की धूलि को धोने लगी, सबको आश्चर्य हुआ कि चन्द्रमा और कमल की मुलाकात कैसी ?

नोट—चन्द्रमा और कमल नहीं मिलते, इस विरह में रत्नसेन और पद्मावती का मिलना असम्भव हो गया था । अतः यह मिलना आश्चर्यजनक ही हो गया ।

इस पद के बाद जायसी ग्रंथावली की अनेक प्रतियों में कई पद हैं। जिन्हें डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल-संपादित ग्रन्थावली के तीन पदों को प्रक्षिप्त बताते हैं। कारण यह कि इन पदों में पूर्ववर्ती छन्द की ही बातों को कुछ संशोधन-परिवर्धन के साथ दुहराया गया है। पद्मावती रत्नसेन के पैरों में गिरती है और रत्नसेन भी पद्मावती के पैरों में गिरता है। रत्नसेन का पैरों पर गिरना अनुचित है। आगे के पदों में पद्मावती लक्ष्मी से सारा खोया धन माँगती है और लक्ष्मी नये रत्न आदि देती है। पर आगे चल कर इसके विरुद्ध कथन मिलता है, क्योंकि रत्नसेन और पद्मावती दोनों ही धन के नष्ट हो जाने की बात करते और सन्तोष दिखाते हैं।

पंडित शुक्ल संपादित ग्रंथावली के तीन प्रक्षिप्त पद इस प्रकार हैं :—

जिनि काहू कह होइ बिछोऊ। जस वै मिले मिलै सब कोऊ।।
पद्मावति जो पावा पीऊ। जनु भरजियहि परा तन जीऊ।।
कै नेवछावरि तन मन वारी। पायन्ह परी घालि गिउ नारी।।
नव अवतार दीन्ह विधि आजू। रही छार भइ मानुष साजू।।
राजा रोव घालि गिउ पागा। पदमावति के पायन्ह लागा।।
तन जिउ महँ विधि कीन्ह बिछोऊ। अस न करै तौ चीन्ह न कोऊ।।
सोई मारि छार कै मेंटा। सोइ जियाइ करावै भेंटा।।
मुहमद मीत जो मन बसै, विधि मिलाव ओहि आनि।
संपति बिपति पुरुष कहँ, काह लाभ का हानि।।
लक्ष्मी सों पदमावति कहा। तुम्ह प्रसाद पायउँ जो चहा।।
जौ सब खोइ जाहि हम दोऊ। जो देखै भल कहै न कोऊ।।
जे सब कुँवर आए हम साथी। औ जत हस्ति घोड़ औ आथी।।
जौ पावैं, सुख जीवन भोगू। नाहिं मरन, भरन दुख रोगू।।
तब लछिमी गइ पिता के ठाऊँ। जो एहि कर सब बूड़ सो पाऊँ।।
तब सो जरी अमृत लेइ आवा। जो मरे हुत तिन्ह छिरिकि जियावा।।
एक एक कै दीन्ह सो आनी। भा सँतोष मन राजा रानी।।
आइ मिले सब साथी, हिलि मिलि करहिं अनन्द।
भई प्राप्त सुख संपति, गएउ छूटि दुख दंद।।
और दीन्ह बहु रतन पखाना। सोन रूप तौ मनहि न आना।।
जो बहु मोल पदारथ नाऊँ। का तिन्ह बरनि कहौं तुम्ह ठाऊँ।।
तिन्ह कर रूप भाव को कहै। एक एक नग चुनि चुनि कै गहै।।
हीर फार बहु मोल जो अहे। तेइ सब नग चुनि चुनि कै गहे।।
जो एक रतन भँजावै कोई। करै सोइ जो मन महँ होई।।

दरब गरब मन गएउ भुलाई। हम सब लच्छ मर्नाहिं नहिं आई॥
लघु दीरघ जो दरब बखाना। जो जेहि चहिय सोइ तेइ माना॥

बड़ औ छोट दोउ सम, स्वामी-काज जो सोइ।
जो चाहिय जेहि काज कहँ, ओहि काज सो होइ॥

शब्दार्थ—घाल गिउ=गर्दन नीचे झुका कर। घालि गिउ पागा=गले में दुपट्टा डाल कर। तन जिउ ……दीन्ह न कोऊ=शरीर और जीव के बीच ईश्वर ने वियोग दिया, यदि वह ऐसा न करे तो कोई उसे न पहचाने। आथी=पूँजी। पखाना=पत्थर, रत्न। तुम्ह ठाऊँ=तुम्हारे निकट। हीर फार=हीरे के टुकड़े।

[४१९]

ओहि दिन आइ रहे पहुनाई। पुनि भै बिदा समुद सैं जाई॥
लखमिनि पदुमावति सैं भेंटी। जो साखा उपनी सो मेंटी॥
समदन दीन्ह पान कर बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥
और पाँच नग दीन्ह बिसेखे। स्रवन जो सुने, नैन नहिं देखे॥
एक जो अंब्रित, दोसर हंसू। औ सोनहा पंछी कर बंसू॥
और दीन्ह सावक सादूरू। दीन्ह परस, नग कंचन मूरू॥
तरुन तुरंगम दुऔ चढ़ाए। जल मानुस अगुवा सँग लाए॥

भेंटि घाट समदन कै, फिरे नाइ कै माथ।
जल मानुष तब बहुरे, जब आए जग्रनाथ॥४१९॥

शब्दार्थ—पहुनाई=मेहमानी। उपनी=उत्पन्न हुई। समदन=मिलनी या भेंट में दिया हुआ द्रव्य। सोनहा=सुनहले पंखों वाला पक्षी। सादूरू=शार्दूल। सावक=बच्चा। परस=पारस पत्थर। कंचन मूरू=सोने का मूल, सोना बनाने वाला। तरुन-तुरंगम=नये घोड़े।

अर्थ—उस दिन ये लोग मेहमानी के लिए ठहरे। फिर जाकर समुद्र से विदा माँगी। लक्ष्मी ने पद्मावती को भेंटा, जो प्रीति की शाखा उसमें उत्पन्न हुई थी उसे बिदाई के समय रोका। प्रसन्नता से इसने पद्मावती को पान का बीड़ा और रत्न जवाहरात, हीरा, और पाँच विशेष प्रकार के ऐसे रत्न दिए जिन्हें किसी ने न कभी देख रखा था और न सुना ही था। उनमें एक तो अमृत, दूसरा हंस, तीसरे सोने का पक्षी, फिर सिंह का बच्चा, पारस पत्थर जो कि सोना बनाने का मूल है, समुद्र ने उन दोनों को जवान घोड़ों पर चढ़ाया और साथ में मार्ग-दर्शक जल-मानस कर दिये।

समुद्र तो घाट पर ही भेंट कर सिर नवा कर लौट गया और जल-मानुस लोग तब लौटे जब ये लोग जगन्नाथपुरी में पहुँच गए।

[४२०]

जगरनाथ कौं देखेन्हि आई। भोजन रींधा हाट बिकाई।।
राजै पदुमावति सौं कहा। सांठ नाठि, किछु गांठि न रहा।।
सांठ होइ जासौं सो बोला। निसंठा पुरुख पात पर डोला।।
सांठें रांक चले मौराई। निसंठ राउ सब कह बौराई।।
सांठें ओद गरब तन फूला। निसंठें बोद, बुद्धि बल भूला।।
सांठें जाग नींद निसि जाई। निसंठें खिन आवै औंघाई।।
सांठें दिस्टि, जोति होइ नैना। निसंठें हियें, न आव मुख बैना।।
सांठें रहै सुधीनता, निसंठें आगरि भूख।
बिनु गथ पुरुख पतंग ज्यों, ठाठ ठाढ़ पै सूख।।४२०।।

शब्दार्थ—रींधा=पकाया हुआ। सांठि=पूंजी। नाठि=नष्ट हुई। रांक=रंक, भिखारी। मौराई=मुकुट धारण कर। निसंठ=बिना धन के। ओद=भीगा हुआ। बोद=बुद्धू। औंघाई=नींद। गथ=पूंजी। पतंग=एक प्रकार का वृक्ष जिसमें लम्बी-लम्बी पत्तियां होती हैं, पत्तियां झड़ जाने पर वह ठूंठ-सा हो जाता है और अशोभन लगता है।

अर्थ—ये लोग जगन्नाथ जी के दर्शन को गए, वहाँ देखा कि पकाया हुआ भोजन (भात) बाजार में बिकता है। राजा ने पद्मावती से कहा कि हमारी गाँठ में तो कुछ नहीं है, क्योंकि सारी पूंजी तो समुद्र में ही नष्ट हो गयी। जिसके पास पूंजी होती है वही बोलता है। बिना पूंजी वाला पुरुष तो पत्ते पर बैठे हुए की तरह तनिक-सी वायु से ही डोलता है। धन होने पर भिखारी भी मुकुट धारण करके चलता है, बिना पूंजी के राजा को भी लोग पागल कहते हैं। पूंजी से तरी रहती है और आदमी घमंड में फूला रहता है, बिना पूंजी के मनुष्य बुद्धू बन जाता है। उसकी बुद्धि और बल सब भूल जाते हैं। धन से आदमी रात भर जागता रहता है, बिना धन के मनुष्य को क्षण भर में नींद आने लगती है। धन से आंखों में ज्योति आ जाती है और बिना पूंजी के मुख से वचन नहीं निकलते। पूंजी के होने पर आदमी में स्वतन्त्रता रहती है, बिना पूंजी के भूख ही लगती रहती है। बिना पूंजी के मनुष्य पतंग वृक्ष के समान होता है जिसका ठूंठ तो खड़ा हो पर पत्तियां सूख कर गिर गई हों।

[४२१]

पदुमावति बोली सुनु राजा। जीउ गएं धन कवने काजा।।
अहा दरब तब लीन्ह न गांठी। पुनि कत मिलै लच्छि जौं नाठी।।
मुकुतें सांखर गांठि जो करई। संकरें परे सोइ उपकरई।।
जौं तन जाइ जहं ताका। पंग पहार होइ जौं थाका।।

लखिमिनि अहा दीन्ह मोहि बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा ।।
काढ़ि एक नग बेगि भँजावा। बहुरि लच्छि, फेरि दिनु पावा ।।
दरब भरोस करै जनि कोई। दरब सोइ जो गाँठी होई ।।

जोरि कटक पुनि राजा, घर कहँ कीन्ह पयान ।
देवसहि भान अलोपा, बासुकि इन्द्र सँकान ।।४२१।।

शब्दार्थ—अहा=था। नाठी=नष्ट हुई। मुकुते=छूटने पर, चलते समय। साँबर=संबल, रास्ते की सामग्री। उपकरई=लाभदायक होता है। पैंग=कदम। काढ़ि=निकाल कर। भँजावा=तुड़ाया। बहुरि=लौटी। सँकान=डरे।

अर्थ—पद्मावती ने कहा कि हे राजा ! सुनो, यदि जीव ही चला जाता तो धन किस काम आता। जब धन था तब यदि गांठ में न बाँधा तो लक्ष्मी के नष्ट होने पर वह कहाँ मिल सकता है। चलते समय जो संबल हम अपनी गाँठ में रख लेते हैं, संकट पड़ने पर उसी से अपनी भलाई होती है। जब तक पंख होता है तभी तक जाया जा सकता है—अर्थात् शक्ति भर ही आदमी जा सकता है, पर जब वह थक जाता है तो एक कदम भी पहाड़ मालूम होता है। लक्ष्मी ने चलते समय मुझे पान का बीड़ा दिया था और उसके साथ ही रत्न, जवाहरात और हीरे दिये थे। उसने तुरन्त ही एक रत्न निकाल कर उसे तुड़ा लिया, फिर तो जैसे लक्ष्मी लौट आई, अच्छे दिन आ गए। कवि कहता है कि आदमी को धन का भरोसा न करना चाहिए। धन तो वही है जो मनुष्य की गाँठ में हो।

फिर राजा ने अपना दल साज कर घर को प्रस्थान किया। दिन ही में सूर्य लुप्त हो गया, अतः शेषनाग और इन्द्र डर गए।

———

३५. चित्तौड़-आगमन-खण्ड

[४२२]

चितउर आई नियर भा राजा। बहुरा जीति इंद्र अस गाजा।
बाजन बाजैं, होइ अँदोरा। आवहिं हस्ति बहल औ घोरा।।
पदुमावति चंडोल बईठी। पुनि गै उलटि सरग सौं डीठी।।
यह मन अँठा रहै न सूधा। बिपति न सँवरै संपतिहि लुबुधा।।
सहस बरिख दुख जरै जो कोई। घरी एक सुख बिसरै सोई।।
जोगिन्ह इहै जानि मन मारा। तउव न मुवा यह मन औ पारा।।
रहै न बांधा बांधा जेही। तेलिया मुवा डारु पुनि तेही।।
मुहमद यह मन अमर है, कहु किमि मारा जाइ।
ग्यान सिला घँसै जौं सै, घँसतहि घँसत बिलाइ।।४२२।।

शब्दार्थ—बहुरा = लौटा। अँदोरा = कोलाहल। बहल = रथ। चंडोल = पालकी। अँठा = अकड़ा हुआ, घमंड में। सँवरै = स्मरण करे। लुबुधा = लुब्ध, लोभी। बरिख = वर्ष। तउव = तब भी। तेलिया = एक प्रकार का कन्द जो पारा बांधने के काम आता है; (साधना के पक्ष में) तीन दिन का उपवास। घँसै = घिसै।

अर्थ—राजा चित्तौड़ के निकट आया। वह जीत करके लौटा है। अतः इन्द्र के समान गरज उठा, बाजे बजने लगे, कोलाहल हो उठा। हाथी, रथ और घोड़े आ रहे हैं। पद्मावती पालकी पर बैठी है। फिर स्वर्ग से दृष्टि उलट गयी—अर्थात् राजा का मन अभी तक तो विपत्तियों के कारण ईश्वर की ओर था पर अब अपनी राजधानी में विजय के साथ प्रवेश करते हुए उसकी दृष्टि ईश्वर पर से हट गयी, उसमें अहं भावना का उदय हुआ। इस बात पर कवि कहता है कि यह मन तो अहंकारी है, सीधा नहीं रहता। विपत्ति की याद नहीं करता, सम्पति में लिप्त हो जाता है। यदि कोई हजार वर्ष भी दुःख पाये पर एक घड़ी के सुख के बाद ही सब कुछ उसे भूल जाता है। यही सोच कर जोगियों ने मन को मारने का प्रयत्न किया फिर भी यह मन और पारा मारे नहीं जा सके। मन बाँधा नहीं जा सकता, जिससे यह उसके वश में भी नहीं रहता। मन और पारे दोनों के बाँधने को तरीका तेलिया है—तेलिया कंद से पारा और तीन दिन-रात के उपवास से मन बाँधा जाता है, इसलिए उसी में इसे डालो। जायसी कहते हैं कि यह मन तो अमर है, भला इसे किस प्रकार मारा जा सकता है? ज्ञान रूपी शिला पर यदि इसे घिसा जाय तो घिसते-घिसते यह विलीन हो जायगा *

---

* गीता का भी यही मत है—"अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते।"

[४२३]

नागमती कहँ अगम जनावा। गै सो तपनि बरखा रितु आवा॥
अही जो मुई नागिनि जसि तचा। जिउ पाएँ तन महँ भै सचा॥
सब दुख जनु कँचुली गा छूटी। होइ निसरी जनु बीर बहूटी॥
जस भुइ दहि असाढ़ पलुहाई। परहिं बुंद औ सोंध बसाई॥
ओहि भाँति पलुही सुख बारी। उठे करिल नव कोंप सँवारी॥
हुलसी गंग जस बाढ़ँ लेई। जोबन लाग तरंगैं देई॥
काम, धनुक सर दै भै ठाढ़ी। भागेउ बिरह रही जिसु डाढ़ी॥
पूँछहिं सखी सहेली, हिरदै देखि अनंद।
आजु बदन तुव निरमल, कहाँ उवा है चन्द॥४२३॥

शब्दार्थ—अगम=आगम, भविष्य के आसार। जनावा=मालूम हुए। तचा=त्वचा, खाल। सचा=सत्यता, सजीवता। पलुही=पल्लवित हुई। बारी=बाला, वाटिका। करिल=कल्ला, नये पत्ते।

अर्थ—नागमती को सुन्दर भविष्य के आसार मालूम हुए। उसकी गर्मी इस प्रकार शान्त हुई जैसे ग्रीष्म के बाद वर्षा ऋतु आ जाय। उसकी त्वचा साँप की भाँति काली पड़ गयी थी, अब उसमें जैसे जीव पाकर सजीवता आ गयी हो। उसका दुःख इस प्रकार दूर हो गया मानो सर्पिणी के ऊपर से उसकी केंचुली छूट जाय। उसके शरीर पर ऐसी ललायी आ गयी जैसे वर्षा ऋतु में लाल रंग की बीर बहूटियाँ निकलती हैं। जिस प्रकार आषाढ़ के महीने में पानी पड़ने पर हरियाली आ जाती है और भूमि में से सोंधी सुगन्ध सी निकलने लगती है, इसी प्रकार नागमती भी प्रफुल्लित हो गयी। जिस प्रकार नये पौधों में नये पत्ते और कोंपले निकलती हैं, उसी प्रकार नागमती में भी नयी अभिलाषायें उठने लगीं। वह इस प्रकार उल्लसित हुई, जैसे गंगा में बाढ़ आवे, उसका यौवन तरंगें लेने लगा। कामोद्दीपन हुआ—मानो काम-देव धनुष लेकर खड़ा हुआ और जिस विरह से वह जलायी गयी थी वह भाग निकला। उसके हृदय के इस आनन्द को देख कर सखा-सहेलियाँ पूछने लगीं कि आज तो तुम्हारा चेहरा निर्मल है, क्या चन्द्रमा का उदय हुआ है?

[४२४]

अब लगि सखी पवन हा ताता। आजु लाग मोहि सीतल गाता॥
महि हुलसै जस पावस छाहाँ। तस हुलास उपना जिय माहाँ॥
दसौं दाउ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाँउ लै महरा॥
अब जोबन गंगा होई बाढ़ा। औटन घटन मारि सब काढ़ा॥
हरियर सब देखौं संसारू। नए चार जानहुँ अवतारू॥
भागउ बिरह करत जो डाहू। भा मुख चन्द, छूटि गा राहू॥

लहकहि नैन बाँह हिय खिला। को दहुँ हितू आइ चह मिला ॥
कहतहिं बात सखिन्ह सौं, तेतखन आवा भाँट।
राजा आइ नियर भा, मँदिल बिछावहु पाट ॥४२४॥

शब्दार्थ—ताता=गर्म। उपना=उत्पन्न हुआ। दसौं दाउ=काम के दस दाँव-पाँच नखक्षत और पाँच दशन-क्षत‡। महरा=मल्लाहों का सरदार। औटन=ताप, गर्मी। लहकहि=फड़क रही हैं। मंदिल=मंदिर, महल। पाट=सिंहासन।

अर्थ—नागमती ने उत्तर दिया कि हे सखो! अब तक मुझे हवा बड़ी गर्म लगती थी, आज मेरे शरीर में यह ठंडी लगी है। पृथ्वी इस प्रकार प्रसन्न लग रही है जैसे वर्षा आ गयी हो। हमारे हृदय में बड़ा उल्लास उत्पन्न हुआ है। गंगा दशहरा (ज्येष्ठ मास के शुक्ल-पक्ष की दशमी तिथि) के दिन जो काम के दशों दांव चला कर गया था वही मल्लाहों का सरदार आज नाव लेकर अब यौवन गंगा होकर बढ़ रहा है, सारी गर्मी को घटाओं ने मार-मार कर निकाल दिया है। सारा संसार मुझे हरा दिखाई पड़ता है मानो आज नये प्रकार से मेरा जन्म हुआ है। जो विरह मुझे जला रहा था वह भाग गया। अब तो राहु का ग्रह छूट गया और मुख रूपी चन्द्र प्रकाशित हो गया। आँख और बांह फड़क रही हैं, हृदय खिल रहा है, पता नहीं कौन सा प्रिय जन आ कर मिलना चाहता है? नागमती के इस प्रकार की बात के कहते ही तुरन्त भाट आ गया और कहा कि राजा निकट आ गया है, महल में सिंहासन बिछवाओ।

[४२५]

सुनतहि खन राजा कर नाऊँ। भा अनंद सब ठावँहि ठाऊँ ॥
पलटा कै पुरखारथ राजा। जस असाढ़ आवै दर साजा ॥
देखि सो छत्र भई जग छाहाँ। हस्ति मेघ ओनए जग माहाँ ॥
सैन पूरि आए घन घोरा। रहस चाउ बरिसै चहुँ ओरा ॥
धरति सरग अब होइ मेरावा। भरिअहि पोखरि ताल तलावा ॥
लहकि उठा सब भुमिया नामा। ठाँवहि ठाँव दूब अस जामा ॥
दादुर मोर कोकिला बोले। हते अलोप जीभ सब खोले ॥
भै असवार परथमै, मिलै चले सब भाइ।
नदी अठारह गंडा, मिलीं समुँद कहँ जाइ ॥४२५॥

शब्दार्थ—खन=क्षण। दर=दल। ओनए=झुके हुए। सैन=सेना। रहस-

‡ वासुदेव शर्मा जी इसका अर्थ इस प्रकार देते हैं—
महरा=ससुर, जायसी ने सास के लिए महरी का भी प्रयोग पद संख्या ३५८ में किया है। इस प्रकार इसका अर्थ इस प्रकार होगा—वह मेरे ससुर का नाम (चित्रसेन) लेकर लौटा है—भाव यह कि वह बड़ी सेना लेकर लौटा है। (पद्मावत पृ० ४२६)।

अर्थ चमत्कारी है? ऊपर दिया हुआ अर्थ सीधा है—यौवन-गंगा के लिए नाव (जीवन का आधार) ले कर लौटने वाले व्यक्ति के लिए मल्लाह का रूपक ठीक प्रतीत होता है।

चाउ=आनन्द-उत्साह। मेरावा=मेल। पोखरि=छोटे तालाब। भुमिया=भूमि नामधारी सभी तृण-वनस्पतियाँ। हते=थे। अलोप=लुप्त। अठारह गंडा=बहत्तर, अवध की लोक-भाषा में प्रसिद्ध हैं कि समुद्र में अठारह गंडे नदियाँ मिलती हैं।

अर्थ—जिस क्षण लोगों ने राजा का नाम सुना, सभी जगह आनन्द ही आनन्द हो गया। राजा पुरुषार्थ करके लौटा है, आषाढ़ के महीने में जैसे बादलों के दल आते हैं उसी प्रकार वह दल-बल साज कर आ रहा है। उसके राज-छत्र को देख कर संसार में छाया हो गयी, उसके हाथी ऐसे हैं जैसे बादल झुके हुए हों। घनघोर घटा रूपी सेना आ गयी, चारों ओर आनन्द और उत्साह बरसने लगे। अब पृथ्वी और स्वर्ग (आकाश) का मेल होगा। ताल और तालाब आदि सभी भर जायेंगे। पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ लहलहा उठीं, जगह-जगह दूब (हरी घास) जम उठो, मेंढक, मोर और पपीहा बोलने लगे, ये सब छिपे हुए थे, अब सबने जिह्वा खोल दी। आगे से मिलने के लिए सभी भाई लोग घोड़ों पर सवार हो कर चल पड़े, जैसे बहत्तर नदियाँ समुद्र से मिलने जा रही हों।

अलंकार—रूपक, रत्नसेन के प्रत्यागमन की उपमा आषाढ़ मास से दी गई है। रूपक सांगोपांग है।

[४२६]

बाजत गाजत राजा आवा। नगर चहूँ दिसि होय बधावा॥
बिहँस आइ माता कहँ मिला। जनु रामहि भेंटै कौसिला॥
साजे मंदिल बंदनवारा। औ बहु होइ मंगलाचारा॥
आवा पदुमावति क बेवानू। नागमती धिकि उठा सो भानू॥
जनहुँ छाँह महँ धूप देखाई। तैस झार लागी जौं आई॥
सहि नहिं जाइ सौति कै झारा। दोसरे मंदिल दीन्ह उतारा॥
भै अहान चहु खंड बखानी। रतनसेनि पदुमावति आनी॥
पुहुप सुगन्ध संसार मनि, रूप बखानि न जाइ।
हेम सेत औ गौर गाजना, जगत बात फिरि आइ॥ ४२६॥

शब्दार्थ—मंदिल=मंदिर, घर। बेवानू=विमान। धिकि उठा=गर्म हो गया। भानू=सूर्य (क्रोध से)। तैस=वैसी। झार=लपट। अहान=शोर। हेम-सेत=हिमालय से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वर तक। गौर गाजना=गौड़ बंगाल से लेकर गजनी तक।

अर्थ—बाजे-गाजे के साथ राजा आया। शहर में चारों ओर आनन्द बधाइयाँ होने लगीं। प्रसन्नतापूर्वक राजा अपनी माता से इस प्रकार मिला जैसे श्रीरामचन्द्र जी कौशल्या माता से मिले थे। महल में बन्दनवार सज उठे। अनेक प्रकार के मंगलाचार होने लगे। पद्मावती का भी विमान आया। उसे देख कर नागमती का हृदय इस प्रकार जल उठा जैसे सूर्य। मानो छाया में धूप दिखाई पड़ गयी, उसी प्रकार ईर्ष्या की लपटें उसे आ लगीं।

सौत की ईर्ष्या सही नहीं जाती, उसको दूसरे महल पर उतारा गया। चारों ओर यही शोर हो गया कि रत्नसेन पद्मावती रानी ले आया है। फूल की सुगन्ध और संसार में मणि के समान उसका रूप बखाना नहीं जा सकता। हिमालय से लेकर सेतुबंध रामेश्वर तक और गौड़ (बंगाल) से लेकर गजनी तक उसकी ख्याति फैल गयी थी।

इस छंद के पश्चात् शुक्ल जी की प्रति में एक छन्द है जिसे डा० माताप्रसाद जी प्रक्षिप्त मानते हैं। कथा-प्रसंग और शैली की दृष्टि से पद अप्रासंगिक नहीं है। पद निम्नलिखित है:—

बैठ सिंघासन लोग जोहारा। निधनी निरगुन दरब बोहारा॥
अगनित दान नेछावरि कीन्हा। मँगतन्ह दान बहुत कै दीन्हा॥
लेइ कै हस्ति महाउत मिले। तुलसी लेइ उपरोहित चले॥
बेटा भाइ कुँवर जत आवहिं। हँसि-हँसि राजा कंठ लगावहिं॥
नेगी गये मिले अरकाना। पँवरिहिं बाजे घहरि निसाना॥
मिले कुंवर, कापर पहिराए। देइ दरब तिन्ह घरहिं पठाए॥
सब कै दसा फिरी पुनि दुनी। दान डाँग सब ही जग सुनी॥
बाजैं पाँच सबद निति, सिद्धि बखानहिं भाट।
छतिस कूरि खट दरसन, आइ जुरैं ओहि घाट॥

अर्थ—राजा सिंहासन पर बैठा, लोग राजा के दर्शन को आने लगे। निर्धन और निर्गुणी लोगों को बहुत सा दान दिया गया। अगणित दान निछावर किया गया, भिखारियों को भी बहुत दान मिला। महाजन हाथी लेकर राजा से मिले और पुरोहित लोग तुलसीदल लेकर राजा के पास आये। पुत्र, भाई, राजकुमार जितने लोग राजा से मिलने आते थे राजा हँस-हँस कर सबको गले लगाता था। जब दान लेने वाले और निछावर करने वाले चले गये तो उमराव और सरदार लोग आने लगे। नगर में खूब डंके बज रहे थे। राजकुमार लोग मिले तो उन्हें नये वस्त्र पहनाये गए. सरदारों को धन देकर घर लौटाया गया। सब लोगों की दशा लौट आयी, उसके दान के डंके सारे संसार ने सुने। नित्य पाँच नौबतें बजती थीं और भाट लोग विरुदावली वर्णन करते थे, छत्तीसों कुलों के क्षत्रिय और छहों दर्शनों के जानने वाले विद्वान् आकर राजा के दरबार में इकट्ठे हो गये।

[४२७]

सब दिन बाजा दान दवाँयाँ। भै निसि नागमती पहँ आवा॥
नागमती मुख फेरि बईठी। सौंह न करै पुरुख सौं डीठी॥
ग्रीखम जरत छाँड़ि जो जाई। पावस आव कवन मुख लाई॥
जबहिं जरै परबत बन लागे। औ तेहि झार पंखि उड़ि भागे॥
अब साखा देखिअ औ छाहाँ। कवने रहस पसारिअ बाहाँ॥

कोउ नहिं थिरकि बैठ तेहि डारा । कोइ नहिं करै केलि कुरुआरा ॥
तूं जोगी होइगा बैरागी । हौं जरि भई छार तोहि लागी ॥
काह हँससि तूं मोसौं, किए जो और सौं नेहु ।
तोहि मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेंहु ॥ ४२७ ॥

शब्दार्थ—दबाँबाँ=दमामा, नगाड़ा । सौंह=सामने । डीठी=दृष्टि । झार=लपट । कुरुआरा=कलरव ।

अर्थ—सारे दिन तो दान का नगाड़ा बजा, रात होने पर राजा नागमती के पास आया । नागमती मुख फेर कर बैठ गयी, राजा से सामने दृष्टि न मिलाती थी । नागमती कहने लगी—गर्मी में जलते हुए जो छोड़ गया वह अब कौन सा मुंह लेकर वर्षा में आता है ? तब तो पर्वत और वन सब जलने लगे थे और उसकी लपट से वन के सब पक्षी उड़ भगे थे । अब वर्षा के आने पर डाली और छाया देख रहे हो तो किस आनन्द के लिए बाँह फैला रहे हो ? अर्थात् मेरे दुःख के दिनों में तू दूर चला गया, अब सुख के दिनों में फिर मिलना चाहता है । अब इस डाल पर कोई पक्षी नहीं बैठ रहा है और न कोई पक्षी कलरव ही कर रहा है । तुम तो जोगी बैरागी हो गये थे और मैं जल गयी थी, मेरी ही राख तो तुम्हारे अंग में लगी थी । अब तुम मुझसे क्यों हँस रहे हो, तुमने तो दूसरी स्त्री से प्रेम कर लिया है । तुम्हारे मुख पर हंसी की बिजली चमक रही है और मेरे मुख पर आँसुओं के मेंह बरस रहे हैं ।

[४२८]

नागमती तूं पहिलि बियाही । कान्ह पिरीति डही जसि राही ॥
बहुते दिनन्ह आवै जौं पीऊ । धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ ॥
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ । सोउ मिलहिं मन सँवरि बिछोऊ ॥
भलेहि सेत गंगा जल डीठा । जउँन जो स्याम, नीर अति मीठा ॥
काह भएउ तन दिन दस डहा । जौं बरखा सिर ऊपर अहा ॥
कोउ केहि पास आस कै हेरा । धनि वह दरस निरास न फेरा ॥
कंठ लाइ कै नारि मनाई । जरी जो बेलि सींचि पलुहाई ॥
फरे सहस साखा होइ, दारिवँ दाख जँभीर ।
सबै पंखि मिलि आइ जोहारे, लौटि उहै भै भीर ॥ ४२८ ॥

शब्दार्थ—धनि=स्त्री । पोढ़=कठोर, सख्त । पाहन-लोह=लोहा खान से निकलता है अतः आरम्भ में दोनों एक थे । बाद में दोनों अलग हो जाते हैं किन्तु भवन-निर्माण में दोनों फिर एक हो जाते हैं । दिन दस डहा=वर्षा के पूर्व १५ दिन का मृगशिरा नक्षत्र खूब तपता है । मृगशिरा को 'मृग-डाह' भी कहते हैं । मृगशिरा के तपने के फलस्वरूप अच्छी वर्षा

भी होती है। हेरा=देखता है। दारिवँ, दाख, जभीर=अनार, द्राक्षा और नारंगी के उपमेय दांत, अधर और उरोज।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे नागमती ! तू मेरी पहली ब्याही रानी है। कृष्ण की प्रीति भी दुःखदायी थी। बहुत दिनों पर जब पति आता है तब यदि पत्नी उससे न मिले तो समझना चाहिए कि स्त्री का हृदय पत्थर है। पत्थर और लोहा दोनों ही संसार में बड़े कठोर होते हैं, पर ये भी वियोग को स्मरण कर मिल जाते हैं। गंगा का जल भले ही देखने में सफेद हो, पर वह काले यमुना जल से मिल कर मीठा हो जाता है। क्या हुआ जो दस दिन (थोड़े दिन) दुःख सहना पड़ा जबकि अब वर्षा (सुख) सिर पर है। जब कोई किसी के पास आशा लगा कर जाता है तो स्त्री उसे निराश करके नहीं लौटाती। ऐसा कहने के बाद राजा ने नागमती को गले से लगा लिया और खूब मनाया और जो लता जल गयी थी उसे सींच कर पल्लवित किया और उस लता में हजार शाखायें निकलीं और दाड़िम, दाख और नींबू फले। सभी पक्षी फिर आकर मिले और लौट-लौट कर उन सब की भीड़ हो गयी। अर्थात् नागमती की जवानी की जो लता मुरझा गयी थी, अब फिर उसमें पूर्वस्थिति आ गयी, सब प्रकार के आमोद-प्रमोद और उत्साह के भाव जग उठे।

[४२९]

भौं भा मेरु भएउ रंग राता। नागमती हँसि पूँछी बाता॥
कहहु कंत जो बिदेश लोभाने। कसि धनि मिली भोग कस माने॥
जौं पदमावति है सुठि लोनी। मोरे रूप कि सरवरि होनी॥
जहां राधिका अछरिन्ह माहां। चंद्रावलि सरि पूज न छाहां॥
भँवर पुरुख अस रहै न राखा। तजै दाख, महुआ रस चाखा॥
तजि नागेसरि फूल सोहावा। कँवल बिसैंधे सौं मन लावा॥
जौं नहवाइ भरिअ अरगजा। तबहु गयंद धूरि नहिं तजा॥
काह कहौं हौं तोसौं, किछौ न तोरे भाउ।
इहाँ बात मुख मोसौं, उहाँ जीउ ओहि ठाँउ॥४२९॥

शब्दार्थ—मेरु=मिलाप। लोनी=सुन्दरी। सरवरि=बराबर। बिसैंधे=मछली की सी गंध वाला, इसका दूसरा अर्थ बिस-गंध या कमल भी है। जायसी ने चतुराई से दोनों अर्थों का समावेश किया है।

अर्थ—जब मिलाप हुआ और प्रेम का रंग चढ़ गया तब नागमती ने हँस कर बात पूछी कि हे पति ! बतलाओ कि तुम तो विदेश में अनुरक्त हो गए, तुम्हें कैसी स्त्री मिली और तुमने उसके साथ कैसे सुख भोगे ? यदि पद्मावती सुन्दरी है तो क्या वह मेरे सौन्दर्य की समानता कर सकती है ? जहां अप्सराओं के बीच रहने वाली राधिका है वहां क्या चन्द्रावली उसकी बराबरी कर सकती है ? पर पुरुष तो भौंरे के समान एक जगह रखा

नहीं जा सकता, वह तो दाख को छोड़ कर महुआ का रस लेने दौड़ जाता है। तुमने नागकेसर (नागमती)के सुन्दर फूल को छोड़ कर कमल (पद्मावती)से मन लगाया है जिसमें मछल की गंध आती है। हाथी को चाहे स्नान करा कर उस पर चन्दन का लेप ही क्यों न किया जाय पर वह तो धूल को नहीं छोड़ सकता। भाव यह है कि पद्मावती को कुछ भी किया जाय वह हमारे समान नहीं हो सकती। मैं तुमसे क्या कहूं, तुम्हारे हृदय में तो कुछ भी प्रेम-भाव नहीं है। यहाँ पर तुम मुझ से बात कर रहे हो पर तुम्हारा जीव तो पद्मावती पर लगा है।

[४३०]

कही दुख कथा रैनि बिहानी। भार भएउ जहँ पदुमिनि रानी॥
भान देख ससि बदन मलीनी। कँवल नैन राते तन खीनी॥
रैनि नखत गनि कीन्हि बिहानू। बिमल भई जस देखे भानू॥
सुरुज हँसा ससि रोई डफारा। टूटि आँसु नखतन्ह कै मारा॥
रहै न राखे होइ निसाँसी। तहँवहि जाहि जहाँ निसि बासी॥
हौं कै नेहु आनि कुँव मेली। सींचै लाग झुरानी बेली॥
भए वै नैन रहँट की घरी। भरीं ते ढारों, छूछीं भरी॥
सुभर सरोवर हंस जल, घटतहि गएउ बिछोइ।
कँवल प्रीति नहि परिहरै, सूखि पंक बरु होइ॥ ४३०॥

शब्दार्थ—डफारा=ढाढ़ मार कर, फूट फूट कर। मारा=माला। निसाँसी=बिना साँस के। जाहि=जाओ। तहँवहि=वहीं। हौं=मुझे। कै=करके। आनि=लाकर। कुँव मेली=कुएं में डाल दिया। झुरानी=सूखी हुई। रहँट की घरी=रहट का घड़ा। बरु=बल्कि, चाहे।

अर्थ—रानी नागमती ने अपनी दुःख कथायें कह-कह कर रात बिता दी। प्रातःकाल हुआ तो राजा पद्मावती रानी के पास आया। सूर्य (रत्नसेन) ने देखा कि चन्द्रमा (पद्मावती) का मुख मलीन है, कमल के समान आँखें लाल हैं और शरीर क्षीण है। रात के तारे गिन-गिन कर उसने सबेरा किया था, अब सूर्य को देखकर उस पर निर्मलता आयी। रत्नसेन (सूर्य) हंस पड़ा, पद्मावती (शशी) फूट-फूट कर रो पड़ी, उसके आंसुओं की तारों की माला सी बन गई। उसकी सांसें रोके से नहीं रुकतीं। मालूम होता है सारी सांसें निकल जायेंगी उसने कहा कि वहीं जाओ जहां रात भर रहे। मुझे तो प्रेम करके लाकर कुएँ में डाल दिया और स्वयं सूखी लता (नागमती) को सींचने लगे। मेरी ये आंखें तो रहट के घड़े के समान भरते ही ढल जाती हैं और फिर आंसू से भर जाती हैं—अर्थात् सारी रात आंसू ही चलते रहे। भरे हुए तालाब का जल जब घट जाता है, तब हंस तो उसे छोड़कर कहीं और चला जाता है, पर कमल प्रीति नहीं छोड़ता, चाहे वह सूख कर कीचड़ में ही मिल जाय। भाव

यह है कि तुम तो भले ही प्रीति छोड़ दो, पर हम तो छोड़ नहीं सकते।

[४३१]

पदमावति तूँ जीव पराना। जिय तें जगत पियार न आना ॥
तूँ जस कँवल बसी हिय माहाँ। हौं होइ अलि बेधा तोहि पाहाँ ॥
मालति करी भँवर जौं पावा। सो तजि आन फूल कित धावा ॥
अनु हौं सिंघल कै पदुमिनी। सरि न पूज जंबू नागिनी ॥
हौं सुगंध निरमलि उजियारी। वह बिख भरी डरावनि कारी ॥
मोरें बास भँवर सँग लागहिं। ओहि देखें मानुस डरि भागहिं ॥
हौं पूरुख कै चितवौं डीठी। जेहि के जियँ असि अहौं पईठी ॥
ऊँचे ठांव जो बैठे, करै न नीचेहँ संग।
जहाँ सो नागिनि हिरगै, काह कहिअ सो अंग ॥ ४३१ ॥

शब्दार्थ—पराना=प्राण। सरि=बराबर। पूज=हो सकती। नागिनी=नागमती। हिरगै=निकट आवे।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती! तू तो मेरा जीव और प्राण है, संसार में प्राण से अधिक प्यारा तो कुछ नहीं होता। कमल के समान तू जैसे मेरे हृदय में बसी है वैसे ही मैं भी भौंरा होकर तेरे प्रेम में उलझा हुआ हूं। यदि भौंरा मालती की कली को पायेगा तो क्या वह और फूलों की ओर कभी दौड़ेगा? फिर पद्मावती बोली कि मैं तो सिंहल द्वीप की पद्मिनी हूं, जम्बू द्वीप की नागिनी (नागमती) कभी भी मेरी बराबरी में पूरी नहीं उतर सकती। मैं तो सुगन्ध से निर्मल और प्रकाशवती हूँ और वह, नागमती तो विष से भरी हुई और काली है। मेरी सुगन्ध के साथ भौंरा लग जाता है उसे देख कर तो मनुष्य डर से भाग जाता है। मैं तो जिस पुरुष की ओर दृष्टि कर के देख देती हूं तो उसके हृदय में प्रवेश कर जाती हूं। जो व्यक्ति ऊँचे स्थान पर बैठता है वह फिर नीच का साथ नहीं करता। भला जहाँ नागिनी निकट आवेगी वहाँ अंगों की क्या दशा होगी :

[४३२]

पलुही नागमती कै बारी। सोन फूल फूली फुलवारी ॥
जावंत पँखि अहे सब डहे। ते बहुरे बोलत गहगहे ॥
सारो सुवा महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला ॥
हारिल सबद, महोख सो आवा। काग कोराहर करहिं सोहावा ॥
भोग बेरास कीन्ह अब फेरा। बासहिं, रहसहिं, करहिं बसेरा ॥
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। निफल न जाइ काहु कै सेवा ॥
होइ उँजियार बैठि जस तपी। खूसट मुँह न देखावहिं छपी ॥

नागमती सब साथ सहेलीं, अपनी बारी मांह ।
फूल चुनहिं फर चूरहिं, रहस कोड सुख छांह ॥४३२॥

शब्दार्थ—पलुही=पल्लवित हुई। बारी=वाटिका, बाला। जावंत=जितने, सभी। गहगहे=प्रसन्नतापूर्वक। रहसत=नाचता हुआ। बेरास=विलास। खूसट=उल्लू।

अर्थ—नागमती की वाटिका पल्लवित हो उठी, सुनहले फूलों से फुलवारी फूल उठी। जितने पक्षी जल चुके थे, वे सब प्रसन्नतापूर्वक वाटिका में लौट आये। मैना, तोता, महरि, कोयल, पपीहा सभी नाचते हुए आ गये। हारिल ने शब्द किया, महोख आ गया, कौआ कोलाहल करता हुआ शोभित हुआ। अब भोग-विलास ने फिर फेरा किया है, सुगन्ध उड़ती है, आनन्द हो रहे हैं, सभी पक्षी बसेरा लेते हैं। पंडुक, मोर कबूतर नाचते हैं। सेवा कभी भी निष्फल नहीं जाती। प्रातःकाल होने पर कान्तियुक्त वह चमकती हुई बैठी है, उसे देखकर उल्लू मुँह नहीं दिखाता, छिप गया। नागमती अपनी सहेलियों के साथ फुलवाड़ी में गयी, सब फूल चुनती हैं, फल तोड़ती हैं, नाच और खेल करती हैं।

इस पद का दूसरा अर्थ भी है। श्लेष-प्रिय जायसी ने अन्तिम पद में नागमती की प्रशंसा नहीं की, वरन् पद्मावती के द्वारा उसकी निन्दा करवाई है।

शब्दार्थ—पलुही=पलही, पाले से मारी हुई। सोनफूल=सो न फूल, वह नहीं फूली। फूली फुलवारी=फ़ूल वाली, घमंड से फूल गई है। डहे=जले। बहुरे=ब रोहेल हैं। गहगहे=गह (बंधन) गहे (पकड़े गए), बंधन में बंधे। सारौ=मारना। महरि=ग्वलिनि चिड़िया। कोकिला=को किल, किसने कील दिया (मुँह बन्द कर दिया)। रहसत=रह+सत=सत का रहना। पपीहा=पपहा, घुन। हारिल सबद=सब देकर हार गयी। महोख=सं० महोक्ष, सांड। सो आवा=सोआवा, सुलाती है। कौआ=कौआ जैसी चालाक। कोराहर=कोरा+हर=गोद में ले जाती है। सोहावा=सो+हावा=वह हाव करती है। भोग बेरास=फारसी लिपि में भोगि वेरासि=भोगी-विलासी, जार। नाचहिं=ना+चहिं=नहीं चाहती। पंडुक=फ़ाख्ता। निफल न जाइ काहु कै सेवा=कोई भी उसकी सेवा करे वह निष्फल नहीं जाती, उसी से फलवती या हरी हो जाती है, वह बगीची बिना फल की है, किसी के काम नहीं आती। उंजियार—फारसी लिपि में अनजियार=अन्य जी की, अनमनी। तपी=तपी हुई, जली हुई। नागमती=नाग+मती=नागिनी मर गयी। फूल चुनहिं=दाह-क्रिया के बाद तीसरे दिन अस्थि बीनने को फूल चुनना कहते हैं। फर चूरहिं=मृतक के अस्थि-प्रवाह के साथ नारियल तोड़ कर डाल देते हैं। रहस=रह+स=वह (आनन्द-सुख) रह गया।

अर्थ—पद्मावती कहती है कि नागमती की वाटिका पाले से मारी गयी, उसकी वाटिका तो नहीं फूली, पर वह गर्व से फूल गयी । उसमें जितने पक्षी भी जल गए, वे सब बोल रहे हैं जैसे बंधन में बंधे हों। किसने तोते को मार डाला और ग्वालिन को कील दिया ? उसका सत अब नहीं रहा, उसमें पपीहा (घुन) लग गया है। सब कुछ देकर भी वह हार गयी। अब वह किसी सांड को पास सुलाती है। कौआ जैसी चालाक है और गोद में सुलाती है, वह हाव (शृंगार चेष्टा) करती है। भोगी-विलासी उसके यहां चक्कर लगाते हैं। वे उसके साथ रहसते और क्रीड़ा करते हैं। फाख्ता जैसी नागमती को मोर जैसा पक्षी रत्नसेन नहीं चाहिए। अब वह किसी से भी सेवित होकर जल जाती है। वह अनमनी होकर जली बैठी है और अपना खूसट मुंह नहीं दिखाती।

वह नागिन मर गयी है और उसकी सहेलियाँ उसकी बगीची में ही उसका फूल (अस्थि) चुन रही हैं और नारियल फोड़ती हैं। उसके सभी सुख और खेल समाप्त हो गए।

३६. नागमती-पद्मावती-विवाद-खण्ड

[४३३]

जाही जूही तेहि फुलवारी। देखि रहस सहि सकी न बारी॥
दूतिन्ह बात न हिएँ समानी। पदुमावति सौं कहा सो आनी॥
नागमती फुलवारी बारी। भँवर मिला रस करी सँवारी॥
सखी साथ सब रहसहिं कूदहिं। औ सिंगार हार जनु गूंदहिं॥
तहँ जो बिकावरि तुम्ह सो लरना। बकुचुन कहौं लहौं जस करना॥
नागमती नागेसरि रानी। कँवल न आछै अपनी बानी॥
जस सेवती गुलाल चँबेली। तैसि एक जनि उहौ अकेली॥
अति जो सुदरसन कूजा, तब सत बरगहि जोग।
मिला भँवर नागेसरि सेंती, दैय दीन्ह सुख भोग॥

शब्दार्थ—रहस=रास, विनोद। बिकावरि=गुल बकावली। बकुचुन=एक फूल। करना=एक फूल। नागेसरि=नाग केसर। सुदरसन=सुदर्शन फूल। कूजा=एक फूल। सतबरग=सतवर्ग फूल। सेंती=से। दैय=ईश्वर।

अर्थ—नागमती की फुलवाड़ी में जाही, जूही आदि फूल खिल उठे। सखियों के खेल आदि को देखकर वह भी अपने को न रोक सकी, उन्हीं के साथ मग्न हो गयी। दूतियों के हृदय में यह बात ठहर न सकी, उन्होंने आकर पद्मावती से कहा कि नागमती की फुलवाड़ी में भौंरा पहुँचा है और रस की कली सुशोभित है अर्थात् नागमती को रत्नसेन का संयोग प्राप्त है और वह सौभाग्य-सुख का भोग कर रही है। सभी सखियाँ नाच-कूद कर रही हैं।

और हार सिंगार पुष्पों का हार बना रही हैं। वहाँ जो बकावली का फूल है तुम्हारे फूल के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। करना फूलों के बकुचे खोजती हूँ तो वहाँ मिल जाते हैं। नागमती तो नागकेसर के समान है। इन सबके कारण कमल अपने स्वरूप में नहीं है अर्थात् नागमती आदि के सुख-सौन्दर्य के आगे पद्मावती अपने स्वरूप को भूली हुई है। सेवती, गुलाव और चमेली आदि जैसी वहां हैं, वैसी वाटिका वहाँ वह अकेली ही है। सुदर्शन, कूजा और सतवर्ग के सम्पर्क में भौंरा (रत्नसेन) नागकेसर (नागमती) से मिला है, परमेश्वर ने इस समय उसे पुनः सुख-भोग दे रखा है।

इस खण्ड के पद्यों में भी जायसी ने दोहरे अर्थ देने का प्रयत्न किया है। सौतिया डाह के कारण नागमती और पद्मावती दोनों ही एक ही शब्दावली में दो अर्थ रखती हैं—सीधे देखने में अर्थ सीधे हैं पर वास्तव में उनमें निन्दा और कटुता भरी होती है। पद का असली निन्दापरक अर्थ इस प्रकार होगा :—

शब्दार्थ—जाही=फारसी-जगह, जूही=जोही=देखी अर्थात् उस स्थान को जाकर देखा। फुलवारी=पुष्पवती (रजोधर्म से युक्त)। भँवर=रत्नसेन। करी सवारी=छेड़छाड़ करने लगा है। रहसहिं=आनन्द मनाती हैं। सिंगार हार=शृंगार का मर्दन करने वाला, कामी उपपति। बिकावरि=वाक्यावली। लरना=लड़ना। बकुचनि=वाक्य चुनकर। करना=एक बाजा जो बिगुल की भाँति बोलता था। नागेसरि=नागिन की तरह। बानी=वर्ण, रंग। सेवती=सेवा करती है। अकेली—अ+केलि=जिसे पति के साथ केलि (रति) प्राप्त नहीं हुई। सुदरसन=सुन्दर रूप वाला पुरुष। कूजा=कूजती है। सत बर गहि जोग=सात-वरों द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य। नागेसरि=नाग के समान काली। संती=से।

अर्थ—सखियाँ पद्मावती से कहती हैं, जब हमने उसके स्थान पर जा कर देखा तो मालूम हुआ कि वह नागमती पुष्पवती हो गयी है। अब वह बाला तुम्हारे हर्ष को देख नहीं सकती। उसे उसका रसिक (भौंरा) मिल गया है और उसने उसके साथ छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी है। उसके साथ जो सखियाँ हैं वे आनन्द मनाती हैं और उछल-कूद कर रही हैं और उसके शृंगार को मर्दित करने वाले उपपति से सांठगांठ करने लगी हैं। वहाँ जितनी वाक्यावली होती है सब तुमसे ही लड़ने के लिए है। जब हम वाक्य चुन कर भी कुछ कहती हैं तो भी उसके उत्तर में करना बाजे जैसा भद्दा शोर ही मिलता है अर्थात् वह झल्ला कर चिल्लाती है। वह नागमती नागिन के सदृश है। हे कमल (पद्मावती) वह तो अपने रंग में नहीं है। जिस प्रकार वह कभी गुलाब और कभी चमेली आदि पुष्पों की सेवा करती है उससे प्रतीत होता है कि वह पति की कामकेलि के अभाव में व्याकुल है।

वह सुन्दर पुरुष को देख कर प्रसन्न होती (कूजती) है मानों वह सात वरों से ग्रहण की जा सकती है। नागिन के समान उस काली-कलूटी को भौंरे सा काला वर मिला है, यही विधाता ने उसे सुख दिया है।

[४३४]

सुनि पदुमावति रिस न नेवारी। सखी साथ आई तेहि बारी।।
दुऔ सवति मिलि पाट बईठीं। हियँ विरोध, मुख बातैं मीठीं।।
बारी दिस्टि सुरंग सुठि आई। हँसि पदुमावति बात चलाई।।
बारी सुफल आहि तुम्ह रानी। है लाई, पँ लाइ न जानी।।
नागेसरि औ मालति जहाँ। सखदराउ न चाहिअ तहाँ।।
अहा जो मधुकर कँवल पिरीती। लागेउ आइ करील की रीती।।
जो अँबिली बाँकी हिय माहाँ। तेहि न भाव नारँग कै छाहाँ।।
पहिलें फूल कि दहूँ फर, देखिअ हिएँ बिचारि।
आँब होईं जेहि ठाईं, जाँबु लागि रहि आरि।।४३४।।

शब्दार्थ—नेवारी = दूर किया। पाट = सिंहासन। सखदराउ = संगतरा नींबू, राजा का सौख्य। अँबिली = इमली, विरहिणी। नारँग = नारंगी, नवीना। दहूँ = अथवा। आरि = समीप (सं० आरात्)।

अर्थ—दूतियों से यह समाचार पाकर पद्मावती अपने क्रोध का निवारण न कर सकी। वह सखियों के साथ नागमती की वाटिका में आयी। दोनों सौतें (पद्मावती और नागमती) मिलकर एक ही सिंहासन पर बैठ गयीं। दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति विरोध है पर मुख से मीठी बातें करने लगीं। सुन्दर वाटिका को देखकर मुस्करा कर पद्मावती ने बात चला दी। हे रानी! तुमने फलों से युक्त वाटिका लगायी है पर लगाना तुम जानतीं नहीं। जहाँ नागकेसर (नागमती) और मालती (पद्मावती) हैं वहां संगतरा नहीं होना चाहिए, अर्थात् आपस में कठोर भाव नहीं होना चाहिए। जिस भौंरे को कमल से प्रीति है वह यहां पर करील के प्रति रीति निवाह रहा है अर्थात् जो रत्नसेन पद्मावती का प्रेमी था, अब नागमती के साथ किसी प्रकार निर्वाह कर रहा है। जिसके हृदय में इमली स्थित हो गयी है उसे नारंगी कहां अच्छी लगेगी। अर्थात् जिसे अब बांकी-टेढ़ी नागमती से प्रीति हो गयी है वह नवीन रंग वाली पद्मावती को नहीं चाह रहा है। भाव यह कि तेरे कारण रत्नसेन भ्रम में पड़ा है, इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करना उचित नहीं क्योंकि कहां केवल बाँकी तू और कहाँ नवीन मैं?

भला तू विचार कर तो देख कि पहले फल होता है या फूल? जिस स्थान पर आम होता है वहीं जामुन भी समीप ही लगी होती है। अर्थात् फूल के समान (नवयौवना) मैं (पद्मावती) हूँ, तू (नागमती) पके हुए (परिपक्वावस्था वाली) फल के समान है—मेरी-तेरी कोई समता ही नहीं है (आम से तात्पर्य पद्मावती और जामुन से नागमती है)। भाव यह कि मेरे (पद्मावती के) साथ ही तू भी लगी रह सकती है पर तेरी प्रधानता नहीं रह सकती।

[४३५]

अनु तुम्ह कही नीकि यह सोभा। पै,फुल सोइ भँवर जेहि लोभा ॥
साँवरि जाँबु कस्तुरी चोवा। आँब जो ऊँच, तौ हिरदै रोवाँ ॥
तेहि गुन अस भै जाँबु पियारी। लाई आनि माँझ कै बारी ॥
जल बाढ़ै ऊभै जो आई। हिय बाँकी अँबिली सिर नाई ॥
सो कस पराई बारी दूखी। तजै पानि, धावहिं मुँह सूखी ॥
उठै आगि दुई डार अभेरा। कौनु साथ तेहिं बैरी केरा ॥
जो देखी नागेसरि बारी। लाग मरै सब सुग्गा सारी ॥
जेहि तरिवर जो बाढ़ै, रहै सो अपने ठाउँ।
तजि केसरि औ कुंदहि, जाँउन पर अँबराउँ ॥४३५॥

शब्दार्थ-- अनु=और। नीकि=अच्छी। फुल=फूल। जाँबु=जामुन। रोवाँ=रोम, रेशे। ऊभै=ऊपर आये। अँबिली=इमली, अनमिली। अभेरा=भिड़ा दिया। बैरी=बेर। केरा=केला। बारी=वाटिका। सुग्गा=तोता। सारी=मैना। जाँउन=जामुन। पर अबराउँ=दूसरी अमराई।

अर्थ—पद्मावती को उत्तर देते हुए नागमती कहती है कि तुमने हमारी वाटिका की शोभा को अच्छा कहा है पर फूल तो वही सुन्दर है जिस पर भौंरा मोहित हो अर्थात् स्त्री तो वही सुन्दरी है जो अपने पति की प्यारी हो (लोनी सोइ कंत जेहि चाहै—नागमती-सुवा-संवाद)। साँवरी और गोरी से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जामुन काली तो होती है पर वह कस्तूरी जैसा रस चुआती है। आम भले ही ऊँचा हो, पर उसके हृदय में रेशे होते हैं। अपने गुण के ही कारण तो जामुन प्यारी है और उसे अपनी वाटिका के बीच में लगाया है। नागमती पद्मावती के उस कथन का प्रत्युत्तर दे रही है जिसमें उसने कहा था कि "आँब होइ जेहि ठाईं लागि रहि आरि"। नागमती प्रेम-गर्विता है। उसे विश्वास है कि राजा उसे अधिक प्यार करता है, और उसे ही पटरानी का पद देगा, इसी बल पर वह अपने को पद्मावती से बढ़कर सिद्ध करना चाह रही है। यद्यपि रूप की दृष्टि से पद्मावती उससे सुन्दरी है।

पद्मावती ने नागमती को पूर्व पद में इमली भी कहा था (जो अँबिली बांकी हिय माहाँ), इस बात का प्रत्युत्तर देती हुई नागमती कहती है कि जो किसी से जलकर बढ़ती और ऊँची हो जाती है तो वही हृदय से कुटिल और अनमिली रहती है तथा सदा सिर नवाये रहती है, इस प्रकार वक्रोक्ति से इमली का ही दूसरा अर्थ करके नागमती ने पद्मावती के कथन को उलट कर उसी पर घटा दिया।

इसलिए दूसरे की वाटिका (दूसरी बाला, सौत) को देखकर तुझे क्यों दुःख हो रहा है, पानी को छोड़ कर तू सूखे मुँह दौड़ रही है (पद्मावती ने अपने को कमल कहा था।

इसलिए नागमती कहती है कि यदि कमल को पानी छोड़ दे तो वह सूख जाती है। अर्थात् यदि राजा तेरा हाथ छोड़ दे तो सूखा मुंह लेकर चली जायगी। दो डालियों को भिड़ा देने से आग निकल पड़ती है—दो सौतों में जलन उत्पन्न हो जाती है। बेर जब अपने सुख के लिए अपनी डाल हिलाती है तो केले के पत्ते अपने आप फटते हैं—इसी प्रकार जब मुझे प्रसन्नता हो रही है तो तू स्वतः जल रही है। नागकेसर का प्रयोग भी पद्मावती ने पूर्व पद में नागमती के लिए किया था, अतः नागमती कहती है कि नागकेसर की वाटिका को देख कर तोता और मैना मरने लगते हैं, अर्थात् मुझे प्रसन्न देखकर तुम्हें और तुम्हारी सखियों को दाह हो रहा है। जो पक्षी जिस पेड़ पर पाला-पोसा गया, जहाँ वह छोटे से बड़ा हुआ, वह उसी जगह रहता है, वह अपने नागकेसर और जामुन को नहीं छोड़ता, उसी पर कूदता और प्रसन्न होता है, अमराइयों पर नहीं जाता। अर्थात् जो राजा रत्नसेन आरम्भ से मुझ (नागमती) से प्रेम करता रहा है वह अब भी मुझे न छोड़ेगा और तुझ (पद्मावती) में अनुरक्त न होगा।

पद्मावती ने पूर्व पद में अपनी आम से और नागमती की जामुन से समता की थी, उसी का उत्तर नागमती ने इस प्रकार दिया।

अलंकार—श्लेष, वक्रोक्ति।

[४३६]

तुम्ह अंबरांउ लीन्ह का चूरी। काहे भई नींबि बिख मूरी॥
भई बैरि कत कुटिल कटैली। तेंदु कैंथ चाहि बिगसैली॥
नारंग दाख न तुम्हरी बारी। देखि मरहिं जहें सुग्गा सारी॥
ओ न सदाफर तुरुंज जंभीरा। कटहर बड़हर लौकी खीरा॥
कँवल के हिय रोंवा तौ केसरि। तेहिं नहिं सरि पूजै नागेसरि॥
जहें केसरि नहिं उबरै पूँछी। बर पाकरि का बोलहिं छूँछी॥
जो फर देखिअ सोइअ फीका। ताकर काह सराहिअ नीका॥
रहु अपनी तैं बारी, मों सौं जूझु न बाँझ।
मालति उपम कि पूजै, बन कर खूझा खाझ॥ ४३६॥

शब्दार्थ—अंबरांउ=अमराई, आम का बाग, खट्टी। का चूरी=फारसी लिपि में, का चोरी=चुराने(छिपाने) की क्या बात है, चूर करके (मर्दन) करके क्या पाया? नींबि=नीम; नीवी-लंहगे का नारा। बिखमूरी=विष की जड़। कटैली=काँटेवाली, कटु। बिगसैली=विशेष कसैली, विक (भेड़िया) के स्वभाव वाली। तेंदु, कैंथ=दो विभिन्न प्रकार के कसैले फल के वृक्ष, तीन या दो पुरुषों को चाहने वाली तथा कदर्थ। नारंग=नारंगी, बिना रंग की। दाख=किशमिश, मिठास। सुग्गा=तोता, सुन्दर रसिक। सारी=मैना, सारग्राही। सदाफर=फल विशेष, सदा फलने वाली—संतान देने वाली। तुरुंज=जंभीरा=

खट्टे नींबू, तू रंजीदी और जंभाई लेती हुई आलसी। कटहर बड़हर=कटहर और बड़हर के वृक्ष, बहुत काटने (लड़ने) वाली। लौकी=लौकी, घिया, लुढ़की, चंचला। खीरा[१]=खीरा और कुटुमुखी और हृदय में भेद रखने वाली। रोवँ=रोम, रेशम। उबरै=गूलर। बर=बरगद। पाकरि=एक बरगद सरीखा पेड़। जूझु=लड़ाई कर। बांझ=अर्थात् व्यर्थ, बंध्या, जिसके बच्चे नहीं हैं, एक गाली। खूझा खाझ=नीरस फल।

अर्थ—पद्मावती उत्तर देती है कि तुमने अमराई लगाई तो इसमें चोरी की क्या बात ? भाव यह कि तुम तो खट्टी हो, रत्नसेन ने तेरे शृंगार को चूर (मर्दन) करके भी क्या पाया। इस वाटिका में विष-मूल सी कड़वी नीम क्यों हुई अर्थात् इस विषैली तेरी नीवी के होने से ही उसे क्या लाभ ? बेर कटीली है, तेंदु और कैथ अत्यन्त कसैले हैं, अर्थात् हे वैरिन तू कुटिल और लड़ाकी और बुरी है। तू तो भेड़िये के स्वभाव वाली है, तुझे तो दो-तीन पुरुष चाहिएँ। नारंगी, दाख आदि सुन्दर फल तेरी वाटिका में नहीं हैं जिन्हें देखकर तोता, मैना आकर्षित होते हैं अर्थात् न तो तुझमें रंग है न मिठास; श्रेष्ठ रसिक तुझे देख कर मर जाते हैं। फिर इसमें सदाफल, संतरा और जंभीरी नींबू जैसे सुन्दर फल नहीं है केवल कटहल, बड़हल, लौकी, खीरा जैसी निकृष्ट वस्तुएं हैं अर्थात् तू कभी फलती नहीं बाँझ है, रंजीदा रहने वाली और आलसी है बड़ी ही काटने वाली है, बड़ी चंचला (लुढ़की) और मुख और हृदय दोनों से बुरी है। नागमती ने पद्मावती को कमल कह कर उसकी उपेक्षा की थी इसलिए पद्मावती कहती है कि यदि कमल के हृदय में रेशे हैं तो उसमें केसर तो हैं, उसकी बराबरी नागकेसर कभी नहीं कर सकती। जहाँ कमल की केसर है वहां गूलर को कौन पूछेगा ? (क्योंकि उसके भीतर तो रेशे के स्थान पर भुनगे होते हैं) बरगद और पाकर जैसे नीरस फल व्यर्थ हैं—अर्थात् किस काम के हैं अर्थात् वर (पति) को पाकर भी तू छूछी (संतान-हीन) है। तू भला क्या बोलती है। जिस ही फल को देखें वही फीका है, इनकी कितनी सराहना करें ?

फिर खीझकर पद्मावती कहती है कि तू अपनी वाटिका में रह, व्यर्थ ही मुझ से न लड़ अथवा हे बांझ तू मुझसे न लड़। बता, जंगल की घास-पत्ती कभी मालती की समता कर सकती है ? (यहां मालती से तात्पर्य पद्मावती से और घास-पात से नागमती है।)

अलंकार=श्लेष, वक्रोक्ति।

१. खीरा सिर से काटिए, मलिए लोन लगाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहियत यही सजाय।
ऐसी प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन॥
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फांकें तीन॥ (रहीम)

[४३७]

कँवल सो कवन सुपारी रोठा। जेहि के हिएँ सहस दुइ कोठा॥
रहै न झाँपे आपन गटा। सकति उघेलि चाह परगटा॥
कँवल पत्र दारिवँ तोरि चोली। देखसि सूर देसि हँसि खोली॥
ऊपर राता, भीतर पियरा। जारौं वहै हरदि अस हियरा॥
इहाँ भँवर मुख बातन्ह लावसि। उहाँ सुरुज हँसि-हँसि तेहि रावसि॥
सब निसि तपि मरसि पियासी। भोर भएँ पावसि पिय बासी॥
सेजवाँ रोइ रोइ जल निसि भरसी। तूँ मोसौं का सरबरि करसी॥
सुरुज किरिन तोहि रावै, सरवर लहरि न पूज।
करम बिहून ए दूनौ, कोउ रे धोबि कोउ भूँज॥ ४३७॥

शब्दार्थ—रोठा=रोड़ा, टुकड़ा। कोठा=कँवलगट्टे के भीतर का बीजकोश जिसमें अनेक छिद्र दिखाई पड़ते हैं। झाँपे=ढके हुए। गटा=कँवला गट्टा। दारिवँ=दाडिम, फटा हुआ अनार। राता=लाल। पियरा=पीला। हरदि=हल्दी। हियरा=हृदय। रावसि=बहलाती हो। भूँज=भूँजा जाति जो चना, चावल आदि भून कर अपनी जीविका कमाते हैं।

अर्थ—नागमती भी क्रुद्ध हो कर बोली—तू कमल की बड़ाई करती है; इसके भीतर तो सुपारी जैसे कठोर टुकड़े (कमल गट्टे) हैं, उसके हृदय में दो हजार कोठे हैं। फिर वह तो अपने गट्टे को भी छिपा कर नहीं रखता, वह खोलकर उसे प्रकट करता है—भाव यह कि तू अपने अँगों का प्रदर्शन करती है—बेहया है। कमल (पद्मावती) पत्तों (कनकपत्र) की तेरी चोली अनार की भांति फटी है, कुच दिखाई पड़ रहे हैं। तू सूर्य (रत्नसेन) को देखकर उसके सामने अपने संपुट (कुच) खोल देती है। कमल ऊपर से तो लाल, पर भीतर से पीला है अर्थात् तू ऊपर से अनुराग के रंग में रँगी है पर भीतर से तेरा हृदय पर-पुरुष से मिला होने से पीला है। उस हल्दी जैसे पीले हृदय को जला दूं (यह गाली है)। यहां जो भौंरे को बातों में लगाती है और वहां सूर्य को हंस-हंस कर बहलाती है (कमल के दो प्रेमी हैं भ्रमर और सूर्य) अर्थात् एक ओर तो तू किसी रसिक से प्रेम की बातें करती है और दूसरी ओर रत्नसेन के साथ रमण करती है। सारी रात तो जल-जल कर प्यासी मरती है, प्रातः काल होने पर प्रिय का वास पाती है। (स्मरण रहे पिछली रात भर रत्नसेन नागमती के पास रहा और प्रातः काल में पद्मावती के पास गया था, कमल भी रात भर अपने प्रिय सूर्य से बिछुड़ा होता है और प्रातः ही खिलता है। रात में तो रो रो कर अपनी शय्या को आंसू के जल से भरती है (कमल के पत्तों पर ओस के बिन्दु पड़े होते हैं)। भला तू मेरी बराबरी क्या कर सकती है ?

सूर्य की किरण तो तुझे केवल बहलाती हैं, तालाब की लहरें सूर्य तक नहीं पहुँचतीं अर्थात् रत्नसेन तो तुझे केवल बातों से प्रसन्न करता है, सच्चा प्रेम उसका तुम्हें प्राप्त नहीं है, तुझे उसका पूर्ण सुख-भोग नहीं प्राप्त हो सकता। धोबिनें और भूंजे की स्त्री दोनों ही तो अभागिनी हैं अर्थात् जल में काम करती हुई धोबिन के समान मिलन में भी तुझे सुख उपलब्ध नहीं है, और आग के सामने काम करती हुई भूंजे की स्त्री के समान विरह में जलायी हुई भी तू दुःखी है। 'सरवरि-लहर' और 'सूरज किरन' की उपमा सिंहल के मानसरोवर की लहरों और रत्नसेन (सूर्य) की प्रीति से भी मानी जाती है। पहले मानसरोवर की लहरों के साथ पद्मावती क्रीड़ा करती थी और बाद में उसे रत्नसेन का प्रणय प्राप्त हुआ। नागमती का तात्पर्य यह है कि दोनों दशाओं में तुझे सुख नहीं मिला। मानसरोवर की लहरें पूरा सुख न दे सकीं क्योंकि पीहर का निवास पूर्ण सुख नहीं देता और रत्नसेन तुझे पूरी तरह चाहता नहीं अतः अतृप्ति के दुःख से तू जल रही है। श्लेष से 'भूंज' शब्द का अर्थ 'भोगना' भी है अतः रत्नसेन तेरा भोग कर रहा है और सरोवर तुझे धोता है।

अलंकार—श्लेष, गूढोक्ति।

नोट—शुक्ल जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में पदों के क्रम में कुछ अन्तर है। यह तथा इसके बाद का पद कुछ पदों के बाद उसमें मिलते हैं।

[४३८]

अनु हौं कँवल सुरुज कै जोरी। जौं पिय आपन तौ का चोरी॥
हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं सिंगार, भोर उठि देखौं॥
मोर बिगास ओहिक परगासू। तूं जरि मरसि निहारि अकासू॥
हौं ओहि सौं, वह मो सौं राता। तिमिर बिलाई होत परभाता॥
कँवल के हिरदै मँह जो गटा। हरिहर हार कीन्ह का घटा॥
जाकर देवस ताहि पै भावा। कारि रैनि कत देखैं पावा॥
तू उँबरी जेहि भीतर माँखा। चाँटिहि उठे मरन कै पाँखा॥
धोबिनि धोवैं बिख हरैं, अंब्रित सौं सरि पाव।
जेहि नागिनि डसु सो मरै, लहरि सुरुज कै आव॥ ४३८॥

शब्दार्थ—अनु=तब। ओहिक=उसका। निहारि=देखकर। अकासू=आकाश, स्वर्ग (कविलास)। बिलाइ=नष्ट होता है। हरिहर=विष्णु और शिव। कारि=काली। उँबरी=गूलर। माँखा=मच्छर। चाँटिहि=चींटी। मरन के पाँखा=मृत्यु के समय के पंख।

अर्थ—तब पद्मावती ने नागमती को उत्तर इस प्रकार दिया—

हम दोनों तो कमल और सूर्य की जोड़ी हैं, जो पति अपना है तो उसके साथ रमण करने में चोरी क्या? स्मरण रहे ऊपर नागमती ने पद्मावती की निर्लज्जता का उल्लेख

किया था कि वह तो अपने पयोधर तक पति को दिखाती है। इसी बात का उत्तर पद्मावती ने दिया है कि पति के समक्ष कोई दुराव ही नहीं। वह कहती है कि मैं तो उसे अपना दर्पण समझती हूँ अतः जब प्रातः काल शृंगार करती हूँ तो उसे ही उठ कर देखती हूं। भाव यह कि उसके सम्मुख खुल कर उपस्थित होती हूँ। मेरा समस्त विकास उसी का तो प्रकाश है। तू आकाश की ओर देखकर जला करती है अर्थात् हमें कविलास में सुखी देखकर जल जाती है। मैं उसमें और वह मुझमें अनुरक्त हैं। हमारे मिलन में दुःख रूपी अन्धकार का नाश होता है और प्रभात होता है। कमल के हृदय में कमलगट्टा है तो भी विष्णु और शिव उसका हार पहनते हैं, गट्टे के कारण कमल का क्या घट गया? नागमती ने बताया था कि तुझे प्रातः काल ही पति मिला, रात में नहीं। इस पर पद्मावती कहती है कि दिन जिसका होता है उसी को तो अच्छा लगेगा, काली रात वह कैसे देख सकती है। मुझे दिन प्रिय है इसीलिए मेरा प्रिय भोर होते ही आ गया। काली रात तेरे लिए है, मुझे वह क्यों देखनी पड़े? तुम तो गूलर की भाँति हो जिसके भीतर अनेक भुनगे होते हैं अर्थात् तेरा तो हृदय दूषित है। तुझे दूसरे का सुख-सौभाग्य कैसे प्रिय होगा? चींटी के भी मृत्यु के समय पंख निकल आते हैं, इसी प्रकार तू इस समय बहुत बढ़-बढ़ कर बातें कर रही है। मेरे और रत्नसेन के प्रेम को नहीं जानती, भविष्य में जब तुझे प्रतीत होगा तो तू बहुत दुखी होगी।

नागमती ने पूर्व पद में पद्मावती की धोबिन से समता की थी, इस पर पद्मावती कहती है कि धोबिन तो कपड़े को धोकर उसका विरह रूपी मैल निकाल डालती है और अमृत के सदृश श्वेत वस्त्र बना देती है, पर जिसे नागिन डस ले वह तो मर ही जाता है, उसे तो सूर्य की किरणों (लू) की भाँति केवल विष की लहरें आती हैं।

यहां पर नागिन का प्रयोग नागमती के लिए हुआ है।

अलंकार—श्लेष।

[४३९]

जौं कटहर बड़हर तौ बड़ेरी। तोहि अस नाहि जो कोका बेरी॥
स्यामि जानु मोर तुरुंज जँभीरा। करुई नींवि तो छांह गँभीरा॥
नरियर दाख ओहि कहँ राखौं। गलि गलि जाउँ न सौतहि भाखौं॥
तोरे कहें होइ मोर काहा। फर बिनु बिरिख कोइ ढेल न बाहा॥
नवं सदाफर सो नित फरई। दारिवँ देखि फाटि हिय मरई॥
जैफर लौंग सुपारी हारा। मिरिचि होइ जो सहै न पारा॥
हौं सो पान रँग पूज न कोऊ। बिरह जो जरै चून जरि होऊ॥
लाजन्ह बूड़ि मरसि नहिं, ऊभि उठावसि माँथ।
हौं रानी पिउ राजा, तो कह जोगी नाथ॥४३९॥

शब्दार्थ—कोका बेरी=कमलिनी। स्यामि=काली, स्वामी। ढेल=पत्थर, कंकड़। बाहा=फेंकता। हार=हाल। पारा=सकता। ऊभि=उठकर।

अर्थ—ऊपर ४३६वें पद में पद्मावती ने कहा था कि तेरी वाटिका में कटहल और बड़हल जैसे निकृष्ट वृक्ष ही हैं इस के उत्तर में नागमती कह रही है कि यदि मेरी वाटिका में कटहल और बड़हल जैसे वृक्ष हैं तो भी बड़ी बात है। तुम्हारी भांति मैं कमलिनी तो नहीं हूं जिसमें केवल फूल होता है न तो उसमें फल है और न छाया। हमारे वृक्ष काले भले ही हों, पर उनमें नारंगी और जंभीरी नीबू तो हैं, अर्थात् चाहे मैं भले ही काली हूँ, पर मेरे पास यौवन तो है अथवा मेरे स्वामी ही जानते हैं कि मेरे तुरंज और जंभीरी नीबू (दोनों कुच) कैसे हैं ? कड़वी नीम है तो क्या, उसमें गंभीर छाया तो है‡—बोली चाहे मेरी कटु ही हो, पर हूँ तो अपने पति को सुख देने वाली। नारियल (उरोज) और दाख (अधर) आदि फल उसी (रत्नसेन) के लिए रखती हूं। चाहे मैं गल कर नष्ट हो जाऊँ, पर सौत से नहीं बोल सकती। तेरे कहे (बुरा-भला कहने) से मेरा क्या हो सकता है (बिगड़ सकता है)। (मेरे में कुछ गुण हैं, तभी तो तू बुरा-भला कहती है, नहीं तो) फल रहित वृक्ष पर कोई भी डले नहीं फेंकता है। सदाफर जो हमेशा नमा रहता है, हमारी वाटिका में फलता रहता है। अनार (पद्मावती) उसे देखकर हृदय फाड़ कर मर जाता है। जायफर, लौंग, सुपारी के हाल को जो सह नहीं सकती वह मिर्च के समान कड़वी हो जाती है। मैं तो पान हूँ, जिसकी बरावरी कोई कर नहीं सकता। जो विरह से जलता है वह जलकर चूना बन जाय (उसका तात्पर्य पद्मावती से है)।

अब तू लज्जा से डूब कर क्यों नहीं उठ कर अपना मत्था उठाती है, मैं रानी हूँ और मेरा प्रिय (रत्नसेन) राजा है तेरे लिए यदि वह जोगी और नाथ-पन्थी हो तो हो। पद्मावती ने नागमती को मरण पंख निकलने की बात कही थी उसी के उत्तर में वैसा ही कठोर वचन नागमती ने भी कहा कि मैं तो अपने राजा की रानी हूँ तू लज्जा से डूब मर।

अलंकार—श्लेष।

[४४०]

हौं पदुमिनी मानसर केवा। भँवर मराल करहिं निति सेवा॥
पूजा जोग दैय हौं गढ़ी। मुनि महेस के माँथें चढ़ी॥
जानै जगत कँवल कै करी। तोहि असि नाँहि नागिन बिखभरी॥
तूँ सब लेसि जगत के नागा। कोइलि भइसि न छाँड़सि कागा॥
तूँ भुँजइलि, हौं हंसिनि गोरी। मोहि तोहि मौंति पोति कै जोरी॥
कँचन करी रतन नग बना। जहाँ पदारथ सोह न पना॥
तूँ रे राहु हौं ससि उजियारी। दिनहि कि पूजै निसि अँधियारी॥

‡केतनउँ निविया तीतल तऊ सीतल छाँह—अवधी लोकोक्ति।

ठाढ़ि होसि जेहि ठाईं, मसि लागै तेहि ठाउँ।
तेहि डर रांध न बैठों, जनि सांवरि होइ जाउँ ॥ ४४० ॥

शब्दार्थ—केबा=कमलिनी। करी=कली। कोइल=कोकिल, इसे परभृत भी कहते हैं क्योंकि कौवे उसके बच्चों को पालते हैं। भुंजइलि=एक काली चिड़िया। पोति=कांच या पत्थर की गुरिया। पना=पन्ना (जड़ाऊ गहने में सोने की कली के बीच में माणिक्य जड़ा जाता है और उसके केन्द्र में हीरा जड़ा जाता है। हीरा के स्थान पर पन्ना सुशोभित नहीं होता)। मसि=स्याही। रांध=निकट। जनि=न।

अर्थ—पद्मावती क्रुद्ध होकर बोली कि मैं तो मानसरोवर की कमलिनी हूं, भौंरे और हंस सब मेरी सेवा करते हैं। मैं तो पूजा के योग्य ही ईश्वर से बनाई गयी हूँ, ऋषियों तथा शंकर आदि देवताओं के मस्तक पर चढ़ाई जाती हूँ। सारा संसार कमल की कली को जानता है। तुझ जैसी नागिनी (नागमती) नहीं हूं जो विष से भरी है। तू संसार के सारे सर्पों से सम्बन्ध रखती है। कोयल हो रही है, फिर भी कौए को नहीं छोड़ती। तू तो भुंजइल चिड़िया के समान काली है और मैं हंसिनी के समान गोरी हूं। मुझमें और तुझमें इतना अन्तर है जितना मोती और कांच-पत्थर की गुरिया में होता है। सोने की कली (स्वर्ण-वर्ण पद्मावती) में ही रत्न(रत्नसेन)शोभा देता है। जहाँ हीरा(पद्मावती)है वहाँ पन्ना (नागमती) शोभा नहीं देता। तू तो यदि राहु है तो मैं उज्ज्वल चन्द्रमा। भला कहीं दिन की समता रात अंधेरी कर सकती है? तू तो जहां खड़ी हो जाती हैं वहीं जैसे स्याही लग गयी हो। इसी डर से मैं तेरे निकट नहीं बैठती कि कहीं मैं सांवली न हो जाऊँ।

[४४१]

फूलु न कँवल भान के उएँ। मैल पानि होइहि जरि छुएँ ॥
भँवर फिरहिं तोरे नैनाहाँ। लुबुध बिसाँइधि सब तोहि पाहाँ ॥
मंछ कच्छ दादुर तोहिं पासा। बग पंखी निसि बासर बासा ॥
जो जो पंखि पास तोहि गए। पानी महँ बिसाँइधि भए ॥
सहस बार जौं धोवै कोई। तबहुँ बिसाँइधि जाइ न धोई ॥
जौं उजियार चांद होइ उई। बदन कलंक डोवँ कै छुई ॥
ओ मोहि तोहि निसि दिन कर बीचू। राहु के हाथ चांद कै मीचू ॥
काह कहौं ओहि पिय कहँ, मोहिं पर धरेसि अंगार।
तेहि के खेल भरोसे, तुइँ जीता, मोरि हार ॥४४१॥

शब्दार्थ—जरि=जड़। बिसाँइधि=दुर्गन्ध। मंछ=मछली। डोवँ=डोम, चाण्डाल(प्रवाद है कि चन्द्रमा डोमों का ऋणी है। अतः अपने ऋण के लिए डोम चन्द्रमा को घेरते हैं तो ग्रहण लगता है, लोग चन्द्रमा को ऋणमुक्त करने के लिए ग्रहण के दिन डोमों को दान देते हैं—वास्तव में डोम राहु के प्रतीक हैं)। धरेसि=रख दिया है।

अर्थ—पद्मावती के गर्व भरे उक्त वचनों को सुनकर नागमती जल कर बोली कि सूर्य के उदय होने पर कमल (पद्मावती) फूलो मत, घमंड मत करो। तेरी जड़ के स्पर्श से तो पानी तक मैला हो जाता है। तेरी आँखों में पुतली रूपी भौंरे चलते रहते हैं (कमल पक्ष में भौंरे कमलकोश में लगे रहते हैं)। जितने भी तेरे रूप के लोभ में पड़ते हैं, तेरे कारण दुर्गन्ध-पूर्ण हो जाते हैं। मछली, कछुआ, मेंडक, बगुला आदि सदा तेरे पास रहते है, और जो-जो और भी पक्षी या जीव तेरे समीप जाते हैं, सब के सब दुर्गन्ध-पूर्ण हो जाते हैं। चाहे कोई सौ बार भी अपने अंग को धोए, पर दुर्गन्ध नहीं निकलती। तेरा शरीर अवश्य गोरा है पर यह भी ऐसा जैसे चन्द्रमा का रंग जिसके मुख में कलंक है और जिसे डोम छूता है। भाव यह कि तेरा रंग गोरा हैं पर दोषों से युक्त है।

मुझ में और तुझ में तो रात और दिन का अन्तर है। जैसे राहु के हाथ चन्द्र का मरण होता है, उसी प्रकार अब उस राहु के द्वारा तुझ (चाँद) की मृत्यु होगी। पद्मावती ने ऊपर वाले पद में नागमती को राहु और अपने को चांद कहा था, नागमती उसी कथन का सहारा ले रही है। मैं अपने उस पति के लिए क्या कहूं जिसने आकर मेरे ऊपर आग का अङ्गारा रख दिया। उसके मनोरंजन और खेल के सहारे तू ही जीत गयी और मैं हार गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति क्योंकि कमल (उपमान) का प्रयोग उपमेय पद्मावती के लिए है।

[४४२]

तोर अकेल जीतेउँ का हारू। मैं जीता जग केर सिंगारू॥
बदन जीतेउँ जो ससि उजियारी। बेनी जीतेउँ भुअंगिनि कारी॥
लोयन जीतेउँ मिरिग के नैना। कंठ जीतेउँ कोकिल के बैना॥
भौंह जीतेउँ अर्जुन धनुधारी। गीवँ जीतेउँ तँवचूर पुछारी॥
नासिक जीतेउँ पुहुप तिल सूवा। सूक जीतेउँ बेसरि होइ ऊवा॥
दामिनि जीतेउँ दसन चमकाहीं। अधर रंग रवि जीतेउँ सबाहीं॥
केहरि जीति लंक मैं लीन्हा। जीति मराल, चाल ओइ दीन्हा॥
पुहुप बास मलयागिरि जीतेउँ, परिमल अंग बसाइ।
तूँ नागिनि मोरि आसा लुबुधी, मरसि कि हरकौं जाइ॥ ४४२॥

शब्दार्थ—जीतेउँ=जीत लिया। लोयन=लोचन, आँखें। गीवँ=ग्रीवा, कंठ। तँवचूर=ताम्रचूड़, मुर्गा। पुछारी=मोर। सबाहीं=प्रातःकालीन। लंक=कटि, लंका। हरकौं=रोकूँ, पाठान्तर—हिरकौं=पास आना (तू आशा लगाये है कि मेरे शरीर में आकर लिपट जाय)।

अर्थ—नागमती के इस कथन पर कि 'तू जीती मैं हारी' पद्मावती कहती है कि तू हार गयी। पर मैंने क्या केवल अकेले तुम्हें ही जीता है ? मैंने तो संसार के सभी शृंगारों को जीत रखा है। देखो मुख से मैंने उज्ज्वल चन्द्रमा को जीत लिया है, वेणी (चोटिया) से काली सर्पिणी को जीता है। आँखों से हिरनों को जीता है, कंठ से कोयल की वाणी जीती। भौंहों से अर्जुन के धनुष को जीत लिया, गर्दन से मुर्गे और मोर को जीत लिया। नासिका से तिल के फूल और तोते को जीत लिया। वेसरि (नथ का चंदक) से शुक्र तारे को जीत लिया क्योंकि वह वेसरि के रूप में आ बैठा है (उत्पेक्षा अलंकार)। अपने दांतों की चमक से बिजली को जीत लिया है। होठों के रंग से प्रातःकालीन सूर्य भी जीत लिया है। सिंह को मैंने अपनी कमर से जीत लिया, अपनी चाल से हंस को जीत लिया है। फूल की सुगन्ध और चन्दन को मैंने अपने शरीर की सहज सुगन्ध से जीत लिया है। तू नागिनी (नागमती) आशा के लालच में मर रही है कि मैं इसे रोक दूँ—मार्गावरोध करूँ।

अलंकार—समस्त पद में रूपक और उत्प्रेक्षा का सौंदर्य है।

[४४३]

का तोहि गरब सिंगार पराएँ। अबहीं लेहिं लूसि सब ठाएँ॥
हौं साँवरि सलोनि सुभ नैना। सेत चीर मुख चात्रिक बैना॥
नासिक खरग फूल धुव तारा। भौंहैं धनुक गँगन को पारा॥
हीरा दसन सेत औ स्यामा। छपै बिज्जु जौं बिहँसै रामा॥
बिद्रुम अधर रंग रस राते। जूड़ अमीं अस रबि परभाते॥
चाल गयंद गरब अति भरी। बिसा लंक नागेसरि करी॥
साँवरि जहाँ लोनि सुठि नीकी। का गोरी सरबरि कर फीकी॥

पुहुप बास हौं पवन अधारी, कँवल मोर तरहेल।
जब चाहौं धरि केस ओनावौं, तोर मरन मोर खेल॥ ४४३॥

शब्दार्थ—लूसि=जला देना। खरग=खड्ग, तलवार। पारा=हराया। रामा=स्त्री। बिद्रुम=मूँगा। राते=लाल। बिसा=भिड़, ततैया, बर्र। तरहेल*=नीचा। ओनावौं=झुकाऊँ। पुहुपवास हौं, पवन, अधारी=फूलों की सुगन्ध और हवा पी कर जीना—अवधी-प्रान्त में स्त्रियों में कोमलता के लिए कहावत है कि—वह तो फूल सूँघ कर और हवा पी कर रहती है।

अर्थ—नागमती कहती है, तेरा शृंगार ही क्या यह तो पराया है। अर्थात् जैसा तूने ऊपर कहा, तेरे प्रत्येक अंग की सुन्दरता तो दूसरों की सुन्दरता है। जो तेरे पास आ गयी है—अपनी नहीं है। थोड़े ही काल में सब नष्ट हो जायगी अथवा यह शृंगार तो दूसरे (पति) का

---

*सागर सदा मोर तरहेलू। कौन जगत जो अग्या पेलू॥—चित्रावली।

धन है, वे अभी आकर इसे प्रत्येक स्थान (अंग) से लूट ले जायेंगे और जिन अंगों पर तू गर्व करती है, वे श्री-हीन हो जायेंगे। मैं सांवली होते हुए भी सलोनी हूं, मेरी आँखें सुन्दर हैं। श्वेत रंग की साड़ी पहनती हूँ। मुख में चातक की वाणी (पी-पी) है। मेरी नासिका तलवार के समान और शीशफूल ध्रुव तारे के समान हैं भाव यह है कि तेरी नासिका तिल के फूल के समान है और वेसरि शुक्र है तो मेरी उससे बढ़कर खड्ग और ध्रुवतारे के सदृश है। मेरी भौंहों ने आकाश के इन्द्र-धनुष को हरा दिया है (स्पष्ट है इंद्र का धनुष अर्जुन(इंद्र के पुत्र) के धनुष से बढ़ कर है)। मेरे दाँत हीरे के समान हैं, दाँत सफेद हैं, बीच-बीच में पान की बतीसी है। जब मैं हँस देती हूं तो दाँतों की चमक से शर्मा कर बिजली छिप जाती है (पद्मावती ने भी अपने दांतों की उपमा बिजली से ही दी थी)। मूंगे के समान होठ रस-रंग से लाल हैं। उनमें शीतलता और अमृत की मधुरता है। उनका रंग और गुण ऐसा है, जैसे प्रातःकाल का सूर्य। मेरी चाल गजेन्द्र के समान है और कटि बर्र की कटि की भांति अत्यन्त पतली है। (पद्मावती ने अपनी चाल के लिए हंस और कटि के लिए सिंह कहा था, नागमती ने उनसे भी बढ़कर बताने का प्रयास किया है।) जहाँ मैं सांवली हूँ वहाँ मैं सलोनी और सुन्दर हूं, भला तू गोरी और फीकी मेरी बराबरी क्या कर सकती है। मैं इतनी कोमल हूं कि फूल की सुगन्ध और हवा के आधार पर रहती हूं, कमल (पद्मावती) तो मेरे पैरों तले हैं। मैं जब चाहूँ तेरे बाल पकड़ कर झुका दूं। तुझे मार देना तो मेरे लिए खेल है। उसका भाव यह है कि मैं राजा की परिणीता पत्नी हूँ, उनकी चहेती भी हूँ, जब चाहूं तुझे मार सकती हूँ क्योंकि आखिर तू छोटी रानी है। अधिकार दिखाने की यह प्रवृत्ति स्त्रियों में बहुत मिलती है।

[४४४]

पदुमावति सुनि उतर न सही। नागमती नागिनि जिमि गही ॥
ओइं ओहि कहं ओइं ओहि कहं गहा। गहा गहनि तस जाइ न कहा ॥
दुओ नवल भर जोबन गाजी। अछरीं जानु अखारें बाजीं ॥
भा बांहनि बांहनि सौं जोरा। हिया हिया सों, बाग न मोरा ॥
कुच सों कुच जों सोहें आने। नवहिं न नाए, टूटहिं ताने ॥
कुंभ स्थल जेउं गज मैमंता। दूनौ अल्हर भिरे चौवंता ॥
देव लोक देखत मुए ठाढ़े। लागे बान हियें, जाहि न काढ़े ॥

जानहुँ दीन्ह ठग लाडू, देखि आइ तस मीचु।
रहा न कोइ धरहरिया, करै जो दुहुं महं बीचु ॥४४४॥

शब्दार्थ—अछरीं=अप्सरायें। बाजीं=लड़ीं। बाग न मोरा=बाग नहीं मोड़तीं, लड़ाई से नहीं हटतीं। अल्हर=अल्हड़, निर्भीक रूप से। चौदन्ता=चार दांत या चार

दांत वाला, चार दांत वाला बैल जवान होता है, इस अवस्था के बैल आपस में लड़ते भी बहुत हैं। ठग लाड़ू=ठग लोग एक प्रकार का लड्डू रखते थे, मुसाफिरों को इसे खिला कर बेहोश कर देते थे और सारा धन लूट लेते थे। धरहरिया=बीच-बिचाव करने वाला।

अर्थ—पद्मावती नागमती के उत्तर को सह न सकी। उसने नागमती को सर्पिणी के समान पकड़ लिया। दोनों ने एक दूसरे को पकड़ लिया, ऐसी धर-पकड़ उनकी हुई कि कहा नहीं जाता। दोनों युवतियां थीं, जवानी में भरी हुई गरज उठीं। मानो अप्सरायें अखाड़े में लड़ रही हैं। बांह से बांह और छाती से छाती भिड़ रही थीं—दोनों लड़ाई नहीं बन्द करतीं। सामने तने हुए दोनों के उरोज भिड़ गए, झुकाने पर वे झुकते नहीं, चोली की तनी टूट गयीं। जैसे मतवाले हाथी कुम्भस्थलों से टकरा और उनके चौदन्त (चार दांत) भिड़ जाते हैं वैसे ही दोनों अल्हड़ युवतियां भिड़ गयीं। देव लोक में देवता लोग यह लड़ाई देख कर खड़े-खड़े मर से गए। उनके हृदय में ऐसे बाण लगे कि वे निकाले नहीं निकलते। ऐसा प्रतीत होता था मानो इन्हें किसी ठग ने लड्डू खिलाकर बुद्धि-शून्य कर दिया है। मृत्यु आने वाली है। कोई बीच-बिचाव करने वाला भी न था जो दोनों को छुड़ा देता।

[४४५]

पवन स्रवन राजा के लागा। लरहिं दुओ पदुमावति नागा॥
दूओ सम सांवरि ओ गोरी। मरहिं तो कहँ पावसि असि जोरी॥
चलि राजा आवा तेहि बारीं। जरत बुझाई दूनौ नारीं॥
एक बार जिन्ह पिउ मन बूझा। काहे कों दोसरे सो जूझा॥
अंस ग्यान मन जान न कोई। कबहुँ राति, कबहुँ दिन होई॥
धूप छांह दुइ पिय के रंगा। दूनौं मिली रहहु एक संगा॥
जूझब छांड़हु बूझहु दोऊ। सेव करहु सेवां कछु होऊ॥
तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी, लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहुँ, ओ मानहु सुख भोग॥४४५॥

शब्दार्थ—स्रवन=कान। बारीं=वाटिका। जूझा=लड़ती हो।

अर्थ—हवा राजा के कान तक पहुँची और उसने बताया कि पद्मावती और नागमती दोनों लड़ रही हैं। उसने सोचा ये दोनों सांवली और गोरी समान हैं, यदि इनमें से कोई मर जायगी तो ऐसी जोड़ी मुझे कहाँ मिलेगी। ऐसा सोच कर राजा चल कर उस वाटिका में आया और इन दोनों जलती हुई नारियों को बुझा दिया। उसने कहा कि एक बार जिसने अपने पति के मन को समझ लिया है, वह दूसरे से क्यों लड़े? ऐसा ज्ञान तुम दोनों में कोई नहीं जानता कि कभी रात होती है और कभी दिन—दोनों का रहना अनिवार्य है। पति के रंग में दोनों धूप और छांह के रूप में रह सकती हैं, दोनों एक साथ ही धूप-छांह की तरह मिली रहो। लड़ाई छोड़कर दोनों समझ-बूझ लो, यदि तुम्हारे पास कुछ

सेवा है तो पति की सेवा करो। तुम दोनों तो गंगा और यमुना के सदृश हो, ईश्वर ने पहले ही से तुम दोनों का मिलाप लिख रखा था। अब तुम दोनों मिलकर अपने पति की सेवा करो और सुख-भोग प्राप्त करो।

टिप्पणी—*इस पद में भी जायसी ने आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत किये हैं। साँवरी गोरी या यमुना गंगा से इड़ा और सुषुम्णा की ओर संकेत है। दोनों के गुण भिन्न हैं फिर भी योग-मार्ग में दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। राजा आत्मा है जो दोनों नाड़ियों का जागरण करके उनके पारस्परिक विरोध को दूर करता है। सच्चे ज्ञान की स्थिति में आत्मा कभी रात इड़ा और कभी दिन सुषुम्णा में रत रहता है। जब दोनों का पारस्परिक विरोध दूर हो जाता है तभी आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि होती है।*

अलंकार—समासोक्ति।

इस पद के पश्चात् पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में एक पद और है। डा० माताप्रसाद गुप्त उसे प्रक्षिप्त मानते है क्योंकि यह पद सभी प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में नहीं है। वैसे विषय की दृष्टि से इस पद में कोई दोष नहीं है, जो चिन्त्य प्रयोग डा० गुप्त ने इस पद में निकाले हैं वे सारगर्भित नहीं हैं। पद इस प्रकार है—

अस कहि दूनौ नारि मनाईं। बिहँसि दोउ तब कंठ लगाईं॥
लेइ दोउ संग मन्दिर महँ आए। सोन पलंग जहँ रहे बिछाए॥
सीझी पाँच अमृत जेवनारा। औ भोजन छप्पन परकारा॥
हुलसीं सरस खजहजा खाई। भोग करत बिहँसी रहसाई॥
सोन-मन्दिर नागमति कहँ दीन्हा। रूप-मन्दिर पद्मावती लीन्हा॥
मन्दिर रतन रतन कै खँभा। बैठा राज जोहारै सभा॥
सभा सो सबै सुभर मन कहा। सोई अस जो गुरु मत कहा॥

बहु सुगन्ध, बहु भोग सुख, कुरलहिं केलि कराहिं।
दुहुँ सौं केलि नित आनै, रहस अनँद दिन जाहिं॥

अर्थ—ऐसा कह कर राजा ने दोनों पत्नियों को मना लिया और दोनों को प्रसन्न होकर गले लगाया। फिर वह दोनों को लेकर महल में गया, वहाँ पर सोने के पलंग बिछे हुए थे। वहाँ पांच जेंवनारें हुईं और छप्पन प्रकार के भोजन तैयार किये गये। वे दोनों सरस मेवों को खा कर प्र .न्न हुईं और आनन्द करती हुई प्रफुल्लित हो गयीं। राजा ने सोने का महल तो नागमती को और रूपे का महल पद्मावती को दे दिया। इन महलों में रत्नों के खम्भे लगे थे, राजा महल में बैठकर राज सभा का आगत-स्वागत ग्रहण करने लगा। जायसी का मत है कि वही सभा सब प्रकार से पूर्णता को प्राप्त है जिसे गुरु-मत प्राप्त है।

रानियाँ अनेक प्रकार की सुगंधियों और सुख के साधनों में आनन्द करने लगीं। राजा दोनों के साथ प्रेम-क्रीड़ा करने लगा और आनन्द से दिन बीतने लगे।

३७. रत्नसेन-संतति-खराड

डा० माताप्रसाद जी गुप्त इस खंड को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस खंड में है भी केवल एक ही छंद। क्षेपक बताने का मुख्य कारण तो यह है कि यह पद भी कई हस्तलिखित प्रतियो में उपलब्ध नहीं होता। फिर इसमें पद्मावती और नागमती के एक-एक पुत्र कँवलसेन और नागसेन के उत्पन्न होने का उल्लेख है। इन दोनों पुत्रों का यहाँ के अतिरिक्त ग्रन्थ में कहीं भी कथन नहीं मिलता। साथ ही अर्थ की दृष्टि से भी इस पद के कई शब्द 'तोहीं', 'जाही' और 'दुखी' को डा० गुप्त चिन्त्य बताते हैं जिनके अर्थ बिलकुल ठीक नहीं निकलते। पद इस प्रकार है—

जाएउ नागमती नागसेनहिं। ऊँच भाग, ऊँचै दिन रैनहिं॥
कँवलसेन पदुमावति जाएउ। जानहुँ चन्द धरति महँ आएउ॥
पंडित बहु बुधिबंत बोलाए। रासि बरग औ गरह गनाए॥
कहेन्हि बड़े दोऊ राजा होहीं। ऐसे पूत होंहि सब तोहीं॥
नवौ खंड के राजन्ह जाहीं। औ किछु दुंद होइ दल माँहीं॥
खोलि भंडारहिं दान देवावा। दुखी सुखी करि मान बढ़ावा॥
जाचक लोग गुनी जन आए। औ अनंद के बाज बधाए॥
बहु किछु पावा जोतिसिन्ह, औ देइ चले असीस।
पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब सब, जीयहिं कोटि बरीस॥

शब्दार्थ—जाएउ=उत्पन्न किया। रासि=राशि। बरग=वर्ग। गरह=ग्रह। दुंद ‖ लड़ाई। जोतिसिन्ह=ज्योतिषी। कलत्र=स्त्री।

अर्थ—नागमती ने नागसेन को जन्म दिया। वह बड़ा ही भाग्यशाली था और दिन रात उसका भाग्य बढ़ने वाला था। पद्मावती ने कँवलसेन को जन्म दिया, वह इतना सुन्दर था कि मानों कि पृथ्वी पर चन्द्रमा ही का अवतार हो गया। राजा ने बहुत से बुद्धिमान् पंडितों को बुलाया, उन्होंने जन्म की राशियाँ और ग्रहों की गणना की। ज्योतिषियों ने कहा कि ये दोनों बड़े प्रतापी राजा होंगे। ये पुत्र उस प्रकार के होंगे। कि नवों खंड के राजाओं के पास में (सम्भवतः अश्वमेध यज्ञ के लिए) जायेंगे, उनकी सेनाओं से इनका कुछ युद्ध होगा। राजा ने पुत्रोत्सव पर भंडार खोलकर दान किया, दुखियों और गरीबों को सुखी किया और उनका मान बढ़ाया। याचक और गुणी लोग आयें और आनन्द के बाजे बज उठे। ज्योतिषियों को बहुत द्रव्य प्राप्त हुआ। उन्होंने आशीर्वाद दिया कि हे राजा तुम पुत्र, कलत्र (पत्नी) और कुटुम्बियों के साथ करोड़ों वर्ष जियो।

३८. राघव-चेतन-देश-निकाला-खण्ड

[४४६]

राघौ चेतनि चेतनि महा। आइ ओरेंगि राजा के रहा॥
चित चिंता जानै बहु भेऊ। कवि बियास पंडित सहदेऊ॥
बरनी आइ राज कै कथा। सिंघल कबि पिंगल सब मथा॥
कबि ओहि सुनत सीस पै धुना। स्रवन सों नाद बेद कबि सुना॥
दिस्टि सो धर्म पंथ जेहि सूझा। ग्यान सो परमारथ मन बूझा॥
जोग सो रहै समाधि समाना। भोग सो गुनी केर गुन जाना॥
बीर सो रिस मारै, मन गहा। सोइ सिंगार पाँच भल कहा॥
बेद भेद जस बररुचि, चित चिंता तस चेत।
राजा भोज चतुर्दस बिद्या, भा चेतन सौं हेत॥ ४४६॥

शब्दार्थ—ओरेंगि=तख्त, राजदरबार-पाठान्तर-आऊसरि=उम्रभर। पिंगल=छंद। गहा=वश में किया। बररुचि=विक्रमादित्य की सभा के विद्वान् पंडित। चतुर्दस-बिद्या*=४ वेद, ६ वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र।

अर्थ—राघव चेतन नामक एक विद्वान् राजा के दरबार में रहता था। वह मन से विचार करने वाला अनेक रहस्यों का ज्ञाता था। कविता में व्यास और पंडिताई में सहदेव के सदृश था। आ करके उसने राजा की सारी सिंहल की कथा को छन्दोबद्ध कर डाला। उस रचना को जो ही सुनता था सिर धुनने लगता था। उसे ऐसा प्रतीत होता था मानों वह कानों से वेद-ध्वनि सुन रहा हो। उसे सुन कर धर्म पंथ में दृष्टि हो जाती थी। ज्ञान ऐसा हो जाता था कि परमार्थ में ही मन लग जाता था। जोगी उसे सुनकर समाधि में समा जाता था, भोगों का ऐसा वर्णन इसमें था कि गुणी ही उसको समझ सकते हैं। वीर रस का ऐसा परिपाक था कि क्रोध का आवेश पाठक के मन को वशीभूत कर लेता था। उसमें पाँचों शृङ्गारों का भी सुन्दर वर्णन था। जिस प्रकार विद्वान् पंडित वररुचि को वेद के भेदों का ज्ञान था उसी प्रकार राघवचेतन की बुद्धि में भी ज्ञान था। राजा भोज की चौदह विद्याओं को भी वह जानता था, अतएव राजा को उससे प्रीति हो गयी।

[४४७]

घरी अचेत होइ जौं आई। चेतन कर पुनि चेत भुलाई॥
भा दिन एक अमावस सोई। राजैं कहा दुइज कब होई॥

*पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांग-मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

राघौ के मुख निकसा आजू । पँडितन्ह कहा कालिह् बड़ राजू ।।
राजें दुहूँ दिसा फिरि देखा । को पंडित बाउर, को सरेखा ।।
पंज टेकि तब पंडितन्ह बोला । झूठा बेद बचन जौं डोला ।।
राघौ करत जाखिनी पूजा । चहत सो रूप देखावत दूजा ।।
तेहि बर भए पंज कै कहा । झूठ होइ सो देस न रहा ।।

राघौ पूजा जाखिनी, दुइज दिखावा साँझ ।
पंथ गरंथ न जे चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ ।। ४४७ ।।

शब्दार्थ—चेतन=चैतन्य-बुद्धिमान् । सरेखा=चतुर । पैज=प्रतिज्ञा, शपथ । जाखिनी=यक्षिणी । गरंथ=ग्रन्थ ।

अर्थ—कवि कहता है कि जब संयोग से चेतना-शून्यता की घड़ी आ जाती है, तो बुद्धिमान् की भी बुद्धि भूल जाती है। एक दिन अमावस्या का दिन था, राजा ने पूछा कि द्वितीया कब होगी । राघव चेतन के मुख से निकल गया कि 'आज' है, पर अन्य पंडितों ने कहा कि कल होगी । राजा ने दोनों दिशाओं में राघव चेतन की ओर और पंडितों की ओर देखा कि तुममें से कौन बावला और कौन चतुर है ? तब पंडितों ने कहा कि यदि हमारी बात झूठ हो, तो वेद के वचन मिथ्या हैं (क्योंकि हमने तो शास्त्र के अनुसार ही कहा है) । राघव तो यक्षिणी की पूजा करता था, उसी के बल पर जैसा चाहता है, वैसा दूसरा रूप दिखा देता था । उसी के बल पर उसने भी शपथपूर्वक कहा कि जो आज झूठा सिद्ध हो जाय, वह देश में न रहने पावे ।

राघव चेतन ने अपनी यक्षिणी की पूजा की और सायंकाल उसने द्वितीया का चन्द्रमा दिखा दिया । जायसी कहते हैं कि जो लोग ग्रन्थ के रास्ते नहीं चलते, वे वास्तव में भूलते हैं, जैसे कोई वन में भटक जाय। भाव यह कि राघवचेतन ने शास्त्र के विरुद्ध यह करके अच्छा न किया। इसी भूल के कारण उसे भी भटकना पड़ा।

[४४८]

पंडित कहहिं हम परा न धोखा । यह सो अगस्ति समुंद जेउँ सोखा ।।
सो दिन गएउ साँझ भौ दूजी । देखिअ दूजि घरी वह पूजी ।।
पंडितन्ह राजहि दीन्ह असीसा । अब कसिअइ कंचन औ सीसा ।।
जौ वह दूजि कालिन्ह कै होती । आजु तीजि देखिअति तसि जोती ।।
राघौ कालिह दिस्टि बँध खेला । सभा मोहि चेटक सिर मेला ।।
एहि कर गुरू चमारिनि लोना । सिखा काँवरू पाढ़ित टोना ।।
दूजि अमावस महँ जो देखावै । एक दिन राहु चाँद कहँ लावै ।।

राज बार अस गुनी नचा हिअ, जेहि टोना कर खोज ।
एहि छन्द ठगविद्या, डहँका राजा भोज ।। ४४८ ।।

शब्दार्थ—सोखा=पी गया। कसिग्रइ=कसिए-परखिए। दिस्टिबँध=इन्द्रजाल। चेटक=जादू। चमारिनि लोना=कामरूप की प्रसिद्ध जादूगरनी लोना चमारी। कांवरू=कामरूप (ग्रासाम)। पाढ़ित टोना=टोना (जादू) पढ़ना। राज बार=राज दरबार। डहंका=ठगा गया। राजा भोज=कथा है कि एक बार कोई जादूगर ग्राया। उसने राजा भोज से कहा कि मैं देवताग्रों की ग्रोर से ग्रसुरों से लड़ने जा रहा हूँ, ग्राप तब तक मेरी पत्नी की रक्षा करें। राजा भोज ने स्त्रीकार कर लिया। कुछ समय बाद ग्राकाश से उस ऐन्द्र-जालिक का शरीर टुकड़े-टुकड़े गिर पड़ा। स्त्री ने कहा, महाराज मेरा पति तो युद्ध में मारा गया। ऐसा कह कर वह उसके शरीर के टुकड़ों के साथ सती हो गई। कुछ समय बाद वह ऐन्द्रिजालिक ग्राया ग्रौर ग्रपनी स्त्री माँगने लगा। राजा ने कहा कि वह तो ग्रग्नि में जलकर मर गई है। तब उसने कहा राजन्! ऐसा न कहो, मेरी स्त्री तो ग्रापके ग्रन्तःपुर में है। यह कहकर उसने ग्रपनी स्त्री का नाम ले कर पुकारा ग्रौर वह राजा के ग्रन्तःपुर से ही निकल ग्राई।

ग्रर्थ—पंडितों ने कहा कि ऐसे धोखेधड़ी की बात कभी नहीं हो सकती, यह तो ग्रगस्त्य हो गया, जिसने सारे समुद्र को पी लिया था। भाव यह कि ग्रमावस्या के दिन द्वितीया का चाँद दिखाना ग्रौर द्वितीया तिथि का होना ग्रसम्भव है, इतनी प्रत्यक्ष बात को झूठा कैसे कहा जा सकता है। वह दिन बीता ग्रौर दूसरी संध्या ग्राई, तब ठीक समय पर द्वितीया का चन्द्रमा ग्राकाश में दिखलाई पड़ा। पंडितों ने जाकर राजा को ग्राशीर्वाद दिया ग्रौर कहा कि हे राजन्! ग्रब ग्राप कसौटी पर सोना ग्रौर शीशा कस कर देखिए। यदि कल ही द्वितीया की तिथि रही होती, तो ग्राज चन्द्रमा में तृतीया की ज्योति होती। राघव-चेतन ने तो कल इन्द्रजाल से दृष्टिबन्ध का खेल कर दिया था। इसकी गुरु तो कामरूप की प्रसिद्ध जादूगरनी लोना चमारी है, उसी से इसने वहां पर टोना पढ़ना सीख रक्खा है। जो व्यक्ति ग्रमावस्या में द्वितीया दिखा सकता है, वह तो चन्द्रमा के लिए राहु भी ला सकता है। राज दरबार में ऐसा गुणी नहीं चाहिए, जो टोना-जादू की खोज में रहता है। इसी छल-छन्द ग्रौर ठगविद्या से राजा भोज भी ठगा गया था।

[४४६]

राघौ बैन जो कंचन रेखा। कसें बान पीतर ग्रस देखा॥
ग्रग्याँ भई रिसान नरेसू। मारौं काह निसारौं देसू।
तब चेतन चित चिंता गाजा। पँडित सो जो बेद मति साजा॥
कवि सो पेम तंत कबिराजा। झूँठ साच जेहि कहत न साजा॥
खोट रतन सेवा फटिकरा। कहँ खर रतन जो दारिद हरा॥
चहै लच्छि बाउर कबि सोई। जेहि सुरसती, लच्छि कित होई॥
कविता सँग दारिद मति भँगी। काँटइ कुटिल पुहुप के संगी॥

कविता चेला बिधि गुरू, सीप सेवाती बुंद।
तेहि मानुस कै आस का, जो मरजिआ समुंद ॥ ४४६ ॥

शब्दार्थ—बान=वर्ण, रंग । पीतर=पीतल । रिसान=क्रुद्ध । काह=या । निसारों देसू=देश निकाला दूँ । गाजा=उत्पन्न हुई । फटिकारा=फिटकरी जिसका प्रयोग सोनार लोग खोटे सोने के साथ करते हैं । खर=खरा, शुद्ध । हरा=हरने वाला । मतिभँगी=बुद्धि को नष्ट करने वाला । मरजिआ=गोताखोर ।

अर्थ—राजा ने राघवचेतन की बातों को जो सोने की रेखा सी प्रतीत होती थीं, परीक्षा करके देखा तो प्रतीत हुआ कि वह तो पीतल के समान है । राजा क्रुद्ध हो गया और आज्ञा हुई कि यह मार डाला जाय या देश से निकाल दिया जाय । तब राघवचेतन को चिन्ता हुई । वह सोचने लगा कि पंडित तो वही है जो वेद की बुद्धि में रहता है। कवि तो श्रेष्ठ वही है जो प्रेम-तत्व का आधार लेता है, उसे झूठ-साँच शोभा नहीं देती । खाटे सोने (रत्न) की ही सेवा फिटकरी करती है । अर्थात् मैंने खोटे राजा रत्नसेन की सेवा अब तक की । यह वह खरा रत्न (राजा) नहीं है जो हमारे दारिद्रय को हर सके । जो कवि लक्ष्मी (धन) चाहता है वह पागल है । भला जिसके पास सरस्वती (विद्या) है उसके पास लक्ष्मी (धन) कहां से हो सकतो है ? कविता के साथ मतिभ्रष्ट करने वाला दारिद्रय इसी प्रकार लगा रहता है, जैसे पुष्प के साथ कुटिल कांटे । कविकर्म तो चेला है, भाग्य गुरु है । धन या वैभव की इच्छा स्वाति नक्षत्र की बूँद है, तो भला उस मनुष्य के लिए क्या आशा की जा सकती है जो समुद्र का गोताखोर (मरजीवा) है । भाव यह कि कवि कर्म दुष्कर है, भाग्य का ही सहारा है, कवि बेचारे की धनवैभव की इच्छा की पूर्ति बड़ी कठिन है । उसका जीवन सदा ही संशयात्मक है, उसे जीवन में कोई शुभाशा न करनी चाहिए ।

अलंकार—पूर्णोपमा और साङ्गरूपक ।

[४५०]

यह रे बात पदुमावति सुनी । चला निसरि कै राघौ गुनी ॥
कै गियान धनि अगम विचारा । भल न कीन्ह अस गुनी निसारा ॥
जेइँ जाखिनी पूजि ससि काढ़ी । सुरज के ठाउँ करै पुनि ठाढ़ी ॥
कवि कै जीभ खरग हिरवानी । एक दिसि आग, दोसर दिसि पानी ॥
जनि अजगुत काढ़ँ मुख भौंरें । जस बहुतें, अपजस होइ थोरें ॥
राघौं चेतनि बेगि हंकारा । सुरुज गरह भा लेहु उतारा ॥
बांभन जहाँ दखिना पावा । सरग जाइ जौं होइ बोलावा ॥

आवा राघौ चेतनि, धौराहर के पास।
अंस न जानै हिरदै, बिजुरी बसै अकास ॥ ४५० ॥

शब्दार्थ—निसरि=निकलकर। धनि=स्त्री, पद्मावती। अगम=आगे आने वाला परिणाम। खरग=खड्ग, तलवार। हिरवानी पाठान्तर हरद्वानी=हरद्वान की प्रसिद्ध तलवार। डा० वासुदेव शरण जी ने इसका अर्थ हिरात की तलवार किया है क्योंकि प्राचीन फारसी में हेरात को हरइव या हरैव कहा गया है। इसी हरइव या हरैव का विशेषण हिरवानी हो गया। दोसर=दूसरी। जनि=मत। अजगुत=अयुक्त बात। भोंरें=भोले। सुरज गरह=सूर्य-ग्रहण। उतारा=निछावर किया हुआ दान। ऐस=ऐसा।

अर्थ—इस बात को पद्मावती ने सुना कि गुणी राघवचेतन निकल के जा रहा है। बुद्धि से सोच कर उसी स्त्री ने उसके परिणाम पर विचार किया कि राजा ने यह काम अच्छा नहीं किया कि ऐसे गुणी को निकाल दिया। जिसने यक्षिणी पूजकर अमावस्या में चन्द्रमा निकाल दिया वह तो चन्द्रमा को सूर्य के पास खड़ा कर सकता है। अर्थात् मुझ (चन्द्रमा) को किसी और राजा (सूर्य) के पास खड़ी कर सकता है। कवि की जिह्वा तो हिरवानी तलवार है; एकओर उसमें अग्नि है और दूसरी ओर पानी है—अर्थात् जितनी ही उसकी वाणी में मिठास है उतनी ही भयंकरता भी है। मेरे भोले राजा ने व्यर्थ ही अयुक्त बात मुख से निकाल दी। यश तो बहुत करने पर प्राप्त होता है, पर अपयश थोड़े ही में मिल जाता है। उसने तुरन्त ही राघवचेतन को बुलवाया और कहा कि सूर्य-ग्रहण लगा है, तुम निछाबर किया हुआ दान ले जाओ। कवि कहता है कि ब्राह्मण यदि दक्षिणा पा जाय तो उसे यदि स्वर्ग से भी बुलावा आये तो वह जा सकता है, अतएव दक्षिणा के लिए राघवचेतन पद्मावती के महल के पास आया। वह हृदय में ऐसा नहीं जानता था कि आकाश में बिजली रहती है। कवि का मन्तव्य यह है कि राघवचेतन ने कभी पद्मावती को न देखा था—वह बिजली की द्युति वाली थी—ऐसी कल्पना भी वह न कर सकता था।

अलंकार—रूपक।

[४५१]

पदुमावति सो झरोखें आई। निहकलंक जसि ससि देखराई ॥
तेतखन राघौ दीन्ह असीसा। जनहुँ चकोर चंद मुख दीसा ॥
पहिरें ससि नखतन्ह कै मारा। धरती सरग भएउ उजियारा ॥
औ पहिरें कर कंगन जोरी। लहै सो एक एक नग नव कोरी ॥
कंगन काढ़ि सो एक अडारा। काढ़त हार टूटि गौ मारा ॥
जानहुँ चांद टूट लै तारा। छूटेउ सरग काल कर धारा ॥
जानहुँ सुरुज टूट लै करा। परा चौंधि चित चेतनि हरा ॥

परा आइ भुइँ कंगन, जगत भएउ उजियार।
राघौ भारा बीजुरी, बिसँभर कछु न सँभार॥ ४५१॥

शब्दार्थ—झरोखें=गवाक्ष, खिड़की। मारा=माला। लहै=शोभा पा रहे थे। नवकोरी=नवरत्नों को कोर (काट) कर। अडारा=डाल दिया। बिसँभर=बेहोशी।

अर्थ—पद्मावती महल के झरोखे पर आई तो ऐसी दीख पड़ी जैसे निष्कलंक चन्द्रमा। उसी समय राघवचेतन ने आशीर्वाद दिया। राघव इस प्रकार पद्मावती को देख रहा था जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है। शशि रूपी पद्मावती नक्षत्र रूपी हीरों की माला पहने थी, उसके प्रकाश से पृथ्वी और आकाश सभी जगह उजाला हो गया। हाथ में कंगनों की जोड़ी पहने थी, प्रत्येक में नवरत्न कोर कोर कर जड़े थे। उसने एक कंगन निकाल कर डाल दिया। उसके निकालने में हार की माला भी टूट गयी। ऊपर से जब कंगन मोतियों के साथ गिरा तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों चन्द्रमा ताराओं को लेकर टूट रहा है और स्वर्ग से काल की धारा टूट रही है, अथवा मानो सूर्य अपनी किरणों को लेकर टूट रहा है। राघवचेतन उसे देख कर चकाचौंध हो गया, उसका चित्त हर उठा।

कंगन भूमि पर आ गिरा, उसके प्रकाश से पृथ्वी में उजेला हो गया। राघवचेतन को तो मानो बिजली लग गयी हो, वह बेहोश हो गया, उसे किसी चीज की याद न रह गयी।

अलंकार—निहकलंक जसि ससि=व्यतिरेक।
जनहुँ चकोर चन्द मुख दीसा—उत्प्रेक्षा।
पहिरे ससि नखतन कै मारा=रूपकातिशयोक्ति।
जानहु चाँद......................उत्प्रेक्षा।

[४५२]

पदुमावति हँसि दीन्ह झरोखा। अब जो गुनी मरइ, मोहिं दोखा॥
सखीं सरेखीं देखहिं धाई। चेतन अचेत परा केहि घाई॥
चेतन परा न एकौ चेतू। सबन्हि कहा एहि लाग परेतू॥
कोइ कह, कांप आहि सनिपातू। कोइ कह, आहि मिरिगिया बातू॥
कोइ कह, लाग पवन कर झोला। कैसेहुँ समुझि न राघौ बोला॥
पुनि उठारि बैसारिन्हि छाहाँ। पूछहिं, कौनि पीर जिय माहाँ॥
वहुँ काहू के दरसन हरा। कै एहि धूत भूत छँद छरा॥
कै तोहि दीन्ह काहु किछु, कै रे डसा तूँ साँप।
कहु सचेत होइ चेतन, देह तोरि कस कांप॥ ४५२॥

शब्दार्थ—सरेखीं=चतुर। घाई=चोट। परेतू=प्रेत। सनिपातू=सन्निपात।

मिरिगिया=मृगी रोग, हिस्टीरिया । झोला=बर्फीली हवा का झोंका । दहुँ=अथवा । छरा=छला गया ।

अर्थ—पद्मावती झरोखे में हँस पड़ी । उसने कहा कि अब यदि यह गुणी राघव-चेतन मरेगा तो इसका दोष मुझे ही लगेगा । उसकी चतुर सखियां दौड़ कर देखने लगीं कि राघवचेतन किस चोट से बेहोश हो गया है । वह पड़ा हुआ था, उसे बिल्कुल ही होश न था । सबने कहा कि इसे तो प्रेत लगा हुआ है । कोई कहने लगी कि यह कांप रहा है, इसे सन्निपात हो गया है, कोई कहने लगी कि इसे मृगी (हिस्टीरिया) रोग हुआ है, कोई कहने लगी कि इसे ठंडी हवा का झोंका लगा है । किसी प्रकार उन्हें समझ नहीं पड़ता और न राघव बोलता था । फिर उसे उठा कर उन लोगों ने उसे छाया में बैठाया और पूछने लगीं कि कौन सी पीड़ा तुम्हारे दिल में है । क्या किसी के दर्शन से तो तुम्हारी सुधबुध नहीं हरी गयी, या भूत-प्रेतों के छल-छंद से छले गये हो ? या तुझे कुछ विष आदि तो नहीं दे दिया ? या कहीं तुझे साँप ने तो नहीं डस लिया ? हे राघवचेतन ! सचेत होकर बताओ तेरी देह क्यों कांप रही है ?

[४५३]

भएउ चेत चेतन तब जागा । बकत न आव, टकटका लागा ।।
पुनि जौं बोला बुधि मति खोवा । नैन झरोखा लाएँ रोवा ।।
बाउर बहिर सीस पै धुना । आप न कहै पराए न सुना ।।
जानहुँ. लाई काहुँ ठगौरी । खिन पुकार, खिन बांधै पौरी ।।
हौं रे ठगा एहि चितउर मांहा । कासौं कहौं, जाउँ केहि पाँहा ।।
यह राजा सुठि बड़ हत्यारा । जेइँ अस ठग राखा उजियारा ।।
ना कोइ बरज न लाग गोहारी । अस एहि नगर होइ बटवारी ।।

दिस्टि दिए ठगलाडू, अलक फांस परि गींव ।
जहाँ भिखारि न बाँचहिं, तहाँ बांच को जीव ।। ४५३ ।।

शब्दार्थ—बकत=बोली । ठगौरी=ठगविद्या, जादू । पौरी=पौड़ियों पर । गोहारी=पुकार । बटवारी=लूट । अलक=बाल । गींव=ग्रीवा, गर्दन । बांचहि=बचते हैं ।

अर्थ—होश आने पर राघवचेतन जग पड़ा, उसकी बोली नहीं निकलती, आंखों में टकटकी लग गयी । फिर जो बोला तो उसकी बुद्धि खो गयी, महल के झरोखे पर दृष्टि लगा कर रोने लगा । बावले और बहरे की भांति अपने हृदय के दुःख-दर्द को व्यक्त न कर सकने के कारण वह अपना सिर धुनने लगा । न वह अपनी कहता है और न दूसरों की

सुनता है। मानो किसी ने उस पर जादू कर दिया है। कभी पुकारता है, कभी अपनी दृष्टि महल की पौड़ियों पर लगाता है। कहने लगा कि मैं तो इस चित्तौड़ में ठगा गया, अब किससे कहूँ और किसके पास जाऊं? यह राजा तो बड़ा ही हत्यारा है, जिसने ऐसा उज्ज्वल ठग (पद्मावती) रख छोड़ा है। न कोई इसे रोकने वाला है और न कोई पुकार सुनता है। इस प्रकार इस नगर में लूट हो रही है। पद्मावती की आँखों और अलकों के सम्बन्ध में कहता है कि इसकी दृष्टि वह ठग लड्डू है जिसे देकर वन में ठग लोग मुसाफिरों को मार देते थे और इसकी अलकें मेरे गले की फाँसी हैं। जब इस नगर में मुझ जैसा भिखारी ही नहीं बचता, वहाँ और कोई जीव कैसे बचेगा?

अलंकार—अन्तिम दोहे में रूपक।

[४५४]

कत धौराहर आइ झरोखें। लै गै जीव दक्खिना धोखें॥
सरग सूर ससि करै अँजोरी। तेहि तें अधिक देउँ केहि जोरी॥
ससि सूरहि जौ होति यह जोती। दिन भा रहत, रैनि नहिं होती॥
सो हँकारि मोहि कंगन दीन्हा। दिस्टि न परै जीव हरि लीन्हा॥
नैन भिखारि ढीठ सत छाँड़े। लागे तहाँ बान बिखु गाड़े॥
नैनहिं नैन जो बेधि समाने। सीस धुनहिं नहिं निसरहिं ताने॥
नवहिं न नाएं निलज भिखारी। तबहुँ न रहहिं लागि मुख कारी॥

कत करमुखे नैन भए, जीव हरा जेहि बाट।
सरवर नीर बिछोह जेउँ, तरकि तरकि हिय फाट॥४५४॥

शब्दार्थ—दक्खिना=दक्षिणा, दान। हँकारि=बुला कर। बिख=विष। निसरहिं=निकलते हैं। ताने=खींचने पर। तरकि=सूख कर।

अर्थ—राघवचेतन कहता जा रहा है कि पद्मावती धौराहर के झरोखे पर क्यों आई? वह तो दक्षिणा का धोखा देकर मेरा जीव ही ले गयी। आकाश में सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशमान हैं, उनसे अधिक किसकी समता इसके साथ करूँ। पर चन्द्रमा और सूर्य में यदि पद्मावती जैसा प्रकाश होता तो दिन ही रहता, रात क्यों होती। इसने मुझे बुला कर कंगन दिया, अब वह मेरी दृष्टि में नहीं पड़ रही है, उसने तो मेरा जीव ही हर लिया है। भिखारी रूपी मेरे नेत्रों ने धृष्टता करके सत को भी छोड़ दिया, इन्हें विष से भरे हुए बाण लगे हैं। आँखों से आँखें जब बिंध कर एक दूसरे में समा जाती हैं तो सारे सिर धुन डालो, खींचने पर निकल नहीं पातीं। ये निर्लज्ज भिखारी—नेत्र झुकाने पर झुकते नहीं। इनके मुख में कालिख (अंजन) भी लग गया तब भी ये नहीं मानते। ये कलमुँहे नेत्र हुए ही क्यों, जिनके रास्ते से जीव हरा गया (भाव यह कि आंखों के देखने ही

से प्राण जा रहे हैं। यदि ये न होतीं तो अच्छा होता)। अब हमारा हृदय इस प्रकार फट रहा है जैसे तालाब का पानी सूख जाने पर उसमें दरारें पड़ जाती हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—लागि मुख कारी।

उपमा—सरवर नीर बिछोह जेउँ।

[४५५]

सखिन्ह कहा चेतनि बिसँभरा। हिएँ चेतु जिय जासि न मरा॥
जौं कोइ पावै आपन माँगा। ना कोइ मरै, न काहू खाँगा॥
वह पदुमावति आहि अनूपा। बरनि न जाइ काहु के रूपा॥
जेइँ चीन्हा सो गुपुत चलि गएऊ। परगट काह जीव बिनु भएऊ॥
तुम्ह अस बहुत बिमोहित भए। धुनि-धुनि सीस जीव दै गए॥
बहुतन्ह दीन्ह नाइ कै गीवाँ। उतरु न देइ, मार पै जीवाँ॥
तूँ पुनि मरब होब जरि भुई। अबहुं उघेलु कान कै रूई॥
कोई माँगि मरै नहिं पावै, कोइ बिनु माँगा पाउ।
तूँ चेतनि औरहि समुझावहि, दहुँ तोहि को समुझाउ॥४५५॥

शब्दार्थ—खाँगा=कमी पड़ना। भुई=सरकंडे का धुआं। उघेलु=खोलो।

अर्थ—सखियों ने कहा कि हे राघव चेतन हृदय में चेतो, मर नहीं जाओ। यदि किसी को मुंह माँगी मृत्यु मिले तब तो कोई किसी प्रकार का दुःख न पावेगा और न किसी को कुछ घटेगा। वह पद्मावती तो अनुपम सुन्दरी है, उसके रूप का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता। जो उसे पहचानता है वह तो गुप्त रूप से चला जाता है, प्रगट होकर जीव-विहीन क्यों हो। तुम्हारे ऐसे बहुत से लोग मोहित हुए और सिर धुन-धुन कर जान दे गये। अनेक लोगों ने अपनी गर्दन फंसा दी, उत्तर नहीं मिलता, जान चली जाती है। तू भी मर कर सरकंडे के धुएँ की तरह भस्म हो जायगा। इसलिए अब भी अपने कान की रुई को निकाल—अर्थात् ध्यान से सुन।

संसार में कोई तो बिना मांगे ही मौत पा जाता है और कोई माँग कर भी मरने नहीं पाता। तू तो राघव चेतन है, औरों को समझाने वाला है। अब भला तुझे ही कौन समझावे।

[४५६]

भएउ चेत, चित चेतनि चेता। बहुरि न आइ सहौं दुख एता॥
रोवत आइ परे हम जहाँ। रोवत चले कवन सुख तहाँ॥
जहँवां रहें सांसो जिय केरा। कौनु रहनि, मकु चलौं सबेरा॥
अब यह भीख तहाँ होइ माँगौं। तेत देइ जग जरमि न खाँगौं॥

औ अस कंगनु पावौं दूजी। दारिद हरै, इंछ मन पूजी ।।
ढीली नगर आदि तुरुकानू। साहि अलाउद्दीन सुलतानू ।।
सोन जरै जेहि की टकसारा। बारह बानी परहिं दिनारा ।।
तहां जाइ यह कँवल अभासौं, जहाँ अलाउद्दीन।
सुनि के चढ़ै भानु होइ, रतन होइ जल मीन ।।४५६।।

शब्दार्थ—मकु=बल्कि। सबेरा=शीघ्र। जरमि=जन्म लेकर। खाँगौं=कमी हो। इंछ=इच्छाएँ। ढीली=दिल्ली। बारहबानी=शुद्ध, चमकीला। दिनारा=दीनार, सोने का सिक्का। अभासौं=प्रकाशित करूँ।

अर्थ—राघव चेतन को चेत हुआ। उसने सोचा कि फिर आकर यहाँ इतना दुःख न सहूँगा। रोते हुए हम जहां आ पड़े हैं, वहां से रोते हुए ही चल रहे हैं। यहां किस प्रकार का सुख है (इसमें संसार की ओर संकेत भी है)। जहाँ जीव भी संशय में हैं वहाँ क्या रहना? इससे तो अच्छा यह कि शीघ्र ही यहाँ से चल दें। अब तो यह भिक्षा वहीं माँगूँगा जहां उतना मिले कि जन्म पाकर मुझे कुछ न घटे। फिर मुझे ऐसा ही दूसरा कंगन मिल जाय जो कि मेरे दारिद्रय को हर ले और मेरी इच्छाओं को पूरा कर दे।

दिल्ली नगर तुरकों का आदि स्थान है, वहाँ पर अलाउद्दीन सुलतान है। उसकी टकसाल में सोना जलता है और शुद्ध सोने की दीनार बनती है। वहीं जाकर इस कमल (पद्मावती) का प्रकाश करूँगा। जिससे अलाउद्दीन सूर्य बन कर चित्तौड़ पर आक्रमण करेगा और रत्नसेन का पद्मावती से बिछोह होकर ऐसा हाल होगा, जैसे जल से बिछुड़ने पर मछली का होता है।

अलंकार—रूपक।

———

३६. राघव-चेतन-दिल्ली-गमन-खण्ड

[४५७]

राघौ चेतन कीन्ह पयाना। ढीली नगर जाइ नियराना।
जाइ साहि के बार पहूँचा। देखा राज जगत पर ऊँचा॥
छतिस लाख ओरगन्ह असवारा। बीस सहस हस्ती दरबारा॥
जाँवत तपै जगत महँ भानू। ताँवत राज करै सुलतानू॥
चहूं खंड के राजा आवहिं। होइ अस मर्द जोहारि न पावहिं॥
मन तिवानि कै राघौ झूरा। नहिं उबारु, जिय कादर पूरा॥
जहाँ झुराहिं दिहें सिर छाता। तहाँ हमार को चालै बाता॥

अरध उरध नहिं सूझै, लाखन्ह उमरा मीर।
अब खुर खेह जाब मिलि, आइ परे तेहि भीर॥४५७॥

शब्दार्थ—नियराना=निकट पहुँचा। ओरगन्ह=मूलशब्द अरबी अरकान है जो रुक्न का बहुवचन है जिसका अर्थ खम्भा है। जायसी ने सरकार के खम्भे अर्थात् उमरां के अर्थ में किया है। मर्द=भीड़ में शरीर का रगड़ना। जांवत=जितना। तिवानि=चिन्ता। झूरा=सूखा, दुखी हुआ। उबारु=रक्षा, गुजारा होना। कादर=कायरता। झुराहिं=चिन्ता करना। दिहें सिर छाता=सिर पर छत्र धारण करने वाले। खुर-खेह=घोड़ों की टापों की धूल में।

अर्थ—राघव चेतन ने प्रस्थान किया और दिल्ली के समीप जा पहुँचा। वह अलाउद्दीन बादशाह के द्वार पर जा पहुँचा और देखा कि यह दरबार तो सारे संसार से उच्च है। उसके छत्तीस लाख उमराव घुड़सवार थे और बीस हजार हाथी थे। जितना तेज सूर्य का है उतने प्रताप से सुलतान अलाउद्दीन राज्य करता था। चारों ओर के राजा उसके दरबार में आते थे और उनसे इतनी भीड़ हो जाती थी कि सलाम करना भी मुश्किल होता था। राघव चेतन चिन्तित होकर दुःखी होने लगा कि यहां तो हमारा गुजारा नहीं हो सकता, ऐसा सोचकर उसके दिल में कायरता भर गई। उसने सोचा कि जहां छत्रपति राजा लोग खड़े-खड़े सूखते हैं, वहां भला मेरी बात कौन चलावेगा। उसे वार-पार कुछ नहीं सूझता था। लाखों उमराव और मीर लोग थे। ऐसा देखकर उसने समझा कि मैं तो इस भीड़ में घोड़ों की टापों से निकली हुई धूल में ही मिल जाऊँगा।

अलंकार—जहां झुराहिं दिहें सिर-छाता=विरोधाभास।

[४५८]

पातसाहि सब जाना बूझा। सरग पतार रैनि दिन सूझा ।।
जौं राजा अस सजग न होई। काकर राज, कहाँ, कर कोई ।।
जगत भार वहि एक संभारा। तौ थिर रहै सकल संसारा ।।
औ अस ओहिक सिंघासन ऊँचा। सब काहू पर दिस्टि पहूँचा ।।
सब दिन राज काज सुख भोगी। रैनि फिरै घर घर होइ जोगी ।।
राँव राँक सब जावँत जाती। सब कै चाह लेइ दिन राती ।।
पंथी परदेसी जेत आवहिं। सब को बात दूत पहुँचावहिं ।।
यह्नु रे बात तहँ पहुँची, सदा छत्र सुख छाँह।
बाँभन एक बार है, कँगन जराऊ बाँह ।।४५८।।

शब्दार्थ—पातसाहि=बादशाह । सजग=चतुर । वहि=वहन करके, संभाल कर। बार=द्वार।

अर्थ—बादशाह अलाउद्दीन बड़ा जानकार था, स्वर्ग से पाताल तक दिन और रात सदा ही उसे स्पष्ट थे। यदि राजा इतना चतुर न हो तो फिर उसका राज्य संसार में कैसे होगा ? सारे संसार के भार को धारण करके वह उसे सम्भालता है। तभी तो वह संसार में स्थिर रहता है। उसका सिंहासन इतना ऊँचा है कि उसकी दृष्टि सब पर पहुँच जाती है। वह सारा दिन तो राज-काज में लगाता था, पर रात में घर-घर जोगी होकर (भेष बदल कर) घूमा करता था। उसके राज्य में जितने भी राजा और रङ्क होते थे सबकी इच्छाओं को रात-दिन जाना करता था। जितने भी परदेशी राहगीर नगर में आते थे, सबकी बातें दूत लोग उसके पास पहुंचाया करते थे। सुलतान के पास यह बात भी पहुंची कि हे सदा राज-छत्र की सुख-छांह में रहने वाले सुलतान ! तेरे द्वार पर एक ब्राह्मण आया है जिसकी बाँह में एक जड़ाऊ कंगन है।

[४५९]

मया साहि मन सुनत भिखारी। परदेसी कहँ पूँछु हँकारी ।।
हम पुनि है जाना परदेसा। कौनु पंथ गवनब केहि भेसा ।।
ढीली राज चिता मन गाढ़ी। यह जग जैस दूध महँ साढ़ी ।।
सैंति बिरोरि छाछि कै फेरा। मथि घिउ लीन्ह महिउ केहि केरा ।।
एहि ढीली कत होइ होइ गए। कै कै गरब छार सब भए ।।
तेहि ढीली का रही ढिलाई। साढी गाढि, ढीलि जब ताईं ।।
रावन लंक जारि सब तापा। रहा न जोवन औ तरुनापा ।।
भीखि भिखारिहि दीजिअै, का बाँभनु का भाँट।
अग्याँ भई हँकारहु, धरती धरै लिलाट ।।४५९।।

शब्दार्थ—मया=दया। साढ़ी=मलाई। सैंति=संचित करके। बिरोरि=बिलोकर। महिउ=मट्ठा। ढीली=दिल्ली। तरुनापा=जवानी।

अर्थ—भिखारी का नाम सुनकर सुलतान के मन में दया आई। उसने कहा कि परदेशी को बुला कर पूछो। फिर मुझे भी तो परदेश जाना है, वह रास्ता कौन है, जिससे जाना होगा और कौन सा भेष धारण करना होगा। दिल्ली राज्य के सम्बन्ध में दिल में बड़ी चिन्ता है, क्योंकि दिल्ली संसार में इस प्रकार है, जैसे दूध में मलाई। मलाई को इकट्ठा करके बिलोते हैं और मट्ठा बनाकर खूब मथानी घुमाते हैं, फिर मथ करके उसमें से घी निकाल लेते हैं, मट्ठे का क्या करना ? इस दिल्ली में तो कितने ही लोग आ-आ कर चले गये, सभी घमण्ड कर-कर के आये, पर अन्त में मिट्टी होकर चले गये। उस दिल्ली में क्या ढिलाई से काम चल सकता है, मलाई तो तभी तक गाढ़ी रहती है, जब तक आलस्य है। रावण की लंका को भी जला कर तपा डाला, इसी प्रकार जवानी भी नहीं रह जाती।

सुलतान ने कहा कि भिखारी को भिक्षा देनी चाहिए, चाहे वह ब्राह्मण हो और चाहे भाट। इसलिए उसकी आज्ञा हुई कि उसे बुलाओ कि वह आकर सुलतान के सामने अपना मत्था टेके (सलाम करे)।

अलंकार—समासोक्ति।

नोट—इन पंक्तियों में कवि ने आध्यात्मिक संकेत उपस्थित किये हैं—परदेश से तात्पर्य परलोक है—जहाँ जाने का मार्ग किसी को ज्ञात नहीं है। दिल्ली से संसार का मतलब है। इसको मथने और घी निकालने से तात्पर्य ज्ञान (ईश्वरीय प्रेम) प्राप्त करने से है। इस जीवन में सभी आ-आ कर अन्त में मिट्टी में मिल जाते हैं। यहाँ आलस्य से काम नहीं चलता, कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होना पड़ता है। रावन का अर्थ रमण करने वाला है, लंक से जीवन के सुख-भोगों का अर्थ है। संसार के सुख-भोग, यौवन आदि सभी नाशवान् हैं।

[४६०]

राघौ चेतनि हुत जो निरासा। तेतखन बेगि बोलावा पासा॥
सीस नाइ कै दीन्ह असीसा। चमकत नगु कंगनु कर दीसा॥
अग्याँ भई सो राघौ पाहाँ। तूँ मंगन, कंगन का बाहाँ॥
राघौं बहुरि सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भान कै करा॥
पदुमिनि सिंघल दीप की रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी॥
कँवल न सरि पूजै तेहि बासाँ। रूप न पूजै चंद अकासाँ॥
जहाँ कँवल ससि सूर न पूजा। केहि सरि देउँ, औरु को दूजा॥
सो रानी संसार मनि, दखिना कंगन दीन्ह।
आछरि रूप देखाइ कै, धरि गहनैं जिउ लीन्ह॥४६०॥

शब्दार्थ—हुत=था। दीसा=दिखाई पड़ा । पाहाँ=पर । करा=किरण । आनी=ले आया। सरि=समता। बासाँ=सुगन्ध। गहनें=गिरवी रखना।

अर्थ—जो राघव चेतन निराश था, कि उसे तुरन्त ही बुलावा आया । उसने बादशाह के सामने सिर नवाया और आशीर्वाद दिया। उसके हाथ के कंगन का चमकता हुआ नग दिखाई पड़ा, उसे देख कर सुलतान की आज्ञा हुई कि हे राघव चेतन ! तू तो भिखारी है, फिर इतना मूल्यवान् कंगन तेरी बाँह में कैसे आया। तब राघव चेतन ने पृथ्वी पर मत्था टेका और आशीष दिया कि हे सुलतान ! तेरा यश सूर्य किरणों की भाँति युग-युग में प्रकाशित हो। सिंहलद्वीप की रानी पद्मावती को राजा रत्नसेन चित्तौड़गढ़ में ले आया है। उसकी शारीरिक सुगन्ध की समता कमल नहीं कर सकता, और स्वरूप में आकाश का चन्द्रमा भी बराबरी नहीं कर सकता। जहाँ वह कमल (पद्मावती) है, वहाँ चन्द्रमा और सूर्य भी उसकी बराबरी में पूरे नहीं पड़ते तो और किसकी समता उससे करूँ, कौन उसकी समता में पूरा पड़ेगा। वह रानी संसार की मणि है, उसी ने मुझे यह कंगन दक्षिणा में दिया है। उसने अपना अप्सरा जैसा रूप दिखा कर मेरे जीव को गिरवी रख लिया है।

अलंकार—असम, सम्बन्धातिशयोक्ति, रूपक और उपमा।

[४६१]

सुनि कै उतर साह मन हँसा। जानहु बीज चमकि परगसा ॥
काँच जोग जहँ कँचन पावा। मंगन तेहि सुमेरु चढ़ावा ॥
नाउँ भिखारी जीभ मुख बाँची। अबहुँ सँभारु बात कहु साँची ॥
कहँ असि नारि जगत उपराहीं। जेहि की सरिस सूर ससि नाहीं ॥
जौं पदुमिनि तौ मंदिर मोरें। सातौं दीप जहाँ कर जोरें ॥
सप्त दीप महँ चुनि चुनि आनी। सो मोरें सोरह सौ रानी ॥
जौं उन्ह महँ देखसि एक दासी। देखि लोन होइ लोन बेरासी ॥
चहुँ खंड हौं चक्कवै, जस रबि तवै अकास।
जौं पदुमिनि तौ मंदिल मोरें, आछरि तौ कबिलास ॥ ४६१ ॥

शब्दार्थ—बाँची=बची। उपराहीं=बढ़कर। लोन=लावण्य, सुन्दरता। लोन=नमक। बेरासी=विलासी। चक्कवै=चक्रवर्ती। तवै=तपै, प्रकाशमान है । मंदिल=महल। आछरि=अप्सरा। कबिलास=स्वर्ग।

अर्थ—राघवचेतन के उत्तर को सुनकर अलाउद्दीन मन में हँस पड़ा। उसकी मुस्कराहट ऐसी लगी मानो बिजली प्रकाशित हुई हो। उसने कहा कि जो दरिद्र काँच पाने के योग्य है, उसे जब सोना प्राप्त हो जाय, उसे वह सुमेरु पर्वत के समान ऊंचा चढ़ा देता है। तुम भिखारी हो और भिखारी के नाम पर ही तेरी जीभ मुख में अब तक बची हुई है—

नहीं तो जीभ मुख से निकलवा ली जाती। इसलिये अब तो संभाल कर सच्ची बात ही कहो। भला ऐसी संसार से बढ़कर कोई स्त्री कहाँ है जिसकी समता में सूर्य और चन्द्रमा पूरे नहीं पड़ते। जो पद्मिनी स्त्रियाँ हैं वे तो सब मेरे महल में हैं, उनके सामने सातों महाद्वीप हाथ जोड़ कर खड़े रहते हैं। सातों महाद्वीपों से चुन-चुन कर लायी गयी सोलह सौ रानियाँ मेरे महल में हैं। यदि उन रानियों की एक दासी को ही तू देख ले तो उसके सौंदर्य को देखकर तुझ जैसे विलासी लोग नमक की भाँति पिघल जायेंगे। मैं चारों खंडों में चक्रवर्ती राजा हूँ, जैसे आकाश में सूर्य तप रहा है उसी प्रकार मैं संसार में चमक रहा हूँ। यदि कोई पद्मिनी है तो वह मेरे ही महल में है और यदि कोई अप्सरा है तो वह स्वर्ग में है। भाव यह है कि पृथ्वी पर की कोई भी पद्मिनी यदि सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है तो मेरे महल वाली ही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—जानहुं बीज चमकि।

यमक—लोन—लोन।

उपमा—जस रवि तवै अकास।

[४६२]

तुम्ह बड़ राज छत्रपति भारी। अनु बाँभन हौं आहि भिखारी॥
चारिहुँ खंड भीख कहँ बाजा। उदै अस्त तुम्ह ऐस न राजा॥
धरम राज औ सत कुलि माहाँ। झूठ जो कहै जीभ केहि पाहाँ॥
किछु जो चारि सब किछु उपराहीं। सो एहि जंबु दीप महँ नाहीं॥
पदुमिनि अंब्रित हंस सदूरू। सिंघल दीप सो मलेहँ अंकूरू॥
सातौ दीप देखि हौं आवा। तब राघौ चेतनि कहवावा॥
अग्याँ होइ न राखौं धोखा। कहौं सो सब नारिन्ह गुन दोखा॥
इहाँ हस्तिनी सिंघिनी, औ चित्रिनि बनवास।
कहाँ पदुमिनी पदुमसरि, भंवर फिरहिं चहुँ पास॥४६२॥

शब्दार्थ=अनु=फिर, और। बाजा=चक्कर लगाया। उदै अस्त=उदयाचल से अस्ताचल तक। किछु जो चारि=चार वस्तुयें। सब किछु=सब कुछ से, सबसे। उपराहीं=बढ़कर। अंब्रित=अमृत। सदूरू=शार्दूल। मलेहँ=मिलते हैं। अंकूरू=अंकुर। सिंघिनी=एक प्रकार की नारी, (नारियां चार प्रकार की होती हैं—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी, पर जायसी ने 'शंखिनी,के स्थान पर 'सिंहिनी' का उल्लेख किया है)।

अर्थ—राघवचेतन ने उत्तर दिया कि हे बादशाह अलाउद्दीन! तुम तो बड़े भारी छत्रपति बादशाह हो और मैं तो एक भिखारी ब्राह्मण हूँ। भिक्षा के लिए मैंने तो चारों

खँडों का चक्कर लगा डाला है, मैंने उदयाचल से अस्ताचल तक सारे विश्व में तुम्हारा जैसा राजा नहीं देखा। तुम्हारे राज्य में धर्म है और कुल में सत है। ऐसे राजा के सामने किसके मुख में जीभ है जो झूठ कह सकता है। परन्तु वे चार वस्तुएँ जो सभी वस्तुओं से बढ़कर हैं वे इस जम्बू द्वीप में नहीं प्राप्त होतीं। वे वस्तुएँ हैं—पद्मिनी नारी, अमृत, हँस और शार्दूल। इनके अंकुर तो सिंहल द्वीप में ही मिलते हैं। मैं सातों द्वीपों को देखकर आया हूं, तभी तो मैं राघवचेतन कहा जाता हूं। यदि आज्ञा हो तो आपको भ्रम में न रखूँ और सभी नारियों के गुण-दोष कहूँ।

इस अपने जम्बू द्वीप में तो हस्तिनी, सिंहिनी और चित्रिणी नारियां हैं, वे पद्मसर की पद्मिनी नारियाँ कहाँ हैं, जिनके चारों ओर भौंरे मँडराया करते हैं।

———

४०. स्त्री-भेद-वर्णन-खण्ड

[४६३]

पहिलें कहौं हस्तिनी नारी। हस्ती कै परकीरति सारी॥
कर औ पाय सुभर गियँ छोटी[१]। उर कै खीनि, लंक कै मोंटी॥
कुंभस्थल गज[२], मैमंत आहीं। गवन गयंद, ढाल जनु बाहीं॥
दिस्टि न आवै आपन पीऊ। पुरुख पराएँ ऊपर जीऊ॥
भोजन बहुत[३], बहुत रति चाऊ[४]। अछवाई सों थोर सुभाऊ॥
मद जस मंद बसाइ पसेऊ[५]। औ बिसवास धरें जस देऊ॥
डर औ लाज न एकौ हिएँ[६]। रहै जो राखें आंकुस दिएँ॥
गज गति चलै चहूँ दिसि हेरति, लाइ जगत कहँ चोख।
वह हस्तिनी नारि पहिचानिअ, सब हस्तिन्ह गुन दोख॥४६३॥

शब्दार्थ—परकीरति=प्रकृति, स्वभाव। सुभर=भरे हुए। गियँ=गर्दन। खीनि=क्षीण। लंक=कमर। कुंभस्थल=कुच, हाथी का गण्डस्थल। मैमंत=मदमत्त। ढाल=वार को रोकने वाला चर्म। अछवाई=अस्पृश्यता, स्वच्छता। मद=हाथी के मस्तक

१—वहति चरणयुग्मं कंधरां ह्रास्वपीनाम् (रतिरहस्य); खर्वपीवरकंधरा (रतिरत्नप्रदीपिका)।
२—स्थूलकुचा (रतिमंजरी), पृथुकुचा (पंचसायक)।
३—नितान्तभोक्त्री (रतिमंजरी), बहुभोज्यभोजनरुचिः (पंचसायक)।
४—गाढरतिप्रिया (रतिमंजरी), रतिलोलुपा (रतिरत्नप्रदीपिका)।
५—द्विरद-मद-विगंधिः (रतिरहस्य), करिदानगन्धिमदनस्रावा मता हस्तिनी (पंचसायक)।
६—वीतलज्जा (रतिरहस्य); निर्लज्जा (रतिरत्नप्रदीपिका)।

से बहने वाला पानी। पसेऊ=पसीना। बिसवास=विश्वासघात। देऊ=दानव, दैत्य। चोख=चूस कर पीना।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि पहले मैं हस्तिनी नारी का वर्णन करता हूं। उसके सारे स्वभाव हाथी से मिलते हैं। उसके हाथ और पांव भरे हुए और गर्दन छोटी होती है। उसकी छाती छोटी और कमर मोटी होती है। उसके कुच हाथी के कुम्भस्थल के समान स्थूल होते हैं। उसकी चाल हाथी के समान मन्द और मतवाली, बाहें ऐसी हैं, मानो ढाल हों। उसे अपना पति दृष्टि में नहीं आता, पर-पति पर ही उसका जी लगा रहता है। भोजन बहुत करती है और रति में उसे बड़ी रुचि होती है, अस्पृश्यता की ओर उसका स्वभाव कम होता है, वह छूआछूत नहीं मानती (या स्वच्छता पर कम ध्यान देती है)। जैसे हाथी मैल आदि का छुआछूत नहीं मानता उसी प्रकार हस्तिनी नारी किसी प्रकार का विचार नहीं करती। किसी को और किसी अवस्था में स्पर्श कर सकती है। उसका पसीना ऐसा दुर्गन्ध पूर्ण होता है जैसा हाथी का मद। दैत्य की भांति विश्वास करने वाले के साथ विश्वासघात करती है(हाथी अपने विश्वासी महावत के साथ कभी-कभी विश्वासघात करता है और हस्तिनी अपने विश्वस्त प्रिय के साथ विश्वासघात करती है)। उसके हृदय में न तो डर होता है और न लज्जा उसी के संरक्षण में रह सकती है जो अंकुश दिये हुए उसे नियंत्रण में रखे। हाथी की चाल से चारों ओर दृष्टि लगाये चलती है मानों संसार को चूस कर पी जायेगी। इस प्रकार की हस्तिनी नारी को हाथी के गुण-दोषों को देखकर पहचानना चाहिए।

[४६४]

दोसरें कहौं सिंघिनी नारी। करै बहुत बल अलप अहारी[1] ।।
उर अति सुभर खीन अति लंका। गरब भरी, मन धरै न संका।।
बहुत रोस[2] चाहै पिय हना। आगे घालि न काहू गना।।
अपनै अलंकार ओहि भावा। देखि न सकै सिंगार परावा।।
मोंट, मांसु रुचि भोजन तासू। औ मुख आव बिसाइंधि बासू।।
सिंघ कै चाल चलै डग ढीली। रोवाँ बहुत[3] होहि बुहुँ फीली।।
दिस्टि तराहीं[4], हेर न आगें। जनु मथवाह रहै सिर लागें।।
सेजवाँ मिलत स्यामिहि, लावै उर नख बान[5]।
जे गुन सबै सिंघ के, सो सिंहिनि सुलतान।।४६४।।

१—न बहु भोक्त्री (रतिरहस्य), मितभोजिनी (रतिरत्नप्रदीपिका)।
२—कोपशीला (रतिरहस्य), कोपिनी (अनंगरंग), कोपना, (रतिरत्नप्रदीपिका)।
३—स्मरगृहमतिलोम (रतिरहस्य);प्रायोदीर्घकचा (रतिमंजरी),लोमशा(रतिरत्नप्रदीपिका)।
४—अनिभृतशिरमंगं दीर्घनिम्नं वहन्ती (रतिरहस्य), आनिम्नं कुटिलेक्षणं (अनंगरंग)।
५—सृजति बहुनखांकं संप्रयोगे (रतिरहस्य); संभोगकाले प्रचुरनखक्षतविधायिनी (रतिरत्नप्रदीपिका)।

शब्दार्थ—हना = मारना। फीली = पिंडली। तराहीं = नीची। हेर = देखती है। मथवाह = घोड़ों के मत्थे पर की वह चमड़े की बनी पट्टी, जिसके कारण घोड़े अगल-बगल नहीं देख पाते। स्यामिहिं = स्वामी को।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि अब मैं दूसरे प्रकार की सिंहिनी नारी का वर्णन करता हूँ। वह कम खाने वाली होती है, पर उसमें शक्ति बहुत होती है। उसकी छाती खूब भरी हुई और कमर पतली होती है, वह घमण्ड से भरी होती है, और मन में किसी प्रकार की शंका नहीं करती। उसमें इतना क्रोध होता है कि वह अपने पति को मारना चाहती है। वह अपने सामने किसी को नहीं गिनती। अपना ही आभूषण उसे अच्छा लगता है, दूसरे का शृंगार तो वह देख भी नहीं सकती। मोटा माँस उसका रुचिदायक भोजन है, उसके मुख से मछली की दुर्गन्ध निकला करती है। सिंह की भाँति ढीले कदमों से चला करती है। उसकी दोनों पिंडलियों पर बहुत रोंगटे होते हैं। वह नीची दृष्टि करके चलती है आगे नहीं देखती, जैसे मस्तक पर छपनी लगे हुए घोड़े नीचे ही देखते हैं, उसी प्रकार वह भी देखती चलती है।

सेज पर मिलते ही अपने पति के सीने में बाण के समान नख चुभाने लग जाती है। हे सुलतान ! जो गुण सिंह के होते हैं, वही इस सिंहिनी नारी के गुण हैं।

नोट—हिन्दू काम-शास्त्रों में सिंहिनी नारी नहीं है—शंखिनी नारी है। जायसी ने भ्रमवश उसे सिंहिनी समझ लिया और नाम के अनुरूप उसका वर्णन भी किया है। भ्रम का कारण सम्भवतः फारसी लिपि भी है जिसमें शंखनी और सिंहनी एक ही प्रकार से लिखे जाते थे।

[४६५]

तीसरि कहौं चित्रिनी नारी। महा चतुर रस पेम पियारी॥
रूप सरूप, सिंगार सवाई। आछरि जसि नागरि[1] अछवाई[2]॥
रोष न जानै, हँसता मुखी[3]। जहँ असि नारि पुरुख सो सुखी॥
अपने पिय कै जानै पूजा। एक पुरुख तजि जान न दूजा॥
चंद बदन रँग कुमुदिनि गोरी। चाल सोहाइ हंस कै जोरी॥
खीर खाँड किछु अलप अहारू[4]। पान फूल सौं बहुत पियारू॥
पदुमिनी चाहि घाटि दुइ करा। और सबै ओहि गुन निरमरा॥
चित्रिनि जैस कमोद रँग, आव न बासना अंग।
पदुमिनि बस चंदन अस, भँवर फिरहिं तिन्ह संग॥४६५॥

---

१. नागरिकाख्येन चित्रिणी जातिरिष्यते—रतिरत्नदीपिका।
२. राउ रंक घर जानिय जाई। एक से एक चाह अछवाई—चित्रावली।
३. चित्रवक्त्री—रतिमंजरी।
४. रसयति मधुरात्पं—रतिरहस्य।

शब्दार्थ—नागरि=नृत्य, गीत, चित्र, शिल्प और विद्याओं में निपुण। **अछवाई**=न छुई हुई, अछूती, अभुक्त सौंदर्य वाली, साफ सुथरी। चाहि=अपेक्षा।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि अब मैं तीसरे प्रकार की नारी चित्रिणी का वर्णन करता हूँ। वह प्रेम-रस में बड़ी चतुर और प्यार करने वाली होती है। उसका रूप सुन्दर होता है और सभी शृंगारों को वह करती है। वह अप्सरा जैसी नागरी और स्वच्छ होती है। क्रोध नहीं जानती सदा हंसमुख ही रहती है, जहाँ ऐसी स्त्री है वहाँ पुरुष अत्यन्त सुखी होता है। अपने पति की पूजा करती है और एक पति छोड़ कर और दूसरा नहीं जानती। चन्द्रमा जैसा चेहरा और कुमुदिनी जैसा गोरा रंग उसका होता है, उसकी चाल ऐसी होती है, जैसे हंस की जोड़ी जा रही है। दूध, मिष्टान्न जैसी वस्तुओं का अल्पाहार ही करती है—पान-फूल (सात्विक भोजन) ही उसे अतिप्रिय होते हैं। पद्मिनी नारी से दो कला ही घट कर होती है और सभी उसी के निर्मल गुण इसमें भी होते हैं। कुमुदिनी के समान ही चित्रिणी का रंग होता है, उसके शरीर से किसी प्रकार की महक नहीं आती। उसमें और पद्मिनी में खास अन्तर यह है कि पद्मिनी की सुगन्ध चन्दन जैसी होती है और भौंरे उसके चारों ओर मंडराते हैं पर चित्रिणी में यह बात नहीं होती।

[४६६]

चौथें कहौं पदुमिनी नारी। पदुम गंध[1] सो दैय सँवारी॥
पदुमिनि जाति पदुम रँग ओहीं। पदुम बास मधुकर सँग होहीं॥
ना सुठि लाँबी, ना सुठि छोटी। ना सुठि पातरि, ना सुठि मोटी॥
सोरह करा अंग होइ बनी। वह सुलतान पदुमिनी गनी॥
दीरघ चारि, चारि लहु सोई। सुभर चारि, चारि खीन जो होई॥
औ ससि बदन रँग सब मोहा। चाल मराल[2] चलत गति सोहा॥
खीर न सहै अधिक सुकुवारा। पान फूल के रहै अधारा॥
सोरह करा सँपूरन, औ सोरहौ सिंगार।
अब तेहि भाँति बरन गुन, जस बरनै संसार॥४६६॥

शब्दार्थ—दैय=ईश्वर। सुठि=अधिक। लहु=लघु, छोटे। सुकुवारा=कोमल। दीरघ चारि=चार लम्बे-केश, उँगली, नैन और ग्रीवा। चारि लहु=चार छोटे-दशन, कुच, ललाट, नाभि-चारि सुभर=चार भरे हुए-कपोल, नितम्ब, बाहु, जंघा। चारि खीन=चार पतले–नासिका,कटि, पेट, अधर।

---

१. पद्मिनी पद्मगंधा(रतिमंजरी); फुल्लराजीवगंधा (रतिरहस्य),मृद्वङ्गी विकचारविन्दसुरभिः (पंचसायक); फुल्लाम्भोजसुगंधिकामसलिला(अनंगरंग)।

२. व्रजति मृदु सलीलम् (रतिरहस्य), हंसगतिः (रतिरत्नदीपिका); हंसवधूगतिः (अनंगरंग)।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि अब मैं चौथे प्रकार की पद्मिनी नारी का वर्णन करता हूँ, उसकी महक कमल की सी होती है और वह ईश्वर की ही संवारी और बनायी होती है। उसकी जाति पद्मिनी है, उसका नेत्र कमल जैसा, उसकी महँक कमल जैसी और उसके साथ भौंरे होते हैं। न तो अधिक लम्बी होती है और न अधिक छोटी, न तो अधिक पतली और न मोटी। सोलह कलाओं से युक्त अंगों से वह बनी होती है, हे सुलतान ! ऐसी नारी को पद्मिनी समझना चाहिए। उसके शरीर के अङ्गों में चार दीर्घ, चार लघु, चार भरे हुए और चार पतले होते हैं। उसका मुख चन्द्र जैसा सबको मोहित करने वाला होता है। चलते हुए उसमें हंस की सी चाल सुहावनी लगती है। ऐसी कोमल होती है कि दुग्धाहार को भी नहीं बर्दास्त कर सकती। अतः वह तो पान-फूल के आधार पर ही रहती है। सोलह कलाओं से पूर्ण और सोलहों शृंगारों से युक्त होती है—अब मैं उसके गुणों का वैसा वर्णन करता हूं, जैसा कि संसार वर्णन करता है।

[४६७]

प्रथम केस दीरघ सिर होहीं। औ दीरघ अँगुरी कर सोहीं॥
दीरघ नैन तिक्ख तिन्ह देखा। दीरघ गीवँ, कँठ तिरि रेखा॥
पुनि लघु दसन होहिं जस हीरा। औ लघु कुच जस उतँग जँभीरा॥
लघू लिलाट दुइज परगासू। औ नाभी लघु, चन्दन बासू॥
नासिक खीन खरग कै धारा। खीन लंक जेहि केहरि हारा॥
खीन पेट जानहुँ नहिं आँता। खीन अधर बिद्रुम रँग राता॥
सुभर कपोल, देहिं सुख सोभा। सुभर नितंब देखि मन लोभा॥
सुभर बनी भुअडंड कलाई, सुभर जाँघ गज चालि।
ये सोरहौ सिंगार बरनि कै, करहिं देवता लालि॥४६७॥

शब्दार्थ—तिक्ख=तिरछे, कटाक्ष। तिरि=तीन। भुअडंड=भुजाएँ। लालि=लालसा।

अर्थ—पद्मिनी नारी का वर्णन करता हुआ राघवचेतन कहता है कि पहले तो उसके बाल लम्बे होते हैं। फिर उसकी उंगलियाँ लम्बी होती हैं। उसकी आँखें लम्बी होती हैं और उनसे वे तिरछी देखती हैं। गर्दन लम्बी होती है और उसमें तीन रेखाएं होती हैं। दाँत छोटे हीरे की भाँति चमकते हैं, छोटे-छोटे कुच जंभीरी नीबू की भांति उठे होते हैं। दूज के चाँद की भांति छोटा मत्था होता है। नाभि छोटी होती है और उसमें से चन्दन की सी महक निकलती है। छोटी नाक तलवार की भाँति होती है, कमर ऐसी पतली होती है कि उसे देख कर सिंह भी हार मानता है। पेट ऐसा पतला होता है मानो उसमें अंतरिया ही न हों। छोटे-छोटे होंठ ऐसे लाल होते हैं, जैसे मूँगा। सुन्दर भरे हुए कपोल सुन्दर

लगते हैं, सुन्दर उठे हुए नितम्ब बड़े लुभावने लगते हैं। सुन्दर भरी हुई भुजाएँ, कलाई और जँघाएँ शोभा पाती हैं और उसकी चाल हाथी जैसी होती है। इस प्रकार उसके सोलह अंगों के शृंगार वर्णन करके देवता भी उसके पाने की इच्छा रखते हैं।

नोट :—जैसा पीछे लिखा जा चुका है जायसी ने सोलह शृंगार वर्णन में भारतीय पद्धति को नहीं अपनाया है। शृंगार का वर्णन अंगों के ऊपर से किया जाता है, शृंगार सोलह हैं। जायसी ने सोलह शृंगार के स्थान पर अंगों का वर्णन किया है जिसके चार भेद हैं। दीर्घ, लघु, क्षीण, और सुभर।

———

४१. पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड

[४६८]

यह जो पदुमिनि चितउर आनी। कुंदन कया दुवादस बानी॥
कुंदन कनक न गंध न बासा। वह सुगन्ध जनु कँवल बिगासा॥
कुंदन कनक कठोर सो अंगा। वह कोवँलि, रँग पुहुप सुरंगा॥
ओहि छुइ पवन बिरिख जेहि लागा। सोइ मलयागिरि भएउ सभागा॥
काह न मूँठि भरी ओहि खेही। असि मूरति कै दैयँ उरेही॥
सबै चितेर चित्र कै हारे। ओहिक चित्र कोइ करै न पारे॥
कया कपूर, हाड़ जनु मोंती। तेहि तें अधिक दीन्ह बिधि जोती॥

सुरुज कांति करा जसि, निरमल नीर सरीर।
सौहँ निरखि नहिं जाइ निहारी, नैनन्ह आवै नीर॥४६८॥

शब्दार्थ—कुन्दन=स्वर्ण। दुवादस बानी=विशुद्ध। मूँठि भरी=मुट्ठी भर। खेही=मिट्टी। काह न मूँठि भरी ओहि खेही=उसके शरीर में क्या नहीं है[1]। चितेरे=चित्र बनाने वाले। ओहिक=उसका। कोइ करै न पारे=कोई बना नहीं सकता[2]।

अर्थ—स्त्री-भेद वर्णन करने के पश्चात् राघवचेतन पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगा। पद्मावती जो चित्तौड़ में लायी गयी है, उसका शरीर तो विशुद्ध स्वर्ण के समान चमकीला है। सोने में तो सुगन्ध नहीं होती पर उसके शरीर से ऐसी सुगन्ध निकलती है। जैसे

१. हम अपने कीसए खाकी में क्या नहीं रखते—अनीस।
२, लिखन बैठि जाकी छबी; गहि गहि गरब गरूर।
हुए न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर॥ —बिहारी।

कमल खिला हो। सोना तो कठोर होता है पर उसका शरीर तो पुष्प के समान कोमल है। उसके शरीर को छूकर हवा जिस वृक्ष को लगी है, वही सुन्दर चन्दन-वृक्ष बन गया है। उसकी इस मुट्ठी भर की मिट्टी—अर्थात् शरीर में क्या नहीं है ? परमेश्वर ने उसकी ऐसी मूर्ति बनाई है कि सभी चित्रकार उसकी तसवीर बना-बना कर हार गये, पर उसका चित्र बना नहीं पाते। उसका शरीर कपूर की भांति सुगन्धित और हड्डियाँ मोती जैसी हैं। ब्रह्मा ने उनसे भी अधिक इसको चमक दे रखी है। सूर्य की कांति के समान उसकी कान्ति और जल के समान उसका शरीर निर्मल है। सामने कोई उसे देख नहीं सकता, देखने पर आँखों में पानी भर जाता है अर्थात् आँखें चकाचौंध हो जाती हैं—उसकी ज्योति को सह नहीं सकतीं।

अलंकार—व्यतिरेक—कुन्दन कनक·· ···

हेतूत्प्रेक्षा—ओहि छुइ पवन बिरिख······

काव्यलिङ्ग—सबै चितेरे·········

उपमा—-कया कपूर हाड़ जनु मोंती। सूरज कांति······

इस पद के बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में एक पद है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। कथा-प्रसंग की दृष्टि से तो पद ग्राह्य है। पद निम्नलिखित है—

ससि मुख जबहिं कहै किछु बाता। उठत ओठ सूरुज जस राता॥
दसन-दसन सौं किरिनि जो फूटहिं। सब जग जनहुँ फुलझरी छूटहिं॥
जानहुँ ससि महँ बीजु देखावा। चौंधि परै किछु कहत न आवा॥
कौंधत अह जस भादौं रैनी। साम रैनि जनु चलै उड़ैनी॥
जनु बसंत ऋतु कोकिल बोली। सुरस सुनाइ मारि सर डोली॥
ओहि सिर सेस नाग जो हरा। जाइ सरन बेनी होइ परा॥
जनु अमृत होइ बचन बिगासा। कँवल जो बास बास धनि पासा॥

सबै मनहि हरि जाइ मरि, जो देखै तस चार।
पहिले सो दुःख बरनि कै, बरनौ ओहिक सिंगार॥

अर्थ—अपने चन्द्रमा के समान मुख से जब वह कुछ बात कहती है, तो उसके लाल रंग के ओंठ ऐसे उठते हैं, जैसे सूर्य। उसके एक-एक दांत से किरनें निकलती हैं, मानो संसार में फुलझरी छूट रही है। मानो चन्द्रमा में बिजली चमकी, ऐसी चकाचौंध लगती है, कि कहा नहीं जाता। अथवा जैसे भादों की रात में बिजली चमक रही हो या अंधेरी रात में जुगनू चमक रहे हों। उसकी बोली ऐसी लगती है, जैसे वसन्त ऋतु में कोयल बोल

रही हो। सुरीली वाणी को सुना कर बाण मार देती है। उसके केशों से शेषनाग हार गया,इसीलिये वेणी के रूप में इसकी शरण में आ गया। उसकी बोली क्या है, मानो अमृत है और कमल की जो सुगन्ध है, वही उसके शरीर की सुगन्ध है। जो उसके रङ्ग-ढङ्ग को देखता है उसका मन हर जाता है और मर सा जाता है, इसलिए उसके देखने से मुझे जो दुःख हुआ, पहले उसी का वर्णन करूँगा, फिर उसके शृङ्गार का वर्णन करूँगा।

नोट—इस पद में बहुत सी पुनरुक्तियाँ हैं, अनेक शब्द और उपमायें अगले पद में मिल भी जाती हैं, इसीलिए सम्भवतः यह पद प्रक्षिप्त माना गया है।

[४६९]

कत हों अहा काल कर काढ़ा। जाइ धौराहर तर भौ ठाढ़ा॥
कत वह आइ झरोखें झाँकी। नैन कुरंगिनि, चितवनि बाँकी॥
बिहँसी ससि तरई जनु परीं। कै सो रैनि छूटी फुलझरीं॥
चमकि बीज जस भादों रैनी। जगत दिस्टि भरि रही उड़ैनी॥
काम कटाख दिस्टि बिख बसा। नागिनि अलक पलक महँ डसा॥
भौहँ धनुक, तिल काजर टोड़ी। वह भै धानुक, हौं हियँ ओड़ी॥
मारि चली, मरतहि मैं हँसा। पाछें नाग अहा, ओइँ डसा॥

पाछें घालि काल सो राखा, मंत्र न गारुरि कोइ।
जहाँ मँजूर पीठि ओइँ दीन्हे, कासुँ पुकारौं रोइ॥४६९॥

शब्दार्थ—काल=मृत्यु। काढ़ा = निकाला हुआ। उड़ैनी=जुगनू। टोड़ी=चिबुक, ठुड्डी। ओड़ी=रोका। घालि=डाल कर। गारुरि=गारुड़ी-सर्प का मंत्र जानने वाला। मँजूर=मयूर।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि मैं क्यों मौत के लिए निकाला गया था, जो जाकर उसके महल के पास खड़ा हुआ, और वह क्यों आकर झरोखे से झाँकने लगी। उसकी आँखें हिरनी की भांति थीं और उसकी चितवन बड़ी टेढ़ी थी। वह मुस्करा पड़ी, उसके मुख में दाँत ऐसे लगे, जैसे चन्द्रमा के भीतर तारे पड़े हों या जैसे रात में फुलझड़ी छूट रही हो, या जैसे भादों की रात में बिजली चमके, या संसार भर में जुगनू भर गये हों। उसकी काममय कटाक्ष-दृष्टि में विष भरा था। उसकी वेणी रूपी नागिनी ने क्षण भर में डस लिया। उसकी भौंहें धनुष और ठुड्डी पर का काजल सा तिल प्रत्यंचा पर बाण रखने का स्थान तथा वह बाण चलाने वाली थी, मैंने उसके बाण को अपने हृदय पर रोक लिया। वह मार कर चल पड़ी, मरते हुए मैं हँस पड़ा, कि उसका साँप (चोटी) जो उसकी पीठ पर था, वह डस गया। जो काल रूपी साँप उसने अपने पीछे रख छोड़ा था, न तो उसका कोई मन्त्र है और न उस

मन्त्र का जानने वाला कोई गारुड़ी है। जहाँ इस साँप को खाने वाला मोर है, उसने भी पीठ दे रखी है, अर्थात् वह भी दूर है, तो किससे रो कर अपनी व्यथा सुनाऊँ।

अलंकार—उपमा, रूपक।

[४७०]

बेनी छोरि झारु जौं केसा। रैनि होइ जग दीपक लेसा॥
सिर हुति सोहरि परहिं भुइँ बारा। सगरे देश होइ अँधियारा॥
जानहुँ लोटहिं चढ़े भुवंगा। बेधे बास मलैगिरि संगा॥
सगबगाहिं बिख भरे बिसारे। लहरिआहिं लहकहिं अति कारे॥
लुरहिं मुरहिं मानहिं जनु केली। नाग चढ़ा मालति की बेली॥
लहरें देइ जानहुँ कालिंदी। फिरि फिरि भँवर भए चित फंदी॥
चवँर ढरत आछहिं चहुँ पासा। भवँर न उड़हिं जो लुबुधे बासा॥
होइ अँधियार बीजु खन लौकै, जबहिं चीर गहि झांपु।
केस काल ओइ कत मैं देखे, सँवरि सँवरि जिय कांपु॥४७०॥

शब्दार्थ—लेसा=जलाना। हुति=से। सोहरि=बिखर कर। सगरे=सारे। सगबगाहिं=सकपकाते हैं, हिलते-डुलते हैं। बिसारे=विषैले। लहकहिं=लहराते हैं। लुरहिं=झुकते हैं। बीजु=बिजली। खन=क्षण। लौकै=चमकै।

अर्थ—जब वह अपनी चोटी को खोलकर बालों को झाड़ने लगती है, तो सारे संसार में रात हो जाती है और संसार के लोग दीपक जला लेते हैं। सीधे होकर बाल सिर से भूमि तक पड़ जाते हैं, इससे सारे देश में अँधेरा छा जाता है। अथवा मानो साँप चढ़े हुए लोट रहे हैं, चन्दन की महक के कारण उससे लिपटे हुए हैं। उसके बाल हवा को पाकर हिलते हैं, तो मालूम होता है कि वे विषैले साँप हिल-डुल रहे हैं, काले-काले लहरें ले रहे हैं। झुकते हैं, मुड़ते हैं, मानों खेल कर रहे हैं। मालती के ऊपर मानो साँप चढ़ा है। वे ऐसी लहरें दे रहे हैं, जैसे यमुना की लहरें हों, चित्त उन्हें देखकर इस प्रकार बन्धन में पड़ रहा है, जैसे नदी की लहरों में भँवर। उसके चारों ओर चँवर डोलाए जाते हैं, फिर भी जो भौंरे लुब्धे हुए लगे हैं, वे उड़ते नहीं। जब वह सफेद ओढ़नी से अपने बालों को ढकती है, तो मालूम होता है अँधेरे में बिजली चमकी। मैंने इस काल के समान केशों को क्यों देख लिया, उन्हें याद कर-कर के मेरा हृदय कांप उठता है।

अलंकार—**भ्रम**—रैन होइ जग दीपक लेसा।

उत्प्रेक्षा—जानहुँ लोटहिं चढ़े भुवंगा।

[४७१]

कनक माँग जो सेंदूर रेखा । जनु बसंत राता जग देखा ।।
कै पत्रावलि पाटी पारी । और रचि चित्र विचित्र सँभारी ।।
भएउ उरेह पुहुप सब नामा । जनु बग बगरि रहे घन श्यामा ।।
जमुँना माँझ सुरसती माँगा । दुहुँ दिसि चित्र तरंगहि गाँगा ।।
सेंदुर रेख सो ऊपर राती । बीर बहूटिन्ह की जनु पाँती ।।
बलि देबता भए देखि सेंदूरू । पूजै माँग भोर उठि सूरू ।।
भोर साँझ रवि होइ जो राता । ओहीं सो सेंदुर राता गाता ।।
बेनी कारी पुहुप लै, निकसी जमुना आइ ।
पूजा इन्द्र अनन्द सो, सेंदुर सीस चढ़ाइ ।। ४७१ ।।

शब्दार्थ—पत्रावलि=पत्र-भंग-रचना—जैसे पत्ते के बीच में एक लकीर होती है, इसी प्रकार सिर के बाल काढ़े जाते हैं। पाटी=माँग के दोनों ओर बैठाए हुए बाल। उरेह=सजाना। बेनी कारी=वेणी रूपी कालिय नाम की नागिन। सूरसागर में उल्लेख है कि कृष्ण ने जब कालिय नाग को हरा दिया तो कालिय नाग और नागिनियों के ऊपर कमल लाद करके जमुना से बाहर ले गये थे।† कालिय नाग की पत्नियों ने पुष्प देकर अपने सुहाग की रक्षा के लिए प्रार्थना भी की थी। इन्द्र=राजा, कृष्ण।

अर्थ—सिर के माँग की जो सुनहली सिन्दूर की रेखा है, ऐसा मालूम होता है, मानो सारे संसार में वसंत खिला है। पत्र-भंग-रचना करके उसने सिर के बालों की पाटी रचाई और खूब अच्छी प्रकार उन्हें सँवारा। सभी प्रकार के फूलों से उसे सजाया, मानों काले बादलों में बगुलों की पंक्ति फैल रही है। काले बालों में लाल सिन्दूर की रेखा ऐसी लगती है जैसे यमुना में सरस्वती की धारा है और श्वेत फूलों की पंक्तियाँ ऐसी हैं, जैसे दोनों दिशाओं में गंगा की तरंगें चमक रही हैं। सिन्दूर की लाल रेखा ऐसी भी है, जैसे बीर बहूटियों की पंक्ति हो। सिन्दूर को देख कर देवता लोग निछावर हो गए। सूर्य तो प्रति दिन प्रातःकाल उठकर उसी माँग की पूजा करता है। प्रातः और सायं यह सूर्य जो लाल होता है, यह उसी सिंन्दूर की ललायी को लेकर। उसकी काली चोटी जो फूलों से युक्त है ऐसी लगती है मानो कालिय नाग की नागिनी कमल पुष्प लिए हुए जमुना से निकली है और उसने कमल रूपी सिन्दूर से आनन्द के साथ कृष्ण की पूजा की है। पद्मावती के पक्ष में उसने सिर में सिन्दूर धारण कर राजा रतनसेन की पूजा की है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

---

†जब कान्ह काली लै चले तब नारि विनवै देव हो।
चेरि कौं अहिवात दीजै करैं तुम्हारी सेव हो।
लादि पंकज कढ़्यौ बाहिर भयौ ब्रज मन भावना।
मथुरा नगरी कृष्ण राजा सूर मनहि वधावना।।—सू० सा०, पद ११६५।

[४७२]

दुइज लिलाट अधिक मनि करा । संकर देखि माँथ भुइँ धरा ।।
एहि निति दुइज जगत महँ दीसा । जगत जौहारै देइ असीसा ।।
ससि होइ छपी न सरबरि छाजै । होइ जो अमावस छपि मन लाजै ।।
तिलक सँवारि जो चूनो रची । दुइज माहँ जानहुँ कचपची ।।
ससि पर करवत सारा राहू । नखतन्ह भरा दीन्ह पर दाहू ।।
पारस जोति लिलाटहि ओती । दिस्टि जो करै होइ तेहि जोती ।।
सिरी जो रतन माँग बैसारा । जानहुँ गँगन टूट निसि तारा ।।

ससि औ सूर जो निरमल, तेहि लिलाट की ओप ।
निसि दिन चलहिं न सरवरि पावहिं, तपि तपि होहिं अलोप ।। ४७२ ।।

शब्दार्थ—मनि करा=सुन्दर-देदीप्यमान । चूनी=चमकी, बिन्दी पर लगाये जाने वाले सितारे । कचपची=कृतिका नक्षत्र, झलमलाते हुए तारों का एक गुच्छ । करवत=आरा । सारा=चलाया । ओती=उतनी । सिरी=श्री नाम का आभूषण ।

अर्थ—पद्मावती का मत्था द्वितीया के चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है, उसे देख कर शंकर ने अपना मस्तक भूमि पर रख लिया, क्योंकि उसके मस्तक का चन्द्र इतना सुन्दर नहीं है । फिर इस दूज के चन्द्रमा को तो संसार प्रति-दिन देखता है और सारा संसार उसके सम्मुख नतमस्तक होता है और आशीष देता है । चन्द्रमा उसकी बराबरी नहीं कर सकता, अतएव छिप गया और अमावस्या के दिन छिप कर लजा जाता है । मस्तक पर टीका लगा कर उसने उस पर चमकी लगा ली तो ऐसी प्रतीत हुई, मानों द्वितीया के चन्द्रमा के भीतर कृत्तिका नक्षत्र झलमला रहे हैं । उसकी माँग ऐसी लगती है, जैसे चन्द्रमा के ऊपर राहु ने आरा चलाया है, यहाँ शशी मुख है और काले बालों के बीच लाल माँग राहु के द्वारा चलाया हुआ आरा है, जो रक्त से लाल है । चन्द्रमा नक्षत्रों से युक्त है पर उसे कष्ट है—चमकी आभूषण आदि तारे हैं-पर ये सब तारे चन्द्रमा (मुख) की रक्षा नहीं कर पाते । उसके मत्थे में पारस की जैसी ज्योति है, क्योंकि जैसे पारस के संसर्ग से लोहा सोना हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ ही दृष्टि जाती है, उतना ही प्रकाश हो जाता है । माँग में उसने जो श्री नामक आभूषण रत्नों से युक्त बिठा रखा है, वह ऐसा प्रतीत होता है मानो रात में आकाश से तारा टूट रहा है । चन्द्रमा और सूर्य में जो निर्मलता है, वह सब उसके ही मत्थे की द्युति है, ये दोनों रात दिन चलते हैं पर उसकी बराबरी नहीं कर पाते, इसलिए जल-जल कर छिप जाया करते हैं ।

अलंकार—व्यतिरेक—दुइज लिलाट........

हेतूत्प्रेक्षा—ससि होइ छपी.........

वस्तूत्प्रेक्षा—तिलक सँवारि........

हेतूत्प्रेक्षा—निसिदिन चलहिं.........अलोप।

[४७३]

भौंहें स्याम धनुक जनु चढ़ा। बेझ करै मानुस कहँ गढ़ा॥
चाँद कि मूँठि धनुक तहँ ताना। काजर पनच, बरुनि बिख बाना॥
जासहुँ फेर छोहाइ न मारे। गिरिवर टरहिं सो भौहँन्ह टारे॥
सेत बँध जेइ धनुक बिडारा। उहौ धनुक भौहँन्ह सौं हारा॥
हारा धनुक जो बेधा राहू। और धनुक कोइ गनै न काहू॥
कत सो धनुक मैं भौहँन्हि देखा। लाग बान तेत आव न लेखा॥
तेत बानन्ह झाँझर भा हिया। जेहि अस मार सो कैसें जिया॥
सोत सोत तन बेधा, रोवँ रोवँ सब बेह।
नस नस महँ भैं सालहिं, हाड़ हाड़ भए बेह॥ ४७३॥

शब्दार्थ—बेझ करै=बेधने के लिए। पनच=प्रत्यंचा, डोरी। बेह=वेध, छेद।

अर्थ—इस पद में पद्मावती की भौंहों का वर्णन है—

उसकी काली भौंहें ऐसी हैं, मानो धनुष चढ़ा हुआ है और वह मनुष्यों को बेधने के निमित्त ही तैयार किया गया है। चाँद की मूठों वाला धनुष तना हुआ है। काजल उसकी प्रत्यंचा है और वरौनियाँ विष से बुझे हुए बाण हैं। जिसकी ओर देखती है मारने में दया नहीं करती। उन भौंह रूपी धनुषों के टालने से पहाड़ भी टल जाते हैं। जिस धनुष ने सेतु बन्ध को भी नष्ट कर दिया था, वह धनुष भी इन भौंहों से हार गया। अर्जुन का धनुष गाँडीव जिसने मछली को बेध डाला था वह भी इससे हार गया, तो फिर और धनुष की क्या गिनती? मैंने उन धनुषों रूपी भौंहों को क्यों देखा? उसके बाण मुझे इतने लगे कि उसका कोई हिसाब नहीं है। उन बाणों से छिदकर मेरे हृदय में अनेक छेद हो गये हैं। जिसको इस प्रकार मारा जाय वह भला कैसे जियेगा। सारे शरीर के प्रत्येक रोम की जड़ में छेद हो गये हैं और नस-नस में बाणों की जड़ें रह गई हैं, वे दर्द कर रहे हैं, प्रत्येक हड्डी छिद गई है।

[४७४]

नैन चतुर वै रूप चितेरे। कँवल पत्र पर मधुकर घेरे॥
समुँद तरंग उठहिं जनु राते। डोलहिं तस घूमहिं जनु माँते॥
सरद चँद महँ खंजन जोरी। फिरि फिरि लरहि बहोरि बहोरी॥
चपल बिलोल डोल रह लागी। थिर न रहहिं चंचल बैरागी॥
निरखि अघाहि न हत्या हतें। फिरि फिरि स्रवनन्हि लगहिं मतें॥

अंग सेत मुख स्याम जो ओहीं। तिरिछ चलहिं खिन सूध न होहीं ॥
सुर, नर, गंध्रप लालि कराहीं। उलटे चलहिं सरग कहँ जाहीं ॥
अस वै नैन चक्र दुइ, भवँर समुँद उलथाहिं।
जनु जिउ घालि हिडोरें, लै आवहिं लै जाहिं ॥ ४७४ ॥

शब्दार्थ—चितेरे=चित्रकार (विधाता)। माँते=मतवाले। अहोरि-बहोरी=घूम घूम कर। लालि=लालसा।

अर्थ—इस पद में राघवचेतन पद्मावती के नेत्रों का वर्णन करता है—

उसकी आँखें चतुर चितेरे ब्रह्मा के द्वारा इस प्रकार बनाई गयी हैं मानों कमल पत्तों को भौंरे घेरे हुए हैं। आँखों के लाल डोरे ऐसे लगते हैं जैसे समुद्र में लाल लहरें उठ रही हों, आंख इस प्रकार डोलती हैं मानो मस्ती में हों। ये दोनों आँखें मुख में ऐसे लगती हैं जैसे शरद के चन्द्र में दो खंजन हों जो घूम-घूम कर लड़ रहे हों। आँखें चंचल हैं, डोलती रहती हैं, स्थिर नहीं रहतीं, जैसे बैरागी एक जगह पर नहीं रहता। ये आँखें देखकर हत्या करने में तृप्त नहीं होती, लौट-लौट कर कानों के पास जाती हैं कि उनसे राय लें। भाव यह कि आँखें कानों की ओर लम्बी हो गई हैं, मानो उनकी राय ले रही हैं। उनके अंग सफेद और मुख काले हैं, तिरछी होकर चलती हैं, एक क्षण के लिए भी सीधे नहीं चलतीं। देवता, मनुष्य और गन्धर्व सभी इन आंखों की लालसा करते हैं, उलटे चलकर स्वर्ग चले जाते हैं। वे दोनों नेत्र दो चक्र की भाँति हैं, समुद्र के भंवर की तरह नीचे से ऊपर चक्कर करती रहती हैं और मनुष्य के जीव को हिंडोले में डालकर कभी ले आती हैं और कभी ले जाती हैं।

[४७५]

नासिक खरग हरे धनि कीरू। जोग सिंगार जिते औ बीरू ॥
ससि मुख सौंहँ खरग गहि रामा। रावन सौं चाहै संग्रामा ॥
दुहूँ समुँद्र रचा जेन्हँ बीरू। सेत बंध बाँधेउ नल नीरू ॥
तिलक पुहुप अस नासिक तासू। औ सुगंध दीन्हेउ विधि बासू ॥
कनक फूल पहिरें उजियारा। जानु सरद ससि सोहिल तारा ॥
सोहिल चाहि फूल वह ऊँचा। धावहिं नखत न जाइ पहूँचा ॥
न जानैं केइँ फूल वह गढ़ा। बिगसि फल सब चाहहिं चढ़ा ॥
अस वह फूल बास कर आकर, भा नासिक सनमंध।
जेत फूल ओहि फूलहिं हिरगे, ते सब भए सुगंध ॥ ४७५ ॥

शब्दार्थ—खरग=तलवार। सोहिल=सुहेल तारा जो चन्द्रमा के पास रहता है। चाहि=से, अपेक्षा। आकर=खजाना। सनमंध=सम्बन्ध। हिरगे=निकट आये।

अर्थ—इस पद में राघवचेतन पद्मावती की नासिका का वर्णन कर रहा है—

उस स्त्री (पद्मावती) की नासिका ने तलवार और तोते को हर लिया। उसने योग, शृङ्गार और वीर रस को जीत लिया। राम रूपी शशि-मुख नासिका रूपी तलवार को सामने लेकर रावण से संग्राम चाहता है। भाव यह कि प्रणय के युद्ध में मुख के पास नासिका रूपी तलवार है। अथवा दोनों आंखों रूपी दो समुद्रों के बीच में, मानो यह नासिका नल नील के द्वारा बनाया हुआ सेतुबन्ध है। उसकी नासिका तिल के फूल के समान है, उसमें ब्रह्मा ने अनुपम सुगन्ध दे रखी है। पद्मावती अपनी नाक में एक सोने का फूल (लौंग) पहने हुए है, मानो शरद् ऋतु के चन्द्रमा के सामने सुहेल तारा लग रहा हो। पर यह लौंग सुहेल से अधिक सुन्दर हैं, नक्षत्र इसके पाने का प्रयत्न करते हैं, पर पहुँच नहीं पाते। पता नहीं किसने इस फूल को बनाया है कि संसार के अन्य सभी फूल उस पर निछावर होना चाहते हैं। उस नासिका के सम्बन्ध से वह फूल इतनी सुगन्ध का कोष हो गया है कि जितने फूल उस फूल के निकट आते हैं, सभी सुगन्धित हो जाते हैं।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा।

[४७६]

अधर सुरंग, पान अस खीने। राते रंग अमिअ्र रस भीने॥
आछहिं भीज तँबोर सों राते। जनु गुलाल दीसहिं बिहँसाते॥
मानिक अधर, दसन नग हेरा। बैन रसाल, खाँड मकु मेरा॥
काढ़े अधर, डाभ सौं चोरी। रुहिर चुवैं जौं खंडहि बीरी॥
धारे रसहिं रसहिं रस गीले। रकत भरे वै सुरङ्ग रंगीले॥
जनु परभात रात रबि रेखा। बिगसे बदन कवँल जनु देखा॥
अलक भुवंगिनि अधरन्ह राखा। गहै जो नागिनि सो रस चाखा॥

अधर धरहिं रस पेम का, अलक भुअंगिनि बीचु।
तब अंब्रित रस पिउ, ओहि नागिनि गहि खींचु॥ ४७६॥

शब्दार्थ—आछहिं=शोभित हैं। तँबोर=पान। मकु=मानो। मेरा=मिलाया हुआ। डाभ=कुश। बीरी=पान का बीड़ा।

अर्थ—इस छन्द में पद्मावती के होठों का वर्णन है।

रंगीन होंठ पान की भान्ति पतले हैं, रंग में लाल और अमृत रस से भीगे हुए हैं। भीगे हुए पान के खाने से लाल-लाल शोभित हैं, हँसने पर गुलाल की भान्ति दिखाई पड़ते हैं। होठों पर दाँत ऐसे लगते हैं, जैसे माणिक्य और हीरा। उसकी वाणी ऐसी मीठी है, जैसे उसमें शक्कर मिलाई हुई है। पतले-पतले होठ इस प्रकार हैं, जैसे कुश से चीरे गये हैं, जब वह पान खाती है तो ऐसा मालूम होता है, जैसे खून चू रहा है। (भाव यह कि कुश

से चिरने के कारण खून टपक रहा है), लाल होठों की रेखा ऐसी लगती है, जैसे प्रभात काल में सूर्य की ललायी की रेखा हो। जैसे खिले हुए कमल होते हैं, उसी प्रकार ये होंठ लग रहे हैं। सिर के बाल लटक कर अधरों पर आ रहे हैं, मानो सर्पिणी अधरों पर आ रही है, इसलिए जो सर्पिणी को पकड़ने का साहस रखे वही उन अधरों के रस को चख सकता है। बाल रूपी सर्पिणियों के बीच होठ प्रेम का रस रखते हैं, अतएव तभी पति उस अमृत रस का पान कर सकता है, जब वह उस सर्पिणी को पकड़ कर खींच सके।

[४७७]

दसन स्याम पानन्ह रँग पाके। बिहँसत कवँल भँवर अस ताके॥
चमतकार मुख भीतर होई। जस दारिवँ औ स्याम मकोई॥
चमकै चौक बिहँसु जौं नारी। बीज चमक जस निसि अँधियारी॥
सेत स्याम अस चमकै डीठी। स्याम हीर दुहुँ पाँति बईठी॥
केइँ सो गढ़े अस दसन अमोला। मारैं बीज बिहँसि जौं बोला॥
रतन भीज रँग मसि भै स्यामा। ओही छाज पदारथ नामा॥
कत वह दरस देखि रँग भीने। लै गो जोति, नैन भौ खीने॥

दसन जोति होइ नैन पथ, हिरदैं माँझ बईठि॥
परगट जग अँधियार जनु, गुपुत ओहि पै डीठी॥ ४७७॥

शब्दार्थ—दसन=दांत। चमतकार=चमक। दारिवँ=दाड़िम-अनार। मकोई=जङ्गली मकोय, जिसका रंग काला होता है। चौक=सामने के दांत। दहुँ=मानो। छाज=शोभा पाना। पदारथ=पद्मावती।

अर्थ—इस छन्द में राघवचेतन पद्मावती के दांतों का वर्णन करता है—

पद्मावती के काले दाँत हैं, जो पान के रंग में पके हुए हैं, जब वह हंसती है तो दाँत भौंरों के समान दिखाई पड़ते हैं। मुख के भीतर ऐसी चमक होती है, जैसे अनार और काली मकोई मिली हों। जब वह जोर से हंसती है तो सामने के दांत चमकते हैं तो ऐसा मालूम होता है, जैसे अंधेरी रात में बिजली चमके। सफेद और काले दांतों की पंक्तियां ऐसी शोभा दे रही हैं, जैसे नीलम और हीरे की पंक्तियां बैठाई गई हैं। किसने ऐसे अमूल्य दांतों को गढ़ रखा है! जब वह विहंस कर बोलती है तो मालूम होता है बिजली चमक रही है। काले रंग के लिए कवि कल्पना करता है, मानो रत्नसेन के प्रेम रंग में भीजने से दांत काले हो गये हैं, इसलिए इसका पदार्थ—अर्थात् पद्मावती नाम शोभा देता है। राघवचेतन कहता है कि मैंने क्यों उन रंगीले दांतों को देखा, वे दांत मेरे नेत्रों की ज्योति हर ले गये।

उसके दांतों की ज्योति मेरे नेत्रों के रास्ते हृदय में प्रविष्ट हो गयी है, इसीलिए प्रकट जगत् मुझे अंधेरा सा लगता है, क्योंकि मैंने तो उसकी गुप्त ज्योति देख ली है।

नोट—इस अन्तिम दोहे में जायसी पद्मावती में अव्यक्त ब्रह्म का संकेत करते हैं। उसकी ज्योति गुप्त है, पर इसके प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी को सारा संसार अंधकारमय ही लगता है।

अलंकार—चौपाइयों में—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा।
दोहे में—समासोक्ति।

[४७८]

रसना सुनहु जो कह रस बाता। कोकिल बैन सुनत मन राता॥
अंब्रित कोंप जीभ जनु लाई। पान फूल असि बात मिठाई॥
चात्रिक बैन सुनत होइ साँती। सुनै सो परै पेम मद माँती॥
बीरौ सूख पाव जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू॥
बोल सेवाति बूँद जेंउ परहीं। स्रवन सीप मुख मोंती भरहीं॥
धनि वह बैन जो प्रान अधारू। भूखे स्रवननि देहिं अहारू॥
ओन्ह बैनन्ह कै काहि न आसा। मोहहिं मिरिग बिहँसि भरि स्वाँसा॥
कंठ सारदा मोहहिं, जीभ सुरसती काह।
इंद्र, चंद्र, रबि देवता, सबै जगत मुख चाह॥ ४७८॥

शब्दार्थ—कोंप=कोंपल। साँती=शान्ति। बीरौ=पौदा। पलुह=पल्लवित हो।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि उसकी जिह्वा की बात सुनो—वह ऐसी मीठी रसीली बातें करती है कि कोयल भी उसकी बात सुन उस पर अनुरक्त हो जाय। मानो उसने अपनी जीभ पर अमृत की कोंपलें लगा रखी हैं, इसी लिए उसमें पान-फूल की मिठास है। उसके वचनों को सुनकर चातक को भी शान्ति मिल जाती है, जो उसे सुनता है, वह प्रेम के मद में मतवाला हो जाता है। जैसे सूखा पौदा पानी पाकर पल्लवित हो जाता है, उसी प्रकार उसके वचनों को सुन कर मन प्रफुल्लित हो जाता है। जब उसकी बोली रूपी स्वाति बूँद गिरती है तो कान रूपी सीपी में मोती भर जाते हैं। वह बोली धन्य है, जो प्राणों का आधार बनती है—वह भूखे कानों को भोजन देती है। उन बोलियों की किसे आशा नहीं है, उन्हें सुनकर प्रसन्न होकर सांस भर कर हिरण मोहित हो जाते हैं।

उस कंठ पर शारदा मोहित हो जाती है, सरस्वती की जीभ भला उसकी समता में क्या है ? इंद्र, चन्द्र, सूर्य आदि सभी देवता उसकी वाणी की लालसा से उसका मुख देखा करते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—उपमा, रूपक, संबन्धातिशयोक्ति।

[४७९]

स्रवन सुनहु जो कुंदन सीपी। पहिर कुंडल सिंघल दीपी॥
चाँद सुरुज दुहुँ दिसि चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥

खिन खिन करहिं बिज्जु अस काँपे। अंबर मेघ महँ रहहिं नहिं झाँपे ॥
सूक शनीचर दुहुँ दिसि मतें। होंहिं निरार न स्रवनन्हि हुते ॥
काँपत रहहिं बोल जौं बैना। स्रवनन्हि जनु लागहिं फिरि नैना ॥
जो जो बात सखिन्ह सों सुना। दुहुँ दिसि करहिं सीस वै धुना ॥
खूँट दुहूँ धुव तरईं खूँटीं। जानहुँ परहिं कचपचीं टूटीं ॥
वेद पुरान ग्रन्थ जत, सबै सुनै सिखि लीन्ह।
नाद बिनोद राग रस बिंदक, स्रवन ओहि विधि दीन्ह ॥ ४७९ ॥

शब्दार्थ—कुन्दन सीपी=सुनहले सीपों का आधा संपुट। निरखि=देख। निरार= अलग। सूक सनीचर=शुक्र का रत्न हीरा और शनि का नीलम है। पद्मावती के कुंडल में हीरा और नीलम जड़े हैं। हुतें=से। खूँट=कोना। खूँटी=खूँट नाम का एक गहना। कचपची=कृत्तिका नक्षत्र। बिन्दक =जानने वाले।

अर्थ—राघव चेतन कहता है कि अब कानों का वर्णन सुनो जो कि सुनहली सीप के आधे संपुट की भाँति हैं और उनमें सिंहल द्वीप के बने हुए कुण्डल पहने हैं। ये कुंडल ऐसे चमक रहे हैं जैसे सूर्य और चन्द्र हों, कुण्डल जड़ाऊ हैं जैसे नक्षत्रों से भरे हों। वे ऐसे झलमलाते हैं जैसे क्षण-क्षण में बिजली कौंध रही हो। आकाश के बादलों में छिपाए छिपते नहीं। कुण्डल में हीरा और नीलम के रूप में मानो शुक्र और शनैश्चर दोनों ओर से लगे हैं और कानों से अलग नहीं होते। जब वह बोलती है तो कान हिलते रहते हैं, आँखें कानों की ओर लग जाती हैं (बोलने के साथ जब उसकी लम्बी आंखें घूमती हैं मानो वे कानों के पास दौड़ जाती हैं)। जब वह सखियों से कोई बात सुनती है तो दोनों ओर सिर हिलाती है, उन्हें सुनने पर कान हिलते हैं। कबि कल्पना करता है कि ये कान उन बातों को सुन सुनकर अपने सिर धुनते हैं। दोनों कानों में वह खूँट पहने हैं मानो ध्रुवतारा है और उसमें जड़ाऊ नग ऐसे झलमलाते हैं जैसे कृत्तिका नक्षत्र। वेद पुराण आदि जितने ग्रन्थ हैं उन सब को कानों ने सुनकर उन्हें सीख लिया है। साथ ही संगीत, नाद, मनोरंजन के अन्य साधन बाजे आदि, राग-रागनियाँ, रस आदि सबके जानने वाले ये कान हैं। ऐसे कान ब्रह्मा ने पद्मावती को दे रखे हैं।

[४८०]

कँवल कपोल ओहि अस छाजे। और न काहु दैयँ अस साजे ॥
पुहुप पंक रस अमिअ सँवारे। सुरंग गेंदु नारँग रतनारे ॥
पुनि कपोल बाएँ तिल परा। सो तिल बिरह चिनिगि कै करा ॥
जो तिल देख जाइ डहि सोई। बाईं दिस्टि काहु जनि होई ॥
जानहुँ भँवर पदुम पर टूटा। जोउ दीन्ह औ दिएहुँ न छूटा ॥

देखत तिल नैनन्ह गा गाड़ी । और न सूझै सो तिल छाँड़ी ।।
तेहि पर अलक मंजरी डोला । छुअै सो नागिनी सुरँग कपोला ।।
रख्या करै मँजूर ओहि, हिरदैं ऊपर लोट ।
केहि जुगुति कोइ छुइ सकैं, दुइ परबत की ओट ।। ४८० ।।

शब्दार्थ—पुहुप-पंक=फूल का कीचड़. पराग । रतनारे=लाल । चिनिगि=चिनगारी । डहि=जल कर । मंजरी=पुष्प-गुच्छ । मँजूर=मोर (गर्दन) । परवत=कुच ।

अर्थ—अब राघवचेतन पद्मावती के कपोलों का वर्णन करता है—

कमल के समान उसके कपोल ऐसे शोभा पा रहे हैं कि ईश्वर ने ऐसे सुन्दर कपोल और कहीं नहीं सजाये । फूलों के पराग और अमृत रस से उसने इन्हें सँवारा है, ये सुन्दर गेंद या लाल नारंगी के समान गोल हैं । फिर बायें कपोल पर एक तिल है । वह तिल तो विरह की चिनगारी की एक किरण है । जो कोई उस तिल को देखता है वह जल जाता है, इसलिए अच्छा है जो किसी की दृष्टि बायीं ओर (बायें कपोल वाले तिल की ओर] न हो । यह तिल ऐसा लगता है मानो भौंरा कमल पर टूटा है, जिसने कमल पर अपनी जान तो दे दी फिर भी उसे छोड़ा नहीं, उसी पर चिपटा है । उस तिल को छोड़कर और कुछ नहीं सूझता । उस कपोल पर ही बालों की लट का गुच्छा लटकता है मानो सर्पिणी उन रंगीन कपोलों को छूने आ रही है । इस नागिनी से बचाने के लिए गर्दन रूपी मोर हृदय के ऊपर खड़ो हे, उस हृदय को भला कोई कैसे छू सकता है क्योंकि वह तो दो पर्वतों (कुचों) की ओट में है ।

अलंकार---रूपक ।

[४८१]

गीवँ मँजूर केरि जनु ठाढ़ी । कुंदे फेरि कुंदेरै काढ़ी ।।
धन्य गीवँ का बरनौं करा । बाँक तुरंग जानु गहि धरा ।।
घुरत परेवा गीवँ उँचावा । चहै बोल तवँचूर सुनावा ।।
गीवँ सुराही कै असि भई । अमिय पियाला कारन नई ।
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा । नैन ठाँव जिउ होइ सो देखा ।
सूरुज कांति करा निरमलो । दीसै पीकि जाति हिय चली ।।
कंज नार सोहै गिवँ हारा । साजि कँवल तेहि ऊपर धारा ।।
नागिनि चढ़ी कवँल पर, चढ़ि कै बैठ कमंठ ।
जो ओहि काल गहि हाथ पसारै, सो लागै ओहि कंठ ।।४८१।।

शब्दार्थ—ठाढ़ी=सीधी खड़ी हुई । कुंदै=खराद । कुंदेरै=खरादने वाला । घुरत=गुटुरगूं का शब्द करना । तिरि=तीन । कंजनार=कमल नाल । गिवँ=ग्रीवा, गर्दन । कमंठ=कमठ-कछुआ ।

अर्थ—पद्मावती की गर्दन मोर जैसी है, ऐसी सँवारी है जैसे खराद करने वाले ने खराद पर ढाल रखा है। वह गर्दन धन्य है, उसकी शोभा का क्या वर्णन करूँ जैसे कोई बाँका घोड़ा ही पकड़ा गया है, या कोई गिरहबाज कबूतर ने अपनी गर्दन ऊँची कर ली है, या जैसे मुर्गे ने अपनी बोली सुनाने के लिए गर्दन उठा रखी है। उसकी गर्दन सुराही की गर्दन जैसी है और अमृत के प्याले के लिये झुकी है। फिर उसी जगह तीन रेखाएँ पड़ी हैं जो कोई उसे देखता है उसकी दृष्टि वहीं रह जाती है। उस गर्दन में सूर्य की कान्ति की चमक है। ऐसी निर्मलता है कि जब वह पान खाती है तो पान की पीक गर्दन से उतरती हुई झलकती है। उसने गले में कमल की नाल का हार पहना है और उसके ऊपर कमल (मुख) सजा रखा है अर्थात् उसकी ग्रीवा कमल नाल की भाँति पतली और नाजुक है तथा मुख कमल की भाँति है।

कमल रूपी मुख के ऊपर नागिनी रूपी अलक है जो चढ़कर कछुए रूपी खोपड़ी पर बैठी है, जो उस काल रूपी नागिनी को हाथ से पकड़े, वही उसके कंठ लग सकता है।

अलंकार—रूपक।

[४८२]

कनक डंड भुज बनीं कलाईं। डाँड़ी कँवल फेरि जनु लाई॥
चँदन गाभ की भुजा सँवारी। जनु सुमेल कोँवलि पौनारी॥
तिन्ह डाँड़िन्ह वह कँवल हथोरी। एक कँवल कै दूनौ जोरी॥
सहजहिं जानहुँ मेंहदी रची। मुकुता लै जनु घुँघुची पची॥
कर पल्लौ जो हथोरिन्ह साथाँ। वै सुठि रकत भरे दुहुं हाथाँ॥
देखत हिए काढ़ि जिउ लेहीं। हिया काढ़ि लै जाहिं न देहीं॥
कनक अँगूठी औ नग जरी। वह हत्यारिनि नखतन्ह भरी॥
जैसनि भुजा कलाई, तेहि बिधि जाइ न भाखि।
कंगन हाथ होइ जहँ, तहँ दरपन का साखि॥४८२॥

शब्दार्थ—डांडी=कमल नाल। फेरि जनु लाई=कमल रूपी हथेली भुजा के नीचे है जब कि कमल का फूल नाल के ऊपर होता है। इस प्रकार मानो नाल युक्त कमल उलटा कर दिया गया है। गाभ=डाली। पौनारी=कमल नाल। साखि=साक्षी, प्रमाण।

अर्थ—स्वर्ण दण्ड की भुजायें और कलाइयाँ बनी हैं जैसे कमल की नाल ही उलट कर डाल दी गयी है। चंदन की डालियों से कमल नाल को मिला कर भुजा सँवारी गयी है—भाव यह कि उसमें चन्दन की सुगन्ध और कमल की नाल की कोमलता है। इन भुजाओं में कमल के समान हथेलियाँ हैं, मानो एक ही कमल की दो जोड़ियाँ हैं। हथेलियों में ऐसी ललाई है मानो स्वभावतया उसमें मेंहदी रची है। जब वह हाथ में मोती लेती है तो प्रतीत होता है कि घुंघची की पच्चीकारी है। भाव यह है कि हाथ की ललाई के

प्रभाव से मोती पर लाल आभा आ जाती है। हाथ की उंगलियाँ जो हथेलियों के साथ हैं, ऐसा मालूम होता है उनमें खून चू रहा है। देखते ही हृदय से जीव निकाल लेती हैं और जब वह हृदय निकाल लेती हैं तो लौटाती नहीं। उंगलियों में हीरे की जड़ाऊ सोने की अंगूठी पहने है, वह अंगूठी नगों से जड़ी है मानो तारे जड़े हैं। इस प्रकार वह हत्यारिन है। फिर भी भाग्यशाली नक्षत्रों से युक्त है।

जिस प्रकार उसकी भुजायें और कलाइयाँ हैं, उस प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता है। जहाँ हाथ में ही कंगन है उसे दर्पण की क्या आवश्यकता?—'हाथ कंगन को आरसी क्या'।

अलंकार—तद्गुण—मुकता लै जनु घुँघची पची।
लोकोक्ति—कंगन हाथ···साखि।

[४८३]

हिया थार, कुच कनक कचोरा। साजे जनहुँ सिरीफल जोरा॥
एक पाट जनु दूनौं राजा। स्याम छत्र दूनहूं सिर साजा॥
जानहुँ लट्टू दुओ एक साथाँ। जग भा लट्टू, चढ़ै नहि हाथाँ॥
पातर पेट आहि जनु पूरी। पान अधार, फूल असि कोवँरी॥
रोमावलि ऊपर लट झूमा। जानहुं दुओ स्याम ओ रूमा॥
अलक भुवंगिनि तेहि पर लोटा। हेंगुरि एक खेल दुइ गोटा॥
बाँह पगार उठे कुच दोऊ। नाग सरन उन्ह नाव न कोऊ॥
कैसेहुँ नवहि न नाएँ, जोबन गरब उठान।
जो पहिलें कर लावै, सो पाछें रति मान॥४८३॥

शब्दार्थ—कचोरा=कटोरा। सिरीफल=श्रीफल-बेल। पाट=सिंहासन। लट्टू=लट्टू। कोवँरी=कोमल। स्याम और रूमा=सीरिया और रूम दो देश जो एशियाई कोचक में पास-पास हैं। हेंगुरी=उंगली†। पगार=परकोटा। नाग=हाथी। कर=हाथ, टैक्स, खिराज। रति=सुख।

अर्थ—पद्मावती की छाती थाल के समान है और दो कुच कटोरे हैं। अथवा श्रीफलों के जोड़े एक ही सिंहासन पर सजाये गये हैं। कुचों के ऊपर की कालिमा ऐसी मालूम होती है कि उनके ऊपर काला छत्र शोभित हो रहा है। मानो दो लट्टू एक साथ ही

†डा० बासुदेव शरण अग्रवाल ने 'हेंगुरि' का अर्थ हय+अर्गला अर्थात् घोड़े पर चढ़ कर खेलने का डंडा लिया है (दे० पृ० ५०३)। अर्थ में बहुत खींचतान है। गोट का अर्थ गेंद लगाना भी इसी प्रकार है। जायसी ने प्रायः शतरंज के खेल का उल्लेख किया है। कुच की उपमा भी गोट से उन्होंने अनेक बार दी है। हींगुर उंगली से अधिक दूर भी नहीं है।

रखे हैं और सारा संसार उन पर लट्टू तो है पर वे किसी के हाथ नहीं चढ़ते। उसका पेट ऐसा पतला है जैसे पूड़ी। वह तो पान-फूल के ही सहारे रहती है। इसीलिए इतनी कोमल है। पेट के ऊपर रोमावली है। उसके ऊपर सिर की चोटियां झूम रही हैं, मानो सीरिया और रूम दोनों पास ही पास हैं। चोटी रूपी सर्पिणी कुचों पर लोट रही है, मानो दोनों कुच तो खेल के दो गोटें हैं और चोटी उनके साथ खेल रही है। बाहों के परकोटे पर दोनों कुच बुर्जों के समान उठे हैं। हाथी भी उनकी शरण हैं क्योंकि उनके कुंभस्थल कुचों की समता नहीं कर सकते अतः कोई उन्हें झुका नहीं सकता। किसी प्रकार वे झुकाए नहीं झुकते, क्योंकि जवानी के गर्व से उठे हैं। जो पहले हाथ डालेगा और जीवन के खतरे का खिराज भरेगा वही पीछे रति-सुख प्राप्त करेगा।

[४८४]

भ्रिंगि लंक जनु माँझ न लागा। दुइ खँड नलिनि माँझ जस तागा॥
जब फिरि चली देख मैं पाछें। अछरि इन्द्र केरि जस काछें॥
उजहि चली जनु भा पछिताऊ। अबहूँ दिस्टि लागि ओहि भाऊ॥
ओहि के गवन छपि अछरी गईं। भईं अलोप, नहिं परगट भईं॥
हंस लजाइ समुंद कहँ खेले। लाज गयंद धूरि सिर मेले॥
जगत इस्त्रीं देखी महूँ। उदै अस्त असि नारि न कहूँ॥
महि मंडल तौ अैस न कोई। ब्रह्मामंडल जौं होइ तो होई॥
बरनी नारि तहाँ लगि, दिस्टि झरोखें आइ।
औरु जो रही अदिस्टि भै, सो कछु बरनि न जाइ॥४८४॥

शब्दार्थ—भ्रिंगि=भृङ्गी,। लंक=कमर। माँझ=बीच में। जब फिरि चली= मध्यकालीन मूर्तियों में अप्सराओं की ऐसी मुद्रा मिलती है जिसमें वे गरदन घुमा कर पीछे देखती हैं। (वैरिनि पीठ लीन्ह ओइँ पाछें। जनु फिरि चली अपछरा काछें!—जायसी १११.) काछें=सजी हुई। उजहि चली=उजाड़ कर चली गई।

अर्थ—उसकी कमर इतनी पतली है जैसे भृङ्गी की, जो कि मालूम होती है कि बीच में जुड़ी ही नहीं है, या जैसे कमल की नाल तोड़ देने पर एक रेशे से जुड़ी रहती है इसी प्रकार उसकी पतली कमर जुड़ी हुई सी है। जब वह मुझे देख कर पीछे होकर चली गयी तो मैंने समझा कि यह तो इन्द्र की कोई सजी हुई अप्सरा है। मुझे तो उजाड़ कर चली गई, मुझे पछतावा मात्र रह गया, अब भी मेरी दृष्टि उस पर उसी भाव से लगी हुई है। उसकी चाल पर अप्सराएँ छिप गयीं। इसीलिए वे लुप्त हो गयीं और प्रकट नहीं होतीं। हंस उसकी चाल देखकर लजा गया और समुद्र के पानी में मुँह छिपाने लगा। हाथी उसकी चाल से लजा कर अपने सिर पर धूलि डालने लगा। मैंने भी संसार में स्त्रियाँ देखी हैं, पर उदयाचल से अस्ताचल तक ऐसी नारी कहीं नहीं है। इस पृथ्वी में तो ऐसी कोई

नहीं है, स्वर्ग में यदि कोई हो तो हो। झरोखे में से जितने अंग उसके मुझे दिखाई पड़े हैं उतने ही का वर्णन मैंने किया है और जो भाग मुझे नहीं दिखलाई पड़ सके उनका मैं कुछ वर्णन नहीं कर सकता। (भाव यह कि झरोखे में खड़ी होने से कमर से ऊपर के भाग ही दिखाई पड़े हैं, नीचे के भाग वह न देख सका। अतः उनका वर्णन नहीं किया।)

[४८५]

का धनि कहौं जैसि सुकुवारा। फूल के छुएँ जाइ बिकरारा॥
पँखुरी लीजहि फूलन्ह सेंती। सो नित डासिअ सेज सुपेती॥
फूल समूच रहै जो पावा। व्याकुलि होइ नींद नहिं आवा॥
सहै न खीर, खाँड और घीऊ। पान अधार रहै तन जीऊ॥
नसि पानन्ह कै काढ़िअ हेरी। अधरन्ह गड़ै फाँस ओहि केरी॥
मकरी क तार ताहि कर चीरू। सो पहिरें छिलि जाइ सरीरू॥
पालक पाँव, कि आछहिं पाटा। नेत बिछाइअ जौं चल बाटा॥
घालि नयन जनु राखिअ, पलक न कीजै ओट।
पेम क लुबुधा पावै, काह सो बड़ का छोट॥४८५॥

शब्दार्थ—विकरारा=बेचैन। सेंती=से। सुपेती=सफेद चादर। समूच=पूरा। नसि=पान के बीच के रेशे। हेरी=खोज कर। मकरी के तार=मकड़ी के तारों के समान महीन बुना कपड़ा। ढाके की मलमल प्रसिद्ध है कि वह अत्यन्त महीन होती थी। पालक=पलंग। आछहिं=रहते हैं। पाटा=सिंहासन। नेत=एक प्रकार का रेशमी कपड़ा।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि वह स्त्री कितनी कोमल है, कैसे बताऊँ, फूल को स्पर्श कर वह बेचैन हो जाती है। फूलों की पंखुड़ियों को निकाल कर तब नित्य उसकी सेज बिछाई जाती थी। यदि उसमें कोई फूल पूरा रह जाता था, तो वह व्याकुल हो जाती थी और रात भर उसे नींद नहीं आती थी। वह दूध, शक्कर और घी आदि को बरदाश्त नहीं कर पाती, इसलिए पान-फूल के आधार पर ही उसका शरीर जी रहा है। खोज-खोज कर पान के रेशे निकाल लिए जाते हैं, फिर भी उसकी फाँस उसके होठों में गड़ जाती हैं। मकड़ी के तारों के समान महीन उसके वस्त्र होते हैं, फिर भी उनके पहिनने पर उसका शरीर छिल जाता है। उसके पैर या तो पलंग पर रहते हैं या सिंहासन पर। जब वह जमीन पर चलती है तो रेशम की चादर बिछाई जाती है।

एक बार उसको आँखों में डालने पर इच्छा होती है कि कभी पलकों से ओट न करें। प्रेम का लोभी ही उसे पा सकता है। क्या बड़ा हो, क्या छोटा। (अन्तिम पंक्ति में वह अलाउद्दीन में आशा की लौ भी जगाता है।)

[४८६]

राघौ जौं धनि बरनि सुनाई। सुना साह, मुरुछा गति आई।।
जनु मूरति वह परगट भई। दरस देखाइ तर्बाह छपि गई।।
जो जो मँदिल पदुमिनी लेखी। सुनत सो कवँल कुमुद जेउँ देखी।।
मालति होइ असि चित्त पईठी। और पुहुप कोइ आव न डीठी।।
मन है भवँर, भँवें बैरागा। कँवल छाँड़ि चित्त औरु न लागा।।
चाँद के रँग सुरुज जस राता। अब नखतन्ह सौं पूँछ न बाता।।
नव अलि अलाउद्दीन जग सूरू। लेउँ नारि चितउर कै चूरू।।
जौं वह मालति मानसर, अलि न बेलंबै जात।
चितउर महँ जो पदुमिनी, फेरि वहै कहु बात।।४८६।।

शब्दार्थ—मंदिल=महल। लेखी=समझ रखी थी। कै चूरू=चूर कर, नष्ट कर। बेलंबै=विलम्ब, देर। वहै=वही।

अर्थ—राघवचेतन ने जब पद्मावती का इस प्रकार वर्णन सुनाया, तो शाह अलाउद्दीन को उसे सुन कर मूर्छा आ गयी। उसको ऐसा प्रतीत हुआ कि पद्मावती की मूर्ति एक बार प्रगट हुई और दर्शन दिखा कर लुप्त हो गयी। अब तक अलाउद्दीन ने अपने महल में जिन नारियों को पद्मिनी समझ रखा था, पद्मावती के वर्णन को सुनकर वे सब कुमुदिनी प्रतीत होने लगीं। पद्मावती मालती के समान अलाउद्दीन के चित्त में बैठ गयी और कोई फूल अब उसे नहीं दिखाई पड़ता। उसका मन भौंरा बन कर बैरागी सा घूमने लगा, उस कमल रूपी पद्मावती को छोड़ कर और कहीं उसका चित्त नहीं लगता। जैसे सूर्य चाँद के रंग पर अनुरक्त हो जाता है और अन्य ताराओं से बात नहीं करता उसी प्रकार अलाउद्दीन की दृष्टि पद्मावती पर एकनिष्ठ हो गयी। तब अलाउद्दीन रूपी सूर्य ने विचार किया, अब मैं चित्तौड़ को चूर करके पद्मावती को लूँगा। जब मालती मानसरोवर में होती है तो भौंरे को जाने में देर नहीं लगती, इसी प्रकार अब मुझे भी देर नहीं है। अतः यदि पद्मावती चित्तौड़ में है तो तुम फिर उसी की बात करो।

[४८७]

ऐ जग सूर कहौं तुम्ह पाहाँ। औरु पाँच नग चितउर माहाँ।।
एक हंस है पंखि अमोला। मोंती चुनै, पदारथ बोला।।
दोसर नग जेहि अँबित बसा। सब बिख हरं जहाँ लगि डसा।।
तीसर पाहन परस पखाना। लोह छुवत होइ कंचन बाना।।
चौथ अहै सादूर अहेरी। जेहिं बन हस्ति धरे सब घेरी।।
पांचौ है सोनहा लागना। राज पंखि पंखी कर जना।।

हरिन रोझ कोइ बाँच न भागा। जस सँचान तैस उड़ि लागा ।।
नग अमोल अस पाँचौं, मान समुंद ओहि दीन्ह ।
इसकंदर नहिं पाएउ, जौं रे समुंद धँसि लीन्ह ।।४८७।।

शब्दार्थ—पदारथ=रत्न, उत्तम बोली । परस पखाना=पारस पत्थर । सादूर=शार्दूल, सिंह । सोनहा=एक पक्षी-विशेष, जो बाज़ की तरह का होगा, यह पृथ्वी पर भी चल सकता था और आकाश में उड़ भी सकता था । लागना=शिकार की ताक में रहने वाला । जना=पैदा किया हुआ । रोझ=नील गाय । बाँच=बचना । सँचान=बाज । इसकंदर=सिकन्दर ।

अर्थ—राघवचेतन कहता है कि संसार के सूर्य ! मैं तुमसे कहता हूं कि पद्मावती के अतिरिक्त चित्तौड़ में पांच और रत्न हैं । पहला रत्न तो अनमोल हंस पक्षी है जो उत्तम बोली के रूप में मोती चुगता है । दूसरा रत्न अमृत है जो जहाँ रहता है, सभी प्रकार के विषों को हरता है । तीसरा रत्न पारस पत्थर है जो लोहे को छूकर सोना कर देता है । चौथा रत्न शिकारी सिंह हैं जो वन के हाथियों को घेर कर पकड़ लेता है । पाँचवां रत्न शिकारी की ताक में रहने वाला सोनहा पक्षी है जो राज-पक्षी की संतान है । उससे हिरन और नीलगाय आदि भग कर बच नहीं पातीं। जैसे बाज पक्षियों को पकड़ता है, इसी प्रकार वह इन सबको पकड़ लेता है । ऐसे अनमोल पाँचों रत्न समुद्र ने रत्नसेन को भेंट में दिये थे । जो उसने समुद्र में प्रवेश करके प्राप्त कर लिया है, उसे सिकन्दर महान् ने भी नहीं प्राप्त किया ।

नोट—उपर्युक्त रत्न समुद्र ने रत्नसेन को दिये थे ।—पद संख्या ४१९ ।

[४८८]

पान दीन्ह राघौ पहिरावा। दस गज हस्ति घोर सौ पावा ।।
औ दोसर कँगन कर जोरी। रतन लागि तेहि तीस करोरी ।।
लाख दिनार देवाई जेंवा। दारिद हरा समुद कै सेवा ।।
हौं जेहि देवस पदुमिनी पावौं। तोहि राघौ चितउर बैसावौं ।।
पहिलें कै पाँचौं नग मूंठी। सो नग लेउँ जो कनक अँगूठी ।।
सरजा सेर पुरुख बरियारू। ताजन नाग, सिंघ असवारू ।।
दीन्ह पत्र लिखि बेगि चलावा। चितउर गढ़ राजा पहँ आवा ।।
पत्र दीन्ह लै राजहि, किरिपा लिखी अनेग ।
सिंघल की जो पदुमिनी, सो चाहौं यहि बेगि ।।४८८।।

शब्दार्थ—पहिरावा=पोशाक, राजा लोग प्रसन्न होने पर पोशाक इनाम में देते थे । देवाई=दिलाया । जेंवा=आजीविका, दक्षिणा । मूंठी=मूठी, हस्तगत । ताजन=

कोड़ा। किरिपा=मध्यकालीन पत्र तीन प्रकार के होते थे—संदेशात्मक, व्यवहारात्मक और निर्देशात्मक। निर्देशात्मक पत्र राजा की ओर से लिखे जाते थे। इसमें पहले प्रशस्ति होती थी जिसमें यथायोग्य प्रणाम, आशीष, प्रेम, मिलन की उत्कंठा आदि लिखी जाती थी और फिर राजाज्ञा होती थी। किरिपा से तात्पर्य प्रशस्ति से है। राजाज्ञा इसके बाद अन्तिम पंक्ति में है।

अर्थ—अलाउद्दीन ने राघवचेतन को पोशाक देकर पान का बीड़ा दिया, साथ ही उसने दस हाथी और सौ घोड़े दिलवाए। फिर उसे कंगन की दूसरी जोड़ी भी दी, जिसमें तीस करोड़ नग लगे थे। एक लाख दीनारें उसने दक्षिणा में दिलवाईं। इस सागर रूपी अलाउद्दीन की सेवा करने से राघवचेतन की दरिद्रता दूर हो गई। अलाउद्दीन ने कहा कि जिस दिन मैं पद्मावती को पा जाऊँगा, तुझे चित्तौड़ का राजा बना दूंगा। पहले उन पाँचों रत्नों को हस्तगत करके उस स्वर्ण अंगूठी रूप श्रेष्ठ रत्न पद्मावती को प्राप्त करूँगा।

फिर उसने सरजा नाम के शेर सरीखे बली आदमी को बुलाया जिसके पास नाग का कोड़ा था और जो सिंह पर सवारी करता था। तुरन्त ही एक पत्र लिख कर उसे दे दिया और चित्तौड़ के लिए उसे रवाना कर दिया। सरजा चित्तौड़ में राजा रत्नसेन के पास आया। उसने राजा को अलाउद्दीन का पत्र दिया जिसमें पहले तो अनेक प्रकार से प्रेम, मिलन, कुशल आदि लिखी थीं, फिर लिखा था कि जो सिंहल द्वीप की पद्मिनी तुम्हारे पास है, उसे मैं शीघ्र ही चाहता हूं।

———

४२. बादशाह-चढ़ाई-खण्ड

[४८९]

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहुँ देव तरपि घन गाजा ॥
का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहौं तो सारदूर लै खाई ॥
भलेहँ सो साहि पुहुमिपति भारी। माँग न कोइ पुरुख कै नारी ॥
जौं सो चक्कवै ता कहँ राजू। मँदिर एक कहँ आपन साजू ॥
आछरि जहाँ इंद्र पै रावा। और जो सुनै न देखै पावा ॥
कंस क राज जिता जौं कोपी। कान्हहि दीन्ह काहुं कहुं गोपी ॥
का मौहि तें अस सूर अगारां। चढ़ौं सरग, औ परौं पतारां ॥
का तोहि जीव मरावौं, सकति आन के दोस।
जो तिस बुझै न समुँद जल, सो बुझाइ कत ओस ॥ ४८९ ॥

शब्दार्थ—देव=आकाश। तरपि=तड़प कर। गाजा=गर्जा। सारदूर=शार्दूल, शेर। पै=ही। अगारां=बढ़ कर।

अर्थ—अलाउद्दीन के लेख को सुनकर राजा रत्नसेन जल उठा और क्रोध के आवेश में इस प्रकार तड़प उठा जैसे आकाश से बादल गरजा हो ? यदि मैं आज्ञा दूँ तो मेरा उसने सरजा से कहा कि क्या तुम मुझे अपने वाहन सिंह को दिखा रहे हो ? शार्दूल इसे पकड़ कर खा जाय। भले ही अलाउद्दीन भारी बादशाह हो पर कोई बड़े से बड़ा आदमी भी किसी पुरुष को स्त्री को नहीं माँगता। यदि वह एक चक्रवर्ती बादशाह है तो यहाँ अपने महल भर के लिए अपना भी साज है। जहाँ पर अप्सरा है वहाँ पर इन्द्र ही राजा होता है और उसके अतिरिक्त और कोई उस अप्सरा को देख-सुन नहीं सकता। कृष्ण ने कंस के राज्य को अवश्य ही जीत लिया था। पर क्या श्री कृष्ण को किसी ने मथुरा की गोपियाँ दीं ? फिर यदि वह अलाउद्दीन सूर्य और अङ्गारे के समान है तो क्या हुआ ? यहाँ यदि आयेगा तो पद्मावती के लिए मैं तो स्वर्ग पर चढ़ूंगा और पाताल में पड़ लूंगा।

पर तेरे जीव को क्यों मरवाऊं, क्योंकि इसमें तो दूसरे का दोष है। जो प्यास समुद्र के जल से नहीं बुझी, वह ओस से कैसे बुझ सकती है ?

[४९०]

राजा रिसि न होहि अस राता। सुनि होइ जूड़, न जरि कहु बाता ॥
आवा हौं सो मरै कहँ आवा। पातसाहि अस जानि पठावा ॥
जौं तोहि भार, न औरहि लेना। पूँछिहि काल उतर है देना ॥
पातसाहि कहँ अस न बोलू। चढ़ै तौ परै जगत महँ डोलू ॥

सूरहि चढ़त न लागै बारा। धिकै आगि तेहि सरग पतारा ।।
परबत उड़हिं सूर के फूँके। यह गढ़ छार होइ एक भूँके ।।
धँसै सुमेरु समुँद को पाटा। भुइँ सम होइ धरै जौं बाटा ।।
तासौं का बड़ बोलसि, बैठि न चितउर खासि।
उपर लेहि चँदेरी, का पदुमिनि एक दासि ।। ४६० ।।

शब्दार्थ—रिसि=क्रोध। राता=लाल। जूड=ठंडा। दोलू=हलचल। बारा=देर।

अर्थ—सरजा ने उत्तर दिया कि हे राजा ! इस प्रकार क्रोध से लाल न हो, ठंडे दिल से बात सुनो, जलकर कोई बात न करो । मैं जो यहाँ आया हूं तो मरने के लिए ही आया हूँ और यही समझ कर बादशाह ने मुझे भेजा है। पर तेरा भार (उत्तरदायित्व) तो और किसी को लेना नहीं है, जब मृत्यु के समान अलाउद्दीन कुछ पूछ रहा है तो उसका उत्तर देना ही है। बादशाह को इस प्रकार उत्तर नहीं देना चाहिए क्योंकि वह बड़ा प्रतापी है। जब वह चढ़ाई करता है तो सारे संसार में हलचल मच जाती है। सूर्य के चढ़ने में कोई देर नहीं लगती और उसकी आग से स्वर्ग और पाताल सभी जलने लगते हैं। शूरवीर के फूँकने से तो पहाड़ तक उड़ जाते हैं, यह तुम्हारा चित्तौड़ गढ़ तो एक झोंके में ही मिट्टी में मिल जाएगा। सुमेरु पर्वत भी भूमि में धंस जाता है, समुद्र पट जाता है, पृथ्वी समतल हो जाती है जब वह रास्ते में चलता है।

ऐसे बादशाह से बड़ी बातें क्या करते हो ? मेरी सम्मति तो यह है कि तुम आराम से अपने दरबार खास में क्यों न बैठकर आनन्द करो और ऊपर से चंदेरी राज्य उपहार में लो, एक पद्मिनी दासी क्या है ? भाव यह कि एक पद्मिनी के देने से तुम्हें यह सब मिल जायगा ? एक पद्मिनी के लिए क्यों इतना खतरा मोल लेते हो ?

[४६१]

जौ पै ग्रिहिनि जाइ घर केरी। का चितउर, केहि काज चँदेरी ।।
जिअँ लेइ घर कारन कोई। सो घर देइ जो जोगी होई ।।
हौं रनथँभर नाँह हमीरू। कलपि माँथ जेइ दीन्ह सरीरू ।।
हौं तौ रतनसेन सक बंधी। राहु बेधि जीती सँरिंधी ।।
हनिवँत सरिस भार मैं काँधा। राघौ सरिस समुँद हठि बाँधा ।।
बिक्रम सरिस कीन्ह जेइँ साका। सिंघल दीप लीन्ह जौं ताका ।।
ताहि सिंघ कै गहै को मोंछा। जौं अस लिखा होइ नहिं ओछा ।।
दरब लेइ तौ मानौं, सेव करौं गहि पाउ।
चाहै नारि पदुमिनी, तौं सिंघल दीपहि जाउ ।।४६१।।

शब्दार्थ—ग्रिहिनि=गृहिणी, स्त्री । नाँह=नाथ, राजा। कलपि=रूठ, कर। सकबंधी=यशस्वी, साका का मूल अर्थ शक संवत् है। आगे यही मुहावरा बन गया 'विक्रम

साका कीन्ह' जिसका लक्ष्यार्थ यश के कार्य के लिए हो गया। उस युग में जो स्त्रियों से जौहर करवा कर युद्ध में केसरिया बाना पहन कर लड़ते-लड़ते प्राण देता था उसे भी सकबन्धी कहते थे। सैरिंधी=द्रौपदी। साका=संवत्। मोंछा=मूँछ।

अर्थ—रत्नसेन ने उत्तर दिया कि यदि घर की गृहिणी ही चली जायेगी तो चितौड़ में क्या रक्खा है और चंदेरी किस काम की? घर के कारण तो चाहे कोई मेरा जीव ही ले ले। इस घर को वही दे सकता है जो जोगी होता है। मैं तो रणथम्भौर के राजा हम्मीर-देव के समान हूँ जिसने अपने हठ पर अपने मत्थे को काट कर अपने शरीर को छोड़ दिया। मैं तो यशस्वी रत्नसेन हूँ जिसने अर्जुन की भांति मछली को वेध कर द्रौपदी को जीत लिया है (भाव यह है कि अनेक परीक्षाओं के बाद मैंने पद्मावती को प्राप्त किया है)। इस पद्मावती के प्राप्त करने में मैंने हनुमान् के समान पहाड़ के भार को अपने कंधे पर वहन किया है और रामचन्द्र जी के समान हठपूर्वक समुद्र पर पुल बांधा है। मैं विक्रमादित्य के समान हूं जिसने अपने नाम का संवत् चलाया। मैंने दृष्टि लगाई तो सिंहल द्वीप पहुँच ही गया। ऐसे सिंह की मूँछें कौन पकड़ सकता है? पर जिस अलाउद्दीन ने पत्र में नम्रता की बातें लिखी हैं (किरिपा लिखी अनेग) वह शाह हृदय का ओछा नहीं हो सकता। तुम उससे जा कर कह दो कि यदि तुम धन लेना चाहते हो तो यह मैं मान सकता हूं, मैं द्रव्य के द्वारा तुम्हारे चरणों की सेवा कर दूँगा, पर यदि वह पद्मिनी नारी ही चाहता है तो उससे कह दो कि वह सिंहल द्वीप ही जावे।

[४९२]

बोलु न, राजा आपु जनाई। लीन्ह उदैगिरि लीन्ह छिताई॥
सप्त दीप राजा सिर नावहिं। औ सें छलीं पदुमिनी आवहिं॥
जाकरि सेवा करै संसारा। सिंघल दीप लेत का बारा॥
जनि जानसि तूँ गढ़ उपराहीं। ताकर सबै, तोर कछु नाहीं॥
जेहि दिन आइ गाढ़ कै छेंकै। सरबस लेइ, हाथ को टेकै॥
सीस न झारु खेह के लागें। सिर पुनि छार होइ देखु आगें॥
सेवा करु जो जियनि तोहि फाबी। नाहिं तौ फेरि भाँग होइ जाबी॥
जाकरि लीन्हि जियनि पै, अगुमन सीस जोहारि।
ताकर कै सब जानै, काह पुरुष का नारि॥४९२॥

शब्दार्थ—जनाई=मालूम पड़ जायेगा। छिताई=देवगिरि के राजा की लड़की, उसकी कहानी 'छिताइ वार्ता' नामक काव्य में अब भी मिलती है। छेंकै=घेर लिया। खेह=राख, धूल। फाबी=शोभा देना। भाँग=भंग, टुकड़े। जाबी=जाओगे।

अर्थ—सरजा ने उत्तर दिया कि राजा ऐसी बात न कहो, तुम्हें स्वयं मालूम हो जायगा। उस अलाउद्दीन ने उदयगिरि को जीत कर वहाँ राजकुमारी छिताई को ले लिया

है। सातों द्वीपों के राजा उसे सिर नवाते हैं और सभी जगहों से पद्मिनियाँ चली आती हैं। जिसकी सेवा संसार करता है उसे सिंहलद्वीप लेते कितनी देर लगेगी। तू अपने किले को सब से बढ़कर मत समझ, यह सब कुछ उसी का है तेरा कुछ नहीं है। जिस दिन आकर तुम्हारे किले को घेर लेगा, सब कुछ ले लेगा। उसके हाथ कौन रोक सकता है। मिट्टी के लगने पर सिर मत झाड़ो, तुम देखोगे कि सिर ही राख हो जायगा। यदि तुम्हें जीवित रह कर शोभित रहना है तो उसकी सेवा करो, नहीं तो फिर नष्ट हो जाओगे। जिससे जीवन लेना है उसे आगे से ही सिर से प्रणाम करना चाहिए। क्या पुरुष, क्या स्त्री सभी को उसी का समझना चाहिए।

[४६३]

तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इसकंदर कै नाई ॥
सुनि अंब्रित केदली बन धावा। हाथ न चढ़ा, रहा पछितावा ॥
उड़ि तेहि दीप पतंग होइ परा। अगिनि पहार पाउ दै जरा ॥
धरती सरग लोह भा तांबै। जीउ दीन्ह, पहुँचब गा लांबै ॥
यह चितउर गढ़ सोइ पहारू। सूर उठै धिकि होइ अंगारू ॥
जौं पै इसकंदर सरि कीन्ही। समुँद लेउ धँसि जस वै लीन्ही ॥
जौं छरि आने जाइ छिताई। तब का भएउ जो मुक्ख जताई ॥
महूँ समुझि अस अगुमन, सांचि राखा गढ़ साज।
कालिह होइ जेहि अवना, सो चढ़ि आवौ आजु ॥४६३॥

शब्दार्थ—इसकंदर—कहा जाता है कि सिकंदर अमृत खोज रहा था। ख्वाजा खिज्र उसका मित्र था। वह उसे जलमात नामक अंध लोक में ले गया। उसी को जायसी ने कजली-वन कहा है। वहाँ जीवन स्रोत था, सिकंदर उसका जल पी न सका और अग्नि के पहाड़ में जल कर मर गया। नाई = समान। अंब्रित=अमृत। केदलीवन=कजलीवन, अंधकार का लाक। धिकि=गर्म। सरि=बराबरी। छरि=छल करके। मुक्ख=मुख से। जताई= प्रकट करना, कहना। महूँ=मैंने भी।

अर्थ—रत्नसेन ने कहा कि हे तुर्क ! जा कर कह दो कि दौड़ कर वह (अलाउद्दीन) न मरे, सिकन्दर की सी दशा होगी। अमृत का नाम सुन कर वह कदली वन को दौड़ गया था, पर उसके हाथ अमृत तो लगा नहीं, उसे पछतावा ही हुआ। उस दीपक में उड़ कर वह पतंगा हो गया, अग्नि के पहाड़ में पाँव देकर वह जल गया। उस पहाड़ की पृथ्वी ही स्वर्ग पर है (बहुत ऊँची है)। उसका लोहा भी अग्नि के कारण तांवे के समान लाल दिखाई पड़ता है, इसीलिए उसने अपने प्राण दे दिये, क्योंकि वह बहुत ऊँचे पहुंच गया था, उसका उतरना सम्भव न था। यह चित्तौड़गढ़ भी वही पहाड़ है, सूर्य (रत्नसेन) के उठने पर यह भी गर्म होकर अंगारा ही हो जाता है। यदि अलाउद्दीन सिकन्दर की बराबरी करना

चाहता है तो जैसे उसने लिया था, उसी प्रकार समुद्र में धँस करके ले। जो देवगिरि में जाकर उसने छल से वहाँ की रानी छिताई को ले लिया, तो कौन सी बड़ी बात हुई ? जो मुख से तुम उसे प्रकट कर रहे हो। मैंने भी आगे से ही समझ रखा है और अपने किले की तैयारी कर रखी है। तुम जाकर अलाउद्दीन से कहो कि यदि उसे कल आक्रमण करना हो तो आज ही कर दे।

नोट—जायसी ने सिकन्दर का उल्लेख कई बार किया है, पर यह सिकन्दर इतिहास-प्रसिद्ध यूनान का जगद्विजयी सम्राट् सिकन्दर महान् नहीं है—सूफियों की किस्से-कहानियों का कल्पित सिकन्दर है।

[४६४]

सरजा पलटि साहि पहँ आवा। देव न मानै बहुत मनावा ॥
आगि जो जरा आगि पै सूझा। जरत रहै न बुझाएँ बूझा ॥
औसें पंथ न आवै देऊ। चढ़ै सुलेमाँ मानै सेऊ ॥
सुनि कै रिसि राता सुलतानू। जैसे धिकै जेठ कर भानू ॥
सहसौं करा रोस तस भरा। जेहि दिसि देखै सो दिसि जरा ॥
हिंदू देव काह बर खाँचा। सरगहुँ अब न आगि सौं बाँचा ॥
एहि जग अगि जो भरि मुँह लीन्हा। सो सँग आगि दुहूँ जग कीन्हा ॥
जस रनथंभउर जरि बुझा, चितउर परी सो आगि।
एहि रे बुझाएँ न बुझै, जरै दोस की लागि ॥ ४६४ ॥

शब्दार्थ—देऊ=देव। सुलेमां=यहूदियों का बादशाह, जिसने देवों और परियों को जीत कर वश में किया था। धिकै=गर्म। करा=कला। बर=बल, हठ। खाँचा=दिखाता है। जरै दोस की लागि=चित्तौर सब हिन्दुओं का गढ़ है (चितउर हिन्दुन्ह का अस्थान्) अतएव रणथंभौर की भाँति वहाँ की आग वहीं न समाप्त होगी। जहाँ-जहाँ हिन्दू हैं, सब जगह लग जायगी और सब को भस्म करेगी।

अर्थ—सरजा लौट कर बादशाह अलाउद्दीन के पास आया और कहा कि मैंने बहुत समझाया, पर वह राजा नहीं मानता। जो आग का जला है, उसे आग ही सूझती है, जलता ही रहता है, बुझाए से बुझता नहीं। इस प्रकार वह देव रास्ते पर नहीं आ सकता। जब सुलेमान चढ़ेगा, तभी वह सेवा मानेगा। यह बात सुन कर वह सुलतान अलाउद्दीन क्रोध के मारे लाल हो गया, जैसे कि जेठ मास का सूर्य गर्म हो जाता है। हजारों कलाओं से युक्त सूर्य की भाँति वह क्रोध में भर गया। जिधर ही वह देखता था, उधर ही जलन हो जाती थी। सुलतान ने कहा कि यह हिन्दू राजा किस बल पर हठ कर रहा है, स्वर्ग अब भी मेरी क्रोधाग्नि से नहीं बच सकता। इस संसार में जो आग यह अपने मुँह में भरेगा, वह उसके साथ दोनों संसारों में जायेगी।

जिस प्रकार रणथम्भौर जल कर बुझा है, वही आग अब चित्तौड़ में भी पड़ेगी, इसके बुझाने से यह नहीं बुझ सकती, इसके दोष से लगी हुई वह अन्यत्र भी जलती रहेगी।

पाठान्तर—दोस—दिवस।

[४६५]

लिखे पत्र चारिहु दिसि धाए। जावँत उमरा बेगि बोलाए ॥
डंड घाउ भा, इंद्र सँकाना। डोला मेरु, सेस अँगिराना ॥
धरती डोली, कुरुँम खरभरा। महनारंभ समुँद महँ परा ॥
साहि बजाइ चढ़ा, जग जाना। तीस कोस भा पहिल पयाना ॥
चितउर सौहँ बारिगह तानी। जहँ लगि कूच सुना सुलतानी ॥
उठि सरवान गँगन लहि छाए। जानहुँ राते मेघ देखाए ॥
जो जहँ तहाँ सूति अस जागा। आइ जोहारि कटक सब लागा ॥
हस्ति घोर दर परिगह, जावँत बेसरा ऊँट।
जहँ तहँ लीन्ह पलानी, कटक सरह घटि छूट ॥ ४६५ ॥

शब्दार्थ—जावँत=जितने। डंड-पाठान्तर-दुंद=डंका। सँकाना=शंकित, डरा। अँगिराना-पाठान्तर-अकुलाना=घबराया। कुरुँम-पाठान्तर-कमठ=कच्छप भगवान्। खर भरा=खलभलाया। महनारंभ-पाठान्तर मथन आरम्भ=समुद्र मंथन। चढ़ा-पाठान्तर-कढ़ा =चला। बारिगह=बारगाह, तम्बू, यह बड़ा तम्बू दरबार के काम में आता था। आईन-ए-अकबरी के अनुसार बड़े बारगाह में दस हजार आदमी बैठ सकते थे और उसे एक हजार फर्राश एक हफ्ते में खड़ा कर पाते थे। तानी=बढ़ा। सरवान=यह भी एक तम्बू ही था, इसमें अमीर-उमरा ही बैठते थे। सूति=सो कर। जोहारि=प्रणाम करके। लागा=इकट्ठा होने लगा। परिगह=परिग्रह, राजसी ठाट-बाट की सामग्री, छत्र-चँवर आदि (राजपाट-दर परिगह, सब तुम्ह सौं उजिआर)। बेसरा=खच्चर। पयाना=प्रस्थान किया। सरह=शलभ-टिड्डी। घटि-पाठान्तर-अस=ऐसा।

अर्थ—सुलतान ने पत्र लिख कर दूत दौड़ा दिये और उसके जितने भी उमराव थे, उन सबको बुलवाया। डंके पर चोट पड़ी, इन्द्र भी डर उठा, सुमेरु पर्वत डोल गया, शेषनाग अकुला उठा। पृथ्वी डोल उठी, कच्छप भगवान् खलभला उठे, समुद्र में †समुद्र-मंथन सा आरम्भ हो गया। शाह अलाउद्दीन बाजे बजवा कर चढ़ाई पर चल पड़ा, सारे संसार में इस बात का शोर हो गया। पहला पड़ाव तीस कोस पर हुआ। चित्तौड़ के सामने शाही दरबार के लिए बड़ा तम्बू ताना गया है ऐसी सूचना शाह की कूच के साथ ही अमीर-उमरां ने सुन ली। उमरावों के निजी सरवानी तम्बू उठ कर आकाश में छा गये, मानो लाल रंग के बादल छा गये हों। जो जहाँ था, वहीं ऐसा तैयार हो गया, जैसे सोते से जगा हो और आ-आकर सुलतान को प्रणाम करके एकत्र होने लगा।

†पाठान्तर-पैगह—देखिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५१७।

हाथी, घोड़ा, खच्चर, ऊँट आदि के दल सभी प्रकार चल पड़े, जैसे टिड्डी छूट पड़े हों।

[४६६]

चली पंथ परिगह सुरितानी। तीख तुरग बाँक कँकानी॥
पखरैं चली सो पाँतिन्ह पाँती। बरन बरन औ भाँतिन्ह भाँती॥
काले कुमँइत लील सनेबी। खंग कुरंग बोरदुर केबी॥
अबलक अबसर अगज सिराजी। चौधर चाल समुँद सब ताजी॥
खुरमुज नोकिरा जरदा भले। औ अगरान बोलसिर चले॥
पँच कल्यान सँजाब बखाने। महि सायर सब चुनि चुनि आने॥
मुसुकी औ हिरमिजी इराकी। तुरकी कहे भोथार बुलाकी॥
सिर औ पोंछि उठाए, चहुँ दिसि साँस ओनाहिं।
रोस भरे जस बांउर, पवन तरास उड़ाहिं॥४६६॥

शब्दार्थ—परिगह=घुड़सवार, सेना। कँकानी=केकाण देश के छोटे-छोटे घोड़े जो बड़े तेज होते हैं। पखरैं=पक्खर-अश्व का कवच, हाथी की दोनों ओर की लोहे की झूल को भी पाखर कहते हैं। वरन-वरन=रंग-रंग। (नोट—पं० शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में यह पंक्ति पद की अन्तिम पंक्ति है।) सनेबी=लारवारंग। खंग, पठान्तर खिंग=सफेद घोड़ा जिसके मुँह पर का पट्टा और चारों सुम गुलाबीपन लिए हों। कुरंग=कुलंग, जिस घोड़े के रोंये स्याह, सुर्ख और जर्द हों और चमड़ी सुर्ख हो। बोरदुर, पाठान्तर=वोजदुर। बोर=शहदी रंग का घोड़ा। दुर=मोती रंग का घोड़ा। केबी=विचित्र रंग का घोड़ा पाठान्तर=केत्ते। अबलक=दुरंगा-सुर्ख और सफेद घोड़ा। अवसर=कुम्मैत रंग का घोड़ा जिस पर खरबूजे की फाँक जैसी धारियां हों। अगज=जिस घोड़े का सिर सफेद रंग का हो। सिराजी=शीराज का घोड़ा। चौधर=लाल रंग के घोड़े की खाल में जब सफेदी झलक ने लगे तो उसे चौधर कहते हैं। चाल=सुर्खी मायल रंग का घोड़ा। समुँद=सुनहला घोड़ा। ताजी=अरबी घोड़ा। खुरमुज=ईरान की खाड़ी के ऊपरी हिस्से के पास से आने वाले घोड़े—पाठान्तर=किरमिज। तरास=बेग।

अर्थ—इस पद में सुलतान की सेना का वर्णन है, जिसमें भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों के नाम गिनाए गये हैं।

सुलतान की सेना रास्ते पर चली। उसमें बड़े तेज बांके कँकानी घोड़े थे। ये लोहे की झूल पहने थे और पंक्तियों में चल रहे थे। उनके भांति-भांति के रंग थे। उसमें कोई काला था, कोई कुम्मैत, कोई नीला कोई लाखा। उनमें खिंग, कुलंग, वोरदुर केबी, अबलक, अबसर, अगज, सीराजी, चौधर, चाल, समंद आदि अनेक जातियों के घोड़े थे, जो चलने में अच्छे मस्त और चुस्त थे उन्हीं में खुरमुजी रंग वाले, नोकिरा, जरदा, अगरान, वोलसिरा,

पंचकल्यान, सँजाब आदि घोड़े थे जो सारी पृथ्वी को खोज कर लाये गये थे। उन्हीं में मुश्की, हिरमिजी, ईराकी, तुरकी, भोथार, बुलाकी आदि थे। सिर और दुम उठाये हुए ये घोड़े चारों ओर साँस लेते हुए दौड़ रहे थे, क्रोध से भरे हुए ये घोड़े, मानो पागल हो गये हों, हवा की तेजी से उड़ रहे हैं।

[४९७]

लोहें सारि हस्ति पहिराए। मेघ घटा जस गरजत आए॥
मेघन्ह चाहि अधिक वै कारे। भएउ असूझ देखि अँधियारे॥
जनु भादौं निसि आई डीठीं। सरग जाइ हिरगैं तिन्ह पीठी॥
सवा लाख हस्ती जब चला। परवत सरिस चलत जग हला॥
कलित गयंद माँते मद आवहिं। भागहिं हस्ति गंध जहँ पावहिं॥
ऊपर जाइ गॅगन सब खसा। औ धरती तर गहि धसमसा॥
भा भुइँचाल चलत गज गानी। जहँ पौ धरहिं उठै तहँ पानी॥
चलत हस्ति जग काँपा, चाँपा सेस पतार।
कुरुंम लिहें होत धरती, बैठि गएउ गज भार॥ ४९७॥

शब्दार्थ—लोहें सारि=फौलाद। चाहि= से अधिक। हिरगैं=निकट पहुँचे। हला=हिल उठा। कलित-पाठान्तर-चले। सब खसा, पाठान्तर सिर धँसा।

अर्थ—हाथियों को फौलाद पहनाये गये थे, ये हाथी इस प्रकार प्रतीत होते थे, जैसे बादल की घटायें गरजती आ रही हों। बादलों से भी अधिक वे काले थे, उन्हें देखकर अँधेरा हो गया, दिखाई नहीं पड़ता। मानो भादों की रात दिखाई पड़ती हो। वे इतने ऊँचे थे कि उनकी पीठ स्वर्ग के निकट पहुँच रही थी। जब सवा लाख हाथी चले और पहाड़ के समान सारा कटक चला तो सारा संसार हिल उठा। मतवाले हाथी मद में झूमते हुए आ रहे हैं, जब हाथी अपने ही मद की गंध पाते थे तो भाग पड़ते थे। उनसे बचने के लिए आकाश और ऊपर खिसक गया, पृथ्वी तल तो उनके पैरों के नीचे रौंद डाला गया, इससे पृथ्वी और भी धँस गई। हाथियों के चलने से भूचाल आ गया, जहाँ ही वे पैर धरते थे वहाँ पृथ्वी में से पानी निकलने लगता था। हाथियों के चलने से संसार काँप उठा, शेषनाग पाताल में दब गये। कच्छप पृथ्वी को लिये हुए हाथियों के भार से नीचे दबते जा रहे थे।

अलंकार—असंबन्धातिशयोक्ति।

[४९८]

चले सो उमरा मीर बखाने। का बरनौं जस उन्हके थाने॥
खुरासान औ चला हरेऊ। गौर बंगाले रहा न केऊ॥
रहा न रूम साम सुलतानू। कासमीर ठद्ठा मुलतानू॥

जावँत बीदर तुरुक कि जाती। मांढो वाले ग्रौ गुजराती ॥
पाटि ग्रोड़ैसा के सब चले। लै गज हस्ति जहाँ लगि भले ॥
काँवरू कामता ग्रौ पँडुग्राई। देवगिरि लेत उदैगिरि ग्राई ॥
चला सो परवत लेत कुमाऊँ। खसिया मगर जहाँ लगि नाऊँ ॥
हेम सेत ग्रौ गाजना, बंग तिलंग सब लेत।
सातौं द्वीप नवौ खंड, जुरै ग्राइ एक खेत ॥ ४६८ ॥

शब्दार्थ—थाने=वे किले जिनमें ग्रमीर लोग ग्रपनी सैनिक टुकड़ी के साथ किसी देश पर दखल करने के लिए रहते थे। हरेऊ=हेरात प्रदेश जहाँ हरीरूप नदी बहती है। गौर=गौड़, गंगा ग्रौर ब्रह्मपुत्र के बीच का प्रदेश। पाटि=पटना। ग्रौड़ैसा=उड़ीसा। काँवरू=कामरूप, ग्रासाम। कामता-उत्तरी बंगाल के भूतपूर्व कूच बिहार राज्य में कामता-पुर प्रसिद्ध स्थान है। पँडुग्राई=पँडुग्रा पश्चिमी बंगाल की राजधानी थी। मगर=ग्रराकान देश, जहाँ मग नाम की एक जाति के लोग रहते हैं। हेम, सेत=हिमाचल से सेतुबन्ध रामेश्वर तक। गौर=गौड़ देश(बंगाल)। गाजना=गज़नी। बंग=बंगाल। तिलंग=तेलंगाना। पाठान्तर-उदै ग्रस्त लहित देश जो, जानै तिन्ह नावँ।

सातौ दीप नवौ खंड, जुरे ग्राइ एक ठाँव ॥

ग्रर्थ—ग्रलाउद्दीन की सहायता के लिए ऐसे-ऐसे ग्रमीर ग्रौर उमरा चले। उनके थानों का क्या वर्णन करूँ? उत्तर पश्चिम में खुरासान ग्रौर हेरात के मीर ग्रा गये, ग्रौर पूर्व में गौड़ ग्रौर बंगाल का कोई उमराव न बचा। रूम, शाम (सीरिया) का कोई सुलतान न रहा, जो नहीं ग्राया। काश्मीर, ठट्टा (सिंध), मुलतान, बीदर के सभी जाति वाले मुसलमान, मांडौ, गुजरात, पटना, उड़ीसा सब जगह के सुलतान ग्रपने सुन्दर हाथियों के साथ चले। कामरूप, कामतापुर, पंडुग्रा, देवगिरि, उदयगिरि सभी जगह के मीर ग्राये। कुमाऊँ की पहाड़ियों के, तथा ग्रासाम की खसिया पहाड़ी के लोग तथा ग्रराकान (ब्रह्मा) के सभी मीर उसमें सम्मिलित थे। हिमालय से सेतुबन्ध रामेश्वर तक ग्रौर गौड़ से गज़नी तक के भीतर बंग ग्रौर तेलंगाना ग्रादि सातों द्वीप ग्रौर नव खंडों के सभी लोग इस युद्ध में सम्मिलित हुए।

[४६६]

धनि सुलतान जेहिक संसारू। उहै कटक ग्रस जोरै पारू ॥
सबै तुरुक सिरताज बखाने। तबल बाज ग्रौ बाँधे बाने ॥
लाखन्ह मीर बहादुर जंगी। जंत्र कमानैं तीर खडंगी * ॥

*डा० वासुदेव शरण जी ने खदंगी पाठ को उचित कहा है जब कि डा० माता-प्रसाद जी खडंगी लिखते हैं। फारसी का शब्द खदंग है पर जायसी ने शब्दों को लोक भाषा में ढाला है ग्रौर इस प्रकार खडंगी पाठ समीचीन प्रतीत होता है।

जेबा खोलि राग सौ मढ़े । लेजिम घालि इराकिन्ह चढ़े ॥
चमकैं पखरैं सारि सँवारी । दरपन चाहि अधिक उजियारी ॥
बरन बरन औ पाँतिहि पाँती । चली सो सैना भाँतिहि भाँती ॥
बेहर बेहर सब कै बोली । बिधि यह खानि कहाँ सौं खोली ॥
सात सात जोजन कर, एक एक होइ पयान ।
आगिल जहाँ पयान होइ, पाछिल तहाँ मेलान ॥ ४९९ ॥

शब्दार्थ—पारू=सका । जंत्र कमानें=लोहे के बड़े धनुष जो हाथ के बजाय चर्ख से खींच कर चलाये जाते थे, पाठान्तर जंबुर=एक प्रकार की तोप जो ऊँटों पर चलती थी । खडंगी=खडंग या श्वेत चनार (हव्वा) वृक्ष से बने हुए तीर । जेबा=जिरह-बख्तर, कवच । घालि=डालकर । इराकिन्ह=इराक देश के घोड़े । पखरैं=घोड़े की लौह झूल । सारि=तलवार । चाहि=से अधिक । बेहर=अलग ।

अर्थ—जायसी कहता है कि वह सुलतान धन्य है, जिसके अधीन सारा संसार है । वही ऐसी बड़ी सेना एकत्रित कर सकता था । सभी तुर्की सिरताजों का वर्णन मैंने किया, उनके साथ नगाड़े, आदि सामान बँधे थे । लाखों मीर और युद्ध करने वाले वीर थे, जिनके पास यंत्र से खींचकर चलाई जाने वाली तीर-कमान और खडंगी तीर थीं । उन्होंने जिरह-बख्तर, टोप, और टोपों तक कवच पहन रखे थे । गले में लेजिम डाले इराकी घोड़ों पर सवार थे । उनकी झूलें और तलवारें चमक रही थीं, उनमें दर्पण से भी अधिक चमक थी । रंग-रंग की और पंक्ति-पंक्ति में भाँति-भाँति की सेनाएँ चल पड़ीं । सब की बोली अलग-अलग प्रकार की थी । कवि कहता है कि ब्रह्मा ने यह खान कहाँ से खोल रखी है । इस सेना के एक-एक पयान (पड़ाव) सात-सात योजन के होते थे पर सेना इतनी बड़ी थी कि जहाँ एक का पड़ाव होता था, वहाँ पिछली का मिलान होता था ।

[५००]

डोले गढ़, गढ़पति सब काँपे । जीउ न पेट, हाथ हिय चाँपे ॥
काँपा रनथँभउर डरि डोला । नरवर गएउ झुराइ न बोला ॥
जूनागढ़ औ चंपानेरी । काँपा माँडौ लेत चँदेरी ॥
गढ़ गवालियर परी मथानी । औ खंधार मठा होइ पानी ॥
कालिंजर महँ परा भगाना । भाजि अजैगिर, रहा न थाना ॥
काँपा बाँधौ, नर औ प्रानी । डर रोहितास बिजैगिरि मानी ॥
काँप उदैगिरि देवगि रिडरा । तब सो छिताई अब केहि धरा ॥
जावँत गढ़ गढ़पति सब काँपे, औ डोले जस पात ।
का कहँ बोलि सौहँ भा, पातसाहि कर छात ॥ ५०० ॥

शब्दार्थ—चाँपे=दबा लिया । मथानी=मंथान, हलचल । खंधार, पाठान्तर खीडार, या अँधियार=दक्षिण का कोई देश । अजैगिर-पाठान्तर-अजैगढ़ । बाँधौ=पाठान्तर

बाँधक । नर औ प्रानी=पाठान्तर, नरवर राना । छिताई=पाठान्तर, छपाउ । छात=छत्र ।

अर्थ—जब अलाउद्दीन की सेना दिल्ली से चित्तौड़ की ओर जा रही थी तो बीच के जितने राज्य थे,' सभी बड़े भयभीत हुए । जायसी कहते हैं कि—सारे गढ़ हिल उठे और गढ़पति काँप उठे, उनके जीव उनके पेट में न रहे, उन्होंने अपने हाथ से अपना हृदय दबा लिया । रणथंभौर फिर काँप उठा, नरवरगढ़ का राजा तो सूख गया, उससे बोला नही जाता था । जूनागढ़, चंपानेर, मांडवगढ़, चंदेरी काँप उठे । ग्वालियर में ऐसी हलचल मच गई जैसे किसी ने मथानी से दही को बिलो दिया हो । और खंधार दुर्ग तो मट्ठे की तरह पानी हो गया । कालिंजर के लोग तो भाग चले, अजयगिरि भी भाग चला, अपने स्थान पर न रहा । बाँधवगढ़ के सारे जीव और मनुष्य काँपने लगे । रोहतास और विजयगढ़ में भी लोग बहुत डरे । उदयगिरि और देवगिरि डरने लगे, वे सब खोजने लगे कि पिछली चढ़ाई में उसने छिताई को लिया था, इस बार किसे पकड़ना चाहता है ? जितने भी गढ़ और गढ़पति थे, सब पत्ते के समान काँपने लगे पर कौन था जो बादशाह अलाउद्दीन के छत्र के सामने आकर बोल सकता ?

[५०१]

चितउर गढा औ कुंभलनेरै । साजे दूनौ जैसे सुमेरै ॥
दूतन्ह आइ कहा जहँ राजा । चढ़ा तुरुक आवै दर साजा ॥
सुनि राजैं दौराई पाती । हिंदू नाँव जहाँ लगि जाती ॥
चितउर हिंदुन्ह कर अस्थानू । सतुरु तुरुक हठि कीन्ह पयानू ॥
आवा समुँद रहै नहिं बाँधा । मैं होइ मेंड भारु सिर काँधा ॥
पुरवहु आई तुम्हार बड़ाई । नाहिं त सत गौ छाँड़ि पराई ॥
जौ लगि मेंड रहै सुख साखा । टूटे बार जाइ नहिं राखा ॥
सती जो जिय महँ सतु करै, मरत न छाड़ै साथ ।
जहँ बीरा तहँ चून है, पान सुपारी काथ ॥ ५०१॥

शब्दार्थ—कुम्भलनेरै=उदयपुर से ३४ मील दूर एक दुर्ग । दर=दल । सतुरु=शत्रु । पराई=भगना । बार=द्वार । बीरा=पत्र के साथ पान का बीड़ा भी भेजा जाता था जिसमें कत्थे, चून और सुपारी का योग सहयोग का प्रतीक समझा जाता था । काथ=कत्था ।

अर्थ—सुलतान अलाउद्दीन को आता देख कर चित्तौड़ और कुम्भलनेर के किले भी ऐसे सजे जैसे सुमेरु पर्वत । दूतों ने आकर राजा से कहा कि तुर्क अलाउद्दीन सेना साज कर आ रहा है । यह बात सुनकर राजा ने अपनी चिट्ठियाँ दौड़ाईं । जितने भी हिन्दू नाम के राजा थे सब के पास पत्र भेजा और लिखा कि चितौड़ हिन्दुओं का स्थान है, शत्रु तुर्क उस पर चढ़ाई कर रहा है । अब तो समुद्र ही चढ़ रहा है उसमें बाँध नहीं लगाया

जा सकता फिर भी मैं बाँध बन कर उसका सामना करूँगा। तुम लोग आ कर मेरा उद्देश्य पूरा करो, इसमें तुम्हारी ही बड़ाई है नहीं तो सत चला जायगा। जब तक बाँध है तभी तक सभी को सुख है और एक बार इसके टूट जाने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। अर्थात् चित्तौड़ के टूटने पर फिर कोई राज्य अलाउद्दीन को नहीं रोक सकता।

सती अपने हृदय में सत की प्रतिज्ञा करती है, मर जाती है पर प्रण नहीं छोड़ती। जहाँ बीड़ा है वहाँ पान, सुपारी, कत्था सभी हैं। भाव यह है कि मैंने व्रत ले लिया है। अपनी प्रतिज्ञा जीते जी अवश्य पूरी करूँगा, चाहे प्राण रहें या जायें, पर हिन्दुओं को चाहिए कि वे भी मेरे ही साथ रहें। क्योंकि पान के बीड़े के साथ जैसे सुपारी, कत्था आदि का होना अनिवार्य है उसी प्रकार मेरे साथ सबको हो जाना चाहिए।

[१०२]

करत जो राय साहि कै सेवा। तिन्ह कहँ पुनि अस आउ परेवा॥
सब होइ एकहि मतें सिधारे। पातसाहि कहँ आइ जोहारे॥
चितउर है हिंदुन्ह कै माता। गाढ़ परें तजि जाइ न नाता॥
रतनसेनि है जौहर साजा। हिंदुन्ह माँह अहै बड़ राजा॥
हिंदुन्ह केर पनिग कर लेखा। दौर परहिं आगि जहँ देखा॥
किरिपा करसि त करसि समीरा। नाहिं त हमहिं देहि हँसि बोरा॥
हम पुनि जाइ मरहिं ओहि ठाऊँ। मेटि न जाइ लाज कर नाऊँ॥
दीन्ह साहि हँसि बीरा, आवहिं तीन दिन बीच।
तिन्ह सीतल को राखे, जिन्हैं आगि महँ मीच॥५०२॥

शब्दार्थ—राय=राजा। परेवा = पक्षी, यहाँ पर दूत। जौहर=जन्मभूमि पर महा बलिदान। पनिग, पाठान्तर पतंग=पतंगा। समीरा=हवा, पाठान्तर-चित बाँधहु धीर। मीच=मृत्यु।

अर्थ—जो हिन्दू राजा शाह अलाउद्दीन की सेवा करते थे उनके पास भी रत्नसेन का दूत पहुँचा। ये सब एक मत होकर चले और शाह को नतमस्तक हुए। इन लोगों ने अलाउद्दीन से कहा कि चित्तौड़ हिन्दुओं की मातृ-भूमि है, कठिनाई पड़ने पर भी अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा जा सकता। रत्नसेन जन्म-भूमि की रक्षा के लिए महा बलिदान की तैयारी कर रहा है, वह हिन्दुओं में सब से बड़ा राजा है। हिन्दू तो पतंगों के समान हैं, जहाँ बलिदान की आग देखते हैं वहीं दौड़ कर पड़ते हैं। अब यदि आप कृपा की वायु बहावें अर्थात् रत्नसेन पर चढ़ाई न करें तो अत्युत्तम, नहीं तो हमें प्रसन्नतापूर्वक हिन्दुओं की ओर से लड़ने के लिए अपने यहाँ से विदाई का पान का बीड़ा दीजिए। हम वहाँ जा कर मर जायेंगे क्योंकि लज्जा का नाम तो नहीं मिटाया जा सकता।

बादशाह ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें पान का बीड़ा दिया और बीच में तीन दिन का

समय दिया । उसने कहा कि जिन की आग में जलकर मृत्यु किस्मत में है, उन्हें ठंडा कौन रख सकता है ?

अलंकार—दृष्टान्त ।

[५०३]

रतनसेनि चितउर महँ साजा । आइ बजाइ पैठ सब राजा ॥
तोंवर बैस पवाँर जो आए । और गहिलौत आइ सिर नाए ॥
खत्री औ पँचबान बघेले । अगरवार चौहान चँदेले ॥
गहरवार परिहार सो कुरी । मिलन हंस ठकुराई जुरी ॥
आगे ठाढ़ बजावहिं हाड़ी । पाछें धजा मरन कै काढ़ी ॥
बाजहि सींग, संख औ तूरा । चंदन घेवरें, भरें सेंदूरा ॥
सँचि संग्राम बाँधि सत साका । तजि कै जिवन मरन सब ताका ॥
गँगन धरति जेइँ टेका, का तेहि गरुअ पहार ।
जब लगि जीव कया महँ, परै सो अँगवै भार ॥ ५०३ ॥

शब्दार्थ—कुरी=कुल । मिलन हंस-पाठान्तर कल हंस, उच्च जाति के हंस । हाड़ी =बूँदी के, पाठान्तर-ढाढ़ी=भाट । काढ़ी=निकली हुई । घेवरें-पाठान्तर खेवरे=खौर लगाए हुए । अंगवै=सहता है ।

अर्थ—रत्नसेन ने चित्तौड़ में तैयारी की । सभी राजा लोग रण के बाजे बजवाते हुए आये और सेना में प्रविष्ट हुए । उसमें सभी वंश के क्षत्रिय थे—तोमर, वैश्य, पँवार, गुहिलौत, खत्री, पंचवान, बघेले, अगरवार, चौहान, चन्देले, गहरवार, परिहार आदि सभी कुल के राजा लोग थे—अपनी जाति के हंस से मिलने के लिए सारी ठकुराई (सारे क्षत्रिय) इकट्ठी हुई । आगे खड़े हुए भाट लोग बाजा बजा रहे थे और पीछे मृत्यु की ध्वजा भी निकली हुई थी । सींग, शंख और तुरहियाँ बज रही हैं । सभी लोग मस्तक पर चन्दन, खौर और सिंदूर लगा रहे हैं। इस प्रकार तैयारी करके सत्य की दुहाई दे कर और जीवन की आशा छोड़ कर सब ने मृत्यु पर ही दृष्टि बाँध ली ।

जिसने आकाश और पृथ्वी को ही उठा लिया, उसको भला पहाड़ कितना भारी लगेगा । जीव तो जब तक शरीर के भीतर रहता है, वह शरीर पर पड़ने वाले सभी कष्टों को सह लेता है ।

[५०४]

गढ़ तस सँवा जो चाहिअ सोई । बरिस बीस लहि खाँग न होई ॥
बाँकै चाहि बाँक सुठि कीन्हा । औ सब कोट चित्र कै लीन्हा ॥

खंड खंड चौखंडी सँवारीं। धरी बिखम गोलन्ह की नारीं ॥
ठाँवहि ठाँव लीन्ह गढ़ बाँटी। बीच न रहा जो सँचरै चाँटी ॥
बैठे धानुक कँगुरहि कँगुरा। पुहुमि न आँटी अँगुरहि अँगुरा ॥
औ बांधे गढ़ि गढ़ि मँतवारे। फाटैं छाति होहिं जिवधारे ॥
बिच बिच बुरुज बने चहुँ फेरी। बाजैं तबल, ढोल औ भेरी ॥
भा गढ़ गरजि सुमेरु जेंउ, सरग छुवै पै चाह।
समुँद न लेखें लावें, गाँग सहस मकु बाह ॥५०४॥

शब्दार्थ—सँचा=संचित किया गया। खाँगी=कमी। धानुक=धनुर्धर। आँटी= पूरी पड़ो। फाटैं छाति होहिं जिवधारें-पाठान्तर फाटै भूमि होहिं जो ठारे।

अर्थ—रत्नसेन ने चित्तौड़ गढ़ में सामान इस प्रकार इकट्ठा किया कि यदि बीस वर्ष तक भी लड़ाई चले तो किसी वस्तु की कमी न पड़े। उसे विकट से विकट बना दिया और सारे किले का चित्र बनवा डाला। जगह-जगह पर किले को बाँट लिया। एक चींटी भर के चलने को जगह भी न बची। कँगूरे-कँगूरे पर धनुषधारी लोग बैठे। किले में एक अ ंगुली भर की जमीन भी नहीं बच रही है। किले में मतवाले हाथी बांधे गए। उन्हें देख-कर जीवनधारियों की छाती फट जाती थी। बीच-बीच में चारों ओर बुर्ज बनाए गए। रण भेरी और नगाड़े वहां पर बजा करते थे। गढ़ गरज कर सुमेरु पर्वत के समान हो गया, ऊँचाई में तो वह स्वर्ग छूना चाहता था। जैसे समुद्र कोई परवाह नहीं करता चाहे हजार गंगा भी उसमें बह जायें, उसी प्रकार किला इस प्रकार सज गया कि कितनी ही शक्ति शत्रु की हो तो भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

[५०५]

पातसाहि हठि कीन्ह पयाना। इंद्र फनिन्द्र डोलि डर माना ॥
नबे लाख असवार सो चढ़ा। जो देखिअ सो लोहें मढ़ा ॥
चढ़हिं पहारन्ह भै गढ लागू। बनखँड खोह न देखहिं आगू ॥
बीस सहस घुम्मरहिं निसाना। गल गाजहिं बिहरैं असमाना ॥
बैरख ढाल गँगन गा छाई। चला कटक धरती न समाई ॥
सहस पाँति गज हस्ति चलावा। खसत अकास धँसत भुँइं आवा ॥
बिरिख उपारि पेंड़ि सौं लेही। मस्तिक झारि डारि मुँह देहीं ॥
कोउ काहू न सँभारै, होत आव तस चाँप।
धरति आपु कहँ काँपै, सरग आपु कहँ काँप ॥५०५॥

शब्दार्थ—फनिन्द्र=शेषनाग-पाठान्तर-भंडार। चढ़हि पहारन्ह पर गढ़ लागू—यह-पंक्ति पंडित शुक्ल की ग्रन्थावली में पद की अन्तिम अर्द्धाली है। बिहरैं=फैलें। पाठान्तर भेरी=रणबाजा। बैरख=झंडा।

अर्थ शाह अलाउद्दीन ने भी हठ पूर्वक प्रस्थान किया, उसके डर से इन्द्र और शेष नाग भयभीत हो गये। नव लाख घुड़ सवार चढ़ रहे थे, जो सब के सब लोहे के कवचों से सुसज्जित थे। किले पर वे इस प्रकार चढ़ते आ रहे थे जैसे पहाड़ पर चढ़ रहे हों और जंगल और खोह आदि की कोई परवाह नहीं करते। हजार दुन्दुभियाँ बज रही थीं। उनकी गूंज आकाश में फैल रही थी। झंडे तथा ढालों से आकाश छा गया, सेना चली तो पृथ्वी में समाती न थी। हाथियों की तो एक हजार पंक्तियां चलीं, उनके चलने पर आकाश नीचे खिसकने लगा और पृथ्वी नीचे धँसने लगी। वृक्षों को उखाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे, उसी से अपने मस्तक को झाड़ते और अपने मुँह में डालकर चबा जाते थे। कोई किसी को सँभाल नहीं पाता। इस प्रकार सेना दबाती आती थी कि पृथ्वी काँप रही थी और स्वर्ग अपने आप काँप रहा था।

[५०६]

चलीं कमानैं जिन्ह मुख गोला। आवहिं चलीं धरति सब डोला॥
लागे चक्र बज्र के गढ़े। चमकहिं रथ सब सोने मढ़े॥
तिन्ह पर बिखम कमानैं धरीं। गाजहिं अस्ट धातु की भरीं॥
सौ सौ मन पीअहिं वै दारू। हेरहिं जहाँ सो टूट पहारू॥
माँती रहहिं रथन्ह पर परी। सतुरुन्ह कहँ सो होंहि उठि खरी॥
लागहिं जौं संसार न डोलहिं। होई भौकंप जीभ जौं खोलहिं॥
सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती। खाँचहि रथ, डोलहिं नहिं माँती॥
नदी नगर सब पानी, जहाँ धरहिं वै पाउ।
ऊँच खाल वन बेहड़, होत बराबरि आउ॥५०६॥

शब्दार्थ—कमानें=तोपें। विखम=विषम, कठिन। दारू=बारूद रूपी शराब माँती=मतवाली। सतुरुन्ह=शत्रुओं। खाल=नीचा। बेहड़=ऊँचे नीचे टीलों से भरा हुआ भयंकर प्रदेश। बराबरि=समतल।

अर्थ—तोपें चलने लगीं जिनके मुख में गोले भरे जाते थे, वे आ रही थीं तो पृथ्वी डोल रही थी। इन तोपों के पहिए वज्र के बने हुए थे। सारे रथ सोने से मढ़े हुए चमक रहे थे, उन पर कठिन तोपें रखी हुई थीं। ये अष्ट धातुओं के मिश्रण से बनाई गयी थीं। सौ-सौ मन की बारूद रूपी शराब ये तोपें पीती थीं। जहाँ पर इनकी दृष्टि पड़ती थी वहाँ यदि पहाड़ हो तो वह भी टूट जाता था। ये उस बारूद रूपी शराब के नशे में मस्त रहती थीं और रथों पर पड़ी थीं, पर शत्रुओं के बीच उठ खड़ी होती थीं। जब वे तोपें लगा दी जाती थीं तो संसार नहीं डोल सकता था, पर जब वे अपनी जीभ खोलती थीं तो संसार में भूकम्प आ जाता था। हजारों-हजारों हाथियों की पंक्तियाँ इनके रथ खींच र ी थीं, पर ये मदमस्त तोपें नहीं डोलती थीं। जहां वे हाथी पैर रख देते थे वहाँ जमीन में से पानी

निकल आता था और नगर और नदियाँ पानी से भर जाती थीं। ऊँचा-नीचा, वन, पहाड़ सब गिर कर समतल हो जाते थे।

[५०७]

कहौं सिंगार सो जैसी नारीं। दारू पिअहिं सहज मँतवारी॥
उठै आगि जौं छाँड़हिं स्वांसा। तेहिं डर कोउ रहै नहिं पासा॥
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन झमकत जाहीं॥
कुच गोला दुइ हिरदैं लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए॥
रसना लूगि रहहिं मुख खोले। लंका जरी सों उन्हके बोले॥
अलकैं साँकरि हस्तिन्ह गीवाँ। खाँवत डरहिं मरहिं सुठि जीवा॥
बीर सिंगार दुऔ एक ठाऊँ। सुतुरु साल गढ़ भंजन नाऊँ॥
तिलक पलीता तुपक तन, दुहु दिसि बज्र के बान।
जहँ हेरहिं तहँ परै भगाना, हँसहिं त केहि के मान॥ ५०७॥

दोहे में पाठान्तर है—

तिलक पलीता माथे, दसन बज्र के बान।
जेहि हेरहि तेहि मारहिं, चुरकुस करहिं निदान॥

शब्दार्थ—सिंगार=१. साज सामान, २. शृंगार। नारी=१. नाल (तोप) २. स्त्री। दारू=१. बारूद, २. शराब। मँतवारी=१. मनवाले गोलों से युक्त, २. यौवन मद से मतवाली। स्वांसा=१. धुआं, २. साँस। आगि=१. अग्नि २. कामाग्नि। तरिवन=१. एक ही लकड़ी में से काटकर बनाया हुआ ठोस गोल पहिया, २. कर्णफूल। कुच गोला=१. गोला जिनके सूराख में स्तन के अग्र भाग जैसी बत्ती लगी रहती थी, २. गोलाकार कुच। रसना=१. तोप के मुंह में लगी हुई डाट, इसके निकालने पर तोप का मुंह खुल जाता है, २. जिह्वा। हस्तिन्ह=१. हाथी, २. हस्तिनी जाति की नारी। सुतुरुसाल=१.शत्रु को सालने वाली २. सौत को लानेवाली। गढ़भंजन=१. किले को नष्ट करने वाली २. जिसके कारण किले टूटे। तिलक=१. तिलक की आकृति का पलीता जो तोप के ऊपर लगा रहता था, २. टीका। तुपक=१. तोप, २. चंचल। बज्र के बान=१. फौलाद के गोले, २. बज्र के समान कटाक्ष। हंसहि=१. चिनगारी छूटना, २. हंसना।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि तोपें) नारियों के भाँति थीं। मैं अब उनका शृङ्गार-वर्णन करता हूं। पद का वर्णन दोनों ओर घटता है—तोप पक्ष में और नारी पक्ष में, अतः दोनों पक्षों का अलग-अलग अर्थ इस प्रकार है :—

तोप पक्ष में—वे नाले (तोपें) जिस प्रकार हैं उसी प्रकार मैं उनके साज-सामान का वर्णन करता हूं, उनमें बारूद भरी जाती है और वे मतवाले गोलों से युक्त हैं। उनमें से धुआं निकलता है और आग का धड़ाका होता है। उसके डर से कोई उनके नजदीक नहीं

आता। उनके सिर के ऊपर सिंदूर की तरह आग की लपट लगती है और उनके ठोस गोल पहिये झमकते चले जाते हैं। उन नालों के भीतर बत्ती लगे हुए से गोले रखे जाते हैं। उनके ऊपर ध्वजा रूपी अंचल फहरता है। उन तोपों में लगी हुई डाट (जीभ) गूंगी है अर्थात् किसी प्रकार का शब्द नहीं करती। पर उसके निकलने पर उनके मुख खुले दिखाई पड़ते हैं। पर जब वे बोलती हैं अर्थात् जब तोपें दगती हैं तो लंकादहन ही हो जाता है। वे तोपें अलकों की भाँति शृंखलाओं से हाथियों की गर्दन में बधी हैं। भारी इतनी हैं कि जब हाथी खींचते हैं तो वे डरते हैं कि कहीं उनके प्राण ही न निकल जायं। इन तोपों में वीर और शृंगार दोनों रस हैं—वीर इस लिए कि युद्ध की साधक हैं और शृंगार इसलिए कि ये नारी रूप हैं (नारी पक्ष का अर्थ आगे है)। ये तोपें शत्रुओं को सालने (दर्द पहुँचाने) वाली और किलों के नष्ट भ्रष्ट करने वाली हैं! इन तोपों पर टीके के आकार का पलीता है और दोनों ओर लोहे के गोले छोड़ती हैं। जिधर देखती हैं उधर ही भगदड़ पड़ जाती है। जब उनकी चिनगारी छूटती है तो फिर किसी के वश की नहीं रह जातीं।

नारी पक्ष में—जैसी वे नारियाँ हैं, उनका मैं शृंगार वर्णन करता हूँ। वे शराब पीती हैं और स्वभावतया भी यौवन मद से मतवाली हैं। उनमें कामाग्नि उठ रही है इसी से वे उसासें लेती हैं, इसी डर से कोई सखी उनके पास नहीं रहती। उनके सिर पर सिंदूर अग्नि की भाँति चमकता है और कानों में तरौना (कर्णफूल) झमकता जाता (रहता) है। उनके वक्षस्थल पर दो गोलाकार उरोज हैं जिन पर ध्वजारूपी अंचल को फैलाये रहती हैं। वे जिह्वा से मौन रहती हैं। मुख खोले रहती हैं। तात्पर्य यह कि वासना चेहरे पर प्रकट रहती है पर स्त्रियों के सहज स्वभाव से वे जबान नहीं खोलतीं, किन्तु उनके मुख खोलने पर तो लंकादहन ही हो जाता है अर्थात् आफत हो जाती है। उन हस्तिनी नारियों पर अलकें ऐसी लगती हैं जैसे सांकलें हों, उनका केशाकर्षण करते हुए कामी जन भी डरते हैं कि कहीं प्राण ही न देना पड़े। उनमें वीर और शृंगार दोनों का निवास है—वीर इस लिए कि वे रति-युद्ध में बड़ी प्रवीण है और शृंगार इस लिए कि वे सोलह शृंगार से युक्त हैं। सौतों को सालने और गढ़ों को तोड़ने में वे प्रसिद्ध हैं—भाव यह कि उन्हीं के कारण कितने ही युद्ध हुए और किले टूटे। उनके मस्तक पर टीका लगा है, उनका शरीर चंचल है और दोनों ओर दाँयें और बाँयें कटाक्ष से बाण चलाया करती हैं। जिधर ही वे दृष्टि फेरती हैं लोग आकर्षण से भागे चले आते हैं और जब वे मुस्करा देती हैं तब कोई संभाल ही नहीं सकता।

अलंकार—श्लेष।

[५०८]

जेहि जेंहि पंथ चली वै आवहिं। आवैं जरत आगि तसि लावहिं ॥
जरहिं सो परबत लागि अकासा। वन खंड ढंख परास को पासा ॥

गैंड गयंद जरे भए कारे। औ बन मिरिग रोझ झौंकारे ॥
कोकिल काग नाग औ भँवरा। औरु जो जरहिं तिन्हैं को सँवरा ॥
जरा समुंद्र पानि भा खारा। जमुना स्याम भई तेहिं झारा ॥
धुआँ जामि अंतरिख भै मेघा। गँगन स्यामु भै भार न थेंघा ॥
सूरुज जरा चाँद औ राहू। धरती जरी लंक भा डाहू ॥

धरती सरग असूझ भा, तबहु न आगि बुझाइ।
अहुठौ बज्र दंगवै†, मारा चहै जुझाइ ॥ ५०८॥

शब्दार्थ—ढंख-पाठान्तर-धिकहिं=गर्म हो जाते हैं। झौंकारे=जल कर काले हुए। सँवरा=काला। जामि=निकल कर। थेंघा पाठान्तर-ठेंघा=संभाल सके। अहुठौ=साढ़े तीन—१. हनुमान का वज्र शरीर, २. शंकर का त्रिशूल, ३. कृष्ण का चक्र, ४. भीम का आधा वज्र शरीर। जुझाई=लड़ाकर-पाठान्तर-उठे वज्र जरि डुंगवै, धूम रहा जग छाइ=वज्र के मारे जाने से पहाड़ जल उठे और धुंआ संसार में छा गया। डुंगवै=पहाड़।

अर्थ—वे तोपें जिस रास्ते से चली आती हैं, आग लगती जाती है, चारों ओर आग जलती जाती है। जो पहाड़ थे वे जलने लगे और आकाश तक आग पहुंच गई। जंगल के जो पलाश के लाल फूल हैं, उसी आग के भग्नावशेष हैं। गेंडा और हाथी जो काले दिखाई देते हैं, इसका कारण यही है कि वे उस आग में जल कर सदा के लिए काले हो गये। वन के हिरण और नील गायें भी उसी से जल कर काली हो गयी हैं। कोकिल, कौवा, साँप और भौंरे ये भी उसी आग में जल कर काले हुए। समुद्र जल गया, इसी से उसका पानी खारा हो गया। यमुना भी उसी आग की झार से काली हो गयी। उसका जो धुआँ निकला और आकाश में गया तो बादल भी काले हो गये। आकाश जल कर काला हो गया, उसमें भार वहन करने की शक्ति न रह गयी। सूर्य, चाँद और राहु जल गये, पृथ्वी जली और लंका भी जल उठी। धुंए से पृथ्वी और आकाश सब जगह अंधेरा हो गया। सूझ नहीं पड़ता, किसी प्रकार आग बुझती नहीं, मालूम होता है, डंगव,

†—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल 'दंगवै' पाठ मानते हैं। उनका मत है कि 'दंगवै' ही फारसी लिपि में 'दिन कोई' पढ़ लिया गया था। डा० माताप्रसाद जी ने 'दिन कोई' पाठ ही रखा है। डा० अग्रवाल के अनुसार 'दंगवै' का समर्थन मनेर और गोपालचन्द की प्रति से प्राप्त है तथा यह शब्द विशेषण रूप में रत्नसेन के लिए है। पद संख्या ६२६ में रत्नसेन ने कहा भी है—हौं रन होइ भीवँ रन गाजा। पाछे घालि दंगवै राजा ॥ संदर्भ की दृष्टि से भी 'दंगवै' ही ठीक है (देखिए पीछे पद सं० ३६१ के फुटनोट में राजा डंगव की कथा)।

के युद्ध की भाँति साढ़े तीन वज्र‡ एक होना चाहते हैं और प्रलय होना चाहती है।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

[५०९]

आवै डोलत सरग पतारू। काँपै धरति न अँगवै भारू॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ होइ चूर उड़हिं होइ छारा॥
सत खँड धरति भई खट खंडा। ऊपर अस्ट भए ब्रह्मंडा॥
इंद्र आइ तेहि खँड होइ छावा। औ सब कटक घोर दौरावा॥
जेहि पँथ चला एरापति हाथी। अबहुँ सो डगर गँगन महँ आथी॥
औ जहँ जामि रही वही धूरी। अबहु बसी सो हरिचँद पूरी॥
गँगन छपान खेह तसि छाई। सूरुज छपा रैनि होइ आई॥
इसिकंदर केदली बन गवने, अस होइ गा अँधियार।
हाथ पसार न सूझै, बरै लागु मसियार॥५०९॥

शब्दार्थ—अँगवै = सहै। सतखंड धरति—इस्लाम के अनुसार सात पृथ्वियों की परतें एक के नीचे दूसरी हैं। जायसी का मत है कि घोड़ों की टापों से पृथ्वी की ऊपर की तह

‡—डा० वासुदेव शरण जी ने साढ़े तीन वज्र के विवरण इस प्रकार दिये हैं—

(१) कौषीतकि ब्राह्मण (१२।२) के अनुसार वज्र के तीन रूप थे—जल, सरस्वती और पंचदश ऋचाएँ। इन्हीं वज्र रूपों से देवों ने असुरों को इन लोकों से भगाया था।

(२) शतपथ ब्राह्मण (१।२।४।१) में उल्लेख है—'इन्द्र ने वृत्र पर वज्र चलाया। उसके चार टुकड़े हो गये। एक तिहाई से तलवार (स्पच), एक तिहाई से यूप, और एक तिहाई से रथ बन गया। वज्र चलाने से जो चिप्पी गिरी वही बाण हुआ। इसी से साढ़े-तीन वज्रों की अनुश्रुति चली।

(३) मत्स्य पुराण के अनुसार विश्वकर्मा ने सूर्य को खराद पर चढ़ाया। उसके तेज की जो छीलन उतरी उससे विष्णु का चक्र, शिव का त्रिशूल और इन्द्र का वज्र बना। इसी में कहीं इतना और है कि संसार में जितने कुछ विनाशकारी तत्व हैं वे बचे हुए चूरे से बन गये।

डा० अग्रवाल के उपर्युक्त विवरण ज्ञान-वर्धन की दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण हैं पर जायसी का वास्तविक तात्पर्य डंगव पर्व की लोक-कथा से ही संबन्धित है। पीछे पद सं० ३६१ की टिप्पणी में लिखा जा चुका है कि राजा डंगव (दंगवै) के कारण भीम ने कृष्ण से युद्ध किया था। उसमें साढ़े तीन वज्रों का संगम हुआ था। वे थे—कृष्ण का सुदर्शन चक्र, हनुमान् का वज्र शरीर, शंकर का त्रिशूल और भीम का अर्धाङ्ग वज्र वक्षस्थल। इन साढ़े तीन वज्रों के योग होने पर ही मेनका को शाप से मुक्ति मिली थी।

कट कर आकाश में छा गयी। जिससे सात आसमानों के नीचे आठवां आसमान बन गया। यही पंक्ति पीछे भी आ चुकी है--षट खंड धरति अष्ट ब्रह्मंडा—१४।४ जे सुम्मे सितौरां दरौं पह्ले दश्त। जमीं शशशुदा आस्मां जस्त हारल॥—शाहनामा। चूर-पाठान्तर-चकचून=चूर। छारा=मिट्टी-पाठान्तर-तेहि झारा=उसकी जलन से। आथी=है। पूरी=पुरी। हरिश्चन्द्र जी ने परीक्षा के उपरान्त भगवान् से वर माँगा था कि मैं अपनी समस्त प्रजा के साथ ही स्वर्ग जाना चाहूंगा। इस पर उनकी समस्त प्रजा साथ ही स्वर्ग गयी थी। उसी के लिए एक नयी हरिश्चन्द्र पुरी की कल्पना यहां जायसी ने की है। इसकंदर केदली वन=देखिये ४०३ की टिप्पणी। मसियार=मसाल।

अर्थ—स्वर्ग और पाताल डोलने लगे, पृथ्वी काँपने लगी। वह सेना का भार वहन करने में असमर्थ हो गयी। सुमेरु आदि सभी पर्वत टूटने लगे, चूर-चूर होकर उनकी धूल उड़ने लगी। सात खंड की पृथ्वी के छः ही खण्ड रह गये और ब्रह्माण्ड के आठ खंड हो गये क्योंकि पृथ्वी की ऊपरी तह छिलकर आसमान में छा गयी और आठवाँ आसमान बन गया। इन्द्र ब्रह्माण्ड की रक्षा करने के लिए आकर उन खंडों पर छा गया और अपनी सारी सेना के घोड़ों को दौड़ा दिया। जिस रास्ते से वह अपने ऐरावत हाथी पर भागा फिरा वह रास्ता आज तक आकाश में (आकाश गंगा) दिखाई पड़ता है। इस उपद्रव के कारण इतनी धूल उड़ी कि उससे एक लोक बस गया जिसे हरिश्चन्द्रपुरी कहते हैं। इतनी धूलि छा गई कि आकाश छिप गया, सूर्य छिप गया और रात हो गयी। जैसा कि सिकन्दर के क़दलीवन में पहुँचने पर अंधेरा हुआ था वैसा ही अंधेरा संसार में हो गया। हाथ फैलाने पर दिखाई नहीं पड़ता था, लोगों ने मशालें जला लीं।

अलंकार—अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा।

[५१०]

दिनहिं राति अस परी अचाका। भा रबि अस्त, चंद रथ हाँका॥
दिन के पंखि चरत उठि भागे। निसि के निसरि चरै सब लागे॥
मँदिलन्ह दीप जगत परगसे। पंथिक चलत बसेरैं बसे॥
कवँल सँकेता, कुमदिनि फूली। चकई बिछुरि, अचक मन भूली॥
तैस चलावा कटक अपूरी। अगिलहि पानी, पछिलहि धूरी॥
महि उजरी, सायर सब सूखा। बनखंड रहा न एकौ रूखा॥
गिरि पहार पब्बै भे माँटी। हस्ति हेरान तहाँ को चाँटी॥

जिन्ह जिन्ह के घर खेह हेराने, हेरत फिरहिं ते खेह।
अब तौ दिस्टि तबहिं पै आवहिं, उपजहिं नए उरेह॥५१०॥

शब्दार्थ—अचाका=अचानक। मँदिलन्ह=घरों में। सँकेता=संकुचित हो गया। अपूरी=भरा हुआ। हेरान=खो गया। चाँटी=चींटी। उरेह=बनाये जाने पर।

अर्थ—दिन में ही एकाएक रात हो गयी। सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का रथ चल पड़ा। दिन के चरते हुए पक्षी रात समझ कर उठकर भाग चले और रात के पक्षी रात समझ कर निकले और चरने लगे। मकानों में दीपक जल उठे, राही लोगों ने रात समझ कर पड़ाव ले लिया। कमल संकुचित हो गया और कुमुदिनी फूल उठी। चकई एकाएक चकवे से बिछुड़ कर दुखी हो गयी। सेना इतनी बड़ी थी और इस प्रकार भरी हुई चली कि प्यास लगने पर सेना के अगले भाग के लोग सारे जलाशय—नदी, तालाब और कुएँ का पानी पी गये। पीछे की पंक्तियों के मनुष्यों को पानी न मिला, धूल ही मिली। सारी पृथ्वी उजड़ गयी, सागर सूख गये, जंगल में एक भी पेड़ न रहा। पहाड़ आदि सब चूर होकर मिट्टी हो गये, हाथी तक खो गया तो चींटी की कौन बात पूछे। सेना की उड़ी धूल में जिन लोगों के घर खो गये वे उस धूल में अपने घर खोज रहे हैं, अब तो वे तभी दिखाई पड़ेंगे जब नये बनाये जायें।

अलंकार—भ्रान्तिमान् और अत्युक्ति।

अन्तिम दोहे में समासोक्ति—क्योंकि इसमें आध्यात्मिक संकेत यह है कि संसार के माया-मोह में परलोक लुप्त हो जाता है, यह तभी दिखाई पड़ता है जब ज्ञान प्राप्त हो।

[५११]

एहि बिधि होत पयान सो आवा। आइ साहि चितउर नियरावा॥
राजा राउ देखि सब चढ़ा। आउ कटक सब लोहँ मढ़ा॥
चहुँ दिसि दिस्टि परी गज जूहा। स्याम घटा मेघन्ह जग रूहा॥
अरध उरध कछु सूझ न आना। खरग लोह घुम्मरहिं निसाना॥
बँरख ढाल गँगन भै छाहाँ। रैनि होत आवै दिन माहाँ॥
चढ़ि धौराहर देखहिं रानी। धनि तूँ असि जाकर सुलतानी॥
कै धनि रतनसेनि तूँ राजा। जाकहँ बोलि कटक अस साजा॥

अंध कूप भा आवै, उड़त आव तसि छार।
ताल तलाव अपूरि गढ़, धूरि भरी जेंवनार॥५११॥

शब्दार्थ—रूहा=चढ़ा। सुलतानी=बादशाहत। अपूरि=भर गये।

अर्थ—इस प्रकार का कूच होता आया और शाह अलाउद्दीन चित्तौड़ के निकट आ गया। राजा और राव सब किले पर चढ़ कर देखने लगे। अलाउद्दीन की सारी सेना कवचों से सुसज्जित चढ़ी आ रही है। चारों ओर उसके हाथियों के झुंड पर दृष्टि पड़ी—

जैसे बादलों की काली घटा संसार पर चढ़ी आ रही है। ऊपर नीचे कुछ दिखाई नहीं पड़ता, तलवारें चमक रही हैं और डंके घूम रहे हैं। झंडे और ढालों से आसमान में छाया हो गयी, दिन में ही रात होना चाहती है। रानियाँ महलों के उपर चढ़कर देखती हैं और कहती हैं कि अलाउद्दीन तू धन्य है जिसकी बादशाहत ऐसी है। अथवा हे रत्नसेन ! तू धन्य है जिसके लिए अलाउद्दीन ने ऐसी सेना सजाई है। इतनी धूल उड़ रही है कि अन्धकूप सा होता जा रहा है, ताल-तालाब-किला-रसोई सब जगह धूलि ही धूलि भर गयी।

[५१२]

राजें कहा कीन्ह सो करना। भएउ असूझ सूझ जस मरना ॥
जहँ लगि राज साज सब होऊ। तेतखन भएउ सँजोउ सँजोऊ ॥
बाजे तबल अकूत जुझाऊ। चढ़ा कोपि सब राजा राऊ ॥
राग सनाहा पहुँची टोपा। लोहँ सार पहिरि सब कोपा ॥
करहिं तोखार पवन सों रीसा। कंध ऊँच असवार न दीसा ॥
का बरनौं जस ऊँच तोखारा। दुइ पैरीं पहुँचै असवारा ॥
बाँधे मौर छाँह सिर सारहिं। भाँजहिं पूँछि चँवर जनु ढारहिं ॥

टँआ चँवर बनाऊँ, औ घाले गल[1] झाँप।
औ गज गाह सेत तिन्ह बाँधे, जो देखै सो काँप ॥ ५१२ ॥

शब्दार्थ—संजोऊ=तैयारी। अकूत=बहुत से। सनाहा=कवच। तोखार=घोड़े। रीसा=ईर्ष्या। पैरी=सीढ़ी। टँआ=हाथी और घोड़ों का एक आभूषण जो लगभग एक बालिश्त चौड़ी पाँच टट्रियों को छल्ले से जोड़कर सिरे पर दोहरी जंजीर बांध कर बनाया जाता था। पाठान्तर-तैसे। गलझाँप=गले की झूल। गजगाह=घोड़े की गर्दन बाँधी जाने वाली झालर जो पैरों तक लटकती रहती थी।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने कहा कि जो कुछ हमें करना था किया, अब तो मुझे और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। केवल मृत्यु ही सूझती है। जहाँ तक राज-साज हो तुरन्त ही सारी तैयारी कर डालो। राजा की आज्ञा होते ही अगणित युद्ध के बाजे बज उठे, सभी राजा-राव कोप कर चढ़ चले। कवच, पहुँची, टोप, तलवारें आदि सभी रण के हथियार साज कर सभी कुपित हो गये। उनके घोड़े हवा से ईर्ष्या करने लगे, उनके कन्धे इतने ऊँचे थे कि पीठ पर बैठा हुआ सवार नहीं दिखाई पड़ता। ये घोड़े कितने ऊंचे थे उनका क्या वर्णन करूँ, दो-दो सीढ़ियों को जोड़कर तब सवार उन पर चढ़ पाते थे। उन घोड़ों के सिर पर

---

१. डा० अग्रवाल ने इसका पाठ 'गज झांप' लिखा है। अर्थ इस प्रकार किया है—वह झूल जो घोड़े के दोनों ओर घुटने तक लटकती है। यह हाथी की झूल से मिलती थी, इसी से गजझांप नाम पड़ा था। गलझाँप का अर्थ भी यही है।

मोरछल बंधे हुये थे, तथा लोहे की पट्टियाँ लगीं थीं। जब भागते थे तो पूँछ उठा लेते थे मानों चंवर डोल रहे हैं। उनके मस्तक पर टैया और चंवर तथा बदन पर झूलें पड़ी थीं, गर्दन में सफेद गजगाह झालरें लटकती थीं। इन घोड़ों को जो देखता था वही डर से काँपने लगता था।

[५१३]

राज तुरंगम बरनौं काहा। आने छोरि इन्द्र रथ बाहा ॥
अैस तुरंगम परे न डीठी। धनि असवार रहहिं तिन्ह पीठी ॥
जाति बालका समुँद थहाए। माँथे पूँछि गँगन सिर लाए ॥
बरन बरन पखरे अति लोने। सार सँवारि लिखे सब सोने ॥
मानिक जरे सिरी औ काँधे। चँवर मेलि चौरासी बाँधे ॥
लागे रतन पदारथ हीरा। पहिरन देहिं देहिं तिन्ह बीरा ॥
चढ़े कुवँर मन करहिं उछाहू। आगें घालि गनहिं नहिं काहू ॥

सेंदुर सीस चढ़ाएँ, चन्दन खेवरें देह।
सो तन काह लगाइअ, अंत भरै जो खेह ॥ ५१३ ॥

शब्दार्थ—इन्द्र रथवाहा=इंद्र के रथ को चलाने वाले। बालका=टाँगन घोड़े। पखरे=कवच, लोहे की जीन जो घुटने तक लटकती थी। लोने=सुन्दर। सिरी=मस्तक का आभूषण। पहिरन=पहिनावे, पोशाक। घेवरे=लगाये हुए—पाठान्तर-खेवरे=खौर-रोली।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि राजा के घोड़ों का क्या वर्णन करूँ, मानों इन्द्र के रथ वाले घोड़े ही लाये गये हैं। इन घोड़ों पर दृष्टि नहीं पड़ती। वे सवार धन्य हैं जो उनकी पीठ पर चढ़े रहते हैं। ये टाँगन जाति के घोड़े समुद्र की थाह लेने वाले हैं। इनकी पूँछ आकाश में सिर तक आ जाती है। रंग-रंग की लोहे की जीनें थीं, उनके ऊपर सोने का पानी मढ़ा हुआ था। उनके सिर पर सिरी नामक आभूषण में माणिक्य जड़े हुए थे। गले में बँधे चौरासी घूंघर थे। रत्न, मोती और हीरे लगे हुए पहिनावे देकर राजा ने सवारों को बीड़ा दिया। राजकुमार लोग बड़े उत्साह के साथ घोड़ों पर चढ़े, अपने जोश में वे अपने आगे किसी को नहीं गिनते। सिर में रोली और शरीर में चन्दन लगाये हुए वे राजकुमार रण के लिए प्रस्तुत हुए। कवि जायसी कहता है कि भला उस शरीर पर चन्दन आदि के लगाने से क्या, जो अन्त में मिट्टी ही होगा।

[५१४]

गज मैमंत पखरे रजबारा। देखिअ जानहुँ मेघ अकारा ॥
सेत गयंद पीत औ राते। हरे स्याम घूमहिं मद माते ॥
चमकहिं दरपन लोहैं सारी। जनु परबत पर परी अँबारी ॥

सिरी मेलि पहिराई सूँडें । कटक न भाय पाय तर रूँदें ।।
सोन मेलि सो दाँत सवारे । गिरिवर टरहिं सो उन्हकें टारे ।।
परबत उलटि पुहुमि सब मारहिं । परैं ज्यों भीर तीर जेउँ टारहिं ।।
अस गयंद साजे सिंघली । गवनत कुरुँम पीठि कलमली ।।

ऊपर कनक मँजूसा, लाग चँवर औ ढार ।
भलइत बैठ भाल लै, औ बैठे धनुकार ।। ५१४ ।।

शब्दार्थ—पखरे=कवच-पाठान्तर-बिखरे । रजबारा=राजद्वार । अकारा-पाठान्तर-अतिकारा । सिरी=मस्थे का गहना । कुरुँम=कच्छप भगवान् । कलमली=खलबलाई । मँजूसा=हौदा, अंबारी । ढार=ढाल । भलइत=भाला चलाने वाला । धनुकार=धनुर्धारी ।

अर्थ—कवच धारण किए हुए मतवाले हाथी राजद्वार पर फैले हुए थे, ऐसे दिखाई पड़ते थे जैसे काले बादल हों । हाथी सफेद, पीले, लाल हरे और काले थे तथा मस्ती में घूम रहे थे । उनके लोहे के बने हुए गहने ऐसे चमकते थे जैसे शीशा । उनकी अंबारी ऐसी लगती थीं मानों पहाड़ पर लगी हुई हों । उनका सिरी नाम का गहना उनकी सूंडों के ऊपर पहनाया गया । वे हाथी इतने मस्त थे कि उन्हें सेना में खड़ा होना अच्छा नहीं लगत था अतः वे अपने पैरों के नीचे की जमीन को ही रौंदने लगे । उनके दाँत सोने में मढ़े हुए थे दाँत इतने मजबूत थे कि पहाड़ भी उनके हटाने से हट जाता । वे पर्वतों को उलट कर पृथ्वी पर दे मारते थे, जो भीड़ उनके सामने पड़ती थी उसे वे तिनके के समान रौंद देते थे । ऐसे सिंहल द्वीप के हाथी सजाये गये, उनके चलने पर बोझ के कारण कच्छप भगवान् की पीठ दुखने लगी । इन हाथियों के ऊपर सोने की अंबारियाँ थीं, जिनमें चँवर और ढालें लगी थीं । भाला चलाने वाले भाला ले कर और धनुष चलाने वाले तीर-कमान लेकर उनके ऊपर बैठे थे ।

[५१५]

असु दल गज दल दूनौ साजे । औ घन तबल जूझ कहँ बाजे ।।
माँथे मदुक, छत्र सिर साजा । चढ़ा बजाइ इन्द्र होइ राजा ।।
आगे रथ सैना भइ ठाढ़ी । पाछें धजा अचल सो काढ़ी ।।
चढ़ा बजाइ चढै जस इंदू । देव लोक गोहन सब हिंदू ।।
जानहुँ चाँद नखत लै चढ़ा । सुरज कि कटक रैनि मसि मढ़ा ।।
जौ लहि सुरज चाह देखरावा । निकसि चाँद घर बाहेर आवा ।।
गँगन नखत जस गने न जाहीं । निकसि आइ तस भुइँ न समाहीं ।।

देखि अनी राजा कै जग, होइ गएउ असूझ।
दुहूँ कस होइ चलत हो, चाँद सुरुज कै जूझ ॥ ५१५ ॥

शब्दार्थ—असुदल=अश्वदल । तबल=नक्कारा । अचल=सेना के पीछे एक झंड़ा गाड़ा जाता था जिसका तात्पर्य यह होता था कि कोई उससे पीछे न हटे, इसी को मरण-ध्वजा भी कहते थे। इंदू=इन्द्र । ठाढ़ी=खड़ी हुई ।

अर्थ—राजा रत्नसेन ने अपने घोड़ों के और हाथियों के दोनों दलों को सजाया। फिर युद्ध के डंके बजे । मस्तक पर मुकुट और सिर पर राज-छत्र धारण किया। इस प्रकार बाजा बजवा कर इन्द्र के समान राजा सवार हुआ। उसके आगे रथ की सेना खड़ी हुई, पीछे अचल ध्वजायें उड़ रही थीं, जिससे कोई उनके पीछे न हट सके। राजा बाजा बजवा कर इस प्रकार चढ़ा कि जैसे इन्द्र चढ़ा हो और सभी हिन्दू राजा उनके साथ इस प्रकार चले जैसे इन्द्र के साथ देवतागण चलते हैं। उस सेना को देखकर प्रतीत होता था मानों चन्द्रमा नक्षत्रों को लेकर चढ़ रहा है और सूर्य रूपी अलाउद्दीन की सेना पर अँधेरा छा गया। जब तक कि सूर्य रूपी अलाउद्दीन चित्तौड़ में दिखाई दे, चन्द्रमा रूपी रत्नसेन अपने किले से निकल कर बाहर आ गया और उसके साथ अगणित हिन्दू राजे इस प्रकार निकले जैसे आकाश में नक्षत्रों की कोई गिनती नहीं है। इतने हिन्दू राजा निकलते आ रहे हैं कि भूमि में स्थान नहीं है। राजा की सेना को देखकर संसार को कुछ समझ नहीं पड़ता। कवि कहता है कि अभी यह हाल है तो जब चन्द्र (रत्नसेन) और सूर्य (अलाउद्दीन) का युद्ध होगा तब पता नहीं क्या होगा।

४३. राजा-बादशाह-युद्ध-खंड

[५१६]

इहाँ राजा असि साज बनाई। उहाँ साहि की भई अवाई ॥
अगिलै धौरी आगें आई। पाछिल बाछु कोस दस ताँई ॥
आइ साहि मंडल गढ़ बाजा। हस्ती सहस बीस सँग साजा ॥
ओनै आइ दूनौ दर गाजे। हिन्दू तुरुक दुऔ सम बाजे ॥
दुऔ समुंद दधि उदधि अपारा। दुऔ मेरु खिखिंद पहारा ॥
कोपि जुझार दुहूँ दिसि मेले। औ हस्ती हस्तिन्ह कहँ पेले ॥
आँकुस चमकि बीज अस जाहीं। गरजहिं हस्ति मेघ घहराहीं ॥

धरती सरग दुऔ दर, जूहहिं ऊपर जूह।
कोऊ टरै न टारें, दूओ बज्र समूह ॥ ५१६ ॥

अर्थ–धौरी-पाठान्तर दौरे=पंक्ति । बाछु-पाठान्तर-पाछ=सबसे पीछे की पंक्ति। ताईं=तक। ओनै=उमड़ते हुए। दर=दल, सेना। खिखिंद=किष्किन्धा।

अर्थ—चित्तौड़ में राजा रत्नसेन ने अपनी सेना की तैयारी की, उधर से शाह अलाउद्दीन भी आ गया। उसकी सेना इतनी बड़ी थी कि अगली पंक्ति तो राजपूतों की सेना से मिल गयी और पिछली पंक्ति दस कोस तक की दूरी तक थी। अलाउद्दीन आकर चित्तौड़ में पहुँच गया, उसके साथ बीस हजार हाथी सजे थे । दोनों ओर की सेनाएँ उमड़ती हुई गरज रही थीं। हिंदू और मुसलमान दोनों ही रणस्थल में समान प्रतीत हो रहे थे। दोनों ही की सेनाएँ विशाल दधि और उदधि समुद्र के समान थीं, दोनों सुमेरु और किष्किन्धा पर्वतों के समान थे। क्रोध करके दोनों ओर के योद्धा मिल गये, हाथी हाथियों से लड़ गये। अंकुश बिजली की भांति चमकने लगे, हाथी बादलों की भाँति गरजने लगे। आकाश और पृथ्वी दोनों में दोनों दलों के समूह के समूह दिखाई पड़ते थे, कोई टालने से नहीं टलता, दोनों दल वज्र के समूहों की भाँति थे।

[५१७]

हस्तिन्ह सौं हस्ती गठि गाजहिं। जनु परबत परबत सौं बाजहिं ॥
गरुअ गयंद न टारे टरहीं। टूटहिं दंत सुंड भुइँ परहीं ॥
परबत आइ जो परहिं तराहीं। दर मँह चाँपि खेह मिलि जाहीं ॥
कोइ हस्ती असवारन्ह लेहीं। सुंड समेटि पाय तर देहीं ॥

कोइ असवार सिंघ होइ मारहिं। हनि मस्तक सिउँ सुँड उतारहिं ॥
गरब गयंदन्ह गँगन पसीजा। रुहिर जो चुवै धरति सब भीजा ॥
कोइ मैमंत सँभारहिं नाहीं। तब्र जानहिं जब्र सिर गड़ खाँहीं ॥
गँगन रुहिर जस बरिसै, धरती भीजि बिलाइ।
सिर धर टूटि बिलाहिं तस, पानी पंक बिलाइ ॥ ५१७ ॥

शब्दार्थ—बाजहिं=लड़ते हैं। गरुग्र=भारी। तराहीं=नीचे। गड़=एक छोटा लोहे का बर्छा जिसमें आगे दो शूल लगे होते थे। बहुत उद्दंड हाथियों को बस में करने के लिए ही इस हथियार का प्रयोग होता था। रुहिर=रुधिर, खून। बिलाई=विलीन हो।

अर्थ—हाथियों से हाथी गरज रहे हैं मानों एक पर्वत दूसरे से लड़ रहा है। भारी-भारी हाथी हटाने से हटते नहीं, उनके दाँत टूटते हैं और सूँड़ कट कर भूमि पर गिर पड़ती हैं। बड़े-बड़े पर्वत जब उनके पैरों के नीचे पड़ते हैं तो उनके पैरों तले दब कर धूल हो जाते हैं। कोई हाथी घुड़सवारों को लेकर अपनी सूंड में लपेट कर पाँव तले रौंद डालता है। कोई घुड़सवार सिंह के समान हाथी पर वार करता है और उसके मस्तक पर तलवार मार कर उसकी सूँड काट डालता है और हाथियों के मद-जल से आकाश पसीज गया, जो खून उनके शरीर से निकलता है उससे सारी धरती भीज गई। कोई उन मतवाले हाथियों को नहीं सँभाल पाता था, वे हाथी तभी अपने होश में आते थे जब महावत गड़ नामक बर्छे को चुभा देते थे। आकाश से जैसे खून की वर्षा हो रही हो पर पृथ्वी में सारा खून विलीन हो जाता था। सिर, धड़ टूट कर नष्ट होते थे जैसे पानी में कीचड़ विलीन होजाता है।

[५१८]

अहुठौ बज्र जूझि जस सुना। तेहि तें अधिक होइ चौगुना ॥
बाजहिं खरग उठै दर आगी। भुइँ जरि चहै सरग कहँ लागी ॥
चमकै बीज होइ उजियारा। जेहि सिर परै होइ दुइ फारा ॥
सैन मेघ असैं दुहुँ दिसि गाजै। खरग जो बीच बीज अस बाजै ॥
बरिसै सेल आँसु होइ कांदौ। जस बरिसै सावन औ भादौं ॥
टूटहिं कुंत परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस भारी ॥
जूझे बीर लिखौं कहँ ताईं। लै आछरि कबिलास सिधाईं ॥
स्यामी काज जे जूझे, सोइ गए मुख रात।
जो भागे सत छाँड़ि कै, मसि मुख चढ़ी परात ॥५१८॥

शब्दार्थ—अहुठौ=साढ़े तीन बज्र (देखिये टि० पद ५०८)। कांदौ=कीचड़। कुंत=कुंतज, भाला-पाठान्तर-कोपि। मसि=स्याही। परात=भागते हुए।

अर्थ—यह लड़ाई ऐसी भयंकर हुई जैसे साढ़े तीनों बज्रों की लड़ाई सुनी गयी है, बल्कि उससे चौगुनी भयंकरता इसमें आ गयी थी। तलवारें बजती थीं, सेना में आग सी

उठ जाती। पृथ्वी जलकर स्वर्ग में आग लगाना चाहती थी। बिजलियों के समान तलवारें चमकतीं तो उजेला हो जाता था और जिसके सिर पर पड़तीं उसको दो टुकड़ों में फाड़ डालती थीं। दोनों दिशाओं में सेनायें बादलों के समान गरज रही थीं, बीच में तलवारें बिजली के समान चमकती थीं। बरछे बरस रहे थे। आँसू कीचड़ बन रहे थे, ऐसा मालूम होता था मानो सावन-भादों की वर्षा हो रही है। भाले टूट-टूट कर गिरते थे। तलवारें गिर रही थीं। गोले इस प्रकार पड़ रहे थे जैसे बरसात के साथ ओले पड़ रहे हों। इतने वीर युद्ध में मरे कि उन्हें कहाँ तक लिखूँ. अप्सराएँ उन्हें लेकर स्वर्ग को गईं। जो वीर अपने स्वामी के काम में मारे गये वे ही उज्ज्वल मुख से गये पर जो लोग अपने सत को छोड़ कर भागे, भागते हुए उनके मुख पर कालिख लग गयी।

[५१९]

भा संग्राम न अस भा काऊ। लोहैं दुहुँ दिस भएउ अघाऊ‡॥
कंध कबंध पूरि भुइँ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे॥
अनँद बियाह करहिं मँसुखाए। अब भख जरम जरम कहँ पाए॥
चौंसँठि जोगिनि खप्पर पूरा। बिग जँमुकन्ह घर बाजहिं तूरा॥
गीध चीलह सब माँड़ौं छावहिं। काग कलोल करहिं औ गावहिं॥
आजु साहि हठि अनी बियाही। पाई भुगुति जैस जियँ चाही॥
जेन्ह जस माँसू भखा परावा। तस तेन्ह कर लै औरन्ह खावा॥

काहूँ साथ न तनु गा, सकति मुएँ पै पोखि।
ओछ पूर तब जानब, जब भरि आउब जोखि॥५१९॥

शब्दार्थ—लोहैं = तलवारें। अघाऊ = पूर्ण शक्ति से। कबंध = धड़। बियाह-पाठान्तर-बधाव = हर्ष। मँसुखाए = माँसभक्षी। अनी बियाही = सेना से विवाह किया है—सेनापति बना है। पति ब्याह करने से ही होता है। युद्ध में उस दिन सबसे भयंकर युद्ध होता था जब राजा स्वयं सेना का संचालन करता था। भुगुति = भोजन। सकति = शक्ति भर। पूर = पूरा। जोखि = तौल करना—पाठान्तर—जो थिर आवत जोखि = जो इस शरीर को स्थिर समझता है।

अर्थ—ऐसा युद्ध हुआ जैसा कभी न हुआ था। दोनों ओर जी भर कर तलवारें चलीं। कँधे और धड़ों से सारी पृथ्वी पट गई, खून पानी होकर सागर में भर गया।

‡ डा० वासुदेव शरण जी ने 'अघाऊ' पाठ ही स्वीकार किया है। डा० माताप्रसाद जी ने 'अगाहू' पाठ दिया है। 'अगाहू' में तुक दोष है। श्रेष्ठ प्रतियों में 'अघाऊ' पाठ ही मिलता है।

माँस खाने वाले भूत-प्रेत आदि आनन्द और खुशी में मस्त हो रहे हैं क्योंकि जन्म-जन्म का खाना उन्हें अब मिला है। चौंसठ जोगिनियाँ खप्पर को भरे हुए हैं, भेड़िया, गीदड़ आदि के घर तुरहियां बज रही हैं अर्थात् आनन्द हो रहे हैं। गीध और चीलें मंडप छा रही हैं (मँडरा रहे हैं)। कौवे किलोल कर रहे और गा रहे हैं। आपस में सोचते हैं कि आज शाह ने हठपूर्वक सेनापति बनना स्वीकार किया है, जैसा हम चाहते थे वैसा भोजन हमने पाया है।

इस पर कवि अपना अमन्तव्य प्रकट करता है कि जिन माँसभक्षी पुरुषों ने औरों का मांस खाया था उसी प्रकार आज उनका मांस भी और लोग खा रहे हैं। शरीर किसी के साथ नहीं जाता, अपनी शक्ति भर प्रत्येक अपने शरीर का पालन-पोषण करता है, पर यह तो ओछा (घटिया) शरीर है इसे पूरा तो हम तब समझें जब तौलने पर यह पूरा उतरे। भाव यह कि मनुष्य की नासमझी है कि वह इस शरीर को ही पालता-पोसता है। शरीर का कोई महत्त्व नहीं है।

[५२०]

चंद न टरै सूर सौं रोपा। दोसर छत्र सौंहँ कै कोपा॥
सुना साहि अस भउए समूहा। पेले सब हस्तिन्ह के जूहा॥
आजु चंद तोहि करौं निपातू। रहै न जग महँ दोसर छातू॥
सहस करौं होइ किरिन पसारा। छपि गा चाँद जहाँ लगि तारा॥
दर लोहैं दरपन भा आवा। घट घट जानहुँ भानु देखावा॥
बहु किरोध कुंताहल धावै। अगिनि पहार जरत जनु आवै॥
खरग बीज जस तुरुक उठाएँ। ओड़ न चंद कँवल कर पाएँ॥
चकमक अनी देखि कै, धाइ दिस्टि तसि लागि।
छुई होइ जौं लौहें, रुइं माँझ उठ आगि॥५२०॥

शब्दार्थ—रोपा=लड़ाई ले ली-पाठान्तर-कोपा। कुंताहल=बर्छी-पाठान्तर-कुठार। कँवल=शाह-पाठान्तर-काल। ओड़=रक्षा करना। ओड़न=ढाल। चकमक=एक पत्थर जिस पर चोट करने से आग पैदा की जाती थी।

अर्थ—रत्नसेन चन्द्रमा नहीं हटता क्योंकि उसने अलाउद्दीन (सूर्य) से लड़ाई ले ली है। अपने दूसरे छत्र को सामने करके वह क्रुद्ध हुआ। जब शाह ने राजा के सैन्य-समूह की बात सुनी तो उसने हाथियों के झुण्ड को आगे बढ़ा दिया। उसने कहा कि हे चन्द्र (रत्नसेन) आज मैं तेरा नाश करूँगा, जिससे संसार में दूसरा राज-छत्र न रह जाय। उसने अपनी हज़ारों किरणों को फैला दिया अर्थात् अपनी रिजर्व सेना को भी बढ़ा दिया। उससे चन्द्र ताराओं समेत छिप गया—अर्थात् अलाउद्दीन की सेना से रत्नसेन की सेना घिर गयी। सेना की तलवारें दर्पण के समान चमक रही थीं, मानों घट-घट में सूर्य चमक रहा है। बड़े क्रोध के साथ बर्छी उठाये वह दौड़ रहा है मानो अग्नि का पहाड़ ही जलता

हुआ आ रहा है। मुसलमान (अलाउद्दीन) तलवारें इस प्रकार उठाए हुए हैं जैसे बिजली चमक रही है। रत्नसेन(चन्द्र) पद्मावती (कमल) की रक्षा न कर सकेगा। तब बादशाह अला-उद्दीन की अग्नि दृष्टि रूपी लोहा रत्नसेन की सेना रूपी चकमक पर पड़ा तो उसमें इस प्रकार अग्निकाण्ड हो गया जैसे चकमक पत्थर के साथ ही जब रुई लगी होती है तो चकमक पर लोहे की चोट लगते ही रुई में आग लग जाती है। भाव यह कि रत्नसेन की सेना में अग्निकांड हो गया।

[५२१]

सूरज देखि चाँद मन लाजा। बिगसत बदन, कुमुद भा राजा।।
चंद बड़ाई भलेहूँ निसि पाई। दिन दिनियर सौं कौंनु बड़ाई।।
अहे जो नखत चंद सँग तपे। सूर की दिस्टि गँगन महँ छपे।।
कै चिंता राजा मन बूझा। जेहि सों सरग न धरती जूझा।।
गढ़पति उतरि लरैं नहिं धाए। हाथ परें गढ़ हाथ पराएँ।।
गढ़पति इंद्र गँगन गढ़ राजा। देवस न निसर रैंनि को राजा।।
चंद रैंनि रह नखतन्ह माँझा। सुरुज न सौंह होइ चह साँझा।।
देखा चंद भोर भा, सुरुज के बड़ भाग।
चाँद फिरा भा गढ़पति, सुरुज गँगन गढ़ लाग।।५२१।।

शब्दार्थ—दिनियर=दिनकर, सूर्य। अहे=थे। तपे=प्रकाशमान। जूझा=युद्ध करना चाहिए।

अर्थ—सूर्य (अलाउद्दीन) को देख कर चांद (रत्नसेन) का मन लज्जित हुआ। उसका खिला हुआ चेहरा इस प्रकार मलिन हो गया, जैसे कुमुद सूर्य को देख कर मलिन हो जाता है। कवि कहता है कि चन्द्रमा की बड़ाई भले ही रात्रि में हो, पर दिन में सूर्य के सामने उसकी क्या बड़ाई होगी? जो नक्षत्र रूपी उसकी सेना थी और जो रत्नसेन के साथ तेजस्वी थे वे सब सूर्य रूपी अलाउद्दीन के सामने छिप गये। राजा ने मन में सोच-विचार कर समझा कि जिसके पास स्वर्ग रूपी किला है, उसे पृथ्वी पर युद्ध न करना चाहिए। जो गढ़पति है वह नीचे उतर कर दौड़ कर नहीं लड़ता, ऐसा करने पर हाथ का किला भी दूसरे के हाथ पड़ सकता है। गढ़पति तो इन्द्र के समान और किला आकाश के समान है— जो रात का राजा (चन्द्रमा) है वह दिन को नहीं निकलता। अर्थात् जिसके पास किला है वह बाहर निकल कर नहीं लड़ता। चन्द्रमा तो रात में नक्षत्रों के बीच रहता है, वह तो सूर्य के सामने नहीं आता, संध्या-काल की कल्पना करता है अर्थात् गढ़पति तो किले में अपने सामन्तों के बीच रहता है—बाहर वाले आक्रमणकारी के सामने नहीं आता। चन्द्रमा (रत्नसेन) ने देखा कि प्रातःकाल (युद्ध का आरम्भ) हुआ है और सूर्य (अलाउद्दीन) के भाग्य हैं अर्थात् मैदान की लड़ाई

में अलाउद्दीन का पाँसा ऊपर है। अतः वह लौटकर अपने किले के भीतर हो गया और अलाउद्दीन किले के समीप आ गया, उसने घेरा डाल दिया।

[५२२]

कटक असूझ अलावल साही। आवत कोइ न सँभारै ताही॥
उदधि समुँद जेउँ लहरैं देखें। नैन देखि मुँह जाहिं न लेखें॥
केत बजावत उतरे घाटी। केत बजाइ गए मिलि माँटी॥
केतन्ह नितिहिं देइ नव साजा। कबहु न साज घटै तस राजा॥
लाख जाहिं आवहिं दुइ लाखा। फरहिं झरहिं उपनहिं नौ साखा॥
जो आवै गढ़ लागै सोई। थिर होइ रहै न पावै कोई॥
उमरा मीर अहे जहँ ताईं। सबहूँ बाँटि अलंगै पाई॥

लागि कटक चारिहुं दिसि, गढ़ सो परा अगिडाहु।
सुरुज गहन भा चाँदहि, चाँद भएउ जस राहु॥ ५२२॥

शब्दार्थ—अलावल=अलाउद्दीन के सिक्कों पर उसका नाम मिलता है-अलाउल् दुनिया व अल्दीन। पाठान्तर-अलाउदि=अलाउद्दीन। केत=कितने। अलंगै= एक ओहदा, लडाइयों में बादशाह की आज्ञा से सारा रणक्षेत्र भिन्न-भिन्न अमीरों को बांट दियाजाता था, सभी लोग-अपने अपने हिस्से पर आक्रमण करते थे। अगिडाहु=अग्निदाह।

अर्थ—अलाउद्दीन की सेना इतनी बड़ी है, उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसके आने पर कोई उसे संभाल नहीं सकता। समुद्र की लहरों को जैसे कोई आँखों से तो देख सकता है, पर उसका हिसाब कोई नहीं लगा सकता, उसी प्रकार बादशाह की असंख्य सेना है। उस सेना में से कितने तो लड़ते हुए पार उतर गये और कितने मिट्टी में मिल गये। कितने ऐसे हैं जिन्हें बादशाह नित्य नया साज देता है, ऐसा राजा है कि उसका सम्मान कभी नहीं घटता। लाख मनुष्य मरते हैं तो उनके स्थान पर दो लाख मनुष्य आ जाते हैं। मरते हैं और नये खड़े होते हैं। जो आता है वही गढ़ के समीप स्थान पाता है, पर स्थिर होकर कोई रहने नहीं पाता। जितने मीर और उमराव थे सभी को बाँट कर अलग-अलग भाग दे दिये गये। सारी सेना गढ़ के चारों ओर लग गयी और भयंकर अग्निदाह होने लगा। सूर्य (अलाउद्दीन) चन्द्रमा (रत्नसेन) पर ग्रहण लगाना चाहता है और चन्द्रमा (राजा) राहु जैसा हो गया है। अर्थात् अलाउद्दीन तो राजा को बन्दी करना चाहता है, पर राजा गढ़ के भीतर होने से अदृश्य है।

नोट—इस पद में भी जायसी को रहस्यात्मक संकेत रखने का अवसर मिलता है। जैसे शाह की सेना अपार है, गढ़ पर असंख्य आदमी और साज-बाज भेजता है उसी

प्रकार ईश्वर की प्रसन्नता महान् है, वह इस जगत् में असंख्य जीवों को उत्पन्न करता है। उसकी शक्ति और साज अपार है—जीव इस लोक में आते हैं, पर स्थिर नहीं रहते, मरते और जन्म पाते चले जाते हैं।

अलंकार—समासोक्ति।

[५२३]

अँथवा देवस सुरुज भा बासाँ। परी रैनि ससि उवा अकासाँ ॥
चाँद छत्र दै बैठेउ आई। चहुँ दिसि नखत दीह छिटकाई ॥
नखत अकासहुँ चढ़े दिपाहीं। टूटहिं लूक परहिं न बुझाहीं ॥
परहिं सिला जस परै बजागी। पाहनहि पाहन बाजि उठ आगी ॥
गोला परहिं, कोल्हु ढुरुकावहिं। चून करत चारिहुँ दिसि आवहिं ॥
ओनइ अंगार बिस्टि† झरि लाई। ओला टपकै, परै न बुझाई ॥
तुरुक न मुँह फेरहिं गढ़ लागें। एक मरें, दोसर होइ आगे ॥
परहिं बान राजा कै, मुख न सकै कोइ काढ़ि।
अनी साहि कै सब निसि, रही भोर लहि ठाढ़ि ॥ ५२३ ॥

शब्दार्थ—अँथवा=अस्त हुआ। भा बासाँ=डेरे में ठहरे। ढरकावहिं=गिराते हैं। चून=चूर। ओनइ=झुकी हुई। बिस्टि=वृष्टि। लहि=तक।

अर्थ—सूर्य अस्त हुआ, अलाउद्दीन (सूरज) अपने डेरे में चला गया। रात होने से आकाश में चन्द्रमा उदय हुआ। छत्र धारण कर राजा रत्नसेन (चाँद) बैठा। चारों ओर उसके सामन्त (नक्षत्र) बिखर गये। आकाश (गढ़) पर चढ़े हुए नक्षत्र (सामन्त) चमकने लगे और तीर और गोले रूपी लूक फेंकने लगे, जो बुझाने से नहीं बुझते थे। ऊपर से शिलाएँ इस प्रकार गिरती थीं जैसे वज्राग्नि पड़ रही हो। पत्थर पर पत्थर लड़ने से अग्नि निकल पड़ती थी। गोला गिराते थे और बड़े-बड़े कोल्हू ऊपर से लुढ़का देते थे, ये चारों ओर चूर करते चले जाते थे। अंगारों की वृष्टि झुक आई थी और झड़ी लग रही थी, ओले से टपक रहे थे जो किसी प्रकार नहीं बुझते थे। फिर भी मुसलमान सैनिक अपना मुँह नहीं मोड़ते, एक मरता था तो दूसरा उसके स्थान पर आ जाता था। राजा के बाण इस प्रकार चलते थे कि उनके भय से कोई मुँह नहीं निकाल पाता था, इस प्रकार शाह की बहुत सी सेना रात में काम आयी। फिर भी प्रातःकाल तक किले से लगी खड़ी ही रही।

---

†डा० वासुदेव शरण अग्रवाल 'ओनइ अंगार बिस्टि' पाठ शुद्ध मानते हैं, डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'अवनि अंगार दिस्टि' पाठ लिखा है। अर्थ की दृष्टि से डा० अग्रवाल का पाठ अधिक उपयुक्त है, यह पाठ अप्रमाणिक भी नहीं है क्योंकि मनेर और गोपाल चन्द्र की प्रतियों में यही पाठ मिलता है।

[५२४]

भएउ बिहान, भान पुनि चढ़ा। सहसहु करा जैस विधि गढ़ा ॥
भा ढोवा गढ़ लीन्ह गरेरी। कोपा कटक लाग चहुँ फेरी ॥
बान करोरि एक मुख छूटहिं। बाजहिं जहाँ फोंक लगि फूटहिं ॥
नखत गँगम जस देखिअ घने। तस गड़ फाटहिं बानन्ह हने ॥
जानहुँ बेधि साहि कै राखा। गढ़ भा गरुर फूलाएँ पाँखा ॥
ओरँगा केरि कठिन है जाता। तौ पै लहै होइ मुख राता ॥
पीठि देहिं नहिं बानन्हि लागे। चाँपत जाहिं पगहिं पग आगे ॥
चारि पहर दिन बीता, गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुव होत पै आवै, दिन दिन टाँकहि टाँक ॥ ५२४ ॥

शब्दार्थ—ढोवा=चढ़ाई पाठान्तर-धावा। गरेरी=घेरा। फोंक=तीर का पिछला भाग जिसमें पंख लगे होते हैं। साहि=साही नाम का एक जानवर जिसके शरीर में लम्बे काँटे होते हैं। गरुर=गरुड़ पक्षी। ओरंगा=तुर्क, पाठान्तर ओहि रंग=उस रण रंग का। चाँपत=बढ़ते जाते हैं। टाँकहि-टांक=धनुष की परीक्षा के लिए एक तोल थी जो २५ सेर की होती थी इसे टाँक कहते थे। जितने टाँक से धनुष की डोरी पूरी खिच जाती थी उतने टाँक का धनुष समझा जाता था। कोई धनुष सवा टाँक, कोई डेढ़ टाँक कोई दो टाँक और कोई तीन टाँक का होता है। पाठान्तर-नाकहिं नाक=नाके-नाके, मुख्य-मुख्य स्थान।

अर्थ—प्रात:काल हुआ, सूर्य (अलाउद्दीन) फिर चढ़ आया। अपनी सहस्र कलाओं से अर्थात् पूरी शक्ति से उसने आक्रमण किया। जोर का धावा हुआ और गढ़ पर घेरा डाल दिया। क्रुद्ध होकर सारी सेना चारों ओर लग गयी। एक-एक बार में करोड़ बाण छूट रहे थे, इतनी शक्ति से चलाये जाते हैं कि जहाँ लगते हैं वहाँ पर टक्कर खाकर पिछले छोर तक फट जाते हैं। जैसे घने चित्तौड़ के सैनिकों को किले पर वे देखते हैं वैसे ही किला बाणों से बिंध कर टूटा हुआ दिखाई पड़ने लगा। बाणों से बिंध कर किला ऐसा लगने लगा जैसे शाही नाम का जानवर हो। या यह गरुड़ पक्षी है जिसने पंख फुला रखे हैं। तुर्क की जाति अत्यन्त विकट है। वे हठपूर्वक रण करते हैं उसी से उसका मुख यश से लाल होता है। बाण के लगने पर भी लोग पीठ नहीं दिखाते। कदम पर कदम बढ़ाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। चार पहर दिन बीत गया, पर किला ऐसा विकट था, कि टूट न सका, बल्कि वह तो दिन पर दिन इस प्रकार दृढ़ होता गया, जैसे धनुष एक-एक टांक प्रतिदिन बढ़ाने से अपनी दृढ़ता प्रकट करता है।

[५२५]

छेंका गढ़ जोरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरँग तेइँ दीन्हा ॥
गरगज बाँधि कमानै धरीं। चलहिं एक मुख दारू भरीं ॥

हबसी रूमी औ जो फिरंगी। बड़ बड़ गुनी औ तिन्ह के संगी ॥
जिन्ह के गोट जाहिं उपराहीं। जेहि ताकहिं तेहि चूकहिं नाहीं ॥
अस्ट धातु के गोला छूटहिं। गिरि पहार पब्बै सब फूटहिं ॥
एक बार सब छूटहिं गोला। गरजै गँगन धरति सब डोला ॥
फूटै कोट फूट जस सीसा। ओदरहिं बुरुज परहिं कौसीसा ॥

लंका रावट जसि भई, डाह परा गढ़ सोइ।
रावन लिखा जो जरैं कहँ, किमि अजरावर होइ ॥५१५॥

शब्दार्थ—खसिया मगर='खसिया' गढ़वाल में एक जंगली लड़ाकू जाति है और 'मगर' नेपाली जाति है। पाठान्तर-धुसि कै सरग। गरगज=किले के बाहर का कृत्रिम बुर्ज, जिस पर तोप चढ़ाई जाती थी और उससे किले पर गोलावारी की जाती थी। हबसी =हब्शी। फिरंगी=पुर्तगाली। गोट=गोले। ओदरहिं=ढह जाते हैं। कौसीसा= कपिशीर्षक, कंगूरा, पाठान्तर-जाहिं सब पीसा। अजरावर (अजरामर)=नाश न होने वाला।

अर्थ—अलाउद्दीन ने गढ़ को बड़े जोर से घेरा और उसने खसिया और मगर जाति की पहाड़ी जाति के लोगों को किले में सुरंग लगाने के काम पर लगाया। किले के सामने बुर्ज बना कर उसमें तोपें रखीं। उसके साथ हब्शी, रूमी और पुर्तगाल के बड़े-बड़े गुणी लोग थे। जिनके गोले ऊपर किले पर जाते हैं। वे गोले अचूक हैं, जहां निशाना लगाते हैं वह कभी नहीं चूकता। वे गोले अष्ट धातु के बने थे। पहाड़ और वज्र सभी उनके लगने पर टूट जाते हैं। एक बार सारे गोले छूट रहे हैं, आकाश में गर्ज होती है और सारी पृथ्वी डोल जाती है। किला इस प्रकार टूटता है जैसे शीशा टूटे, किले के बुर्ज ढह कर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और कंगूरे गिर जाते हैं। जैसे लंका जल कर काली हो गयी, उसी प्रकार चित्तौड़ गढ़ में भी आग लगी है। जब रावण (रत्नसेन) को जलना ही लिखा था तो अजर-अमर कैसे हो सकता है ?

[५२६]

राजा केरि लागि रहै ढोई। फूटै जहां सँवारहिं सोई ॥
बाँके पर सुठि बाँक करेई। रातिहि कोट चित्र कै लेई ॥
गाजै गँगन चढ़ै जस मेघा। बरिसहिं बज्र सिला को थेघा ॥
सौ सौ मन के बरिसहिं गोला। बरिसहिं तुपक तीर जस ओला ॥
जानहुँ परी सरग हुति गाजा। फाटै धरति आइ जहँ बाजा ॥
गरगज चूर चूर होइ परहीं। हस्ति घोर मानुस संघरहीं ॥
सबहिं कहा अब परलौ आवा। धरती सरग जूझ दुहुँ लावा ॥

अहुठौ बज्र जुरे सनमुख होइ, एक दंगवै† लागि।
जगत जरै चारिहुँ दिसि, को रे बुझावै आगि ॥५२६॥

शब्दार्थ—ढोई=मजदूरों के द्वारा चूना गारा आदि का ढोया जाना, पाठान्तर, राजभीर लागे गढ़ थवई। थेघा=टेक लेकर—पाठान्तर सीस को ठेला। अहुठौ=साढ़े तीन। दंगवै=राजा डंगब।

अर्थ—राजा ने अपने यहां काम लगा रखा है, मजदूर लोग ईंट, पत्थर, चूना, गारा आदि ढोते फिरते हैं और जहां-जहां किला टूटता है उसे ठीक करते जाते हैं। एक तो किला वैसे ही विकट था, उसे और विकट बनाते जाते हैं। रात्रि भर में सारे किले को कंगूरे आदि से पुनः सजाकर चित्र की तरह बना लेते हैं। किले पर इस प्रकार गरज होती है जैसे आकाश में बादल गरज रहे हों। ऊपर से शिला के रूप में वज्र बरसाते हैं। सौ-सौ मन के गोले गिराते हैं, तोप और तीर इस प्रकार बरसते हैं, जैसे ओले पड़ रहे हों। मानो स्वर्ग से बिजली गिर रही हो, जहां गोले गिरते हैं, पृथ्वी फट जाती हैं। तुर्कों के बनाये हुए परकोटे पर के बुर्ज टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, हाथी, घोड़े और मनुष्य सब मारे जाते हैं। सब ने कहा कि अब तो प्रलय होगी, क्योंकि पृथ्वी और आकाश दोनों युद्ध कर रहे हैं। अब तो मालूम होता है कि राजा डङ्गव रूपी रत्नसेन के लिए साढ़े तीनों वज्र इकट्ठे हो गये हैं और प्रलय का दिन लग गया है, अब तो सारा संसार चारों ओर से जलेगा, इस आग को अब कौन बुझाएगा ?

[५२७]

तबहूँ राजा हिएँ न हारा। राज पँवरि पर रचा अखारा॥
सौंहें साहि जहँ उतरा आछा। ऊपर नाच अखारा काछा॥
जंत्र पखाउझ आउझ बाजा। सुरमंडल रबाब भल साजा॥
बीन पिनाक कुमाइच कहे। बाजि अँबिरती अति गहगहे।
चंग उपंग नाच सुर तूरा। महुवरि बाज बंसि भल पूरा॥
डुरुक बाज डफ बाज गँभीरा। औ तेहि गोहन झाँझ मँजीरा॥
तंत बितंत सुभर सुर घनतारा। बाजहिं सबद होइ झनकारा॥

† डा० माताप्रसाद जी ने 'दंगवै' के स्थान पर 'दिन कोई' पाठ लिखा है। पद संख्या ५०८ में भी इसी प्रकार पाठ भेद माना है। डा० वासुदेव शरण के मत में 'दंगवै' ही फारसी लिपि में 'दिन कोई' लिखा और पढ़ा जा सकता था। 'दंगवै' पाठ ही अर्थ की दृष्टि से समीचीन है। राजा डङ्गव (दंगवै) की लड़ाई में साढ़े तीन वज्र इकट्ठे हो गये थे। (देखिये पद संख्या ३६१ का फ़ुट नोट)।

जस सिंगार मन मोहन, पातर नाँचहिं पाँच ।
पातसाहि गढ़ छेंका, राजा भूला नाँच ।। ५२७ ।।

शब्दार्थ—पखाउझ=पखावज, मृदंग । सुरमंडल, रबाव=बाजों के नाम हैं । कुमाइच=सारंगी बजाने की कमान । अँबिरती=अमृत के समान । चंग=बड़ी खंजरी । उपंग=एक बाजा । तूरा=तुरही । महुवरि=तुमड़ी । बंसि=वंशी । हुरुक=हुडुक, डमरू की शक्ल का बाजा । डफ=ढोल । गोहन=साथ । पातर=नर्तकियाँ ।

अर्थ—इतने पर भी राजा रत्नसेन हृदय से हारा नहीं, उसने तो राज-द्वार पर गाने-बजाने वालों का एक अखाड़ा खड़ा कर दिया । सामने ही जहाँ शाह अलाउद्दीन डेरा डाले था, ठीक उसी के ऊपर नाच का अखाड़ा जम गया । तरह-तरह के वाद्य-यन्त्र—पखावज सुरमंडल, रबाव, बीन, सारंगी बजाने की कमान तथा अन्य अमृत रस बरसाने वाले गहगहे बाजे, चंग, उपङ्ग, नागसुर, तुरही, तुमड़ी, वंशी, हुड़ुक, ढोल और उसी के साथ झाँझ और मंजीरा आदि अनेक ताँत वाले और बिना ताँत वाले बाजे बज उठे । घनघोर झनकार उनकी हुई । साथ ही अत्यन्त लुभावने वस्त्रों को पहन कर पांच नर्तकियाँ भी नाचने लगीं। उधर बादशाह ने गढ़ को घेर रखा था, इधर राजा नाच में भूला हुआ है ।

[५२८]

बीजानगर केर सब गुनी । करहिं अलाप बुद्धि चौगुनी ।।
प्रथम राग भैरौ तेन्ह कीन्हा । दोसरें माल कौस पुनि लीन्हा ।।
पुनि हिंडोल राग तिन्ह गाए । चौथे मेघ मलार सोहाए ।।
पुनि उन्ह सिरी राग भल किया । दीपक कीन्ह उठा बरि दिया ।।
छबउ राग गाएनि भल गुनी । औ गाएनि छत्तीस रागिनी ।।
ऊपर भई सो पातर नाँचहिं । तर भै तुरुक कमानहिं खाँचहिं ।।
सरस कंठ भल राग सुनावहिं । सबद देहिं मानहुँ सर लागहिं ।।

सुनि सुनि सीस धुनहिं सब, कर मलि मलि पछितांहि ।।
कब हम हाथ चढ़हिं ये पातरि, नैनन्ह के दुख जांहि ।।५२८।।

शब्दार्थ—भैरो=भैरव राग । मालकौस=मालकोस राग । सिरी=श्रीराग ।

अर्थ—बीजानगर के गुणी गवैये चौगुने अलाप ले रहे थे । सबसे पहले उन्होंने भैरव राग गाया, दूसरा राग मालकोस गाया । तीसरा राग हिंडोल और चौथा मेघमलार, पाँचवें उन्होंने श्रीराग किया और फिर दीपक राग के गाने से दीपक जल उठा । इस प्रकार छहों राग और छत्तीसों रागिनी उन गुणियों ने गाये । ऊपर होकर नर्तकियाँ नाच रही हैं और नीचे तुर्क लोग धनुष चला रहे हैं । वे सुरीले कंठ से सुन्दर राग गा रही हैं मानो बाण चला

रही हैं। उनके शब्दों को सुनकर सभी शिर धुनते हैं और हाथ मल-मलकर पछताते हैं कि कब हमारे हाथ ये नर्तकियाँ चढ़ेंगी और हमारे नेत्रों के दुख दूर होंगे।

इस पद के अनन्तर पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित ग्रन्थावली में एक पद यह है जिसे डा० माताप्रसाद जी गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं। पद में कोई पुनरुक्ति नहीं है केवल अन्य रागों के नाम गिनाये गये हैं। पद इस प्रकार है :—

छवौं राग गावहिं पातुरनी। औ पुनि छत्तीसौं रागिनी॥
औ कल्यान कान्हरा होई। राग विहाग केदारा सोई॥
परभाती होइ उठै बेगाला। आसावारी राग गुनमाला॥
धनासिरी औ सूहा कीन्हा। भएउ बिलावल, मारू लीन्हा॥
रामकली नट गौरी गाई। धुनि खंमाच सो राग सुनाई॥
साम गूजरी, पुनि भल भाई। सारंग औ बिभास मुँह आई॥
पुरबी, सिंधी, देश, बरारी। टोड़ी, गोंद सौं भई निरारी॥
सबै राग औ रागिनी, सुरै अलापहिं ऊँच।
तहाँ तीर कहँ पहुँचै, दिस्टि जहाँ न पहूँच॥

अर्थ—नर्तकियाँ छहों रागों और छत्तीस रागिनियों का गान कर रही थीं। उनके रागों में राग कल्याण, राग कान्हरा, राग विहाग, राग केदार, प्रभाती के पश्चात् राग बेगाल हुआ फिर असावरी और गुनकली गाई गई। फिर राग धनाश्री और राग सूहो गाये गए। बाद उन्होंने विलावल और राग मारू को लिया। फिर उन्होंने राग रामकली, राग नट, इसके और राग गौरी गाई, फिर खमाच राग को सुनाया। फिर श्याम गूजरी हुई, फिर सारङ्ग और विभास की बारी आई। फिर पूर्वी, सिंधी, देश, बरारी, टोडी, गौड़ सभी अलग-अलग गाई गयीं। इस प्रकार सभी रागों और रागिनियों को ऊँचे स्वर में अलाप-अलाप कर गाने लगीं, पर कवि कहता है कि इतने ऊंचे किले पर गा रही थीं जहाँ दृष्टि भी नहीं पहुँचती तो फिर अलाउद्दीन के सैनिकों के तीर कहां पहुँच सकते थे।

नोट—इस पद में जितने रागों का उल्लेख हुआ है, उतने राग जायसी के काल में प्रचलित नहीं हुए थे, अतः इस पद को प्रक्षिप्त मानना ही समीचीन है। फिर इस पद में लिखा है कि वहाँ तक दृष्टि नहीं पहुँचती, पर आने वाले पद में अलाउद्दीन की दृष्टि नर्तकी तक पहुँच भी गई।

[५२६]

पतुरिनि नाँचैं विहँ जो पीठी। परिगै सोहँ साहि कै डीठी॥
देखत साहि सिंघासन गूँजा। कब लग मिरिग चन्द रथ भूँजा॥
छांड़हु बान जाहिं उपराहीं। गरब केर सिर सदा तराहीं॥
बोलत बान लाख भा ऊँचा। कोइ सो कोट कोइ पँवरि पहूँचा॥

मलिक जहाँगिर कनउज राजा। श्रोहि क बान पातरि कहँ बाजा ॥
बाजा बान, जंघ जस नाँचा। जिउ गा सरग, परा भुइँ साँचा ॥
उदसा नाँच, नचनिया मारा। रहसे तुरुक बाजि गए तारा ॥

जो गढ़ साजा लाख दस, कोटि सँवारहिं कोट।
पातसाहि जब चाहै, बचहि न कौनिहु श्रोट ॥५२९॥

शब्दार्थ—भूँजा=भोग करेगा। बाजा=लगा। उदसा=उखड़ गया, भंग हो गया। रहसे=हँसे। तारा=ताली।

अर्थ—नर्तकियाँ पीठ दिये हुए नाच रही थीं। शाह अलाउद्दीन की दृष्टि उन तक पहुँच गई। उन्हें देखते शाह अपने सिंहासन पर गरज उठा और कहा कि देखता हूँ कि कब तक मृग (नर्तकी) चन्द्र (रत्नसेन) रथ का भोग करता है। उसने कहा कि बाण छोड़ो जो ऊपर जायँ और घमंडी का सिर नीचा हो जाय। बोलते ही लाख बाण ऊपर चले, उनमें से कोई तो कोट तक पहुँचे और कुछ पीड़ी तक ही रह गए। कन्नौज का बादशाह मलिक जहाँगीर था, उसका बाण नर्तकी को लग गया। बाण के लगने से नर्तकी की जाँघ कट गई और नाच उठी। उसका जीव तो स्वर्ग लोक को गया, पर उसकी टांग जमीन पर गिरी। नाच भंग हो गया और नर्तकी मारी गयी। यह देख कर मुसलमान हँस पड़े और तालियां बज उठीं। जिस गढ़ को दस लाख लोगों से सजाया था और करोड़ों तरह से सजाया था, वह भी जब बादशाह चाहेगा तो किसी प्रकार बच नहीं सकता।

[५३०]

राजें पँवरि अकास चलाई। परा बाँध चहुँ फेर अलाई ॥
सेतबंध जस राघो बाँधा। परा फेरु, भुइँ भारु न काँधा ॥
हनिवँत होइ सब लाग गुहारा। आवहिं चहुँ दिसि केर पहारा ॥
सेत फटिक सब लागे गढ़ा। बाँध उठाइ चहूँ गढ़ मढ़ा ॥
खँड ऊपर खँड होंहि पटाऊ। चित्र अनेग, अनेग कटाऊ ॥
सीढ़ी होति जाहिं बहु भाँति। जहाँ चढ़हि हस्तिन्ह कै पाँती ॥
भा गरगज अस कहत न आवा। जनहुँ उठाइ गँगन कहँ लावा ॥

राहु लाग जस चाँदहि, गढ़हि लाग तस बाँध।
सब दर लीलि ठाढ़ भा, रहा जाइ गढ़ काँध ॥ ५३० ॥

शब्दार्थ—चलाई-पाठान्तर-चढ़ाई। अलाई-अलाउद्दीन का-पाठान्तर-लगाई। गुहारा=बुलाया। सब दर लीलि ठाढ़ भा, रहा जाइ गढ़ काँध=पाठान्तर-सरब आगि अस बरि रहा, ठाँव जाइ को काँध। दर=दल, सेना। लीलि=निगल कर।

अर्थ—राजा ने अपनी पौड़ी आकाश तक ऊंची कर रखी थी, इसलिए अलाउद्दीन ने उसके चारों ओर बाँध बाँधना शुरू कर दिया। जैसे रामचन्द्र जी ने सेतुबन्ध बाँधा था, उसी प्रकार बाँध हाथों हाथ बनने लगा। उसके भार को पृथ्वी न सहन कर सकती थी। हनूमान् ने जैसे सभी वानरों को बुलाया तो सब चारों ओर के पहाड़ों को लाने लगे थे, उसी प्रकार यहाँ भी चारों ओर से पत्थर लाये गए। संगमरमर गढ़े जाने लगे। यह बांध उठवा कर गढ़ को चारों ओर से मढ़ दिया। खंड के ऊपर खंड पटने लगे और उनके बीच में अनेक प्रकार के चित्र भी बनाए गये। अनेक प्रकार की सीढ़ियाँ भी बन रही थीं, जिन पर हाथियों की पंक्तियों के चित्र बने हुए थे। उस बाँध से गरगज बनवाया कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, मानो आकाश ही को उठा कर लाया गया है। जैसे चन्द्रमा को राहु छिपा लेता है उसी प्रकार बाँध ने किले को छिपा लिया। वह बाँध सारे दल को गढ़ के परकोटे तक कंधे में कंधा मिला कर जा पहुंचा।

[५३१]

राजसभा सब मतें बईठी। देखि न जाइ, मंदि भै डीठी॥
उठा बाँध, तस सब गड़ बाँधा। कीजै वेगि भार जस काँधा॥
उपजै आगि आगि जौं बोई। अब मत किएँ आन नहिं होई॥
भा तेवहार जो चाँचरि जोरी। खेलि फागु अब लाइअ होरी॥
समदहु फागु मेलि सिर धूरी। कीन्ह जो साका चाहिअ पूरी॥
चंदन अगर मलैगिरि काढ़ा। घर घर कीन्ह सरा रचि ठाढ़ा॥
जौहर कहँ साजा रनिवाँसू। जेहि सत हिएँ कहाँ तेहि आँसू॥

पुरुखन्ह खरग सँभारे, चन्दन घेवरे देह।
मेहरिन्ह सेन्दुर मेला, चर्हांहि भई जरि खेह॥ ५३१॥

शब्दार्थ—मतें=मन्त्रणा। साका=कीर्ति। सरा=चिता। घेवरे=लगाया। मेहरिन्ह=पत्नियों ने।

अर्थ—सारी राज सभा सलाह के लिए इकट्ठी हुई। किसी को आगे की दृष्टि सूझती नहीं, सबकी मति मन्द हो गयी थी। बांध उस प्रकार उठ गया कि सारा किला बंध गया। उन्होंने कहा कि अब तुरन्त वैसा करना चाहिए जैसा कि भार ले रखा है। जब अग्नि बोयेंगे तो अग्नि अवश्य उत्पन्न होगी, अब अनेक मत करने से बात और हो जायगी। पर्व आने पर चांचरि जोड़ कर जो स्वांग किया है तो अब होली जला कर फाग भी खेलना चाहिए—भाव यह कि जब अलाउद्दीन से युद्ध ठाना है तो अब जौहर के रूप में सबको भस्म भी होना पड़ेगा। अब आनन्द के साथ सिर में धूलि डाल कर मृत्यु का फाग खेलो। जो कीर्ति स्थापित की है, उसे पूरा भी करना चाहिए। चन्दन, अगर और मलयगिरि को निकलवाया

और घर-घर में चिताएँ बनवाई। जौहर के लिए रनिवास को तैयार किया, जिस स्त्री के हृदय में सतीत्व है उसे जौहर की तैयारी में आँसू कहाँ आ सकते हैं। पुरुषों ने तलवारें सम्भालीं, चन्दन और रोली शरीर में मली। पत्नियों ने सिन्दूर लगाये और जल कर राख होने की अभिलाषा से युक्त हो गईं।

[५३२]

आठ बरिस गढ़ छेंका अहा। धनि सुलतान कि राजा महा॥
आइ साहि अँबराँउ जो लाए। फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए॥
हठि चूरौं तौ जौहर होई। पदुमिनि पाव हिएँ मति सोई॥
एहि बिधि ढीलि दीन्ह तब ताँई। ढीलो की अरदासैं आई॥
पछिउँ हरेव दीन्ह जौ पीठी। सो अब चढा सौहँ कै डीठी॥
जिन्ह भुइँ माँथ गँगन तिन्ह लागा। थाने उठे, आउ सब भागा॥
उहाँ साह चितउर गढ छावा। इहाँ देस सब होइ परावा॥
जेहि-जेहि पंथ न तिनु परत, बाढ़े बैरि बबूर।
निसि अँधियारि बिहाइ तब, बेगि उठै जब सूर॥ ५३२॥

शब्दार्थ—अंबराउ=अमराइयां, आम के पौधे। ढीलि=ढीलाई। ढीली=दिल्ली। अरदासैं=फा० अर्ज़दाश्त, विनती। हरेव=हिरात देश के रहने वाले।

अर्थ—आठ* वर्ष तक किले का घेरा पड़ा रहा। कवि कहता है कि सुलतान को धन्य कहें कि राजा को। शाह के आने पर जो आम के पौधे लगाये गए थे वे फले और झरे, पर गढ़ पर कब्जा न हो सका। सुलतान ने सोचा कि यदि मैं हठ करके किले को नष्ट करूँगा तो स्त्रियाँ जौहर कर लगी और पद्मावती का पाना हृदय में ही रह जायगा। इस प्रकार उसने युद्ध में ढिलाई कर दी। इतने में दिल्ली से अनेक विनतियाँ आईं कि हिरात देश के जिन बादशाहों ने पीछे हार मान ली थी, अब वे सामने दृष्टि कर चढ़ रहे हैं। जिनका मस्तक जमीन पर था, अब उनका मस्तक आसमान पर है। स्थान-स्थान पर जो शाह की चौकियाँ थीं, वे अब उठ कर भाग रही हैं। वहाँ शाह चित्तौड़ गढ़ पर छाया है, यहाँ देश में भगदड़ पड़ रही है जिस-जिस रास्ते में तिनका भी न था, वहाँ अब बेर और बबूल बढ़ रहे हैं—अर्थात् जहां पूर्ण शान्ति थी, वहाँ शत्रु खड़े हो रहे हैं। यह अन्धेरी रात्रि तभी दूर होगी जब सूर्य उदय होगा—अर्थात् जब हे अलाउद्दीन! तू आयेगा, तभी दिल्ली राज्य की अशान्तियाँ दूर होंगी।

* चित्तौड़ का घेरा छः मास और सात दिन तक रहा था पर कवि-गाथा में जायस ने आठ वर्ष लिखा है।

४४. राजा-बादशाह-मेल-खराड

[५३३]

सुना साहि अरदासि जो पढ़ी। चिंता आनि आन कछु चढ़ी ॥
तब अगुमन मन चितै कोई। जो आपन चिंता कछु होई ॥
मन झूठा, जिउ हाथ हराएँ। चिंता एक भए दुइ ठाएँ ॥
गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटा। होइ मेराउ, कि सो गढ़ टूटा ॥
पाहन कर रिपु पाहन हीरा। बेधौं रतन पान दै बीरा ॥
सरजा सेंती कहा यह भेऊ। पलटि जाहि अब मानै सेऊ ॥
कहु तोसौं न पदुमिनि लेऊँ। चूरा कीन्ह छाँड़ि गढ़ देऊँ ॥

आपन देस खाहि भा निस्चल, औरु चँदेरी लेहि ॥
समदन समुँद जो कीन्ह तोहि, ते पाँचौं नग देहि ॥ ५३३ ॥

शब्दार्थ—हराए-पाठान्तर-पराए। ठाएँ=जगह। सेंती=से। सेऊ=सेवा। चूरा=तोड़ा हुआ। खाहि=खाए। निस्चल=निश्चिन्त-पाठान्तर-सब। समदन=भेंट।

अर्थ—जब शाह अलाउद्दीन ने विनती को सुना तो उसे और चिन्ता चढ़ गयी। कवि कहता है कि आदमी आगे की चिन्ता तब करता है, जब उसे अपनी कोई चिन्ता नहीं होती। मन की इच्छाएँ झूठी हो जाती हैं, क्योंकि जीव तो हार जाता है। एक चिन्ता हुई कि चित्त दो जगह हो गया। सोचने लगा कि गढ़ से उलझ गया हूँ इससे छूट तभी हो सकती है, जब कि या तो गढ़ टूट जाय या राजा से मेल हो जाय। पत्थर का शत्रु तो हीरा पत्थर ही होता है—अर्थात् हीरा हीरे से ही कटता है, अतः रत्नसेन को पान का बीड़ा देकर फँसाऊँगा। उसने सरजा से यह भेद कहा और कहा कि तुम लौट कर रत्नसेन के पास जाओ और उसकी सेवा स्वीकार कर लो। उसे कह दो कि हम तुम से पद्मिनी नहीं माँगते, तोड़े हुए तुम्हारे गढ़ को भी हम छोड़ देंगे। तुम अपने देश में निश्चिन्त खाओ और चन्देरी को भी लो, समुद्र ने जो तुम्हें भेंट में पांच रत्न दिये हैं, उन्हीं को मुझे दे दो।

[५३४]

सरजा पलटि सिंघ चढ़ि गाजा। अग्याँ जाइ कही जहँ राजा ॥
अबहूँ हिएँ समुझु रे राजा। पातसाहि सौं जूझ न छाजा ॥
जाकरि धरी पिरिथिमी सोई। चहै त मारै औ जिउ देई ॥
पींजर महँ तूँ कीन्ह परेवा। गढ़पति सो बांचै कै सेवा ॥
जब लगि जीभि अहै मुख तोरें। पँवरि उघेलु बिनौ कर जोरें ॥

पुनि जौं जीभ पकरि जिउ लेई। को खोलै, को बोलै देई ॥
आगें जस हमीर मत मंता। जौं तस करसि तोर भावंता ॥
देखु कालिह गढ़ टूटिहि, राजा ओही कर होई ॥
करु सेवा सिर नाइ कै, घर न घालु बुधि खोइ ॥५३४॥

शब्दार्थ—सिंघ चढ़ि=सरजा की सवारी सिंह थी, पीछे पदसंख्या ४८८ में इसका उल्लेख हुआ है। बिनौ=विनय। भावंता=इच्छा। कालिह=कल। घर न घालु=घर को नष्ट न करो।

अर्थ—सरजा लौट कर सिंह पर चढ़ा और गर्जा, उसने जाकर अलाउद्दीन की आज्ञा राजा से कही। हे राजा! अब भी तू अपने हृदय में समझ ले, बादशाह से युद्ध करना तुम्हें शोभा नहीं देता। जिसने सारी पृथ्वी को टेक रक्खा है, वह चाहे तो मार दे और चाहे तो जान छोड़ दे। उसने तुझे पिंजड़े का पक्षी बना रक्खा है, हे गढ़पति! तू तो सेवा करके ही बच सकता है। जब तक तेरे मुख में जीभ है, तो पौड़ियों को खोलो और हाथ जोड़ कर बादशाह से विनती करो। फिर जब जीभ पकड़ कर तेरी जान ही ले लेगा, तब कौन तुझे बोलने देगा। जैसा पहले हम्मीरदेव ने किया, भात्र यह कि उसने युद्ध में प्राण दिया और स्त्रियों ने जौहर किया, वैसे यदि तू करना चाहता है, तो तेरी इच्छा है। देखो कल ही किला टूट जायगा और तब उसी का राज्य होगा। इसलिए तुम सिर नवा कर उसकी सेवा करो, अपनी बुद्धि को खोकर अपने घर को न नष्ट करो।

[५३५]

सरजा जस हमीर मन थाका। और निबाहसि आपन साका ॥
ओहि अस हौं सकबंधी नाहीं। हौं सो भोज बिक्रम उपराहीं ॥
बरिस साठि लहि अन्न न खाँगा। पानि पहार चुवै बिनु माँगा ॥
तेह ऊपर जौं पै गढ़ टूटा। सत सकबंधी केर न छूटा ॥
सोरह लाख कुँवर हहिं मोरे। परहिं पतिंग जस दीपक अँजोरे ॥
तेहि दिन चाँचरि चाहौं जोरी। समदौं फागु लाइ कै होरी ॥
जो दै गिरिहिनि राखत जीऊ। सो कस आहि निपुंसिक पीऊ ॥

अब हौं जौहर साजि कै, कीन्ह चहौं उजियार।
फागु गएँ होरी बुझै, कोउ समेंटहु छार ॥५३५॥

शब्दार्थ—थाका=निश्चय किया-पाठान्तर-अस ताका। सकबन्धी=कीर्ति बांधने वाला। खाँगा=कम होना। पानि पहार चुवै बिन मांगा=तबकाते-अकबरी में उल्लेख है कि चित्तौड़ के दुर्ग में पानी का अक्षय स्रोत था। गिरिहिनि=गृहिणी, पत्नी।

अर्थ—राजा ने उत्तर दिया कि हे सरजा! जैसा हमीर ने मन में निश्चय किया,

उसे उसने निर्वाह किया और अपना यश स्थापित कर गया। मैं उसके समान तो यशस्वी नहीं हूँ, पर भोज और विक्रम से बढ़ कर हूं। मेरे किले में साठ वर्ष तक तो अन्न कम न होगा, पानी बिना माँगे पहाड़ से झरता रहता है, इस पर भी यदि हमारा किला टूट गया, तो भी मुझ जैसे यश की रक्षा करने वाले का सत तो नहीं टूट सकता। हमारे यहाँ सोलह लाख राजकुमार हैं, वे दीपक के पतंगे की भांति बलिदान हो जायेंगे। उस दिन चाँचरि जोड़ना चाहता हूँ, प्रसन्नता से फाग के साथ मृत्यु की होली जलाना चाहता हूं। जो व्यक्ति अपनी पत्नी को देकर अपनी जान बचाता है, वह पति नपुंसक है और पति होने के योग्य नहीं है। अब मैं जौहर साज कर उसमें चिता जलाकर उजेला करना चाहता हूं, फाग के हो जाने पर होली बुझ जायगी, फिर जो चाहे उसकी राख समेट ले। भाव यह कि जौहर में पद्मावती जब भस्म हो जायगी, तब अलाउद्दीन चाहे तो उसकी राख ले ले।

[५३६]

अनु राजा सो जरै निआना। पातसाहि कै सेव न माना॥
बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजौना। अंत भए लंका के रवना।
जेहि दिन ओइँ छेंकी गढ़ घाटी। भएउ अन्न तेहि दिन सब माँटी॥
तूँ जानहि जल चुवै पहारू। सो रोवै मन सँवरि सँघारू॥
सोतहि सोत अँस गढ़ रोवा। कस होइहि जौं होइहि ढोवा॥
सँवरि पहार सो ढारै आँसू। पै तोहि सूझ न आपन नासू॥
आजु काल्हि चाहैं गढ़ टूटा। अबहुँ मानु जौं चाहसि छूटा॥
हहिं जो पाँच नग तो सिउँ, लै पाँचौं करु भेंट।
मकु सो एक गुन मानै, सब औगुन धरि मेंट॥५३६॥

शब्दार्थ—अनु=फिर। निआना=निदाना, अन्त। सजौना=सजाया हुआ। सँघारू=संहार, नाश। ढोवा=लूट। सिउँ=साथ, से। मकु=शायद।

अर्थ—सरजा ने उत्तर दिया कि हे राजा! यदि तू शाह की सेवा नहीं मानेगा तो अन्त में नष्ट हो जायगा। बहुत से राजाओं ने इसी प्रकार गढ़ को सजाया था, पर अन्त में उनका वही हाल हुआ, जो लंका के रावण का हुआ था। जिस दिन वह गढ़ की घाटियों को घेरेगा, उस दिन सारा खाना-पीना मिट्टी हो जायगा। तू समझता है कि पहाड़ जल गिराता है पर वह पहाड़ तो संहार का स्मरण कर रो रहा है। सोते-सोते से गढ़ रो रहा है कि जिस दिन लूट होगी, उस दिन क्या होगा? पहाड़ भी दुर्दिन की याद करके आँसू गिरा रहा है, पर तुझे अपना नाश भी नहीं दिखाई पड़ रहा है। आज-कल में ही किला टूटना चाहता है, अब भी मान जाओ, यदि छूटना चाहते हो तो तेरे पास जो पांच रत्न हैं, उनके साथ राजा से मिलो, शायद एक ही गुण पर मान जाय और सब अवगुणों को भुला दे।

[५३७]

अनु सरजा को मेंटै पारा। पातसाहि बड़ आहि हमारा ॥
औगुन मेंटि सकै पुनि सोई। औरु जो कीन्ह चहै, सो होई ॥
नग पाँचों औ देउँ भँडारा। इसकन्दर सौं बाँचै दारा ॥
जौं यह बचन तौ माँथें मोरें। सेवा करो ठाढ़ कर जोरें ॥
पै बिनु सपत न अस मन माना। सपत क बोल बचा परवाना ॥
नाइत माँझ भँवर हति गोवाँ। सरजें कहा मंद यहु जीवाँ ॥
खंभ जो गरुव लेहिं जग भारू। ताकर बोल न टरै पहारू ॥

सरजें सपत कीन्ह छर, बैनन्हि मीठै मीठ।
राजा कर मन माना, मानी तुरित बसीठि ॥५३७॥

शब्दार्थ—पारा=सकता है। भंडारा=भोज। दारा=फ़ारस का राजा दारा सिकन्दर से हारा था। यहाँ दारा रूपी रत्नसेन और सिकन्दर रूपी अलाउद्दीन है। अलाउद्दीन की उपाधि भी 'सिकन्दर-सानी' थी। दारा का अर्थ स्त्री भी है। दूसरे अर्थ से उसका तात्पर्य यह कि यदि पद्मावती बच जाय तो मैं पांच रत्न देने को तैयार हूँ। बचा=वचन। परवाना=प्रामाणिक। नाइत=समुद्र मार्ग से व्यापार करने वाला, समुद्री डाकू व्यापारियों को छल के बीच समुद्र में ले जाते थे और उनकी गर्दन काट कर उन्हें लूट लेते थे। इसी की लोकोक्ति हो गई थी। तुरित=तुरंत। बसीठ=सुलह का संदेश से जाने वाला दूत।

अर्थ—राजा ने कहा कि हे सरजा! बादशाह बहुत बड़ा है, उसकी आज्ञा को कौन मेट सकता है। वह तो सभी अवगुणों को मेंट सकता है और जो चाहे कर सकता है। मैं पाँचों रत्नों को दे दूंगा और प्रीतिभोज दूंगा यदि सिकन्दर (अलाउद्दीन) से दारा (मैं) बच जाऊं। यदि यह बात सत्य है तो यह मुझे सिर माथे पर स्वीकृत होगी। हाथ जोड़कर खड़े-खड़े मैं सेवा करूंगा। पर बिना शपथ के मेरा मन नहीं मानता, शपथ की बात प्रामाणिक होती है। सरजा ने कहा कि समुद्री व्यापारी को बीच भँवर में ले जाकर मार देना तो बहुत नीच जीवों का काम है। अलाउद्दीन तो संसार का खम्भा है, गम्भीरता के कारण उसने सारे संसार का भार उठाया है। उसकी बात पहाड़ के समान अटल है।

सरजा ने मीठे-मीठे वचन से छलपूर्वक शपथ कर ली: इससे राजा का मन मान गया और उसने तुरन्त ही सुलह का संदेश ले जाने वाला दूत भेजना स्वीकार कर लिया।

[५३८]

हंस कनक पिंजर हुति आना। औ अंब्रित नग परस पखाना ॥
औ सोनहा सोने की डाँड़ी। सारदूर रूपे की काँड़ी ॥

बसिठि दीन्ह सरजा लै आए। पातसाहि पहँ आनि मिलाए ॥
ए जग सूर पुहुमि उजियारे। बिनती करहिं काग मसि कारे ॥
बड़ परताप तोर जग तपा। नवौ खंड तोहि न छपा ॥
कोह छोह दूनौ तोहि पाहाँ। मारसि धूप, जियावसि छाहाँ ॥
जों मन सुरुज चाँद सौ रूसा। गहन गरासा, परा मँजूसा ॥

भोर होइ जौं लागै, उठहिं रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैनि कै, कागा काँय अभाग ॥५३८॥

शब्दार्थ—हुति=से । आना=लाया । परस पखाना=पारस पत्थर। डाँड़ी=अड्डा। काँड़ो=पिंजरा। बसिठि=दूत। गहन गरासा=ग्रहण लग गया। मँजूसा=झाबा। काग=कौवा। यहाँ काग से तात्पर्य हिन्दू राजाओं से है जो शाह के प्रताप के सम्मुख भी काँव-काँव करते हैं और विरोध रखते हैं।

अर्थ—राजा हंस को सोने के पिंजड़े समेत ले आया। फिर अमृत, पारस पत्थर, सोहना पक्षी जो पिंजरे में सोने के अड्डे पर बैठा था, शार्दूल जो रूपे के पिंजरे में था, ये सभी लाये गये। एक दूत दिया जो सरजा के साथ ये पाँचों रत्न ले आया और इस सरजा ने बादशाह से उसे मिला दिया। सरजा ने शाह से कहा कि हे संसार में उजेला करके वाले सूर्य, काले कौए भी तुमसे बिनती करते हैं। तेरा प्रभाव संसार में प्रकाशित है। नवों खण्ड भूमंडल तुमसे छिपा नहीं है। तेरे पास क्रोध और दया दोनों हैं, धूप से मार सकते हो और छाया देकर जिला भी सकते हो। जब सूर्य (अलाउद्दीन) चन्द्रमा (रत्नसेन) से रूठ गया तो उसके ऊपर ग्रहण लग गया और उसे इस प्रकार घेरे के भीतर बन्द कर दिया जैसे किसी को झाबे में बन्द कर दें।

प्रातः काल होते समय कौए चिल्ला उठते हैं, कवि कल्पना करता है कि वे इसलिए चिल्लाते हैं कि रात की तो सारी कालिमा छूट रही है, कौए ही इतने अभागे हैं कि इनकी कालिमा नहीं छूट पाती। भाव यह कि तू चाहे तो रत्नसेन पर दया कर सकता है। पर दुःख है कि तू उस पर कृपा नहीं करता।

[५३९]

कै बिनती अग्याँ असि पाई। कागहु सैं आपुहि मसि लाई ॥
पहिलें धनुक नवै जब लागे। काग न नए, देखि सर भागे ॥
अबहूँ तेहि सर सौंहँ न होहीं। देखहिं धनुक चलहिं फिरि ओहीं ॥
तिन्ह कागन्ह कै कौनु बसीठी। जो मुख फेरि चलहि दै पीठी ॥
जौं ओहि सर सौं होत संग्रामा। कत बग सेत होत ओइ स्यामा ॥
करहिं न आपन उज्जर केसा। फिरि फिरि कहहिं पराव सँदेसा ॥
काग नाग एइ दूनौ बाँके। अपने चलत स्याम भै आँके ॥

अब कैसेहु मसि जाइ न मेंटी, भेजो स्याम ओइ अंक ।
सहस बार जौं धोवहु, तबहुँ गयंदहि पंक ॥५३९॥

शब्दार्थ—नए-पाठान्तर--टिकै । सर=शर, बाण । ओही--पाठान्तर त्योंही । बसीठी=दूत । अपने चलन=अपने कर्म से ही । आँके=रंग के । भेजो श्याम ओइ अंक—पाठान्तर-भएहु साम तिन्ह अङ्ग ।

अर्थ—इनके विनती करने के पश्चात् शाह अलाउद्दीन की आज्ञा इस प्रकार हुई कि कौओं ने स्वयं ही स्याही लेकर अपने लगा ली । पहले जब कोई धनुष उठाने लगता था, कौआ पहले से ही बाण को देखते ही भाग निकलता था, अब भी उस बाण के सामने कौआ नहीं होता, धनुष के देखते ही वह लौट कर चल निकलता है । ऐसे कौओं का दूत भेजना किस काम का जो मुँह मोड़ कर पीठ देकर चल देते हैं । जो उस बाण से संग्राम करता तो वह बगले के समान श्वेत होता । काला भला क्यों होता ? कौआ स्वयं अपने केशों को तो सफेद कर नहीं सकता, घूम-घूम कर सूर्य से भागने का सन्देशा कहता फिरता है । कौआ और साँप दोनों टेढ़े हैं, अपने चलने से वे काले बने हुए हैं । अब उनकी कालिमा किसी प्रकार नहीं मेटी जा सकती । हज़ार बार भी धोएं फिर भी हाथी कीचड़ ही अपने शरीर पर लगाएगा ।

नोट—यहाँ पर कौए में जयन्त की व्यंजना है--रामचन्द्र जी ने जयन्त (कौए) पर बाण छोड़ा था, वह भाग चला था और सारी दुनिया में भागता रहा । यहाँ कौए की कालिमा से अलाउद्दीन का तात्पर्य यह है कि जो राजा उसकी अधीनता स्वीकार नहीं करते, वे दुखी हैं पर जिन्होंने स्वीकार कर ली उनमें सौख्य का प्रकाश है, वे बगले की भाँति श्वेत हैं ।

[५४०]

अब सेवाँ जौं आइ जोहारै । अबहूँ देखौं सेत कि कारै ॥
कहहु जाइ जौं साँच, न डरना । जहवाँ सरन नाहिं तहँ मरना ॥
कालिह आव गढ़ ऊपर भानू । जौं रे धनुक, सौंहँ हिय बानू ॥
बसिठन्ह पान मया के पाए । लीन्ह पान, राजा पहँ आए ॥
जस हम भेंट कीन्ह गा कोहू । सेवा महँ पिरीति औ छोहू ॥
कालिह साहि गढ़ देखै आवा । सेवा करहु जैस मन भावा ॥
गुन सौं चलै सो बोहित बोझा । जहँवाँ धनुक बान तहँ सोझा ॥
भा आयसु राजा कर, बेगिहि करहु रसोइ ।
तस सुसार रस मेरवहु, जेंहि रे प्रीति रस होइ ॥ ५४० ॥

अलंकार—दृष्टान्त

शब्दार्थ—जहवां=जहाँ । धनुक=तना हुआ, टेढ़ापन । पान=विदाई सूचक पान ।

कोहू=क्रोध। गुन=गुण, रस्सी। सोझा=सीधा। सुसार=रसोई-पाठान्तर सुरस। मेरवहु =मिलाओ।

अर्थ—अलाउद्दीन दूत से कहता कि अब जो वह आकर आधीनता स्वीकार करता है, तो अब भी मैं देखता हूं कि वह सफेद है या काला, अर्थात् वह सुखी होता है या दुखी। उससे जाकर तुम कहो कि यदि उसमें सचाई है, तो डरने की कोई बात नहीं—जहाँ आदमी शरण लेता है, वहां उसको मरण नहीं होता। कल किले पर सूर्य (मैं, अलाउद्दीन) आएगा, पर याद रखे कि यदि उसमें किसी प्रकार टेढ़ापन होगा, तो छाती के सामने ही बाण चल जायगा। इसके बाद दूतों को विदाई के हेतु कृपा के पान दिए गए, उन लोगों ने पान लिया और राजा रत्नसेन के पास आ गए। इन लोगों ने राजा से कहा कि जैसे ही हमने शाह से भेंट की, उसका क्रोध दूर हो गया। सेवा में प्रीति और दया दोनों प्राप्त करने की शक्ति होती है। कल शाह गढ़ देखने आयेगा, जैसी आपकी इच्छा हो, उसकी सेवा कर सकते हो। रस्सी से बोझ भरी नाव भी खींचीं जाती है, इसी प्रकार गुण से शाह की कृपा का बेड़ा प्राप्त हो सकता है। पर यदि धनुष का टेढ़ापन है तो साथ ही उसका सीधा बाण भी है। इस बात को सुन कर राजा की आज्ञा हुई कि शीघ्र ही रसोई तैयार कराई जाय। ऐसा सरस रस उस भोजन में मिलाया जाय कि जिससे प्रीति का रस उसमें उत्पन्न हो।

---

४५. बादशाह-भोज-खंड

[५४१]

छागर मेंढा वड़ श्रौ छोटे। धरि धरि श्राने जहँ लगि मोटे ।।
हरिन रोझ लगुना बन बसे। चीतर गौन झाँख श्रौ ससे ।।
तीतर बटई लवा न बाँचे। सारस कूँज पुछारि जो नाँचे ।।
धरे परेवा पंडुक हेरो। खीहा गडुरू उसर बगेरी ।।
हारिल चरज श्राइ बँदि परे। बन कुकुटी जल कुकुटी धरे ।।
चकवा चकवी कैंब पिदारे। नकटा लेदी सोन सिलारे ।।
मोंट बड़े सब टोइ टोइ धरे। उबरे दुबरे खुरुक न चरे ।।

कंठ परी जब छूरी, रकत ढरा होइ श्राँसु।
कै श्रापन तन पोखा, भा सो परावा माँसु ।।५४१।।

शब्दार्थ—छागर=बकरा। मेंढ़ा=भेड़ा। रोझ=नील गाय। लगुना=पाढ़ा हिरन। चीतर=चित्र मृग। गौन=एक प्रकार का बारहसिंघा। झांख=हिरणों की किस्म। ससे=खरगोश। बटई=बटेर। कूँज=क्रौंच पक्षी। खीहा—पाठान्तर खेहा (डा० वासुदेव शरण अग्रवाल)=एक प्रकार का तीतर। गडुरु=बटेर जाति का एक पक्षी। उसरबगेरी=एक भूरी चिड़िया जो ऊसर में छिपी रहती है। चरज=सोहन नामक एक बड़ी चिड़िया। कैंब=जलमोहरी नामक चिड़िया। पुछारि=मोर। बाँचे=बचे। टोइ-टोइ=खोज-खोज कर। खुरुक=चिंता।

अर्थ—इस पद्य में पशु-पक्षियों के नाम गिनाए गये हैं जो माँसाहार के लिए पकड़वाये गये—बकरे, भेड़े, छोटे-बड़े जहाँ जैसे मिले, पकड़ कर मँगवाये गए। हिरन, नीलगाय, लगुना, चित्र मृग, गौना, झांख, खरगोश, तीतर, बटेर, लवा, सारस, क्रौंच, मोर, कबूतर, पंडुक, खीहा, कडुरू, उसरबगेरी, हारिल, चरज, वन की मुर्गाबियां, जल की मुर्गाबियां, चकवा, चकई, कैंच, पिदारे, नकटा, लेदी, सोन, सिलारे आदि सभी पशु-पक्षी पकड़वाए गए। सभी मोटे पशु-पक्षी पकड़े गए, पर जो दुबले-पतले थे, उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी, वे निश्चिन्त चर रहे थे। जब इन पकड़े हुए जीवों के कंठ पर छुरी चली तो खून के आंसू बह निकले। कवि कहता है कि पराए मांस से अपने शरीर के पालने से भला क्या लाभ ?

[५४२]

धरे मंछ पढ़िना औ रोहू । धीमर मारत करै न छोहू ॥
संघ सुगंध धरे जल बाढ़े । टेंगनि मोइ टोइ सब काढ़े ॥
सिंगी मँगुरी बीनि सब धरे । नरिया भोथ बाँब बंगरे ॥
मारे चरक चाल्ह परहाँसी । जल तजि कहाँ जाइ जल बासी ॥
मन होइ मीन चरा मुख चारा । परा जाल दुख को निरुवारा ॥
माँटी खाइ मंछ नहिं बाँचे । बाँचहि का जो भोग सुख राँचे ॥
मारै कहँ सब अस कै पाले । को उबरा एहि सरवर घाले ॥
एहि दुख कंठ सारि कै अगुमन, रकत न राखा देह ।
पंथ भुलाइ आई जल बाझे, झूठे जगत सनेह ॥ ॥ ५४२ ॥

शब्दार्थ—माछ=मछली-पढ़िना, रोहू, टेंगन, सिंगी, मंगुरी आदि मछलियाँ । धीमर=मछुआ । बाझे=फँसे ।

अर्थ—इस पद में भिन्न-भिन्न प्रकार की मछलियों की नामावली है जो भोज के लिए पकड़वाई गईं । जल में से अनेक प्रकार की मछलियाँ लायी गयीं, इनके पकड़ते हुए मछुओं को कोई दया नहीं आती । इन मछलियों में थी पाठीन, रोहू, सिधरी, सौरी, टेंकानी, सींगी, मँगुरी, नरिया, भोथ, बाँव, बंगरे, चरका, चारह, परहाँसी आदि । ये मछलियाँ जल को छोड़ कर कहाँ जा सकती हैं । मन के वशीभूत हो कर मछलियों ने चारा खा लिया, जिससे जाल में पड़ गयीं और कठोर दुःख में पड़ गयीं । मिट्टी खाने वाली मछलियाँ जब नहीं बचतीं, तो वे लोग भला कैसे बचेंगे जो भोग-विलास में अनुरक्त हैं । मारने के लिए ही इस सरोवर रूपी संसार में सब को उस परमेश्वर ने पाल रक्खा है, इस तालाब में पड़ कर भला कौन बचा है ? इसी दुःख को समझ कर जो चतुर हैं वे पहले से ही अपने शरीर में खून नहीं रखते अर्थात् योग साधन द्वारा शरीर को सुखा देते हैं । पर जो रास्ता भूलते हैं संसार के झूठे स्नेह के जल में पड़ कर जाल में फँस जाते हैं ।

नोट—जायसी प्रत्येक पद में नामावली देने के पश्चात् अपने आध्यात्मिक विचारों का संकेत रखते जाते हैं ।

[५४३]

देखत गोहूँ कर हिय फाटा । आने तहाँ होब जहँ आटा ॥
तब पीसे जब पहिलेहिं धोए । कापर छाड़ि माँडि भल पोए ॥
करिल चढ़े तहँ पाकहिं पूरीं । मूँठिहि माँह रहहिं सौ चूरीं ॥
जानहुँ सेत पीत ऊजरी । लैनू चाहि अधिक कोंवरि ॥
मुख मेलत खिन जाहिं बिलाई । सहस सवाद पाव जो खाई ॥

लुचुई पोइ घीय सो भेईं । पाछें चहीं खाँड सो जेईं ॥
पूरि सोहारी करी घिउ चुवा । छुवत बिलाहि डरन्ह को छुवा ॥
कही न जाइ मिठाई, कहति मीठि सुठि बात ।
जेंवन नाहिं अघाइ कोइ, हिय बरु जाइ सिरात ॥ ॥ ५४३ ॥

शब्दार्थ—कापर=कपड़ा । करिल=कड़ाहे । लैनू=नवनीत, मक्खन । चाहि=से अधिक । कोंवरी=कोमल । मेलत=डालते ही । लुचुई=मुलायम पूड़ी । जेईं=खाया । पूरि=पूड़ी । सोहारी=पूड़ी । सिरात=ठंडा होना ।

अर्थ—गेहूँ का हृदय पहले से ही इसलिए फटा होता है कि वह यह जानता है कि आगे पिस कर मुझे आटा होना होगा । पहले उसे धोया जाता है फिर पिसवाया जाता है । आटा बनने के बाद कपड़े में छान कर मैदा किया गया और फिर उसे गूँथ कर उसकी पूरियाँ तैयार की गईं । कड़ाहे चढ़े जिनमें पूरियाँ पकीं । ये पूरियाँ इतनी पतली और करारी थीं कि एक मुट्ठी में सौ चूर हो जाती थीं । रंग में सफेद, पीली और उज्ज्वल थीं और मक्खन से भी अधिक कोमल थीं । मुख में डालने पर क्षण भर में घुल जाती थीं; जो उन्हें खाता उसे हजार स्वाद मिलता था । घी से भीगी हुई मुलायम पूड़ी पीछे शक्कर से खाई जा सकती थीं, उनमें से घी टपक रहा है छूते ही चूर-चूर हो जातीं, इससे उन्हें छूने को सभी डरते थे । मिठाई के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, उनके नाम लेते ही मुख मीठा हो जाता, खाने पर कोई तृप्त नहीं होता, बल्कि हृदय ठण्डा हो जाता है ।

[५४४]

सीझहिं चाउर बरनि न जाहीं । बरन बरन सब सुगँध बसाहीं ॥
रायभोग औ काजर रानी । झिनवा रौदा दाउद खानी ॥
कपुरकांत लैंजुरि रितुसारी । मधुकर ढेला जीरा सारी ॥
घिर्तकांदौ औ कुँवर बेरासू । रामरासि आवै अति बासू ॥
कहिअ सो सोंधे लाँब बाँके । सगुनी बेगरी पढ़िनी पाके ॥
गड़हन जड़हन बड़हन मिला । औ संसार तिलक खँडबिला ॥
रायहंस औ हंसा भौंरी । रूपमांजरि केतुकी बिकौरी ॥
सोरह सहस बरन अस, सुगँध बासना छूटि ।
मधुकर पुहुप सो परिहरे, आइ परे सब टूटि ॥५४४॥

शब्दार्थ—सीझहिं=पक रहे हैं । बसाहीं=महकते हैं ।

अर्थ—चावल इतने प्रकार के पक रहे हैं कि उनका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता । रंग-रंग की इनकी सुगन्धि आ रही है । इनमें से मुख्य चावलों के नाम इस प्रकार हैं—रायभोग, रानी काजल, झिनवा, रौंदा, दाउदखानी, कपूरकांत, लेजुरी, रितुसारी, मधुकर, ढेला, जीरासारी, घृतकांदौ, कुंवर विलास, रामरासि, सगुनी, बिगरी, पढिनी,

गड़हन, जड़हन, बड़हन, संसार तिलक, खंडचिला, राजहंस, हंसा, भौंरी, रूपमंजरी, केतकी ग्रोर विकौरी। सभी लम्बे, सुन्दर ग्रौर सुगन्धित थे। इस प्रकार सोलह किस्म के चावल थे, उनकी इतनी सुगन्ध पकने पर उड़ी कि भौंरे फूलों को छोड़ कर इन पर टूट पड़े।

[५४५]

निरमल माँसु ग्रनूप पखारा। तिन्ह के ग्रब बरनौ परकारा॥
कटवाँ बटवाँ मिला सुबासू। सीझा ग्रनबन भाँति गरासू॥
बहुते सोंधै घिरित बघारा। ग्रौ तहँ कुकुहँ पीसि उतारा॥
सेंधा लोन परा सब हाँड़ी। काटे कंद मूर कै ग्राँड़ी॥
सोवा सौंफ उतारी धना। तेहि ते ग्रधिक ग्राव बासना॥
पानि उतारा टाँकहिं टाँका। घिरित परेह रहा तस पाका॥
ग्रौरु कीन्ह माँसन्ह के खंडा। लाग चुरै सो बड़ बड़ हंडा॥
छागर बहुत समूँचे, धरे सरागन्हि भूँजि।
जो ग्रस जेंवन जंवै, उठै सिंघ ग्रस गूँजि॥ ॥५४५॥

शब्दार्थ—परकारा=प्रकार-भेद। कटवाँ=खंड-खंड, कटा हुग्रा। बटवाँ=सिल पर पिसा हुग्रा। ग्रनबन=ग्रनेक। गरासू=ग्रास, कौर। ग्राँड़ी=गाँठ। परेह=शोरवा। छागर=बकरे। सरागन्हि=शलाकाग्रों पर। गूँजि=गर्ज।

ग्रर्थ—निर्मल माँस ग्रत्यन्त सुन्दरता से धोए गए। ग्रब मैं उनकी किस्मों का वर्णन करता हूँ। कटे हुए कटवाँ (कीमा) ग्रलग थे, पीसे हुए बटवाँ ग्रलग थे, उनमें सुगन्ध मिली थी। ग्रनेक प्रकार के ग्रासों में पकाया हुग्रा तैयार था। बहुत सा तो साँधे घी में बघारा गया था ग्रौर साथ ही केसर कस्तूरी भी पिसी हुई थी। सब हांडियों में सेंधा नमक पड़ा था ग्रौर उनमें कंदमूल की गाँठें भी काट कर डाली गयी थीं। साथ ही सोवा, सौंफ ग्रौर धनिया भी डाल दिये गये थे, जिससे उनकी सुगन्ध ग्रौर ग्रधिक हो गयी थी। उनमें ग्रच्छी तरह पानी देखभाल कर तब उतारा गया जिससे घी का शोरबा ग्रच्छा पका हुग्रा रहे। मांसों के टुकड़े किये गये ग्रौर बड़े-बड़े देगों में पकने लगे। बहुत से समूचे बकरे शलाकाग्रों पर रख कर भूने जाने लगे। जो इस प्रकार के भोजन को खाएगा वह सिंह के समान गर्ज उठेगा।

[५४६]

भूँजि समोसा घिय महँ काढ़े। लौंग मिरिचि तिन्ह महँ मब डाढ़े॥
ग्रौरू जो माँसु ग्रनूप सो बाँटा। भे फर फूल ग्राँब ग्रौ भाँटा॥
नारँग दारिवँ तुरुँज जंभीरा। ग्रौ हिंदुग्राना बालवाँ खीरा॥
कटहर बड़हर तेउ सँवारे। नरियर दाख खजूर छोहारे॥
ग्रौ जावँत खजेहजा होहीं। जो जेहि बरन सवाद सो ग्रोहीं॥

सिरिका भेइ काढ़ि ते आने। कँवल जो कीन्ह रहहिं बिगसाने ॥
कीन्ह मसौरा धनि सो रसोई। जो किछु सबहि माँसु हुते होई ॥
बारी आइ पुकारै, लिहें सबै फर छूँछ ।
सब रस लीन्ह रसोईं, अब मो कहँ को पूँछ ॥ ५४६ ॥

शब्दार्थ—आँब=आम । भाँटा=बैंगन । हिन्दुआना=तरबूज । । बालवाँ=बालम नामक एक खीरा । जावँत=जितने । खजेहजा=खाने के फल । भेइ=भिगो कर । मसौरा=कवाब । बारी=माली ।

अर्थ—समोसे घी में तले गये और उनमें लौंग, मिर्च आदि सब डाले गये और जो सुन्दर माँस पीस कर तैयार किया गया, उससे फल, फूल, आम और बैंगन, नारंगी, अनार, जंभीरी नीबू, तरबूज, बालम खीरा, कटहल, बड़हल, नारियल, दाख, खजूर, छोहारा, तथा अन्य जितने प्रकार के खाये जाने वाले फल हैं और जिन रंगों तथा स्वाद के हैं इन सब में पिसा मांस भर कर तैयार कर दिए गये । सिरके में भिगो कर इस प्रकार रखे गये कि उनका असली रूप ज्यों का त्यों रहा । कमल (पद्मावती) ने उन्हें बनाया था इसलिए वे अपने असली रूप में विकसित थे । माँस की ऐसी रसोई तैयार की गई कि सभी प्रकार के फल मांस से ही प्रस्तुत किये गये । यह देख कर माली आकर कहने लगा कि जितने फल-फूल मेरे पास थे सबको रसोइयों ने ले लिया । अब हमें कौन पूछेगा ?

[५४७]

काटे मंछ मेलि दधि धोए। औ पखारि चहुं बार निचोए ॥
करुए तेल कीन्ह बसिवारू। मेंथी कर तेहि दीन्ह धुँगारू ॥
जुगुति जुगुति सब मंछ बघारे। आँब चीरि तेहि माहँ उतारे ॥
ऊपर तेहिं तहँ चटपट राखा। सो रस परस पाव जो चाखा ॥
भाँति भाँति तिन्ह खँडरा तरे। अंडा तरि तरि बेहर धरे ॥
घिउ टाटक महँ सोधि सेरावा। पँखि बघारि कीन्ह अरदावा ॥
कुंकुहँ परा कपूर बसाई। लौंग मिरिचि तेहि ऊपर लाई ॥
घिरित परेह रहा तस, हाथ पहुँच लहि बूड़ ।
बूढ़ खाइ तौ होइ नवजोबन, सौ मेहरी लै ऊड़ ॥ ५४७ ॥

शब्दार्थ—दधि धोए=मछलियों को दही से धोने से उनकी दुर्गन्ध निकल जाती है । बसिवारू=छौंक । खंडरा=कतले । टाटक=ताजा । सेरावा=ठण्डा किया । अरदावा=कुचला या भुरता । ऊड़=विवाह करे ।

अर्थ—मछलियों को काटा गया और दही में मिला कर धोया गया और फिर कई बार धो-धोकर निचोड़ा गया । सरसों के तेल में उन्हें छौंका गया और मेथी का बघार दिया गया । अनेक प्रकार से मछलियाँ बघारी गईं, आम चीर कर भी उनमें डाला गया और

उनके ऊपर मिर्च आदि डालकर उन्हें चटपटा बनाया गया, उनके रस को तो वही पायेगा जो इन्हें खाएगा। तरह-तरह के कतले भी काटे गए और अंडे तल-तल कर अलग रखे गए। ताजे घी को गर्म करके ठण्डा किया गया, मछलियों का भुरता बनाया गया, कस्तूरी और कपूर की सुगन्ध आ रही थी और उनके ऊपर से लौंग और मिर्च भी पड़ी थी। घी का शोरबा इतना था कि हाथ डालो तो पहुँचे तक भीग जाय। ऐसा मांस तैयार है कि यदि कोई बूढ़ा भी उसे खा ले तो उस पर ऐसी जवानी चढ़े कि सौ स्त्रियों से विवाह करे।

[५४८]

भाँति भाँति सीझी तरकारी। कइउ भाँति कुम्हड़ा कै फारी॥
भै भूँजी लौआ परबती। रैता कहँ काटे कै रती॥
चुक्क लाइ कै रींधे भाँटा। अरुई कहँ भल अरिहन बाँटा॥
तोरई चिचिंडा डिंडसी तरे। जोर धुँगारि कलै सब धरे॥
परवर कुँदुरू भूँजे ठाढ़े। बहुते घियँ चुरुचुर कै काढ़े॥
करुई काढ़ि करैला काटे। आदी मेलि तरे किए खाटे॥
रींधे ठाढ़ सेंब के फारा। छौंकि साग पुनि सोंधि उतारा॥
सीझी सब तरकारी, भा जेंवन सब ऊँच।
दहुँ जेंवत का रूवै, केहि पर दिस्टि पहूँच॥ ५४८॥

शब्दार्थ—लौआ=लौकी। रैता=रायता। चुक्क=खटाई। रींधे=पकाया। अरिहन=आलन। डिंडसी=टिंडा। चुरुचुर=करारा।

अर्थ—अनेक प्रकार की तरकारियाँ भी तैयार की गईं। कई प्रकार के तो सीताफल के टुकड़े थे। पहाड़ी लौकी की भूँजी बनाई गई और रायता के लिए वे महीन-महीन काटे गये। खटाई डालकर बैंगन पकाया गया। अरबी में चने की दाल का आलन डाला गया, तोरी, चिचिंडा और टिंडे तले गये, जीरे की बघार देकर सब तल कर रक्खे गये। परवल, कुँदुरू समूचे ही भूने गये, बहुत घी डाल कर उन्हें करारा बनाया गया। करेला की कड़वाहट निकाल कर उसे काटा गया, अदरक मिला कर उसे खट्टा किया गया। सेम की फलियों को समूची ही पकाया, फिर सागों को छौंक करके सुवासित किया। सभी तरकारियाँ तैयार हुईं, खाना बहुत सुन्दर बना, पर पता नहीं बादशाह को कौन सी वस्तु रुचे, किस वस्तु पर उसकी दृष्टि पड़े।

[५४९]

घिरित कराहन्हि बेहर धरा। भाँति भाँति सब पाकहिं बरा॥
एकहिं आदि मिरिच सिउँ पीठे। औरु जो दूध खाँड सो मीठे॥
भई मुँगौछी मिरिचैं परी। कीन्ह मुँगौरा औ गुरुबरी॥
भई मेंथौरी सिरिका परा। सोंठि लाइ कै खिरिसा धरा॥

मीठ महिउ औ जीरा लावा। भीजि बरी जनु लैनू खावा।।
खँडुई कीन्ह अँबचुर तेहिं परा। लौंग लाइची सिउँ खडि धरा।।
कढ़ी सँवारी औ डुभुकौरी। औ खँडवानो लाइ बरौरी।।
पान लाइ कै रिकवछ छौंके, हींगु मिरिच औ आद।
एक कठहँडी जेंवत; सत्तरि सहस सवाद।। ५४९ ।।

शब्दार्थ—पीठे=पीसे गये। मुंगौछी=मूंग का पकवान। गुरबरी=मीठी बड़ी। मेंथौरी=मेथी की बड़ी। खिरिसा=एक मिठाई। रिकवछ=पतौड़े।

अर्थ—कड़ाहों में घी अलग ही भर कर रखा गया। उनमें तरह-तरह के बड़े पकाये गये। एक तो अदरक, मिर्च और पिट्ठी से और दूसरे दूध और शक्कर डाल कर मीठे तैयार हुए। मिर्च पड़ी हुई मूँग की मिठाई और मूँगबड़ा, गुड़बड़ी, सिरका पड़ा हुआ मेंथौरी, सोंठ डाला हुआ खिरिसा बने। मीठा मट्ठा, जीरा पड़ा हुआ था—बड़े भीग कर इतने मुलायम हो गये थे जैसे मक्खन खा लिया। टुकड़े-टुकड़े किये गये, उन पर अमचूर, लौंग, इलाइची आदि बुरके गये। सुन्दर बड़ी और डुभकौरी, खंडवानी, बरौरी आदि बनी थीं। अरुई के पत्ते लाकर बड़े बनाये गये। उसमें हींग, मिर्च और अदरक डाले गये। उसका एक टुकड़ा भी यदि कोई खा ले तो सत्तर स्वाद पा जाय।

[५५०]

तहरी पाकि लोनि औ गरी। परी चिरौंजी औ खुरुहुरी।।
घिरित भूँजि कै पाका पेठा। औ भा अंम्रित गुरँब गरेठा।।
चुंबक लोहड़ा औटा खोवा। भा हलुवा घिउ करै निचोवा।।
सिखरन सोंधि छनाई गाढ़ी। जामा दूध दहिउ सिउँ साढ़ी।।
और दहिउ के मोरँड बाँधे। औ संधान बहुत तिन्ह साँधे।।
भै जो मिठाई कही न जाई। मुख मेलत खिनु जाइ बिलाई।।
मोंतिलडु छाल और मुरकुरी। माँठ पेराक बुंद ढुरहुरी।।
फेनी पापर भूँजे, भए अनेग परकार।
भै जाउरि पछियाउरि, सीझा सब जेंवनार।। ५५० ।।

शब्दार्थ—तहरी=बड़ी, हरी मटर और चावल की खिचड़ी। खुरुहुरी=छुहारा। गुरँब=गुडम्बा, गुरावा, गुड़ की चाशनी में आम को पकाते हैं और पूरी से खाते हैं। गरेठा=गरिष्ठ, गाढ़ी। लोहड़ा=लोहे का तसला। मोरँड=दही को कपड़े में बाँधकर लटका देते हैं, पानी निकल जाता है, फिर दही के टुकड़े काट काट कर घी में तलते हैं। मुरकुरी=अमिरती। माँठ=बड़ी मठरी। पेराक=गुझिया। बुंद=बुंदिया। छाल=मिष्टान्न विशेष। ढुरहुरी=बूंदी के लड्डू। संधान=अचार। जाउरि=खीर।

अर्थ—नमकीन तहरी पकी जिसमें गरी, चिरोंजी, छुहारा डाले गए। घी में भून कर पेठे पकाये गये। गाढ़ी गुराम बनाई गई। चुंबक वाले लोहे के तसले में खोया तैयार हुआ, हलवा बना जिसमें से घी टपक रहा था। सुगन्धित और गाढ़ी सिखरन बनी, मलाई से युक्त दूध का दही था। फिर दही से छेना तैयार किया गया, तरह-तरह के अचार बने। ऐसी मिठाई थी कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, मुख में डालते ही गल जाती थी। मोतीचूर, छाल, मुरकुरी, माँठ, गुझिया, ढुरहुरी, फेनी, पापड़ आदि अनेक प्रकार की वस्तुयें थीं और अन्त में खीर के साथ सारा भोजन तैयार हुआ।

[५५१]

जति परकार रसोइँ बखानी। तब भइ जब पानी सौं सानी॥
पानी मूल परेखौ कोई। पानी बिना सवाद न होई॥
अंब्रित पानि न अंब्रित आना। पानी सों घट रहै पराना॥
पानि दूध माहँ पानी घीऊ। पानि घटें, घट रहै न जीऊ॥
पानी महँ समानी जोती। पानिहि उपजै मानिक मोंती॥
पानी सब महँ निरमनि करा। पानि जो छुवै होइ निरमरा॥
सो पानी मन गरब न करई। सीस नाइ खाले कहँ ढरई॥

मुहमद नीर गँभीर जो, सोनै मिलै समुंद।
भरे ते भारी होइ रहे, छूछे बाजिंहि दुंद॥ ५५१॥

शब्दार्थ—जति=जितनी। सानी=मिलाया जाना। परेखौ=परीक्षा करो। खाले=नीचे। ढरई=ढुलकता है।

अर्थ—जितनी भाँति की रसोई हो सकती है वह सभी तभी बनेगी जब उसमें पानी मिलाया जायेगा। कोई भी परीक्षा करे तो प्रतीत होगा कि पानी ही सबका मूल है, बिना पानी के भोजन में कोई स्वाद नहीं। अमृत तो पानी ही है और घी भी पानी ही है। पानी के घट जाने पर शरीर में जीव नहीं रह सकता। पानी में ही सारी ज्योति समाई है, पानी ही में माणिक्य और मोती उत्पन्न होता है। पानी की चमक ही सबसे निर्मल है, जो पानी को स्पर्श करता है, निर्मल हो जाता है। इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण जल भी गर्व नहीं करता, अपना सिर नीचे करके सदा नीचे की ओर ही ढुलकता रहता है। जायसी कहते हैं कि समुद्र में जहाँ गहरा जल होता है वहीं पर मोती मिलता है। जो भरा होता है, वही बोझिल होकर नीचे रहता है, शान्त और गम्भीर रहता है पर जो खाली होता है वही ठक ठक की आवाजें करता है।

अलंकार—पर्यस्तापह्नुति—अंब्रित पानि न अंब्रित आना।

४६. चित्तौड़गढ़-वर्णन-खण्ड

[५५२]

सोझि रसोई भएउ बिहानू। गढ़ देखै गवनै सुलतानू ॥
कवँल सहाइ सूर सँग लीन्हा। राघौ चेतनि आगें कीन्हा ॥
तेतखन आइ बेवान पहूँचा। मन सों अधिक, गँगन सौं ऊँचा ॥
उघरी पँवरि, चला सुलतानू। जानहुँ चला गँगन कहँ भानू ॥
पँवरि सात सातौ खँड बाँकी। सातौ गढ़ि काढ़ी दै टाँकी ॥
जानु उरेह काटि सब काढ़ीं। चित्र मूरति जनु बिनवहिं ठाढ़ीं ॥
आजु पँवरि मुख भा निरमरा। जौं सुलतान आइ पगु धरा ॥

लख लख बैठ पँवरिया, जिन्ह सों नवहिं करोरि।
तिन्ह सब पँवरि उघारी, ठाढ़ भए कर जोरि ॥५५२॥

शब्दार्थ—सीझि=तैयार हुई--पाठान्तर-जेवाँ साह=शाह ने भोजन किया। बिहानू=प्रातः। गवनै=चला। कँवल=सरोज=सरजा। तेतखन=तत्क्षण, तुरन्त। बेवान=विमान। पँवरि=द्वार। काढ़ी=चित्रकारी की हुई। उरेह=चित्रित, चट्टान को काट कर निकाली हुई मूर्तियों का चित्र।

अर्थ—जब तक भोजन तैयार हुआ प्रातः काल हो गया। सुलतान अलाउद्दीन गढ़ देखने के लिए चल पड़ा। उसने अपनी सहायता के लिए सरजा को साथ लिया और राघव-चेतन को आगे-आगे कर लिया। शीघ्र ही उसका विमान चित्तौड़-गढ़ में पहुँच गया। क्योंकि उसका विमान मन से भी अधिक तेज चलने वाला और आकाश से भी ऊपर उड़ने वाला था। ड्योढ़ी खुल गयी और सुल्तान ने प्रवेश किया। मानो सूर्य आकाश की ओर बढ़ रहा है। उस गढ़ में सात ड्योढ़ियाँ थीं और सात बांके खंड थे और सातों खंडों में टाँकी से ही काट-काट कर चित्रकारी की हुई थी। पत्थर काट-काट कर ऐसे चित्र बनाये गये थे मानो साक्षात् सजीव मूर्त्तियाँ पौड़ियों पर खड़ी हुई विनय कर रही हैं। कवि कहता है कि आज ड्योढ़ी प्रकाशित हो गयी क्योंकि सुलतान ने यहाँ पर पदार्पण किया है। ड्योढ़ियों पर ऐसे-ऐसे दरवान बैठे हैं जिनके सामने करोड़ों वीर भी डर कर झुक जाते हैं, उन सब द्वारपालों ने ड्योढ़ियों को खोल दिया और हाथ जोड़ कर खड़े रहे।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

[५५३]

सातहुँ पँवरिन्ह कनक केवारा। सातहु पर बार्जाहि घरियारा॥
सातहु रंग सो सातहुँ पँवरी। तब तहँ चढ़ फिरै सत भँवरी॥
खँड खँड साजी पालक पीढ़ी। जानहु इंद्र लोक की सीढ़ी॥
चंदन बिरिख सुहाई छाँहाँ। अंब्रित कुंड भरे तेहि माहाँ॥
फरे खजेहजा दारिवँ दाखा। जो ओहि पंथ जाइ सो चाखा॥
सोने क छात सिंघासन साजा। पैठत पँवरि मिला लै राजा॥
चढ़ा साहि चितउर गढ़ देखा। सब संसार पाँव तर लेखा॥
साहि जबहि गढ़ देखा, कहा देखि कै साजु।
कहिअ राज फुर ताकर, सरग करै जो राजु॥५५३॥

शब्दार्थ—केवारा=किवाड़ें। घरियारा=घंटे। पालक=पलंग। पीढ़ी=सिंहासन। खजेहजा=मधुर फल। फुर=सचमुच।

अर्थ—सातों ड्योढ़ियों में सोने के बने हुए किवाड़ें लगी थीं और उन पर घंटे बजा करते थे। सातों ड्योढ़ियाँ सात रंग की थीं, उस पर चढ़ने के लिए सात चक्कर काटने पड़ते थे। प्रत्येक खंड पर पलंग जैसी पीढ़ियाँ सजी थीं मानो ये पीढ़ियाँ इन्द्रलोक की सीढ़ियाँ हैं। उन पर चन्दन वृक्ष की छाया शोभा पाती थी, उनके नीचे अमृत के कुंड भी शोभायमान थे। अनार और किशमिश जैसे मधुर मेवे भी फले थे जो कोई उस रास्ते से जाता वही उन्हें खा सकता था। अन्तिम पौड़ी पर सोने का छत्र और सिंहासन शोभित था, उस ड्योढ़ी पर घुसते ही राजा आ मिला। चढ़ कर शाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ को देखा और समझ लिया कि सारा संसार इसके पाँव के नीचे ही है। जब शाह ने सारे गढ़ को देखा और साज-बाज देखा तो कहा कि राजा तो सचमुच वही है जो इस प्रकार के स्वर्ग में राज्य करता है।

[५५४]

चढ़ि गढ़ ऊपर नगरनि देखी। इंद्रपुरी सो जानु बिसेखी॥
ताल तलाव सरोवर भरे। औ अँबराउँ चहूँ दिसि फरे॥
कुँवा बावरी भाँतिन्ह भाँती। मढ़ मंडप तहँ भे चहुँ पाँती॥
राय राँक घर घर सुख चाऊ। कनक मँदिल नग कीन्ह जराऊ॥
निसि दिन बार्जाहि मंदिर तूरा। रहस कोड सब लोग सेंदूरा॥
रतन पदारथ नग जो बखाने। खोरिन्ह महँ देखिअ छिरिआने॥
मँदिल मँदिल फुलवारीं बारी। बार बार तहँ चित्तरसारी॥
पाँसा सारि कुँवर सब खेलहिं, स्रवनन्ह गीत ओनाहिं।
चैन चाउ तस देखा, जनु गढ़ छेंका नाहिं॥५५४॥

शब्दार्थ—बसगति=बस्ती, सहन-पाठान्तर-संगति । तूरा=तुरही, नौबत । रहस=रास । सेदूरा=सिंदूर । खोरिन्ह=गलियों । छिरिआने=बिखरे हुए । बार-बार=द्वार द्वार । चित्तरसारी=चित्रशाला । सारि=ढाल कर । ओनाहिं=झूमते हैं ।

अर्थ—शाह अलाउद्दीन ने गढ़ के ऊपर चढ़ कर वहाँ की बस्ती देखी । ऐसा प्रतीत हुआ मानो इन्द्रपुरी से भी यह बढ़ कर है । वहाँ पर ताल, तालाब आदि भरे हुए थे और चारों ओर फले हुए आम की पंक्तियाँ थीं । भाँति-भाँति के कुएँ और चारों ओर मंडप पंक्तियों में बने थे राजा और भिखारी सब के घर में सुख और आनन्द था । उनके सोने के महलों में नग जड़े हुए थे । महलों में रात-दिन शहनाइयाँ बजा करती थीं । सभी स्त्रियाँ सिंदूर आदि से अलंकृत होकर रास और क्रीड़ा के आमोद-प्रमोद में मग्न थीं । जितने भी रत्न, मोती आदि कहे गये हैं वे सब वहाँ की गलियों में बिखरे मिलते थे । महल-महल में फुलवाड़ियाँ और वाटिकायें थीं और द्वार-द्वार पर चित्रशालाएँ बनी थीं । सारे राजकुमार पाँसा डाल-डाल कर खेलते हैं और कान का आनन्द लेते हुए झूमते जाते हैं । शाह ने उस गढ़ को ऐसे चाव और आनन्द से देखा कि उसे भूल गया कि वह गढ़ का शत्रु-भाव से घेरा डालने आया है ।

अलंकार—अतिशयोक्ति ।

[५५५]

देखत साहि कीन्ह तहँ फेरा । जहाँ मँदिल पदुमावति केरा ॥
आस पास सरवर चहुँ पासाँ । माँझ मँदिल जनु लाग अकासाँ ॥
कनक सँवारि नगन्हि सब जरा । गँगन चाँद जनु नखतन्ह भरा ॥
सरवर चहुँ दिसि पुरइनि फूली । देखा बारि रहा मन भूली ॥
कुँवर लाख दुइ बार अगोरे । दुहुँ दिसि पँवरि ठाढ़ कर जोरे ॥
सारदूर दुहुँ दिसि गढ़ि काढ़े । गल गार्जहिं जानहुँ रिसि बाढ़े ॥
जावँत कहिअ चित्र कटाऊ । तावँत पँवरिन्ह लाग जराऊ ॥
साहि मंदिल अस देखा, जनु कबिलास अनूप ।
जाकर अस धौराहर, सो रानी केहि रूप ॥५५५॥

शब्दार्थ—सँवारि=सजा कर । जरा=जड़ा हुआ । अगोरे=रक्षा करते हुए । सारदूर=शार्दूल-शेर । गल गार्जहिं=गरज रहे हैं ।

अर्थ—गढ़ को देखते हुए शाह घूमता हुआ वहाँ आया जहाँ पद्मावती का महल था । उसके चारों ओर तालाब थे और उन तालाबों के बीच ऐसा ऊँचा महल था मानो आकाश को छू रहा है । सोने में सजा-सजा कर नग जड़े थे । मानो आकाश में तारे भरे हों । तालाब में चारों ओर कमल के पत्ते फूले हुए हैं, उस तालाब का पानी इतना निर्मल था कि उसे देख कर मन भूल जाता था । दो लाख राजकुमार उसके द्वार पर रक्षा करते

थे और डेवढ़ी के दोनों ओर हाथ जोड़े खड़े थे। दोनों ओर शेर गढ़ कर दीवाल में इस प्रकार निकाला गया था मानो क्रुद्ध होकर गर्ज रहा है। जितने प्रकार भी दीवाल की कटाई की चित्रकारी हो सकती है सभी उस डेवढ़ी में बनी हुई थीं। शाह ने देखा कि वह महल तो अनुपम स्वर्ग सरीखा ही है तो फिर जिसका महल ही ऐसा सुन्दर है वह रानी भला किस प्रकार की होगी ।

[५५६]

नाँघत पँवरि गए खँड साता। सोनै पुहुमि बिछावन राता ॥
आँगन साहि ठाढ़ भा आई। मँदिल छाँह अति सीतलि पाई ॥
चहूँ पास फुलवारी बारी। माँझ सिंघासन धरा सँवारी ॥
जनु बसँत फूला सब साने। हँसहि फूल बिगसहिं फर लोने ॥
जहाँ सो ठाँउ दिस्टि महँ आवा। दरसन भा दरसन देखरावा ॥
तहाँ पाट राखा सुलतानी। बैठ साहि मन जहाँ सो रानी ॥
कँवल सुभाइ* सूर सौं हँसा। सूर क मन सो चाँद पहँ बसा ॥
सो पै जान पेम रस, हिरदैं पेम अँकूर।
चँद जो बसै चकोर चित, नैनन्ह आव न सूर ॥५५६॥

शब्दार्थ—नांघत=पार करके। पुहुमि=पृथ्वी। बिछावन=कालीन। राता=लाल। चहूँ पास=चारों ओर। बारी=वाटिका। फर=फल। लोने=सुन्दर। ठाउँ=जगह। अंकूर=अंकुर। सो पै=वह ही।

अर्थ—शाह अलाउद्दीन सातों डेवढ़ियों को पार करता हुआ चला गया, सारी पृथ्वी सोने की बनी थी और उस पर कालीन बिछा था। अन्त में शाह आँगन में आकर खड़ा हो गया। महल की शीतल छाया उसे लगी। चारों ओर फुलवाड़ियाँ और वाटिकाएँ थीं उन सब के बीचोंबीच एक सिंहासन रखा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वसन्त सुनहलापन लिये हुए खिल रहा है, फूल हंस रहे हैं। और सुन्दर-सुन्दर फल फले हैं जितनी भी जगह दिखाई पड़ती थी दर्पण के समान निर्मल थी और उसमें मनुष्य की छाया दिखाई पड़ती थी। ऐसी जगह सुल्तान का सिंहासन रखा गया, शाह बैठ गया पर उसका मन तो वहाँ था, जहां रानी पद्मावती थी। कमल रूपी राजा रत्नसेन स्वाभाविक

---

* डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'सहाइ' पाठ माना है। उनके मत में डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने 'सहाइ' को ही भूल से 'सुभाइ' पढ़ लिया है। उन्होंने 'कंवल सहाइ' का अर्थ सरजा उसी प्रकार माना है जैसे पद संख्या ५५२ में इसका अर्थ माना था। पर सरजा का अर्थ केवल 'कँवल' से ही हो जाता है 'सहाइ' अनावश्यक है। अर्थ की दृष्टि से डा० माताप्रसाद जी का पाठ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

रीति से अलाउद्दीन (सूर) से हँसने लगा, पर सूर्य रूपी अलाउद्दीन का मन तो चन्द्रमा रूपी पद्मावती में लगा हुआ था। जायसी कहते हैं कि प्रेम के रस को तो वही जान सकता है, जिसके हृदय में अंकुर है। जिस चकोर के चित्त में चन्द्रमा बसा है उसकी दृष्टि में सूर्य कभी नहीं आता।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

[५५७]

रानी धौराहर उपराहीं। गरबन्ह दिस्टि न करहि तराहीं॥
सखीं सहेलीं साथ बईठी। तपै सूर ससि आव न डीठी॥
राजा सेव करै कर जोरें। आजु साहि घर आवा मोरें॥
नट नाटक पतुरिनि औ बाजा। आनि अखार सबै तहँ साजा॥
पेम क लुबुध बहिर औ अंधा। नाच कोड जानहुँ सब धंधा॥
जानहुँ काठ नचावै कोई। जो जियँ नाँच न परगट होई॥
परगट कह राजा सौं बाता। गुपुत पेम पदुमावति राता॥
गीत नाद जस धंधा, धिकै बिरह कै आँच।
मन की डोरि लागि तेहि ठाँई, जहाँ सो गहि गुन खाँच॥५५७॥

शब्दार्थ—गरबन्ह=गर्व से। तराहीं=नीचे। डीठी=दृष्टि। पतुरिनि=नर्तकियां। अखार=गाने-बजाने वालों का दल। पेम क=प्रेम का। धंधा=कार्य-व्यापार। धिकै=गर्म हो। गुन=डोरी। खाँच=खींचती है।

अर्थ--रानी पद्मावती तो महल के ऊपर है, गर्व में भरी हुई वह नीचे दृष्टि नहीं करती। सखी सहेलियाँ साथ बैठी हैं। सूर्य रूपी अलाउद्दीन उसके विरह में तप रहा है। पर चन्द्रमा रूपी पद्मावती उसे दिखाई नहीं पड़ती। राजा रत्नसेन हाथ जोड़ कर शाह अलाउद्दीन की सेवा में प्रस्तुत है। वह कहता है कि आज शाह अलाउद्दीन मेरे घर पर आया है। उसने नट, नाटक करने वालों और नर्तकियों को बुलवाया, सभी अपने साज-बाज के साथ उपस्थित हुए। पर प्रेम का लोभी तो बहरा और अन्धा होता है। वह नाच और स्वांग आदि को संसार का कार्य-व्यापार मानता है—अर्थात् प्रेम में मस्त होने के कारण अलाउद्दीन को यह नाच-रंग अच्छा न रुचा। मानों कोई कठपुतली नचा रहा है जिसमें नाचने वाला व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता, काठ नाचता दिखाई पड़ता है इसी प्रकार जो दिल प्रेम में नाच रहा है वह तो दिखाई नहीं पड़ता। प्रकट रूप में तो अलाउद्दीन राजा से बातें करता रहा, पर गुप्त रीति में उसका मन पद्मावती में ही अनुरक्त था। उसके लिए गीत और बाजे आदि सांसारिक कार्य-व्यापार की भांति नीरस लगे, उसे तो विरह की आंच जला रही थी। उसके मन की डोर तो पद्मावती में ही लगी थी। जहां वह डोर खिंच

रही थी वहीं उसका जी था। भाव यह कि अलाउद्दीन कठपुतली की भांति पद्मावती की अदृश्य प्रेम-डोर पर नाच रहा था।

अलंकार—रूपक।

[५५८]

गोरा बादिल राजा पाहाँ। राउत दुवौ दुवौ जनु बाहाँ॥
आइ स्रवन राजा के लागे। मूँसि न जाहि पुरुख जौं जागे॥
बाचा परखि तुरुक हम बूझा। परगट मेरु, गुपुत दर सूझा॥
तुम्ह न करहु तुरुकन्ह सौं मेरू। छर पै करहिं अंत के फेरू॥
बैरी कठिन कुटिल जस काँटा। ओहि मकोइ रहि चूरिहि आँटा॥
सतुरु कोटि जौं पाइअ गोटी। मीठे खाँड जेंवाइअ रोटी॥
हम सो ओछ कँ पावा छातू। मूल गए सँग रहे न पातू॥
इहौ किस्न बलि बार जस, कीन्ह चाह छर बाँध।
हम बिचार अस आवै, मेरहि दीज न काँध॥५५८॥

शब्दार्थ—राउत=सामन्त। स्रवन=कान। मूँसि=लुट जाना। बाचा=बात परखि=परीक्षा करके। मेरू=मेल। पै=ही। फेरू=चक्कर। बैरी=शत्रु, बेर की झाड़। मकोय=कटीला पौधा, जिसमें फल के नीचे ही कांटा होता है। आँटा=दांव। चूरिहि=नष्ट करके। गोटी=दांव। ओछ=नीच। छातू=छत्र। बलि बार=बलि के द्वार पर। मेरहि दीज=मिलाने दीजिए।

अर्थ—गोरा और बादल राजा के पास इस प्रकार के सामन्त थे मानो दोनों भुजाएँ हों। ये लोग आकर राजा के कान में कहने लगे कि यदि पुरुष जाग जाय तो उसकी लूट नहीं हो सकती। हमने सुलतान की बातों की परीक्षा करके ठीक-ठीक समझ लिया है। प्रकट रूप से तो वह मेल करता है पर गुप्त रूप से उसमें सेना छिपी है। इसलिए आप मुसलमानों से सन्धि न कीजिए। ये अवश्य ही अन्त में छल करेंगे। शत्रु इस प्रकार कठिन है जैसे कांटा, मकोय में छिपा रह कर यह दांव लेता है। भाव यह कि छिप कर यह अवश्य दांव लेंगे। शत्रु को आप करोड़ों प्रकार रखें और मीठा-से-मीठा भोजन दें पर जब वह अपना दांव पायेगा, बदला लेगा। यह भी उसी प्रकार छल करना चाहता है जैसे विष्णु ने राजा बलि के द्वार पर किया था, इसलिए हमारे विचार में तो यही आता है कि इसको कंधा न मिलाने दीजिए, अर्थात् इससे सन्धि न कीजिए।

[५५९]

सुनि राजा हियें बात न भाई। जहां मेरु तहँ अस नहिं भाई॥
मंदहि भल जो करै भलु सोई। अंतहु भला भले कर होई॥
सतुरु जौं बिख दै चहै मारा। दीजै लोन जानु बिख सारा॥

बिख दीन्हे बिखधर होइ खाई । लोन देखि होइ लोन बिलाई ।।
मारें खरग खरग कर लेई । मारें लोन नाइ सिर देई ।।
कौरवें बिख जौं पंडवन्ह दीन्हा । अंतहुँ दाँउ पंडवन्ह लीन्हा ।।
जो छर करै ओहि छर बाजा । जैसें सिंघ मँजूसा साजा ।।
राजैं लोनु सुनावा, लाग दुहूँ जस लोन ।
आए कोंहाइ मंदिल कहँ, सिंघ जानु औगौन ।।५५९।।

शब्दार्थ—भाई=अच्छी लगी । मंदहि=बुरे के साथ । लोन=नमक; लावण्य=सुन्दर व्यवहार । बिलाई=गल जायगा । छर=छल । बाजा=सिर पड़ेगा । मंजूसा=बक्स, कठघरा । कोंहाइ=नाराज होकर । औगौन=रस्सी के भीतर ।

अर्थ—गोरा-बादल की बात राजा को अच्छी न लगी । उसने कहा कि हे भाई, जहां मेल होता है वहां ऐसा नहीं होता । बुरे के साथ यदि भला व्यवहार किया जाय तो अन्त में भले का भला ही होगा । यदि शत्रु विष देकर मारना चाहता है तो उसे नमक (सुन्दर व्यवहार) देना चाहिए इससे उसका सारा विष दूर हो जायगा—(जब कोई विष खा लेता है तो उसे नमक पिला कर वमन कराया जाता है ।) विष देने पर तो शत्रु विषधर सर्प बन कर खाने को दौड़ेगा पर नमक देख कर गल जायगा । नमक में गलाने की शक्ति है । भाव यह कि सुन्दर व्यवहार के कारण शत्रु भी शर्मिन्दा होगा । तलवार मारने पर तो वह हाथ में तलवार लेकर खड़ा हो जायगा, पर नमक, (शिष्टाचार) से मारने पर वह सिर नवा देगा । कौरवों ने पाँडवों को विष दिया था इसलिए अन्त में पाँडवों ने कौरवों से दांव लिया ही । जो छल करता है उसका छल उसी को मारता है जैसे ब्राह्मण और सिंह की कहानी में अन्त में सिंह ही कठघरे में रह गया । जब राजा ने नमक (शिष्टाचार) की बात सुनाई तो उन दोनों गोरा-बादल को यह बात ऐसी लगी जैसे घाव पर नमक पड़े । ये दोनों नाराज होकर अपने घर चले आए और जान लिया कि अब सिंह रूपी राजा रतनसेन अलाउद्दीन की रस्सी में बंधना ही चाहता है ।

[५६०]

राजा कें सोरह सै दासीं । तिन्ह महँ चुनि काढ़ीं चौरासीं ।।
बरन बरन सारीं पहराईं । निकसि मँदिल हुँतें सेवाँ आईं ।।
जनु निसरीं सब बीर बहूटीं । रायमुनी पिंजर हुति छूटीं ।।
सबै प्रथम जोबन सौं सोहीं । नैंन बान औ सारँग भौंहीं ।।
मारहिं धनुक फेरि सर ओहीं । पनघट घाट ढंग जित होहीं ।।
काम कटाख रहैं चित हरनी । एक एक तें आगरि बरनी ।।
जानहुँ इंद्र लोक तें काढ़ीं । पाँतिन्ह पाँति भईं सब ठाढ़ीं ।।
साहि पूँछ राघो कहँ, सर तीखे नैनाहँ ।
तैं जो पदुमिनी बरनी, कहु सो कवन इन्ह माहँ ।।५६०।।

शब्दार्थ—बरन-बरन=रङ्ग-रङ्ग की। हुँते=से। सारङ्ग=धनुष। धनुक=धनुष। फेरि=घुमा कर। आगरि=बढ़ कर।

अर्थ—राजा के पास सोलह सौ दासियाँ थीं, उनमें से चुन कर चौरासी निकाली गईं। उन्हें रङ्ग-रङ्ग की साड़ियाँ पहनाई गईं, वे सब महल से निकल कर सेवा में उपस्थित हुईं। मानो बीर बहूटियाँ निकली हैं या पिंजरे से रायमुनियाँ छूटी हुई हैं। सभी जवानी की प्रथमावस्था में सुशोभित हैं, उनके नयन बाणों की भान्ति चलते हैं और भौंहें धनुषाकार हैं। भौंहें घुमा-घुमा कर वे नयन बाण चलाती थीं। पनघट घाट पर के जितने रङ्ग थे, सब दिखा रही थीं। कामोद्दीपक कटाक्ष चला-चला कर चित्त हर रही थीं, वे सब एक-एक से बढ़ कर सुन्दरी थीं। मानो वे इन्द्रलोक से निकाली गयी हैं, पंक्ति-पंक्ति में खड़ी थीं। शाह ने राघवचेतन से तिरछे नैनों के संकेत से पूछा कि तुमने जिस पद्मिनी नारी का वर्णन किया था, वह इन सब में से कौनसी है।

[५६१]

दीरघ आउ पुहुमिपति भारी। इन्ह महँ नाहिं पदुमिनी नारी॥
यह फुलवारि सो ओहि की दासी। कहँ वह केत भँवर सँग बासी॥
वह सो पदारथ, एइ सब मोंती। कहँ वह दीप पतँग जेहि जोती॥
ये सब तरईं सेव कराहीं। कहँ वह ससि देखत छपि जाहीं॥
जौ लहि सूर कि दिस्टि अकासू। तब लगि ससि न करै परगासू॥
सुनि कै साह दिस्टि तर नावा। हम पाहुन, एक मँदिल परावा॥
पाहुन ऊपर हेरै नाहीं। हना राहु अरजुन परिछाहीं॥
तपै बीज जस धरती, सूख बिरह कै घाय।
कब सुदिस्टि कै बरिसै, तन तरिवर होइ जाय॥ ५६१॥

शब्दार्थ—आउ=आयु। ओहि की=उसकी। केत=केतकी। बासी=रहने वाली। तर=नीचे। नावा=झुकाया। पाहुन=मेहमान। हेरै=देखें।

अर्थ—राघवचेतन ने आशीर्वाद दिया कि हे राजा तेरी आयु बड़ी हो, इन सब स्त्रियों में पद्मिनी नहीं है। यह फुलवाड़ी तो उसकी दासी हैं, वह भौंरे (रत्नसेन) के साथ रहने वाली केतकी यहाँ कहाँ है। वह हीरा (पद्मावती) है तो ये सब मोती हैं। वह दीपक कहाँ है, जिसकी ज्योति की ये सब पतंगे हैं। ये सब तो सेवा करने वाली ताराएँ हैं, वह चन्द्रमा (पद्मावती) कहाँ है, जिसे देख कर ये सब छिप जाती हैं। जब तक सूर्य (अलाउद्दीन) की दृष्टि आकाश (महल) पर रहेगी, तब तक चन्द्रमा (पद्मावती) प्रकाशित न होगा। उसकी इस बात को सुन कर शाह ने अपनी दृष्टि नीची कर ली और कहा कि हम तो दूसरे के महल में अतिथि हैं। मेहमान कभी ऊपर नहीं देखता। अर्जुन ने भी तो नीचे की ओर देख कर ही ऊपर की मछली को बेधा था। जैसे पृथ्वी के भीतर पड़ा हुआ बीज सूखी धरती में जलता

पड़ा रहता है, उसी प्रकार विरह की चोट सहता हुआ अलाउद्दीन पड़ा रहा। वह इस आशा में रहा कि कब पद्मावती की सुदृष्टि की वर्षा हो और उसका शरीर प्रफुल्लित होकर एक हरा पेड़ हो जाय।

अलंकार—सांगरूपक।

[५६२]

सेव करहिं दासी चहुँ पासाँ। अछरीं जानु इंद्र कबिलासाँ॥
कोइ लोटा कोंपर लै आईं। साहि सभा सब हाथ धोवाईं॥
कोइ आगें पनवार बिछावहिं। कोइ जेंवन सब लै लै आवहिं॥
कोई माँडि जाहिं धरि जोरी। कोई भात परोसहिं पूरी॥
कोई लै लै आवहिं थारा। कोइ परसहिं बावन परकारा॥
पहिरि जो चीर परोसै आवहिं। दोसरें औरु बरन देखरावहिं॥
बरन बरन पहिरहिं हर फेरा। आव झुंड जस अछरिन्ह केरा॥
पुनि सँधान बहु आनहिं, परसहिं बूकहिं बूक।
करै सँवार गोसाईं, जहाँ परै किछु चूक॥ ५६२॥

शब्दार्थ—कोंपर=परात-पाठान्तर-परात। पनवार=पत्तल। जेंवन=भोजन। माँडि=चावल के माँड़ को पका कर गाढ़ा कर लिया जाता है फिर उसी को घी में तल लेते हैं। बावन परकारा=बावन प्रकार के भोजन। फेरा=चक्कर, बार। बूक=मुट्ठी। सँवार=सँभाल। गोसाईं=राजा।

अर्थ—चारों ओर दासियाँ सेवा में तत्पर हैं, मानों इन्द्रपुरी की अप्सरायें हैं। कोई लोटा और परात ले कर आईं और अलाउद्दीन की सभा के सभी आदमियों का हाथ धुला रही हैं। कोई सब के आगे पत्तल बिछा रही हैं। कोई पत्तल पर मांड रख जाती हैं, कोई चावल परसती हैं, कोई पूड़ी परसती हैं। कोई थाली ले आती है और कोई बावन प्रकार के भोजनों को थाल में से निकाल-निकाल कर रखती जाती हैं। वे साड़ियाँ बदल-बदल करके आती हैं, तो दूसरे प्रकार की दिखाई पड़ती हैं। हर चक्कर में वे नयी रंग की साड़ी पहनत हैं, मानो अप्सरियों का झुंड है। फिर अनेक प्रकार के अचार लाती हैं। मुट्ठी भर-भर परसती हैं। जब परसने में कुछ भूल हो जाती है तो राजा स्वयं सँभाल करते थे।

[५६३]

जानहुँ नखत रहहिं रबि सेवाँ। बिनु ससि सूरहि भाव न जेंवा॥
सब परकार फिरा हर फेरें। हेरा बहुत न पावा हेरें॥
परी असूझ सबै तरकारी। लोनी बिना लोन सब खारी॥
मंछ छुअै आवहिं कर काँटे। जहाँ कँवल तहँ हाथ न आँटे॥
मन लागेउ तेहि कँवल की डंडी। भावै नहिं एकौ कठहंडी॥

सो जेंवन नहिं जाकर भूखा। तेइ बिनु लाग जानु सब रूखा ॥
अनभावत चाखै बैरागा। पंच अंब्रित जानहुँ बिख लागा ॥
बैठि सिंघासन गूँजै, सिंघ चरै नहिं घास।
जौं लहि मिरिग न पावै, भोजन गनै उपास ॥ ५६३ ॥

शब्दार्थ—जेंवाँ=भोजन। भाव न=अच्छा नहीं लगता। हेरा=खोजा। आँटै=पहुँचता। कठहंडी-पाठान्तर-कनडंडी=दासी। गूँजै=गरजता है। मिरिग=जानवर। उपास=उपवास।

अर्थ—दासियाँ तारों की भाँति सूर्य (अलाउद्दीन) की सेवा में हैं। पर चन्द्रमा (पद्मावती) के बिना अलाउद्दीन को भोजन नहीं रुचता। हर बार सब प्रकार के भोजन लौट गये। अनेक बार उसने पद्मावती को खोजा, पर खोजने से पा न सका। उसे सभी प्रकार की तरकारियाँ अप्रिय हो गयीं, उस सुन्दरी के बिना नमक के समान सब खारी लगीं। जब वह मछली छूता तो उसके हाथ में काँटे ही लगते पर जहाँ कमल (पद्मावती) है, उसका हाथ ही नहीं पहुँचता। उसका मन तो उसी कमल की डंडी पर लगा हुआ है, उसको एक भी दासी अच्छी नहीं लगती। जिस चीज की भूख है यदि वही न मिले तो भोजन अच्छा नहीं लगता, उसके बिना सब कुछ नीरस लगता है। विरक्त होकर बिना मन के खा रहा था। पाँचों अमृत उसे विष के समान लग रहे थे। सिंह अपने आसन पर बैठा भूख के मारे गरजा करता है पर घास कभी नहीं खाता, जब तक उसे हिरन आदि कोई जीव नहीं मिलता वह भोजन को उपवास समझता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

[५६४]

पानि लिहें दासीं चहुँ ओरा। अंब्रित बानी भरें कचोरा ॥
पानी देहिं कपूर क बासा। पियै न पानी दरस पियासा ॥
दरसन पानि देइ तौ जीयौं। बिनु रसना नैनन्ह सौं पीयौं ॥
पीउ सेवाती बुंदहि अघा। कौनु काज जौं बरिसैं मघा ॥
पुनि लोटा कोंपर लै आईं। कै निरास अब हाथ धोवाईं ॥
हाथ जो धोवें बिरह करोरा। सँवरि सँवरि मन हाथ मरोरा ॥
बिधि मिलाउ जासौं मन लागा। जोरि न तोरु पेम कर तागा ॥
हाथ धोइ जस बैठेउ, ऊभि लीन्ह तस साँस।
सँवरा सोई गोसाईं, देहि निरासहिं आस ॥ ५६४ ॥

शब्दार्थ—कचोरा=कटोरा। अघा=अघाता है। मघा=एक नक्षत्र। कोंपर=परात। करोरा=खरोच रहा है। मरोरा=मरोड़ता है, मलता है।

अर्थ—भोजन के उपरान्त दासियाँ पानी लेकर चारों ओर घूमने लगीं। अमृत के रंग का पानी कटोरों में भरा है। पानी ऐसा दे रही हैं जिनमें कपूर की सुगन्ध है। पर अलाउद्दीन तो दर्शन का प्यासा है अत: पानी नहीं पीता। कहता है दर्शन रूपी पानी दो तो पिऊँ और उस दर्शन रूपी पानी को बिना जीभ के आंखों से पी लूँगा। पपीहा तो स्वाति की एक बूँद को ही पीकर तृप्त हो जाता है, मघा यदि मूसलधार बरसे तो क्या ? फिर दासियाँ लोटा और परात लेकर आईं और उसे निराश करके हाथ धुलाने लगीं। जब वह हाथ धोने लगा तो हाथ को मसल रहा है, मानो विरह को वह खरोंच रहा है। मन में पद्मावती का स्मरण करके वह हाथ को मरोड़ता जाता है। वह सोचता है कि हे ईश्वर उससे मिलाओ जिससे मेरा मन लगा है, एक बार जोड़कर फिर प्रेम के तागे को मत तोड़ो। हाथ धोकर बैठते ही उसने ऊँची साँस ली, उस ईश्वर का स्मरण किया जो निराशा की आशा है।

[५६५]

भै जेंवनार फिरा खँडवानी। फिरा अरगजा कुंकुहँ बानी॥
नग अमोल सौ थारा भरे। राजैं सेवा आनि कै धरे॥
बिनती कीन्ह घालि गियँ पागा। ऐ जग सूर सीउ मोहि लागा॥
औगुन भरा कांप यह जीऊ। जहाँ भान तहँ रहै न सीऊ॥
चारिहुँ खँड भान अस तपा। जेहि की दिस्टि रैनि मसि छपा॥
कँवल भान देखे पै हँसा। औ भानहि चाहै परगसा॥
औ भानहि असि निरमरि करा। दरस जो पाव सोइ निरमरा॥
रतन स्यामि तहँ रैनि मसि, ऐ रबि तिमिर संघार।
करु सुदिस्टि औ किरिपा, देवस देहि उजियार॥५६५॥

शब्दार्थ—खँडावनी=शरबत। घालि=डाल कर। सीउ=शीत।

अर्थ—भोजन समाप्त हुआ, इसके बाद शरबत चला। उसमें अरगजा, केसर और कस्तूरी आदि की सुगन्ध थी। अमूल्य रत्नों से भरे सौ थालों को राजा ने अलाउद्दीन की सेवा में प्रस्तुत किया। फिर गर्दन को झुका कर उसने विनय किया कि हे संसार के सूर्य ! मुझे तो शीत लग रहा है। मैं अवगुणों से भरा हूँ इसलिए कांप रहा हूं, जहाँ सूर्य होता है वहाँ शीत नहीं रह सकता। तू सारे विश्व में सूर्य की भाँति तप रहा है, जिसकी दृष्टि से रात की अंधियारी छिप जाती है। कमल सूर्य के दर्शन को पाकर ही प्रफुल्लित हो जाता है और चाहता है कि सूर्य प्रकाशित हो। भाव यह है कि मैं चाहता हूं, कि आपके सहारे मेरा भी प्रकाश हो। मैं रात के अँधेरे के समान रत्नसेन हूं और तू अँधेरे को नष्ट करने वाला सूर्य है, अतः तू दृष्टि और कृपा कर जिससे मैं भी दिन में प्रकाशित हो सकूँ।

[५६६]

सुनि बिनती बिहँसा सुलतानू। सहसहुँ करा दिपै जस भानू॥
अनु राजा तूँ साँच जड़ावा। भै सुदिस्टि सो सीउ छड़ावा॥
भान की सेवा जाकर जीऊ। तेहि मसि कहाँ कहाँ तेहि सीउ॥
खाहि देस आपन करु सेवा। औरु देउँ माँडौ तोहिं देवा॥
लीक प्रवान पुरुष कर बोला। धुव सुमेरु तेहि उपरैं डोला॥
बहुरि पसाउ दीन्ह जग सूरू। लाभ देखाइ लीन्ह चक मूरू॥
हँसि हँसि बोलै, टेकै काँधा। प्रीति भुलाइ चहै छरि बाँधा॥
माया बोलि बहुत कै, पान साहि हँसि दीन्ह॥
पहिलें रतन हाथ कै, चाहै पदारथ लीन्ह॥५६६

शब्दार्थ—जड़ावा=ठंडक पा रहा है। माडौ=माँडौ गढ़। लीक प्रवान=पत्थर की रेखा के समान प्रामाणिक। पसाउ=प्रसाद। मूरू=मूलधन। रत्न=रत्नसेन। पदारथ=पद्मावती।

अर्थ—राजा की विनती को सुन कर सुलतान हँस पड़ा, हजारों किरणों के साथ जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार वह प्रफुल्लित हो गया। उसने कहा कि सचमुच राजा तू ठंडक पा रहा है, अब मेरी सुदृष्टि तेरे ऊपर हो गई। अब तेरा शीत छूट गया। जिसका चित्त सूर्य की सेवा में है उसे कहाँ अँधेरा रह सकता है और कहाँ शीत रह सकता है ? तू अपने देश का उपभोग कर और हमारी सेवा में रह और साथ में मैं तुम्हें मांडौगढ़ भी दे रहा हूँ। पत्थर की लीक के समान पुरुष की बात प्रामाणिक होती है, ध्रुव और सुमेरु उसके वचनों के सम्मुख चलायमान हैं। फिर उस जग सूर्य अलाउद्दीन ने राजा को प्रसाद दिया। कवि कहता है इस प्रकार लाभ दिखा कर वह मूलधन ही हड़प कर जाना चाहता है। हँस-हँस कर बोलता है और कंधे पर हाथ रखता है, प्रीति में भुला कर छल से बाँधना चाहता है। झूठी माया की बोलियों से बोल कर शाह ने राजा को हँस कर पान दिया। इस प्रकार पहले वह रत्नसेन रूपी रत्न को हाथ में करके फिर हीरा रूपी पद्मावती को लेना चाहता है।

अलंकार—रूपक।

[५६७]

मया सूर परसन भा राजा। साहि खेल सतरँज कर साजा॥
राजा है जौ लहि सिर घामू। हम तुम्ह घरिक करहिं निसरामू॥
दरपन साहि पँत तहँ लावा। देखौं जबहि झरोखें आवा॥
खेलहिं दुवौ साहि औ राजा। साहि क रुख दरपन रह साजा॥

पेम क लुबुध पयादें पाऊँ। चलै सौहँ ताकै कोनहाऊँ ।।
घारा दै फरजी बँदि लावा। जेहि मोहरा रुख चहै सो पावा ।।
राजा फील देइ सह माँगा। सह दै साहि फरजी दिग खाँगा ।।
फीलहि फील ढुकावा, भए बुवो चौ दंत।
राजा चहै बुरुद भा, साहि चहै सह मंत ।।५६७।।

शब्दार्थ—ररसन भा=प्रसन्न हुआ। पाठान्तर-माया-मोह बिबस भा राजा। घरिक=एक घड़ी। पैंत-पाठान्तर=भीति। फील=हाथी। सह=शह, मात। ढुकावा=गिराया। बुरुद=खेल की वह अवस्था जब किसी पक्ष के सब मोहरे मर जाते हैं और केवल बादशाह बच रहता है, यह आधी हार मानी जाती है। सहमंत=पूरी हार।

अर्थ—अलाउद्दीन (सूर) की माया से राजा रत्नसेन प्रसन्न हो गया। शाह ने तब शतरंज की खेल का सामान तैयार किया और कहा कि हे राजा जब तक सिर पर सूर्य है हम तुम दोनों थोड़ा मनोविनोद करें। शाह ने अपने बगल में एक दर्पण लगा लिया ताकि जब पद्मावती झरोखे पर आये तो वह उसका दर्शन कर ले। फिर दोनों शाह और राजा खेलने लग गये। शाह का रुख सदा ही दर्पण पर रहा। प्रेम का लोभी शाह अपने पैंदल की गोटों को चलता है—सामने गोट चलता है और दर्पण पर देखता है कि वह किस जगह पर है? अपने घोड़े को देकर उसने राजा को फरजी बन्द दिया। अर्थात् प्यादे से बादशाह को राह दे दी। इतने में राजा भी जो मोहरा चाहता था पा गया। उसने हाथी को बढ़ा कर शह मांगी। इधर शाह ने भी शह देकर फरजी की हानि कर ली। हाथी से हाथी मारा गया, दोनों बड़े प्रसन्न हुए। राजा तो बुर्द की स्थिति चाहता है जिसमें केवल बादशाह बचता है और विपक्षी के आधीन हार होती है और शाह पूरी हार देना चाहता है।

[५६८]

सूर देखि ओइ तरईं दासीं। जहँ ससि तहाँ जाइ परगासीं ।।
सुना जो हम ढीली सुलतानू। देखा आजु तपै जस भानू ।।
ऊँच छत्र ताकर जग माँहाँ। जग जो छाँह सब ओहि की छाँहाँ ।।
बैठि सिंघासन गरबन्ह गूँजा। एक छत्र चारिहुँ खँड भूँजा ।।
सौहँ न निरखि जाइ ओहि पाहीं। सबै नवहिं कै दिस्टि तराहीं ।
मनि माँथें, ओहि रूप न दूजा। सब रुपवंत करहिं ओहि पूजा ।।
हम अस कसा कसौटी आरसि। तहूँ देखु कंचन कस पारस ।।
पातसाहि ढीली कर, कत चितउर महँ आव।
देखि लेहि पदुमावति, हियँ न रहै पछिताव ।।५६८।।

शब्दार्थ—परगासीं=प्रकाशित हुई, प्रसन्नतापूर्वक कहा। तपै=प्रकाशित है। भूँजा=भोग करता है।

अर्थ—सूर्य (अलाउद्दीन) को देख कर तारा रूप दासियाँ प्रसन्नता पूर्वक वहाँ गईं, जहाँ चन्द्रमा (पद्मावती) थी और कहा कि हमने जो दिल्ली का सुलतान सुना है, उसे आज देखा। वह सूर्य के समान तप रहा है। संसार में उसका राज्य छत्र सबसे ऊँचा है, संसार में जो छाया है वह सब उसी के छत्र की छाया है। अपने सिंहासन पर बैठ कर गर्व से गूँजता रहता है। वह एकछत्र राजा होकर सारे संसार का भोग करता है। उसके सामने देखा नहीं जाता। सभी उसके सामने नीची दृष्टि करके झुक जाते हैं। उसके मस्तक पर मणि है और उसके रूप के समान कोई दूसरा नहीं है, सभी रूप वाले उसकी सेवा करते हैं। हमने उसके रूप को दर्पण रूपी कसौटी पर कसा है। अर्थात् दर्पण में उसके रूप को देख कर परीक्षा की है। तू भी देख कि यह पारस या सोना कैसा है ? दिल्ली का बादशाह क्यों कर चित्तौड़ में आयेगा, हे पद्मावती ! देख लो फिर हृदय में पछतावा न रहे।

[५६६]

बिगसि जो कुमुद कहै ससि ठाँऊ। बिगसा कँवल सुनत रबि नाऊँ॥
भै निसि ससि धौराहर चढ़ी। सोरह करा जैसि बिधि गढ़ी॥
बिहँसि झरोखें आइ सरेखी। निरखि साहि दरपन महँ देखी॥
होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना॥
रुख माँगत रुख तासौं भएऊ। भा सह मात, खेल मिटि गएउ॥
राजा भेदु न जानै झाँपा। भै बिख नारि, पवन बिनु काँपा।
राघौ कहा कि लाग सुपारी। लै पौढावहु सेज सँवारी॥
रैनि बिहानी भोर भा, उठा सूर तब जागि।
जौं देखै ससि नाहीं, रही करा चित लागि॥५६६॥

शब्दार्थ—सरेखी=चतुर। निरखि=देख कर। लोना=सुन्दर। परस=स्पर्श, पारस। सह=शाह। रुख=शतरंज के मोहरे का रुख। रुख=पद्मावती का चेहरा। मात=मतवाला, मूर्छित। झाँपा=छिपा हुआ। लाग सुपारी=सुपारी का बीज जब कोई खा लेता है तो उसे हलकी मूर्छा आ जाती है, इसे सुपारी लगना कहते हैं। पौढ़ावहु=लेटाओ।

अर्थ—कुमुद रूपी दासियों ने जब प्रसन्न होकर पद्मावती (शशी) से कहा तो कमल रूपी पद्मावती का मुख सूर्य (अलाउद्दीन) का नाम सुन कर खिल उठा। (यहाँ कवि ने पद्मावती के लिए दो उपमान शशी और कमल एक ही स्थान पर प्रयोग किये हैं, कारण यह है कि कुमुद रूपी सखियों के लिए तो वह शशी है—सखियाँ उसे देख कर ही खिलती हैं। जायसी ने अलाउद्दीन की उपमा सूर्य से दी है अतः अपने सरल स्वभाव के कारण उस में जो मुसकान बादशाह के नाम से आई उसके लिए कवि ने कमल से उपमा दी) जब रात होने लगी तो वह धौराहर के ऊपर चढ़ गई, वह सोलहों कला से युक्त थी जैसा की ब्रह्मा ने उसे गढ़ा था। उस चतुरा ने झरोखे में विहँस कर शाह की ओर देख कर दर्पण में शाह को

देखा। दर्शन के होते ही उसका सुन्दर स्पर्श प्रकृति से हुआ। उस स्पर्श से सारी पृथ्वी और आकाश स्वर्णाभा से भर गया। क्योंकि उसका रूप तो पारस था, उसके संसर्ग से सब कुछ स्वर्ण हो गया, (आध्यात्मिक संकेत यह है कि उस परम तत्व की झलक से सभी कुछ सुन्दर भासने लगा)। शाह मोहरे का रुख माँगता था, इतने ही में उसने उसकी ओर देखा ही थी कि मूर्छित हो गया और खेल खतम हो गया। राजा इस छिपे हुए भेद को न जान सका, वह नारी (पद्मावती) उसके लिए विष हो गयी, प्राण वायु के बिना वह काँपने लगा। अथवा शाह को विषकन्या का विष चढ़ गया, इससे बिना वात रोग के भी वह कांपने लगा। राघवचेतन ने तो बहाना बनाया कि इस सुपारी लग गई है, सेज सँवार कर इसे उस पर लेटाओ। रात बीती, सवेरा हुआ। तब अलाउद्दीन जगकर उठा पर देखने पर उसे पद्मावत (शशी) नहीं दिखाई पड़ी, उसकी कला ही उसके चित्त में लगी रही।

[५७०]

भोजन पेम सो जान जो जेंवा। भँवर न तजै बास रस केंवा॥
दरस दिखाइ जाइ ससि छपी। उठा भान जस जोगी तपी॥
राघौ चेतनि साहि पहँ गएऊ। सूरुज देख कँवल बिख भएऊ॥
छत्रपती मन कहाँ पहूँचा। छत्र तुम्हार गँगन पर ऊँचा॥
पाट तुम्हार देवतन्ह पीठी। सरग पतार रैनि दिन डीठी।
छोह त पलुहै उकठा रूखा। कोह त महि सायर सब सूखा॥
सकल जगत तुम्ह नावँ माथा। सब की जियनि तुम्हारे हाथा॥

दिन न नैन तुम्ह लावहु, रैनि बिहावहु जागि।
अब निचिंत अस सोए, काहे बेलँब असि लागि॥५७०॥

शब्दार्थ—भोजन पेम=प्रेम का भोजन। जो जेंवा=जो खाता है। केंवा=कमल। छोह=कृपा। पलुहै=पल्लवित होता है। उकठा=रूखा हुआ, सूखा पेड़। कोह=क्रोध। बिहावहु=व्यतीत करते हो।

अर्थ—प्रेम के भोजन को तो वही जानता है जो उसे खाता है। भौंरा कमल के रस और महक को नहीं छोड़ता। दर्शन दिखा कर पद्मावती (शशी) छिप गई और अलाउद्दीन (सूर्य) ऐसे उठा जैसे कोई जोगी तपस्वी हो। राघवचेतन शाह के पास गया। उसने देखा कि अलाउद्दीन (सूरज) पद्मावती (कमल) को देख कर विष का मारा हो गया है। उसने कहा कि हे शाहंशाह! तुम्हारा मन कहाँ पहुँच गया है। तुम्हारा राज्य-छत्र तो आकाश पर ऊँचा चढ़ा है। तुम्हारा सिंहासन तो देवताओं की पीठ पर है, स्वर्ग, पाताल, रात-दिन सर्वत्र ही तेरी प्रभुता है। यदि तू कृपा कर दे तो सूखा हुआ पेड़ भी पल्लवित हो जाता है और यदि तु क्रोध करे तो पृथ्वी, सागर सभी सूख जायें। सारा संसार तुम्हें माथा नवाता है, सबका जीना तुम्हारे ही हाथ है।

तुम तो दिन में आँखें लगने नहीं देते थे और रात को जग कर व्यतीत करते थे पर आज तो निश्चिन्त हो कर सो गये और इतनी देर तक क्यों सोते रहे ?

[५७१]

देखि एक कौकुत हौं रहा। अहा अँतरपट, पै नहिं अहा ।।
सरवर एक देख मैं सोई। अहा पानि, पै पानि न होई ।।
सरग आइ धरती महँ छावा। अहा धरति, पै धरति न आवा ।।
तेहि महँ है पुनि मंडप ऊँचा। करहि अहा, पै कर न पहूँचा ।।
तेहि मंदिल मूरति मैं देखी। बिनु तन, बिनु जिय जियैं बिसेखी ।।
चाँद सँपूरन जन होइ तपी। पारस रूप दरस दै छपी ।।
अब जहँ छत्र दिसै जिउ तहाँ। भान अमावस पावैं कहाँ ।।
बिगसा कँवल सरग निसि, जनहुँ लौकि गा बीजु।
यहौ राहु भा भानहिं, राघौ मनहि पतीजु ।।५७१।।

शब्दार्थ—कौकुत=कौतुक, अचम्भा। अँतरपट=परदा। अहा=था। लौकि गा= चमक उठा। भान अमावस=अमावस्या के दिन चन्द्रमा की एक किरण भी नहीं होती। अमावस्या में इसीलिए ग्रहण भी सूर्य का होता है चन्द्रमा का नहीं। बीजु=बिजली। पतीजु=विश्वास करो।

अर्थ—अलाउद्दीन ने राघवचेतन से कहा कि मैं एक अचम्भा देख रहा हूँ—पर्दा है भी और पर्दा है भी नहीं, अर्थात् मैंने देखा तो शीशे में उसका प्रतिबिम्ब पर समझ में ऐसा पड़ता है कि वह वास्तविक रूप ही था। आध्यात्मिक अर्थ में ब्रह्म और जीव के बीच में माया रूपी पर्दा है पर वास्तव में दोनों अद्वैत हैं। अथवा साधक को रहस्य की पहली झांकी में जीव और ईश्वर के बीच व्यवधान हट तो जाता है पर प्राप्ति नहीं होती, इस प्रकार पर्दा हटता भी है और नहीं भी हटता। मैंने एक सरोवर देखा, उसमें पानी था पर वह पानी न था—मैंने पद्मावती का रूप तो देखा पर वास्तव में तो दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब मात्र था—ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही तो माया का रूप है पर वास्तव में वह माया मिथ्या है। स्वर्ग आकर धरती में छा गया, धरती पर आया तो पर सचमुच धरती पर नहीं आया—धौराहर पर की पदमावती पृथ्वी पर दर्पण के द्वारा आ तो गई पर वास्तव में तो वह ऊपर ही थी—विश्व में उस विश्वात्मा का रूप तो है पर जगत् से परे। उसमें एक ऊँचा मंडप है जो हाथ में ही है पर हाथ वहां तक नहीं पहुँचता—उस दर्पण में सारा महल दिखाई पड़ता है—दर्पण हाथ में ही है पर दर्पण वाला प्रतिबिम्ब हाथ से बहुत दूर है—ब्रह्म जगत् के अणु-अणु में विद्यमान है पर कोई उसे प्राप्त नहीं कर पाता। उस मन्दिर में मैंने एक मूर्ति देखी जो बिना शरीर और बिना जीव के है, फिर भी जीती है—

o'h God please give me Success with Credit (please only 2nd class)

दर्पण के महल में पद्मावती थी, पर शरीर के होते हुए भी छाया मात्र थी। ब्रह्म का स्वरूप तो निराकार है पर उसका चिरन्तन अस्तित्व निश्चित है।

सम्पूर्ण सोलह कलाओं का चन्द्रमा बन कर पद्मावती प्रकाशित हुई। वह रूप क पारस दर्शन देकर छिप गयी। अब जहां उसका छत्र है वहीं मेरा जी है पर अमावस्या के चांद (महल के भीतर वाली पद्मावती) को सूर्य (अलाउद्दीन, मैं) कैसे पा सकता है ? कमल रूपी पद्मावती स्वर्ग रूपी धौराहर पर चमकी, जैसे बिजली चमकती है। यही सूर्य (अलाउद्दीन) के लिए राहु हो गया अर्थात् अमावस्या के दिन राहु सूर्य को ग्रसेगा, अब पद्मावती अप्राप्त है और उसका विरह रूपी राहु मुझे (सूर्य रूपी अलाउद्दीन को) ग्रसेगा। हे राघव तू ! मेरा विश्वास कर, यह एक अचम्भा है पर इसमें भेद है।

अलङ्कार—अप्रस्तुतप्रशंसा, रूपक।

राम राम राम

[५७२]

अति बिचित्र देखेउँ सो ठाढ़ी। चित कै चित्र, लीन्ह जिय काढ़ी।
सिंघ कै लंक कुंभस्थल जोरू। अंकुस नाग, महावत मोरू ॥
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू। फिरि अलि लीन्ह पुहुप रस बासू ॥
दुहुँ खंजन बिच बैठेउ सुवा। दुइज कै चाँद धनुक लै उवा ॥
मिरिग देखाइ गवन फिरि किया। ससि भा नाग, सुरुज भा दिया ॥
सुठि ऊँचे देखत औचका। दिस्टि पहुँचि, पर पहुँचि न सका ॥
भुजा बिहूनि दिस्टि कत भई। गहि न सके, देखत वह गई ॥
राघौ आघौ होत जौं, कत आछत जियँ साध।
ओहि बिनु आघ बाघ बर, सकै त लै अपराध ॥५७२॥

सरलार्थ—कुंभस्थल जोरू=दो कुच। उवा=उदय हुआ। आघौ=तृप्ति। आछत=रहती। साध=मनोवांछा। आघ बाघ=बाघ का सूंघना अर्थात् शेर का खा जाना, कहावत है कि रीछ और शेर जीव को पहले सूंघते हैं, फिर यदि जीवित पाते हैं तो खा जाते हैं। मुर्दे को नहीं खाते। दोहे का पाठान्तर—

राघव हेरत जिउ गएउ, कित आछत जो असाध।
यह तन राख पाँख कै, सकै न केहि अपराध ॥

अर्थ—मैंने वह खड़ी हुई अत्यन्त विचित्र सी देखी। हृदय में अपना चित्र बैठा कर उसने मेरे जीव को निकाल लिया। उसकी कमर सिंह की कमर की भांति और उस पर दो कुच हैं। उस गज की गतिवाली का अंकुश नाग रूपिणी चोटी है और महावत मोर रूपी उसकी गर्दन है। उसके ऊपर कमल रूपी मुख खिला है, फिर भौंरा रूपी तिल उस पुष्प (गाल) का रस ले रहा है। दो खंजन रूपी आंखों के बीच में तोता रूपी नाक है। दूज का चांद जैसा मत्था है, जिस पर धनुष रूपी भौंहें हैं। मृग रूपी आंखें दिखा कर फिर वह लौट गई। वह चन्द्रमुखी नाग हुई और मैं (सूर) उसके सामने दीपक हो गया।

अर्थात् जैसे सांप के सामने दीपक झिलमिला जाता है (ऐसी एक कहावत है), उसी प्रकार उसे देख कर मैं चकाचौंध हो गया। एकाएक ऊँचे देखा, पर एक बार देखने के बाद भी प्रत्यक्ष दृष्टि न पहुँच सकी। भुजाओं से रहित दृष्टि क्यों हुई, क्योंकि वह पकड़ तो सकती नहीं केवल देख कर रह जाती है। हे राघवचेतन ! यदि तृप्ति होती तो जी में देखने की इच्छा क्यों रहती। इसके प्रति यदि तृप्ति नहीं तो इससे तो अच्छा शेर है, मुझे शेर के सामने रख देते, अब तो मेरी हत्या का अपराध यदि ले सकते हो तो लो।

[५७३]

राघौ सुनत सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भान कै करा॥
ओहि करा, औ रूप बिसेखी। निस्चैं तुम्ह पदुमावति देखी॥
केहरि लंक कुंभस्थल हिया। गीवँ मंजूर, अलक रबि दिया॥
कँवल बदन औ बास समीरू। खंजन नैन नासिका कीरू॥
भौंहँ धनुक, ससि दुइज लिलाटू। सब रानिन्ह ऊपर वह पाटू॥
सोई मिरिग देखाइ जो गएऊ। बेनी नाग, दिया चित भएऊ॥
दरपन महँ देखी परिछाँहीं। सो मूरति, जेहि तन जिय नाहीं॥
सबहि सिंगार बनी धनि, अब सोई मत कीज।
अलक जो लगुने अधर कें, सो गहि कै रस लीज॥५७३॥

शब्दार्थ—रबि दिया=अलक रूपी नागों ने सूर्य रूपी रत्नसेन को दीपक बना दिया—देखिये पद ५७२।५—पाठान्तर-वेधिया=अंकुश। पाटू=पटरानी।

अर्थ—राघवचेतन ने इस बात के सुनते ही अपने मस्तक को भूमि पर रख दिया और कहा कि हे बादशाह ! तुम्हारा राज्य सूर्य के तेज की भाँति जुग-जुग रहे। उसकी कला और विशेष रूप आपने देखा। निश्चय ही वह पद्मावती थी। उसी की कमर सिंह की कमर के समान है और हाथी के कुंभस्थल के समान छाती है, ग्रीवा मोर की भाँति और चोटी नाग के समान है जिसके कारण सूर्य रूपी अलाउद्दीन निस्तेज दीपक होकर झलमलाने लगा था। कमल के समान मुख और सुगन्धित बास है। खंजन के समान आंखें और तोते के समान नाक है। उसी की भौंहें धनुष के समान और ललाट द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति है। वही सभी रानियों में पटरानी है। उसी ने नैन मृग दिखाये हैं, उसी की वेणी रूपी नाग के सामने तेरा चित्त दीपक की भांति झलमला उठा है। तुमने दर्पण में उसकी परछाहीं देखी है। वह तो प्रतिबिम्ब था, उसमें जीव नहीं था—भाव यह कि जब प्रतिबिम्ब देख कर तेरी यह हालत हुई तो भला उसका प्रत्यक्ष रूप देख कर तेरा क्या हाल होगा ?

वह पद्मावती सभी शृङ्गारों से युक्त है अतः अब वही मत करना चाहिए जिससे जो चोटियाँ अधरों पर लटक रही हैं उन्हें पकड़ कर अधरों का रस ले सको।

———

४७. रत्नसेन-बन्धन-खण्ड

[५७४]

मत भा माँगा बेगि बेवानू । चला सूर सँवरा अस्थानू ।।
चलन पंथ राखा जो पाऊ । कहाँ रहन थिर कहाँ बटाऊ ।।
पंथिक कहाँ कहाँ सुस्ताई । पंथ चलें पै पंथ सिराई ।।
छर कीजै बर जहाँ न आँटा । लीजै फूल टारि कै काँटा ।।
बहुत मया सुनि राजा फूला । चला साथ पहुँचावै भूला ।।
साहि हेतु राजा सौं बाँधा । बातन्ह लाइ लीन्ह गहि काँधा ।।
घिउ मधु सानि दीन्ह रस सोई । जो मुख मीठ, पेट बिख होई ।।
अमिय बचन औ माया, को न मुएउ रस भीजि ।
सतुरु मरैं जौं अंब्रित, कत ताकहँ बिख दीज ।।५७४।।

शब्दार्थ—मत-पाठान्तर-मीत । सँवरा=स्मरण किया । बटाऊ=पथिक । सुस्ताई=आलस्य करेगा । सिराई=खतम होगा । छर=छल । बर=बल । आँटा=पूरा हो । मया=दया-मोह ।

अर्थ—राय हुई, शाह ने प्रस्थान के लिए विमान माँगा और अलाउद्दीन (सूर) अपने स्थान को स्मरण करके चल पड़ा । जिसने चलते हुए मार्ग पर पैर रख दिया । वह पथिक होने के कारण स्थिर कैसे रह सकता है ? राहगीर कहाँ-कहाँ आलस्य करेगा, उसका रास्ता तो चलने पर ही समाप्त होगा । जहाँ बल पूरा नहीं पड़ता वहां छल किया जाता है, कांटे को हटा कर फूल निकाला जाता है । शाह की बहुत दया को सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, भूल कर उसे पहुँचाने के लिए उसके साथ चला । शाह ने राजा से बड़ा प्रेम रखा, बातों में लगा कर उसके कन्धे पकड़ लिए । घी में मिलाकर शहद देने से मुख तो मीठा होता है पर वह पेट में विष हो जाता है । अमृत के समान मीठे वचन और माया के रस में भीग कर कौन नहीं मरता, जब शत्रु अमृत के देने से मरे तो उसे विष क्यों दें ।

अलंकार—लोकोक्ति ।

इस पद के उपरान्त भी पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादिक ग्रन्थावली में एक पद है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त क्षेपक मानते हैं। पद इस प्रकार है—

चाँद घरहि जौ सूरुज आवा। होइ सो अलोप अमावस पावा ॥
पूछहिं नखत मलीन सो मोती। सोरह कला न एकौ जोती ॥
चाँद क गहन अगाह जनावा। राज भूलि गहि साह चलावा ॥
पहिलौं पँवरि नाघि जौ आवा। ठाढ़ होहि राजहि पहिरावा ॥
सौ तुषार, तेइस गज पावा। दुंदुभि औ चौघड़ा दियावा ॥
दूजी पँवरि दीन्ह असवारा। तीजि पँवरि नग दीन्ह अपारा ॥
चौथि पँवरि देइ दरब करोरी। पँचईं दुइ हीरा कै जोरी ॥
छठइँ पँवरि देइ माड़ौ, सतइँ दीन्ह चँदेरि।
सात पंवरि नाँघत नृपहि, लेइगा बाँधि गरेरि ॥

भाव यह कि जब से पद्मावती (चंद्र) के घर अलाउद्दीन (सूर्य) आया, पद्मावती लुप्त हो गई जैसे अमावस में चन्द्रमा लुप्त हो जाता है। सखियां (नक्षत्र) पूछती हैं पर पद्मावती की मलिनता नहीं जाती। इस चन्द्र-ग्रहण की बात पहले ही (गोरा-बादल के द्वारा) बता दी गई थी फिर भी भूल कर राजा शाह को पकड़े हुए आगे चला गया। अलाउद्दीन ने पहली पौड़ी पर राजा को खिलअत पहनाई, और सौ तुखारी घोड़े, तेइस हाथी, दुंदुभी और चौघड़ा बाजा दिया, दूसरी पर सवारो, तीसरी पर अनेक रत्न, चौथी पर करोड़ द्रव्य, पांचवीं पर मांडो गढ़ और सातवीं पर चंदेरी दिये पर सातवीं डेवढ़ी के पार करते ही उसने राजा को घेर लिया और बांध लिया।

[५७५]

एहि जग बहुत नदी जल जूड़ा। कौन पार भा, को नहिं बूड़ा ॥
को न अंध भा आँखि न देखा। को न भएउ डिठियार सरेखा ॥
राजा कहँ बियाधि भै माया। तजि कबिलास परे भुइँ पाया ॥
जेहि कारन गढ़ कीन्ह अँगूठी। कत छाँड़ँ जौं आवै मूँठी ॥
सतुरुहि कोउ पाव जौं बाँधी। छाँडि़ आपु कहँ करै बियाधी ॥
चारा मेलि धरा जस माछूँ। जब हुँति निकसि सकत मुव काछू ॥
मंत्रन्ह नाग पेटारें मूँदा। आंश मिरिग पैग नहिं खूँदा ॥
राजा धरा आनि कै, औ पहिरावा लोह।
अैस लोह सो पहिरै, जो चेत स्यामि कहँ दोह ॥५७५॥

शब्दार्थ—डिठियार=देखने वाला। सरेखा=चतुर। अँगूठी=घेरा। हुँति=से। काछू=कछुआ। मूँदा=बन्द किया। खूँदा=उछलता। चेत=सोचता है। स्यामि=स्वामी। दोह=द्रोह।

अर्थ—इस संसार-सागर में बहुत सी नदियों का जल एकत्रित है, कौन है जो पार हो गया और कभी डूबा नहीं—अर्थात् सभी कभी न कभी भूल कर जाते हैं और धोखा खाते हैं। कौन सा आंख वाला और चतुर व्यक्ति कभी न कभी अन्धा नहीं हो जाता और उसका सत्-असत् का विवेक नष्ट नहीं हो जाता। राजा को अलाउद्दीन की माया ही दुःख का कारण बनी। उसने स्वर्ग के समान अपने गढ़ को छोड़ कर ज़मीन पर पैर रक्खा। जिस मतलब से अलाउद्दीन ने गढ़ पर घेरा डाल रखा था उसे वह कब छोड़ सकता है, जब वह उसकी मुट्ठी में ही आ गया। शत्रु को यदि कोई कभी बाँध पावे और छोड़ दे तो वह अपने को ही दुःख पहुँचाने वाला होगा। जैसे चारा डाल कर मछली पकड़ी जाती है, और जल से निकलने पर कछुआ मर सकता है इसी प्रकार राजा का माया में पड़कर किले से बाहर निकलना खतरनाक हुआ। मन्त्र से सांप को तो पिटारे ही में बन्द कर दिया जाता है, हिरन क इस प्रकार बाँध दिया जाता है कि वह एक कदम भी उछल न सके—इसी प्रकार अलाउद्दीन ने राजा को पकड़ लिया और उसे लोहे की बेड़ियाँ पहना दीं, उसको वे बेड़ियाँ पहनाई गईं जो उस व्यक्ति को पहनाई जाती हैं जो स्वामी के द्रोह की सोचता है।

[५७६]

पायन्ह गाढ़ीं बेरी परी। साँकरि गींव, हाथ हथकरीं।।
औ धरि बाँधि मँजूसा मेला। अस सतुरुहु जनि होइ दुहेला।।
सुनि चितउर महँ परा भगाना। देस देस चारिहुँ खँड जाना।।
आजु नराएन फिर जग खूँदा। आजु सिंघ मंजूसा मूँदा।।
आजु खसे रावन दस माथा। आजु कान्ह कारी फन नाथा।।
आजु परान कंससेनि ढीला। आजु मीन संखासुर लीला।
आजु परे पंडौ बँदि माहाँ। आजु दुसासन उपरी बाहाँ।।
आजु धरा बलि राजा, मेला बाँधि पतार।
आजु सूर दिन अँथवा, भा चितउर अँधियार।।५७६।।

शब्दार्थ—गाढ़ी=कठिन। गींव=गला। मंजूसा=कठघरा। दुहेली=दुःखी। खूँदा=कूदा। कंससेनि=कंस।

अर्थ—राजा के पैरों में बेड़ी पड़ गई, गले में साँकल और हाथ में हथकड़ी पड़ी और उसे बाँधकर कठघरे में बन्द कर दिया, इस प्रकार तो शत्रु भी दुःख में न पड़े। यह सुनकर चित्तौड़ में लोग भाग पड़े और सारे देश और चारों ओर गये। लोगों ने शोर किया कि आज तो फिर भगवान् संसार के बन्धन में कूद गये हैं, आज रावण के दश मस्तक नीचे गिर गये, आज कृष्ण ने कालिय नाग को नाथ लिया। आज तो कंस के प्राण ढीले हो गये हैं, आज मत्स्यावतार ने शंखासुर को निगल लिया है। आज पांडव लोग बन्दी हो गये,

आज दुःशासन की भुजा उखाड़ी गई। आज राजा बलि पकड़ा गया और उसे पाताल में बाँधकर डाल दिया, आज दिन का सूर्य अस्त हो गया और चित्तौड़ में अंधेरा हो गया।

नोट—जायसी की यह प्रकृति है कि अप्रासंगिक घटनाओं को केवल अलंकार के रूप में प्रयोग करते हैं, इन उदाहरणों में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के औचित्य को नहीं देखा जा सकता। राजा का बन्धन हुआ—अतः बंधन शब्द पर उनकी कल्पना का घोड़ा दौड़ लगाने लगता है और घटनाओं के औचित्य की कोई परवाह नहीं करता।

[५७७]

देव सुलेमाँ की बँदि परा। जहँ लगि देव सबहि सत हरा॥
साहि लीन्ह गहि कीन्ह पयाना। जो जहँ सत्तरु सो तहाँ बिलाना॥
खुरासान औ डरा हरेऊ। काँपा बिदर, धरा अस देऊ॥
बिंधि उदैगिरि धवलागिरी। काँपी सिस्टि, दोहाई फिरी॥
उवा सूर, भै सामुहँ करा। पाला फूटि, पानि होइ ढरा॥
डंडव डाँड़ दीन्ह, जहं ताईं। आइ सो डँडवत कीन्ह सबाईं॥
दुंदि छाँडि* सब सरगहि गई। पुहुमि जो डोली सो अस्थिर भई॥
पातसाहि ढीली महँ, आइ बैठ सुख पाट।
जिन्ह जिन्ह सीस उठाए, धरती धरे लिलाट॥५७७॥

शब्दार्थ—बिलाना=विलीन हो गया। सामुहँ=सामने। करा=किरणें। ढरा=बहगया। डंडव-पाठान्तर दुंदहि=दुंदुभि। डाँड=डंडा।

अर्थ—जैसे सुलेमान के बन्धन में देव पड़ गये थे उसी प्रकार अलाउद्दीन के बन्धन में राजा पड़ गया, जितने देव थे सबका सत् जाता रहा—अर्थात् कोई हिन्दू राजा कुछ करने का साहस न कर सका। शाह ने पकड़ कर प्रस्थान कर दिया, यह सुनकर उसके जितने शत्रु जहाँ थे वहीं विलीन हो गये। खुरासान और हरेव डर गये, बीदर भी कांप उठा, उसने सोचा कि जब ऐसे देव रत्नसेन को पकड़ लिया तो हमारी कौन गिनती। विंध्यप्रदेश, उदयगिरि और धवलगिरि की सारी सृष्टि कांप उठी और अलाउद्दीन की दोहाई फिर गई। सूर्य के समान अलाउद्दीन का तेज उदय हुआ, उसकी किरणों के सम्मुख होते ही पाला पानी होकर बह गया। जहाँ-तहाँ दुंदुभियों पर डंडे चलाए गये, सब लोग आ आकर उसके सामने दंडवत करने लगे। दुंदुभि की आवाज

*डा० वासुदेवशरण जी ने 'छाँडि' के स्थान पर 'डाँडि' पाठ माना है। 'डाँडि' पाठ मनेर और गोपाल चन्द्र की प्रतियों में है। उनका अर्थ है कि शाह की दुंदुभि पृथ्वी में सब को दंडित करके स्वर्ग चली गयी। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से 'डांडि और 'छाँडि' में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए डा० माता प्रसाद जी का पाठ 'छाँडि' ही लेना उचित प्रतीत होता है।

पृथ्वी को छोड़कर स्वर्ग तक पहुँची, जो पृथ्वी डोल गयी थी वह स्थिर हो गयी। बादशाह दिल्ली में अपने सिंहासन पर सुख से आ बैठा। जिन-जिन लोगों ने उसकी अनुपस्थिति में सिर उठाये थे, सबने जमीन पर मत्था टेक दिया।

[५७८]

हबसी बंदिवान जियबधा। तेहि सौंपा राजा अगिदधा॥
पानि पवन कहँ आस करेई। सो जिय बधिक साँस नहिं देई॥
माँगत पानि आगि लै धावा। मोंगरहूँ एक आइ सिर लावा॥
पानि पवन तैं पिया सो पिया। अब को आनि देइ पापिया॥
तब चितउर जिय अहा न तोरें। पातसाहि है सिर पर मोरें॥
जबहिं हँकारहि है उठि चलना। सो कत करौं होइ कर मलना॥
करौं सो मीत गाढ़ि बंदि जहाँ। पानि पवन पहुँचावै तहाँ॥
जल अंजुलि महँ सोवा, समुँद न सँवरा जागि।
अब धरि काढ़ा मंछ जेउँ, पानी माँगत आगि॥ ५७८॥

शब्दार्थ—बंदिवान=बंदीगृह का रक्षक। जियवधा=जल्लाद। अगिदधा=आग से जला हुआ। मोंगरहूँ=मुंगरी=लकड़ी की गदा जिससे ठोक कर जमीन पर खूंटा गाडा जाता है। हँकारहि=बुलाएगा।

अर्थ—बंदीगृह का रक्षक एक हबशी जल्लाद था, उसे आग से जलाया हुआ राजा सौंप दिया। पानी और हवा की ही आशा वह कर सकता था, उसके लिए भी यह वधिक साँस लेने भर के लिए भी न देता था। जब राजा पानी माँगता तो जल्लाद आग लेकर दौड़ता था और सिर पर एक मुंगरी मारता था। वह कहता था कि तूने पानी और हवा अब तक जो पी ली सो पी ली, अब हे पापी ! तुझे कौन देगा ? जब तू चित्तौड़ में था तब तू नहीं सोचता था कि तेरे सिर पर बादशाह है। अब तो जब ही वह बुलाएगा तुझे चल देना पड़ेगा, अब मैं क्या करूँ, तुझे तो बस हाथ मलना है। हे दोस्त, अब तो वही करूँगा कि तू गाढ़े बन्धन में पड़ जाय, और वहाँ ही पानी और हवा मिले। समुद्र में जब भरे हुए जल में सो रहा था तो आगे की याद नहीं करता था, अब तो मच्छ उसमें से पकड़ कर निकाला गया और आग में डाला गया है तब तू पानी मांगता है ? अर्थात् जब तू चित्तौड़ में आनन्द से था तब भूला हुआ था, अब जब यहाँ बन्दीखाने में पड़ा तो पानी क्यों माँग रहा है ?

[५७९]

पुनि चलि दुइ जन पूँछै आए। ओहि सुठि दगध आइ देखराए॥
तूँ मरपुरी न कबहुँ देखी। हाड़ जो बिथुरै देखि न लेखी॥

जाने नहिं कि होब अस महूँ । खोजें खोज न पाउब कहूँ ॥
अब हम उतर देहि रे देवा । कवने गरब न माने सेवा ॥
तोहि अस केत गाड़ि खनि मूँदे । बहुरि न निकसि बार कै खूँदे ॥
जो जस हँसै सो तैसै रोवा । खेलि हाँसि एहि भुँइ पै सोवा ॥
तस अपने मुँह काढ़े धुँवा । चाहसि परा नरक के कुँवा ॥

जरसि मरसि अब बाँधा, तैस लाग तोहि दोख ।
अबहूँ मानु पदुमिनी, जौं चाहसि भा मोख ॥ ५७९ ॥

शब्दार्थ—सुठि=बहुत । दगध=जलने वाले । मरपुरी=यमपुरी । हाड़= हड्डियाँ । बिथुरे=बिखरे हुए । लेखी=समझा । महूँ= मैं भी । केत=कितने ही । खनि= खोदकर । मूँदे=ढक कर ।

अर्थ—फिर दो आदमी राजा रत्नसेन से कुछ बात पूछने के लिए आये । ये देखने में ऐसे क्रूर और भंयकर थे मानो अत्यन्त जलते हुए से हों। उन लोगों ने आकर राजा को धमकाया कि तूने अभी तक यमपुरी नहीं देखी है । तुमने संसार में बिखरी हुई हड्डियों को तो देखा होगा पर उन्हें देखकर भी तुमने नहीं समझा कि मैं भी इसी प्रकार नष्ट हो जाऊँग और तब खोजने पर भी न मिल सकूँगा । हे देव, अब हमें उत्तर दो कि किस घमंड के बल पर तूने बादशाह अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। तुझ जैसे कितनों को ही उसने भूमि खोद कर गड़वा दिया और वह फिर न निकल सके, वे अनेक बार मारे गये । जो जैसे हँसता है उसी प्रकार रोता है । हँस-खेल कर इसी भूमि पर सदा के लिए सो जाता है । तुमने अपने मुँह से ऐसा धुँआ निकाला है कि अब नरक के कुएँ में पड़ना चाहता है । तुझे ऐसा दोष लगा है कि अब तू बंधा हुआ जलेगा, मरेगा, इसलिए यदि अब भी तू अपना छुटकारा चाहे तो पद्मिनी को देना स्वीकार कर ।

[५८०]

पूँछेन्हि बहुत, न बोला राजा । लीन्हेसि चूपि, मींचु मन साजा ॥
खनिगढ़ ओबरी महँ लै राखा । निति उठि दगध होहिं नौ लाखा ॥
ठाँउ सो साँकर औ अँधियारा । दोसरि करवट लेइ न पारा ॥
बीछी साँप आनि तहँ मेले । बाँका आनि छुवावहिं हेले ॥
दहकहिं सँडसी, छूटहि नारी । राति देवस दुख गंजन भारी ॥
जो दुख कठिन सहा पहारू । सो अँगव मानुस सिर भारू ॥
जौ सिर परै मरै सो सहैं । कछु न बसाइ, काहु के कहैं ॥

दुख जारै दुख भूँजै, दुख खोवै सब लाज ।
गाजहि चाहि गरुव दुख, दुखी जान जेहि बाज ॥ ५८० ॥

शब्दार्थ—चूपि=चुप्पी। मींचु=मृत्यु। श्रोवरी=घर के भीतरी भाग का कमरा। नौ लाखा=नव लक्ष्य (निशान)। ठाउँ=जगह। साँकर=तंग। दोसरि=दूसरी। पारा=सकता था। मेले=डाल दिये। बाँका=कटार की भांति का एक लोहे का औजार जिससे टोकरी आदि बनाने वाले बाँस छीलते हैं। हेले=हेला, डोम। दहकहिं=जलती हैं। गंजन-पाठान्तर-पहुंचे। गाजहि चाहि=वज्र से भी बढ़कर। बाज=पड़ता है।

अर्थ—उन आदमियों ने बहुत पूछा पर राजा न बोला, उसने चुप्पी साध ली और मन में मृत्यु की तैयारी कर ली। गड्ढा खोदकर घर के भीतरी भाग वाले कमरे में रखा, जहाँ रोज उठकर नौ निशान (दाग) उसके शरीर पर दागे जाते थे। वह जगह अत्यन्त सँकरी थी और अँधेरा भी था। संकीर्णता इतनी थी कि कोई व्यक्ति दूसरी करवट भी न ले सकता था। फिर वहाँ बिच्छू और साँपों को लाकर डलवा दिया गया। डोम बाँके को गर्म कर करके उसके शरीर से छुआते थे। सँडासियाँ आग में तपाई जाती थीं जिससे वे लाल रहती थीं और उन्हें देखते ही नाड़ी की गति बन्द हो जाती थी। इस प्रकार राजा को रात-दिन भारी दुःख था। जिस कठिन दुःख को पहाड़ भी बरदाश्त नहीं कर सकता, उसे मनुष्य बेचारा अपने सिर पर सहता है। जो कुछ भी सिर पर पड़ता जाता है, वही मनुष्य को सहना पड़ता है, किसी के कहने पर कुछ नहीं होता। दुःख ही मनुष्य को जलाता है और भूनता है। दुःख सारी लोक-लज्जा को नष्ट कर देता है। दुःख वज्र से भी बढ़कर भंयकर होता है, वही दुःखी उसे समझता है जिस पर दुःख पड़ता है।

नोट—जायसी ने यातनाओं की इतिश्री ही दिखा दी, औचित्य का इतना भी ध्यान न रखा कि कहाँ राजा रत्नसेन का बन्दी होना और कहाँ इस प्रकार की यातनाएं। वास्तव में सूफी-मार्ग में यातनाओं का ही महत्त्व है, अतः सूफी कवि भावना के आवेग में लिखता ही गया।

---

४८. पद्मावती-नागमती-विलाप-खण्ड

[५८१]

पदुमावति बिनु कंत दुहेली। बिनु जल कँवल सूखि जसि बेली॥
गाढ़ि प्रीति पिय मो सों लाए। ढीली जाइ निचिंत होइ छाए॥
कोइ न बहुरा निबहुर देसू। केहि पूछौं, को कहै सँदेसू॥
जो गौनै सो तहाँ कर होई। जो आवै, कछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे जाइ, सो बहुरि न आवा॥

कुँश्रा ढार जल जैस बिछोवा । डोल भरें नैनन्ह तस रोवा ॥
लेंजुरि भई नाँह बिनु तोही । कुवाँ परी, धरि काढ़हु मोही ॥
नैन डोल भरि ढारैं, हिएँ न आगि बुझाइ ।
घरी घरी जिउ बहुरै, घरी घरी जिउ जाइ ॥ ५८१ ॥

शब्दार्थ—दुहेली=दुर्भाग्यपूर्ण, दुःखी । ढीली=दिल्ली, ढीली । बहुरा=लौटा । निबहुर=जहाँ से कोई नहीं लौटता । गौने=जाय । ढार=डालना-पाठान्तर-धार । तस-पाठान्तर-धनि=स्त्री । लेंजुरि=रस्सी जिससे डोल बाँध कर कुएँ में से पानी निकालते हैं । घरी-घरी=थोड़ी-थोड़ी देर बाद ।

अर्थ—पद्मावती अपने पति (रतनसेन) के बिना अत्यन्त दुःखी हुई । उसकी दशा ऐसी हुई जैसे बिना जल के कमल की लता सूख जाय । वह रोकर कहने लगी कि हे प्रियतम ! आपने मुझ से गाढ़ी प्रीति की पर अब दिल्ली जाकर निश्चिन्त वहाँ छाए हुए हो । इस प्रकार तुम्हारी प्रीति अब ढीली हो गई है । वह देश ऐसा है कि वहाँ से कोई नहीं लौटता । अब मैं किस से पूछूँ, जो मुझे तुम्हारा संदेश दे । जो ही वहाँ जाता है वहीं का हो जाता है, जो आता है वह कुछ भी नहीं जानता । उसका मार्ग बड़ा ही अगम है, वहीं मेरा प्रिय गया है. वहाँ जो जाता है वह लौट कर नहीं आता । (इन पंक्तियों में जायसी ने परलोक का संकेत कर रक्खा है जहाँ जाने पर कोई वापस नहीं आता है और आता है तो उसे पूर्व जन्म का कुछ स्मरण नहीं रहता ।)

पद्मावती कहती है कि हे नाथ ! आज मेरी आँखों से आँसू इस प्रकार निकल रहे हैं जैसे जब कुएँ में बाल्टी डालते हैं तो बाल्टी द्वारा पानी कुएँ के पानी से अलग होता है और जैसे-जैसे ऊपर खिचता है बहता रहता है । अब तो हम तुम्हारे बिना रस्सी के समान हो गयी हैं और कुएँ में गिर पड़ी हैं, तू ही आकर हमें निकाल । हमारी आँखें बाल्टी भर-भर कर आँसू द्वारा पानी डाल रही हैं फिर भी हृदय की विरहाग्नि नहीं बुझ रही है । इस समय हमारा प्राण घड़ी-घड़ी पर जा रहा है और वापस आ रहा है ।

अलंकार—रूपक, विशेषोक्ति ।

[५८२]

नीर गँभीर कहाँ हो पिया । तुम बिन फाट सरोवर हिया ॥
गएहु हेराइ, बिरह के हाथा । चलत सरोवर लीन्ह न साथा ॥
चरत जो पंछी केलि कं नीरा । नीर घटे कोउ आव न तीरा ॥
कंवल सूख, पंखुरी बिहरानी । कन कन होइ मिलि छार उड़ानी ॥
बिरह रेति कंचन तनु लावा । चून चून कं खेह मिलावा ॥
कमक जो कन कन होइ बिहराई । पिय पै छार समेटैं आई ॥
बिरह पवन यह छार सरीरू । छारहु आनि मिला बहु नीरू ॥

अबहूँ मया कै आइ जियावहु, बिथुरी छार समेंटि ।
नव अवतार होइ नइ काया, दरस तुम्हारें भेंटि ॥५८२॥

शब्दार्थ—हेराई=खो जाना। बिहरानी=फट गई। छार=मिट्टी। बिथुरी=बिखरी हुई। रेति=काटकर। लावा=जला दिया। समेंटि=एकत्रित करना।

अर्थ—पद्मावती रोती जा रही है कि हे प्रियतम! तुम गम्भीर जल के समान हो, बताओ कि तुम कहाँ हो, तुम्हारे बिना हमारा हृदय इस प्रकार फट रहा है जैसे पानी के सूख जाने पर तालाब की मिट्टी में दरारें पड़ जाती हैं। विरह के हाथ से अब तुम बिल्कुल खो गये हो और चलते हुए तुमने मेरे इस तालाब रूपी हृदय को साथ क्यों नहीं लिया। जो पक्षी तालाब में खेल किया करते थे वे अब पानी के सूख जाने से निकट भी नही आते। कमल सूख गया, पंखड़ियाँ बिखर गयीं, कण-कण होकर मिट्टी में मिल कर उड़ रही हैं। विरह ने काट-काट कर स्वर्ग के सदृश शरीर को जला डाला है। चूर्ण-चूर्ण हो कर यह शरीर मिट्टी में मिल गया है। यह स्वर्ण रूपी शरीर जो अब कण-कण हो कर बिखर रहा है उसे तो प्रियतम ही आ कर एकत्रित कर सकता है। वियोग हवा हो रहा है और मेरा शरीर मिट्टी। उस मिट्टी में भी आँसू रूपी पानी मिल रहा है। अब भी कृपा करके आकर, बिखरी हुई मिट्टी को एकत्रित कर हमें जीवित कर लो जिससे कि तुम्हारे दर्शन में से हमारा नया अवतार प्राप्त हो और नया शरीर मिले।

[५८३]

नैन सीप मोंतिन्ह भरि आँसू। टुटि टुटि परहिं करैं तन नाँसू ॥
पदिक पदारथ पदुमिनि नारी। पिय बिनु भै कौड़ी बर बारी ॥
सँग लै गएउ रतन सब जोती। कंचन कया काँचु भै पोती ॥
बूड़ति हौं दुख उदधि गँभीरा। तुम्ह बिनु कंत लाव को तीरा ॥
हिएँ बिरह होइ चढ़ा पहारू। जल जोबन सहि सकै न भारू ॥
जलमहुँ अगिनि सो जान बिछूना। पाहन जरै होइ जरि चूना ॥
कवने जतन कंत तुम्ह पावौं। आजु आगि हौं जरत बुझावौं ॥
कवन खंड हौं हेरौं, कहाँ मिलहु हो नाहँ।
हेरें कतहुँ न पावौं, बसहु तौ हिरदै माहँ ॥५८३॥

शब्दार्थ—पोती=मनका, गुरिया। बिछूना=बिछोह। खंड=भाग। हेरों=खोजूँ।

अर्थ—पद्मावती की आँखें सीप के समान हैं और उसमें आँसू ऐसे लग रहे हैं मानों मोती भरे हुए हों। ये टूट-टूट कर गिर रहे हैं और शरीर का नाश कर रहे हैं। यह पद्मावती अमूल्य रत्न के समान थी पर पति के बिना यह सुन्दर स्त्री कौड़ी के समान हो गयी है। रत्नसेन अपने साथ इसकी सारी ज्योति ले गया, उसका सोने का शरीर अब

काँच की गुरिया के समान हो गया है। वह रोकर कह रही है कि अब मैं दुःख के गहरे सागर में डूब रही हूँ, हे प्रियतम ! तुम्हारे बिना कौन हमें किनारे लगा सकता है। हृदय पर वियोग पहाड़ बन कर चढ़ गया है, जल के समान चंचल यौवन इसके भार को नहीं सह सकता। यह वियोग ऐसा है जैसे जल की अग्नि (वडवाग्नि) होती है उससे तो पहाड़ भी जल कर चूना हो जाता है। हे पति ! किस यत्न से अब मैं तुम्हें प्राप्त करूं जिससे कि आज मैं अपनी इस जलती हुई आग को बुझा सकूँ। अब मैं किस भाग में तुम्हें खोजूँ, हे नाथ ! तुम कहाँ मिलोगे। खोजने पर भी कहीं पर भी कहीं नहीं पाती, यद्यपि तुम मेरे हृदय में ही बसे हो।

टिप्पणी—अन्तिम दोहे में जायसी ने आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत कर दिया है—ईश्वर को विश्व भर में खोजो तो प्राप्त नहीं होता, वह तो हृदय में ही विद्यमान है, बाहर खोजना व्यर्थ है।

नोट—इन पदों के बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल-सम्पादित ग्रन्थावली में तीन पद और हैं जिनमें नागमती का विलाप है, डा० माताप्रसाद गुप्त इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं। पद इस प्रकार हैं :—

नागमतिहि 'पिय पिय' रट लागी। निसि दिन तपै मच्छ जिमि आगी।।
भँवर, भुजंग कहाँ, हो पिया। हम ठेघा तुम कान न किया।।
भूलि न जाहि कँवल के पाहाँ। बाँधत बिलँब न लागै नाहा।।
कहाँ सो सूर पास हौं जाऊँ। बाँधा भँवर छोरि कै लाऊँ।।
कहाँ जाउँ को कहै सँदेसा। जाउँ सो तहँ जोगिन के भेसा।।
फारि पटोरहि, पहिरौं कंथा। जौ मोहिं कोउ देखावै पंथा।।
वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं। सीस चरन कै तहाँ सिधारौं।।
को गुरु अगुवा होइ, सखि ! मोहि लावै पथ माँह।
तन मन धन बलि बलि करौं, जो रे मिलावै नाँह।।

अर्थ—नागमती को 'पी पी' की रटन लगी, वह रातदिन इस प्रकार जल रही है जैसे मछली आग में जलती है। ऐ भौंरे के समान रस लेकर उड़ जाने वाले तथा साँप के समान डस कर जान लेने वाले प्रियतम तुम कहाँ हो, हमने तो तुम्हारा सहारा लिया है और तुमने मेरी एक न सुनी। भूल करके भी तुम कमल के पास न जाना, क्योंकि उसे बाँधते देर नहीं लग सकती। वह शूरवीर (सहायक) कहाँ है कि मैं उसके पास जाऊँ और उसके बाँधे हुए भौंरे (रत्नसेन) को उसके द्वारा छुड़ा लाऊँ। कहाँ जाऊँ और कौन उसका संदेसा मुझ से कहेगा कि मैं उसके पास जोगिनी का वेश धर कर जाऊँ। रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर कंथा (गुदड़ी) पहनूँ, यदि कोई मुझे रास्ता दिखाए। उस रास्ते को मैं अपनी पलकों से साफ करूँगी और सिर को चरण बनाकर वहाँ पर सिधारूँगी। हे सखी ! कौन

अगुआ होगा, जो मुझे रास्ते पर लावेगा। मैं अपने तन, मन, धन को निछावर कर दूँगी यदि कोई प्रिय से मिलावे।

कै कै कारन रोवै बाला। जनु टूटहिं मोतिन्ह की माला॥
रोवति भई, न साँस सँभारा। नैन चुवहिं जस ओरति धारा॥
जा कर रतन परै पर हाथा। सो अनाथ किमि जीवै, नाथा॥
पाँच रतन ओहि रतनहिं लागे। बेगि आउ, पिय रतन सभागे॥
रही न जोति नैन भए खीने। स्रवन न सुनो, बैन तुम लीने॥
रसनहिं रस नहि एकौ भावा। नासिक और बास नहिं आवा॥
तचि तचि तुम्ह बिनु अंग मोहि लागे। पाँचौं दगधि बिरह अब जागे॥
बिरह सो जारि भसम कै, चहै उड़ावा खेह।
आइ जो धनि पिय मेरवै, करि सो देइ नइ देह॥

अर्थ—नागमती अपने पति के गुणों को गा-गा कर बड़ा कारुण्यपूर्ण रोने लगी। उसके आंसू इस प्रकार गिरने लगे जैसे मोतियों की मालायें टूट रही हैं। वह रो रही थी। साँस भी नहीं सँभाल रही थी। उसके आँसू इस प्रकार चू रहे थे जैसे घर की ओलती बहा करती है। कवि कहता है कि भला जिसके हाथ का रत्न (रत्नसेन) दूसरे के हाथ लग जाय वह अनाथ किस प्रकार जीवेगी। उसकी पाँचों इन्द्रियाँ रूपी रत्न उस रत्नसेन के लिए लगी हैं। वह कहती है कि हे सौभाग्यशाली रत्नसेन! शीघ्र ही आओ। मेरी आँखों की ज्योति नहीं रह गयी, अब कान सुनते नहीं, मेरी वाणी तो तुम्हीं में लीन है। मेरी रसना को एक भी रस अच्छा नहीं लगता, नासिका अन्य बास नहीं पसन्द करती। तुम्हारे बिना मेरे अङ्ग जल रहे हैं। विरह के जगने से मेरी पाँचों इन्द्रियाँ जल गयी हैं। विरह जला कर और भस्म बना कर धूल में उड़ाना चाहता है, जो अब इस स्त्री (नागमती) से उसके पति को मिलावे वह इसका नया जीवन कर देगा।

पिय बिनु व्याकुल बिलपै नागा। विरहा तपनि साम भए कागा।
पवन पानि कहँ सीतल पीऊ। जेहि देखे पलुहै तन जीऊ॥
कहँ सों बास मलयगिरि नाहाँ। जेंहि कल परति देत गल बाहाँ॥
पदमिनि ठगिनि भई कित साथा। जेंहि ते रतन परा पर हाथा॥
होइ वसन्त आवहु पिय केसरि। देखे फिर फूले नागेसरि॥
तुम्ह बिनु, नाह! रहै हिय तचा। अब नहिं विरह-गरुड़ सौं बचा॥
अब अँधियार परा, मसि लागी। तुम्ह बिनु कौन बुझावै आगी॥
नैन स्रवन रस रसना, सबै खीन भए, नाह।
कौन सो दिन जेहि भेटि कै, आइ करै सुख छाँह॥

अर्थ—अपने पति बिना व्याकुल होकर नागमती विलाप कर रही है। उसके विरह की जलन से कौए काले हो गए। पवन और पानी के समान शीतल प्रिय कहाँ हैं जिसे देख कर तन और जीव प्रफुल्ल होता है। उस प्रियतम की मलयगिरि के समान सुगन्ध कहाँ है। जिसकी गलबाँही से शरीर को शान्ति मिल जाती है। वह पद्मावती ठगिनी क्यों साथ में आई जिसके कारण मेरा रत्न (रत्नसेन) दूसरे के हाथ में पड़ गया। वसन्त होकर केशर से युक्त हे प्रिय ! फिर आओ जिसे देख कर यह नागेसर (नागमती) फूल उठे। तुम्हारे बिना हे नाथ ! मेरा हृदय जल रहा है, अब मैं विरह रूपी गरुड़ से नहीं बच सकती। गरुड़ नाग का वैरी होता है इसीलिए विरह की उपमा गरुड़ से दी है। अब अन्धेरा हो गया, चारों ओर कालिमा दिखाई पड़ रही है, तुम्हारे बिना कौन इस आग को बुझायेगा ? हे नाथ ! अब तो आंखें, कान, जिह्वा आदि सभी क्षीण हो गए हैं, वह कौन-सा दिन होगा जब मुझ से मिल कर तुम सुख उत्पन्न करोगे ?

---

४१. देवपाल-दूती-खंड

[५८४]

कुंभलनेरि राय देवपालू। राजा केर सतुरु हिय साल्लू ॥
ओइ पुनि सुना कि राजा बाँधा। पाछिल बैर सँवरि छर साँधा ॥
सतुरु साल तब नेवरै सोई। जौ घर आव सतुरु कै जोई ॥
दूती एक बिरिध ओहि ठाऊँ। बाँभनि जाति, कमोदिनि नाऊँ ॥
ओहि हँकारि कै बीरा दीन्हा। तोरे बर मैं बर जिय कीन्हा ॥
तूँ कुमुदिनी कँवल के नियरे। सरग जो चाँद बसै तुब हियरे ॥
चितउर महँ जो पदुमिनि रानी। कर बर छर सो देहि मोहि आंनी ॥
रूप जगत मनि मोहनी, औ पदुमावति नाउँ।
कोटि दरब तोहि देहूँ, आनि करसि एक ठाउँ ॥५८४॥

शब्दार्थ—सतुरु=शत्रु। छर साँधा=छल किया। नेवरै=पूरी होती है। जोई=पत्नी।

अर्थ—कुम्भलनेर का राजा देवपाल था। वह राजा रत्नसेन का शत्रु था और उसके हृदय में वह शत्रुता कष्ट दिया करती थी। उसने सुना कि राजा बन्दी हो कर चला गया। पिछले वैर को स्मरण करके उसने छल किया। शत्रु के मन की कसर तब पूरी होती है जब उसके घर, उसके शत्रु की स्त्री आ जाती है। उसके यहाँ एक वृद्धा दूती थी, वह जाति की ब्राह्मणी थी और उसका नाम कुमुदिनी था। उसको बुला कर बीड़ा दिया

ग्रौर कहा कि तेरे बल पर मैंने भी बल बांधा है। तू कुमुदिनी है ग्रौर कमल (पद्मावती) के निकट है, जो चन्द्रमा (पद्मावती) स्वर्ग पर है वह तेरे पास ही है; क्योंकि (कमोदिनी जलहरि बसै; चन्दा बसै ग्रकास, जो जाही को भावता, सो ताही के पास।—कबीर)। चित्तौड़ में जो पद्मावती रानी है उसे तू छल-बल से मेरे पास ला दे। वह संसार को मोहने वाली है। उसका नाम पद्मावती है। मैं तुझे एक करोड द्रव्य दूंगा, जो तू उसे ला कर मुझ से मिला दे।

[५८५]

कुमुदिनि कहा देखु मैं सो हौं। मानुस काह, देवता मोहौं॥
जस कांवरू चमारी लोना। को न छरा पाढ़ित ग्रौ टोना॥
बिसहर नांचहि पाढ़ित मारें। ग्रौ धरि मूंदहिं घालि पेटारें॥
बिरिख चलै पाढ़ित की बोला। नदी उलटि बह, परबत डोला॥
पाढ़ित हरै पंडित मति गहिरे। ग्रौरु को ग्रंध, गूंग ग्रौ बहिरे॥
पाढ़ित ग्रौसि देवतन्ह लागा। मानुस का पाढ़ित हुति भागा॥
पाढ़ित कै सुठि काढ़त बानी। कहाँ जाय पदुमावति रानी॥
दूती बहुत पैंज कै, बोली पाढ़ित बोल।
जाकर सत्त सुमेरु है, लागै जगत न डोल॥५८५॥

शब्दार्थ—कांवरू=कामरूप, ग्रासाम। पाढ़ित=मन्त्र। घालि=डाल कर। पैंज =प्रतिज्ञा।

ग्रर्थ—कुमुदिनी ने कहा कि देखिए, मैं वह हूं कि मनुष्य की कौन कहे देवता को भी मोहित कर सकती हूँ। जिस प्रकार कामरूप देश की लोना नाम की चमारी थी, उसने ग्रपने मन्त्र ग्रौर जादू-टोने से किसको नहीं छल लिया। मन्त्र के मारने से विषधर सांप नाचने लगता है ग्रौर मदारी उसे ग्रपनी पेटारी में रख कर ढक लेता है। मन्त्र की बोल पर वृक्ष चलने लगता है, नदी उलट कर पहाड़ पर चलने लगती है। मन्त्र तो गम्भीर पण्डित की मति को हर लेता है, फिर ग्रौर कोई ग्रन्धा, गूंगा ग्रौर बहरा ग्रर्थात् संसार का साधारण जन क्या है? जादू का मन्त्र तो देवताग्रों तक को लग जाता है, तो मनुष्य भला जादू से कहां भाग कर जा सकता है? मन्त्र की वाणी निकालते ही पद्मावती रानी कहां जा सकती है?

दूती इसी प्रकार बड़ी प्रतिज्ञा के साथ जादू-टोने का मन्त्र बोलने लगी पर जिसका सत सुमेरु पर्वत के समान ग्रटल है वह तो सारे संसार के लग जाने पर भी हिल नहीं सकता।

[५८६]

दूती दूत पकवान जो सांधे । मोंतिलडु कीन्ह खिरौरा बांधे ।।
लाँठ पेराक फेनी ओ पापर । भरे बोझ दूती के कापर ।।
लै पूरी भरि डाल अछूती । चितउर चलो चली पैज कै दूती ।।
बिरिध बएस जो बाँधै पाऊ । कहाँ सो जोबन कत बेवसाऊ ।।
तन बुढ़ाइ, मन बूढ़ न होई । बल न रहा, लालच जिय सोई ।।
कहाँ सो रूप देखि जग राता । कहाँ सो गरब हस्ती जस माँता ।।
कहाँ सो तोख नैन, तन ठाढ़ा । सब मारि जौबन पुनि काढ़ा ।।
मुहम्मद बिरिध जो नै चलै, काह चलै भुइँ टोइ ।
जोबन रतन हेरान है, मकु धरती महँ होइ ।।५८६।।

शब्दार्थ—साँधे=तैयार किये । खिरौरा=खाँड का लड्डू । अछूती=जिसे किसी ने छुआ न हो, छूने से पके हुए भोजन में अशुद्धता मानी जाती है ।

अर्थ—दूती ने अनेक प्रकार के पकवान तैयार किये । मोतीचूर लड्डू, खाँड का लड्डू, माँठ, गुझिया, सूतफेनी, पापड़ आदि के बोझ दूती के कपड़े में बांध दिए । एक भरी डलिया अछूती पूड़ी भर ली और वह दूती बड़ी तेजी से चित्तौड़ को चल पड़ी । वृद्धावस्था में यदि कोई पाँव बाँध ले तो फिर यौवन का व्यवसाय क्या है ? शरीर बूढ़ा होता है मन नहीं बूढ़ा होता । बल तो नहीं रहता पर जी में लालच रहता है । वह रूप कहाँ रह जाता है जिसे देख कर सारा संसार अनुरक्त होता है, और वह घमण्ड कहाँ रह जाता है जिसके बल पर मनुष्य जवानी में मतवाला बना रहता है । आँखों में वह तीखापन कहाँ रह जाता है, सब को मार कर वृद्धावस्था जवानी को निकाल देती है ।

जायसी कहते हैं कि वृद्ध व्यक्ति जो झुक करके चलता है वह जमीन को छू कर क्यों चलता है ? फिर उत्तर देते हैं कि उसका यौवन रूपी रत्न खो गया है, शायद उसी को धरती में समझ कर वह खोज रहा है ।

अलंकार—प्रश्नोत्तर ।

[५८७]

आइ कमोदिनि चितउर चढ़ी । जोहन मोहन पाढ़ित पढ़ी ।।
पूँछि लीन्ह रनिवाँस बरोठा । पैठि पँवरि भीतर जहँ कोठा ।।
जहँ पदुमावति ससि उजियारी । लै दूती पकवान उतारी ।।
बाँह पसारि धाइ कै भेंटी । चीन्है नाँहि राजा कै बेटी ।।
हौं बाँभनि जेहि कुमुदिनि नाँऊ । हम तुम्ह उपनी एकहि ठाँऊ ।।
नाँउ पिता कर दूबे बेनी । सदा पुरोहित गंध्रप सेनी ।।
तुम्ह बारी तब सिंघल दीपाँ । लीन्हें दूध पिआइउँ छीपाँ ।।

ठाउँ कीन्ह मैं दोसर, कुंभलनेरिहि आइ।
सुनि तुम्ह कहँ चितउर महँ, कहिउँ कि भेंटौं जाइ ।।५८७ ।।

शब्दार्थ—जोहन=देखना, त्राटक, दृष्टिबंध। मोहन=मानस शक्ति के द्वारा दूसरों को अपने वश में करना। पाढ़ित=मंत्र पढ़ कर जादू चलाना। बरोठा=बैठक। छीपाँ=सीपी।

अर्थ—कुमुदिनी आ कर चित्तौड़ पर चढ़ गयी। वह जोहन-मोहन और जादू-टोना पढ़ी हुई थी। उसने रनिवास की बैठक को पूछ लिया और ड्योढ़ियों से प्रवेश करके वहाँ पहुँची जहाँ पद्मावती की अट्टालिका थी। जहाँ पद्मावती चन्द्रमा के समान प्रकाशित थी वहाँ जा कर उसने पकवानों की गठरी को उतार दिया। बाँहें फैला कर उसने पद्मावती से भेंट की और कहा कि हे राजा की बेटी क्या तुमने मुझे नहीं पहिचाना ? मैं ब्राह्मणी हूँ जिसका नाम कुमुदिनी है, हम और तुम दोनों एक ही जगह में उत्पन्न हुई हैं। मेरे पिता का नाम वेनी दूबे है जो राजा गन्धर्वसेन का पुरोहित था। जब तुम सिंहल द्वीप की राजकुमारी थी तब तुम्हें मैं मुँह में सीपी से दूध टपका कर पिलाती थी। मैंने दूसरी नगरी कुम्भल-नेर में अपना स्थान बनाया है, तुम्हें चित्तौड़ में सुन कर मैंने सोचा कि जा कर मिल आऊँ।

[५८८]

सुनि निस्चै नैहर कै कोई। गरें लागि पदुमावती रोई।।
नैन गँगन बिनु रबि अँधियारे। ससि मुख आँसु टूट जनु तारे।।
जग अँधियार गहन दिन परा। कब लगि ससि नखतन्ह निसि भरा।।
माइ बाप कत जनमी बारी। दइउ तुहूँ न जन्मतहिं मारी ।।
कत बियाहि दुख दीन्ह दुहेला। चितउर पठै कंत बँदि मेला।।
अब एक जीवन बादि जो मरना। भएउ पहार जरम दुख भरना।।
निसरि न जाइ निलज यह जीऊ। देखौं मंदिल सून बँदि पीऊ ।।
कुहुँकि जो रोई ससि नखत, नैनन्ह रात चकोर।
अबहूँ बोलहिं तेहिं कुहुँकि, कोकिल चातिक मोर ।।५८८।।

शब्दार्थ—निस्चै=निश्चय रूप से। नैहर=पीहर। बारी=लड़की।

अर्थ—निश्चय रूप से उसे अपने पीहर की समझ कर पद्मावती उसके गले लग कर रोने लगी। उसके नेत्र रूपी आकाश में रत्नसेन रूपी सूर्य के बिना अंधेरा छाया था, उसके शशिरूपी मुख से आँसू रूपी तारे टपकने लगे, संसार में अंधेरा हो गया, जैसे दिन में ग्रहण लग गया हो, कब तक चन्द्रमा नक्षत्रों (आँसू) से भरे। वह कहने लगी कि मैं अपने माँ-बाप की बेटी होकर क्यों जन्मी, तुझने भी मुझे जन्मते ही क्यों नहीं मार डाला। क्यों ब्याह करके मुझे दुःखों में डाला, चित्तौड़ भेज कर मेरे कारण मेरे पति को कैदी करवाया। अब तो

इस जीवन में व्यर्थ में मरना है। यह जीवन पहाड़ हो गया है, इसमें दुःख ही सहना मात्र है। यह निर्लज्ज जीव निकलता भी नहीं, मैं इस महल को अपने पति के कैदी होने से सूना देख रही हूँ। वह चिल्ला कर रोई, उसके मुख से तो आँसू टपकने लगे और आँखें चकोर की भाँति पति में अनुरक्त हो गयीं। उसकी टीस भरी कुहुक इस प्रकार की थी कि आज भी उसी की बोल में कोयल, चातक और मोर बोलते हैं।

[५८९]

कुमुदिनि कंठ लागि सुठि रोई। पुनि लै रोग वारि मुख धोई ॥
तूँ ससि रूप जगत उजियारी । मुख न झाँपु निसि होइ अँधियारी ॥
सुनि चकोर कोकिल दुख दुखी । घुँघची भई नैन करमुखी ॥
केतौ धाइ मरै कोइ बाटा । सो पै पाव, जो लिखा लिलाटा ॥
जो पै लिखा आन नहिं होई । कत धावै, कत रोवै कोई ॥
कत कोइ इंछ कर औ पूजा । जो बिधि लिखा, सो होइ न दूजा ॥
केत कमोदिनि बंन करेई । तस पदुमावति स्रवन न देई ॥
सेंदुर चीर मैल तस, सूखि रहे सब फूल ।
जेंहि सिंगार पिउ तजि गा, जरम न बहुरै मूल ॥५८९॥

शब्दार्थ—सुठि=खूब । रोग-वारि=सोने का छोटा कलश—रोग शब्द की व्युत्पत्ति सं० रुक्म शब्द से है। रुक्म 7 रुक्क 7 रोक 7 रोग; वारि शब्द की उत्पत्ति सं० वार-वारक=लघु कलश (मॉनियर विलियम्स) । पाठान्तर-रूप-डार=चाँदी की परात। झाँपु=छिपाओ। इंछ=इच्छा । जेत=जितना। स्रवन=कान, ध्यान। सब-पाठान्तर-जस । बहुरै=लौटे-पाठान्तर-पहिरै ।

अर्थ—कुमुदिनी भी पद्मावती को कंठ लगा कर रोने लगी। फिर सोने का कलश लेकर पानी से उसने पद्मावती का मुख धो दिया। फिर उसने कहा—कि तू तो चन्द्रमा के रूप वाली संसार में प्रकाश करने वाली है, रात्रि के अँधेरे में तू अपना मुँह न छिपा—अर्थात् दुर्भाग्य के पड़ने पर भी तू अपने को छिपा कर न रख। तेरे दुःख को सुन कर चकोर और कोयल दुःखी हो रहे हैं--भाव यह है कि चकोर का अङ्गार खाना और कोयल का कुहकना इसी का परिणाम है। घुँघची भी तेरे दुःख के कारण काले मुख वाली हो गयी है। कोई कितना ही किसी रास्ते से दौड़ लगा कर मरे पर होगा तो वही जो भाग्य में लिखा हुआ है। जो कुछ भी लिखा है उससे विपरीत और कुछ नहीं हो सकता, तो फिर कोई क्यों दौड़े और क्यों रोये। क्यों कोई इच्छा करे और क्यों देवी-देवताओं की पूजा करे, जो कुछ ब्रह्मा ने लिख रखा है, उससे दूसरा तो कुछ होगा ही नहीं। इस प्रकार जितना भी कुमुदिनी बातें करती थी, उन सब पर पद्मावती कान नहीं देती थी। उसका सिंदूर और वस्त्र आदि सभी मैले थे। वे सब इस प्रकार मलिन थे, जैसे सूखा हुआ फूल। वह सोचती है

कि जिस शृङ्गार को पति छोड़ कर गया है वह अपने वास्तविक रूप में लौट नहीं सकता।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा—सुनि चकोर कोकिल·········करमुखी।

[५६०]

पुनि पकवान उघारे दूती। पदुमावति नहिं छुवै अछूती॥
मोहिं अपने पिय केर खंभारू। पान फूल कस होइ अहारू॥
मो कहँ फूल भए जस काँटे। बाँटि देहु जेहि चाहहु बाँटे॥
रतन छुए जिन्ह हाथन्ह सेंती। और न छुओं सो हाथ संकेती॥
ओहि के रँग तस हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ तो घुँघुची डीठी॥
नैन करमुखे, राता काया। मोंति होहिं घुँघुची जेहि छाया॥
अस कर ओछ नैन हत्यारे। देखत गा पिउ गहै न पारे॥
का तेहि छुओं पकवान, गुर करुवा घिउ रूख।
जेहि मिलि होत सवाद रस, लै सो गएउ सब भूख॥५६०॥

शब्दार्थ—पुनि=फिर-पाठान्तर-तब। उघारे=खोले। अछूती=बिना छुए हुए। खँभारू=शोक। सेंती=से। सँकेती=काम सम्बन्धी हास्यभाव या इंगित। मँजीठी=लाल रंग का एक फल। डीठी=दिखाई पड़ती है। राती=लाल। गहै न पारे=पकड़ न सके। गुर=गुड़-मीठा।

अर्थ—फिर दूती ने साथ में लाये हुए पकवानों को खोला पर पद्मावती ने उन्हें छुआ तक नहीं, सभी अछूते रह गये। उसने कहा कि मुझे तो अपने प्रियतम का शोक है, फिर पान, फूल और भोजन आदि मेरे लिये क्या वस्तुयें हैं? इस समय मेरे लिए तो फूल काँटे के समान हैं, अतः इनको जिसको बाँटना चाहो बाँट दो। रत्नसेन ने अपने हाथों से जिन मेरे हाथों को स्पर्श किया है उन हाथों से अब मैं प्रेम-संकेत या आमंत्रण देकर और किसी को न छुऊँगी। उसके (रत्नसेन के) प्रेम के रंग के कारण मेरे हाथ मजीठ की भाँति लाल हैं इसलिए जब मैं हाथ में मोती लेती हूँ तो हाथ की ललाई के प्रभाव से मोती घुंघची सा लाल दिखाई पड़ने लगता है, और फिर जब उसकी ओर दृष्टि करती हूँ तो मेरी पुतलियों के प्रतिबिम्ब से वह मोती जो पहले ही घुंघची सा लाल है ऊपर आँख के काले प्रतिबिम्ब से युक्त होकर साक्षात् घुंघची बन जाता है (घुंघची के ऊपर काला बिन्दु सा होता है शेष भाग लाल होता है)। व्यंजना यह है कि मोती जैसी अमूल्य वस्तु भी जब मेरे हाथ में अब आती है तो वह घुंघची के सदृश ही मेरी दृष्टि में नगण्य जँचती है।

वह कहती है कि मेरे हाथ इस प्रकार नीच और नेत्र हत्यारे हैं कि इनके देखते-देखते ही प्रियतम चला गया और ये उसे पकड़ न सके। तो अब मैं भला पकवानों को क्या स्पर्श करूँ। मुझे मीठी वस्तु कड़वी और घी रूखा लगता है। जिस रत्नसेन के मिलने पर ही सभी रसों में स्वाद आता है वही मेरी सारी भूख को ले गया है।

अलंकार—तद्गुण—ओहि के रँग तस—डीठी।

[५९१]

कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सुरुज चाँद की आसा।।
दिन कुँभिलानि रहै, भै चोरू। रैनि बिगसि बातन्ह कर भोरू।।
कत तूँ बारि रहसि कुँभिलानी। सूखि बेलि जस पाव न पानी।।
अबहीं कँवल करी तूँ बारी। कोंवलि बएस, उठत पौनारी।।
बैरिनि तोरि मैलि औ रूखी। सरवर माँझ रहसि कत सूखी।।
पान बेलि बिधि कया जमाई। सींचत रहै तबहिं पलुहाई।।
करु सिंगार सुख फूल तँबोरा। बैठु सिंघासन, झूलु हिंडोरा।।
हार चीर तन पहिरहि, सिर कर करहि सँभार।
भोग मानि ले दिन दस, जोबन के पैसार।।५९१।।

शब्दार्थ—रहसि=रहती है। कोंवरि=कोमल। बएस=उम्र। पौनारी=मृणाल। बैरिनि=दुश्मन-पाठान्तर-बेनी=चोटी। कत=क्यों। पैसार=प्रवेश।

अर्थ—कुमुदिनी दूती कमल रूपी पद्मावती के पास रही। उसका शत्रु तो सूर्य है अर्थात् दिन में वह अपनी बात नहीं लगा सकती थी जैसे-तैसे उसने दिन काटा पर वह चन्द्रमारूपी पद्मावती को रात में अपनी ओर मिलाने की आशा में बनी रही। वह दिन भर तो उदास और चोर बनी रहती थी, अधिक बातें न करती थी, रात आते ही प्रफुल्लित हो कर बातों में प्रातःकाल कर देती थी। वह कहती कि हे सुन्दरी तू क्यों कुम्हलायी रहती है। तू तो इस प्रकार हो गई है जैसे सूखी लता, जिसे पानी ही नहीं मिलता। अभी तो तू कमल की कली ही है। तेरी उम्र तो बड़ी ही कोमल है जैसे उठती हुई मृणाल हो। तेरी दुश्मन मैली और सूखी हो (उर्दू की शैली है कि दुख के लिए दुश्मन का नाम लिया जाता है) तू सरोवर में रह कर क्यों सूखी रहती है अर्थात् भोग के समस्त साधनों के उपलब्ध होते हुए भी तू दुखी क्यों है ? ईश्वर ने इस शरीर को पान की लता के समान जमा रखा है। इसको तो जब मनुष्य सींचता रहे तभी वह पल्लवित होती रहती है। तू शृङ्गार कर। पान आदि खा कर सुखी हो सिंहासन पर बैठो, और हिंडोले में झूलो। हार, सुन्दर वस्त्र आदि शरीर पर पहिनो और अपने सिर पर कंघी-पट्टी करो। जवानी का प्रवेश तो जीवन में थोड़े ही दिनों का है अतः इस अल्प काल में जो भोग कर सको उसे करो।

[५९२]

बिहँसि जो कुमुदिनि जोबन कहा। कँवल जो बिगसा संपुट गहा।।
कुमुदिनि कहु जोबन तेहि पाहाँ। जो आछहि पिय की सुख छाहाँ।।
जाकर छतिवनु बाहर छावा। सो उजार घर का रे बसावा।।
अहा जो राजा रैनि अँजोरा। केहिक सिंहासन केहिक हिंडोरा।।
को पालक सोवै, को माढ़ी। सोवनिहार परा बँदि गाढ़ी।।

जेहि दिन गा घर भा अँधियारा। सब सिंगार लै साथ सिधारा ।।
कया बेलि तब जानौं जामी। सींचनिहार आव घर स्यामी ।।
तब लगि रहौं झूरि असि, जब लहि आव सो कंत।
यहै फूल यह सेंदुर, नव होइ उठै बसंत ।।५९२।।

शब्दार्थ—संपुट=बन्द हो गया, मुरझा गया। आछहि=है। छतिवनु=छतिवन या संतौना का पेड़, इसकी गंध बड़ी उग्र होती है। उस गंध से सिर में पीड़ा होने लगती है, इस पेड़ का घर के निकट लगाना अशुभ माना जाता है; पाठान्तर-छत्र=राज्य। अँजोरा=प्रकाशवाला। पालक=पलंग। माढ़ी=मचिया। बँदि गाढ़ी=कठिन बन्दीखाने में। झूरि=सूखी हुई।

अर्थ—हँस कर कुमुदिनी ने जब यौवन की बात चलाई तब पद्मावती (कमल) जो कुछ खिली हुई भी थी, वह बन्द कमल के समान मुरझा गई। उसने कहा कि हे कुमुदिनी ! तू यौवन का वर्णन उसके पास कर जो अपने पति की सुख की छाया में है। जिस के घर के बाहर छतिवन का पेड़ छा रहा है, भला उसके उजड़े घर को कौन बसा सकता है ? जो हमारा राजा रात्रि में प्रकाश करने वाला था वह अब नहीं है तो फिर किसका सिंहासन और किसका हिंडोला ? कौन पलंग पर सोयेगा और कौन मचिया पर बैठेगा ? जब कि उन पर सोने वाला कठिन बन्दीखाने में पड़ा है। जिस दिन वह मेरे घर से गया है, उस दिन से यहां अँधेरा हो गया है। वह तो मेरे सारे शृङ्गार को ले कर चला गया। इस शरीर रूपी लता को तो मैं तभी जमी हुई समझूँगी जब उसका सींचने वाला पति घर आयेगा। जब तक मेरा वह पति नहीं आयेगा मैं इसी प्रकार सूखी हुई रहूँगी, जब वह आ जायगा तो मेरा यही मलिन सिंदूर और फूल वसन्त पाकर नया हो कर फूल उठेगा।

[५९३]

जनि तूँ बारि करसि अस जीऊ। जौ लहि जोबन तौ लहि पीऊ ।।
पुरुख सिंघ आपन केहि केरा। एक खाइ दोसरेह मुँह हेरा ।।
जोबन जल दिन दिन जस घटा। भँवर छपाइ, हंस परगटा ।।
सुभर सरोवर जौ लहि नीरा। बहु आदर, पंछी बहु तीरा ।।
नीर घटें पुनि पूँछ न कोई। बिरसि जो लीज हाथ रह सोई ।।
जब लगि कालिंदिरी बेरासी। पुनि सुरसरि होइ समुँद गरासी ।।
जोबन भँवर, फूल तन तोरा। बिरिध पोंछ जस हाथ मरोरा ।।
क्रिस्न जो जोबन करत तन, मया गुनत नहिं साथ।
छरिकै जाइहि बान लै, धनुक छाँड़ि तोहि हाथ ।।५९३।।

शब्दार्थ—जनि=मत। केहि केरा=किसका। दोसरेहि=दूसरे को। हेरा=देखता है। भँवर=भौंरा—काले बाल। हंस=सफेद बाल (वृद्धावस्था)। बेरासी=विलास किया,

सुख भोग किया। कालिंदिरी=यमुना। गरासी=डूबेगी। बिरिध=वृद्धावस्था। क्रिस्न जो जोबन करत तन, मया गुनत नहिं साथ—पाठान्तर-क्रुस्न जो जोबन कारनै गोपीतन्ह के साथ।

अर्थ—कुमुदिनी कहने लगी कि हे सुन्दरी, तू अपने जी को ऐसा (छोटा) न कर। जब तक जवानी है तभी तक पति का प्रेम है। पुरुष रूपी सिंह भला अपना किसका रहा है, एक खाकर दूसरे का मुँह देखा करता है। जवानी रूपी जल दिन पर दिन घटता जाता है, काले बालों के स्थान पर सफेद बाल हो जाते हैं अर्थात् जवानी छिपती और वृद्धावस्था उदय होती है। जब तक भरे हुए तालाब में जल भरा है तब तक अनेक पक्षी उसके किनारे आकर उसका आदर करते हैं, पर पानी के घटने पर उस तालाब को पक्षी नहीं पूछता अर्थात् जब तक जवानी है पुरुष उसका आदर करता है, जवानी के समाप्त होने पर बात नहीं पूछता। इसलिए जवानी में जो सुख भोग लिया, वही बस हाथ रह जाता है। जब तक यमुना यमुना है तब तक उसका आनन्द है नहीं तो गंगा में मिल कर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह समुद्र में डूब जाती है। अर्थात् जब तक काले बालों वाली जवानी है तभी तक सुख है नहीं तो गङ्गा के समान सफेद बालों वाली बुढ़ाई के आते ही यौवन नष्ट हो जाता है। इस समय जो यौवन रूपी भौंरा अर्थात् काले केश हैं और शरीर फूल के समान तेरे पास है वृद्धावस्था इन्हें हाथ मरोर कर छीन लेगी। कृष्ण रूपी यौवन जो शरीर के साथ अनेक आनन्द भोग में रत है वह मोह-माया से सर्वथा निर्लिप्त होकर छल करके चला जायगा। बाण रूपी शक्ति और सौंदर्य को जो इस धनुष रूपी शरीर के पास है, लेकर चला जायगा और शरीर अपनी शक्ति—बाण रूपी सौंदर्य से हीन होकर धनुषाकार झुका हुआ पड़ा रह जायगा। जोबन का अर्थ उरोज भी है अतः शरीर रूपी धनुष पर रखे हुए कुच द्वय बाण रूप में चलते रहते हैं किन्तु वृद्धावस्था में कुचों के सारहीन हो जाने पर धनुषाकार शरीर मात्र रह जाता है इसी प्रकार भौंह रूपी धनुषों पर कटाक्ष रूपी बाण भी युवावस्था में चला करते हैं पर वृद्धावस्था में कटाक्ष के अभाव में भौंह रूपी धनुष मात्र रह जाते हैं। जायसी की श्लेष-मनोवृत्ति देखते हुए तीनों ही अर्थ मान्य हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

इस पद के पश्चात् भी पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित ग्रन्थावली में एक पद है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रक्षिप्त माना है। यह प्रसंगानुकूल और जायसी की शैली में है। पद निम्न है:—

जौ पिउ रतनसेन मोर राजा। बिनु पिउ जोबन कौन काजा॥
जौ पै पिउ तौ जोबन कहे। बिनु पिउ जोबन काह सो अहे॥
जौ पिय तौ यह जोबन भला। आपन जैस करै निरमला॥

कुल कर पुरुष सिंघ जेहि खेरा। तेहि थर कैस सियार बसेरा ।।
हिया फार कूकुर तेहि केरा। सिंघहिं तजि सियार मुख हेरा ।।
जोबन नीर घटे का घटा। सत्त के बर जौ नहि हिय फटा ।।
सघन मेघ होइ साम बरीसहि। जोबन नव तरिवर होइ दीसहिं ।।
रावन पाप जो जिउ धरा, दुवौ जगत मुँह कार।
राम सत्त जो मन धरा, ताहि छरै को पार ।।

अर्थ—पद्मावती ने उत्तर दिया, मेरा तो राजा रत्नसेन ही पति है। बिना उस पति के जवानी किस काम की। प्रिय पति है तो जवानी भी है पर यदि प्रिय पति ही न हो तो जवानी किस काम की? और जब प्रिय पति है तो जवानी अच्छी है; वह प्रिय पति ही अपने जैसा उसे निर्मल रखेगा। जिसके घर में कुलीन पति रूप सिंह है उसके घर किसी गीदड़ का बसेरा कैसे हो सकता है? उसके हृदय को कुत्ते खायें, जिसके हृदय में सिंह को छोड़ कर गीदड़ का स्थान हो जाय। यौवन रूपी पानी के घट जाने से ही भला क्या हानि होगी यदि सत का बल नहीं घटा। जब घने बादल काले होकर बरसेंगे तो जवानी रूपी वृक्ष नये होकर दिखाई पड़ेंगे, अर्थात् पति की अनुपस्थिति में घटी हुई जवानी, उसकी उपस्थिति में पुनः प्रफुल्लित हो जायगी। रावण ने अपने हृदय में पाप रखा था तो दोनों लोकों में उसका मुख काला हुआ पर राम ने अपने हृदय में सत रखा था तो उससे कोई छल करके क्या कर सकता था।

[५६४]

कित पावसि पुनि जोबन राता। मैमंत चढ़ा स्याम सिर छाता ।।
जोबन बिना बिरिध होइ नाऊँ। बिनु जोबन थकसि सब ठाऊँ ।।
जोबन हेरत मिलै न हेरा। तेहि बन जाइहि करिहि न फेरा ।।
हहिं जो केस नग भँवर जो बसा। पुनि बग होहिं, जगत सब हँसा ।।
सेंबर सेइ न चित कर सुवा। पुनि पछितासि अंत होइ भुवा ।।
रूप तोर जग ऊपर लोना। यह जोबन पाहुन जग होना ।।
भोग बेरास केरि यह बेरा। मानि लेहि, पुनि को केहि केरा ।।
उठत कोंप तरिवर जस, तस जोबन तोहि रात।
तौ लहि रंग लेहि रचि, पुनि सो पियर ओइ पात ।।५६४।।

शब्दार्थ—राता=लाल, सुन्दर। मैमन्त=मतवाला। हहिं=हैं। बग=बगला। सेंबर=सेमल। भुवा=सेमल की रुई। लोना=सुन्दर। कोंप=कोंपल। रात=लाल। तौ लहिं=तब तक। पियर=पीला।

अर्थ—कुमुदिनी कह रही है कि जवानी के दिन बीत जाने पर फिर सुन्दर जवानी को तुम कहां पा सकती हो। इस समय तो तेरे सिर पर काले बालों का छत्र धारण किये

हुए मतवाला यौवन है पर जब जवानी के बिना बूढ़ी नाम से पुकारी जाओगी तो जवानी के बिना सब जगह थकी हुई रहोगी। तब जवानी खोजने पर न मिलेगी। यौवन उस वन में चला जायगा जहां लौटकर न आयेगा। ये तेरे भौंरे के समान काले बाल हैं ये बगले के समान सफेद हो जायेंगे और सारा संसार हंसेगा। तोता सेमल के फल से चित्त लगाता है पर फल के पकने पर जब वह उसमें चोंच मारता है तो उसमें से रुई निकलती है, हाथ कुछ नहीं आता। उसी प्रकार यदि तुम बहुत काल तक रत्नसेन की ही प्रतीक्षा में रहोगी तो जवानी के बीत जाने पर तुम्हें कुछ न हाथ लगेगा अतः तू उसकी प्रतीक्षा न कर। तेरा सौंदर्य संसार भर से बढ़कर है पर यह जवानी ऐसे में मेहमान के समान ही रहेगी। यह काल तो भोग-विलास का है। मेरी बात मान लो नहीं तो बुढ़ाई आने पर कौन किसका है?

जिस प्रकार पौदे में कोंपल निकलती है उसी प्रकार तेरे पास जवानी अपनी अरुणिमा के साथ है, तभी तक इसमें रंग की ललाई है फिर तो उसका पता पीला हो जायगा। भाव यह है कि जवानी के बीत जाने पर बुढ़ाई में कोई आनन्द नहीं मिलेगा।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[५९५]

कुमुदिनि बैन सुनाए जरे। पदुमिनि हिय अँगार जस परे॥
रँग ताकर हौं जारौं रचा। आपन तजि जो पराएँ लचा॥
दोसर करै जाइ दुइ बाटा। राजा दुइ न होंहि एक पाटा॥
जेहि जिय पेम प्रीत दिन होई। सुख सोहाग सौं निबहा सोई॥
जोबन जाउ, जाउ सो भँवरा। पिय की प्रीति सो जाइ न सँवरा॥
एहि जग जौं पिय करिहि न फेरा। ओहि जग मिलिहि सो दिन दिन मेरा॥
जोबन मोर रतन जहँ पीऊ। बलि सौंपौं यह जोबन जीऊ॥
भरथ बिछोउ पिंगला, आहि करत जिय दीन्ह।
हौं बिसारि जौं जियति हौं, यहै दोस बड़ कीन्ह॥५९५॥

शब्दार्थ—लचा=झुका—पाठान्तर—राँचा=पसन्द किया। जाइ दुइ बाटा=नष्ट हो जाता है। जाउ=चाहे चला जाय। सँवरा=स्मरण।

अर्थ—कुमुदिनी की बातें सुन कर पद्मावती को ऐसा बुरा लगा मानों उसके हृदय पर आग का अंगारा ही पड़ गया हो। उसने कहा कि उसके रचे हुए रंग को जला दूँ जो अपने पति को छोड़ कर दूसरे की ओर झुकती है। जो दूसरा पति वरती है वह दो रास्तों पर चल कर नष्ट हो जाती है, एक सिंहासन पर दो राजा नहीं बैठते। जिसकी अपने पति पर दिन-पर-दिन प्रीति होती जाती है वही सुख और सौभाग्य से अपने दिन व्यतीत करती है। जवानी और ये काले बाल भले ही चले जायं पर अपने प्रियतम की प्रीति के कारण दूसरा व्यक्ति स्मरण ही नहीं किया जा सकता। यदि इस संसार में मेरा पति लौट कर न

आयेगा तो दूसरे लोक में वह अवश्य मिलेगा। मेरी जवानी तो वहीं है जहाँ मेरा प्रियतम रत्नसेन है, मैं उस पर बलिहारी जाती हूँ और अपने जीव और यौवन को उस पर सौंप रही हूँ। राजा भर्तृहरि के वियोग में रानी पिंगला ने आह करके जान दे डाली। उसे भुला कर जो मैं जी रही हूँ यही मेरा बहुत बड़ा दोष है।

[५९६]

पदुमावति सो कवनि रसोई। जेहि परकार न दोसर होई॥
रस दोसर जेहि जीभ बईठा। सो पै जान रस खट्टा मीठा॥
भँवर बास बहु फूलन्ह लेई। फूल बास बहु भँवरन्ह देई॥
तैं रस परस न दोसर पावा। तिन्ह जाना, जिन्ह लीन्ह परावा॥
एक चुरू रस भरै न हिया। जौ लहि नहिं भरि दोसर पिया॥
तोर जोबन जस समुँद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़ै मोरा॥
दिन क ओर नहिं पाइअ बैसे। जरम ओर तुइँ पाउब कैसे॥
देखि धनुक तोर नैना, मोहि लागहिं बिख बान।
बिहँसि कँवल जौं मानैं, भँवर मिलावौं आनि॥५९६॥

शब्दार्थ—परकार=प्रकार। चुरू=चुल्लू। जिउ बूड़ै=जी—घबराता है। बैसे=बैठे रहने से, उद्योग न करने से। ओर=अन्त। जरम=जीवन। आनि=लाकर-पाठान्तर-आन=दूसरा।

अर्थ—कुमुदिनी ने कहा कि हे पद्मावती वह रसोई किस काम की जिसमें अनेक प्रकार के भोजन न हों। जिसकी जिह्वा में भिन्न-भिन्न प्रकार के रस पहुँच चुके हैं, वही तो खट्टा और मीठा (भिन्न-भिन्न प्रकार का) स्वाद जानता है। उदाहरण के लिए भौंरा एक ही फूल पर नहीं बैठता, अनेक फूलों के पास जाकर भिन्न-भिन्न रस चखता है और इसी प्रकार फूल भी अन्य-अन्य भौंरों को रस देता है। तूने आज तक दूसरे का रस नहीं पाया है। दूसरे (उपपति) का रस तो वही जानता है जो दूसरे का रस लेता है। एक चुल्लू रस से तो हृदय की तृप्ति नहीं होती, जब दूसरा चुल्लू आदमी पीता है तभी उसे सन्तोष होता है। तेरा यौवन समुद्र की लहरों की भाँति उमड़ रहा है, इसे देख-देख कर मेरा जी घबरा जाता है। बैठे-बैठे तो दिन का भी अन्त नहीं मिलता तो फिर भला इतने बड़े जीवन का अन्त कैसे पावेगी—भाव यह कि इस प्रकार प्रतीक्षा में तेरा इतना बड़ा जीवन कैसे बीतेगा ?

तेरे धनुष के आकार की भौंहों को देख कर मुझे विष का बाण लगता है, अर्थात् तेरे रूप और सौन्दर्य को देख कर करुणा-भाव के कारण मुझे बड़ा दुःख लगता है, अतः यदि प्रसन्नतापूर्वक तू मान जाय तो मैं तुझसे दूसरा भौंरा (उपपति) लाकर मिला दूँ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

[५९७]

कुमुदिनि तू बैरिनि, नहिं धाई । मुँह मसि बोलि चढ़ावै आई ॥
निरमल जगत नीर कस नामा । जौं मसि परै सोउ होइ स्यामा ॥
जहँवाँ धरम पाप तहँ दीसा । कनक सोहाग माँझ जस सीसा ॥
जो मसि परी भई ससि कारी । सो मसि लाइ देसि मोहि गारी ॥
कापर महँ न छूट मसि अंकू । सो मोहि लाए अैस कलंकू ॥
स्यामि भँवर मोर सूरज करा । और जो भँवर स्याम मसि भरा ॥
कँवल भँवर रबि देखै आँखी । चंदन बास न बैठै माँखी ॥
स्यामि समुँद मोर निरमल, रतनसेनि जग सेनि ।
दोसर सरि जो कहावै, तस बिलाइ जस फेनि ॥५९७॥

शब्दार्थ—धाई=धाय माँ । कस=कैसा-पाठान्तर- कर=का । मसि=स्याही । तहँ=वहाँ पाठान्तर-नहिं । दीसा=दिखाई पड़ता । सोहागा=जिससे सोना जोड़ा जाता है । सीसा=काली धातु (Lead) । सोने में सीसे के मिल जाने पर उसमें दोष आ जाता है, उसे शुद्ध करने के लिए जब उसमें सुहागा डाला जाता है तो सीसा स्पष्ट अलग हो जाता है । गारी=गाली, अपयश । कापर=कपड़ा । माँखी= मक्खी । जगसेनि=संसार-प्रसिद्ध ।

अर्थ—पद्मावती खीझ कर बोली, हे कुमुदिनी ! तू तो धाय नहीं, मेरी शत्रु है ।। तू मुझसे कह कर मेरे मुख पर स्याही लगाना चाहती है । संसार में जल कैसा सुन्दर निर्मल नाम है, पर वह निर्मल जल भी स्याही के पड़ने पर काला हो जाता है । जहाँ धर्म है वहाँ पाप स्पष्ट अलग दिखाई देता है जैसे सोने और सोहागे के मिलने पर सीसा साफ दिखाई पड़ता है । स्याही के पड़ने से चन्द्रमा भी काला हो गया है, वही स्याही मेरे मुख पर लगा कर तू मुझे अपयश देना चाह रही है । कपड़े में से स्याही का दाग नहीं छूटता, वही मुझ में लगा कर तू कलंकित करेगी । मेरा भँवर (प्रेमी) तो सूर्य किरण के समान निर्मल और तेजस्वी मेरा स्वामी (रत्नसेन) ही है और कोई भँवर यदि तू कहती है तो वह स्याही से भरा हुआ काला और निकम्मा है । कमल (पद्मावती) को तो भँवर रूपी सूर्य (रत्नसेन) ही देख सकता है। जैसे चन्दन की सुगन्ध पर मक्खी नहीं बैठ सकती, उसी प्रकार मुझ तक कोई और नीच और निकम्मा नहीं पहुँच सकता । मेरा स्वामी रत्नसेन तो सागर की भाँति निर्मल और जगत् प्रसिद्ध है, दूसरा कोई यदि उसकी बराबरी करना चाहता है तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जैसे समुद्र का झाग ।

अलंकार—शुद्धापह्नुति—कुमुदिनि तू बैरिनि नहीं धाई ?

रूपक और उपमा तथा रूपकातिशयोक्ति समस्त पद में हैं ।

[५६८]

पदुमिनी बिनु मसि बोलु न बैना । सो मसि चित्र दुहूँ तोर नैना ।।
मसि सिंगार, काजर सब बोला । मसि क बुंद तिल सोह कपोला ।।
लोना सोइ जहाँ मसि रेखा । मसि पुतरिन्ह निरमल जग देखा ।।
जो मसि घालि नैन दुहुँ लीन्ही । सो मसि बेहर जाइ न कीन्ही ।।
मसि मुंद्रा दुहुँ कुच उपराहीं । मसि भँवरा जस कँवल बसाहीं ।।
मसि केसन्हि, मसि भौंह उरेही । मसि बिनु दसन सोभ नहि देही ।।
सो कस सेत जहाँ मसि नाहीं । सो कस पिंड न जेहि परिछाहीं ।।
अस देवपाल राउ मसि, छत्र धरा सिर फेरि ।
चितउर राज बिसरि गा, गइउँ जो कुंभलनेरि ।।५६८।।

शब्दार्थ—लोना=सुन्दर। घालि=डाल कर। बेहर=अलग। मुंद्रा=मुहर, छाप। उपराहीं=ऊपर। उरेही=चित्रित की हुई। सेत=सफेद । पिंड=साकार वस्तु, शरीर।

अर्थ—कुमुदिनी ने उत्तर दिया कि बिना स्याही वाली बात तू न कर अर्थात् तू स्याही को बुरा कहती है पर उसके बिना तो कुछ होता ही नहीं, अतः ऐसी बात न कर जिसे तू काला कहती है उसके चित्र तो तेरी दोनों आँखों में पुतली के रूप में हैं। सभी कहते हैं कि काला काजल ही श्रेष्ठ शृङ्गार है, काले बिन्दु के रूप में कपोलों पर जो तिल है उससे वे सुशोभित होते हैं। जहाँ काली रेखा होती है, वहीं सौन्दर्य होता है। काली पुतलियों से ही तो संसार निर्मल दिखाई पड़ता है। जो स्याही डाल कर दोनों आँखें बनी हैं वह कालिमा किसी प्रकार अलग नहीं की जा सकती। दोनों कुचों के ऊपर काली छाप होती है, ये सुन्दर उरोजों पर ऐसे सुन्दर लगते हैं, जैसे कमल पर भौंरा बैठा हो। कालिमा बालों में होती है, कालिमा भौंहों में चित्रित होती है। बिना दाँतों के बीच बीच की कालिमा के दाँत शोभा नहीं देते। वह सफेद ही क्या है, जिसमें कालिमा न हो, वह साकार वस्तु ही कौन-सी है जिसमें काली परछाहीं न हो ।

इस कालिमा के रूप में राजा देवपाल ने फिर से सिर पर छत्र धारण किया है। यदि तू उसके कुंभलनेर में चली जायेगी तो यह चित्तौड़ भूल जायेगा।

[५६६]

सुनि देवपाल जो कुंभलनेरी । कँवल जो नैन भँवर धनि फेरी ।।
मोरे पिय क सतुरु देवपालू । सो कत पूज सिंघ सरि भालू ।।
दोख भरा तन चेतनि कैसा । तेहि क संदेश सुनावहि बेसा ।।
सोन नदी अस मोर पिय गरुवा । पाहन होइ परै जौं हरुवा ।।

जेहि ऊपर अस गरुवा पीऊ। सो कस डोल डोलाएँ जीऊ॥
फेरत नैन चेरि सौ छूटीं। भै कूटनि कुटनी तसि कूटी॥
कान नाक काटे मसि लाई। बहु रिसि काढ़ि दुवार नँघाई॥
मुहमद गरुए जो बिधि गढ़े, का कोई तिन्ह फूँक।
जिन्हके भार जगत थिर, उड़ाँहि न पवन के भूँक॥५९९॥

शब्दार्थ—भँवर=पाठान्तर, भौंह । धनि=स्त्री, पद्मावती-पाठान्तर-धनु=धनुष । पूज=पूरा पड़ सकता है। दोख=दोष-पाठान्तर-दुःख । चेतनि कैसा-पाठान्तर-जेतन केसर=जितने बाल (रोंगटे) हैं। बेसा=वेश्या । हरुआ=हलका [महाभारत में शिला नाम की एक ऐसी नदी का उल्लेख है जिसमें कोई हलकी चीज भी डाल दी जाय तो वह डूब जाती है और पत्थर हो जाती है—मेगस्थनीज ने भी ऐसा ही लिखा है। गढ़वाल के कुछ सोतों के पानी में इतना रेत और चूना रहता है कि पड़ी हुई लकड़ी पर क्रमशः जम कर उसे पत्थर के रूप में कर देता है—पं० रामचन्द्र शुक्ल]। चेरि=दासियां। कुटनी=स्त्रियों को बहकाने वाली दूती। बहु रिसि काढ़ि दुवार नँघाई-पाठान्तर-मूँड़ मूड़ि कै गदह चढ़ाई=उसका सिर मुंडवा कर गधे पर चढ़ा कर निकाल दिया। भूँक=झोंका।

अर्थ—ज्यों ही कुंभलनेर के राजा देवपाल का नाम दमावती ने सुना, उसके कमल के समान नेत्र क्रोध से भौंरे की भाँति घूमने लगे। उसने कहा कि देवपाल तो मेरे पति का शत्रु है। वह भालू के समान है, वह सिंह के सदृश हमारे रत्नसेन की बराबरी कैसे कर सकता है? उसके दोषों से भरा हुआ चैतन्य शरीर कैसा है—भाव यह है कि ऊपर भला, पर अन्दर से वह दोषों से पूर्ण है। ऐ वेश्या! तू उस नीच का संदेश मुझ तक पहुँचाने आई है? मेरे प्रियतम तो सोन नदी के समान गम्भीर हैं। उसमें तो हल्की चीज भी पड़ कर पत्थर के समान भारी हो जाती है अर्थात् उनके संग में आकर मैं भी अब हल्की नहीं हूँ, तुझ जैसी नीच का प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ सकता। जिसके ऊपर रत्नसेन जैसा गम्भीर पति है वह डोलाने से भला कभी अपने हृदय को डोला सकती है? इसके बाद उसके आंख के इशारे के करते ही उसकी सौ दासियाँ छूट पड़ीं और उस नीच कुटनी दूती का खूब कुटाई-पिटाई हुई। उसके मुख पर कालिख लगा कर उसके कान और नाक काट लिए और फिर अत्यन्त क्रोध में होकर उसको अपनी ड्योढ़ी से बाहर निकाल दिया।

जायसी कहते हैं कि जिसको ब्रह्मा ने ही गम्भीर बनाया है उसे कोई फूँक कर नहीं उड़ा सकता। जिनके भार से संसार टिका हुआ है वे पवन के झोंके से नहीं उड़ सकते।

५०. बादशाह-दूती-खण्ड

[६००]

रानी धरमसार पुनि साजा । बंदि मोख जेहि पावै राजा ।।
जांवत परदेसी चलि आवा । अन्न दान पय पानि पियावा ।।
जोगी जती आव जेत कंथी । पूंछै पियहि जान कोइ पंथी ।।
देत जो दान बाँह भइ ऊंची । जाइ साहि पहँ बात पहूँची ।।
पातर एक हुती जोगि सुवाँगी । साहि अखारैं हुति ओहि माँगी ।।
जोगिनि भेस बियोगिनि कीन्हा । सिंगी सबद मूल तँतु लीन्हा ।।
पदुमिनी कहँ पठई कै जोगिनी । वेगि आनु कै बिरह बियोगिनी ।।
चतुर कला मोहनि; परकाया परवेस ।।
आइ चढ़ी चितउर गढ़, होइ जोगिनी के भेस ।। ६०० ।।

शब्दार्थ—धरमसार=धर्मशाला, सदावर्त, खैरातखाना । मोख=मोक्ष, छुटकारा, रिहाई । जांवत=जितने भी, सब । पय=दूध । कंथी=गुदड़ी धारण करने वाला साधु । पातर=नर्तकी । जोगि सुवाँगी=जोगिनी का स्वाँग बनाने वाली । अखारैं=रङ्गशाला । हुति=से । माँगी=बुलाई गई । पठई=भेजी ।

अर्थ—फिर रानी पद्मावती ने एक धर्मशाला खोली, जिससे दान-पुण्य के प्रभाव से राजा को कैद से छुटकारा मिले । जितने भी परदेशी आते थे सबको अन्न, दान, दूध और जल प्राप्त होता था । जितने भी जोगी, जती और पीर (कंथी) आते थे उन सबसे पद्मावती पूछती थी कि क्या कोई राही, उसके पति (रत्नसेन) का कुछ हाल जानता है । दान देने से बाँह ऊंची होती है, अर्थात् प्रसिद्धि होती है, अतः उसके इस प्रकार के दान की बात अला-उद्दीन के कान तक पहुंची । उसके दरबार में एक नर्तकी थी, जो जोगिनी का स्वांग रचा करती थी, उसे शाह ने रङ्गशाला से बुला भेजा । उसे जोगिनी के वेश में बनाया, उसे सींग का बाजा दिया, हठयोगी साधुओं के शब्द और तत्व (निराकार शब्दावली) आदि से निपुण कर दिया । फिर उसे जोगिनी बना कर पद्मावती के पास भेज दिया और कहा कि उस पद्मावती में मेरे लिए विरह उत्पन्न करके शीघ्र ले आओ ।

वह नर्तकी मन मोहने की कला में बड़ी चतुर थी, वह परकाया-प्रवेश भी जानती थी अतः उसने दूसरे शरीर में दूसरा वेश बना लिया, अर्थात् नर्तकी से जोगिनी बन गई और जोगिनी के वेश में वह चित्तौड़ में आ पहुंची ।

[६०१]

माँगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई ॥
जोगिनी एक बार है कोई। माँगै जैस बियोगिनि होई ॥
अबहिं नवल जोबन तप लीन्हे। फारि पटोरा, कंथा कीन्हे ॥
बिरह भभूति, जटा बैरागी। छाला काँध, जाप कँठ लागी ॥
मुँद्रा स्रवन, डँड न थिर जीऊ। तन तिरसूल, अधारी पीऊ ॥
छात न छाँह, धूप जस मरई। पाय न पाँवरि, भूँभुरि जरई ॥
सिंगी सबद, धँधारी करा। जरै सो ठाँउ पाँउ जहँ धरा ॥
किंगिरी गहें बियाग बजावें, बारहिं बार सुनाव।
नैन चक्र चारिहुं दिसि हेरैं, दहुँ दरसन कब पाव ॥ ६०१ ॥

शब्दार्थ—राजबार=राजद्वार। जनाई=सूचित किया। बार=द्वार। पटौरा=रेशमी वस्त्र। कंथा=गुदड़ी। छाला=मृगचर्म। मुंद्रा=शीशे का कुंडल। स्रवन=कान। डंड=एक दंड, पल। तिरसूल=शंकरभक्त जोगी त्रिशूल के ढंग का एक सोटा रखते हैं अधारी=एक प्रकार की लकड़ी जिसको छाती के आगे लगा कर उसका सहारा लेकर जोगी बैठते हैं। इसका आकार अंग्रेजी के T अक्षर जैसा होता है। छात=छाता। पाँवरि=खड़ाऊं-जूता। भूँभुरी=सूर्य की गर्मी से गर्म हुई रेत या धूलि। धंधारी=गोरखधन्धा। किंगिरी=एक प्रकार की छोटी सारङ्गी। दहुँ=पता नहीं।

अर्थ—वह भीख मांगते हुए राजद्वार पर आ गयी। दासियों ने भीतर जाकर इसकी सूचना रानी पद्मावती को दी कि एक जोगिनी द्वार पर आई है और इस प्रकार भीख मांगती है कि मालूम होता है कि वह ईश्वर की सच्ची वियोगिनी है। अभी नया यौवन उसके पास है और इस अवस्था में ही उसने तपस्या की है, उसने अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ अर गुदड़ी धारण कर रखी है। विरह ही उसकी भभूत (राख) है, उसकी जटायें वैरागियों जैसी हैं, कंधे पर मृगचर्म रखती है और उसकी जप करने की प्रकृति है। कान में मुद्रा पहिने है उसका जी एक पल के लिए भी स्थिर नहीं रहता। उसका शरीर ही त्रिशूल बना है और प्रिय परमेश्वर की याद ही उसकी अधारी है। वह छाता या छाहँ नहीं ग्रहण करती, यों ही धूप में मरती है। उसके पैरों में जूता नहीं है, वह गर्म भूमि में जलती है। हाथ में सारंगी लेकर उस पर विरह का राग बजाती है और द्वार-द्वार पर वही राग सुनाती फिरती है। उसके नेत्र चक्र की भाँति चारों ओर अपने प्रियतम को खोजते रह तेहैं कि पता नहीं कब दर्शन प्राप्त हो जायँ।

(६०२)

सुनि पदुमावति मँदिल बोलाई। पूँछी कवन देस सों आई ॥
तरुनि बैस तुम्ह छाज न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह वियोगू ॥

कहेसि बिरह दुख जान न कोई। बिरहिनि जान बिरह जेहि होई ।।
कंत हमार गए परदेसा। तेहि कारन हम जोगिनि भेसा ।।
काकर जिउ, जोबन औ देहा। जौं पिय गएउ सब खेहा ।।
फारि पटोर, कीन्ह मैं कंथा। जहँ पिउ मिलै, लेहु सो पंथा ।।
फिरा करौं चहुँ चक्र पुकारा। जटा परीं, को सीस सँभारा ।।
हिरदै भीतर पिउ बसै, मिलै न पूँछौं काहि।
सून जगत सब लागै, पिय बिनु किछौ न आहि ।।६०२।।

शब्दार्थ—छाज=शोभा देता है। काकर=किसका। खेहा=मिट्टी। चहुँ चक्र=पृथ्वी के चारों कोनों में। किछौ=कुछ भी। आहि=है।

अर्थ—ऐसा समाचार सुन कर पद्मावती ने उस जोगिनी को महल के भीतर बुलवाया। उससे पूछा कि तू किस देश से आई है। जवानी की इस उम्र में तुझे जोग शोभा नहीं देता। किस कारण तुमने ऐसा वियोग का रूप धारण किया है। उसने कहा कि विरह के दुःख को कोई नहीं जान सकता, वही विरहिणी ही जान सकती है जिसे विरह हो। मेरा प्रियतम परदेश चला गया इसी कारण मैंने जोगिनी का वेश धारण कर रखा है। अब यह जी, यौवन और शरीर किसका है, जब प्रिय ही चला गया तो सब कुछ मिट्टी ही है। मैंने अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर गुदड़ी बना ली और जहाँ मेरा प्रियतम मिलेगा उसी रास्ते को ग्रहण करूँगी। इसीलिए पृथ्वी के चारों कोनों में पुकारती फिरती हूँ, जटायें शीश पर पड़ी हैं इन्हें कौन संभाले। मेरा प्रियतम मेरे हृदय में बसा है, फिर भी मिलता नहीं; मैं किससे पूछूँ ? सारा संसार मुझे सूना लगता है क्योंकि प्रिय के बिना संसार में कुछ नहीं है।

नोट—इस जोगिनी की बातों में रहस्यात्मक व्यंजना है, प्रिय लौकिक नहीं—अलौकिक परमेश्वर है।

अलंकार—समासोक्ति।

(६०३)

स्रवन छेदि मुंद्रा मैं मेले। सबद ओनाउँ कहाँ दहुँ खेले ।।
तेहि बियोग सिंगी नित पूरौं। बार बार होइ किंगरी झूरौं ।।
को मोहिं लै पिउ के डंड लावै। परम अधारी बात जनावै ।।
पाँवरि टूटि, चलत गा छाला। मन न मरै, तन जोबन बाला ।।
गइउँ पयाग, मिला नहिं पीऊ। करवत लीन्ह, दीन्ह बलि जीऊ ।।
जाइ बनारसि जारिउँ कया। पारिउँ पिंड निबहुरे गया ।।
जगरनाथ जगरन कै आई। पुनि दुवारिका जाइ अन्हाई ।।
जाइ केदार दाग तन कीन्हेउ, तहँ न मिला तन आँकि।
ढूँढि अजोध्या सब फिरिउँ, सरग दुवारी झाँकि ।।६०३।।

शब्दार्थ—मेले=डाले। सबद=शब्द। ओनाऊँ=झुकती हूँ, झुक कर सुनती हूँ। बहुँ=पता नहीं। झूरौं=सूख रही हूँ। डँड=(देशजशब्द डंडय) गली-पाठान्तर-कंठ। अधारी=सहारा देने वाली, विश्वसनीय। जनावै=बतावै। करवत=(करपत्र) आरा। करवत लीन्ह=आरे से शरीर कटवाया। पारिउँ पिंड=श्राद्ध किया। निबहुरे=न लौटने वाले, (अवधी प्रान्तों में स्त्रियाँ चिढ़कर गाली के रूप में इस शब्द का प्रयोग करती हैं।)-पाठान्तर-नहाइउँ=स्नान किया। जगरन=जागरण। अन्हाई=स्नान किया। दाग तन=शरीर पर कृष्ण जी की छाप लगवाना। आँकि=चिन्ह, पता। सरगदुवारी=अयोध्या में एक स्थान।

अर्थ—जोगिनी कह रही है कि मैंने अपने कानों को छेदवा कर उसमें मुद्रा को डलवा लिया। भाव यह कि मुद्रा डालकर संसार के शब्दों के लिए मैंने अपने कान सदा के लिए बन्द कर लिये। चलते हुए उस शब्द (अनहद नाद) के लिए झुक कर सुनती हूं कि शायद वहीं खेल रहा हो और उसके खेल का शब्द मेरे कान में पड़ जाय। उसी के वियोग में मैं नित्य शृंगी बजाती हूँ और दरवाजे-दरवाजे सारङ्गी बजाती सूख रही हूँ। कौन है जो मुझे लेकर प्रियतम की गली में ले चलेगा अर्थात् प्रियतम से मिला देगा और अत्यन्त आधार देने वाली विश्वसनीय बात को बतावेगा। चलते-चलते मेरे पैरों की जूती टूट गई और पैरों में छाले पड़ गये, मेरा मन फिर भी नहीं मरता। क्योंकि शरीर में युवति की जवानी बनी हुई है। मैं प्रयाग गई पर वहाँ भी मेरा प्रियतम नहीं मिला, मैंने वहाँ पर आरे को शरीर पर चलवाया और जीवों की बलि दी। बनारस जाकर मैंने अपने शरीर को जलाया, गया में जाकर मैंने उस न लौटने वाले प्रिय के लिए श्राद्ध किया। जगन्नाथपुरी में जाकर मैं रात-रात जागरण कर आयी। फिर द्वारिका जाकर समुद्र में गोता लगाया। केदारनाथ जी में जाकर अपने शरीर पर छापे लगवाये पर वहां भी उसके शरीर का कोई चिन्ह न मिला। अयोध्या में सर्वत्र ढूँढा और स्वर्ग-द्वारी में आगे झांका—तात्पर्य यह कि मैंने सारे तीर्थों का भ्रमण कर लिया है।

इस पद के पश्चात् भी पं० शुक्ल संपादित ग्रन्थावली में एक और पद है। डा० माताप्रसाद जी उसे भी प्रक्षिप्तों में रखते हैं यद्यपि पद में कोई दोष नहीं है। जायसी की प्रवृत्ति के अनुसार अन्य तीर्थों के नाम गिनाये गये हैं—

[६०३]

गउमुख हरिद्वार फिर कोन्हिउँ। नगरकोट काटि रसना दीन्हिउँ॥
ढूँढिउ बालनाथ कर टीला। मथुरा मथिउँ, न सो पिउ मीला॥
सुरुज कुंड महँ जारिउँ देहा। बद्री मिला न जासौं नेहा॥
रामकुंड, गोमति गुरुद्वारू। दाहिनवरत कीन्ह कै बारू॥
सेतुबन्ध कैलाश सुमेरू। गइउँ अलकपुर जहाँ कुबेरू॥
बरम्हावरत ब्रह्मावति परसी। बेनी संगम सीझिउँ करसी॥
नीमसार मिसरिख कुरुछेता। गोरखनाथ अस्थान समेता॥

पटना पुरुब सों घर घर, हाँड़ि फिरिउँ संसार।
हेरत कहूँ न पिउ मिला, ना कोइ मिलवनहार ॥ ६०३ ॥

अर्थ—मैंने गंगोत्तरी के गोमुख और हरद्वार तीर्थ को किया, नगरकोट में देवी को अपनी जीभ काट कर चढ़ा दी। मैंने बालनाथ का टीला भी देखा, सारी मथुरा को मैंने मथ डाला पर प्रियतम न मिला। सूर्यकुंड के गरम जल में स्नान करके मैंने अपने शरीर को जलाया, बदरीनारायण में भी गई पर जिसमें मेरा प्रेम है वह वहां भी न मिला। रामकुंड, गोमती, गुरुद्वारा तथा दक्षिणावर्त्त के मैंने कितने ही चक्कर लगाये। सेतुबन्ध रामेश्वर, कैलाश, सुमेरु पर्वत और उस अलकापुरी में मैं गई जहाँ कुबेर रहते हैं। ब्रह्मावर्त में मैंने ब्रह्मावर्तीका स्पर्श किया। त्रिवेणी के संगम पर मैंने उपलों की आग में पंचाग्नि तपी। नैमिषारण्य, मिश्रिख, कुरुक्षेत्र तथा गोरखनाथ के स्थानों तक को देखा। पूर्व देश और पटना में घर-घर में मैंने खोजा पर खोजते हुए न तो प्रियतम मिला और न कोई उससे मिलाने वाला ही।

[६०४]

बन बन सब हेरेउँ बन खंडा। जल जल नदी अठारह गंडा ॥
चौंसठि तिर्थ कीन्ह सब ठाँऊ। लेत फिरौं ओहि पिय कर नाँऊ ॥
ढीली सब हेरेउँ तुरुकानू। औ सुलतान केर बँदिबानू ॥
रतनसेनि देखेउँ बँदि माहाँ। जरै धूप, खिन पाव न छाहाँ ॥
का सो भोग जेहि अंत न केऊ। एहि दुख लिहें भई सुखदेऊ ॥
सब राजा बाँधे औ दागे। जोगिनि जानि राजा पाँ लागे ॥
ढीली नाउँ न जानहि ढीली। सुठि बँदि गाढ़, न निकस कीली ॥
देखि दगध दुख ताकर, अबहूँ कया न जीउ।
सो धनि जियत किमि आछै, जेहिक अँस बँदि पीउ ॥ ६०४ ॥

शब्दार्थ—हेरेउँ=खोजा। अठारह गंडा=बहत्तर। बँदिबानू=बंदी खाना। सुखदेऊ=शुकदेव जी, वे किसी स्थान पर कहीं पर अधिक समय तक ठहरते नहीं थे,* तात्पर्य यह कि किसी स्थान पर न ठहरने वाली। कीली=कथा है कि विक्रमादित्य ने यज्ञ के उपरान्त एक लोहे की कीली गड़वाई। वह इतनी नीचे गड़ गई कि शेषनाग के सिर तक पहुँची। यद्यपि वह ढीली थी पर इतना नीचे होने से निकल नहीं सकी। इसी ढीली कीली के कारण ही शहर का नाम आज तक ढिल्ली या दिल्ली है, वह लोहे की कीली आज तक कुतुबमीनार के पास विद्यमान है। आछै=है।

*नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम्।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥—भागवत १।१९।३९

[हे भगवत्स्वरूप मुनिवर, गृहस्थों के घर पर जितनी देर एक गाय दुही जाती है उतनी देर भी तो आप नहीं ठहरते।]

अर्थ—सारे जंगलों में मैंने उसे खोजा। बहत्तर नदियों के जल को मैं लेती रही। सारे चौसठ तीर्थों को मैंने कर लिया और सर्वत्र उसी प्रियतम का नाम लेती फिरी। दिल्ली के सारे तुरकाने में खोजा, फिर सुलतान अलाउद्दीन के बन्दीखाने में भी देखा। उसके बन्दीखाने में मैंने रत्नसेन को देखा। बेचारा धूप में जल रहा है, उसे क्षण भर के लिए भी छाया नहीं मिलती। उसके भोग-विलास से क्या जिसके जीवन के अन्तिम काल में कोई नहीं है? इसी दुःख के अनुरूप में किसी स्थल पर रुक नहीं सकती, घूमती ही रहती हूँ। राजा का समस्त शरीर बँधा हुआ और दागा हुआ है। उस राजा ने मुझे जोगिनी समझ कर मेरे पैर छुए। दिल्ली का नाम ढीली है, पर उसे ढीला नहीं समझना चाहिए। उसका शासन बड़ा है, कठोर है। वहाँ की कैद बड़ी कठिन है, जैसे कीली नहीं निकलती उसी प्रकार उस कैद में पड़ने पर निकलना अत्यन्त कठिन है। उस बेचारे के दुःख को देखकर अब तक मेरे शरीर में जीव नहीं है। भला वह स्त्री कैसे जी रही होगी जिसका पति इस प्रकार बन्दी है?

[६०५]

पदुमावति जौं सुना बँदि पीऊ। परा अगिनि महँ जानहुँ घीऊ॥
दौरि पायँ जोगिनि के परी। उठी आगि जोगिनि पुनि जरी॥
पाय देइ, दुइ नैनन्ह लावौं। लै चलु तहाँ कंत जहँ पावौं॥
जिन्ह नैनन्ह देखा तैं पीऊ। सो मोहि देखाउ, देउँ बलि जीऊ॥
सत औ धरम देउँ सब तोही। पिय की बात कही जेइँ मोही॥
तूँ मोरि गुरू, तोरि हौं चेली। भूली फिरत पंथ जेइँ मेली॥
डंड एक माया करु मोरें। जोगिनि होउँ चलौं सँग तोरें॥
सखिन्ह कहा पदुमावति रानी, करहु न परगट भेस।
जोगी सोइ गुपुत मन जोगवै, लै गुरु कर उपदेस॥६०५॥

शब्दार्थ—घीऊ=घी। डंड=पल। माया=दया। जोगवै=सँभाले।

अर्थ—जब पद्मावती ने अपने पति को बन्दी सुना तो मानो अग्नि में घी पड़ गया हो। दौड़ कर वह जोगिनी के पैरों पर गिर पड़ी। उसकी विरहाग्नि से ऐसी आग उठी कि जोगिन जल गई। पद्मावती ने कहा कि तू अपने पैरों को दे, मैं इन्हें अपनी आंखों से लगाऊँगी। मुझे भी तू वहीं ले चल जहाँ कि मैं अपने पति को पाऊँ। जिन आँखों से तूने जिस मेरे पति को देखा है, उसे मुझे दिखा, मैं अपने जीव की बलि दे सकती हूं। मैं अपना सारा सत्य और धर्म तुझे देती हूँ क्योंकि तूने मेरे पति का समाचार दिया है। तू मेरी गुरु है और मैं तेरी शिष्या हूँ। मैं अब तक भटकी फिर रही थी, तूने ही मुझे रास्ता दिया है। एक पल के लिए तू मुझ पर दया कर, मैं जोगिन हूंगी और तेरे साथ चलूंगी।

सखियों ने कहा कि ऐ रानी पद्मावती इस प्रकार तुम अपने वेश को न प्रकट करो। जोगी तो वह है जो गुरु के उपदेश को लेकर मन ही मन गुप्त रूप से उसे सँभालता है।

[६०६]

भीखि लेहि, जोगिनि फिर माँगू। कंत न पाइअ किए सँवागू ।।
एइ बिधि जोग बियोग जो सहा। जैसें पिउ राखै तिमि रहा ।।
गिरिही महँ भै रहै उदासा। अंचल खप्पर, सिंगी स्वाँसा ।।
रहै पेम मन अरुझा लटा। बिरह धँधारि, परहिं सिर जटा ।।
नैन चक्र हेरै पिय पंथा। कया जो कापर सोई कंथा ।।
छाला पुहुमि गँगन सिर छाता। रंग रकत रह हिरवै राता ।।
मन माला फेरत तंत ओहीं। पाँचौं भूत भसम तन होहीं ।।
कुण्डल सो जो सुनै पिय बैना, पाँवरि पाय परेहु ।
डंड एक जाहु गोरा बादिल पहँ, जाइ अधारी लेहु ।। ६०६ ।।

शब्दार्थ—भीख=जोगी के लिए भिक्षा मांगना अनिवार्य है। यह जोगी का एक बाह्य रूप है। सखियाँ जोगी के बाह्य रूप का निषेध करती हैं, अतः भिक्षा आदि सबका निषेध करती हैं। उदासा=विरागी, आशा रहित। परेहु=पड़ना। अधारी=साधुओं का डंडा, साहाय्य।

अर्थ—सखियों ने कहा हे जोगिन ! तुम भिक्षा लो और अन्यत्र घूम-घूम कर भीख माँगो। वे रानी को समझाती हैं कि स्वांग से प्रियतम नहीं मिलता। इस प्रकार वियोग को जो सहती है और जैसे प्रियतम रखता है उसी प्रकार रहती है वही असली जोगिन है। गृहस्थ बनकर भी जो आसक्ति रहित रहती है उसके लिए अंचल ही खप्पर और स्वाँस ही सिंगी है। प्रेम में मन खूब उलझा रहता है। विरह ही गोरखधंधा है और सिर पर जटा है ही। नेत्र चक्र की भाँति चलकर प्रियतम के रास्ते पर लगे रहते हैं, शरीर पर जो कपड़ा है वही गूदड़ी है और विरहावस्था में चीर मैला रहता ही है। पृथ्वी ही मृगचर्म है और आकाश ही छाता है। खून के रंग से हृदय लाल रहता है अर्थात् गेरुए रंग से रंगा है। मन रूपी माला उसी तत्व को फेरा करती है। सारे पंचभूत के जलने की भस्म ही शरीर की भभूत है। प्रिय की वाणी जो कान से सुनती हो वही कुण्डल है, प्रिय के पांव में पड़ना ही खड़ाऊँ है। एक पल के लिए गोरा बादल के पास जाओ, योगी का समस्त रूप तो तुम में है ही, अधारी की और आवश्यकता है तो गोरा बादल का आधार ही तुम्हारे लिए अधारी होगा, उसे जाकर ग्रहण करो।

अलंकार—सांग रूपक। वियोग में ही योग का पूर्ण रूप प्रस्तुत किया है, इसी भाव को विकसित कर 'देव' ने वियोगिनी में योगिनी का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है।*

इसका फुटनोट पृष्ठ सं० ५८८ पर देखिये।

——

५१. पद्मावती-गोरा-बादल-सम्वाद-खण्ड

[६०७]

सखिन्ह बुझाई दगधि अपारा। गै गोरा बादिल के बारा॥
कँवल चरन भुई जरम न धरे। जात तहाँ लगि छाला परे॥
निसरि आए सुनि छत्री दोऊ। तस काँपे जस काँप न कोऊ॥
केस छोरि चरनन्ह रज झारे। कहा पाँउ पदुमावति धारे॥
राखा आनि पाट सोनवानी। बिरह बियोग न बैठी रानी॥
चँवर धारि होइ चँवर डोलावहिं। माथें छाहँ, रजायसु पावहिं॥
उलटि बहा गंगा कर पानी। सेवक बार न आवै रानी॥

का अस कीन्ह कस्ट जिय, जो तुम्ह करत न छाज।
अग्याँ होइ बेगि कै, जीव तुम्हारे काज॥ ६०७॥

शब्दार्थ—बुझाई=समझा-बुझा कर, बुझाई, शान्त की। दगधि=जलन। बारा=द्वार। जरम=जीवन भर। निसरि=निकल। आदि=लाकर। पाट=सिंहासन। सोनवाली=सोने के वर्ण वाला, सुनहला। छाँह=छाया—पाठान्तर-छात=छत्र। रजायसु=आज्ञा। कहा=क्या, क्यों।

अर्थ—सखियों ने समझा-बुझाकर रानी की जलन को शान्त किया। तब रानी गोरा-बादल के द्वार पर गयी। उस महारानी ने कभी अपने कमल के समान चरण भूमि पर नहीं रखे थे इससे गोरा-बादल के घर जाते-जाते उसके पैरों में छाले पड़ गये। उसका आगमन सुनते ही दोनों क्षत्रिय निकल आये, रानी के असम्भावित आगमन पर वे ऐसे काँपने लगे कि जैसा कोई न काँपेगा। उन दोनों ने अपने केश को खोल कर केशों से रानी के चरणों को झाड़ा और निवेदन किया कि हे रानी पद्मावती! तुमने क्यों यहाँ पदार्पण किया है? उन्होंने उसके लिए एक सुनहला सिंहासन रक्खा पर विरह के वियोग के कारण रानी

*बरुनी बघम्बर गूदरी में पलक दोऊ, कोये राते बसन भगौहें भेस रखियाँ,
बूड़ी जल ही में दिन-जामिनिहू जामें, भौहें धूम सिर छायो विरहानल विलखियाँ।
आँसू जो फटिक माल, लाल डोरे सेली पैन्हि, भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ,
दीजिए दरस 'देव' कीजिए संजोगिनि, सु जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ॥

सिंहासन पर न बैठी । तब दोनों वीर चँवर को लेकर रानी के ऊपर डुलाने लगे और कहने लगे कि आपकी छाया के भरोसे रहकर हम आज्ञा पालन करने वाले हैं । आज तो गंगा का पानी उलटा बह रहा है क्योंकि सेवक के द्वार पर तो रानी कभी नहीं आती । हे रानी, आज आपके जी को क्या कष्ट हो गया जो ऐसा काम किया जो शोभा नहीं देता । आज्ञा हो, हम अपने जीव को आपके कार्य के लिए अर्पण करें ।

[६०८]

कहै रोइ पदुमावति बाता । नैनन्ह रकत देखि जग राता ।।
उलथि समुँद जस मानिक भरे । राई रुहिर आंसु तस ढरे ।।
रतन के रंग नैन पै वारौं । रती रती कै लोहू ढारौं ।।
कँवलन्ह ऊपर भँवर उड़ावौं । सूरज जहाँ तहाँ लै लावौं ।।
हिय कै हरद, बदन के लोहू । जिउ बलि देउँ सो सँवरि बिछोहू ।।
परहिं आंसु सावन जस नीरू । हरियर भुइँ, कुसुंभि तन चीरू ।।
चढ़े भुवंग लुरहि लट केसा । भै रोवत जोगिनि के भेसा ।।
बीर बहूटी होइ चली, तबहूँ रहहिं न आंसु ।
नैनन्हि पंथ न सूझै, लागेउ भादवँ मासु ।। ६०८ ।।

शब्दार्थ—उलथि=उमड़ कर । मानिक=माणिक्य । ढरे=टपके । पै=अवश्य । रती-रती=रत्ती-रत्ती । लोहू=खून । हरद=हल्दी, पीला । बदन=शरीर । सँवरि=स्मरण करके । हरियर=हरी । कुसुंभि=कुसुम्भी रंग, पीला । भुवंग=साँप । लुरहि=लहरा रहे हैं । लट=बाल ।

अर्थ—पद्मावती रोकर बातें करने लगी । उसकी आँखों से रक्त की धारा बहते देख कर सारा संसार उस ललाई से लाल हो गया । जैसे समुद्र में नीचे से ऊपर आकर माणिक्य भर जाते हैं उसी तरह उसके आँसुओं में खून टपकने लगा । उसने कहा कि मैं रत्नसेन के रंग पर अपने नैनों को अवश्य निछावर करूंगी और धीरे-धीरे अपना सारा खून टपका दूंगी । अपने कमल रूपी नेत्रों के ऊपर भौंरा रूपी पुतलियों को उड़ाऊंगी और जहाँ पर सूर्य रूपी रत्नसेन है उन्हें ले जाकर उसे लेआऊंगी । मैं अपने हृदय को पीला और शरीर को खून से लाल करूंगी (जैसे कि कमल ऊपर से लाल पर अन्दर से उसमें पीले रेशे हैं) उसके वियोग को स्मरण करके मैं अपने जीवन की बलि दूंगी । उस समय उसके आँसू ऐसे गिर रहे हैं जैसे सावन की वर्षा, उस अश्रु वर्षा से उसका बदन हरी भूमि के समान और उसके वस्त्र कुसुम्भी रंग के (पीले) हैं । उसके केश ऐसे लहरा रहे हैं जैसे साँप चढ़े हुए हों, वह रोती हुई जोगिन के रूप में हो गई है । वह रक्त के आँसुओं के कारण वर्षा ऋतु की वीर-बहूटी के समान हो गयी फिर भी उसके आँसू नहीं रुकते, आंखों से रास्ता इस प्रकार नहीं दिखाई पड़ता जैसे भादो मास की अँधेरी रात में नहीं दिखाई पड़ता ।

अलंकार—उपमा, रूपक, और रूपकातिशयोक्ति ।

[६०९]

तुम्ह गोरा बादिल खँभ दोऊ । जस भारथ तुम्ह औरु न कोऊ ।।
दुख बिरिखा अब रहै न राखा । मूल पतार, सरग भइ साखा ।।
छाया रही सकल मही पूरी । बिरह बेलि होइ बाढ़ि खजूरी ।।
तेहि दुख केत बिरिख बन बाढ़े । सीस उघारें रोवहिं ठाढ़े ।।
पुहुमी पूरि, सायर दुख पाटा । कौड़ी भई बिहरि हिय फाटा ।।
बिहरा हिए खजूरि क बिया । बिहरै नहिं यह पाहन हिया ।।
पिय जहँ बंदि जोगिनि होइ धावौं । हौं होइ बंदि पियहि मोकरावौं ।।
सूरज गहन गरासा, कँवल न बैठे पाट ।
महूँ पंथ तेहि गवनब, कंत गए जेहि बाट ।।६०९।।

शब्दार्थ—खँभ=खंभा, सहारा । भारथ=महाभारत-पाठान्तर-पारथ=अर्जुन । बिरिखा=वृक्ष-पाठान्तर-बरखा=वर्षा । पूरी=भर गयी । केत=कितने ही-पाठान्तर-तेल । बिरिख=वृक्ष । बिहरि=विदीर्ण होकर । बिया=बीज । मोकरावौं=छुड़ाऊँ । महूँ=मैं भी ।

अर्थ—पद्मावती कहती जा रही है कि हे गोरा-बादल तुम्ही इस राज्य के एक मात्र आधार हो । तुम्हारे समान इस महाभारत की विपत्ति में और कोई नहीं है । अब तो दुःख रूपी वृक्ष रखा नहीं जाता, इस वृक्ष की मूल पाताल तक और शाखायें स्वर्ग तक पहुंच चुकी हैं । इसकी छाया सारे संसार में भर गयी है । विरह की बेल बढ़कर—खजूर बन गयी है । उसी दुःख के कारण अन्य कितने ही वृक्ष वन में बढ़ गये हैं और वे सिर खोले रो रहे हैं । पृथ्वी को दुःख से भर कर उसने सागर को भी पाट दिया, कौड़ी भी उसी से हृदय में फट गयी (कल्पना है कि कौड़ी जो फटी होती है उसका कारण यही दुःख है) । खजूर के बीज का भी हृदय फट गया पर यह मेरा पत्थर दिल नहीं फट रहा है । जहाँ मेरा पति बन्दी है वहाँ मैं जोगिनी बनकर जाऊंगी और मैं बंदिनी बन कर अपने प्रियतम को छुड़वा दूँगी । (प्रतीत होता है कि बुद्धिमती पद्मावती ने योजना बना रखी थी, उसी को गोरा बादलने कार्यान्वित किया । केवल परिवर्तन यह किया कि डोले में पद्मावती के स्थान पर लोहार को बैठाया ।) सूर्य पर ग्रहण लगा है अर्थात् रतनसेन बन्दी है तो मैं (कमल) सिंहासन पर न बैठूँगी, मैं भी उसी रास्ते जाऊँगी जिस रास्ते पर मेरा प्रिय गया है ।

[६१०]

गोरा बादिल दुवौ पसीजे । रोवत रुहिर सीस पाँ भीजे ।।
हम राजा सौं इहै कोहाने । तुम्ह न मिलहु धरि येहु तुरुकाने ।।
जो मत सुनि हम आइ कोंहाई । सो निआन हम माँथें आई ।।
जब लगि जियहिं, न ताकहिं दोहू । स्यामि जिअँ कस जोगिनि होहू ।।

उअै अगस्ति हस्ति घन गाजा। नीर घटा घर आइहि राजा ॥
का बरखा अगस्त की डीठी। परै पलानि तुरंगम पीठी ॥
बेधौं राहु छड़ावौं सूरू। रहै न दुख कर मूल अँकूरू ॥
वह सूरज तुम्ह ससि सरद, आनि मिलावहिं सोइ।
तस दुख महँ सुख ऊपनै, रैनि माँझ दिन होइ ॥६१०॥

शब्दार्थ—दुवौ=दोनों। पसीजे=द्रवित हुए। पाँ=पैर। पाठान्तर-रोवत रुहिर बूड़ि तन भीजे। कोहाने=रूठे। धरि=पकड़ो। तुरकाने=मुसलमान को। निग्रान=निदान, अन्त, परिणाम। ताकहिं=देखेंगे-पाठान्तर-भागहिं। दोहू=दोनों। स्यामि=स्वामी, पति। जिऊँ=जीते जी। अगस्त=अगस्त्य तारा वर्षा के बाद शरद् ऋतु में उदय होता है (उदित अगस्त पंथ जल सोखा—तुलसी रामायण)। हस्ति=हथिया नक्षत्र जो कि आश्विन (शरद्) में होता है। पलानि=जोन। बेधौं=छेद दूँगा।

अर्थ—गोरा-बादल दोनों ही रानी के वचनों पर बड़े ही द्रवीभूत हुए; वे भी रोने लगे, उसके रक्त के आँसुओं से सिर से लेकर पैर तक भीग गए। उन्होंने कहा कि हम तो राजा से इसी लिए रूठे थे कि हे राजा! तुम इस तुर्क (अलाउद्दीन) से न मिलो, इसे पकड़ लो। जिस राय पर हम रूठ कर चले आये थे वही परिणाम हमारे मत्थे पर आ गिरा। फिर भी जब तक हम दोनों जियेंगे और कहीं न देखेंगे। इसलिए स्वामी (रत्नसेन) के जीते जी तुम जोगिनी क्यों होगी? अभी वर्षा ऋतु है, शरद् में अगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही हथिया नक्षत्र लगेगा, पानी घट जायेगा और राजा घर आयेगा। अर्थात् हम हाथियों को सजा कर चढ़ाई करेंगे, आपका दुःख घट जायगा और राजा को हम वापस लायेंगे। अगस्त्य की दृष्टि से वर्षा क्या कर सकती है और फिर घोड़े की पीठ पर जीन चढ़ेगी—भाव यह कि हमारे चढ़ाई करने पर मजाल नहीं कि आपका दुःख रह जाय। हम मत्स्यभेद कर अपने सूर्य (रत्नसेन) को छुड़ा लेंगे और फिर दुःख का मूल और अंकुर भी न रह पायेगा। रत्नसेन सूर्य है और तुम शरद् की चाँद हो। हम सूर्य को चाँद से ला मिलायेंगे। दुःख में सुख उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे रात में ही से दिन निकलता है।

अलंकार—सांग रूपक और पूर्णोपमा।

[६११]

लेहु पान बादिल औ गोरा। केहि लै देउँ उपमा तुम्ह जोरा ॥
तुम्ह सावँत, नाँहि सरबरि कोऊ। तुम्ह अंगद हनिवँत सम दोऊ ॥
तुम्ह बलवीर जाज जगदेऊ। तुम्ह मुस्टिक और मालकँडेऊ ॥
तुम्ह अरजुन औ भीम भुआरा। तुम्ह नल नील मेंड़ देनिहारा ॥
तुम्ह टारन भारन जग जाने। तुम्ह सो परसु औ करन बखाने ॥
तुम्ह मोरे बादिल औ गोरा। काकर मुख हेरौं बँदिछोरा ॥

जस हनिवंत राघौ बँदि छोरी। तस तुम्ह छोरि मिलावहु जोरी ।।
जैसें जरत लखा ग्रिहँ, साहस कीन्हेउ भीवँ ।।
जरत खंभ तस काढ़हु, कै पुरुखारथ जीवँ ।। ६११ ।।

शब्दार्थ—लेहु=लो। जोरा=बराबरी। सावँत=सामन्त। सरवरि=समता जाज=जाज, रणथम्भौर के राजा हम्मीरदेव का अत्यन्त विश्वासपात्र वीर था, अलाउद्दीन से युद्ध करते समय अपनी मृत्यु के पूर्व हम्मीर ने गढ़ का भार जाज पर रक्खा था, जाज भी दो दिन तक सामना करके वीर गति को प्राप्त हुआ था। पाठान्तर=जैसे। जगदेऊ=ये धारा के राजा उदयादित्य के बड़ी रानी के पुत्र थे। अपनी विमाता की इच्छानुसार उसके पुत्र के मार्ग को निष्कंटक करने के लिए अपनी पत्नी समेत धारा छोड़कर पाटन चले गये थे और वहाँ के राजा सिद्धराज जयसिंह की रक्षा के लिए अपने प्राण दिये थे। मुस्टिक=कंस का मल्ल, पाठान्तर-शंकर। मालकँडेउ=मार्कण्डेय ऋषि जो अमर कहे गये हैं। भुआरा=भूपाल, राजा। मेंड़=रोक। देनिहारा=देने वाले। परसु=परशुराम-पाठान्तर-सुपुरुष। बँदिछोरा=बन्धन काटने वाले।

अर्थ—रानी ने कहा कि हे गोरा और बादल! पान का बीड़ा लो। तुम्हारे समान किस की उपमा दूँ? तुम हमारे सामन्त हो। तुम्हारे समान कोई नहीं है, तुम हमारे लिए अंगद और हनुमान् के समान हो। तुम बलशाली जाज और जगदेव हो, तुम मुष्टिक और मार्कण्डेय हो। तुम दोनों अर्जुन और भीम हो। तुम नल-नील के समान सहारा देने वाले हो, तुम संसार के भार टालने वाले प्रसिद्ध हो, तुम्हारे समान परशुराम और कर्ण थे। तुम्हीं मेरे गोरा और बादल हो, तुम बन्धन से छुड़ाने वाले हो। तुम्हारे होते हुए मैं किसका मुख देखूँ? जिस प्रकार हनूमान् जी ने राम का दुःख दूर किया उसी प्रकार तुम हमारे दुःख को दूर कर हमारी जोड़ी को मिलाओ। जैसे जब लाक्षागृह जल रहा था, तो भीम ने साहस किया था, उसी प्रकार जलते हुए खंभे को गिराकर जान पर खेल करके रक्षा करो।

अलंकार—पूर्णोपमा।

इस पद के पश्चात् भी पं० रामचन्द्र शुक्ल-सम्पादित ग्रन्थावली में निम्नलिखित पद है जो कि डा० माताप्रसाद वाली ग्रन्थावली में प्रक्षिप्त माना गया है—

[६१२]

राम लखन तुम दैत संघारा। तुमही घर बलभद्र भुवारा ।।
तुमहो द्रोन और गंगेऊ। तुम लेखौं जैसे सहदेऊ ।।
तुमही जुधिष्ठिर औ दुरजोधन। तुमही नील नल दोउ संबोधन ।।
परसुराम राघव तुम जोधा। तुम्ह परतिज्ञा तें हिम बोधा ।।
तुमहिं सत्रुहन भरत कुमारा। तुमहि कृस्न चानूर संघारा ।।
तुम परदुम्न औ अनिरुध दोऊ। तुम अभिमन्यु बोल सब रोऊ ।।

तुम्ह सरि पूज न विक्रम साके। तुम हमीर हरिचन्द सत आंके।।
जस अति संकट पंडवन्ह, भएउ भींव बंदि छोर।
तस परबस पिऊ काढ़उ, राखि लेहु भ्रम मोर।।

शब्दार्थ—गंगेऊ=गांगेय-भीष्म। लेखौं=समझती हूँ, देखती हूँ। भ्रम=आग्रह। बँदिछोर=बन्धन से छुड़ाने वाला।

अर्थ—स्पष्ट है।

नोट—इस पद में कई पुनरुक्तियाँ हैं और कई जगहों पर दो के स्थान पर एक ही उपमान लाया गया है, पर जायसी की काव्य-प्रवृत्ति के लिए यह अस्वाभाविक नहीं है।

[६१२]

गोरा बादिल बीरा लीन्हा। जस अंगद हनिवँत बर कीन्हा।।
साजि सिंहासन, तानहि छातू। तुम्ह माँथें जुग जुग अहिबातू।।
कवँल चरन भुइँ धरत दुखावहु। चढ़हु सुखासन मँदिल सिधावहु।।
सुनि सूरज कवँलहि जिय जागा। केसरि बरन बोल हियँ लागा।।
जनु निसि महँ रबि दीन्ह देखाई। भा उदौत, मसि गई बिलाई।।
चढ़ि सो सिंघासन झमकत चली। जानहुँ दुइज चाँद निरमली।।
औ संग सखी कमोद तराईं। ढारत चँवर मँदिल लै आईं।।
देखि सो दुइज सिंघासन, संकर धरा लिलाट।
कवँल चरन पदुमावति, लै बैसारेन्हि पाट।। ६१२।।

शब्दार्थ—बर=बल। अहिबातू=सोहाग, सधवापन। उदौत=प्रकाश। मसि=अँधेरा। बिलाई=नष्ट हुआ। बैसारेन्हि=बिठाया।

अर्थ—गोरा-बादल ने पान बीड़ा लिया। जैसे अंगद और हनूमान् ने राम-युद्ध में शौर्य दिखाया, उसी प्रकार महान् कार्य करने के लिए दोनों तैयार हुए। उन्होंने कहा कि हे रानी, तुम सिंहासन को सजवा कर उस पर छत्र लगवाओ। तुम्हारे मत्थे पर सोहाग युग-युग रहे। कमल रूपी चरणों को आपने भूमि में रख कर अत्यन्त दुःखी किया है, अब सुन्दर रथ पर चढ़ कर महल को जाइए। सूर्य रूपी रत्नसेन के मिलने की आशा को सुनकर कमल रूपी पद्मावती का हृदय जग पड़ा। उसका हृदय केसर के वर्ण का होने लगा अर्थात् उस पर प्रसन्नता का प्रकाश छा गया। उसके चेहरे पर प्रकाश हुआ मानों रात्रि में दिन दिखाई पड़ा हो, प्रकाश हुआ और निराशा रूपी अन्धकार नष्ट हो गया। वह सुन्दर पालकी पर चढ़ कर चमकती हुई चली, मानो दूज का निर्मल चन्द्रमा है। उसके साथ सखियाँ ऐसी लगीं जैसे तारागण हों। वे चँवर डुलाती हुई रानी को राजमहल में ले आईं। उस दूज रूपी पद्मावती को देख कर शंकर ने अपने मत्थे को दूज के चाँद के सिंहासन रूप में रख दिया, उसी प्रकार सखियों ने कमल-चरणों वाली पद्मावती को राजसिंहासन पर ला बिठाया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपक।

५२. गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा खण्ड

[६१३]

बादिल केरि जसोवै माया । आइ गहे बादिल के पाया ।।
बादिल राय मोर तूँ बारा । का जानसि कस होइ जुझारा ।।
पातसाहि पुहुमीपति राजा । सनमुख होइ न हमीरहिं छाजा ।।
छत्तिस लाख तुरै जेहिं छाजहिं । बीस सहस हस्ती दर गाजहिं ।।
जबहिं आइ जुरिहै वह ठटा । देखत जैस गगन घन घटा ।।
चमकहिं खरग सो बीजु समाना । गल गाजहिं घुम्मरहिं निसाना ।।
बरसहिं सेल बान घन घोरा । धीरज धीर न बाँधहि तोरा ।।
जहाँ दलपती दलमलहिं, तहाँ तोर का जोग ।
आजु गवन तोर आवै, मंदिल मानु सुख भोग ।। ६१३ ।।

शब्दार्थ—केरि=की । जसोवै=यशोदा । माया=माँ । पाया=पैर । बारा=बालक । जानसि=जानते हो । जुझारा=युद्ध । तुरै=घोड़े । दर=दल । ठटा=झुंड । गल गाजहिं=गर्जेंगे । गवन=गौना ।

अर्थ—बादल की माँ यशोदा ने आकर उसके पैर पकड़ लिए । उसने कहा कि हे बादलराय ! तू अभी बालक है, तू क्या जाने कि युद्ध कैसा होता है ? बादशाह अलाउद्दीन पृथ्वी का राजा है, उसके सामने होकर तो हम्मीर देव भी न टिक सका । भला जिसकी सेना में छत्तीस लाख घोड़े शोभा पा रहे हैं और बीस हजार हाथी गरज रहे हैं, जब वह सेना आकर उपस्थित होगी जो कि देखने में आकाश की घटाओं के समान है, उसमें बिजली के समान तलवारें चमकेंगी, नगाड़ों की आवाज चारों ओर गूंज उठेगी, बाण-सेल आदि घनघोर रूप से बरसेंगे, ऐसे युद्ध में बड़े-बड़े धैर्यवान् भी नहीं टिकते, जहाँ बड़े-बड़े सेनापति लोग नष्ट हो जाते हैं, वहाँ भला तू किस योग्य है ? तेरा तो आज ही गौना आया है, तू महल में रह कर सुख का भोग कर ।

[६१४]

मता न जानसि बालक आदी । हौं बादिला सिंघ रनबादी ।।
सुनि गज जूह अधिक जिउ तपा । सिंघ की जाति रहै नहिं छपा ।।
तब गाजन गलगाज सिंघेला । सौहँ साहि सौं जुरौं अकेला ।।
अंगद कोपि पाँव जस राखा । टेकौं कटक छतीसौ लाखा ।।
को मोहि सौहँ होइ मैमंता । फारौं कुंभ, उचारौं दंता ।।

जादौं स्याम सँकरे जस टारा। बल हरि जस जुरजोधन मारा।।
हनिवँत सरिस जंघ बर जोरौं। धँसौं समुंद्र, स्यामि बँदि छोरौं।।
जौं तुम्ह मात जसोवै, कान्ह न जानहु बार।
जहँ राजा बलि बाँधा, छोरौं पैठि पतार।।६१४।।

शब्दार्थ—आदी = बिलकुल, निरा। रनबादी = युद्ध करने वाला। जूह = झुंड। सिंघेला = सिंह का बच्चा। जुरौं = जुड़ूंगा, भिड़ूंगा। मैमंता = मस्त हाथी। कुंभ = मस्तक। उचारौं = उखाड़ डालूंगा। जादौं = यदुवंशी-पाठान्तर-जुरौं। स्याम-सँकरे = कृष्ण ने संकट को। टारा = हटाया-पाठान्तर-ढारा = ढाला। बल हरि = शक्ति को नष्ट कर-पाठान्तर-पेलौं = जोर से चलाऊँ। जुरजोधन = दुर्योधन। हनिवँत = हनूमान्। जंघ बर = जंघा के बल से। स्यामि = स्वामी।

अर्थ—बादल ने कहा कि हे माता! तू मुझे निरा बालक ही न जान। मैं रण में युद्ध करने वाला वीर बादल हूँ। सुनो, जैसे यदि हाथियों का बड़ा भारी झुण्ड क्रोध करके बढ़े तो सिंह जाति का शेर उनके डर से छिप नहीं जाता। उन्हें देख कर तो शेर-बच्चा बड़े जोर से प्रसन्न होकर गरजता है, इसी प्रकार मैं भी शाह अलाउद्दीन की सेना से अकेले ही भिड़ूंगा। जिस प्रकार अंगद ने क्रोध करके अपने पैर को रोप दिया था, उसी प्रकार मैं भी शाह की छतीस लाख सेना को रोक दूंगा। मेरे सामने मस्त हाथी बन कर कौन आ सकता है, मैं उसका मस्तक फाड़ डालूंगा और दांत उखाड़ डालूंगा। जिस प्रकार यदुवंशी कृष्ण ने संकट को टाला था और दुर्योधन की सारी शक्ति को हरण करके उसे मरवाया था, उसी प्रकार मैं भी शाह की सेना का संहार करूंगा। हनूमान् के समान मैं भी अपने बल का प्रयोग करूंगा और समुद्र में प्रवेश करके भी अपने स्वामी रत्नसेन को बन्धन से छुड़ाऊँगा। तू तो सचमुच यशोदा माता है, कृष्ण की माँ यशोदा भी तो अपने बालक कृष्ण का बल नहीं जानती थी, जहाँ मेरा राजा बलि (रत्नसेन) बँधा है, उस पाताल में प्रवेश करके मैं उसे छुड़ा लाऊँगा।

अलंकार—साङ्गरूपक।

[६१५]

बादिल गवन जूझि कहँ साजा। तैसेहिं गवन आइ घर बाजा।।
लिहें साथ गवने कर चारू। चन्द्र बदनि रचि कीन्ह सिंगारू।।
माँग मोंति भरि सेंदुर पूरा। बैठ मँजूर, बाँक तस जूरा।।
भौंहें धनुक टँकोरि परीखे। काजर नैंन, मार सर तीखे।।
घालि कचपची टीका सजा। तिलक जो देख ठाऊँ जिउ तजा।।
मनि कुंडल डोलहिं दुइ सवना। सीस धुनहिं सुनि सुनि पिय गवना।।
नागिनि अलक, झलक उर हारू। भएउ सिंगार कंत बिनु भारू।।

गवन जो आई पिय रवनि, पिय गवने परदेस।
सखी बुझावौं किमि अनल, बुझै सो कहु उपदेस ॥६१५॥

शब्दार्थ--जूझि=युद्ध। बाजा=उपस्थित हुआ। चारू=चाल, रीति। पूरा=भरा हुआ। मंजूर=मयूर-मोर (जायसी ने उस जूड़े का वर्णन किया है, जो सिर के बीच भाग में उठा हुआ बाँधा जाता था और वेणी की लटें उसके नीचे गर्दन तक झूलती रहती थीं, यह ऐसा लगता है जैसे मोर तन कर बैठा हो)। बाँक=सुन्दर। जूरा=जूड़ा, चोटी का गुच्छा। धनुक=धनुष। टंकोरि=टंकार कर। परीखे=परीक्षा की। घालि=डाल कर, लगा कर। कचपची=कृत्तिका नक्षत्र, चमकी। टीका=मस्तक पर की बिन्दी। अलक=बाल। रवनि=रमणी-पाठान्तर-पँवरी=ड्योढ़ी।

अर्थ—ज्यों ही बादल ने युद्ध की तैयारी की वैसे ही उसकी नव-वधू का गौना घर पर आ उपस्थित हुआ। गौने की रीति लिये हुए चन्द्रमुखी वधू शृंगार युक्त आ गई। उसने अपनी माँग में सिंदूर भरा था और मोती पहन रखे थे। उसके बालों का जूड़ा ऐसा सुन्दर था, मानो मोर बैठा हो। उसने भौंहें रूपी धनुष पर टंकार करके उनकी परीक्षा ली अर्थात् टेढ़ी भौंहों से पति को देखा और कजराले नेत्रों से तीखे बाणों को चला दिया। उसने कृत्तिका नक्षत्रों के समान चमकी लगा कर टीका लगा रखा था, जो कोई उस टीके को देखता वही मूर्छित हो जाता। उसके दोनों कानों पर मणि जटित कुंडल डोल रहे थे, मानो वे इसलिए सिर धुन रहे थे कि उन्होंने प्रिय के रण-गमन को सुन लिया था। सर्पिणी रूपी चोटी छलक रही थी और हृदय का हार चमक रहा था, यह सब शृंगार बिना पति के भार हो रहा था। यह सुन्दरी तो गौने आई है और पति परदेश (रण) को चला है। इस पर वधू अपनी सखी से कहती है कि अब मैं अपने अन्तर की आग को कैसे बुझाऊँ? अब तू ऐस उपदेश कर कि यह आग बुझ जाय।

[६१६]

मानि गवन जस घूँघट काढ़ी। बिनवै आइ नारि भै ठाढ़ी॥
तीखे हेरि चीर गहि ओढ़ा। कंत न हर, कीन्ह जिय पोढ़ा॥
तब धनि बिहँसि कीन्ह चख डीठी। बादिल तबहिं दीन्ह फिरि पीठी॥
मुख फिराइ मन उपनी रीसा। चलत न तिरिया कर मुख दीसा॥
भा मन फीक नारि के लेखें। कस पिय पीठि दीन्ह मोहि देखें॥
मकु पिय दिस्टि समानेउ चालू। हुलसा पीठि कढ़ावै सालू॥
कुच तूंबी अब पीठि गड़ोवौं। कहेसि जो हूक, काढ़ि रस धोवौं॥
रहौं लजाइ तो पिय चलै, कहौं तो मोहि कह ढीठि।
ठाढ़ि तिवानी का करौ, दूभर दुवौ बसीठि॥ ६१६॥

शब्दार्थ—काढ़ी=निकाला । नारि-पाठान्तर-बार=द्वार । हेरि=देख कर । पोढ़ा=कठोर । धनि=स्त्री । चखु=आँख । डीठी=दृष्टि । उपनी=उत्पन्न हुई । रीसा=क्रोध । तिरिया=स्त्री । दीसा=देखते हैं । मकु=शायद । समानेउ=समा गई । हुलसा=निकला । कढ़ावै=निकलवायेगा । सालू=काँटा, दर्द । तूंबी=एक छोटी तुम्बी जिसे लगा कर मुंह से चूस कर उभरे हुए कांटे को लोग निकालते हैं—या पीठ के दर्द को निकलवाते हैं। कहेसि=कहेगा-पाठान्तर-गहै=पकड़े । हूक=दर्द । तिवानी=चिन्ता में पड़ी हुई । दूभर=कठिन । दुऔ=दोनों । बसीठि=दूत-पाठान्तर-बईठ=बैठा ।

अर्थ—बहू ने गौना समझ कर लम्बा घूंघट निकाल रखा था, पर विनय करने के लिए बादल के सामने आकर खड़ी हो गयी । टेढ़ी दृष्टि से देख कर उसने अपने पल्लों को खींच कर ओढ़ लिया, पर उसका पति उसकी ओर नहीं देखता । उसने अपना हृदय कठोर कर लिया है तब बहू ने मुस्करा कर अपनी दृष्टि बादल पर डाली, तब बादल ने उसे पीठ पीछे कर लिया । उसने मुख फिरा लिया । उसे क्रोध हुआ, क्योंकि युद्ध को चलते हुए पत्नी का मुख न देखना चाहिये । नारी की ओर से उसका मन फीका हो गया । इस पर बहू ने सोचा कि क्या कारण है जो पति मुझे देख कर पीठ दिखा रहा है । शायद पति में मेरी दृष्टि का बाण समा गया है और वह पीठ में उभर आया है और उसी बाण की अनी को निकलवाने के लिए इसने अपनी पीठ मेरी ओर कर दी है । तो अब मैं अपने कुच रूपी तूम्बी को इसकी पीठ पर गड़ाऊंगी और जिस दर्द के लिए इसने कहा है उसे निकाल कर सुख के रस से उसे धो दूंगी ।

यदि मैं अब लजा कर रहूंगी तो पति चला जायेगा और उससे कुछ कहूंगी तो लोग मुझे बड़ी धृष्ट कहेंगे । अब मैं चिन्ता में पड़ी क्या करूं । मेरे लिए या दोनों ही बातें बड़ी कठिन हैं ।

अलङ्कार—हेतूत्प्रेक्षा—मकु पिय दिस्टि ....रस धोवौं ।

[६१७]

मान किहें जौ पियहि न पावौं । तजौं मान कर जोरि मनावौं ॥
कर हुँति कंत जाइ जेहि लाजा । घूंघट लाज आव केहि काजा ॥
तब धनि बिहँसि कहा गहि फेंटा । नारि जो बिनवै कंत न मेंटा ॥
आजु गवन हौं आई नाहाँ । तुम्ह न कंत गवनहु रन माहाँ ॥
गवन आव धनि मिलन की ताईं । कवन गवन जो गवनै साईं ॥
धनि न नैन भरि देखा पीऊ । पिय न मिला धनि सौं भरि जीऊ ॥
तहँ सब आस भरा हिय केवा । भंवर न तजै बास रस लेवा ॥
पायन्ह धरै लिलाट धनि, बिनति सुनहु हो राय ।
अलक परी फंदवारि होइ, कैसेहुं तजै न पाय ॥ ६१७ ॥

शब्दार्थ—मान, पाठान्तर-लाज। कर हुँति=हाथ से-पाठान्तर-करि हठ। फेंटा=कमरबंद। ताईं=लिए। केवा=कमलिनी। लेवा=लेने वाला। अलक=बाल। फंद-वारि=फंदा। पाय=पैर।

अर्थ—वधू अपने आप कहने लगी कि—रूठने पर पति को नहीं पा सकती, इसलिए अब मैं रूठना छोड़ कर हाथ जोड़ कर विनती करूँगी। जिस लाज के कारण हाथ से पति निकल जाय वह घूँघट की लज्जा किस काम की। तब वह हँस कर और अपने पति के कमर बंद को पकड़ कर कहने लगी कि पत्नी जो विनय करती है पति उसे अस्वीकार नहीं करता। हे नाथ! मैं आज ही गौने को आयी हूँ। इसलिये हे पति तुम रण में न जाओ। वधू तो मिलने ही के लिए गौने में आती है, तो भला वह कौन सा गौना है जिसमें पति ही चला जाय। न तो वधू ने पति को नेत्र भर के देखा और न पति बहू से जी भर कर मिल सका। कमलिनी रूपी मेरा दिल अनेक आशाओं और आकांक्षाओं से भरा है, भौंरा इस प्रकार कमल को नहीं छोड़ता, वह तो रस लेता है। हे पतिदेव, मैं आपके पैरों पर पड़ती हूँ, मेरे बाल फंदे होकर तुम्हारे पैरों में पड़े हैं। किसी प्रकार इन्हें छोड़ नहीं सकते।

[६१८]

छाँड़ फेंट धनि बादल कहा। पुरुख गवन धनि फेंट न गहा॥
जौं तूँ गवन आइ गजगामी। गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी॥
जब लगि राजा छूटि न आवा। भावै बीर, सिंगारु न भावा॥
तिरिया पुहुमि खरग कै चेरी। जीतै खरग होइ तेहि केरी॥
जेहि कर खरग मूठि तेहि गाढ़ी। जहाँ न आँड न मोंछ न दाढ़ी॥
तब मुख मोंछ जीव पर खेलौं। स्वामि काज इंद्रासन पेलौं॥
पुरुख बोलि कै टरै न पाछू। दसन गयंद, गीव नहिं काछू॥
तूँ अबला धनि मुगुध बुधि, जानै जाननिहार।
जहँ पुरुखन्ह कहँ वीर रस, भाव न तहाँ सिंगार॥६१८॥

शब्दार्थ—तिरिया पुहुमि खरग कै चेरी=स्त्री और पृथ्वी खड्ग की दासी हैं। ("जिमीं जोरू जोर की। जोर घटें काऊ और की"—बुंदेल खंडी कहावत)। स्यामी=स्वामी। मूँठि=तलवार की मूँठ-पाठान्तर-मूँछ। आँड=तलवार की मूँठ के बीच का अंडाकार भाग जिसे अत्रियाँ या पुतली कहते हैं। श्लेष से इसका अर्थ अंडकोष है। भाव यह है कि जहाँ अंडकोष नहीं वहाँ पुंस्त्व नहीं।

अर्थ—बादल ने कहा कि हे बहू, तू मेरे कमरबन्द को छोड़ दे, पुरुष के चलते समय कोई भली स्त्री उसका कमरबन्द नहीं पकड़ती। हे गजगामिनि! यदि तू इस समय गौने में आई है तो मैं भी कहता हूँ कि मेरा गौना (जाना) भी वहाँ है, जहाँ मेरा स्वामी है। जब तक राजा छूट कर नहीं आता तब तक मुझे वीर रस ही अच्छा लगता है, शृंगार नहीं

अच्छा लगता। स्त्री और पृथ्वी तो तलवार की दासियाँ हैं, जो तलवार में जीतता है उसी की ये हो जाती हैं। जिसके हाथ में तलवार है उसी में बड़प्पन है पर जहाँ तलवार की रोक नहीं है वहाँ न मूँछ है और न दाढ़ी अर्थात् उसकी कोई इज्जत नहीं है। मेरे मुख पर मूँछें तभी समझनी चाहिए, जब मैं जीव पर खेल जाऊ और स्वामी के काम के लिए इन्द्रासन को ढकेल दूँ। पुरुष एक बार कह कर फिर पीछे नहीं हटता। उसका वचन तो हाथी के दाँत के समान है, जो बाहर आकर अन्दर नहीं जाता; वह कछुए की गर्दन के समान नहीं जो बाहर आकर डर के समय अन्दर चली जाती है। ऐसे ही पुरुष जो एक बार कह देता है उससे फिरता नहीं। तू तो अबला स्त्री है, तेरी बुद्धि मोहित है, इस बात को तो वही समझेगा जो इसका अच्छा समझदार है, जहाँ पुरुषों के लिए वीर रस है वहाँ शृंगार अच्छा नहीं लगता ।

[६१९]

जौं तुम्ह जूझि चहौ पिय बाजा। किहँ सिंगार जूझि मैं साजा ।।
जोबन आइ सौंहँ होइ रोपा। पखरा बिरह, काम दल कोपा ।।
भएउ बीर रस सेंदुर माँगा। राता रुहिर खरग जस नाँगा ।।
भौंहँ धनुक नैन सर साँधे। काजर पनच, बरुनि बिख बाँधे ।।
वं कटाख सो सान सँवारे। औ नख सेल भाल अनियारे ।।
अलक फाँस गियँ मेलि असूझा। अधर अधर सौं चाहे जूझा ।।
कुंभस्थल दुइ कुच मैमंता। पेलौं सौंहँ, सँभारहु कंता ।।
कोपि सँघारहु बिरह दल, टूटि होइ दुइ आध।
पहिलें मोहि संग्राम कै, करहु जूझ कै साध ।।६१९।।

शब्दार्थ—बाजा=लड़ना। पखरा=कवच। साँधे=चलाए। पनच=प्रत्यंचा-धनुष की डोरी। अनियारे=बड़े तेज।

अर्थ—बादल की स्त्री बोली कि हे पति यदि तुम युद्ध में लड़ना ही चाहते हो तो मैंने शृंगार के युद्ध की तैयारी कर रखी है। यौवन सामने आकर उपस्थित है। विरह का कवच धारण कर काम-दल क्रुद्ध है। इसमें मांग का सिन्दूर वीर रस है और लाल रङ्ग खून से रंगी हुई नंगी तलवार है। भौंहें ही धनुष हैं और नेत्र ही बाण चल रहे हैं। काजल प्रत्यंचा है और बरौनियाँ विष से बुझे बाण बँधे हैं। कटाक्ष ने इनको सान पर चढ़ा कर सँवारा है, नाखून सेल, भाले आदि हैं। बाल गले में लिपट कर, होठ होठों से मिल कर युद्ध करना चाहते हैं। छाती में दो कुच मतवाले हाथी के कुम्भस्थल हैं, इन्हें मैं आगे ठेल रही हूँ, हे प्रिय तुम इनसे सम्भलो। विरह के दल को रोक करके ऐसा संहार कीजिए कि टूट कर आधा हो जाय। इस प्रकार पहले मुझ से युद्ध करो और फिर युद्ध सम्बन्धी अपनी चाह को पूरा करो।

अलङ्कार—सांग रूपक।

[६२०]

कैंसेहुं कंत फिरै नहिं फेरें । आगि परी चितउर धनि केरें ।।
उठे सो धूम नैन करुआने । जबहीं आँसु रोइ बेहराने ।।
भीजे हार, चीर, हिय चोली । रही अछूत कंत नहिं खोली ।।
भीजी अलक चुई कटि मंडन । भीजे भँवर कँवल सिर फुंदन ।।
चुइ काजर आँचर भीजा । तबहूँ न पिय कर रोवँ पसीजा ।।
छाँड़ि चला हिरदै दै डाहू । निठुर नाहँ आपन नहिं काहू ।।
सबै सिंगार भीज भुइँ चूवा । छार मिलाइ कंत नहिं छूवा ।।
रोएँ कंत न बहुरे, तेहि रोएँ का काज ।
कंत धरा मन जूझ रन, धनि साजै सब साज ।। ६२० ।।

शब्दार्थ—करुआने=कड़वे लगने से दुखने लगे । बेहराने=बिखर गये । चुई=टपकी । कटि मंडन=करधनी, तगड़ी । भँवर=केश, या स्तन का काला अग्रभाग । कँवल=मुख या कवल-कटोरा रूपी कुच ।

पाठान्तर—अन्तिम चार पंक्तियों के स्थान पर शुक्ल जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थावली में पद इस प्रकार है ।

जौ तुम कंत जूझ जिउ काँधा । तुम किय साहस मैं सत बाँधा ।
रन संग्राम जूझि जिति आवहु । लाज होइ जौ पीठि दिखावहु ।।
तुम्ह पिउ साहस बाँधा, मैं दिय माँग सिंदूर ।
दोउ सँभारे होइ सँग, बाजे मादर तूर ।।

अर्थ—किसी प्रकार भी उसका पति लौटता नहीं । तब उस स्त्री के हृदय में अग्नि पड़ गई अर्थात् वेदना उत्पन्न हुई । उस अग्नि के पड़ने से धुँआ उठा, उससे उसकी आँखें कड़वाने लगीं, इस पर उसके आँसू बिखरने लगे । आँसुओं के जल से उसके हार, चीर, हृदय की चोली सब भीग गये । उसकी चोली अभी तक छुई न गई थी क्योंकि उसके पति ने उसे खोला ही नहीं । उसकी लटें भी भीग गईं, उसकी करधनी जल के प्रवाह से स्खलित हो गयी । उसके भौंरों के समान काले बाल और उसके बाँधने वाले फुंदे सब भीग गये अथवा कटोरे रूपी स्तनों के अग्रभाग में काले फुंदनों के समान भ्रमर रूपी चूचक भीग गए । काजल चू-चू कर गिरे, उनसे उसका सारा अंचल भीग गया, तब भी उसके पति को दया न आई । वह उसके हृदय में जलन उत्पन्न करके चला गया, पति निष्ठुर हो जाय तो अपना कोई नहीं है । सभी श्रृंगार भीग-भीग कर जमीन में वह गये, सभी मिट्टी में मिल गये, पर उन्हें पति ने छुआ न था । कवि कहता है कि जिस रोने पर भी पति लौटता नहीं, उस रोने से क्या लाभ ? पति ने तो लड़ाई की ओर चित्त लगा रखा है और पत्नी ने सभी श्रृंगार कर रखे हैं ।

५३. गोरा-बादल-युद्ध-खंड

[६२१]

मँते बैठ बादिल औ गोरा । सो मत कीज परे नहिं भोरा ॥
पुरुख न करहि नारि मति काँची । जस नौसाबैं कीन्ह न बाँची ॥
हाथ चढ़ा इसिकंदर बरी । सकति छाँड़ि कै भै बँदि परी ॥
सजरा जो नाहिं काह बर काँधा । बधिक हुते हस्ती गा बाँधा ॥
देवन्ह चलि आई असि आँटी । सुजन कँचन दुर्जन भा माँटी ॥
कंचन जुरै भए दस खंडा । फुटि न मिलै माँटी कर भंडा ॥
जस तुरुकन्ह राजहि छर साजा । तस हम साजि छुड़ावहिं राजा ॥
पुरुख तहाँ करै छर, जहँ बर कीन्हें न आँट ।
जहाँ फूल तहाँ फूल होइ, जहाँ काँट तहाँ काँट ॥ ६२१ ॥

शब्दार्थ—मंते=सलाह के लिए । कीज=करना चाहिए । भोरा=भोला, धोखा । काँची=कच्ची । नौसाबैं=नोशाबा नाम की एक स्त्री जिसके यहाँ सिकन्दर दूत के वेश में गया था । नोशाबा ने सिकन्दर को पहचान कर भी छोड़ दिया । फल यह हुआ कि बाद में वह सिकन्दर के अधीन हुई । यह कथा सिकन्दरनामा में है । बाँची=बची । बरी-पाठान्तर-बैरी । बर=बल । काँधा=कन्धे में । हुते=से—इस पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार है—सुबुधि सो ससा सिंह कहँ मारा । कुबुधि सिंघ कूआं परिहारा ॥ इसमें खरगोश के द्वारा सिंह का कुएँ में गिरना है । आँटी=ढेर, बहुत । भंडा=बर्तन । छर=छल । आँट=पूरा पड़ता ।

अर्थ—बादल और गोरा सलाह के लिए बैठे, उन्होंने कहा कि ऐसी राय बनानी चाहिए कि फिर संशय न रहे, काम पूरा ही हो जाय । पुरुष स्त्री की भाँति कच्ची राय नहीं करता । भाव यह है कि पद्मावती ने पहले गोरा बादल से अपना निश्चय प्रकट किया था कि वह जोगिन बन कर प्रियतम के बंदी गृह में जायेगी और स्वयं बन्दी बन कर उसे छुड़ा लाएगी । यह नारी-मत कच्चा मत था । अब गोरा-बादल उसी राय पर ऐसी योजना बना रहे हैं कि सफलता में संशय न रहे । पद्मावती की राय में पूर्ण सफलता की आशा न थी-इसीलिए उसके मत को ये कच्चा कह रहे हैं । जैसे नोशाबा ने जब कच्ची राय की तो वह बच न सकी—सिकन्दर को उसने एक बार छोड़ दिया, तभी तो वह सिकन्दर के हाथ में आ गयी, उसकी शक्ति हीन हो गयी और वह सिकन्दर के अधिकार में हो गयी । यदि कोई सजग न रहे तो उसके कन्धों का बल क्या कर सकता है ? बड़ा बलशाली हाथी भी वधिक के द्वारा चतुराई से बाँध लिया जाता है । देवताओं से ही ऐसे आम उदाहरण

मिलते आते हैं। सज्जन तो सोने के समान और दुर्जन मिट्टी के समान होता है—सोना तो दस टुकड़े हो जाय तो भी जुड़ सकता है, पर मिट्टी का बर्तन एक बार टूट कर फिर नहीं जुड़ सकता—अर्थात् सज्जन तो बिगड़ कर मिल भी सकता है पर दुर्जन कभी नहीं मिल सकता। जिस प्रकार मुसलमानों ने राजा को छल करके पकड़ लिया उसी प्रकार हम भी छल करके राजा को छुड़ायेंगे। पुरुष तो वहीं छल करता है जहाँ उसका बल पूरा नहीं पड़ता। जहाँ फूल है वहाँ फूल और जहाँ काँटा है वहाँ कांटा अर्थात् भले के साथ भला वर्ताव और छली के साथ छल करना उचित है।

[६२२]

सोरह सौ चंडोल सँवारे। कुँवर सँजोइल कै बैसारे॥
साजा पदुमावति क बेवानू। बैठ लोहार न जानै भानू॥
रचि बेवान तस साजि सँवारा। चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा॥
साजि सबै चंडोल चलाए। सुरँग ओढ़ाइ, मोंति तिन्ह लाए॥
भै सँग गोरा बादिल बली। कहते चले पदुमावति चली।
हीरा रतन पदारथ झूलहिं। देखि बेवान देवता भूलहिं॥
सोरह सै सँग चलीं सहेलीं। कँवल न रहा, औरु को बेली॥
रानी चली छड़ावै राजहिं, आपु होई तेहि ओल।
बत्तिस सहस सँग तुरिअ खिचावहिं, सोरह सै चँडोल॥६२२॥

शब्दार्थ—चंडोल=पालकी जो हाथी के हौदे या अँबारी के आकार की होती थी और जिसे चार आदमी उठाते थे। संजोइल=हथियारों से सुसज्जित। बैसारे=बैठाये। बेवानू=विमान-पालकी। ओढ़ाइ-पाठान्तर-ओहार=पालकी ढाँकने की चादर। ओल=जमानतदार। तुरिअ=घोड़ा।

अर्थ—सोलह सौ पालकियाँ सजाइ गईं, उन पर हथियारों से सजाए हुए वीर बिठाये गये। पद्मावती की पालकी भी सजाई गई उस पर एक लोहार इस प्रकार गुप्त भाव से बैठा जिसे सूर्य भी नहीं जान सकता। पालकी सजाकर उसको इस प्रकार सुशोभित किया कि चारों ओर चँवर डुलाये जाते थे। सभी पालकियां सज-सज कर सुशोभित हुई और चलीं। उनके ऊपर सुन्दर रंग के कपड़े, जिनमें मोतियों की झालर लगी थी, डाले गये थे। इस रानी की पालकी के साथ गोरा और बादल बली राजपूत चले। सब लोगों ने कहा कि पद्मावती जा रही है। उसकी पालकी में मोती और हीरे की झूलें लगी थीं। उसकी पालकी को देखकर देवता तक मोहित हो जाते थे। उसके साथ सोलह सौ सहेलियाँ भी जा रही हैं। जब कमल (पद्मावती) ही न रही तो लतायें (सखियाँ) क्या करेंगी ? प्रचार हुआ कि रानी राजा को छुड़ाने चली है उसके स्थान पर अपने को जमानतदार के रूप में दे देगी। उसके साथ बत्तीस सौ घोड़े और सोलह सौ पालकियां जा रही हैं क्योंकि प्रत्येक पालकी

के अगल-बगल एक-एक घुड़सवार है।

[६२३]

राजा बन्दि जेहि की सौपना। गा गोरा तापहँ अगुमना ।।
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा। बिनती कीन्ह पाय गहि गोरा ।।
बिनवहु पातसाहि पहँ जाई। अब रानी पदुमावति आई ।।
बिनै करै आई हौं ढीली। चितउर की मो सिउँ है कीली ।।
एक घरी जौं अग्याँ पावौं। राजहि सौंपि मँदिल कहँ आवौं ।।
बिनवहु पातसाहि के आगें। एक बात दीजै मोहिं माँगें ।।
हते रखवार आगें सुलतानी। देखि अँकोर भए जस पानी ।।
लीन्ह अँकोर हाथ जेइँ जाकर, जीव दीन्ह तेहि हाँथ।
जो वहु कहै सरै सो कीन्हे, कनउड़ भार न माँथ ।।६२३।।

शब्दार्थ—जेहि की=जिसकी। सौपना=देख रेख-सुपुर्दगी। गा=गया। अगुमना =आगे। अंकोरा=रिश्वत-भेंट। ढीली=दिल्ली। कीली=चाबी, कुंजी। सिउँ= साथ। हते=थे-पाठान्तर-तब। पानी=नम्र। सरै=पूरा पड़े। कनउड़=एहसानमन्द, आभारी।

अर्थ—राजा रत्नसेन जेल में जिसकी देख-रेख में था, गोरा पहले उसी के पास गया। उसे दस लाख मुद्रायें घूस में दीं, फिर उसके पैर में पड़कर गोरा ने विनती की कि तुम बादशाह के पास जाकर विनती करो कि अब तो रानी पद्मावती आ गई है। वह प्रार्थना कर रही है कि अब तो मैं दिल्ली आ गई हूँ, पर मेरे पास सारे चित्तौड़ की चाबी है। यदि एक घड़ी का अवकाश मिल जाय तो राजा को सारा राजमहल सौंप कर आ जाऊँ। इस प्रकार तुम बादशाह के सामने प्रार्थना करो। यही एक बात मैं आपसे माँग रहा हूँ। जो सुलतान के रक्षक थे वे रिश्वत पाकर पानी-पानी हो गये। कवि कहता है कि जो हाथ में रिश्वत ले लेता है वह तो रिश्वत देने वाले के हाथ अपना जीव ही रख देता है। रिश्वत देने वाला तब तो जो कुछ काम कहता है, वह करना ही पड़ता है, उसे किये बिना नहीं बीचती है। रिश्वत के आभार के कारण घूस लेने वाला अपना मस्तक भी नहीं हिला पाता।

[६२४]

लोभ पाप कै नदी अँकोरा। सत्तु न रहै हाथ जस बोरा ।।
जहँ अँकोर तहँ नेगिन्ह राजू। ठाकुर केर बिनासहि काजू ।।
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा। दरब लोभ चंडोल न हेरा ।।
जाइ साहि आगें सिर नावा। ऐ जग सूर चांद चलि आवा ।।
औ जावँत सँग नखत तराई। सोरह सै चंडोल सो आई ।।
चितउर जेति राज कै पूँजी। लै सो आई पदुमावति कूँजी ।।

बिनति करै कर जोरें खरी। लै सौंपों राजहि एक घरी॥
इहाँ उहाँ के स्वामी, दुहूँ जगत मोहि आस।
पहिलें दरस देखावहु, तौ आवौं कबिलास ॥६२४॥

शब्दार्थ—बोरा=डाला। ठाकुर=स्वामी। नेगिन्ह=कर्मचारी, पाठान्तर-जीवन अच्छा नहीं। बिनासहि=नष्ट करे। घिउ=घी, घी की तरह पिघल गया। हेरा=देखा। जांवत=जितनी भी। नखत तराई=सखियाँ। कबिलास=स्वर्ग-महल।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि रिश्वत तो लोभ और पाप की नदी है। ज्योंही मनुष्य रिश्वत में हाथ डालता है उसका सत नहीं रह जाता। जहाँ रिश्वत चलती है वहाँ कर्मचारियों का ही राज्य होता है, वे घूसखोर अपने स्वामी के कार्य को नष्ट कर देते हैं। रक्षकों का हृदय रिश्वत पाकर घी समान पिघल गया, इसलिए धन के लोभ में पड़ कर उन लोगों ने पालकियों को न देखा। जाकर रक्षक ने शाह के सामने सिर नवाया और कहा कि हे संसार के सूर्य! चन्द्रमा (पद्मावती) आई है। साथ ही उसकी जितनी भी सखियाँ तारागणों के समान थीं वे भी आई हैं। इस प्रकार सोलह सौ पालकियाँ आई हैं। चित्तौड़ की जितनी सम्पत्ति है सबकी कुंजी पद्मावती लेकर आई है और खड़ी हुई विनती कर रही है कि यदि आज्ञा हो तो एक घड़ी में राजा को सौंप दूँ। वह कहती है तुम यहाँ-वहाँ दोनों संसारों के स्वामी हो। तुमसे मुझे बड़ी आशायें हैं। पहले मुझे रत्नसेन का दर्शन करा दो, फिर मैं तुम्हारे महल में आऊँगी।

[६२५]

अग्याँ भई जाउ एक घरी। छूँछि जो घरी फेरि बिधि भरी॥
चलि बेवान राजा पहँ आवा। सँग चँडोल जगत गा छावा॥
पदुमावति मिस हुत जो लोहारू। निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू॥
उठेउ कोपि जब छूटेउ राजा। चढ़ा तुरंग, सिंघ अस गाजा॥
गोरा बादिल खाँडा काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े॥
तीख तुरंग गँगन सिर लागा। केहु जुगुति को टेकै बागा॥
जौं जिउ ऊपर खरग सँभारा। मरनिहार सो सहसन्हि मारा॥
भई पुकार साहि सौं, ससियर नखत सो नाहिं।
छर कै गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं ॥६२५॥

शब्दार्थ—घरी=घड़ी। घरी=घड़िया जो समय मालूम करने के लिए पानी में डाली रहती थी। भरी=पानी से भर गई—श्लेष से इसका अर्थ यह हुआ कि सौभाग्य की घड़ी भर गई—भाग्य पलट गया। मिस=बहाने-पाठान्तर-भेस। हुत=था। जोहारू=प्रणाम। खाँडा=तलवार। टेकै=रोके। बागा=बागडोर। जिऊ ऊपर=प्राण रक्षा के लिए। मरनिहार=मरने वाला। ससियर=चन्द्रमा (पदमावती)!

नखत=नक्षत्र, सखियाँ। छर=छल। गहन-गरासा=ग्रहण लगा था-बन्दी किया था। गहन गरासे=ग्रहण लगाये जाते हैं—छल किये जाते हैं।

अर्थ—शाह की आज्ञा हुई कि एक घड़ी के लिए जाओ। जो घड़ी खाली थी भर गई। अर्थात् जो असमय अब तक था वह दूर हुआ। सौभाग्य की घड़ी आ गई। रानी की पालकी राजा के पास आई, साथ में अनेक पालकियाँ सुशोभित थीं। पद्मावती के बहाने जो लोहार उसमें बैठा था, उसने निकल कर राणा के बन्धन काट दिये और प्रणाम किया। जब राजा छूटा तो वह क्रुद्ध हो उठा, वह घोड़े पर चढ़कर सिंह के समान गरज उठा। गोरा और बादल ने अपनी तलवारें निकालीं, सारे अन्य राजपूत पालकियों से निकल-निकल कर खड़े हुए। तेज घोड़े आकाश में उड़ चले, किसी प्रकार कोई उनका बाग रोक नहीं सकता। जो प्राण रक्षा के लिए तलवार को सँभालता था, वह मरने के लिए प्रस्तुत राजपूत हजारों को मार कर ही मरता था। शाह अलाउद्दीन के पास पुकार हुई कि न तो पद्मावती (चन्द्रमा) है और न सखियाँ (तारायें)। छल से जिन पर ग्रहण लगाया था, वे ही ग्रहण लगा करके जा रहे हैं। अर्थात् जैसे राजा को छल से पकड़ा था, उसी प्रकार छल करके ये चले जा रहे हैं।

[६२६]

लै राजहिं चितउर कहँ चले। छूटेउ मिरिग सिंघ कलमले॥
चढ़ा साहि चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ पारि जग कारी॥
फिरि बादिल गोरा सौं कहा। गहन छूट पुनि जाइहि गहा॥
चहुँ दिसि आइ अलोपत भानू। अब यह गोइ, इहै मैदानू॥
तूँ अब राजहिं लै चलु गोरा। हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा॥
दहुँ चौगान तुरुक कस खेला। होइ खेलार रन जुरौं अकेला॥
तब पावौं बादिल अस नाऊँ। जीति मैदान गोइ लै जाऊँ॥
आजु खरग चौगान गहि, करौं सीस रन गोइ।
खेलौं सौहँ साहि सौं, हाल जगत महँ होइ॥६२६॥

शब्दार्थ—कलमले=खलभली हुई, चौंक पड़े-पाठान्तर-छूटेउ सिंघ मिरिग खलभले। जोहारी=पुकार। असूझ=बहुत भयंकर। पारि=पड़ गई। कारी=अन्धेरी। गहन=ग्रहण। अलोपत=छिपा रहा है। गोइ=गेंद, सिर। इहै=यही। हौं=मैं। जुरौं=भिड़ूँगा। जोरा=खेल का जोड़ा या प्रतिद्वन्द्वी। दहुँ=पता नहीं। चौगान=खेल, युद्ध। खेलार=खेलाड़ी। हाल=हलचल।

अर्थ—गोरा और बादल राजा को लेकर चित्तौड़ की ओर चले। मृग रूपी राजा जो बन्द था छूट गया। तब सिंह रूपी जो रक्षक थे चौंक पड़े। शाह अलाउद्दीन ने चढ़ाई की, चारों ओर पुकार होने लगी, उसकी सेना बहुत बड़ी थी, उसके चढ़ने पर संसार भर

में अँधेरा छा गया। तब बादल ने गोरा से कहा कि ग्रहण छूट तो गया, पर मालूम होता है कि अलाउद्दीन की भयंकर सेना फिर राजा को पकड़ लेगी। चारों ओर सेना ऐसी उमड़ रही है, जैसे सूर्य को बादलों की घटा घेर रही हो। अब मेरा सिर ही गेंद होगी और यह युद्ध-स्थल ही खेल का मैदान होगा। गोरा तुम तो राजा की रक्षा करते हुए लेकर आगे आगे बढ़ो और मैं अब लौट कर प्रतिद्वन्द्वी बन कर युद्ध में भिड़ूंगा। मैं देखूंगा कि आज मुसलमान कैसे युद्ध का खेल खेलता है, एक खेलाड़ी होकर रण में अकेले ही भिड़ूंगा। मेरा नाम बादल तब सार्थक होगा जब मैदान को जीत कर गेंद (सिर) ले जाऊं अर्थात् वीरगति प्राप्त करूं। आज इस चौगान रूपी युद्ध के खेल में तलवार रूपी बल्ला लेकर शत्रु के सिर की गेंद बनाऊंगा। शाह अलाउद्दीन के सम्मुख लड़ूंगा और सारे जगत् में हलचल मच जायेगी।

[६२७]

तब अंकम दै गोरा मिला। तूं राजहिं लै चलु बादिला ॥
पिता मरै जो सारें साथें। मींचु न देह पूत के माँथें ॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछिताँउ आइ जौं पूजी ॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौं जूझी। ताकहँ जनि रोवहु मन बूझी ॥
कुँवर सहस सँग गोरै लीन्हें। औरु बीर सँग बादिल दीन्हें ॥
गोरहि समदि बादिला गाजा। चला लीन्ह आगें कै राजा ॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पुरखन्ह देखि चाउ मन बाढ़ा ॥
आउ कटक सुलतानी, गँगन छपा मसि माँझ।
परत आव जग कारी, होत आव दिन साँझ ॥ ६२७ ॥

शब्दार्थ—अंकम=आलिंगन-पाठान्तर-अगमन होइ=आगे होकर। सारें=साथ में चलने वाला गिरोह-पाठान्तर-संकरे=कठिनाई में। मींचु=मृत्यु। माँथे=मत्थे। आउ=आयु। भरी=पूरी की। भूँजी=भोग ली। पूजी=पूरी हो गई। जूझी=युद्ध कर। जनि=मत। समदि=विदा देकर। उलटि=लौट कर। खेत=रण क्षेत्र। पुरुखन्ह=पूर्वजों। देखि=स्मरण करके। चाउ=चाव, उत्साह। मसि=कालिमा, अंधेरा।

अर्थ—तब गोरा बादल से गले मिला और कहा कि हे बादल राजा को तू ले चल। पिता साथ के गिरोह की रक्षा करता हुआ मरता है, वह पुत्र के मस्तक पर मृत्यु नहीं डालता। मैंने अब तक अपनी सारी आयु पूरी की और उसे भोगा। अब जब आयु पूरी हो गयी तो मुझे कोई पछतावा नहीं। अब अनेकों को मार कर यदि मैं युद्ध में मर जाऊं तो उसको सोच कर रोना मत। ऐसा कह कर गोरा ने एक हजार वीर साथ लिए। शेष वीर उसने बादल को दिये। गोरा को विदा कर बादल गरज उठा और राजा को आगे करके ले चला। गोरा लौट कर युद्ध क्षेत्र में खड़ा हो गया और उसे देख कर वीर पुरुषों के मन में बड़ा उत्साह बढ़ गया। सुलतान अलाउद्दीन की सेना बढ़ी। उसके अन्धकार में

आकाश छिप गया। सारे संसार में कालिमा छाने लगी और दिन में ही संध्या काल होने लगा।

[६२८]

होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुँ काकरि होई॥
जोबन तुरँ चढ़ी सो रानी। चली जीति अति खेल सयानी॥
लट चौगान गोइ कुच साजी। हिय मैदान चली लै बाजी॥
हाल सो कर गोइ लै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीच कै काढ़ा॥
भए पहार दुवौ कूरी। दिस्टि नियर, पहुँचत सुठि दूरी॥
ठाढ़ बान अस जानहुं दोऊ। सालहिं हिए कि काढ़ै कोऊ॥
सालहिं तेहि न जासु हियँ ठाढ़े। सालहिं तासु चहै ओन्ह काढ़े॥
मुहमद खेल पिरेम का, घरी† कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जौं, हाल न होइ मैदान॥ ६२८॥

शब्दार्थ—गोई=गेंद। हाल=मैदान के अंत की दो कुड़ियों के बीच गेंद ले जाने का नाम हाल करना है, अंग्रेजी में जिसे गोल करना कहते हैं। दहुँ=पता नहीं का करि=किसकी। कूरी=कुड़ी, मिट्टी का बनाया हुआ टीला जिसे गेंद को लाँघना पड़ता है, गोल के स्तम्भ। सालहिं=दर्द पहुँचाना। घरी=घड़ी, चौगान का खेल १ घड़ी का ही होता था, प्रत्येक खिलाड़ियों की जोड़ी एक घड़ी के बाद हट जाती और दूसरी जोड़ी मैदान में आती थी।

अर्थ—इस पद में युद्ध की चौगान के साथ समता की गई है, साथ ही चौगान के खेल में प्रेम के खेल का भी रूपक है। इस प्रकार युद्ध, खेल और प्रेम‡ तीनों का समन्वय है।

मैदान (रणक्षेत्र) में गेंद पड़ गई। पता नहीं किसकी ओर से हाल (गोल) होगा

† डा० माताप्रसाद जी की प्रति में 'खरी' पाठ है पर मनेर और गोपाल प्रसाद जी की प्रतियों के आधार पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने 'घरी' पाठ शुद्ध माना है। उनका मत है कि फारसी लिपि के दोष से 'घरी' ही 'खरी' पढ़ लिया गया होगा। अर्थ की दृष्टि से 'घरी' ही समीचीन है।

‡ डा० वासुदेवशरण जी ने इस पद का शृङ्गार परक अर्थ भी किया है। अर्थ में खींचतान है पर जायसी की प्रकृति को देखते हुए समीचीन प्रतीत होता है। अर्थ इस प्रकार है—

हृदय रूपी मैदान में कुच रूपी गेंद पड़ी। काम-क्रीड़ा में आज विभिन्न काम-कलाओं का क्या हाल होगा? रानी यौवन के घोड़े पर सवार हुई और काम-क्रीड़ा में जीत के लिए चल पड़ी। उसकी लट चौगान के बल्ले के समान लटक रही थी, कुच गेंद के समान थे।

अर्थात् पता नहीं मैदान किसका होगा? यौवन रूपी घोड़े पर जो रानी चढ़ी है वह खेल-खेल में जीत कर चल दी। भाव यह कि खेल रूपी रानी ही इस प्रेम के खेल का लक्ष्य है। उसके केश की लट ही चौगान के खेल का बल्ला है और उसका कुच गेंद है, उसकी छाती मैदान है और वह बाजी ले चली है। हाल (गोल) तो वही कर सकता है अर्थात् मैदान वही ले सकता है जो गेंद लेकर बढ़ेगा और कुड़ो (टीले) पर से गेंद को दोनों दलों के बीच से निकाल ले जाय। चौगान के दोनों ओर की कुड़ियाँ (गोल) पहाड़ मालूम होते हैं क्योंकि वहाँ तक पहुँचना बहुत कठिन है। देखने में तो वे निकट हैं पर वास्तव में बहुत दूर हैं। खड़े हुए बाण की भांति वे दोनों हैं, हृदय में दर्द पहुँचा है कि कोई उन्हें निकाल ले अर्थात् दोनों दलों को लक्ष्य सालता रहता है। उन्हें ही दर्द नहीं होता जिनके हृदय खड़े हैं अर्थात् जो उसको सहर्ष चाहते हैं और सोत्साह उसे झेलने को तैयार रहते हैं, उसे बाण सालते तो रहते हैं पर उनको निकालने पर भी वह चाहता है। अर्थात् खेलाड़ी योद्धा या प्रेमी—इस खेल में सोत्साह रहता है और उसके कष्ट को हृदय से चाहता है। जायसी कहता है कि यह प्रेम का खेल है। चौगान का एक घड़ी का खेल कठिन है। इस गेंद पर जो शीश नहीं देता वह मैदान में हाल नहीं कर सकता, अर्थात् सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

नोट—जायसी का प्रधान लक्ष्य पद्मावत की रचना में सूफी मत का प्रकाशन था। सूफी मत का मूल है प्रेम, जिसमें विरह की तड़पन और उत्सर्ग की प्रधानता है। यही कारण है कि युद्ध क्षेत्र में भी जायसी ने प्रेम के खेल की अभिव्यंजना चौगान के सहारे प्रस्तुत कर दी।

[६२९]

फिरि आगे गोरें तब हाँका। खेलौं आजु करौं रन साका॥
हौं खेलौं धौलागिरि गोरा। टरौं न टारा बाग न मोरा॥
सोहिल जैस इन्द्र उपराहीं। मेघ घटा मोहि देखे बिलाहीं॥
सहसौं सीसु सेस सरि लेखौं। सहसौं नैन इंद्र भा देखौं॥
चारिउ भुजा चतुर्भुज आजू। कंस न रहा औरु का राजू॥

वह हृदय रूपी मैदान में बाजी लेने चली है। जो इन कुचों पर हाथ डाल पाता है और इन दोनों कूड़ियों के बीच से कर्षण कर पाता है वही सुखोपभोग (हाल) पाता है। दोनों कुच पर्वत की चोटियों के समान थे, ये दृष्टि से निकट पर हाथ की पहुँच के लिए दूर थे। ये दोनों बाण की नोक की भांति उठे थे, और कामार्त्तों के दिल में कसक पैदा करने वाले थे। जिसके हृदय पर ये स्तन थे, उसे तो सालते नहीं, सालते उन्हें हैं जो उन्हें खींचना चाहते थे। जायसी कहते हैं कि काम-क्रीड़ा घड़ी भर के लिए भी चौगान के खेल के समान कठिन है, इस कार्य में जब तक गेंद के समान सिर न दिया जाय, असली सुख नहीं मिलता।

हौं होइ भीवँ आजु रन गाजा । पाछें घालि दंगवै राजा ॥
होइ हनिवँत जमकातरि ढाहौं । आजु स्वामि संकरें निरबाहौं ॥
होइ नल नील आजु हौं, देउँ समुँद महँ मेंड़ ।
कटक साहि कर टेकौं, होइ सुमेरु रन बेंड़ ॥६२९॥

शब्दार्थ—हाँका=घोड़ा बढ़ाया । साका=यश । टारा=टालने पर । बाग=बाग-डोर । सोहिल=सुहेल (अगस्त्य)* तारा । इन्द्र-पाठान्तर-गगन । उपराहीं=ऊपर । बिलाही =नष्ट होंगे । घालि=रख करके । दंगवै-पाठान्तर-डुंगवै=राजा डंगव–भीम ने राजा डंगव को अपने पीछे रख कर कृष्ण से युद्ध किया (देखिए पद सं० ३६१ की टिप्पणी) । जमकातरि =महिरावण पुरी (समुद्र के नीचे पाताल) में जमकातर लगी थी जिसे नष्ट कर हनूमान् जी ने राम लक्ष्मण को छुड़ाया था । ढाहौं=नष्ट करूँ । संकरे=संकट में । निरबाहौं= बचाऊँ । बेंड़=बेड़ा, रोक ।

अर्थ—फिर गोरा ने अपने घोड़े को आगे बढ़ाया । उसने निश्चय किया कि आज मैं रण खेल कर अपना यश स्थापित करूँगा । मैं आज धौलागिरि के समान अटल हो जाऊँगा और मुझे कोई हटा न सकेगा और मेरे घोड़े की बागडोर मोड़े न मुड़ेगी । जैसे सुहेल तारे के निकलने पर बादल नहीं रह जाते उसी प्रकार मेरे सामने बादलों की घटा के समान शत्रु सेना नष्ट हो जायगी । आज मैं अपने सिर को शेषनाग के हजार सिर समझूँगा और इन्द्र होकर हजार नेत्रों से देखूँगा । आज मैं चार भुजा वाले भगवान् के समान चतुर्भुज हूँगा, आज तो कंस भी नहीं रह सकता और कौन हो सकता है ? आज मैं भीम बन कर रण में गर्जूँगा और अपने पीछे अपने राजा डंगव को रख लूँगा । हनूमान् बन कर शत्रु सेना रूपी जमकातर का नाश करूँगा और अपने स्वामी को संकट से बचाऊँगा । आज मैं नल-नील बन कर समुद्र में पुल बाँधूँगा और सुमेरु पर्वत रूपी रोक बन कर शाह अलाउद्दीन की सेना को रोकूँगा ।

अलंकार—रूपक-माला ।

[६३०]

ओनै घटा चहुँ दिसि तसि आई । चमकहिं खरग बान झरि लाई ॥
डोलहिं नाहिं देव जस आदी । पहुँचे तुरुक बात कहँ बादी ॥
हाथन्ह गहे खरग हिरवानी । चमकहिं सेल बीज की बानी ॥
सजे बान जानहुँ ओइ गाजा । बासुकि डरै सीस जनि बाजा ॥
नेजा उठा डरा मन इंदू । आइ न बाज जानि कै हिंदू ॥
गोरैं साथ लीन्ह सब साथी । जनु मैमंत सुंड बिनु हाथी ॥
सब मिली पहिलि उठौनी कीन्ही । आवत अनी हाँकि सब लीन्ही ॥
रुंड मुंड सब टूटहिं, सिउँ बकतर औ कुंडि ।
तुरिअ होहिं बिनु काँधे, हस्ति होहिं बिनु सुंडि ॥६३०॥

* उदित अगस्त पंथ जल सोखा—तुलसी (शरद वर्णन)।

शब्दार्थ—ओनै=झुकी हुई। तसि=इस प्रकार। आदी=बिलकुल, पूरा। बादी=शत्रु। हिरवानी-पाठान्तर-हरद्वानी=हिरात की बनी हुई प्रसिद्ध तलवार। सेल=एक प्रकार का बर्छा। बीज=बिजली। बानी=रंग की। नेजा=भाला। इंदू=इन्द्र। बाज=लगे। उठौनी=धावा। अनी=सेना। सिउँ=साथ। बकतर=कवच। कुंडि=लोहे की टोपी।

अर्थ—अलाउद्दीन की सेना चारों ओर इस प्रकार बढ़ी जैसे बादलों की घटा चारों ओर से छाई हो, उसमें तलवारें बिजली के समान चमकती हैं और बाण ऐसे चलते हैं जैसे झड़ी लगी हो। पर गोरा इस प्रकार अपने स्थान से बिल्कुल नहीं हटता जैसे देवता न हटे। तब बहुत से मुसलमान शत्रु आ पहुँचे। उन सबके हाथ में हिरवानी तलवारें थीं, उस सेना में तलवारें ऐसी चमकती थीं जैसे बिजली हो। बाण सजे हैं, सब ऐसे गरजते हैं, जिन्हें सुनकर शेषनाग डरता है कि कहीं ये सारे बाण उसके ऊपर न आ पड़ें। उनके उठे हुए भालों को देख कर इन्द्र भी डरने लगा कि कहीं उसे भी हिन्दू (हिन्दू देवता) समझ कर उसी के ऊपर तो नहीं चलने वाले हैं। गोरा ने अपने साथियों को साथ लिया, वह ऐसा मतवाला था जैसे सूँड के कट जाने पर हाथी पागल होकर आगे बढ़ता है। सबने मिल कर पहला धावा किया और आगे बढ़ती हुई शत्रु-सेना को ललकारा और उससे भिड़ गए। रुण्ड-मुण्ड टूटने लगे, जिरह बख्तर और लोहे की टोपियाँ टूटने लगीं, घोड़े बिना कन्धे के होने लगे और हाथी बिना सूँड के होने लगे।

[६३१]

ओनवत आव सैन सुलतानी। जानहुँ पुरवाई अतिवानी॥
लोहैं सैन सूझ सब कारी। तिल एक कतहुँ न सूझ उघारी॥
खरग पोलाद निरँग सब काढ़े। हरे बिज्जु अस चमकहिं ठाढ़े॥
कनक बानि गजबेलि सो नाँगी। जानहुँ काल करहिं जिउ माँगी॥
जनु जमकात करहिं सब भवाँ। जिउ लै चहहिं सरग उपसवाँ॥
सेल साँप जनु चाहहिं डसा। लेहिं काढ़ि जिउ मुख बिख बसा॥
तिन्ह सामुहँ गोरा रन कोपा। अंगद सरिस पाउ रन रोपा॥
सुपुरुस भागि न जानै, भएँ भीर भुइँ लेइ।
असि बर गहें दुहूँ कर, स्यामि काज जिउ देइ॥ ६३१॥

शब्दार्थ—ओनवत=झुकती हुई, उमड़ती हुई। आव=आती है। पुरवाई=पूर्व से आने वाली तेज हवा। अतिवानी=अति करने वाली, प्रचंड। सैन=से। सूझ=दिखाई पड़ती है। तिल=तिल भर। कतहु=कहीं भी। उघारी=खुला हुआ। खरग=तलवार। पोलाद=फौलाद। निरंग=नङ्गी-पाठान्तर-तुरुक। काढ़े=निकाले हुए। हरे-पाठान्तर-धरे। बानि=रंग-पाठान्तर-पीलवान गज पेलै बाँके। जानहु काल करहि दुइ फाँके=पीलवान हाथी को आगे बढ़ाते हैं जो कि काल को भी दो टुकड़े करने वाले हैं। गजबेलि=एक

प्रकार का ताव दिया हुआ लोहा यह फौलाद से कुछ नरम होता था। जमकात=जमराज का खाँडा। भवाँ=घूमा। उपसवाँ=जाना। स्यामि=स्वामी।

अर्थ—सुलतान की सेना उमड़ी चली आ रही है मानों प्रचंड पुरवा हवा तेजी से आ रही है। लोहे के हथियारों से सुसज्जित काली दिखाई पड़ती है। उसकी तिल भर जगह भी खुली हुई नहीं दिखाई पड़ती। सब ने फौलादी तलवारें नंगी निकाल रखी हैं जैसे बादलों में बिजली चमक रही है। गजबेल लोहे की बनी हुई नंगी तलवारें सुनहली लपलपा रही हैं मानो जान मांग-मांग कर उनका नाश करने को उद्यत हैं। मानो यमराज का खाँडा घूम रहा है और जान लेकर स्वर्ग चढ़ जाना चाहता है। सेल रूपी साँप काटना चाहते हैं, उनके मुख में विष भरा है उससे वे जीव निकाल लेते हैं। उनके सामने गोरा रण में क्रुद्ध हुआ, उसने अंगद के समान रण में अपना पैर रोप दिया। वीर पुरुष भागता नहीं, कठिनाई पड़ने पर क्षेत्र में डटा रहता है। अपने दोनों हाथों में तलवार ग्रहण किये हुए स्वामी के कार्य के लिए अपना जीवन देता है।

[६३२]

भै बगमेल, सेल घनघोरा। औ गज पेल, अकेल सो गोरा॥
सहस कुँवर सहसहुँ सत बाँधा। भार पहार जूझि कहँ काँधा॥
लागे मरै गोरा के आगें। बाग न मुरैं, घाव मुख लागें॥
जैस पतंग आगि धँसि लेहीं। एक मुएँ, दोसर जिउ देहीं॥
टूटहिं सीस, अधर धर मारे। लोटहिं कंध कबंध निनारे॥
कोई परहि रुहिर होइ राते। कोइ घायल घूमहिं जस माँते॥
कोइ खुर खेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे जनु जोगी॥
घरी एक भा भारथ, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब बीते, गोरा रहा अकेल॥६३२॥

शब्दार्थ—बगमेल=बागडोर मिलाकर घुड़सवारों का पंक्ति में चलना, एक साथ आमने-सामने आकर धावा या भिड़ंत। सतबाँधा=शपथ उठाकर प्रतिज्ञा किये हुए कि जान पर खेलेंगे। अधर=बिना धड़ के। धर=धड़। निनारे=अलग। रुहिर=रुधिर। राते=लाल। खुर खेह=घोड़े की टापों की धूल। भारथ=महायुद्ध।

अर्थ—दोनों ओर के घोड़ों की बागडोरें मिलीं। भयंकर बर्छे चलने लगे। हाथी ठेल पेल रहे थे, इनमें गोरा अकेले ही सामना कर रहा था। उसके साथ एक हजार वीर राजपूत भी अपने जीवन की बाजी लगाकर लड़ रहे थे। वे पहाड़ के भार को कन्धे पर ले रहे थे। वे सब गोरा के सामने मरने लगे। वे सब घोड़े की बाग नहीं मोड़ते यद्यपि घाव मुख पर लगते थे। जैसे पतंगे आग में धँस-धँस कर जलते हैं उसी प्रकार एक मरता था तो दूसरा आगे बढ़ता था और जान देता था। उनके सिर टूटते हैं, धड़ सड़ने लगते हैं, कन्धे

और धड़ अलग-अलग लोटते रहते हैं। कोई खून से लाल होकर गिरता है कोई घायल होकर मतवाला सा घूमता है। कोई घोड़े की टापों की धूल में मिलकर समाप्त हो गया। वे मिट्टी में लिपटे इस प्रकार पड़े हैं, जैसे जोगी भस्म रमाये पड़ा हो। एक घड़ी तक महायुद्ध हुआ जिनमें सवारों की मुटभेड़ हुई। तब सारे राजपूत मारे गये, अकेला गोरा बच रहा।

[६३३]

गौरें देख साथ सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा॥
कोपि सिंह सामुहँ रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मुरै अकेला॥
लई हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसें सिंघ बिडारै घटा॥
जेहि सिर देइ कोपि कर वारू। सिउँ घोरा टूटै असवारू॥
टूटहिं कंध कबंध निनारे। माँठ मँजीठि जांनु रन ढारे॥
खेलि फागु सेंदुर छिरियावै। चाँचरि खेलि आगि रन धावै॥
हस्ती घोर आइ जो ढूका। उठै देह तिन्ह रुहिर भभूका॥
भै अग्याँ सुलतानी, बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगें, लिए पदारथ साथ॥६३३॥

शब्दार्थ—नियर=निकट। बूझा=समझा। ठटा=समूह। बिडारै=नष्ट करे। घटा=हाथियों का समूह। सिउँ=साथ। निनारे=अलग। माँठ=मटके। छिरियावै=बिखरे हुए। चाँचरि=होली। घोर=घोड़ा। ढूका=झुका। भभूका=स्रोत। पदारथ=पद्मावती।

अर्थ—गोरा ने देखा कि उसके साथ के सभी साथी मर गये और अब अपनी मृत्यु भी निकट ही है। तब वह सिंह क्रोध कर रण में सामने घुस गया, वह अकेला लाखों व्यक्तियों से भी मोड़े नहीं मुड़ता। उसने हाथियों के समूह भगा दिये। सिंह की भाँति वह हाथियों की घटा को नष्ट करने लगा। जिसके सिर पर क्रोध करके वह वार करता था वह सवार घोड़े के साथ ही टूट जाता था। उनके कन्धे और धड़ अलग-अलग गिरते थे। जैसे मजीठ के रंग के मटके हों, उसी प्रकार कबन्ध खून से सने दिखाई पड़ते हैं। खून की बिखेर ऐसी हो रही है जैसे फाग हो रहा हो और गुलाल उड़ रहा हो और होली हो रही है और यह अग्नि युद्ध में दौड़ रही है। जो हाथी और घोड़े मैदान में आकर एकत्रित हुए, उनके शरीर में से खून का सोत फूट रहा था।

उसके ऐसे भयंकर युद्ध को देखकर सुल्तान अलाउद्दीन की आज्ञा हुई कि इसे शीघ्र ही पकड़ लो क्योंकि पद्मावती को साथ लिये रत्नसेन आगे चला जा रहा है।

[६३४]

सबहि कटक मिलि गोरा छेंका। कुंजल सिंघ जाइ नहिं टेका।
जेंहि दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहिं ठायन्ह आवा॥

तुरुक बोलावहिं बोलहिं बाहाँ। गोरें मीचु धरा मन माहाँ॥
मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ। जियत न रहा जगत महँ केऊ॥
जनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ की मोंछ हाथ को मेला॥
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुएँ पार कोई घिसियावा॥
करै सिंघ हठि सौंही डीठी। जब लगि जिऐ देइ नहिं पीठी॥
रतनसेनि तुम्ह बाँधा, मसि गोरा के गात।
जब लगि रुहिर न धोवौं, तब लगि होउँ न रात॥६३४॥

शब्दार्थ—छेंका=घेर लिया। कुंजल=कुंजर, हाथी-पाठान्तर-गूंजत=गरजता हुआ। टेका=पकड़ा। ठायँन्ह=जगहों पर--पाठान्तर ठाउँन। बोलहिं बाहाँ=भुजाएँ फड़कती हैं। जाज जगदेऊ=पीछे भी जाज और जगदेव नाम के वीरों का प्रसंग गोरा-बादल के प्रसंग में आता है। केऊ=कोई। मोंछ=मूँछ। मेला=डाल सकता है। पार=परे, पाठान्तर-पाछ। घिसियावा=घसीटे। मसि=स्याही, कलंक। गात=शरीर। रुहिर=खून से। रात=लाल, कलंकरहित।

अर्थ—सब ने मिलकर गोरा को घेर लिया। पर जैसे हाथियों के झुण्ड से सिंह नहीं पकड़ा जाता, उसी प्रकार कोई गोरा को पकड़ नहीं पाता था। जिस ओर उठता था मालूम होता था कि सबको खा जायेगा, वह घूम कर फिर उसी जगह नहीं आता था, जहाँ से चलता था। तुरक लोग एक दूसरे को बुलाते थे, उनकी भुजायें भी उठती थीं। गोरे ने मृत्यु को अपने मन में धारण कर लिया था, जैसे जाज और जगदेव मरने पर भी युद्ध करते थे और जीते जी तो उनके सामने कोई न था, उसी प्रकार गोरा के जीते जी कोई सामने न आता था। उसने गरज कर कहा कि मत समझो कि गोरा अकेला है—भला सिंह की मूँछ को हाथ से कौन पकड़ेगा? जीते जी सिंह को कोई नहीं पकड़ सकता, मर जाने पर तो जो चाहे उसे घसीट सकता है। सिंह तो सामने दृष्टि रखता है और जब तक जीता है कभी पीठ नहीं देता। उसने अलाउद्दीन से कहा कि तुमने राजा रत्नसेन को बाँध लिया था, उसका कलंक गोरा के शरीर पर है, इसलिए जब तक मैं खून से उस दाग को न धो लूंगा तब तक मैं निष्कलङ्क नहीं हो सकता।

[६३५]

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा। आइ सौंहँ गोरा के बाजा॥
पहलवान सो बखाना बली। मदति मीर हमजा औ अली॥
मदति अयूब सीस चढ़ि कोपे। राम लखन जिन्ह नाउँ अलोपे॥
औ ताया सालार सो आए। जिन्ह कौरौ पंडो बँदि पाए॥
लिंधउर देव धरा जिन्ह आदी। और को माल बादि कहँ बादी॥

पहुँचा आइ सिंघ असवारू। जहाँ सिंघ गोरा बरियारू॥
मारेसि साँगि पेट महँ धँसी। काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइँ खसी॥
भाँट कहा धनि गोरा, तू भोरा रन राउ।
आँति सैंति करि काँधे, तुरै देत है पाउ॥६३५॥

शब्दार्थ—बाजा=लड़ा। मदति=सहायता में। मीरहमजा=मुहम्मद साहब के चचा जो बड़े बली प्रसिद्ध थे। अली=ये मुहम्मद साहब के चचेरे भाई और दामाद थे, मुसलमानों के चौथे खलीफा थे, मुसलमानों के धार्मिक युद्ध में सबसे बली समझे जाते थे अयूब=बाइबिल में इन्हें जौब (job) कहा गया है। ये धर्मात्मा थे, शैतान ने इन पर शक किया, परीक्षा के निमित्त इन पर अनेक विपत्तियाँ पड़ीं, पर इन्होंने आस्तिकता न छोड़ी। ये कष्ट सहन करने के लिए प्रसिद्ध हैं। जायसी ने राम-लक्ष्मण की उपमा भी इनकी कष्ट-सहिष्णुता को दृष्टि में रखकर दी है। अतोपे=छिपा दिया। कौरौ-पंडौ=कौरव-पाण्डव। लिधउर=एक हिन्दू राजा जिसे मीर हमजा ने हरा कर अपना मित्र बनाया था, यह बड़ा विशालकाय था। बादी=शत्रु। बरियारू=वीर। साँगि=कटार। काढ़ेसि=निकाला। हुमुकि=जोर लगा कर। आँति=आँतें। खसी=निकल गईं। सैंति=समेट कर। तुरै=घोड़ा।

अर्थ—सेनापति सरजा सिंह पर चढ़कर बड़े जोर से गरजा और गोरा के सामने आकर उससे भिड़ गया। सरजा बड़ा वीर कहा गया था, साथ में उसके मीर हमजा, अली, अयूब आदि थे। ये सब ऐसे शक्तिमान् थे कि राम-लक्ष्मण से भी बढ़कर थे। इनके साथ ताया और सालार भी थे, जिन्होंने कौरव और पाण्डवों को भी कैदी कर लिया, अर्थात् जो कौरव-पाण्डवों से भी बढ़कर युद्ध में सिद्ध हुए थे। इन लोगों ने लंधौर देव को भी हरा दिया था, इनसे और कौन-कौन शत्रु लड़ सकता था। इस प्रकार के वीरों के साथ सेनापति सरजा सिंह पर सवार वहाँ पहुँचा, जहाँ सिंह रूपी बली गोरा था। सरजा ने फेंक कर ऐसी साँग मारी कि गोरा के पेट में वह घुस गई, पर गोरा ने ज़ोर लगा कर उस साँग को निकाल लिया, ऐसा करने से उसकी सारी आँतें जमीन में गिर गईं, पर वह युद्ध में रत रहा। उसे देखकर चारण बोल उठा कि हे गोरा! तू धन्य है, तू तो रण में मस्त है, तू तो अपनी आँतों को कंधे पर समेट कर घोड़े को एड़ मार रहा है।

[६३६]

कहेसि अंत अब भा भुइ परना। अंत सो तंत खेह सिर भरना॥
कहि कै गरजि सिंघ अस धावा। सरजा सारदूर पहँ आवा॥
सरजैं कीन्ह साँगि सौं घाऊ। परा खरग जनु परा निहाऊ॥
बज्र साँगि औ बज्र के डाँडा। उठी आगि सिर बाजत खाँडा॥
जानहुँ बजर बजर सौं बाजा। सबहीं कहा परी अब गाजा॥

दोसर खरग कुंडि पर दीन्हा। सरजै धरि ओड़न पर लीन्हा ।।
तीसर खरग कंध पर लावा। काँध गुरुज हत, घाव न आवा ।।
अस गोरैं हठि मारा, उठी बजर की आगि।
कोइ न नियरें आवै, सिंघ सदूरहि लागि ।।६३६।।

शब्दार्थ—अन्त=अन्त-मृत्यु । तंत=तत्व । खेह=मिट्टी । सारदूर=शार्दूल । घाऊ=घाव । निहाऊ=निहाई (लोहे की एक वस्तु जिस पर रख कर लोहे को घन से पीटा जाता है । यह घन से भी अधिक मजबूत होती है तभी घन की चोटों के पड़ने पर भी नहीं टूटती)। डाँडा=दंड-तलवार । बजर=वज्र । गाजा=प्रलय । दोसर=दूसरी । कुंडि= लोहे की टोपी । ओड़न=ढाल । गुरुज=कवच । हति=था । नियरें = निकट । सदूरहि= शार्दूल, शेर ।

अर्थ—गोरा ने अपने मन से कहा कि अब तो अन्त आ गया है, जमीन पर गिरना ही है, अन्त में तो सार यही है कि इस शरीर को मिट्टी में मिला देना है। ऐसा कह कर गरज कर सिंह के समान धावा किया और सरजा और उसके वाहन सिंह के पास आ गया । सरजा ने फिर साँग का वार किया, वह गोरा की तलवार पर पड़ी । गोरा की तलवार निहाई जैसी जबरदस्त थी, अतः सरजा की साँग का कोई प्रभाव न हुआ । वज्र के समान ही सरजा की साँग थी और वज्र के समान ही गोरा की तलवार, अतः दोनों शस्त्रों के लड़ने से एक आग निकली, ऐसा प्रतीत हुआ कि वज्र-वज्र से लड़ रहे हैं और सारे संसार में प्रलय होना चाहती है । दूसरी तलवार गोरा ने सिर की टोपी पर मारी, पर सरजा ने उसे ढाल पर रोक लिया। तीसरी तलवार कंधे पर मारी, पर कंधे पर गुर्ज थी जिससे घाव नहीं लगा । गोरा इस प्रकार बलपूर्वक मार रहा है कि वज्र-अग्नि निकल रही है, कोई भी उस सिंह (गोरा) और शार्दूल (सरजा) के पास नहीं आ पाता ।

[६३७]

तब सरजा गरजा बरिवंडा। जानहुँ सेर केर भुअडंडा ।।
कोपि गुरुज मेलेसि तस बाजा। जनहुँ परी परबत सिर गाजा ।।
ठाठर टूट, टूट सिर तासू। सिउँ सुमेरु जनु टूट अकासू ।।
धमकि उठा सब सरग पतारू। फिर गै डीठि, भवाँ संसारू ।।
भा परलौ सबहूँ अस जाना। काढ़ा खरग सरग नियराना ।।
तस मारेसि सिउँ घोरैं काटा। धरती काढ़ि, सेस फन फाटा ।।
अति जौं सिंघ बरिअ होइ आई। सारदूर से कवनि बड़ाई ।।
गोरा परा खेत महँ, सिर पहुँचावा बान।
बादलि लै गा राजहिं, लै चितउर नियरान ।।६३७।।

शब्दार्थ—गरजा-पाठान्तर-कोपा । बरिबंडा=वीर । सेर-पाठान्तर-सइर=सिंह । भुजडंडा=भुजदंड । मेलेसि=डाल दिया । गाजा=बिजली । ठाठर=ठठरी, शरीर की हड्डियाँ । तासू=उसका । सिउँ=साथ । भवाँ=घूम उठा । सिंघ=सिंह (गोरा) बरिय=बली । सारदूर=शार्दूल-सरजा । बान=बानगी ।

अर्थ—तब सरजा वीर बड़े जोर से गरजा, उसके भुजदंड ऐसे फड़के जैसे शेर के हों। क्रुद्ध होकर उसने गुर्ज ही डाल दी, वह गोरा के सिर पर ऐसी पड़ी मानो बिजली पर्वत पर गिरी हो । गोरे के शरीर की ठटरियां टूट गईं, उसका सिर नष्ट-भ्रष्ट हो गया, जैसे सुमेरु पर्वत के साथ आकाश टूट गया हो। सारे स्वर्ग और पाताल में धमाका हुआ, सब की दृष्टियाँ फिर गईं, सारे संसार में एक भूचाल आ गया । सब ने समझा कि प्रलय हो गयी, निकली हुई तलवार स्वर्ग के निकट पहुँच गई । ऐसा वार किया था कि गोरा के साथ ही उसका घोड़ा भी कट गया और पृथ्वी फट गई और गुर्ज की चोट से शेषनाग का फन फट गया (असम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार) । कवि कहता है कि यद्यपि सिंहरूपी गोरा बड़ा बली था पर शार्दूलरूपी सरजा के सामने उसकी कौन सी बड़ाई है—अर्थात् उससे बढ़ कर नहीं था ।

गोरा तो रणक्षेत्र में काम आया, उसने अपना सिर वीरता की बानगी के रूप में शत्रु के पास भेज दिया, उधर बादल राजा को लेकर भाग गया और चित्तौड़ के समीप पहुँच गया।

—

५४. बन्धन-मोक्ष, पद्मावती-मिलन-खण्ड

[६३८]

पदुमावति मन अहो जो भूरी । सुनत सरोवर हिय गा पूरी ॥
अद्रा महँ हुलास जस होई । सुख सोहाग आदर भा सोई ॥
नलिनि निकंदी लीन्ह अंकूरू । उठा कँवल उगवा सुनि सूरू ॥
पुरइनि पूरि सँवारे पाता । पुनि विधि आनि धरा सिर छाता ॥
लागे उहै होइ जस भोरा । रैन गई, दिन कीन्ह बहोरा ॥
अस्तु अस्तु सुनि भा किलकिला । आगें मिलै कटक सब चला ॥
देखि चाँद असि पदुमिनि रानी । सखी कमोद सबै बिगसानी ॥
गहन छूट दिनकर कर, ससि सौं होइ मेराउ ।
मँदिल सिंघासन साजा, बाजा नगर बधाउ ॥ ६३८ ॥

शब्दार्थ—झूरी=सूख रही थी। पूरी=भर गया। अद्रा=वर्षा ऋतु का पहला आर्द्रा नक्षत्र। हुलास=प्रफुल्लता। नलिनि=कमलिनी। निकंदी=बिना जड़ की-पाठान्तर-नीक दल=अच्छे पत्ते। अँकूरू=अंकुर। सूरू=सूर्य। पुरुइनि=कमल का पत्ता। भोरा=प्रातःकाल। बहोरा=लौटा। अस्तु-अस्तु=वाह-वाह। किलकिला=खिल-खिलाहट। बिगसानी=खिलीं। मेराउ=मेल।

अर्थ—पद्मावती जो अब तक अपने मन में बिलकुल सूखी हुई थी, राजा को आता सुनकर ऐसी प्रसन्न हुई जैसे तालाब पूरी तरह से भर गया हो। जैसे आर्द्रा नक्षत्र के लगने पर वनस्थली प्रफुल्लित होती है, उसी प्रकार उसका सुख, सौभाग्य और सम्मान चमक उठा। जो कमलिनी बिना जड़ की हो गई थी उसमें नये अंकुर फूट निकले। सूर्य (रत्नसेन) को देखकर कमल (पद्मावती) में नई उमंग आई। पुरुइन के पत्ते सँवर गये अर्थात् रानी ने अपना श्रृंगार किया, फिर ब्रह्मा ने ला कर सिर पर छत्र रखा। फिर पहले जैसे ही प्रातःकाल का आनन्द होने लगा। विपत्ति के दिनों की रात्रि बीती, सौभाग्य का फेरा हुआ। वाह-वाह होने लगी। खिलखिलाहट होने लगी, सभी चित्तौड़ के लोग सेना से आगे मिलने को चले। चन्द्रमा के समान पद्मावती को विकसी हुई देख कर कुमदिनी रूपी सभी सखियाँ प्रसन्न हो उठीं। सूर्य का ग्रहण छूटा है, अब चन्द्रमा से उसका मिलन होगा (रत्नसेन और पद्मावती का मिलन होगा)। महल में सिंहासन सजाया गया और सारे नगर में बधाइयाँ बजीं।

[६३६]

बिहँसि चंद दै मांग सेंदूरा। आरति करै चली जहँ सूरा॥
औ गोहने सब सखीं तराईं। चितउर की रानो जहँ ताईं॥
जनु बसन्त रितु फूली छूटी। कै सावन महँ बीरबहूटी॥
भा अनंद, बाजा पँच तूरा। जगत रात होइ चला सेंदूरा॥
राजा जनहुँ सूर परगासा। पदुमावति मुख कँवल बिगासा॥
कँवल पाय सूरुज के परा। सूरज कँवल आनि सिर धरा॥
बुन्द मृदंग मुर ढोलक बाजे। इन्द्र सबद सो सबद सुनि लाजे॥
सेंदुर फूल तंबोर सिउँ, सखी सहेलीं साथ।
धनि पूजे पिय पाय दुइ, पिय पूजै धनि माथ॥ ६३६॥

शब्दार्थ—गोहने=साथ में। जहँ ताईं=जितनी भी।

अर्थ—प्रसन्न होकर पद्मावती (चंद) ने माँग में सिंदूर डाला और रत्नसेन (सूर्य) की आरती करने को चली। उसके साथ में और भी सखियाँ थीं जैसे तारागण हों। सभी चित्तौड़ की रानियां ऐसी लगीं जैसे वसंत ऋतु में भिन्न-भिन्न प्रकार के फूल फूले हों, या जैसे सावन के महीने में वीर बहूटियाँ शोभा देती हैं। आनन्द हुआ और पाँचों प्रकार के

बाजे बज उठे। सारा संसार उन रानियों की ललाई की आभा से लाल हो गया। राजा ऐसा है मानो सूर्योदय हुआ है और पद्मावती का मुख ऐसा खिला जैसे कमल। पद्मावती (कमल) रत्नसेन (सूर्य) के पैरों पर आ पड़ी और रत्नसेन (सूर्य) ने पद्मावती का सिर उठा लिया। ढोल, मृदंग आदि सभी बाजे बजने लगे, उस बाजे को सुन कर इन्द्र के यहाँ के बाजे भी लज्जित हो गये। सिंदूर, फूल, पान आदि से सखियों समेत रानी राजा के पैरों की पूजा कर रही है और राजा रानी के मस्तक की पूजा कर रहा है।

[६४०]

पूजा कवनि देउँ तुम्ह राजा। सबै तुम्हार, आव मोहि लाजा।।
तन मन जोबन आरति करेऊँ। जीउ काढ़ि नेवछावरि देऊँ।।
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम्ह पगु धरहु, नैन हौं लावौं।।
पाँय बुहारत पलक न मारौं। बरुनिन्ह सैंति चरन रज झारौं।।
हिया सो मँदिल तुम्हारै नाहाँ। नैनन्हि पँथ आवहु तेहि माहाँ।।
बैठहु पाट छत्र नव फेरी। तुम्हरें गरब गरुइ हौं चेरी।।
तुम्ह जियँ हौं तन जौं अति मया। कहै जो जीउ करे सो कया।।
जौं सूरुज सिर ऊपर आवा, तब सो कँवल सुख छात।
नाहिं तौं भरे सरोवर, सूखै पुरइनि पात।।६४०।।

शब्दार्थ—पूरि कै = भर कर। बुहारत = झाड़ते। बरुनिन्ह सैंति = बरौनियों से। गरुई = भारी, गौरवमयी।

अर्थ—रानी पद्मावती ने कहा कि हे राजा मैं आपकी कौन सी पूजा करूँ, सब कुछ तो तुम्हारा है, तुम्हारी वस्तुओं को ही तुम्हें अर्पित करते मुझे लज्जा मालूम होती है। तन, मन और यौवन से आपकी आरती कर रही हूँ, अपने जीव को निकाल कर निछावर करती हूँ। सारे रास्ते में अपनी दृष्टि बिछा दूँगी, हे नाथ तुम उस रास्ते पर पैर रखो। मैंने आँख बिछा रखी हैं। अपनी पलकों से तुम्हारे पैर झाड़ते हुए मैं पलक न मारूँगी और बरौनियों से आपके चरणों की धूल को साफ कर दूँगी। हे नाथ, मेरा हृदय तुम्हारा घर है, तुम मेरी दृष्टि के रास्ते से इसमें आ जाओ। फिर से नये सिंहासन पर बैठो, तुम्हारे ही गर्व पर मैं दासी गौरव से युक्त हूं। तुम जीव हो तो मैं शरीर हूँ, जब दया करके जीव कुछ कहेगा तो शरीर उसी को पूरा करेगा। जब सूर्य (रत्नसेन) सिर के ऊपर आता है तभी कमल (पद्मावती) को सुख-छत्र मिलता है नहीं तो भरे सरोवर में भी पुरइन का पत्ता सूख जाता है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[६४१]

परसि पाय राजा के रानी । पुनि आरति बादिल कहँ आनी ।।
पूजे बादिल के भुअडंडा । तुरिअ के पाउ दाबि कर खंडा ।।
यह गज गवन गरब सिउँ मोरा । तुम्ह राखा बादिल औ गोरा ।।
सेंदुर तिलक जो आँकुस अहा । तुम्ह माँथें राखा तब रहा ।।
काज रतन तुम्ह लिय पर खेला । तुम्ह जिउ आनि मँजूसा मेला ।।
राखेउ छात, चँवर औ ढारा । राखेउ छुद्रघंट झनकारा ।।
तुम्ह हनिवँत होइ धुजा बईठे । तब चितउर पिअ आइ पईठे ।।
पुनि गज हस्ति चढ़ावा, नेत बिछावा बाट ।
बाजत गाजत राजा, आइ बैठ सुख पाट ।।६४१।।

शब्दार्थ—भुअडंडा=भुजायें । तुरिअ=घोड़ा । कर=घोड़े के अगले पैरों को हाथ माना जाता है । खंडा=मस्तक । छुद्रघंट=बिछुआ-पैर में पहने जाने वाला घुंघरू जो सोहाग का प्रतीक है । नेत=रेशमी वस्त्र ।

अर्थ—रानी पद्मावती राजा के पैरों के छूने के बाद बादल की आरती करने लगी । उसने बादल के भुजदंडों की पूजा की फिर उसके घोड़े के पैरों और सिर को अपने हाथों से दबाया । उसने कहा कि तुम गोरा और बादल ने मेरे गजगमन और गर्व की रक्षा की है । मेरे माथे में सिंदूर, जो कि अंकुश की भाँति मेरे सौभाग्य की निशानी है, तुम्हारे द्वारा ही रक्षा करने पर रह सका है । शरीर रूपी पिंजड़े में जीव लाकर डाला है । तुमने हमारे छत्र और चंवर की रक्षा की, तुमने हमारे बिछुओं के झनकार की रक्षा की । तुम हनुमान् हो कर ध्वजा पर बैठ गए, तब कहीं राजा चित्तौड़ में प्रवेश कर सके । फिर एक हाथी पर राजा को चढ़ाया और रास्ते में रेशमी वस्त्र बिछाया, बाजे-गाजे के साथ राजा आकर सुख से अपने सिंहासन पर बैठा ।

[६४२]

निसि राजें रानी कँठ लाई । पिय मरजिया, नारि ज्यौं पाई ।।
रँग कै राजें दुख अगुसारा । जियत जीव नहिं करौं निनारा ।।
कठिन बंदि लै तुरुकन्ह गहा । जौं सँवरौं जिय पेट न रहा ।।
खनि गड़ ओबरी महँ लै मैला । साँकर और अँधियार दुहेला ।।
राँध न तहँवाँ होसर कोई । न जनौं पवन पानि कस होई ।।
खिन-खिन जीव सँडासिन्ह आँका । आवहि डोंब छुवावहिं बाँका ।।
बीछी साँप रहहिं निति पासा । भोजन सोइ, डसहिं हर स्वाँसा ।।
आस तुम्हारे मिलन की, रहा जीव तब पेट ।
नाहिं तो होत निरास जौं, कत जीवन कत भेंट ।। ६४२ ।।

शब्दार्थ—मरजिया=गोताखोर। अगुसारा=प्रकट किया। खनि=खोदकर। निनारा =अलग। ओबरी=भीतर का कमरा। मेला=डाला। दुहेला=कष्ट। रांध=(रन्ध्र) छिद्र, छेद। दोसर=दूसरा। संडासिन्ह=लोहे की गर्म संडासियां। आंका=दागा। डोंब=डोम, चांडाल। बांका=हंसिये की भांति का औजार जिससे चाँडाल लोग बांस छीलते हैं।

अर्थ—(इस पद में पद संख्या ५८० की बातें दुहराई गई हैं।) रात में राजा ने रानी को गले लगाया। मरने वाला पति नाड़ी रूपी नारी (पद्मावती) को पाकर जी उठा। प्रीति के बाद राजा अपने दुखों को प्रकट करने लगा। उसने कहा कि जीते जी तुझे अलग नहीं मैं करना चाहता पर मुसलमानों ने मुझे कठिन जेलखाने में डाला था, जब उस बन्दीखाने की याद करता हूँ तो जीव पेट में नहीं रह जाता। एक अंधेरी कोठरी में गड्ढा खोदकर मुझे उसी में डाल दिया था, वहां लोहे की सांकलों से बांधा था और अंधेरे का और भी कष्ट था। वहाँ कोई छेद तक न था, पता नहीं पानी और हवा कहां से पहुँचते थे। अनेक बार उन्होंने गर्म संडासियों से हमें दागा और चाँडाल लोग आकर के अपना खांडा मेरे शरीर में छुआते थे। बिच्छू और सांप नित्य पास ही रहते थे, मेरे तो वे ही भोजन थे जो प्रति स्वांस में डसा करते थे। केवल तेरे मिलन की आशा थी इसीलिए मेरा जीव पेट में रह सका, नहीं तो यदि तुमसे मिलने की निराशा होती तो मेरा जीवन कैसे रह सकता था, और हम कैसे मिल सकते थे ?

[६४३]

तुम्ह पिय भंवर परी अति बेरा। अब दुख सुनहु कंवल धनि केरा॥
छाँड़ि गएहु सरवर महँ मोहीं। सरवर सूखि गएउ बिनु तोहीं॥
केलि जो करत हंस उड़ि गएऊ। दिनअर मीत सो बैरी भएऊ॥
गई भीर तजि पुरइनि पाता। मुइउँ धूप सिर रहा न छाता॥
भइउँ मीन तन तलफै लागा। बिरहा आई बैठ होई कागा॥
काग चोंच, तस साल न नाहाँ। जसि बँदि तोरि साल हिय माहाँ॥
कहेउँ काग अब लै तहँ जाही। जहँवां पिउ देखै मोहि खाही॥
काग निखिद्ध गीध अस, का मारहि हौं मंदि।
एहि पछताएँ सुठि मुइउँ, गइउँ न पिउ सँग बंदि॥ ६४३॥

शब्दार्थ—बेरा=समय, नाव। कंवल-धनि=कमल के समान स्त्री अर्थात् मैं। तलफै =तड़फने लगा। साल=दर्द करना। सुठि=बहुत। निखिद्ध=नीच।

अर्थ—रानी ने कहा कि हे प्रिय, तुम्हारी नाव तो सच-मुच बड़े भंवर में—चक्कर में पड़ गयी थी। अब तुम मेरा भी दुःख सुनो। मुझे तालाब में छोड़ गये और तुम्हारे बिना तालाब ही सूख गया। इस तालाब में जो हंस क्रीड़ा करते थे वे सब उड़ गये अर्थात् जीवन के सभी आनन्द समाप्त हो गये। जो सूर्य मित्र था वही शत्रु हो गया—सुखदायक वस्तुएं

दुखदायक हो गयीं । पुरइन के पत्तों की भीड़ छोड़ कर चली गयी अर्थात् श्रृंगार की हजार वस्तुएं दूर हो गईं । मैं धूप से मरने लगी क्योंकि सिर पर छाता नहीं था। तुम्हारे वियोग में मैं तड़फने लगी—मछली के समान होकर मैं तड़पने लगी। विरह कौआ होकर आ बैठा पर कौए की चोंच मुझे उतनी दर्द नहीं करती थी, जितनी यह कि मेरा प्रियतम बन्दीखाने में है । मैंने कौए से कहा कि हे कौए तू मेरे जीव को वहाँ ले जा जहां मेरा प्रियतम है, उसकी आंखों के सामने मेरे जीव को तू खाना । हे नीच कौए, गीध की भांति निकृष्ट मांस के लिए मुझ मन्दभागिनी को कैसे मारते हो ? मैं तो स्वयं इस पछतावे में मर रही हूं कि मैं अपने पति के साथ बन्दीखाने में न जा सकी ।

[६४४]

तेहि ऊपर का कहौं जो मारी । बिखम पहार परा दुख भारी ॥
दूति एक देवपाल पठाई । बाँभनि भेस छरै मोहिं आई ॥
कहै तोरि हौं आवि सहेली । चलु लै जाउँ भंवर जहँ बेली ॥
तब मैं ग्यान कीन्ह, सतु बांधा । ओहि के बोल लागु बिख साँधा ॥
कहेउँ कँवल नहिं करै अहेरा । जौं है भंवर करिहि सै फेरा ॥
पांच भूत आतमा नेवारेउँ । बारहिं बार फिरत मन मारेउँ ॥
औ समुझाएउँ आहन हियरा । कंत न दूरि, अहै सुठि नियरा ॥
बास फूल घिउ छीर जस; निरमल नीर मँठाहँ ।
तस कि घटै घट पूरुख, ज्यों रे अगिनि कठाहँ ॥ ६४४ ॥

शब्दार्थ—बिखम=भयंकर । सांधा=सना, मिला हुआ । पांच भूत आतमा=जोगिनी बन कर जाने की इच्छा । नेवारेउँ=रोका ।

अर्थ—रानी ने कहा कि इससे भी बढ़ कर मैं जिस प्रकार मारी गई उसका क्या वर्णन करूँ ? मेरे ऊपर तो पहाड़ के समान भयंकर दुःख पड़ा है । देवपाल की एक दूती थी, वह ब्राह्मणी का वेष धारण करके मुझे छलने आयी थी । वह कहती थी कि मैं तुम्हारी बचपन की सहेली हूं, चलो तुझ को वहाँ ले चलूँ, जहाँ भौंरा है । तब मैंने बुद्धि से सोचा और अपने सतीत्व की रक्षा की। उसकी बोली मुझे ऐसी लगी, जैसे विष से सनी हुई है । मैंने उससे कहा कि कमल भौंरे का शिकार नहीं करता, अर्थात् कमल भौंरे को खोजता नहीं फिरता जो उसका भौंरा (प्रियतम) है, वही फेरा करेगा। फिर जोगिनी बन कर तुम्हारे पास जाने की इच्छा हुई पर मैंने उस इच्छा को दबा लिया तथा शरीर के पँच भूतों और आत्मा को रोक रखा और बार-बार अपने चंचल मन को मारा। मैंने अपने हृदय को समझाया कि प्रियतम दूर नहीं, हृदय के तो अत्यन्त ही निकट है । जैसे फूल में सुगंध, दूध में घी और मट्ठे में पानी और जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि रहती है पर दिखाई नहीं पड़ती उसी प्रकार इस घट (शरीर) में मेरा प्रियतम है, वह मुझ से दूर क्यों कर हो सकता है ?

नोट—इस पद में रहस्यात्मक व्यंजना है।

अलंकार—समासोक्ति ।

——

५५. रत्नसेन-देवपाल-युद्ध-खण्ड

[६४५]

सुनि देवपाल राव कर चालू । राजहि कठिन परा जिय सालू ॥
दादुर पुनि सो कँवल कहँ पेखा । गादुर मुख न सूर कर देखा ॥
अपने रँग जस नांच मँजूरू । तेहि सरि साध करै तँवचूरू ॥
जब लहि आइ तुरुक गढ़ बाजा । तब लगि धरि आनौं तौ राजा ॥
नींद न लीन्ह, रैनि सब जागा । होत बिहान जाइ गढ़ लागा ॥
कुंभलनेरि अगम गढ़ बाँका । बिखम पंथ चढ़ि जाइ न झाँका ॥
राजहि तहां गएउ लै कालू । होइ सामुँह रोपा देवपालू ॥
दुवौ लरैं होइ सनमुख, लोहैं भएउ असूझ ।
सतुरु जूझि तब निबर, एक दुहूँ महं जूझ ॥ ६४५ ॥

शब्दार्थ—कर=की । दादुर=मेंडक । पेखा=देखा । गादुर=चमगादड़ । मँजूरू=मयूर, मोर । तँवचूरू=मुर्गा । सरि=बराबरी । साध=इच्छा । सामुँह=सामने । सतुरु=शत्रु । जूझि=युद्ध में । निबरे=निपटे ।

अर्थ—राजा रतनसेन के हृदय में राजा देवपाल की चाल को सुन कर बड़ा दुःख हुआ । उसने सोचा कि मेंडक ने फिर कमल को देखना चाहा । पर चमगादड़ तो कभी सूर्य की ओर देख नहीं सकता । जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक मोर नाचता है, उसे देख कर उसकी बराबरी करने की इच्छा मुर्गा करने लगा है । इसलिए जब तक कि अलाउद्दीन आकर हमारे गढ़ पर हमला करे तो मैं इस राजा देवपाल को कैद कर लूँ । उसे रात में नींद न आई और सवेरा होते ही उसने देवपाल के गढ़ को घेर लिया । कुंभलनेरगढ़ बड़ा ही कठिन और दुर्गम था, उसका मार्ग बड़ा ही टेड़ा था, इतना ऊँचा भी था कि उस पर चढ़ कर नीचे देखा नहीं जाता था । राजा को काल वहाँ ले गया, राजा के सामने आकर देवपाल ने सामना किया । दोनों आमने-सामने बढ़े, उनके हथियार बड़े भयानक चल रहे थे । युद्ध में तो तभी निपटारा होता है, जब दो में से एक मर जाय ।

[६४६]

चढ़ि देवपाल राउ रन गाजा । मोहि तोहिं जूझि एकौझा राजा ॥
मेलेसि साँगि आइ बिख भरी । मेंटि न जाइ काल की घरी ॥
आइ नाभि तर साँगि बईठी । नाभि बेधि निकसी जहँ पीठी ॥
चला मारि, तब राजैं मारा । कंध टूट, धर परा निनारा ॥
सीस काटि कै पैरैं बाँधा । पावा दाउँ बैर जस साँधा ॥

जियत फिरा आइउँ बलु हरा। माँझि बाट होइ लोहें धरा ॥
कारी घाउ जाइ नहिं डोला। गही जीभ जम कहै को बोला ॥
सुद्धि बुद्धि सब बिसरी, बाट परो मँझ बाट।
हस्ति घोर को काकर, घर आना कै खाट ॥ ६४६ ॥

शब्दार्थ—एकौझा=द्वन्द्व युद्ध। मेलेसि=मार दिया। निनारा=अलग। साँधा=किया। माँझ=बीच। बाट=रास्ता। कारी=गहरा। काकर=किसका।

अर्थ—राजा देवपाल रण में गरज उठा कि हे राजा ! रत्नसेन अब हमारा तुम्हारा द्वन्द्व युद्ध हो। उसने विष से भरी हुई साँग मारी, काल की घड़ी मेटी नहीं जाती। वह साँग आकर राजा रत्नसेन की नाभि के नीचे लगी और नाभि को छेद कर पीठ तक निकल गयी। जब उसने मार दिया तब राजा रत्नसेन ने भी मारा, जिससे उसका कन्धा टूट गया और धड़ अलग हो गया। उसके सिर को काट कर अपने रथ के चक्के में बाँध लिया। जैसा बैर उसने किया था, उसका बदला ले लिया। जीता हुआ राजा अपने गढ़ को लौटा पर उसकी सारी आयु और बल तो हरा जा चुका था। रास्ते के बीच में ही उसने हथियार फेंक दिये। गहरा घाव लगा था इससे उससे चला नहीं जाता था, फिर उसकी जबान बन्द हो गयी, कवि कहता है कि उसकी जीभ को तो यमराज ने पकड़ लिया, फिर कौन बोल सकता है ? भाव यह कि रास्ते में ही राजा का शरीरान्त हो गया। राजा को सारी सुध-बुध भूल गयी, राजा रत्नसेन भार की भाँति रास्ते में गिर पड़ा। हाथी-घोड़ा कौन किसका है, खाट पर करके (धरके) राजा को घर लाया गया।

———

५६. राजा-रतनसेन-वैकुराठ-वास-खंड

[६४७]

तेहि दिन साँस पेट महँ रही। जौ लगि दसा जियन की रही ॥
काल आइ देखराई साँटी। उठि जिउ चला छाँड़ि कै माँटी ॥
काकर लोग कुटुँब घरबारू। काकर अरथ दरब संसारू ॥
ओहि घरी सब भएउ परावा। आपन सोइ जो बेरसा खावा ॥
अहे जो हितू साथ के नेगी। सबे लाग काढ़ैं पै बेगी ॥
हाथ झारि जस चला जुवारी। तजा राज, होइ चला भिखारी ॥
जब हुत जीव, रतन सब कहा। जौं भा बिन जिय, कौड़ि न लहा ॥
गढ़ सौंपा बादिल कहँ, गए निकसि बसुदेउ।
छाँड़ी लंक भभीखन, जेहि भावै सो लेउ ॥६४७॥

शब्दार्थ—जियन=जीने को। साँटी=छड़ी। माँटी=शरीर। बेरसा=विलास किया, सुख भोगा। नेगी=कर्मचारी, सेवक। बसुदेव=जीव, वसने वाला देवता (आत्मा)।

अर्थ—कवि कहता है कि उसी दिन तक स्वांस पेट में रहती है, जब तक कि जीने की दशा शेष है। जब काल आकर अपनी छड़ी दिखाता है तो जीव शरीर को छोड़कर चला जाता है। लोग, कुटुम्ब, घरबार, धन, द्रव्य, संसार यह सब किसके हैं ? मृत्यु के समय सब पराये हो जाते हैं, उस समय तो वही सब कुछ है, जो जीवन पर्यन्त भोग लिया। जो साथ के हितैषी हैं, व कर्मचारी सेवक होते हैं, वे ही लोग ज्यों ही प्राण निकलते हैं, तुरन्त ही उसे घर से निकालने लगते हैं। जैसे जुआरी सब कुछ हार जाने पर हाथ झाड़ कर चल देता है, उसी प्रकार राजा भी राज्य छोड़ कर भिखारी बन कर चल पड़ा। जब तक जीव था, सभी उसे रत्न कहते थे, पर जीव से रहित होने पर कोई उसे कौड़ी को भी न पूछेगा (रतन शब्द श्लिष्ट है)। मरते समय उसने गढ़ बादल को सौंपा और उसका जीव निकल गया, विभीषण ने लंका छोड़ दी, अब जो चाहे उसे ले।

५७. पद्मावती-नागमती-सती-खंड

[६४८]

पदुमावति नइ पहिरि पटोरी। चली साथ होइ पिय की जोरी ।।
सूरुज छपा, रैनि होइ गई। पूनिवँ ससि सो अमावस भई ।।
छोरे केस मोंति लर छूटे। जानहुँ रैनि नखत सब टूटे ।।
सेंदुर परा जो सीस उघारी। आगि लाग जनु जग अँधियारी ।।
एहि देवस हौं चाहति नाहाँ। चलौं साथ, बाहौं गल बाहाँ ।।
सारस पंखि न जियै निनारे। हौं तुम्ह बिनु का जियौं पियारे ।।
नेवछावरि कै तन छिरिआवौं। छार होइ सँग, बहुरि न आवौं ।।
दीपक प्रीति पतंग जेउँ, जनम निवाह करेउँ ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ, कंठ लागि जिउ देउँ ।।६४८।।

शब्दार्थ—पटोरी = रेशमी वस्त्र । नाहाँ = नाथ । गलबाँहा = गले में बाँह डाल कर । छिरिआवौं = बिखराऊँ । जेउँ = जैसे । चहुँ पास = चारों ओर ।

अर्थ—पद्मावती ने नये रेशमी वस्त्र पहने और अपने पति की जोड़ी बन कर साथ चली । सूर्य छिप गया । रात्रि हो गई, पूर्णिमा के चाँद को अमावस्या लग गई । उसने केश छोड़ दिये, उसके मोतियों की लड़ियां छूट गईं । वे इस प्रकार गिरे जैसे रात्रि के सारे तारे टूट गये हैं । खुले हुए शीश पर जो सिंदूर पड़ा है वह ऐसा लगता है मानों संसार के अंधेरे में आग लगी है । रानी पद्मावती कहने लगी कि हे नाथ, मैं तो इसी दिन को चाहती थी कि गले में बाँह डालकर साथ चलूँ । सारस पक्षी अलग नहीं जीता है, हे प्यारे, फिर तुम्हारे बिना मैं कैसे जी सकती हूँ । अपने शरीर को निछावर करके बिखेर दूँगी तुम्हारे साथ ही राख होकर फिर न लौटूँगी । जैसे पतंगा जोवन भर दीपक की प्रीति का निर्वाह करता है उसी प्रकार मैंने भी किया, अतः अब चारों ओर से निछावर हो कर तुम्हारे गले से लग कर सती हो जाऊँगी ।

अलंकार—पूर्णोपमा ।

[६४९]

नागमती पदुमावती रानी। दुवौ महासत सती बखानी ।।
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा तिन्ह डीठीं ।।
बैठौ कोइ राज औ पाटा। अंत सबैं बैठिहि एहि खाटा ।।
चंदन अगर काढ़ि सर साजा। औ गति देइ चले लै राजा ।।
बाजन बाजहिं होइ अकूता। दुऔ कंत लै चाहहि सूता ।।

एक जो बाजा भएउ बियाहू। अब दोसरें होइ ओर निबाहू ॥
जियत जो जरहिं कंत की आसा। मुँए रहसि बैठहिं एक पासा ॥
आजु सूर दिन अँथवा, आजु रैनि ससि बूड़ि।
आजु बाँचि जिय दीजिअ, आजु आगि हम जूड़ि ॥६४९॥

शब्दार्थ—दुवौ=दोनों। तिन्ह डीठीं=उनकी दृष्टि में। पाट=सिंहासन। सर=चिता। अकूता=बहुत। अँथवा=अस्त हुआ। बूड़ि=डूब गया। बाँचि=पढ़ कर-खोल कर-पाठान्तर-नांचि=प्रसन्न हो कर। हम=हमारे लिए। जूड़ि=ठंडी।

अर्थ—नागमती और पद्मावती दोनों ही रानियाँ बड़ी सती थीं। उनके सतीत्व की बड़ी प्रशंसा थी। दोनों सौतें खाट पर एक साथ बैठीं, उन्हें अब ब्रह्मलोक दिखाई पड़ने लगा। चाहे कोई राज्य सिंहासन पर ही बैठे पर अन्त में तो सबको इसी खाट पर बैठना होता है। चन्दन और अगर से चिता सजाई गई। सब लोग राजा को गति देने (जलाने) चले। बहुत प्रकार के बाजे बजने लगे क्योंकि दोनों ही पत्नियाँ अपने पति को लेकर सोना चाह रही हैं। एक बाजा बजा था तो विवाह हुआ था अब दूसरे बाजे के बजने पर मुक्ति हो रही है। जो रानियाँ जीते जी पति की आशा में एक दूसरे से जला करती थीं वे अब प्रसन्नता के साथ पास-पास बैठी हुई हैं। आज तो दिन में ही सूर्य अस्त हो गया, आज रात्रि में चन्द्रमा भी डूब गया। रानी कहती है—आज खुल कर जीवन उत्सर्ग करो, आज अग्नि हमारे लिए ठंडी है।

[६५०]

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिरि भाँवरि दीन्हा ॥
एक भँवरि भै जो रे बियाहीं। अब दोसरि दै गोहन जाहीं ॥
लै सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ीं दुवौ कंत कँठ लाई ॥
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाईं। मुए कंठ नहिं छाँडहिं साईं ॥
औ जौ गाँठि, कंत तुम जोरी। आदि अंत दिन्हि जाइ न छोरी ॥
एहि जग काह जो आथि निआथी। हम तुम्ह नाहँ दुहूँ जग साथी ॥
लागीं कंठ आगि दै होरी। छार भईं, जरि अंग न मोरी ॥
रातीं पिय के नेह गइँ, सरग भएउ रतनार ॥
जो रे उवा सो अँथवा, रहा न कोइ संसार ॥ ६५० ॥

शब्दार्थ—सर=चिता। पुन्नि=पुण्य। गोहन=साथ। पौढ़ी=लेटीं आथि=है। निआथी=अस्थिर।

अर्थ—चिता को रचवा कर रानियों ने बहुत दान-पुण्य किया। फिर उन्होंने सात फेरे किये। कवि कहता है कि एक बार तो इन भाँवरों से ब्याह हुआ था अब दूसरी बार इन फेरों को देकर ये साथ-साथ परलोक जा रही हैं। फिर चिता के ऊपर खाट बिछाई गई। उस पर दोनों अपने पति को गले लगा कर लेट गईं। वे कहती हैं कि हे प्रियतम,

जीते जी तुमने हमें गले लगाया था इसलिए हे स्वामी ! मरने पर भी हम तुम्हारे गले को न छोड़ेंगी। और हे स्वामी ! तुमने जो गाँठ ब्याह में जोड़ी थी, वह गाँठ आदि से अन्त तक छोड़ी नहीं जा सकती। इस संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो अस्थिर नहीं है। हम तुम तो दोनों लोकों के साथी हैं। होली की आग देकर दोनों गले से चिपट गईं, जल कर राख हो गईं पर उन्होंने अपना अंग नहीं मोड़ा।

पति के प्रेम में लाल होकर वे स्वर्ग गईं और स्वर्ग भी उनकी ललायी से लाल हो गया। जो इस संसार में उदय होता है वह अस्त अवश्य होता है; कोई इस संसार में नहीं रह सकता।

नोट—रहस्य-भावना-प्रधान कथा का अन्त कवि ने शान्ति में किया है। ग्रन्थ न तो दुःखान्त है और न सुखान्त वरन् प्रशान्त है।

[६५१]

ओइ सह गवन भईं जब ताईं। पातसाहि गढ़ छेंका आई।
तब लगि सो औसर होइ बीता। भए अलोप राम औ सीता॥
आइ साहि सब सुना अखारा। होइ गा राति देवस जो बारा॥
छार उठाइ लीन्हि एक मूँठी। दीन्हि उड़ाइ, पिरिथमी झूठी॥
जब लगि ऊपर छार न परई। तब लगि नाहि जो तिस्ना मरई॥
सगरें कटक उठाई माँटी। पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़ घाटी॥
भा ढोवा, भा जूझि असूझा। बादिल आइ पँवरि होइ जूझा॥
जौंहर भईं इस्तिरी, पुरुख भए संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम॥ ६५१॥

शब्दार्थ—ओइ=वे। सहगवन=पति के साथ सहगमन, सती होना। जब ताईं=जब तक। छेंका=घेरा। अखारा=दंगल, खेल। पिरथिमी=पृथ्वी। तिस्ना=लालच। सगरें=सारे। ढोवा-पाठान्तर-धावा। चूरा=चूर-चूर कर दिया।

अर्थ—जब तक उन रानियों ने सहगमन किया, बादशाह अलाउद्दीन ने आ कर गढ़ को घेर लिया। तब तक तो सारा अवसर समाप्त हो गया, राम और सीता दोनों ही लुप्त हो गये। जब शाह ने आ कर यह सब खेल सुना तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रकाशमान दिन रात्रि में परिवर्तित हो गया। उसने जली हुई भस्म की एक मुट्ठी ली और उड़ा कर कहा कि सारी पृथ्वी झूठी है। जब तक मिट्टी ऊपर नहीं पड़ती, आदमी की तृष्णा नहीं जाती। सारी सेना ने एक-एक मुट्ठी राख उठाई और जहाँ-जहाँ घाटी थी डाल दी, ऐसा करने से जहाँ घाटी थी वहाँ पुल बँध गया। इतने में राजपूतों ने धावा कर दिया और भयंकर युद्ध हुआ। बादल ड्योढ़ी पर लड़ता हुआ मारा गया।

चित्तौड़ की सारी स्त्रियों ने जौहर कर डाला (सब एक साथ एक चिता में जल कर मर गईं) और पुरुष युद्ध में काम आये। बादशाह ने चित्तौड़ गढ़ को तोड़ डाला और चित्तौड़ इस्लाम-धर्मियों के नीचे आ गया।

———

उपसंहार

उपसंहार—डा० माताप्रसाद गुप्त की ग्रन्थावली में पं० शुक्ल जी सम्पादित ग्रन्थावली के उपसंहार का परम प्रसिद्ध निम्न पद नहीं हैं, गुप्त जी ने इस पद को प्रक्षिप्त पदों की तालिका में भी नहीं दिया है। यह पद तो सारे ग्रन्थ की कुंजी है, इसके बिना ग्रन्थ ही अधूरा है।

पद इस प्रकार है—

मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुवा जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बँधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। मया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥
तुरकी अरबी हिंदुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि॥

शब्दार्थ—घट=शरीर। बाँचा=बचा। पारहु=सके। हिंदुई=हिंदी।

अर्थ—जायसी कहते हैं कि मैंने अपनी पद्मावत की कहानी सुना कर पण्डितों से अर्थ पूछा। उन लोगों ने कहा कि हमारी समझ में कुछ नहीं आया। इस पर जायसी कहते हैं कि चौदहों भुवन जो कि ऊपर और नीचे स्पष्ट कहे जाते हैं सब इसी मनुष्य शरीर के भीतर ही हैं। फिर वे अपने पद्मावत काव्य के रूपक को स्वयं स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चित्तौड़ तन है, राजा मन है, सिंहल हृदय है और बुद्धि पद्मिनी है। सुआ गुरु है जो रास्ते को दिखाता है; बिना गुरु के इस जगत् में निर्मल ज्ञान को कोई नहीं पा सकता। नागमती संसार है जिससे कोई बच नहीं पाता, सभी उसमें बँध जाते हैं। राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन माया है। मैंने यह प्रेम कथा कही, जो इसे समझ सके समझ ले। तुर्की, अरबी और हिंदी जितनी भाषायें हैं, उन सब में जिसमें प्रेम का मार्ग बताया गया है, उसे ही सराहा गया है।

नोट—अन्त में आकर सिद्धान्त निरूपण में भी जायसी की प्रवृत्ति न बदली। उन्होंने अपने सूफी मत के सिद्धान्तों को हिन्दी नामों से प्रस्तुत किया है और बीच-बीच में हिन्दू दर्शन सिद्धान्तों को मिला दिया है। उक्त पद के वास्तविक मर्म को समझने के लिए पहले सूफी मत का मर्म और उसकी शब्दावली देखनी चाहिए।

सूफी चार अवस्थायें मानते हैं—१. नफ्स (इन्द्रिय), २. रूह (आत्मा), ३. कल्ब (हृदय), ४. अक्ल (बुद्धि)। इन्हीं से मिलते हुए, १. आलमे नासूत (भौतिक जगत्) जिसमें नफ्स (इन्द्रियों)की प्रधानता होती है। २. आलमे मलकूत (चित्त जगत्) जिसमें रूह (आत्मा) का प्रभाव होता है। ३. आलमे जबरूत (आनन्दमय जगत्) जिसमें कल्ब (हृदय) का प्रसार है और ४. आलमे लाहूत (सत्य जगत्) जिसमें अक्ल (बुद्धि) का वैभव है।

सूफी मत का साधक इन्हीं जगतों से क्रमशः पार होता है, पर ऐसा करने में उसे अपने गुरु की सहायता लेनी पड़ती है। इसीलिए सूफी मत में गुरु-परम्परा बहुत महत्वपूर्ण है। गुरु के पथप्रदर्शन पर ही वह प्रेम पन्थ पर अग्रसर होता है और शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत के द्वारा वह जमाल (प्रेममयी प्रकृति) का अनुसरण करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। सच्चे प्रेम-मार्ग में वह संसार को छोड़ता है और प्रेमी को प्राप्त करता है, पर प्रेमी की प्राप्ति के बाद भी शैतान के द्वारा वह अलग किया जाता है और फिर वह प्रयत्न करके अपने उद्देश्य को प्राप्त करता हैं। जायसी ने उक्त पद में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे इस प्रकार हैं—

तन, चितउर=शरीर=इन्द्रिय—नफ्स या नासूत जिसमें इन्द्रिय-जगत् है, यह इन्द्रिय-जगत् चितौड़ है। भाव यह कि जब तक तोता नहीं आता और राजा चित्तौड़ छोड़ कर नहीं जाता तब तक नफ्स की स्थिति है।

मन राजा=आत्मा=रूह=आलमे मलकूत, जिसमें चैतन्यता आती है। तोते के आने पर राजा में चैतन्यता आ जाती है और वह चित्तौड़ (आलमे नासूत) छोड़ कर चला जाता है।

हिय, सिंहल=हृदय। कल्ब—आलमे जबरूत (आनन्दमय जगत्)—राजा को आनन्द सिंहल में मिलता है, क्योंकि वहाँ पर उसे पद्मावती का साक्षात्कार होता है और मिलन प्राप्त होता है।

बुधि=पद्मिनी=बुद्धि=अक्ल, आलमे लाहूत (सत्य जगत्) पद्मिनी, सत की चरमावस्था है। सारे ग्रन्थ में इसीलिए कवि ने सत की प्रशंसा की और ग्रन्थ की समाप्ति सत की पराकाष्ठा सतीपने में दिखाई।

गुरु सुआ तो स्पष्ट ही है।

नागमती को दुनिया का माया-मोह कहा है क्योंकि उसे ही छोड़कर वह गया है। शैतान की स्थिति सूफी मत में अनिवार्य है। शैतान का काम अलग करना है। वास्तव में शैतान का काम राघवचेतन और अलाउद्दीन का ऐतिहासिक वृत्त इसमें डाला भी गया है। माया-हिन्दू अद्वैतवाद का प्रधान सिद्धान्त है और कबीर आदि ने माया को ठगिनी कह कर भक्त और भगवान् के बीच का रोड़ा कहा था, इसीलिए भ्रमवश जायसी ने हिन्दू शब्दावली में कहने के कारण अलाउद्दीन को माया कह डाला। समष्टि में उक्त पंक्तियों का सार इस प्रकार है—

कहानी में चित्तौड़ तक की कहानी—तन या नफ्स सम्बन्धी नासूत है।

राजा का योगी होना—मन या रूह सम्बन्धी आलमे मलकूत है।

सिंहलद्वीप में पहुँचने तक की कथा—हिय या कल्ब सम्बन्धी आलमे जबरूत है।

और पद्मावती के मिलन की कहानी—बुद्धि=अक्ल सम्बन्धी आलमे लाहूत है।

नागमती की कहानी या उसका विरह-वर्णन-संसार के माया-मोह के आकर्षण का प्रतीक है। राघवचेतन और अलाउद्दीन की कथा सूफी मत के शैतान का प्रतीक है। जो प्रेमी और प्रेमिका को अलग करता है पर वे पुनः मिल जाते हैं।

[६५२]

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना जो पेम पीर गा पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई॥
औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा। कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा॥
कहाँ अलाउद्दीन सुलतानू। कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू॥
कहँ सुरूप पदुमावति रानी। कोई न रहा जग रही कहानी॥
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू॥
केइँ न जगत जस बेंचा, केइँ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरै दुइ बोल॥ ६५२॥

शब्दार्थ—लेई=कागज चिपकाने वाली लेही। चीन्हा=निशानी।

अर्थ—मलिक मुहम्मद जायसी ने यह कहानी जोड़ कर सुना दी, जिसने इस कहानी को प्रेम से सुना वह पीर (साधु) हो गया अथवा जिसने इस कथा को सुना उसे प्रेम की पीड़ा का अनुभव हुआ। इस कहानी को मैंने खून की लेई लगा-लगा कर जोड़ रखा है और गाढ़ी प्रीति के आँसुओं से भिगोया है। यह पंक्ति पदमावत की कथा और जायसी के रचना-श्रम दोनों पर घटित होती है। आटे से लेही बनाते समय उसमें पानी मिलाया जाता है। उसी प्रकार राजा रत्नसेन ने प्रेम की पीर में अपना रक्त मिला कर उसे जोड़ा। लेई जब गाढ़ी हो जाती है तो उसमें और पानी डाला जाता है, इसी प्रकार जब प्रेम गाढ़ा हुआ तो रानी पद्मावती ने उसमें आँसू मिलाए। तात्पर्य यह कि पदमावत की कथा में प्रेम की पीर और विरह-वेदना के आँसू दोनों हैं, इन्हीं के ताने-बाने से इसकी रचना हुई है। जायसी के पक्ष में शरीर के श्रम और हृदय की करुणा के संयोग से कवि ने इस काव्य को सम्पन्न किया है। अपने मन में यह समझ कर लिखा है कि शायद मेरे मर जाने के बाद भी यह संसार में मेरी निशानी रहे। अब यह राजा रत्नसेन कहाँ है और वह तोता कहाँ है जिसने ऐसी बुद्धि उत्पन्न की। वह अलाउद्दीन सुलतान और राघव-चेतन कहाँ हैं, वह रूपवती पद्मावती भी नहीं रही, संसार में उसकी कहानी मात्र रह

गयी। वह पुरुष धन्य है जिसकी कीर्ति ऐसी है जैसे फूल की सुगन्ध। फूल तो मर जाता है पर उसकी सुगन्ध नहीं मरती। ऐसे कितने हैं जिन्होंने संसार में कीर्ति न बेची हो और जिन्होंने कीर्ति मोल न ली हो। जो इस कहानी को पढ़ेगा वह दो शब्दों में हमें भी याद कर लेगा।

[६५३]

मुहमद बिरिध बएस अब भई। जोवन हुत, सो अवस्था गई।।
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनन्ह दै नीरू।।
दसन गए कै तुचा कपोला। बैन गए दै अनरुचि बोला।।
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गएउ तरहुँड सिर नाई।।
सरवन गए ऊँच दै सुना। गारौ गएउ, सीस भा धुना।।
भँवर गएउ केसन्ह दै भुवा। जोबन गएउ, जियत जनु मुवा।।
तब लगि जोवन जोबन साथाँ। पुनि सो मीचु पराए हाथाँ।।
बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ आढ़े होहु तुम्ह, केइँ यह दीन्ह असीस।। ६५३।।

शब्दार्थ—बिरिध बएस=वृद्धावस्था। तुचा=पिचक गया। तरहुँड=नीचे। गारौ=गर्व-पाठान्तर-स्याही-काले बाल। धुना=धुनी हुई रुई।

अर्थ—जायसी कहता है कि अब तेरी वृद्धावस्था आ गयी; जो जवानी की अवस्था थी वह तो बीत गई। बल के जाने से शरीर क्षीण हो गया। आँखों की ज्योति गई और पानी भी निकलने लगा। दाँत गये जिससे गाल पिचक गये। वाणी गई और बोली अच्छी नहीं लगती। हृदय में बुद्धि भी नष्ट हो गई। सारा गर्व गया और नम्रता आ गयी। कान की शक्ति गई और ऊँचे बोलने पर ही सुनाई पड़ता है। काले बाल गये और सिर धुनी हुई रुई की भाँति सफेद हो गया। भौंरे रूपी काले बाल सींबल की रुई के समान हो गये। जवानी चली गई तो जीते जी ऐसे हैं जैसे मृत हो। तभी तक जीवन है जब तक जवानी साथ है, फिर तो मृत्यु ही है और हम दूसरे के हाथ हैं। वृद्धावस्था में सिर हिलता है, उसे देखकर जायसी कहता है कि मानो वह क्रुद्ध होकर कहता है कि तुमको किसने यह आशीर्वाद दिया कि "तुम बूढ़े हो जाओ"।

नोट—अन्तिम पद कुछ अप्रासंगिक है, इसमें कवि की आत्माभिव्यक्ति है, पर इसका विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। ग्रन्थ की समाप्ति सूचक पद तो पद संख्या ६५२ ही है।

———

अखरावट

[१]

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
अैसेइ अंधकूप महँ, रचा मुहम्मद नूर।।
साईं केरा नावँ, हिया पूर काया भरी।
मुहमद रहा न ठाँव, दूसर कोइ न समाइ अब।।
आदिहु तें जो आदि गोसाईं। जेइँ सब खेल रचा दुनियाईं।।
जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदह भुवन पूरि सब रहा।।
एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती।।
जौ वँ आनि जोति निरमई। दीन्हेसि ग्याँन, समुझि मोहिं भई।।
औ उन्ह आनि बार मुख खोला। भइ मुख जीभ, बोल मैं बोला।।
वँ सब किछु करता किछु नाहीं। जैसे चले मेघ परछाहीं।।
परगट गुपुत बिचारि सो बूझा। सो तजि दूसर और न सूझा।।
कहौं सो ग्याँन ककहरा, सब आखर महँ लेखि।
पण्डित पढ़ि अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि।।
हुता जो सुन्न-म-सुन्न, नाँव ठाँव ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्नि, मुहमद आपुहि आपु महँ।। १ ।।

[२]

आपु अलख पहिले हुत जहाँ। नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ।।
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू।।
अलख अकेल सबद नहिं भाँती। सूरुज चाँद देवस नहिं राती।।
आखर सुर नहिं बोल अकारा। अकथ कथा का कहौं बिचारा।।
किछु कहिए तौ किछु नहिं आखौं। पै किछु मुहँ महँ किछु हिय राखौं।।
बिना उरेह अरंभ बखाना। हुता आपु महँ आपु समाना।।
आस न बास न मानुस अंडा। भए चौखंड जो अैस पखंडा।।
सरग न धरति न खंभमय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरो अस, ओहि न रंग न भेस।।
तब भा पुनि अंकूर, सिरजा दीपक निरमला।।
रचा मुहम्मद नूर, जगत रहा उजियार होइ।। २ ।।

[३]

अैस जो ठाकुर किय एक दाऊँ। पहिले रचा मुहम्मद नाऊँ ।।
तेहि के प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा ।।
होतै बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता ।।
सूरुज चाँद देवस औ राती। एकहि दूसर भएउ सँघाती ।।
चलि सो लिखनी भइ दुइ फारा। बिरिछ एक, ऊपनी दुइ डारा ।।
भेटेन्हि जाइ पुन्नि औ पापू। दुख औ सुख आनँद संतापू ।।
औ तब भए नरक बैकूँठू। भल औ मंद, साँच औ झूँठू ।।
नूर मुहम्मद देखि तौ, भा हुलास मन सोइ।
पुनि इबलीस सँचारेउ, डरत रहै सब कोइ ।।
हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा ।।
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ किछु ।। ३ ।।

[४]

जौ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा ।।
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा ।।
सोई अंस घट घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला ।।
भए आपु औ कहा गोसाईं। सिर नावहु सगरिउ दुनियाईं ।।
आन फूल भाँति बहु फूले। बास बेधि कौतुक सब भूले ।।
जिया जंतु सब अस्तुति कीन्हा। भा संतोख सबै मिलि चीन्हा ।।
तुम्ह करता बड़ सिरजनहारा। हरता धरता सब संसारा ।।
भर भँडार गुपुत तहँ, जहाँ छाँह नहिं धूप।
पुनि अनबन परकार, सौं खेला परगट रूप ।।
परें प्रेम के झेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करै ।।
जो सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस ।। ४ ।।

[५]

एक चाक सब पिंडा चढ़ै। भाँति भाँति के भाँडा गढ़ै ।।
जबहीं जगत किएउ सब साजा। आदि चहेउ आदम उपराजा ।।
पहिलेइँ रचे चारि अढ़वायक। भए सब अढ़वैयन के नायक ।।
भइ आयसु चारिहु के नाऊँ। चारि बस्तु मेरवहु एक ठाऊँ ।।
तिन्ह चारिहु कै मँदिर सँवारा। पाँच भूत तेहि महँ पैसारा ।।
आपु आपु महँ अरुझी माया। अैस न जानै दहुँ केहि काया ।।
नव द्वारा राखे मँझियारा। दसवँ मूँदि कै दिएउ केवारा ।।

रकत माँसु भरि पूरि हिय, पाँच भूत कै संग।
प्रेम देस तेहि ऊपर, बाज रूप औ रंग॥
रहेउ न दुइ महँ बीचु, बालक जैसे गरभ महँ।
जग लेइ आई मीचु, मुहमद रोएउ बिछुरि कै॥५॥

[६]

उहँई कीन्हेउ पिंड उरेहा। भइ सँजूत आदम कै देहा॥
भइ आयसु यह जग भा दूजा। सब मिलि नवहु करहु एहि पूजा॥
परगट सुना सबद सिर नावा। नारद कहँ बिधि गुपुत देखावा॥
तू सेवक है मोर निनारा। दसईं पँवरि होसि रखवारा॥
भइ आयसु जब वह सुनि पावा। उठा गरब कै सीस नवावा॥
धरिमिहि धरि पापी जेहि कीन्हा। लाइ संग आदम के दीन्हा॥
उठि नारद जिउ आइ सँचारा। आइ छींक उठि दीन्ह केवारा॥
आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ घाला कैलास।
पुनि तहँवाँ ते काढ़ा, नारद के बिसवास॥
आदि किएउ आदेस, सुन्नहिं तें अस्थूल भए।
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओट जेउँ॥ ६॥

[७]

का—करतार चाहिय अस कीन्हा। आपन दोख आन सिर दीन्हा॥
खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने॥
छोड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठाँव तें दैउ बिछोवा॥
अंधकूप सगरउँ संसारू। कहाँ सो पुरुख, कहाँ मेहरारू॥
रैनि छ मास तैसि झरि लाई। रोई रोइ आँसू नदी बहाई॥
पुनि माया करता के भई। भा भिनुसार, रैनि हटि गई॥
सूरुज उए कँवल दल फूले। दूवौ मिले पंथ कर भूले॥
तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिन्ह भाँति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥
बुंदहि समुंद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ॥ ७॥

[८]

खा—खेलार जस है दुइ करा। उहै रूप आदम अवतरा॥
दूहूँ भाँति तस सिरिजा काया। भए दुइ हाथ भए दुइ पाया॥

भए दुइ नयन स्त्रवन दुई भाँती। भए दुइ अधर दसन दुइ पाँती॥
साथ सरग धर धरती भएऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ॥
माटी माँसु रकत भा नीरू। नसैं नदीं हिय समुँद गंभीरू॥
रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा। हाड़ पहार जुरे चहुँ फेरा॥
बार बिरिछ रोवाँ खर जामा। सूत सूत निसरे तन चामा॥
सातौं दीप नवौं खंड, आठौं दिसा जो आहिं।
जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥
आगि बाउ जल धूरि, चारि मेरइ भाँडा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि, मुहमद आपुहि आपु महँ॥८॥

[९]

गा—गोरहु अब सुनहु गियानी। कहौं ग्यांन संसार बखानी॥
नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौंहैं हैं दुइ पला॥
चाँद सूरुज दूनौ सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं॥
जागत दिन निसि सोवत माँझा। हरख भोर बिसमय होइ साँझा॥
सुख बैकुंठ भुगुति और भोगू। दुख है नरक जो उपजै रोगू॥
बरखा रुदन गरज अति कोहू। ब्रिजुरी हँसी हिवंचल छोहू॥
घरी पहर बेहर हर साँसा। बीतै छओ ऋतु बारह मासा॥
जुग जुग बीतै पलहि पल, अवधि घटति निति जाइ।
मीचु नियर जब आवै, जानहुँ परलय आइ॥
जेहि घर ठग हैं पाँच, नवौ बार चहुँ दिसि फिरहिं।
सो घर केहि मिस बाँच, मुहमद जौ निसि जागिए॥९॥

[१०]

घा—घट जगत बरावर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना॥
माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबी के नाऊँ॥
सरवन आँखि नाक मुख चारी। चारिहु सेवक लेहु बिचारी॥
भावै चारि फिरिस्ते जानहु। भावै चारि यार पहिचानहु॥
भावै चारिहु मुरसिद कहऊ। भावै चारि किताबैं पढ़ऊ॥
भावै चारि इमाम जे आगे। भावै चारि खंभ जे लागे॥
भावै चारिहु जुग मति पूरी। भावै आगि बाउ जल धूरी।
नाभि कँवल तर नारद, लिए पाँच कोटबार।
नवौ दुवारि फिरै निति, वसई कर रखवार॥

पवनहु ते मन चाँड़, मन तें आसु उतावला ।
कतहूँ मेड़ न डाँड़, मुहमद ब्रह्म बिस्तार सो ॥१०॥

[११]

ना—नारद तस पाहरू काया । चारा मेलि फाँद जग माया ॥
नाद बेद औ भूत सँचारा । सब अरुझाइ रहा संसारा ॥
आपु निपट निरमल होइ रहा । एकहु बार जाइ नहिं गहा ॥
जस चौदह खँड तैस सरीरा । जहँवै दुख है तहँवै पीरा ॥
जौन देस महँ सँवरै जहँवाँ । तौन देस सो जानहु तहँवाँ ॥
देखहु मन हिरदय बसि रहा । खन महँ जाइ जहाँ कोइ चहा ॥
सोवत अंत अंत महँ डोलै । जब बोलै तब घट महँ बोलै ॥
तन तुरंग पर मनुआ, मन मस्तक पर आसु ।
सोई आसु बोलावई, अनहद बाजा पासु ॥
देखहु कौतुक आइ, रूख समाना बीज महँ ।
आपुहि खोदि जमाइ, मुहमद सो फल चाखई ॥ ११ ॥

[१२]

चा—चरित्र जौ चाहहु देखा । बूझहु बिधिना केर अलेखा ॥
पवन चाहि मन बहुत उताइल । तेहि तें परम आसु सुठि पाइल ॥
मन एक खंड न पहुँचै पावै । आसु भुवन चौदह फिरि आवै ॥
भा जेहि ग्याँन हिए सो बूझै । जो धर ध्यान न मन तेहि रूझै ॥
पुतरी महँ जो बिंदि एक कारी । देखै जगत सो पट बिस्तारी ॥
हेरत दिस्टि उघरि तसि आई । निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई ॥
पेम समुँद सो अति अवगाहा । बूड़ै जगत न पावै थाहा ॥
जबहिं नींद चख आवै, उपजि उठै संसार ।
जागत अंत न जानै, बहुँ सो कौन भँडार ॥
सुन्न समुँद चख माँहि, जल जैसी लहरै उठहिं ।
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं, मुहमद खोज न पाइए ॥ १२ ॥

[१३]

छा—छाया जस बुंद अलोपू । ओठईं सौं आनि रहा करि गोपू ॥
सोइ चित्त सों मनुवाँ जागै । ओहि मिलि कौतुक खेलै लागै ॥
देखि पिंड कहँ बोली बोलै । अब मोंहि बिनु कस नैन न खोलै ॥
परम हंस तेहि ऊपर देई । सोऽहं सोऽहं साँसै लेई ॥
तन सराय मन जानहु दीया । आसु तेल दम बाती कीया ॥

दीपक महँ बिधि जोति समानी । आपुहि बरै बाति निरबानी ।।
निघटे तेल झूरि भइ बाती । गा दीपक बुझि अँधियरि राती ।।

गा सो प्रान परेवा, कै पींजर तन छूँछ ।
मुए पिंड कस फूलै, चेला गुरु सन पूँछ ।।
बिगरि गए सब नावँ, हाथ पाँव मुँह सीस धर ।
तोर नावँ केहि ठावँ, मुहमद सोइ बिचारिए ।। १३ ।।

[१४]

जा—जानहु अस तन महँ भेदू । जैसे रहै अंड महँ मेदू ।।
बिरिछ एक लागीं दुइ डारा । एकहिं ते नाना परकारा ।।
मातु के रकत पिता के बिंदू । उपने दुवौ तुरुक औ हिंदू ।।
रकत हुतें तन भए चौरंगा । बिंदु हुतें जिउ पाँचौ संगा ।।
जस ये चारिउ धरति बिलाहीं । तस वै पाँचौ सरगहि जाहीं ।।
फूलै पवन पानि सब गरई । अगिनि जारि तन माटी करई ।।
जस वै सरग के मारग माहाँ । तस ये धरति देखि चित चाहा ।।

जस तन तस यह धरती, जस मन तैस अकास ।
परमहंस तेहि मानस, जैसि फूल मँह बास ।।
तन दरपन कहँ साजि, दरसन देखा जौ चहै ।
मन सौं लीजिय माँजि, मुहमद निरमल होइ हिया ।। १४ ।।

[१५]

झा—झाँखर तन महँ मन भूलै । काँटन्ह माँझ फूल जनु फूलै ।।
देखेउ परमहंस परछाहीं । नयन जोति सो बिछुरति नाहीं ।।
जगमग जल महँ दीखै जैसे । नाहिं मिला, नहिं बेहरा तैसे ।।
जस दरपन महँ दरसन देखा । हिय निरमल तेहि महँ जग देखा ।।
तेहि संग लागीं पाँचौ छाया । काम, कोह, तिस्ना, मद, माया ।।
चख महँ नियर निहारत दूरी । सब घट माँह रहा भरिपूरी ।।
पवन न उड़ै न भीजै पानी । अगिनि जरै जस निरमल बानी ।।

दूध माँझ जस घीउ है, समुँद माहँ जस मोति ।
नैन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति ।।
एकहि ते दुइ होइ, दुइ सौं राज न चलि सकै ।
बीचु तें आपुहि खोइ, मुहमद एकै होइ रहु ।। १५ ।।

[१६]

ना—नगरी काया विधि कीन्हा। जेइ खोजा पावा तेइ चीन्हा॥
तन महँ जोग भोग औ रोगू। सूझि परै संसार सँजोगू॥
रामपुरी औ‍र कीन्ह कुकरमा। मौन लाइ साधै अस्तर माँ॥
पै सुठि अगम पंथ बड़ बाँका। तस मारग जस सुई क नाका।
बाँक चढ़ाव सात खँड ऊँचा। चारि बसेरे जाइ पहूँचा॥
जस सुमेरु पर अमृत मूरी। देखत नियर चढ़त बड़ि दूरी॥
नाँधि हिवंचल जो तहँ जाई। अमृत मूरि पाइ सो खाई॥
एहि बाट पर नारद, बैठ कटक कै साज।
जो ओहि पेलि पईठै, करै दुवौ जग राज॥
हौं कहतै भए ओट, पियै खँड मो सौं किएउ॥
भए बहु फाटक कोट, मुहमद अब कैसे मिलहिं॥ १६॥

[१७]

टा—टुक झाँकहु सातौ खंडा। खंडे खंड लखहु बरम्हंडा॥
पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ। लखि न अँटकु पौरी महँ ठाऊँ॥
दूसर खंड ब्रिहस्पति तहवाँ। काम दुवार भोग घर जहँवाँ॥
तीसर खंड जो मंगल जानहु। नाभि कमल महँ ओहि अस्थानहु॥
चौथ खंड जो आदित अहई। बाईं दिसि अस्तन महँ रहई॥
पाँचवें खंड सुक्र उपराहीं। कंठ माहँ औ जीभ तराहीं॥
छठएँ खंड बुद्ध कर बासा। दुइ भौंहन्ह के बीच निवासा॥
सातवें सोम कपार महँ, कहा सो दसवँ दुवार।
जो वह पँवरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार॥
जौं न होत अवतार, कहाँ कुटुम परिवार सब॥
झूँठ सबै संसार, मुहमद चित्त न लाइए॥ १७॥

[१८]

ठा—ठाकुर बड़ आप गुसाईं। जेइ सिरजा जग अपनिहि नाईं॥
आपुहि आपु जौ देखै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहिं दरपन आपुहि देखा॥
आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहि भँवर बास रस भूले॥
आपुहि फल आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस चाखनहारा॥
आपुहि घट घट मँहें मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै॥

आपुहि कागद आपु मसि, आपुहि लेखनहार ।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पँडित अपार ।।
केहु नहिं लागिहि साथ, जब गौनब कैलास महँ ।
चलब झारि दोउ हाथ, मुहमद यह जग छोड़ि कै ।।१८।।

[१९]

डा—डरपहु मन सरगहि खोई । जेहि पाछे पछिताव न होई ।।
गरब करै जो हौं हौं करई । बैरी सोइ गोसाइँ क अहई ।।
जो जानै निहचय है मरना । तेहि कहँ मोर तोर का करना ।।
नैन बैन सरवन बिधि दीन्हा । हाथ पाँव सब सेवक कीन्हा ।।
जेहि के राज भोग सुख करई । लेई सवाद जगत जस चहई ।।
सो सब पूँछिहि मैं जो दीन्हा । तैं ओहि कर कस अवगुन कीन्हा ।।
कौन उतर का करब बहाना । बौवै बबुर लवै कित धाना ।।
कै किछु लेई न सकत तब, निर्तिहिं अवधि नियराइ ।
सो दिन आइ जो पहुँचै, पुनि किछु कीन्ह न जाई ।।
जेइ न चिन्हारी कीन्ह, यह जिउ जौ लहि पिंड महँ ।
पुनि किछु परै न चीन्ह, मुहमद यह जग धुंध होइ ।।१९।।

[२०]

ढा—ढारै जो रकत पसेऊ । सो जानै एहि बात क भेऊ ।।
जेहि कर ठाकुर पहरै जागै । सो सेवक कस सोवै लागै ।।
जो सेवक सोवै चित देई । तेहि ठाकुर नहिं मया करेई ।।
जेइ अवतरि उन्ह कहँ नहिं चीन्हा । तेई यह जनम अँबिरथा कीन्हा ।।
मूँदे नैन जगत महँ अवना । अंधधुंध तैसै पै गवना ।।
लइ किछु स्वाद जागि नहिं पावा । भरा मास तेइ सोइ गँवावा ।।
रहै नींद दुख भरम लपेटा । आइ फिरै तिन्ह कतहुँ न भेंटा ।।
धावत बीते रैनि दिन, परम सनेही साथ ।
तेहि पर भएउ बिहान जब, रोइ रोइ मींजै हाथ ।।
लछिमी सत कै चेरि, लाल करै बहु मुख चहै ।
दीठि न देखै फेरि, मुहमद राता प्रेम जो ।। २० ।।

[२१]

ना—निसता जो आपु न भएऊ । सो एहि रसहि मारि बिख किएऊ ।।
यह संसार झूठ थिर नाहीं । उठहिं मेघ जेउं जाइ बिलाहीं ।।

जो एहि रस के बाएँ भएऊ। तेहि कहँ रस बिख भर होइ गएऊ ।।
तेइ सब तजा अरथ बेवहारू। औ घर बार कुटुम परिवारू ।।
खीर खाँड तेहि मीठ न लागै। उहैं बार होइ भिच्छा माँगै ।।
जस जस नियर होइ वह देखै। तस तस जगत हिया महँ लेखै ।।
पुहुमी देखि न लावै दीठी। हेरै नवै न आपनि पीठी ।।
छोड़ि देहु सब धंधा, काढ़ि जगत सौं हाथ।
घर माया कर छोड़ि कै, धरु काया कर साथ ।।
साँई के भँडारु बहु, मानिक मुकता भरे।
मन चोरहि पैसारु, मुहमद तौ किछु पाइए ।।२१।।

[२२]

ता—तप साधहु एक पथ लागे। करहु सेव दिन रात सभागे ।।
ओहि मन लावहु रहै न ऊठा। छोड़हु झगरा यह जग झूठा ।।
जब हँकार ठाकुर कर आइहि। एक घरि जिउ रहै न पाइहि ।।
ऋतु बसंत सब खेल धमारी। दगला अस तन चढ़ब अटारी ।।
सोइ सोहागिनि जाहि सोहागू। कंत मिलै जो खेलै फागू।
कै सिंगार सिर सेंदुर मेलै। सबहि आइ मिलि चाँचरि खेलै ।।
औ जो रहै गरब कै गोरी। चढ़ै सुहाग जरै जस होरी ।।
खेलि लेहु जस खेलना, ऊख आगि देइ लाइ।
झूमरि खेलहु झूमि कै, पूजि मनोरा गाइ ।।
कहाँ ते उपने आइ, सुधि बुधि हिरदय उपजिए।
पुनि कहँ जाहि समाइ, मुहमद सो खंड खोजिए।। २२।।

[२३]

था—थापहु बहु ग्याँन बिचारू। जेहि महँ सब समाइ संसारू ।।
जैसी अहै पिरथिमी सगरी। तैसिहि जानहु काया नगरी ।।
तन महँ पीर औ बेदन पूरी। तन महँ बैद औ ओखद मूरी ।।
तन महँ बिख औ अमृत बसई। जानै सो जो कसौटी कसई ।।
का भा पढ़े गुने औ लिखे। करनी साथ किए औ सिखे ।।
आपुहि खोइ ओहि जो पावा। सो बीरो मनु लाइ जमावा ।।
जो ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृत फल खाई ।।
आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ ।।

कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया ।
तहँ नहिं हँसी न रोज, मुहमद ऐसै ठाँव वह ॥ २३ ॥

[२४]

दा—दाया जाकहँ गुरु करई । सो सिख पंथ समुझि पग धरई ॥
सात खंड औ चारि निसेनी । अगम चढ़ाव पंथ तिरबेनी ॥
तौ वह चढ़ै जौ गुरू चढ़ावै । पाँव न डगै, अधिक बल पावै ॥
जो बरु सकति भगति भा चेला । होइ खेलार खेल बहु खेला ॥
जो अपने बल चढ़ि कै नाँघा । सो खसि परा, टूटि गइ जाँघा ॥
नारद दौरि संग तेहि मिला । लेइ तेहि साथ कुमारग चला ॥
तेलो बैल जो निसि दिन फिरई । एका परग न सो अनुसरई ॥
सोइ सोधु लागा रहै, जेहि चलि आगे जाइ ।
नतु फिरि पीछे आवई, मारग चलि न सिराइ ॥
सुनि हस्ती कर नावँ, अधरन्ह टोवा धाइ कै ।
जेइ टोवा जेहि ठावँ, मुहमद सो तैसै कहा ॥ २४ ॥

[२५]

धा— तेहि मारग लागे । जेहि निस्तार होइ सब आगे ॥
बिधिना के मारग हैं तेते । सरग नखत तन रोवाँ जेते ॥
जेइ हेरा तेइ तहँवैं पावा । भा संतोख समुझि मन गावा ॥
तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई । जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई ॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा । है निरमल कैलास बसेरा ॥
लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा । भा परवान दुवौ जग बाँचा ॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै । छूटै पाप पुन्नि सुनि लागै ॥
वह मारग जो पावै, सो पहुँचै भव पार ।
जो भूला होइ अनतहि, तेहि लूटा बटवार ॥
साईं केरा बार, जो चिर देखै औ सुनै ।
नइ नइ करै जोहार, मुहमद निति उठि पाँच बेर ॥ २५ ॥

[२६]

ना—नमाज है दीन क थूनी । पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी ॥
कही सरीयत चिसती पीरू । उधरित असरफ औ जहँगीरू ॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई । देखि समुंद जल जिउ न डेराई ॥

जेहि के अंसन सेवक भला । जाइ उतरि निरभय सो चला ॥
राह हकीकत परै न चूकी । पैठि मारफत मार बुड़की ॥
ढूँढि उठै लेइ मानिक मोती । जाइ समाइ जोति महँ जोती ॥
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा । कर गहि तीर खेइ लेइ आवा ॥

साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ ॥

जेइ पावा गुरु मीठ, सो सुख मारग महँ चलै ।
सुख अनंद भा डीठ, मुहमद साथी पोढ़ जेहि ॥ २६ ॥

[२७]

पा—पाएउँ गुरु मोहदी मीठा । मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥
नावँ पियार सेख बुरहानू । नगर कालपी हुत गुरु थानू ॥
औ तिन्ह दरस गोसाईं पावा । अलहदाद गुरु पंथ लखावा ॥
अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला । सैयद मुहमद के वै चेला ॥
सैयद मुहमद दीनहि साँचा । दानियाल सिख दीन्ह सबाचा ॥
जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे । हजरत नबी रसूल नेवाजे ॥
दानियाल तईं परगट कीन्हा । हजरत ख्वाज खिजिर पथ दीन्हा ॥

खड़ग दीन्ह उन्ह जाइ कहँ, देखि डरै इबलीस ।
नावँ सुनत सो भागै, धुनै ओट होइ सीस ॥

देखि समुँद महँ सीप, बिनु बूड़े पावै नहीं ।
होइ पतंग जलदीप, मुहमद तेहि धँसि लीजिए ॥

[२८]

फा—फल मीठ जो गुरु हुँत पावैं । सो बोरौ मन लाइ जमावैं ॥
जो पखारि तन आपन राखै । निसि दिन जागै सो फल चाखै ॥
चित भूलै जस भूलै ऊखा । तजि के दोउ नींद औ भूखा ॥
चिंता रहै ऊख पहँ सारू । भूमि कुल्हाड़ी करै प्रहारू ॥
तन कोल्हू मग कातर फेरै । पाँचौ भूत आतमपि पेरै ॥
जैसे भाठी तप दिन राती । जग धंधा जारै जस बाती ॥
आपुहि पेरि उड़ावै खोई । तब रस औटि पाकि गुड़ होई ॥

अस कै रस औटावहु, जामत गुड़ होइ जाइ ।
गुड़ तें खाँड मीठि भइ, सब परकार मिठाइ ॥

धूप रहै जग छाइ, चहूँ खँड संसार महँ ॥
पुनि कहँ जाइ समाई, मुहमद सो खँड खोजिए ॥ २८ ॥

[२९]

बा—बिनु जिउ तन अस अँधियारा । जौ नहिं होत नयन उजियारा ॥
मसि क बुंद जो नैनन्ह माहीं । सोई प्रेम अंस परिछाहीं ॥
ओहि जोती सौं परखै हीरा । ओहि सौं निरमल सकल सरीरा ॥
उहै जोति नैनन्ह महँ आवै । चमकि उठै जस बीजु दिखावै ॥
मग ओही सगरे जाहिं बिचारू । साँकर मुँह तेहि बड़ बिस्तारू ॥
जहँवाँ किछु नहिं है सत करा । जहाँ छूँछ तहँ वह रस भरा ॥
निरमल जोति बरनि नहिं जाई । निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई ॥
माटी तें जल निरमल, जल तें निरमल बाउ ।
बाउहि तें सुठि निरमल, सुनु यह जाकर भाउ ॥
इहै जगत कै पुन्न, यह जप तप सत साधना ॥
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्ध भा ॥ २९ ॥

[३०]

भा—भल सोइ जो सुन्नहि जानै । सुन्नहि ते सब जग पहिचानै ॥
सुन्नहिं तें है सुन्न उपाती । सुन्नहिं ते उपजै बहु भाँती ॥
सुन्नहिं माँझ इन्द्र बरम्हंडा । सुन्नहि ते टीके नवखंडा ॥
सुन्नहिं ते उपजे सब कोई । पुनि बिलाइ सब सुन्नहि होई ॥
सुन्नहि सात सरग उपराहीं । सुन्नहि सातौ धरति तराहीं ॥
सुन्नहि ठाट लाग सब एका । जीवहि लाग पिंड सगरे का ॥
सुन्नम सुन्नम सब उतिराई । सुन्नहि महँ सब रहै समाई ॥
सुन्नहि महँ मन रूख, जस काया महँ जीउ ।
काठी माँझ आगि जस, दूध माहँ जस घीउ ॥
जावँन एकहि बूँद, जामै देखहु छीर सब ।
मुहमद मोति समुंद, काढ़हु मथन अरंभ कै ॥३०॥

[३१]

मा—मन मथन करै तन खीरू । दुहै सोइ जो आपु अहीरू ।
पाँचौ भूत आतमहि मारै । दरब गरब करसी कै जारै ।
मन माठा सम अस के धोवै । तन खैला तेहि माहँ बिलोवै ॥

जपहु बुद्धि के दुइ सन फेरहु। दही चूर अस हिया अभेरहु ॥
पछवाँ कढ़ुई कंसन फेरहु। ओहि जोति महँ जोति अभेरहु ॥
जस अंतरपट साढ़ी फूटै। निरमल होइ मया सब छूटै ॥
माखन मूल उठैं लेइ जोती। समुँद माँह जस उलथै मोती ॥

जस घिउ होइ जराइ कै, तस जिउ निरमल होइ।
महै यहेरा दूर करि, भोग करै सुख सोइ ॥
हिया कँवल जस फूल, जिउ तेहि महँ जसबा सना।
तन तजि मन महँ भूल, मुहमद तब पहिचानिए ॥ ३१ ॥

[३२]

जा—जानहु जिउ बसै सो तहँवाँ। रहै कँवल हिय संपुट जहँवाँ ॥
दीपक जैसे बरत हिय आरे। सब घर उजियर तेहि उजियारे ॥
तेहि कहँ अंस समानेउ आई। सुन्न सहज मिलि आवै जाई ॥
जहाँ उठै धुनि आउंकारा। अनहद सबद होइ झनकारा ॥
तेहि महँ जोति अनूपम भाँती। दीपक एक बरै दुइ बाती ॥
एक जो परगट होइ उजियारा। दूसर गुपुत सो दसवँ दुवारा ॥
मन जस टेम प्रेम जस दीया। आसु तेल दम बाती कीया ॥

तहँवा जिउ जस भँवरा, फिरा करै चहुँ पास ॥
मींचु पवन जब पहुँचै, लेइ फिरै सो बास ॥
सुनहु बचन यह मोर, दीपक जस आरे बरै।
सब घर होइ अंजोर, मुहमद तस जिउ हीय महँ ॥ ३२ ॥

[३३]

रा—रातहु अब तेहि के रँगा। बेगि लागु प्रीतम के संगा ॥
अरध उरध अस है दुइ हीया। परगट गुपुत बरै जस दीया ॥
परगट मया मोह जस लावै। गुपुत सुदरसन आप लखावै ॥
अस दरगाह जाइ नहिं पैठा। नारद पँवरि कटक लेइ बैठा ॥
ताकहँ मँत्र एक है साँचा। जो वह पढ़ै जाइ सो बाँचा ॥
पंडित पढ़ै सो लेइ लेइ जाऊँ। नारद छाँड़ि देइ सो ठाऊँ ॥
जेकरे हाथ होइ वह कूँजी। खोलि केवार लेइ सो पूँजी ॥

उघरै नैन हिया कर, आछे दरसन रात।
देखै भुवन सो चौदहौ, औ जानै सब बात ॥

कँत पियारे भेंट, देखै तूलम तूल होइ।
भए बयस दुइ हेंठ, मुहमद निति सरबर करैं ॥ ३३ ॥

[३४]

ला—लखई सोई लखि आवा। जो एहि मारग आपु गँवावा ॥
पीउ सुनत धुनि आपु बिसारै। चित्त लखै तन खोइ अडारै ॥
हौं हौं करब अडारहु खोई। परगट गुपुत रहा भरि सोई ॥
बाहर भीतर सोइ समाना। कौतुक सपना सो निजु जाना ॥
सोइ देखै औ सोई गुनई। सोई सब मधुरी धुनि सुनई ॥
सोई करै कीन्ह जो चहई। सोइ जानि बूझि चुप रहई ॥
सोई घट घट होइ रस लेई। सोई पूँछै सोइ ऊतर देई ॥

सोई साजै अंतर पट, खेलै आपु अकेल।
वह भूला जग सेती, जग भूला ओहि खेल ॥
जौ लगि सुनै न मींचु, तौ लगि मारै जियत जिउ।
कोई हुतेउ न बोचु, मुहमद एकै होइ रहै ॥ ३४ ॥

[३५]

वा—वह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी ॥
छंदहि छंद भएउ सो बंदा। छन एक महँ हँसी रोवंदा ॥
बारे खेल तरुन वह सोवा। लउटी बूढ़ लेइ पुनि रोवा ॥
सो सब रंग गोसाईं केरा। भा निरमल कैलास बसेरा ॥
सो परगट महँ आइ भुलावै। गुपुत में आपन दरस देखावै ॥
तुम अनु गुपुत मते तस सेऊ। ऐसन सेउ न जापै केऊ ॥
आप मरे बिनु सरग न छुवा। आँधर कहहिं चाँद कहँ उवा ॥

पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतराइ।
एकहि आवत देखिए, एक है जात बिलाइ।
दीन्ह रतन बिधि चारि, नैन बैन सरवन्न मुख।
पुनि जब मेटहि मारि, मुहमद तब पछिताब मैं ॥ ३५ ॥

[३६]

सा—साँसा जौ लहि दिन चारी। ठाकुर से करि लेहु चिन्हारी ॥
अंध न रहहु होहु डिठियारा। चीन्हि लेहु जो तोहि सँवारा ॥

पहिले सो जो ठाकुर कीजिय। ऐसे जियन मरन नरि छीजिय॥
छाँड़हु घिउ औ मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
दूध माँसु घिउ करु न अहारू। रोटी सानि करहु फरहाऊ॥
ऐहि बिधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिस्ना मद माया॥
तब बैठहु बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी॥

प्रेत तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारधि जैस अहेर कहँ, लाग रहै सर साँधि॥

अपने कौतुक लागि, उपजाएन्हि बहु भाँति कै।
चीन्हि लेहु सो जागि, मुहमद सोइ न खोइए॥ ३६॥

[३७]

खा—खेलहु खेलहु ओहि भेंटा। पुनि का खेलहु खेल समेटा॥
कठिन खेल औ मारग सँकरा। बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा॥
मरन खेल, देखा सो हँसा। होइ पतंग दीपक महँ धँसा॥
तन पतंग कै भिरिंग कै नाईं। सिद्ध होइ सो जुग जुग ताईं॥
बिनु जिउ दिए न पावै कोई। जो मरजिया अमर भा सोई॥
नीम जो जामै चंदन पासा। चंदन बेधि होइ तेहि बासा॥
पावँन्ह जाइ बली सन टेका। जौ लहि जिउ तन तो लहि भेका॥

अस जानै है सब महँ, औ सब भावहि सोइ।
हौं कोहाँर कर माटी, जो चाहै सो होइ॥
सिद्ध पदारथ तीनि, बुद्धि पाँव औ सिर कया।
पुनि लेइहि सब छीनि, मुहमद तब पछिताव मैं॥ ३७॥

[३८]

सा—साहस जाकर जग पूरी। सो पावा वह अमृत पूरी॥
कहौ मंत्र जो आपनि पूँजी। खोलु केवांरा ताला कूँजी॥
साठि बरिस जो लपई झपई। छन एक गुपुत जाप जो जपई॥
जानहु दुवौ बराबर सेवा। ऐसन चलै मुहमदी खेवा॥
करनी करै जो पूजै आसा। सँवरै नावँ जो लेइ लेइ साँसा॥
काठी घँसत उठै जस आगी। दरसन देखि उठै तस जागी॥
जस सरवर महँ पंकज देखा। हिय के आँखि दरस सब लेखा॥

जासु कया दरपन कै, देखु आप मुँह आप।
आपुइ आपु जाइ मिलु, जहँ नहिं पुन्नि न पाप ॥
मनुवाँ चंचल ढाँप, बरजे अहथिर ना रहै।
पाल पेटारे साँप, मुहमद तेहि बिधि राखिए ॥ ३८ ॥

[३९]

हा—हिय ऐसन बरजे रहई। बूड़ि न जाइ बूड़ अति अहई ॥
सोइ हिरदय कै सीढ़ी चढ़ई। जिमि लोहार घन दरपन गढ़ई ॥
चिनगि जोति करसी तें भागै। परम तंतु परचावै लागै ॥
पाँच भूत लोहा गति लावै। दुहूँ साँस भाठी सुलगावै ॥
कया ताइ केकरि दर (?) करई। प्रेम के सँड़सी पोढ़ कै धरई ॥
हनि हथेव हिय दरपन साजै। छोलनी जाप लिहे तन माँजै ॥
तिल तिल दिस्टि जोति सहुँ ठानै। साँस चढ़ाइ कै ऊपर आनै ॥

तौ निरमल मुख देखै, जोग होइ तेहि ऊप।
होइ डिठियार सो देखै, अंधन के अंधकूप ॥
जेकर पास अनफाँस, कहु हिय फिकिर सँभारि कै।
कहत रहै हर साँस, मुहमद निरमल होइ तब ॥ ३९ ॥

[४०]

खा—खेलन औ खेल पसारा। कठिन खेल औ खेलन हारा ॥
आपुहि आपुहि चाह देखावा। आदम रूप भेस धरि आवा ॥
अलिफ एक अल्ला बड़ सोई। दाल दीन दुनिया सब कोई ॥
मीम मुहम्मद प्रीति पियारा। तिनि आखर यह अरथ बिचारा ॥
मुख बिधि अपने हाथ उरेहा। दुइ जग साजि संवारा देहा ॥
कै दरपन अस रचा बिसेखा। आपन दरस आप महँ देखा ॥
जो यह खोज आप महँ कीन्हा। तेइ आपुहि खोजा सब चीन्हा ॥

भागि किया दुइ मारग, पाप पुन्नि दुइ ठाँव।
दहिने सो सुठि दाहिने, बायें सो सुठि बाँव ॥
भा अपूर सब ठाँव, गुड़िला मोम सँवारि कै।
राखा आदम नाँव, मुहमद सब आदम कहै ॥ ४० ॥

[४१]

औ उन्ह नावँ सीखि जौ पावा। अलख नावँ लेइ सिद्ध कहावा ॥
अनहद ते भा आदम दूजा। आप नगर करवावै पूजा ॥

घट घट महँ होइ निति सब ठाऊँ। लाग पुकारै आपन नाऊँ॥
अनहद सुन्न रहै सँग लागे। कबहुँ न बिसरे, सोए जागे॥
लिखि पुरान महँ कहा बिसेखी। मोहिं नहिं देखहु, मैं तुम्ह देखी॥
तू तस साइँ न मोहिं बिसारसि। तू सेवा जीतै नहिं हारसि॥
अस निरमल जस दरपन आगे। निसि दिन तोरि दिस्टि मोहि लागे॥

पुहुप बास जस हिरदय, रहा नैन भरपूरि।
नियरे से सुठि नीयरे, ओहट से सुठि दूरि।
दुवौ दिस्टि टक लाइ, दरपन जौ देखा चहै।
दरपन जाइ देखाइ, मुहमद तौ मुख देखिये॥ ४१॥

[४२]

छा-छाँड़हु कलंक जेहि नाहीं। केहुन बराबरि तेहि परछाहीं॥
सूरुज तपै परै अति घामू। लागे गहन गसत होइ सामू॥
ससि कलंक का पटतर दीन्हा। घटै बढ़ै औ गहनै लीन्हा॥
आगि बुझाइ जौ पानी परई। पानि सूख माटी सब सरई॥
सब जाइहि जो जग महँ होई। सदा सरबदा अहथिर सोई॥
निहकलंक निरमल सब अंगा। अस नाहीं केहु रूप न रंगा॥
जो जानै सो भेद न कहई। मन महँ जानि बूझि चुप रहई॥

मति ठाकुर कै सुनि कै, कहै जो हिय मझियार।
बहुरि न मत तासौं करै, ठाकुर दूजी बार।
गगरी सहस पचास, जौ कोउ पानी भरि धरै।
सुरुज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए॥ ४२॥

[४३]

ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहैं सौं मैं हारा॥
प्रेम तन्तु नित ताना तनई। जह तप साधि सँकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेहि सँभारी॥
पाँच भूत माँड़ी गनि मलई। ओहि सौं मोर न एकौ चलई॥
बिधि कहँ सँवरि साज सो साजै। लेइ लेइ नावँ कूँच सौं माँजै॥
मन मुर्री देइ सब अंग मारै। तन सों बिनै दोउ कर जारै॥
सूत सूत सो कया मँजाई। सीझा काम विनत सिधि पाई॥
राउर आगे का कहै, जो सँवरै मन लाइ।
तेहि राजा निति सँवरै, पूछै धरम बोलाइ॥

तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं ॥
परें खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं ॥४३॥

[४४]

मन सौं देइ कढ़नी दुइ गाढ़ी । गाढ़े छीर रहै होइ साढ़ी ॥
ना ओहि लेखे राति न दिना । करगह बैठि साट सो बिना ॥
खरिका लाइ करै तन घीसू । नियर न होइ डर इबलीसू ॥
भरै साँस जब नावै नरी । निसरै छूँछी पैठे भरी ॥
लाइ लाइ कै नरी चढ़ाई । इलालिलाह कै ढारि चलाई ॥
चित डोलै नहिं खूटी ढरई । पल पल पेखि आग अनुसरई ॥
सीधे मारग पहुँचै जाई । जा एहि भाँति कर सिधि पाई ॥

चलै साँस तेहि मारग, जेहि से तारन होइ ।
धरै पाँव तेहि सीढ़ी, तुरतै पहुँचै सोइ ॥
दरपन बालक हाथ, मुख देखे दूसर गए ।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए ॥४४॥

[४५]

कहा मुहमद प्रेम कहानी । सुनि सो ग्यानी भए धियानी ॥
चेलै समुझि गुरू सौं पूछा । देखहु निरखि भरा औ छूँछा ॥
दुहूँ रूप है एक अकेला । औ अनबन परकार सौं खेला ॥
औ भा चहै दुवौ मिलि एका । को सिख देइ काहि को टेका ॥
कैसे आपु बीच सो मेटै । कैसे आप हेराइ सो भेंटै ॥
जौ लहि आपु न जीयत मरई । हँसै दूरि सौं बात न करई ॥
तेहि कर रूप बदन सब देखै । उहै घरी महँ भाँति बिसेखै ॥

सो तौ आपु हेरान, है तन मन जीवन खोइ ।
चेला पूछै गुरू कहँ, तेहि कस अगरे होइ ॥
मन अहथिर कै टेकु, दूसर कहना छाँड़ि दे ।
आदि अंत जो एक, मुहमद कहु दूसर कहाँ ॥ ४५ ॥

[४६]

सुनु चेला उत्तर गुरु कहई । एक होइ सो लाखन लहई ॥
अहथिर कै जो पिंडा छाँड़ै । औ लेइ कै धरती महँ गाड़ै ॥
काह कहौं जस तू परिछाहीं । जौ पै किछु आपन बस नाहीं ॥

जो बाहर सो अंत समाना । सो जानै जो ओहि पहचाना ।।
तू हेरै भीतर सौं मिता । सोइ करै जेहि लहै न चिता ।।
अस मन बूझि छाँड़ को तोरा । होहु समान करहु मति मोरा ।।
दुइ हुंत चलै न राज न रैयत । तब वेइ सीख जो होइ मग अँयत ।।

अस मन बूझहु अब तुम, करता है सो एक ।
सोइ सूरत सोइ मूरत, सुनै गुरू सौं टेक ।।
नवरस गुरु पहँ भीज, गुरु परसाद सो पिउ मिलै ।
जामि उठै सो बीज, मुदमद सोई सहस बुंद ।। ४६ ।।

[४७]

माया जरि अस आपुहि खोई । रहै न पाप मैलि गइ धोई ।।
गौ दूसर भा सुन्नहि सुन्नू । कहँ कर पाप कहाँ कर पुन्नू ।।
आपुहि गुरू आपु भा चेला । आपुहि सब औ आपु अकेला ।।
अहै सो जोगी अहै सो भोगी । अहै सो निरमल अहै सो रोगी ।।
अहै सो कडुआ अहै सो मीठा । अहै सो आमिल अहै सो सीठा ।।
वै आपुहि कहँ सब महँ मेला । रहै सो सब महँ खेलै खेला ।।
उहै दोउ मिलि एकै भएऊ । बात करत दूसर होइ गएऊ ।।

जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोइ ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ ।।
एक से दूसर नाहि, बाहर भीतर बूझि ले ।
खाँड़ा दुइ न समाहि, मुहमद एक मियान महँ ।। ४७ ।।

[४८]

पूछौं गुरू बात एक तोहीं । हिया सोच एक उपजा मोहीं ।।
तोहि अस कतहुँ न मोहि अस कोई । जो किछु है सो ठहरा सोई ।।
तस देखा मैं यह संसारा । जस सब भाँड़ा गढ़ै कोहाँरा ।।
काहू माँझ खाँड़ भरि धरई । काहू माँझ जो गोबर भरई ।।
वह सब किछु कैसे कै कहई । आपु विचारि बूझि चुप रहई ।।
मानुस तौ नीके सँग लागै । देखि घिनाइ त उठि कै भागै ।।
सीझ चाम सब काहू भावा । देखि सरा सो नियर न आवा ।।

पुनि साईं सब जग रमै, औ निरमल सब चाहि ।
जेहि न मैलि किछु लागै, लावा जाइ न लाहि ।।

जोगि उदासी दास, तिन्हहिं न दुख औ सुख हिया।
घर ही माहँ उदास, मुहमद सोइ सराहिए ॥ ४८ ॥

[४९]

सुनु चेला जस सब संसारू। ओही भाँति तुम किया बिचारू ॥
जौ जिउ कया तौ दुख सौं भीजा। पाप के ओट पुन्नि सब छीजा ॥
जस सूरुज उग्र देख अकासू। सब जग पुन्नि उहै परगासू ॥
भल औ मंद जहाँ लगि होई। सब पर धूप रहै पुनि सोई ॥
मंदे पर वह दिस्टि जो परई। ताकर मैलि नैन सौं ढरई।
अस वह निरमल धरति अकासा। जैसे मिली फूल महँ बासा ॥
सबै ठाँव औ सब परकारा। ना वह मिला न रहै निनारा ॥

ओहि जोति परछाहीं, नवौ खंड उजियार।
सुरुज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार ॥
जेहि कै जोति सरूप, चाँद सुरुज तारा भए।
तेहि कर रूप अनूप, मुहमद बरनि न जाइ किछु ॥४९॥

[५०]

चेलैं समुझि गुरु सौं पूछा। धरती सरग बीच सब छूछा ॥
कीन्ह न थूनी भीति न पाखा। केहि बिधि टेकि गगन यह राखा ॥
कहाँ से आइ मेघ बरिसावै। सेत साम सब होइ कै धावै ॥
पानी भरै समुँद्रहि जाई। जहाँ से उतरै बरसि बिलाई ॥
पानी माँझ उठै बजरागी। कहाँ से लौकि बीजु भुइँ लागी ॥
कहवाँ सूर चंद औ तारा। लागि अकास करहिं उजियारा ॥
सूरुज उवै बिहानहि आई। पुनि सो अथै कहाँ कहँ जाई ॥

काहे चंद घटत, है काहे सूरुज पूर।
काहे होइ अमावस, काहे लागै मूर ॥
जस किछु माया मोह, तैसे मेघा, पवन, जल।
बिजुरी जैसे कोह, मुहमद तहाँ समाइ यह ॥ ५० ॥

[५१]

सुनु चेला ! एहि जग कर अवना। सब बादर भीतर है पवना ॥
सुन्न सहित बिधि पवनहि भरा। तहाँ आप होइ निरमल करा ॥
पवनहि महँ जो आप समाना। सब भा बरन ज्यों आप समाना ॥

जैस डोलाए बेना डोलै। पवन सबद होइ किछुहु न बोलै ।।
पवनहि मिला मेघ जल भरई। पवनहि मिला बूँद भुँइ परई ।।
पवनहि माहँ जो बुल्ला होई। पवनहि फुटै, जाइ मिलि सोई ।।
पवनहि पवन अंत होइ जाई। पवनहि तन कहँ छार मिलाई ।।
जिया जंतु जत सिरजा, सब महँ पवन सो पूरि।
पवनहि पवन जाइ मिलि, आगि, बाउ, जल धूरि ।।
निति सो आयसु होइ, साईं जो आज्ञा करै।
पवन-परेवा सोइ, मुहमद बिधि राखे रहै ।। ५१ ।।

[५२]

बड़ करतार जिवन कर राजा। पवन बिना किछु करत न छाजा ।।
तेहि पवन सौं बिजुरी साजा। ओहि मेघ परवत उपराजा ।।
उहै मेघ सौं निकरि देखावै। उहै माँझ पुनि जाइ छपावै ।।
उहै चलावै चहुँ दिसि सोई। जस जस पावँ धरै जो कोई ।।
जहाँ चलवै तहवाँ चलई। जस जस नावै तस तस नवई ।।
बहुरि न आवै छिटकत झाँपै। तेहि मेघ सँग खन खन काँपै ।।
जस पिउ सेवा चूके रूठै। परै गाज पुहुमी तपि फूटै ।।
अगिनि, पानि ओ माटी, पवन फूल कर मूल।
उहई सिरजन कीन्हा, मारि कीन्ह अस्थूल ।।
देखु गुरू, मन चीन्ह, कहाँ जाइ खोजत रहै।
जानि परै परबीन, मुहमद तेहि सुधि पाइए ।। ५२ ।।

[५३]

चेला चरचत गुरु-गुन गावा। खोजत पूछि परम गति पावा ।।
गुरु विचारि चेला जेहि चीन्हा। उत्तर कहत भरम लेइ लीन्हा ।।
जगमग देख उहै उजियारा। तीनि लोक लहि किरिन पसारा ।।
ओहि ना बरन, न जाति अजाती। चंद न सुरुज, दिवस ना राती ।।
कथा न अहै, अकथ भा रहई। बिना बिचार समुझि का परई ? ।।
सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। जा बूझै सो धीरज धरई ।।
कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्धि गियानी ।।
माटी कर तन भाँडा, माँटी महँ नव खंड।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड ।।
गलि सोइ माटी होइ, लिखने हारा बापुरा।
जौ न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना ।। ५३ ।।

आखिरी कलाम

[१]

पहिले नावँ दैउ कर लीन्हा। जेइ जिउ दीन्ह, बोल मुख कीन्हा ।।
दीन्हेसि सिरा सँवारे पागा। दीन्हेसि कया जो पहिरै बागा ।।
दीन्हेसि नयन जोति उजियारा। दीन्हेसि देखौ का संसारा ।।
दीन्हेसि स्रवन बात जेहि सुनै। दीन्हेसि बुधि गियान बहु गुनै ।।
दीन्हेसि नासिक लोजै बासा। दीन्हेसि सुमन सुगन्ध बिरासा ।।
दीन्हेसि जीभ बैन रस भाखै। दीन्हेसि भुगुति साध तेहि राखै ।।
दीन्हेसि दसन सुरंग कपोला। दीन्हेसि अधर जो रचैं तँबोला ।।

दीन्हेसि बदन सुरूप रँग. दीन्हेसि माथे भाग।
देखि दयाल मुहम्मद, सीस नाइ पथ लाग ।।१।।

[२]

दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि भुजाडंड बल बाहाँ ।।
दीन्हेसि हिया भोग जेहि जामा। दीन्हेसि पाँच भूत आतमा ।।
दीन्हेसि बदन हीत (सीत?) औ घामू। दीन्हेसि सुक्ख नींद बिसरामू ।।
दीन्हेसि हाथ चाह अस कीजै। दीन्हेसि कर परलौ (पल्लव?) गहि लीजै ।।
दीन्हेसि रहस कोड़ बहुतेरा। दीन्हेसि हरख हिया औ थारा ।।
दीन्हेसि बैठक आसन मारै। दीन्हेसि बूत जो उठै सँभारै ।।
दीन्हेसि सबै सँपूरन काया। दीन्हेसि दोइ चलने का पाया ।।

दीन्हेसि नौ नौ नाटका (फाटका?), दीन्हेसि दसवँ दुवार।
सो अस दानि मुहम्मद, तिनकै हौं बलिहार ।।२।।

[३]

मरम नैन कर अँधरैं बूझा। तेहि बिय (बिन?) रे संसार न सूझा ।।
मरम स्रवन कर बहिरै जाना। जो न सुनै किछु दीजै साना ।।
मरम जीभ कै गूँगे पावा। साधहि मरै पै निकर (न) नावाँ ।।
मरम बाँह कर लूलै चीन्हा। जेहि बिधि हाथन्ह पाँगुर कीन्हा ।।
मरम कया कै कुस्टी भेंटा। नित चिरकुट जो रहै लपेटा ।।

मरम बैठ उठ तेहि पै गुना। जो रे मिरिग कस्तूरी पहाँ॥
मरम पाँव कै तेहि पै दीठा। जो अपया भुइँ चलै बईठा॥
अति सुख दीन्ह बिधातै, औ सब सेवक ताहि।
आपन मरम मुहम्मद, अबहुं समुझ कि नाहिं॥३॥

[४]

मा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कवि बदी॥
आवत उधतचार बड़ ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र विधि भाई। फिरै अकास रहट कै नाईं॥
गिरि पहार मेदिनी तस हाला। जस चाला चलनी भल चाला॥
मिरित लोक जेहि रचा हिंडोला। सरग पाताल पवन घट (खट?) डोला॥
गिरि पहार परबत ढहि गए। सात समुंद्र कहच (कीच?) मिलि भए॥
धरती छात फाटि भहरानी। पुनि भइ मया जौ सिस्टि हठानी (दिठानी?)॥
जो अस खंभहि पाई के, सहसजीब (जीभ?) गहिराइँ।
सो अस कीन्ह मुहम्मद, तो अस बपुरे काइँ॥४॥

[५]

सूरुज सेवक वाके अहै। आठौं पहर फिरत जो रहै॥
आयसु लिहे राति दिन धावै। सरग पताल दुवौ फिरि आवै॥
दगधि आग महँ होइ अँगारा। तेहि के आँच धिकै संसारा॥
सो अस बपुरे गहनै लीन्हा। औ धरि बाँधि चँडाले दीन्हा॥
गा अलोप होइ भा अँधियारा। दीखै दिनहि सरग माँ तारा॥
उवतै झाँपि लीन्ह धुप चापै। लाग सरप (सरब?)जिउ थर थर काँपै॥
जिउ का परै कया (ग्याँन?) सब छूटै। तब भा मोख गहन जौ छूटै॥
ताको अता तरासै, जो सेवक अस मित।
अबहुँ न डरसि मुहम्मद, काह रहसि निहचित॥५॥

[६]

ताकरि अस्तुति किन्ह न जाई। कौनी जीभि मैं करौं बड़ाई॥
जग पताल जो सैतै कोई। लेखनी परखि समुंद्र मसि होई॥
लागै लिखै सिस्टि मिलि जाई। समुद घटै पै लिखि न सिराई॥
साँचा सोइ और सब झूठे। ठाँव न कतहूँ ओन के रूठे॥
आयसु हूँ इबलीस जौ टारै। नारद होइ नरक महँ पारै॥

सौ दुइ कटक कइउ लख घोरा। फरऊँ रौंदि नील महँ बोरा॥
जौ सदाद बैकुंठ सँवारा। पैठत पौरि बीच गहि मारा॥

जो ठाकुर अस दारुन, सेवक तहँ निरदोख।
माया करै मुहम्मद, तौ पै होइहि मोख॥ ६॥

[७]

रतन एक बिधनै अवतारा। नावँ मुहम्मद जग उजियारा॥
चारि मीत चहुँ दिसि गजमोती। माँझ दिपै मनि मानिक मोती॥
जेहि हित सिरिजा सात समुंदा। सातहु दीप भरे एक बुंदा॥
ता पर चौदह भुवन दसारे (?)। बिच बिच खंड बिखंड सँवारे॥
धरती औ गिरि मेरु पहारा। सरग चाँद सूरुज औ तारा॥
सहज अठारह दुनिया सेरी (?)। आवत जात जातरा फेरी॥
जे नहिं लीन्ह जनम माँ नाऊँ। तेहि कहँ कीन्ह नरक माँ ठाऊँ॥

सो अस दैव न राखा, जेहि कारन सब कीन्ह।
दहुँ तुम काह मुहम्मद, एहि प्रिथिमी चित दीन्ह॥ ७॥

[८]

बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उनका बिधि साजा॥
मुलुक सुलेमाँ का अस दीन्हा। अदल दून (दुनी?) उम्भर जस कीन्हा॥
अली केर जस कीन्हेसि खाँडा। लीन्हेसि जगत समुंद भा डाँडा॥
बल हमजा कर जैस सँभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहुँ बादि का बादी॥
बड़ परताप आप तप साधे। धरम के पंथ दई चित बाँधे॥
दरब जोरि सब काहूँ दिए। आपुन बिरह (?) आपु जस लिए॥

राजा होइ करै तब (तप), छाँड़ि जगत माँ राज।
सब अस कहै मुहम्मद, वैं कीन्हा किछु काज॥ ८॥

[९]

मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा॥
जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक बिधि धरा॥
औ निहंग दरिया जल माहाँ। बूड़त कहँ धरि काढ़त बाहाँ॥
समुंद माँझ जो बोहित फिरई। लेतै नावँ सहूँ होइ तरई॥
तिन घर हौं मुरीद सो पीरू। सँवरत बिन गुन लावैं तीरू॥

कर गहि धरम पंथ देखराएउ। गा भुलाइ तेहि मारग लाएउ॥
जो अस पुरुसै मन चित लाए। इच्छा पूजै आस तुलाए॥
जो चालिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ।
दरसन होइ मुहम्मद, पाप जाइ सब धोइ॥ ९॥

[१०]

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर के नावँ आदि उदयानू॥
तहाँ देवस दस पहुने आयउँ। भा बैराग, बहुत सुख पाएउँ॥
सुख भा सोच एक दुख मानौं। ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं॥
नैन रूप सों गएउ समाई। रहा पूरि भरि हिरदै छाई॥
जहँवै देखौं तहँवै सोई। और न आवै दिस्टि तर कोई॥
आपुन देखि देखि मन राखौं। दूसर नाहिं सो कासों भाखौं॥
सबै जगत दरपन कर लेखा। आपुन दरसन आपुहि देखा॥
अपने कौतुक कारन, मीर पसारिन हाट।
मलिक मुहम्मद भिनहीं, हाई निकसिन तेहि बाट॥ १०॥

[११]

धूत एक मारत घन गुना। कपट रूप नारद कर जना॥
नावँ असाधु साधु कहवावै। तहाँ लगि चलै जो गारी पावै॥
भाव गाँठि अस मुख कर भाँजा। कारिख तेल घालि मुख माँजा॥
परत [हि] दीठि छरत मोहि लेखे। दिनहि माँझ अँधियर मुख देखे॥
लीन्हें चंग रात दिन रहई। परपँच कीन्ह लोगन माँ चहई॥
भाइ बंधु माँ लाई लावै। बाप पूत माँ घटी करावै॥
मन मैलै कै ठग ठगै, ठगै न पाएउ काहु।
बरजेउ सबहिं मुहम्मद, अस जिनि तुम पतियाहु॥ ११॥

[१२]

अंग छड़ा औ सूरी भारा। जाइ कहौ अति चंग अधारा॥
जो काहू सौं आनि न छूटै। सुनहु मोर बिधि कैसे छूटै॥
उहै नावँ करता करै लेऊ। पढ़े पलीता धूवाँ देऊ॥
जो यह धुवां नासिक माँ लागै। भिनती करै औ उठि उठि भागै॥
धरि बाईं लट सीस झकोरै। करिया बरग जो हाथ मरोरै॥

तबहि सँकोच अधिक वै होवै। छाँड़ौ छाँड़ौ कहि कै रोवै ।।
धरि बाहीं लै धुवाँ उड़ावै। तासौं डरै जो अैस छुड़ावै ।।
है नरकी औ पापी, टेढ़ बदन औ आँखि।
चीन्हत उहैं मुहम्मद, झूठि भरी सब साखि ।। १२ ।।

[१३]

नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कविता आखर कहे ।।
देखौ जगत धुंध कलि माहाँ। उवत धूप धरि आवत छाँहाँ ।।
यह सँसार सपने कर लेखा। माँगत बदन नैन भरि देखा ।।
लाभ दिए बिनु भोग न पाउब। परें डाँड़ जहाँ [मूर?] गँवाउब ।।
राति कर सपन जागि पछिताना। ना जानौं कब होइ बिहाना ।।
अस मन जानि बेसाहौ सोई। मूर न घटै लाभ जेहि होइ ।।
ना जानौ बाढ़त दिन जाई। तिल तिल घटै आइ नियराई ।।
अस जिन जानिहु ओहट है, दिन आवत नियरात।
कहै सो बूझि मुहम्मद, फिर फिर कहौं असि बात ।। १३ ।।

[१४]

जबहिं अंत कर परलौ आई। धरमी लोग रहै ना पाई ।।
जबहीं सिद्ध साधु गा तपा। तबही चलैं चोर औ जपा ।।
जाई मया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आई बेरा ।।
उठि हैं पंडित बेद पुराना। दत्त सत्त दोउ करिहिं पयाना ।।
धूम बरन सूरुज होइ जाई। किस्न बरन सिस्टिहि दिखाई ।।
दो अद (?) पुरुब दिसि उइहै जहाँ। पुनि फिरि आइ अथइहै तहाँ ।।
चढ़ि गदहा निकसै दर जालू। हाथ खंड होइ आए कालू ।।
जो रे मिलै तेहि मारै, फिरि फिर आइ अकाज।
सबई मारि मुहम्मद, भूँजि अढ़तिया राज ।। १४ ।।

[१५]

पुनि धरती का आयसु होई। उगिलै दरब लोग सब लेई ।।
मोर मोर कै उटिहैं भारी। आपु आपु माँ करिहैं मारी ।।
अस न केउ जानै मन माहाँ। जो यह सचा अहै सो काहाँ ।।
सैंति सैंति लेइ लेइ घर भरहीं। रहस कोड़ अपने जिउ करहीं ।।
खनै उतंग खनै बर साँती। नितहि हुलंब उठै बहु भाँती ।।
पुनि एक अचरज सँचरै आई। नावँ मजारी भँवा बिलाई ।।
ओहि के सूंघे जियै न कोई। जो न मरै तेहि भक्खै सोई ।।

सब सुंसार सिराइ औ, तेहि में केरी (?) घात।
उनहूं कहँ मुहम्मद, बार न लागै जात ॥ १५ ॥

[१६]

पुनि मैंकाइल आएसु पाए। अनबन भाँति मेध बरसाए ॥
पहिले लागै परै अँगारा। धरती सरग होइ उजियारा ॥
लागी सबै पिरिथिमी जरैं। पाछे लागे पाथर परैं ॥
सौ सौ मन कै एक एक सिला। चलैं बिंद(पिंड?)घुटि आवै मिला ॥
बजर गोट तस छूटै भारी। टूटे रूख बिरिख सब झारी ॥
परत दमाग(धमाक?)धरति सब हालै। आदरत उठै सरग लै सालै ॥
अघाघार बरसै बहु भाँती। लाग रहै चालिस दिन राती ॥
जिया जंतु सब मरि घटे, जिय सिरिजा संसार।
कोउ न रहै मुहम्मद, होइ बीता संघार ॥ १६ ॥

[१७]

जिबरईल पाउब फरमानू। आइ सिस्टि देखब मैदानू ॥
जियत न रहा जगत केउ ठाढ़ा। मारा झोरि कचरी सब गाढ़ा ॥
मरि गंधाइँ सांस नहिं आवै। उठै बिगंध सड़ाइँध आवै ॥
जाइ दैउ से करहु बिनाती। कहब जाइ जस देखब भाँती ॥
देखहु जाइ सिस्टि बेवहारू। जगत उजाड़ सून सुंसारू ॥
अस्ट दिसा उजारि सब मारा। कोउ न रहा नावँ लेनिहारा ॥
मरि माजरि पिरथिमी पाटी। परै पिछानि न दीखै माटी ॥
सून पिरथिमी होवै, धरती वहुं सब लीप।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबै भाइ जल दीप ॥ १७ ॥

[१८]

मकाईल पुनि कहव बुलाई। बरसौ मेघ पिरथिमीं जाई ॥
ओनै मेघ भरि उठिहैं पानी। गरजि गरजि बरसै अति वानी ॥
झरी लागि चालिस दिन राती। घरी न निमुसै एकै भाँती ॥
छूट पानि परलौ कैनाईं। चढ़ा छापि सगरी दुनियाईं ॥
बूड़हिं परवत मेरु पहारा। जलहल उमड़ि चलै असरारा ॥
जहं लगि मरि माजरि जत होई। लेइ बहाइ जाइहि भुइँ धोई ॥
पुनि घटि नीर भँडारै आई। जनौं न बरसा तैस सुखाई ॥

सून पिरथिमीं होइहि, बूझै हँसै ठठाइ।
एतनि जो सिस्टि मुहम्मद, सो कहँ गएउ हेराइ ॥ १८ ॥

[१९]

पुनि ईसराफील फरमाए। फूँके सब सुंसार उड़ाए ॥
दै मुख सूर भरै जो साँसा। डोलै धरती लुपुत अकासा ॥
भुवन चौदहौ गिरि बन डोला। जानौं घालि झुलाएसि हिंडोला ॥
पहिले एक फूँक जो आई। ऊँच नीच एक सम होइ जाई ॥
नदी नार सब जैहैं पाटी। अस होइ मिले जो ठारे(?)बाटी ॥
दूसर फूँक जो मेरु उड़हैं। परबत समुंद एक होइ जैहैं ॥
चाँद सुरुज तारा घट टूटै। परतहि खंभ सेसहि घट फूटै ॥

तस रे बजर मयाउब, अस भुइँ लेब मयाइ।
पूरुब पछिउँ मुहम्मद, एक रूप होइ जाइ ॥ १९ ॥

[२०]

अजराइल कहँ बेलि बुलाए। जीउ जहाँ लगि सबै लिवाए ॥
पहिले जिउ जिब्रैल कै लेई। लौटि जीउ मैकाइल देई ॥
पुनि जिउ देई इसराफीलू। तीनिहुनि का मारै अजराईलू ॥
काल फिरिस्तन केर जौ होई। कोइ न जागै निसि होइ सोई ॥
पुनि पूँछत जन सब जिउ लीन्हा। एकौ रहा बाच जिउ दीन्हा ॥
सुनि अजराइल आगे होइ आउब। उत्तर देब सीस भुइँ नाउब ॥
आयसु होइ करौं अब सोई। की हम की तुम और न कोई ॥

जो जम आनि जिउ लेत हैं संकर, तिनहू कर जिउ लेव।
सो अवतरे मुहम्मद, देखु तहूं जिउ देव ॥ २० ॥

[२१]

पुनि फुरमाए आप गोसाईं। तुम हूं देउ जिवाइहि नाहीं ॥
सुनि आयसु पाछे का धाए। तिसरी पौरि नांघि नहि पाए ॥
परत कीन्ह जिउ निसरन लागे। होई कस्ट घड़ी एक जागे ॥
प्रान देत सँवरे मन माहाँ। उवत धूप धरि आवत छाहाँ ॥
जस जिउ देत मोहिं दुख होई। असै दुखिया भा सब कोई ॥
जौ जनतेउँ जिउ अस दुख देता। तौ जिउ काहू केर न लेता ॥
लौटि काल तिनहू कर होवै। आइ नींद निचरक होइ सोवै ॥

भंजन गढ़न सँवारन, जिन खेला सब खेल।
सब का टारि मुहम्मद, अबहूँ रहा अकेल ॥ २१ ॥

[२२]

चालिस बरिख जबहि होइ जैहैं। उठिहि मया पछिले (सब) ऐहैं ॥
मया मोह कै किरपा आए। आपुहि कहें आपु फुरमाए ॥
मैं सुंसार जो सिरिजा एता। मोर नावँ कोऊ नहिं लेता ॥
जेतने परे अब सबहि उठावौं। पुल सिलवात के पंथ रेगावौं ॥
पाछे जिए पूछौं सब लेखा। नैन माद (माहँ?) जेता हौं देखा ॥
जस वाकर सरवन बिन सूना। धरम पाप गुन औगुन गूना ॥
कै निरमल कौसर अन्हवावौं। पुनि जीवन बैकुंठ पठावौं ॥
मरन गँजन धन होइ जस, जस दुख देखत लोग।
तस सुख होइ मुहम्मद, दिन दिन मानैं भोग ॥ २२ ॥

[२३]

पहिले सेवक चारि जियाउब। तिन्ह सब काजे काज पठाउब ॥
जिबरईल औ मैकाईलू। असराफील औ अजराईलू ॥
जिबरईल प्रिथिमीं मां आए। जाइ मुहम्मद का गोहराए ॥
जिबरईल जग आइ पुकारब। नावँ मुहम्मद लेत हँकारब ॥
होइ हैं जहां मुहम्मद नाऊँ। कइउ लाख बोलिहैं एक ठाऊँ ॥
ठाढ़ि रहै कतहूँ ना पावै। फिरि कै जाइ मारि गोहरावै ॥
कहै गोसाईं कहां वै पावौं। लाखन बोलैं जौ रे बोलावौं ॥
सब धरती फिरि आएऊँ, जहाँ नावँ सो लेउँ।
लाखन उठैं मुहम्मद, केहि कै उत्तर देउँ ॥ २३ ॥

[२४]

जिबरइल पुनि आयसु पाए। सूँघै जगत ठाँव सो पाए ॥
बास सुबास लीन है जाहां। नावँ रसूल पुकारसि ताहाँ ॥
जिबरईल फिरि प्रिथिमीं आए। सूँघत जगत ठावँ सो पाए ॥
उठहु मुहम्मद होहु बड़ नेगी। देन जुहार बोलाएँ बेगी ॥
बेगि हँकारे उमत समेता। आवहु तुरत साथ सब लेता ॥
एतने बचन जबहिं मुख काढ़े। सुनत रसूल भए उठि ठाढ़े ॥
जहँ लगि जीउ मोख सब पाए। अपने अपने पिंजरे आए ॥

कइउ जुगन के सोवत, उठे लोग मत जाग।
अस सब कहैं मुहम्मद, नैन पलक ना लागि ।। २४ ।।

[२५]

उठत उमत कहँ आलस लागै। नींद भरी सोवत ना जागै ।।
पौढ़त बार न हम का भएऊ। अबहीं अवधि आइ कब गहेऊ ।।
जिबरईल तब कहब पुकारीं। अबहुँ नींद ना गई तुम्हारी ।।
सोवत तुम्हें कइउ जुग बीते। अैसे तौ तुम हौं नाँहि चीते ।।
करउ करोरि बरस भुइँ परे। उठहु न बेगि मुहम्मद खरे ।।
सुनि कै जगत उठी सब झारी। जेतना सिरजा पुरुख औ नारी ।।
नँगा नाँग उठि है संसारू। नैना होइहैं सब के तारू ।।

कोउ न कतहुँ पुनि बेरैं?, दिस्टि सरग सब केरि।
ऐसे जतन मुहम्मद, सिस्टि चलै सब घेरि ।। २५ ।।

[२६]

पुनि रसूल जहई होइ आगे। उमत चलै सब पाछै लागे ।।
अध गियान होई सब केरा। ऊँच नीच जहँ होइ अभेरा ।।
सबहीं जियत चहै सुंसारा। नैनन नोर चलै असरारा ।।
सो दिन सँवरि उमत सब रोवै। ना जानौं आगे कस होवै ।।
जो न रहै तेहि का यह संगा। मुख सूखै तेहि पर यह दंगा ।।
जेहि दिन का नित करत डरावा। सोइ देवस अब आगे आवा ।।
ओ पै हमसे लेखा लेबा। का हम कहब उतर का देबा ।।
एत सब सँवरि कै मन माँ, चहैं जाइ सो भूलि।
पैगै पैग मुहम्मद, चित्त रहै सब भूलि ।। २६ ।।

[२७]

पुल सिलवात पुनि होइ अभेरा । लेखा लेब अंब (उमत?) सब केरा ।।
एक दिसि बैठि मुहम्मद रोइहैं। जिबरईल दूसर दिसि होइ हैं ।।
वार पार किछु सूझत नाहीं। दूसर नाँहि को टेकै बाहीं ।।
तोस सहस्र कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा ।।
बारहु ते पतरा अस झीनी। खड़ग धार से अधिकौ पैनी ।।
दोउ दिसि नरक कुंड कै भरे। खोज न पाउब तेहि माँ परे ।।
देखत काँपै लागै जाँघा। सो पथ कैसे जैहै नाँघा ।।

तहाँ चलत सब परखब, को रे पूर को ऊन।
अबहुँ को जानै मुहम्मद, भरे पाप औ पून॥ २७॥

[२८]

जो धरमी होईहि संसारा। चमकि बीजु गहब जौ पारा॥
बहुतक जानु तुरंग भल धैहैं। बहुतक जानु पखेरु उड़ैहैं॥
बहुतक चाल चलै माँ जैहैं। बहुतक मरि मरि पांव उठैहैं॥
बहुतक जानु पखेरु उड़ हैं। पवन कि नाईं जिय मां जैहैं॥
बहुतक जानौं रेगें चाँटी। बहुतक रहैं दाँत धरि माटी॥
बहुतक नरक कुण्ड माँ पड़िहौं। बहुतक रकत पी माँ पड़िहीं॥
जेहि कै जांघ भरोस स होई। सो पंथी निभरोसी रोई॥

परै तराप सो नाँघत, को रे बार को पार।
कोउ तरि हा मुहम्मद, कोउ बूड़ा मझधार॥ २८॥

[२९]

लौटि हँकारब यह जब भानू। तपै कहैं होइहि फुरमानू॥
पूछब कटक जहाँ ते आवा। को सेवक को बैठे खाना॥
जेहि जस आहि जियन मैं दीन्हा। तेहि तस समर चहौं मैं लीन्हा॥
अब लगि राज देस कर भूँजा। अब दिन आइ लिखा कर पूजा॥
छः मास कर दिन करौं आजू। आउ क लेउँ औ देखौं साजू॥
से चौराहा बैठै आवै। एक एक जनौ का पूँछि पकरावै॥
नीर खीर हुँत काड़ब छानी। करब निनार दूध औ पानी॥

धरम पाप फरिया उब, गुन औगुन सब दोख॥
दुखी न होहु मुहम्मद, जोखि लेब धरि जोख॥ २९॥

[३०]

पुनि कस होइहि दिवस छ मासू। सूरुज आइ तपहि होइ बांसू॥
कै सउहै नियरे रबि हाँकै। तेहि कै आँच गूद सिर पाकै॥
बजरागिनि अस लागै तैसे। (बि) लखै लोग पियासन वैसे॥
उनै अगिनि अस बरसै घामू। भूँजि देह जरि जाए चामू॥
जेइ किछु धरन कीन्ह जग माहाँ। तेहि सिर पर किछु आवै छाहाँ॥
धरमिहि आनि पियाउब पानी। पापी बपुरहि छाहँ न पानी॥
चोरा जपा सो काज न आवै। इहाँ का दीन्ह उहाँ सो पावै॥

जो लखपती कहावै, लहै न कौड़ी आधि।
चौदह धजा मुहम्मद, ठाढ़ करहिं सब बाँधि ॥ ३० ॥

[३१]

सवा लाख पैगम्बर जेते। अपने अपने पाए तेते ॥
एक रसूल न बैठहिं छाहाँ। सबही धूप लेहिं सिर माहाँ ॥
घामै उमत दुखी जेहि केरी। सो का मानै सुख अवसेरी ॥
दुखी उमत तौ पुनि मैं दुखी। तेहि सुख होइ तौ पुनि मैं सुखी ॥
पुनि करता कै आयसु होई। उमत हँकारु लेखा मोहिं देई ॥
कहब रसूल कि आयसु पावौं। पहले सब धरमी लै आवौं ॥
होइ उतर तिन्ह ही ना चाहौं। पापी घालि नरक महँ पाहौं (?), बाहौं ॥

पाप पुन्नि केते खरे, होइ चहत है पोच।
अस मन जानि मुहम्मद, हिरदै मानेउ सोच ॥ ३१ ॥

[३२]

पुनि जैहैं आदम केरे पासा। पिता तुम्हारि बहुत मोहिं आसा ॥
उमत मोरि गाढ़े है परी। भा न दान लेखा का घरी ॥
दुखिया पूत होत जो अहै। सब दुख पै बापै से कहै ॥
बाप बाप कै जो कछु खाँगै। तुमहि छाँड़ि कासौं चित बाँधै ॥
तुम जऊेर पुनि सबहीं केरा। अहै सँतति मुख तुम्हरै हेरा ॥
जेठ जठेर जो करिहैं मिनती। ठाकुर जबहीं सुनि हैं मिनती ॥
जाइ दैउ सै बिनवौ रोई। मुख दयाल दाहिन तोहि होई ॥

कहहु जाइ जस देखै, जेहि होवै उदघाट।
बहु दुख दुखी मुहम्मद, बिधि संकर तेहि काट ॥ ३२ ॥

[३३]

सुनो पूत आपन दुख कहऊँ। हौं अपने दुख बाउर रहऊँ ॥
होइ बैकुंठ जो आयसु ठेलौं (ठेलेउँ)। दूत के कहे मुख गोहूँ मेलौं(मेलेउँ) ॥
दुखिया पेट लागि सँग धावा। काढ़ि बिहिस्त से मैल ओढ़ावा ॥
परलौ जाइ मँडल सुंसारा। नैन न सूझ निसि अँधियारा ॥
सकल (ज)गत मैं फिरि फिरि रोवा। जीउ जान बाँधि कै खोवा ॥
भएँ उजियार पिरथिमीं जइहौं। औ गोसाइँ कै अस्तुति कहिहौं ॥
लौटि मिलै जो होवै आई। तो जिउ कहँ धीरज भा जाई ॥

तेहि हुते लाजि उठै जिउ, मुँह न सकौं दरसाइ।
सो मुहँ लाइ मुहम्मद, बात कहौं का जाइ ॥ ३३ ॥

[३४]

पुनि जैहैं मूसै केर दोहाई। ऐ बंधु मोहिं उपगरु आई ॥
तुम का बिधिनै आयसु दीन्हा। तुम नेरे होइ बातैं कीन्हा ॥
उम्मत मोरि बहुत दुख देखा। भा निदान माँगत है लेखा ॥
अब जो भाइ मोर तुम अहेऊ। एक बात मोहि कारन कहेऊ ॥
तुम अस तुहसे बात का कोई। सोई कहेऊ बात जेहि होई ॥
गाढ़े मीत कहौं का काहू। कहौ जाइ जहि होइ निबाहू ॥
तुम सँवारि कै जानौ बाता। मकु सुनि माया करै बिधाता ॥
मिनती किहेउ मोर हुते, सीस नाइ कर जोरि।
है है करैं मुहम्मद, उमत दुखी है मोरि ॥ ३४ ॥

[३५]

सुनहु रसूल बात का कहौं। हौं अपने दुख बाउर रहौं ॥
कै कै देखेउँ बहुत ढिठाई। मुँह कड़ दाना खात मिठाई ॥
पहिले मो कहँ आयसु दीन्हा। फरऊँ से मैं झगरा कीन्हा ॥
रोद नील कै डावसि चाला। फुर भा झूँठ झूँठ(भा) भला ॥
पुनि देखै वैकुण्ठ पठाएउ। एको दिसि करै पंथ न पाएउ ॥
पुनि जो मो कहँ दरसन भएऊ। कोह तूर रावट होइ गएऊ ॥
भा अनेक मैं फिर फिर जाँपी। हर दावँन कै लीन्हेसि चापी ॥
निरखि नैन मैं देखौं, कतहुँ परै नाँहि सूझि।
रहौं लजाइ मुहम्मद, बात कहौं का बूझि ॥ ३५ ॥

[३६]

दौरि दौरि सबही पा जैहैं। उतर दिहें सब फिर बहिरै हैं ॥
ईसै कहिन कि कस नहि कहतेउँ। जो किछु कहे क उत्तर बैठेउँ (?) ॥
मैं मुए मानुस बहुत जियावा। औ बहुतै जिउ दान दिवावा ॥
इब्राहिम कहा कस ना कहतेउँ। बात कहे बिन मैं ना रहतेउँ ॥
मोसौं खेल हिंदू जो खेला। सर रचि बाँधि अगिनि माँ मेला ॥
तहां अगिनि हव (हुत?) भइ फुलवारी। अपउर डरौं न बिरह संभारी ॥
नूह कहिन जब परलौ आवा। सब जग बूड़ रहेउं चरि (चढ़ि?) नावा ॥

केउ कहै काहू से, सबै उढ़ाउब भार।
जस कै बनै मुदम्मद, करु आपन निस्तार॥ ३६॥

[३७]

सबै भार अस मेलि उड़ाउब। फिरि फिरि कहब उतर ना पाउब॥
पुनि रसूल जैहैं दरबारा। पैग मारि भुइँ करब पुकारा॥
तैं सब जानसि एक गोसाईं। कोउ न आव मोरी उमत के ताईं॥
जेइ से कहौं सो चुप होइ रहई। उमत लाइ केउ बात न कहई॥
मोरे चाँड़ केऊ नहिं चाँड़ा। देखा दुख सबही मोहिं छाँड़ा॥
मोहिं अस तुहीं लाग करतारा। तुहि होई भल सोइ निस्तारा॥
जो दुख चहहि उमत का दीन्हा। सो सब मैं अपने सिर लीन्हा॥

लेखि जोख कहियावन (?), मरन गँजन दुख दाहु॥
सो सब सभैं (सहै?) मुहम्मद, दुखी करौ जनि काहु॥ ३७॥

[३८]

पुनि रिसाइ कै कहै गोसाईं। फातिम कहँ ढूंढ़हु दुनियाई॥
का मोसौं उन झगरि बिसारा। हसन हुसैन कहौ को मारा॥
ढूँढ़े जगत कतहूँ ना पैहैं। फिरि कै जाइ मारि गोह रैहैं॥
ढूँढ़ि जगत दुनिया सब आएउँ। फातिम खोज कतहुँ ना पाएउँ॥
आयसु होइ अहैं पुनि ताहाँ। उठै नाथ हैं धरती माहाँ॥
मूँदै नयन सकल सुंसारा। बीबी उठै करै निस्तारा॥
जो कोउ आव देखै नैन उधारी। तेहि कहँ छाह करौं धरि जारी॥

आयसु होइ दैउ कर, नैन रहै सब झाँपि।
एक ओर डरै मुहमद, उमत मरै डर काँपि॥ ३८॥

[३९]

उट्ठिन बीबी तब रिस किहैं। हसन हुसेन दुवौ सँग लिहैं॥
तैं करता हरता सब जानसि। झूँठै फुरै नीक पहिचानसि॥
हसन हुसेन दुवौ मोर बारे। दुनहु यजीद कौने गुन मारे॥
पहिले मोर नियाव निबारू। तेहि पाछे जेतना सुंसारू॥
समुझें जीउ आगि महँ दहऊँ। देहु दादि तौ चुप कै रहऊँ॥
नाहिं त देउँ सराप रिसाई। मारौं आहि अस जरि जाई॥

बहु संताप उठै जिया, कतहूँ समुझि न जाइ।
बरजहु मोहि मुहम्मद, अधिक उठै दुख दाई॥ ३९॥

[४०]

पुनि रसूल कहँ आयसु होई। फातिमा कहँ समुझावहु सोई ।।
मारै आहि अर्स जरि जाई। तेहि पाछे आपुहि पछिताई ।।
जौ नहिं बात क करै बिशादू। जानौ मोहिं दीन्ह परसादू ।।
जौ बीबी छाँड़हि यह दोखू। तौं मैं करौं उमत कै मोखू ।।
नाहिं तौ घालि नरक महँ जारौं। लौटि जियाइ मुए पर मारौं ।।
अगिनि खंभ देखहु जस आगे। हिरकत छार होइ तेहि लागे ।।
चहुँ दिसि फेर सरग लै लावौं। मुँगरिन मारौ लोब(लोह?)चटावौं ।।

तेहि पाछे धरि सारौं, घालि नरक के काँट।
बीबी कहँ समुझावै जौ, रे उमत कै चाँट ।। ४० ।।

[४१]

पुनि रसूल तलफत तहाँ जैहैं। बीबी आइ बार समुझैहैं ।।
बीबी कहब घाम कत सहौ। कस ना बैठि छाहँ माँ रहौ ।।
सब पैगंबर बैठे छाहाँ। तुम कस तपौ बजर अस माहाँ ।।
कहब रसूल छाहँ का बैठौं। उमत लागि धूपहुँ नहिं बैठौं ।।
तेइं सब बाँधि घाम महँ मेले। का भा मोरे छाँहँ अकेले ।।
तुम्हरे कोह सबहिं जो मरै। समुझहु जीउ तबै निस्तरै ।।
जो मोहिं चहौ निवारहु कोहू। तब बिधि करै उमत पर छोहू ।।

बहु दुख देखि पिता कर, बीबी समुझा जीउ।
जाइ मुहम्मद बिनवा, ठाढ़ पाक (पाग) कै गीउ ।। ४१ ।।

[४२]

तब रसूल (के) कहें भई माया। जिन चिंता मानौ भइ दाया ।।
जो बीबी अबहूँ रिसियाई। सबहि उमत सिर आनि बिसाई ।।
अब फातिमा का बेगिबोलावौ। देउ दाद तो उमत छोड़ावौ ।।
फातिमा आइ कै पार लगावा। धरि यजीद माँ गोवा [आवा?] ।।
अंत कहा धरि जान से मारै। जिउ देइ देइ पुनि लौटि पछारै ।।
तस मारब जेहि भुइँ गड़ि जाई। खन खन मारै लौटि जियाई ।।
बजर अगिनि जारब कै छारा। लौटि धोवै(दहे?)जस धोवै(दहै?)लोहारा ।।

मारि जारि घिसियावौं, धरि दोजख माँ देव।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबहि पुकारै लेव ।।४२।।

[४३]

पुनि सब उम्मत लेब बुलाई । हरू गरू लागब बहिराई ।।
निरखि रहौती कारब(गारब)छानी । करब निनार दूध ग्रौ पानी ।।
बाप पूत ना पूतै बापू । पाप पुन्नि ना पुन्नै पापू ।।
ग्राप [हि] ग्राप ग्राइकै परी । क्वाउ न क्वाउ क धरहरि करी ।।
कागज काढ़ि लेब सब लेखा । दुख सुख जो पिरथिमी महँ देखा ।।
पौन पियाला लेखा माँगब । उतर देत उत पानी खाँगब ।।
नैन का देखा स्रवन का सुना । कहब करब ग्रौगुन ग्रौ गुना ।।

हाथ पाँव मुख काया, स्रवन सीस ग्रौ ग्राँखि ।
पाप न छपै मुहम्मद, ग्रते भरैं सब साँखि ।। ४३ ।।

[४४]

देह का रोवाँ बैरी होइ हैं । बजर बिया एहि जीउ के बोइ हैं ।।
पाप पुन्नि निरमल कै धोउब । राखब पुन्नि पाप सब खोउब ।।
पुनि कौसर पउब ग्रन्हदाए । जहाँ कया निरमल सब पाए ।।
बुड़की देब देंह सुख लागी । पलुहब उठि सोवत ग्रस जागी ।।
खोरि नहाइ धोइहैं सब दुंदू । होइ निकरहिं पुनिवा कै चंदू ।।
सब के सरीर सुबास बसाई । चंदन कै ग्रस खानी ग्राई ।।
झूठै सबहि ग्राप पुनि साँचे । सबहि नबी के पाछे बाँचे ।।

नबी छाँड़ि सब होई, बरह बरिस कै राह ।
सब ग्रस जानौ मुहम्मद, होइ बरिस कै राह ।। ४४ ।।

[४५]

पुनि रसूल नेवतब जेवनारा । बहुत भाँति होई परकारा ।।
ना ग्रस देखा ना ग्रस सुना । जौ सरहौं तौ है दस गुना ।।
पुनि ग्रनेक बिस्तर जहाँ डासब । बास सुबास कपूर से बासब ।।
होई ग्रापसु जौ पैग(बेगि)बोलाउब । ग्रौ सब उमत साथ लेइ ग्राउब ।।
जिबरईल ग्रागे होइ जइहैं । पग डारैं का ग्रायसु होइ हैं ।।
चलव रसूल उमत लै साथा । परग परग पर नावत माथा ।।
ग्रावै भीतर बेगि बोलाउब । बिस्तर जहाँ तहाँ बैठाउब ।।

झारि उमत सब बैठे, जोरि कै एके पाँति ।
सब के माँझ मुहम्मद, जानौ दुलह पराति ।। ४५ ।।

[४६]

पुनि जेंवन का आवन लागै। सब (के) आगे धरत न खांगै ॥
भाँति भाँति के देखब थारा। जानब ना वहुँ कौन प्रकारा ॥
पुनि फुरमाउब आपु गुसाईं। बहुते दुख देखौ(देखेउ)दुनियाई ॥
हाथन से जेंवनार मुख डारब। जीभ पसारत दाँत उघारब ॥
कूँचत खात बहुत दुख पावौ। तहँ ऐसे जेवनार जेंवावौ ॥
अब जिनि लौटि कस्ट जिउ करौं। मुख संवाद औ इंद्री भरौ ॥
पाँच भूत आत्मा सेराई। बैठि अघाइ और ना भाई ॥

अैस करब पहुनाई, तब होई संतोख।
दुखी न ह्वाव मुहम्मद, पोखि लेहु धरि पोख ॥ ४६ ॥

[४७]

हाथन्ह से केउ कौर न लेई। सेइ जाइ मुख पैठे जोई ॥
दाँत जीभ मुख किछु न डोलाउब। जस जस रुची तस तस खाउब ॥
जैस अन्न बिनु कूँचे रूचै। तैस सिठाइ जौ कोऊ कूँचे ॥
एक एक परकार जो आए। सत्तर सत्तर स्वाद जो पाए ॥
जहँ जहँ जाइ के परै जुड़ाई। इंछा पूजै खाइ अघाई।
अन चाखे वात्ते(?) फिर चाखा। सब अस लेब अपरस रस राखा ॥
जनम जनम कै भूख बुझाई। भोजन केरे साथै जाई ॥

जेंवन अँचवन होइ पुनि, पुनि होई खिलवान।
अमृत भरा कटोरा, पियौ मुहम्मद पानि ॥४७॥

[४८]

एक अमृत औ बास कपूरा। तेहि कहँ कहा शराब न थूरा ॥
लागब भरि भरि देइ कटोरा। पुरुब ग्यांन अस फरै महोरा ॥
ओहि कै मिठाइ भाति एक दाऊँ। जनम न मानव होइ अब काहूँ ॥
सचु मतवार रहब होइ सदाँ। रहस [औ] कोड़ सदा सरबदाँ ॥
कबहुँ न खोवै जनम खुमारी। जनौ बिहान उठै भरि मारी ॥
तनखन चासि [बासि] जनु घाला। घरी घरी जस लेब पियाला ॥
सबहि क भा मन सो मधु पिया। तब औतार भवा औ जिया ॥

फिरै तँबोल माया से, कहब आपुन लेइ खाउ।
भा परसाद मुहम्मद, उठि बिहिस्त माँ जाउ ॥४८॥

[४९]

कहब रसूल बिहिस्त ना जाऊँ। जब लै दरस न तुम्हार न पाऊँ ॥
उघर न नैन तुमहिं बिनु देखें। सबहि अँबिरथा मोरे लेखे ॥
तौ लै केउ बैकुंठ न जाई। जौ लै तुम्हारा दरस न पाई ॥
करु दीदार देखौं मैं तोहीं। तौ पै जीउ जाइ सुख मोहीं ॥
देखे दरस नैन भरि लेऊँ। सीस नाइ पै भुइँ कहँ देऊँ ॥
जनम मोर लागा सब यारा। पलुहै जीउ जो गीउ उभारा ॥
होइ दयाल करु दिस्टि फिरावा। तोहि छाँड़ि मोहिं और न भावा ॥

सीस पाइ भुइँ लावौं, जो देखौं तहि आँखि।
दरसन देखि मुहम्मद, हिये भरौं तोरि साँखि ॥४९॥

[५०]

सुनौ रसूल होत फुरमानू। बोल तुम्हार कीन्ह परमानू ॥
तहाँ हुतेउँ जहँ हुतेउ न ठाऊँ। पहिले रचेउँ मुहम्मद नाऊँ ॥
तुम बिनु अबहुँ न परगट कीन्हेउँ। सहस अठारह का जिउ दीन्हेउँ ॥
चौदह खंड उतर क राखेउँ। नाँद चलाइ भेद बहु भाखेउँ ॥
चार फिरिस्ते बड़े औतारेउँ। सात खँड बैकुंठ सँवारेउँ ॥
सवा लाख पैगंबर सिरिजेउँ। कहि करतूति उन्हहि धै बंधेउँ ॥
औरन्ह का आगे निति लेखा। जेतना सिरजा को ओहि देखा ॥

तुम तन एता सिरिजा, आइ कै अंतर हैत।
देखहु दरस मुहम्मद, आपनि उमत समेत ॥ ५० ॥

[५१]

सुनि फुरमान हरख जिउ बाढ़े। एक पावँ से भए उठि ठाढ़े।
झारि उमत लागी तब नारी(तारी?)। जेवा सिरिजा पुरुख औ नारी ॥
लागै सब से दरसन होई। ओहि बिनु देखे रहै न कोई ॥
एक चमकार होइ उजियारा। छपै बीजु तेहि के चमकारा ॥
चाँद सुरुज छपिहैं बहु जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
सो मन दिपैं जो कीन्ह थिराई। छए सो रंग घात पर आई ॥
ओहु रूप निरमल होई जाई। और रूप ओहि रूप समाई ॥

ना अस कबहूँ देखा, न केऊ ओहि भाँति।
दरसन देखि मुहम्मद, मोहि परे बहु भाँति ॥ ५१ ॥

[५२]

दुइ दिन लहि कोउ सुधि न सँभारे। बिनु सुधि रहे ना नैन उघारे॥
तिसरे दिन जिबरैल जो आए। सब मधु माते आनि जगाए॥
जेहिं भेदियहि सुदरसन राते। पड़े पड़े लोटैं जस माते॥
सब अस्तुति कै करैं बिसेखा। अँसा रूप हम कतहूँ न देखा॥
अब सब गएउ जनम दुख धोई। जो चाहिय हठि पावा सोई॥
अब निहचिंत जीउ बिधि कीन्हा। जौ पिय आपन दरसन दीन्हा॥
मन कै जेति आस सब पूजी। रहे न कोउ औ आस गति दूजी॥

मरन गँजन औ परिहँस, दुख दलिद्र सब भाग।
सब सुख देखि मुहम्मद, रहस कोड़ जिया लाग॥ ५२॥

[५३]

जिबराइल कहँ आयसु होई। अछरिन्ह आइ आगे पथ जोई॥
उमत रसूल केर बहिराउब। कै असबार बिहिस्त पहुँचाउब॥
सात बिहिस्त बिधिनै औतारा। औ आठए सदाद सँवारा॥
सो सब देब उमत का बांटी। एक बराबरि सब का आँटी॥
एक एक का दीन देवासू। जगत लोक बिरसै कैलासू॥
चालिस चालिस हुरैं सोई। औ सँग लागि बियाही जोई॥
औ सेवा का अछरिन केरी। एक एक लनि का सौ सौ चेरी॥

अँसे जतन बिया हैं, जस साजै बरियात।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त चले बिहँसात॥ ५३॥

[५४]

जिबराईल तात कहँ धाउब। जौलहि आनि उमत पहिनाउब॥
पहिरहु दगल सुरँग रंग राते। करहु सोहाग जनहु मद माते॥
ताज कुलाह सिर मुहमद सोहै। चंदन बदन औ कोकब(कोकिल?) मोहै॥
न्हाइ खोरि जस बनी बराता। नबी तँबोल खात मुख राता॥
तुम्हरे रुचे उमत सब आनब। औ सँवारि बहु भाँति बखानब॥
खड़े गिरत उधमाते अहैं। चढ़ि कै घोड़न का कुदरैहैं॥
जिन भरि जनम बहुत हिय जारा। बैठइ पाँएउँ दुइ जन पारा॥

जैसे नबी सँवारैं, तैसे नबी पुनि साज।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त करैं सुख राज॥ ५४॥

[५५]

तानब छत्र मुहम्मद माथे। औ पहिरै फूलन्ह बिनु गाँथे ॥
दूलह जतन होब असवारा। लिए बरात जैबैं सँसारा ॥
रचि रचि अछरिन्ह कीन्ह सिंगारा। बास सुबास उठै महकारा ॥
आज रसूल बियाहन ऐहैं। सब दूलह दुलहिनि सो नैहैं ॥
आरति करि सब आगे ऐहैं। नंद सरोद पुनि सब मिलि गैहैं ॥
मँदिलन्ह होइहि सेज बिछावन। आजु सबहि के मिलि हैं रावन ॥
बाजन बाजै बिहिस्त दुवारा। भीतर गीत उठै झनकारा ॥

बनि बनि बैठीं अछरीं, बैठि जोहैं कैलास।
बेगइ आउ मुहम्मद, पूजै मन कै आस ॥ ५५ ॥

[५६]

जिबरईल पहिले से जैहैं। जाइ रसूल बिहिस्त नियरैहैं ॥
खुलिहैं आठौ पँवरि दुवारा। औ पैठै लागे असवारा ॥
सकल लोग जब भीतर जैहैं। पाछे होब रसूल सीधरें(सिधैहैं?) ॥
मिलि हूरें नेवछावरि करिहैं। सबके बदन फूल रस झरिहैं ॥
रहसि रहसि तिन करब किरीरा। अगर कुमकुमा जो भरि सरीरा ॥
बहुत भांति कर नंद सरोदू। बासू सुबास उठै परमोदू ॥
अगर कपूर बेना कस्तूरी। मँदिल सुबास रहब भरपूरी ॥

सोवन आजु जो चाहै, साजन मरदन होइ।
दीन सोहाग मुहम्मद, सुख बिरसै सब कोइ ॥ ५६ ॥

[५७]

पैठि बिहिस्त जौ नौ निधि पैहैं। अपने अपने मंदिलसी घरें(सिधैहैं?) ॥
एक एक मंदिल सात दुवारा। अगर चन्दन के लाग केवारा ॥
हरे हरे बहु खंड सँवारे। बहु [त] भांति दइ आपु सँवारे ॥
सोनै रूपै घालि उँचावा। निरमल कुहुकुहु लाग गिलावा ॥
हीरा रतन पदारथ जरे। तेहिक जोति दीपक जस बरे ॥
नदी दूध कै अँतरिख कै बहैं। मानिक मोति परे भुइँ रहैं ॥
औ परि गा अब छाह सोहाई। एक एक खंड चहा दुनियाई ॥

तात न जूड़ न गुनगुन, दिवस राति नहि दुक्ख।
नींद न भूख मुहम्मद, सब बिरसैं अति सुक्ख ॥ ५७ ॥

[५८]

देखत अछरिन केरि निकाई। रूप ते मोहि रहत मुरझाई ॥
आली करत मुख जोहत बासा। कीन्ह चाहैं किछु भोग बिलासा ॥
हैं आगे बिनवैं सब रानी। और हम सब चेरिन्ह की रानी ॥
यहि सब आवैं मोरे निवासा। तुम आगे तो अपनि कैलासा ॥
यहां अस रूप पाट परधानी। औ सबहिन्ह चेरिन कै रानी ॥
बदन जोति मनि माथे भागू। औ बिधि आगर दीन्ह सोहागू ॥
साहस करैं सिंगार सँवारी। रूप सुरूप पदुमिनी नारी ॥
पाट बैठि बैठीं जो हियें, हँसि जारैं मांस।
दीन दयाल मुहम्मद, मानो भोग बिलास ॥ ५८ ॥

[५९]

सुनि अस रूप ज़िहपी बहु भाँती। इन्हहिं चाहि जो हैं रुपवाँती ॥
सातौं पवँरि नखत मन भेखत (पेखब।) सातौं आयसु कौतुक देखब ॥
चले जाब आगे तेहि आसा। जाइ परब भीतर कैलासा ॥
तखत बैठि सब देखब रानी। जीबहि सब चाहि पाट बरु मानी ॥
दरसन जोति उठै चमकारा। सकल बिहिस्त होइ उजियारा ॥
बारह बानी सरि हो सुबरना। तेहि का चाहि रूप अति लोना ॥
निरमल बदन चंदन कै जोती। सबकै सरीर दिपै जस मोती ॥
बास सुबास तस छूवँ, वेधि भँवर कहि जात।
बर सो देखि मुहम्मद, हिरदै माँ न समात ॥५९॥

[६०]

पैंग पैंग जस जस नियराउब। अधिक सवाद मिलै कर पाउब ॥
सैन समाइ रहे चुप लागे। सब के आइ लेइहैं होइ आगे ॥
बिरसहु दुलहिनि जोबनबारी। पाएउ दुलहिनि राजकुमारी ॥
एहि माँ सो कर गहि कै जैहैं। आधे तखत पर लै बैठैहैं ॥
सब अछूत तुम का भरि राखे। यहै सवाद जोरे जौ चाखे ॥
निति पिरीति नित नव नव नेहू। निति उठि चौगुन जोरे सनेहू ॥
नित्त अनित्त जो बारि बिया है। बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै ॥
तहाँ न मीचु न नींदु दुख, रहै न देह माँ रोग।
सदा अनद मुहम्मद, सब सुख माते (मानें?) भोग ॥६०॥

महरी बाईसी

[१]

सुनो विनति मैं किरति बखानौं, महरा जस महराई रे।
गयेउ केवट को नाव चलावै, को लागेउ गहराई रे॥
कोइ गुन लाइ पंथ सिर धुनइ, चला डोर गुन खींचइ रे।
तीर नीर उथलै भै सोई, गहिरें तौ फल पाँवइ रे॥
कोइ तरवर सूति अस कहतां, भाव भोर मन माने रे।
काहू फंद तिरिस्ना देखा, परा जाल अरुझाने रे॥
काहू समुँद माँह बुड़कावा, ढूँढि सिस्ट लै आनेउँ रे।
कोइ टकटोरि छूँछ होइ बहुरा, हाथ छार पछतानेउँ रे॥
कोई औगट हारिगा बहुरत, रहा बीच होइ ठाढ़ो रे।
कोइ अवगाह परा गहिरे में, सो भल आहि जो काढ़ो रे॥
कोइ लै थाह उठा पानी सों, तीर तीर बहि लागें रे।
कोइ सत छोड़ि बिसउ गहिरे पुनि, गा हर दिसि चह खाएँ रे॥
कहै मुहम्मद रहो सम्हारे, पाव पानि में घालें रे।
टोइ टोइ भुइँ पाँव उठाओ, नाहि तो परिहौ खालें रे॥

[२]

वार भए जो पंथ तिहारे, अहै पार जहि जाना रे।
चढ़ेउ जो नाव पार सो उतरेउ, नाहिं तो मन पछिताना रे॥
ऊभि बाँह कै ठाढ़ पुकारै, केवट बेगि न पावति रे।
लहै लोक बहु मूरख आया पै पुनि कहँ चढ़ै बतावसि रे॥
दूरि गौन साँभर जहँ ताईं, तू बुड़हा (?) भा डोलै रे।
चेति चलावै सोई न कोई, केवट गरब न बोलै रे॥
जेहि अस बूझ सूझ मारग कै, गाँठि सोधि कै आवा रे।
माँगत दान दीन्ह जेहि पहिले, तेहि धरि बाँह चढ़ावा रे॥
औार अस्तुती पाँव परि बिनवै, बिनती किए न मानै रे।
रंचहु रहा न कीन्ह चिन्हारी अब कैसे पहिचानै रे॥
भाई बंधु औ मीत सँगाती, सो न मिलै जेहि चाहै रे।
दरब हुते मन झुरवै अकेला, कोई तेहि निरबाहै रे॥

कहै मुहम्मद पंथ न भूलउ, आगें अइस उतारा रे।
सो कै चलहु पार जेहि उतरहु, नत बूड़हु मँझधारा रे॥

[३]

चढ़ि कै लाव भरम जेहि माहीं, जौ लगि पार न लागै रे।
मारै मंछ जाइ भरि झोंका, माँझधार होइ खाँगै रे॥
बहुत पाट भइ भादों नदिया, गुरु बूझि जनि बूझहु रे।
फैलब कहां कहां होइ लागै यहु मन सोच न सोचहु रे॥
उठहि पवन औ समुंद हिलोरें, पवन बात खट डोलै रे।
देखि वार जिउ खिन खिन कंपै, कौन भरोसें बोलै रे॥
कछु औ सूप चहूं दिसि उठहिं, मगरगोह घरियारा रे।
होइ मँझधार डरावन लागै, कैसें उतरब पारा रे॥
करिया पोढ़ करहु जिनि डोलै, सिअर डांड़ तेहि लाइहि रे।
केवट हीं गहु लाइ चित्त कहु, गुन गहि तीर लगाइहि रे॥
ऊँच करार चढ़त दुख होइहि, धाइ तीर जनु खाइहि रे।
जेहि खन तीर लै (?) लाइहि, पैठि पेट जिउ आइहि रे॥
कहै मुहम्मद पुन्थ सवाई, सुनो मूढ़ बुधि अइसें रे।
छाड़हु मोह एक चित बाँधहु, पार उतारे जइसें रे॥

[४]

धीमे चलहु धीर मन कीन्हें, जस बक नाउँ उचारी रे।
धरम करैं लीलै सैं काटैं, को ओहि जाहि न टारी रे॥
जौ लगि राति नींद नहि साधै, दिन नहिं करहि रहतरा रे।
तौ लगि मछरी वार पार नहि, लागै, जो कीजै सो पहरा रे॥
मेलि सिस्टि चारहि चित बाँधहु, रहो दिस्टि मन लाएँ रे।
जस दुख देहि रहँट बहु ऊपर, तस सुख होइहि बाएँ रे॥
जौ छुटकार बेगि ना लागै, हिएँ निवारहु कोहू रे।
गाढ़ डोर ढील कै खींचहु, तौ पै पावहु रोहू रे॥
माँहि तो घोर रूप लै भेंटेउ, नदी भई जहां सूते रे।
कहुँ कीओ सवार सब नगरी, पावहु खेत किमि मूते रे॥
कहै मुहम्मद यह समझौता, समझु मूरख अब ताईं रे।
चैन नाहीं आए डिगा बासों, तैं बैठो सुस्ताई रे॥

[५]

जेहि अस साथ होइ गहि की, औ चाहै जो राखा रे।
चढ़हि तुरंग तो बौराई, लीन्हें हाथ बचाखा (?) रे।।
कौड़िया लोभ मरत मछरी, के अमर जाल धरि घाला रे।
बहुत पसार सकति वहि भंवरी, परा जीउ कर लाला रे।।
महरहि भली खेल यहु चाँचरि, जेइ रे खेल अस खेला रे।
मछरी डारि मेलि पाले (पानी?), में देखै चरत अकेला रे।।
लै लौका रे जाल पसारै, रहै खंड खंड ताना रे।
पढ़िना परा जाइ जल तजि कै, सत कै जाइ फंदावै रे।।
धा (?) भेद रूप लाइ भुइँ डाँड़ा, सकति हाँक लै आवै रे।
जो पुनि माँछ जाइ कै छूटै, सत जिउ जाइ गंवावै रे।।
कहै मुहम्मद काल अ्री, वहि सों काउ न ब.चो रे।
सबहीं तारि रहा थिर अपुना, सोंह बोल बहु सांचा रे।।

[६]

जेइ रे टोह मछरी बड़ि पाई, सो तीरे लाग छुनावै रे।
गुरू घेरि तीनहि ले जो रे, हिलि कै कतहूं खसावै रे।।
गरुवे ताप लाइ भुइँ जो रे, [?] संग भो मुकरी रे।
घालि हाथ ढूंढ़हु सें जेहि के, नाथ छहंदह अंगुरी रे।।
बार पार लै लावहि भौंरा, जोट बड़े सब बैठे रे।
खिन एक देखि चलै खुटकारी, पुनि सब घालि समेटै रे।।
पलना अहै पाल चलि आगे, तोर तीर कस टोवसि रे।
उलले रहिसि बरिस जिन घर बिनु, मंत हाथ भुकि घोरस रे।।
गहे गहाइ तीर लै लाएसि, लाग लोग सब छिनै रे।
जे पावा तेहि तहां छरावा, बरनि न पावै छीनै रे।।
से संजुत अगुमन कै राखा, फिरा मंछ लै बहरी रे।
जेहि के हाथ पांव कछु नाहीं, लाग धरै सो सहरी रे।।
कहै मुहम्मह तहां न पारै, जहां न लहरि बुडाई रे।
जहां मान आगन नहि देखै, लाखन छांड़ पराई रे।।

[७]

है कापर झांगर अरुझाना, सकहुँ त धनहु छंडाई रे।
एक राह जो गुरू बताई, साथ पांच समुहाई रे।।

बरजत रहहु होइ जनि करकव, करहिं कौन झंकारें रे।

... ... *

मनुवहिं गहो रहिम्र मन मारें, खीझहु खोझि न बोलिग्र रे।
मनुवा मीत मिलाइ छोड़ें, कामों(?)काहुं न खालिग्र रे॥
भोगहिं भूलि भुगुति नहिं भूगहु, जोग जुगुति पुनि साधहु रे।
जो एहि भांति करहु मतवारे, तो मद सौं चित बाँधहु रे॥
नाहिं तो ठाकुर है अति दारुन, करहु चार कोइ चारी रे।
मारहु बाँधि डाँड़ कै लेहू, निसरहि सब मतवारी रे॥
जबहिं सोंटिया आइ तुलाइहि, सांति परह पर दूरहि रे।
भाइ बंधु ठाढ़हि सब देखें, काहू के कहे न छूटिहि रे॥
लै घिसियाइ चलहिं राउर कहं, उतर देत मुंह मारिहि रे।
कुड़ग्रा लोग कहा नहिं लागं, कहै न को उर पारिहि रे॥
कहै मुहम्मद सो मतवारा, जो पिउ के मदमाते रे।
ताकर पिया नीक मोहिं लागं, नाहीं तो झूठे नाते रे।

[८]

हुड़ुक झांझ सब बाजन आवहिं, औ घेरा सब नाचै रे।
चढ़ि कै दूलह ब्याहन आवै, दुलहिनि बहु रंग राचै रे॥
रहस कोड़ सब महरी गावहिं, सब कर अइस पियाहू रे।
नैहर छाँड़ि चलब अब सोहरें, समुझि परै नहिं काहू रे॥
बात सुनहु तुम्ह सखी सहेली, सत तोलौं तुम आगे रे।
सँवरि सेज मन पियकै डरपो, रहै खुरुक जिम लागे रे॥
गीत बाद मोहिं कछु न भावै, हौं तेहि संग सगाई रे।
कंत बाँह धरि पूँछै बैना, कहा कहब तेहि ठाईं रे॥
इहां खेलि लेहु जो खेलन, उहां खेल कस होई रे।
सास ननंद देइहैं उलाइना, लाज रहब मुँह गोई रे॥
देवर जेठ केर सुनतहि सनका, निसरि होब तहीं ठाढ़ी रे।
गुनबर ससुर देखि कस बाचब, निसि दिन घूंघट काढ़ी रे॥
कहै मुहम्मद सोइ सुहागिनि, जो अइसै पिउ रावै रे।
नैहर केर होइ गुनवंती तब, ससुरें सुख पावै रे॥

*पंक्ति प्रति में नहीं है।

[९]

सखी सहेली सुनहु सोहागिनि, सब कोउ अइसि बियाही रे।
नैहर दिवस चारि लै रहना, ससुरें ओर निबारी रे॥
जनमत दुइ बटवा होई जाहीं, अस चरित्र बिधि खेला रे।
दुइ दुइ लाइ जगत सब जोरा, आपुन रहा अकेला रे॥
सरग लाइ धरती सों जोरा, चंद सूर दुइ कीन्हे रे।
दिन औ राति भोर औ साँझा, सेत स्याम दुइ चीन्हे रे॥
भै इस्तिरी पुरुख दुइ हौं लै, ईसर गौरा सानेउ रे।
उहाँ सबद एक सुना स्रवन दुइ, जब दुइ मथवा बाजेउ रे॥
चले लखपती होइ दुइ भारा, भारदुख सुख कर लीन्हा रे।
जो नहिं होत बर दुइ प्रगटे, कहा कहिअ तो कीन्हा रे॥
हिंदू तुरुक दोउ पर देखौं, जो बारा सो ब्याहा रे।
बूझि बिचारि देखु मन अपने, भए जनम कर लाहा रे॥
कहै मुहम्मद दुइ जग तारे, लीन्हे पिउ कर आएसु रे।
जेहि जेहि पंथ चलावै सजना, हठि हठि मारग जाएसु रे॥

[१०]

सुनि रे अयाने हाइ हुसियाले, गुरु ग्यान मति लीन्हे रे।
चलि पनिहारी परग सँभारी, पानि भरन जब दीन्हे रे॥
होइ सँग साथी घालै माथै, रहसि चतुर भइ नागरि रे।
मारग आवत बांह डोलावत, चित सों टरै न गागरि रे॥
बात सखी सों मन गागरि सों, तेहि बिधि चित्त न डोलै रे।
जो जब छूटै गागरि फूटै, पानी जाइ पिउ बोलै रे॥
गुपुत रहहु तस लखै न कोई, रैनी चोर दिन साहू रे।
करनी के खेत न होइ बरक्का, हत्त न दीजै काहू रे॥
मन महँ चहिअहि करै मंत यह, करि बिन काहू पूँछै रे।
भरी जो ढारी सकति अवारी, भरे बहुत दुख छूँछै रे॥
भई जनावन सुनि पिय रावन, बूझहि मतह बिचारी रे।
हिरदैं राखहु सब रस चखहु, होहु सोहागिनी नारी रे॥

[११]

देखहु प्रिय खेवक जेहि सह, सेवक बदै न काहू घोरा रे।
तौ प्रिउ पाइअ जो मन लाइअ, रहिये निस दिन सोरा रे॥

जिन जग चाहै सब सुख, चाहै भेंटै दै कै निबाहै रे।
जो निस्तारैं पार उतारैं, नत बूड़ैं अवगाहै रे॥
कोइ एक टेकै अइस आइकै, अपने रंग कर राजा (राचा?) रे।
जीउ ओहि राज अस रजाएसु, तेहि सिंगार सब छाजा रे॥
सब सिंगार पुनि करब करब जनु, अधिक भएउ हो आगे रे।
टार सोहागिनि करैं दोहागिनी, अंग दुक्ख नहिं लागै रे॥
कहै मुहम्मद बेगि करहु सुधि, सुनहु न बचन हमारा रे।
पग पग तेरे आवैं देरी, बेगि करहु सिंगारा रे॥

[१२]

साजहु माँग झारि दुइ पाटी, चतुरि न चीर सँवारहु रे।
बेनी गूँथहु ईंगुर लावहु, रचि रचि सेंदुर सारहु रे॥
अंजन तैस करहु दुइ नैना, खंजन उपमा पूजे रे।
केहरि लंक बनो छुद्रावलि, कुंजर सिंघ सो गूँजेरे॥
दुइ भौंहनि सारँग अस्थापहु, दुइ कर कँगन कलाई रे।
निहकलंक ससि तिलक सँवारहु, चहुँदिसि नखत तराई रे॥
दुइ कानन कुंडल पहिरहु औ, लाइ बिज्जु चमकारे रे।
भीतर नाक दिपै गज मोती, सोहै सोहिल तारा रे॥
कोकिल कंठ सँपूरन अभरन, हिरदै हार बिसाला रे।
दोउ कुच बीच बनी रोमावलि, चंप कुसुम कै माला रे॥
दुइ पायन पायल औ चूरा, अस कै कीन्ह सिंगारा रे।
काया साजि माँजि कै दरपन, पेखै सबहि सितारा रे॥
कहै मुहम्मद कौन सुने दुइ, दुइ जग से सब जानेउ रे।
दाहिन बायें बूझि कै होइ रहु, तौ आपुहि पहिचानेउ रे॥

[१३]

साजहु साजहु होउ चहूँ दिसि, गै बरात निअराई हो।
सुनि पिय केर गहगहे बाजन, धिक धिक जीउ चुराई हो॥
खिन खिन अँसुवा ढुरि ढुरि आवहिं, लै चला मँदिर गोसाइं रे।
बिछुरहिं बाप भाइ महतारी, समुझि न रहै रोवाई रे॥
लाग बराती भीतर पैठै, अब मिलि लेहु सहेली रे।
तुम ठाढ़े सब घूँघट देखहु, हौं धनि देब अकेली रे॥

चाहिअ चित्र भोग मत बिसरहु, बाउर होइ जिउ जाई रे।
हँसि हँसि कंत बात जो पूँछहि, रोइ रोइ उतर पाई रे।।
तासों प्रीति पेट भरि करिही, जो ओहि के मन भाई रे।
पिय कर खेल मरन धनिआ कर, बोले कछु न बसाई रे।।
जा तिसु नगर ठौर है मुहमद, मनुवाँ सो निति जूझै रे।
मारे मर न मान मनोरथ, बाउर कभी न पूजे रे।।

[१४]

निचिंत रहिउँ जावौ नहिं पाइउँ, आए खटोलिनहारा रे।
ठावँहि ठाव रहा सब आ पुनि, सुनि पिय केर कहारा रे।।
समदि तू लोक को मीत भाइ बंधु, तं [न?] नियर ठउर ठहरावै रे।
अब नैहर तजि भई पराई, चला लोग पहुँचावै रे।।
ये ही पर दिन दस परदेली, रही पीउ आचारी रे।
अस्थिर ठाउँ तहँ अब गौना, जहाँ जाई जम बारी रे।।
डाँड़ी फाँदि बेगि तहँ आनी चलहु, चलहु सब आवै रे।
लै चढ़ाइ पिउ चला सूत रर घरहि, जो कित कोउ राजै रे।।
करवत देइ बहुरि नहिं पारै, साँकर होइ खटोला रे।
बोलि न सकै सजन जन गोहने, घूँघट जाइ न खोला रे।।
कहै मुहम्मद सुदिन सँवारहु, घरी न जो बिसराहु रे।
सो कै चलहु पार जो उतरहु, न त पाछें पछिताहू रे।।

[१५]

खेत जाइ आगे भा घेरा, जस आगे वहि सूझै रे।
अगुवा कहै करै सो पिछुवा, आगू कहै सो पूँछै रे।।
गहि लगि दहिने भुइँ टेकौ, बूड़ा पाउँ उठावहु रे।
अंधा रे मन के है जागे सो, तेहि लाभहि पावहु रे।।
उगर घाम तर भूँभुर होइहि, छाँह न कतहूँ पाई रे।
लगतै झकोला अखिन दुख बाजा, भेंट ना पुनि महतारी रे।।
कस अब जनि पसाजहु कछु, कस ना छतरी जहाँ ताई रे।
धूम बरन धुँधरा सब दीखै, सो रे सजन कर गाऊँ रे।।
तहवाँ जात नोक मोहिं लाग, जो निबहत तेहि ठाऊँ रे।
त्रिस्ना नगर नांघत दुख होई, पंग पंग बिसँभारी रे।।

कहै मुहम्मद भार न लीजै, खिन अपने गरुवाई रे।
चलत बाट फुनि दूभर होई, समुझि परै तेहि ठाईं रे॥

[१६]

आइहि सुतार जो सत्त बना, है नैहर में लरिकाई रे।
बारि बैसि कै खोट गहे लिहें, अब तस करब गोसाईं रे॥
जो समुझहि ना तूँ मन बहुता, तब कै गरब सो लाए रे।
कहा न सुनते ओइ फिर दहते, कछु न होइ पछिताए रे॥
कहन न ओता रिस का बूझा, सिर अरे रांडको लहुराई रे।
नैन लरे जो देखन पौवहि (?), यह कस दोसरि साईं रे॥
भूँजत तेरें उर भा हेरें, राखहि सीर (?) गोसाईं रे।
महरी गावत हुडुक बजावत, रात करब सब आई रे॥
खिन खिन काँपै औ मुख झाँपै, तहाँ न आपन कोई रे।
चहुँ दिसि बूझै कहूँ न सूझै, तेहि दुक्ख हौं रोई रे॥
कंत पियारा हो कनहारा, हौं धने निरखन हारी रे।
जो हँसि बैठे सब दुख मेटै, तो पै कुसल हमारी रे॥
कहै मुहम्मद पिउ मद मातेउ, कहो मोर कछु नाहीं रे।
भार जो लादहु सो सत छाँड़हु, पुनि पाछें पछिताहीं रे॥

[१७]

सबहीं सेवा दुख ना जीवाँ, कासो कहौं को साखी रे।
घरी जस होई लाग तस *, फिरि नहिं धंधा राखी रे॥
भयेउ नियान तहाँ मति (?) मडप, महँ सकति आनि हिय फेरी रे।
पूजा पाती देवस न राती, सब मानें चहुँ फेरी रे॥
कंत निबाहे दुलहिनि चाहै, पहिलै तस वहि पासा रे।
संग सहेली रहौं अकेली, तो पूजै मन आसा रे॥
अवधू अथिरे बूड़हु सतरे, जो लहि हो भिनुसारा रे।
पुनि हम आउब आनि उठाउब, ले जाउब घर बारा रे॥
असि कहि कोई रात दरोबे (?), देखे बज्र किवारा रे।
मंडप महँ मैं फिरब सकाना, नगर आव अँधियारा रे॥

*प्रति में यह शब्द छूटा हुआ है।

कहै मुहम्मद सँवरहु ओही, जो वहि भार बहु सांचे रे।
मुवसि न जौलहि मरा न तौलहि, जो मारि जिग्रं सो नांचै रे।।

[१८]

ग्राए जन दोइ देखत हौं जोइ, ग्राइ रहे मोरें द्वार रे।
ग्ररि हथिवारन ग्रावहिं मारन, पूंछन पिग्र के सिवार रे।।
कंत तुम्हार को कहु नाऊँ, बसै नोर जिउ काहे रे।
का गुन गहतो गहि जत दहती, ग्रपने नैंहर माहे रे।।
कहँ संग खेली कस दिन पेली हास जो बारी भोरी रे।
कै संजुत ग्रब चलहु बहुत, पै चहुँ पीउ लावै खोरी रे।।
को तोर ग्रागु ग्रागु तोर पछुवा, को ग्राहै दिसि तोरी रे।
कौम पेम जो कुसल खेम, ग्राए ग्रन्हवारा जोरी रें।।
हिय बहु मान केवट पुनि जागै, उहाँ चाह सब काहू रे।
जो मोहिं परसै सब सुख बिरसै, कहा गौन जिमि ब्याहू रे।।
पूछौं हौं ग्रब उतर देइत मोख, मुकुति नहिं देऊँ रे।
मातर एक कला उन ताहीं, मारि मारि जिउ लेऊँ रे।।
कहै मुहम्मद समुझहु मूरुख, सो बेदन सो पीरा रे।
सोइ सम्हारहु ग्रावहिं तारहु, गुन गहि लावहु तीरा रे।।

[१९]

ग्रस फिरि घाव ग्रँगइत पावा, मूढ़ सँवारहि ठाऊँ रे।
सो तँवरत खिन उठहि ग्रगति मन, जेहि खोलै पिव नाऊँ रे।।
पिउ मोर महरा गुन मोर गहरा, जिउ मोहि दीन्ह गोसाईं रे।
एक जो कहेउँ ग्रौर नहिं चीन्हहुँ, दीन्ह कस दोस रिसाई रे।।
बैठहु पुरुब कै निबहुर पच्छिम, उत्तर दखिन भी सोई रे।
यहि बिधि चिंता रहती निता, सदा इहै दुख रोई रे।।
ग्रगुवा खेवक पिउ के सेवक, सूध मारग लै ग्रानेउँ रे।
गुरु जो पढ़ाइउँ नाउ चढ़ाइऊ, तीर धार मैं पाइउ रे।।
ग्रस रंग राती तहाँ न जाती, सुनै जहाँ कोउ बोलै रे।
ग्रौ पग परिया बिनती करिया, कबहुँ नाँव नहिं डोलै रे।।

कहै मुहम्मद बूझि करहु सुधि, नेहि चित आँखिन्ह बाँचे रे।
सवति न दूसरे बाबुल ओसर, अस कै पिउ अवराधें रे॥

[२०]

भा भिनुसार अँधिकारा, होतहिं [*] पाछिल पहरा रे।
दूलह बोलावहु चौक पुरावहु, ओ हँसि बोला महरा रे॥
हुडुक तबला झाँझ मँजीरा, मधुवर बाँसुरी बाजैं रे।
सबद सोहाबा मेहरिन गावा, घर घर महरी साजैं रे॥
पूजा पाती दुलहिन राती, दूलह भा असवारा रे।
बाजन बाजे कियेउ सब साजे, भा सब तत्त पसारा रे॥
मंगलचारा भा चहकारा, चले गरब सब केली रे।
... ... †
सुन्दरि लै लै महरी दही दही, राती सबहीं डोली रे।
महा सत भीनेउ भोला तीनौ(?), जस फागुन कै होली रे॥
कहै मुहम्मद मोइ सो रहहू, जो दिन आगे आवै रे।
है एकै नग मुँदरी सब जग, दीन्ह सोहाग को पावै रे॥

[२१]

जोग चढ़ाइ काँप तब जोरै, जो मुख दीपक बारें रे।
कहा सो नारी खेलनवारी, प्रेम प्रीति उजियारें रे॥
माउँ ओइ सारा दुवा सम्हारा, पूरा सोहार सो बारी रे।
जस भादौं होइ नदिया भारी, पुरुख जिता धनिहारी रे॥
सो धनि बारी है कनवारी, सँवरि बेल अस चावै रे।
जेउँ जेउँ कनियाँ ओ रस रनियाँ, सेज साजि धनि रावै रे॥
कान्ह चले तजि सब गरेउ, भामी को बजागि [करं?] बासा रे।
गोकुल छाँड़ा छाए मधुबन, किए कुब्जा घर बासा रे॥
कहै मुहम्मद नारि होइ रा[तो?], कंत दिस्टि जो बहुरै रे।
अधिक बादि(?) कै रहै भखख वै, आनि निवाजै चेरै रे॥

* प्रति में यहाँ शब्द छूटा हुआ है।

† प्रति में यह पंक्ति छूटी हुई है।

[२२]

दीन्ह बसेरा गाउँ अस पावा, भलै भई बस धामै रे।
बेधा भँवर बास रस भूला, चहुँ दिसि कँटवा जामै रे ।।
बिधि का चरित देइ नाँहि जो गति, जस भरि तस न बिचारे रे।
तरवर डारि देहि लै बैरं, बैरं, दीन्ह को भँडारे रे ।।
जोग सेवक आपुन कै जानै, तेहि भीख मँगावै रे।
कहता पंडित दुक्ख दरद महँ, मुरुख राज बड़ जावै रे ।।
चंदन जहाँ नाग तहाँ बदि कै, जहाँ फूल तहाँ काँटा रे।
मधु जहवाँ किन माखी तहवाँ, गुरु जहवाँ तहँ चाँटा रे ।।
करि कुबेर तिरसूल कीन्ह घरि, समुँद खार किय पानी रे।
छपद छचाख अकेला कीए, मेटिका रावन गहि मानी (?) ।।
कहै मुहम्मद जो रे भलो बड़, धनी गरब धरि चूरा रे।
निहकलंक बस आपु गोसाईं, बारह बानो पूरा रे ।।

———